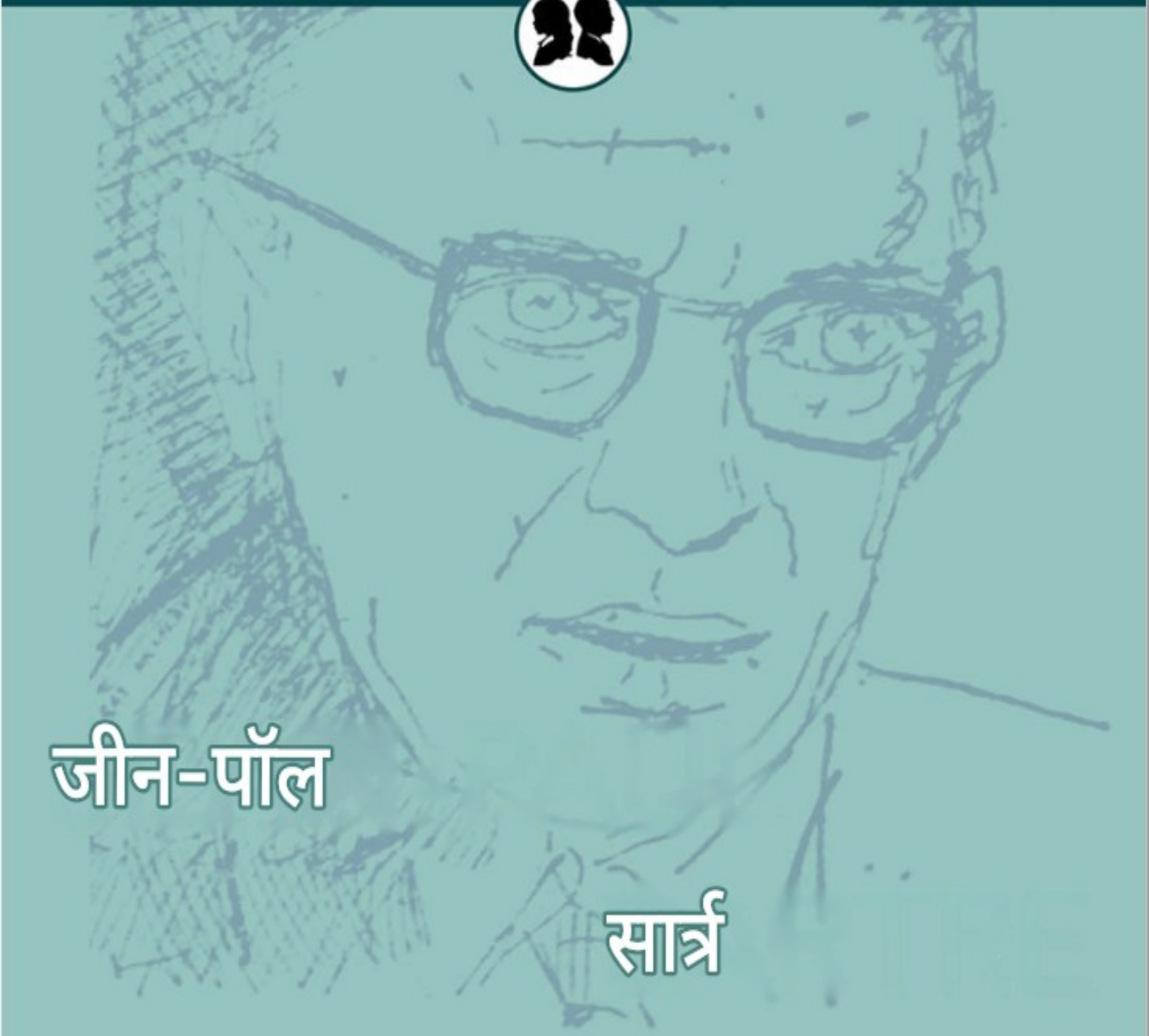

जीन-पॉल

सार्त्र

अस्तित्व और शून्यता

Table of Contents
कवर पृष्ठ
शीर्षक पेज
अंतर्वस्तु
अनुवादक की प्रस्तावना
अनुवादक का परिचय
प्रस्तावना : अस्तित्व की खोज
भाग एक : शून्यता की समस्या
अध्याय एक। निषेध की उत्पत्ति
I. प्रश्न
II. निषेध
III. शून्यता की द्वंद्वात्मक अवधारणा IV. शून्यता की घटनात्मक अवधारणा
V. शून्यता की उत्पत्ति
अध्याय दो। कपटपूर्ण विश्वास
I. कपट और झूठ
II. कपटपूर्ण व्यवहार के प्रतिरूप
III. दुर्भावना का “विश्वास”
भाग दो : स्वयं के लिए अस्तित्व
अध्याय एक। स्व - स्वयं के लिए तात्कालिक संरचनाएँ I. स्वयं के प्रति उपस्थिति
II. स्वयं के लिए की वास्तविकता
III. स्वयं के लिए और मूल्य का अस्तित्व
IV. स्वयं के लिए और संभावनाओं का अस्तित्व
V. स्वयं और आत्मत्व का चक्र
अध्याय दो। कालिकता
I. तीन लौकिक आयामों की घटना विज्ञान
II. कालिकता का सत्तामीमांसा
III. मूल कालिकता और मानसिक कालिकता : चिंतन
अध्याय तीन। पारलौकिकता
I. स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच संबंध के एक प्रकार के रूप में ज्ञान II. निषेध के रूप में निर्धारण
III. गुणवत्ता एवं मात्रा , संभाव्यता एवं साधन
IV. दुनिया का समय
वी . ज्ञान

भाग तीन : दूसरों के लिए होना अध्याय एक। दूसरों का अस्तित्व
I. समस्या
II. आत्मवाद की चट्टान
III. हुसरल , हेगेल , हाइडेगर
IV. लुक
अध्याय दो। शरीर
I. शरीर स्वयं के लिए एक अस्तित्व के रूप में : वास्तविकता
II. दूसरों के लिए शरीर
III. शरीर का तीसरा तात्विक आयाम
अध्याय तीन। दूसरों के साथ ठोस संबंध
I. दूसरों के प्रति पहला दृष्टिकोण : प्रेम , भाषा , आत्मपीड़ा
II. दूसरों के प्रति दूसरा दृष्टिकोण : उदासीनता , वासना , घृणा , क्रूरता III. “ साथ होना” (मित्सीन) और “हम”
भाग चार : पाना , करना और होना
अध्याय एक। होना और करना : स्वतंत्रता
I. स्वतंत्रता : कार्रवाई की पहली शर्त
II. स्वतंत्रता और वास्तविकता : स्थिति
III. स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व
अध्याय दो। करना और पाना
I. अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण
II. “ करना” और “अधिकार रखना”
III. अस्तित्व के प्रकटीकरण के रूप में गुणवत्ता निष्कर्ष
I. स्वयं में और स्वयं के लिए : आध्यात्मिक निहितार्थ II. नैतिक निहितार्थ
विशेष शब्दावली की कुंजी
अनुक्रमणिका
कॉपीराइट पृष्ठ

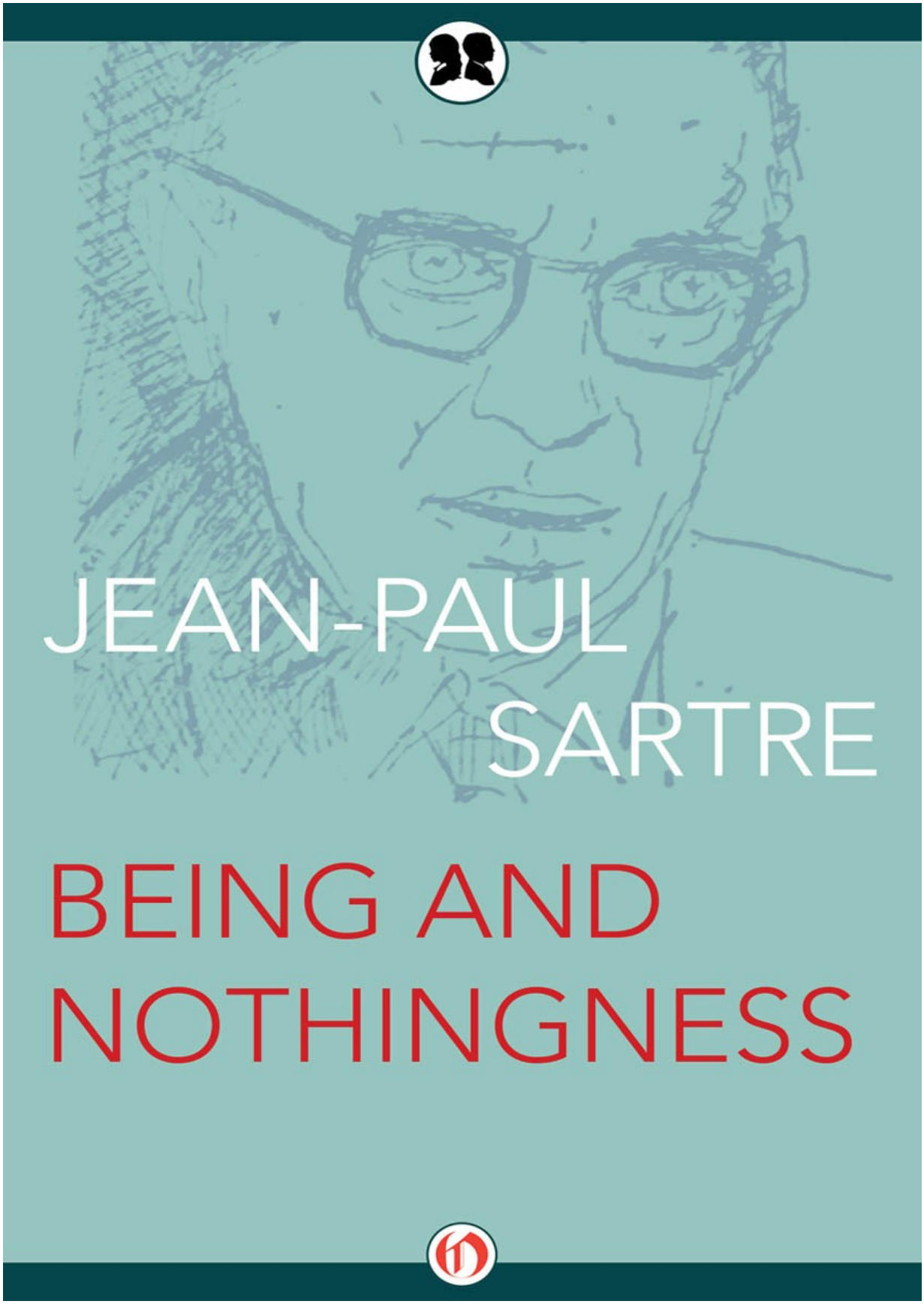
JEAN-PAUL
SARTRE
BEING AND
NOTHINGNESS

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible]

[illegible]

विषयसूची
अनुवादक की प्रस्तावना
अनुवादक का परिचय

परिचय
अस्तित्व की खोज

भाग एक

शून्यता की समस्या
अध्याय एक। निषेध की उत्पत्ति
I. प्रश्न
II. निषेध
III. शून्यता की द्वंद्वात्मक अवधारणा IV. शून्यता की घटनात्मक अवधारणा
V. शून्यता की उत्पत्ति
अध्याय दो। कपटपूर्ण विश्वास
I. कपट और झूठ
II. कपटपूर्ण व्यवहार के प्रतिरूप
III. दुर्भावना का “विश्वास”

भाग दो

स्वयं के लिए होना
अध्याय एक। स्व-स्वयं के लिए तात्कालिक संरचनाएँ I. स्वयं के प्रति उपस्थिति
II. स्वयं के लिए की वास्तविकता
III. स्वयं के लिए और मूल्य का अस्तित्व
IV. स्वयं के लिए और संभावनाओं का अस्तित्व
V. स्वयं और आत्मत्व का चक्र
अध्याय दो। कालिकता
I. तीन लौकिक आयामों की घटना विज्ञान
II. कालिकता का सत्तामीमांसा
III. मूल कालिकता और मानसिक कालिकता: चिंतन
अध्याय तीन। पारलौकिकता
I. स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच संबंध के एक प्रकार के रूप में ज्ञान II. निषेध के रूप में निर्धारण
III. गुणवत्ता एवं मात्रा, संभाव्यता एवं साधन
IV. दुनिया का समय
वी. ज्ञान

भाग तीन

दूसरों के लिए होना

अध्याय एक। दूसरों का अस्तित्व
I. समस्या
II. आत्मवाद की चट्टान
III. हुसरल, हेगेल, हाइडेगर
IV. लुक
अध्याय दो। शरीर
I. शरीर स्वयं के लिए एक अस्तित्व के रूप में: वास्तविकता
II. दूसरों के लिए शरीर
III. शरीर का तीसरा तात्विक आयाम
अध्याय तीन। दूसरों के साथ ठोस संबंध
I. दूसरों के प्रति पहला दृष्टिकोण: प्रेम, भाषा, आत्मपीड़ा
II. दूसरों के प्रति दूसरा दृष्टिकोण: उदासीनता, वासना, घृणा, क्रूरता III. “साथ होना” (मित्सीन) और “हम”

भाग चार

होना, करना और अस्तित्व
अध्याय एक। होना और करना: स्वतंत्रता
I. स्वतंत्रता: कार्रवाई की पहली शर्त
II. स्वतंत्रता और वास्तविकता: स्थिति
III. स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व
अध्याय दो। करना और पाना
I. अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण
II. “करना” और “अधिकार रखना”
III. अस्तित्व के प्रकटीकरण के रूप में गुणवत्ता

निष्कर्ष
I. स्वयं में और स्वयं के लिए: आध्यात्मिक निहितार्थ II. नैतिक निहितार्थ
विशेष शब्दावली की कुंजी
अनुक्रमणिका

अनुवादक की प्रस्तावना
यह जीन-पॉल सार्त्र की संपूर्ण रचना 'ल'एत्रे एट ले नेआंट' का अनुवाद है। इसमें वे अंश शामिल हैं जो 1953 में 'अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण' नामक खंड में प्रकाशित हुए थे, लेकिन मैंने अपने पहले के अनुवाद को संशोधित किया है और तकनीकी शब्दावली में कुछ छोटे-मोटे बदलाव किए हैं।
मैं कोलोराडो विश्वविद्यालय में अपने सहकर्मी श्री फॉरेस्ट विलियम्स को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने इस अनुवाद को तैयार करने में मेरी बहुत मदद की है। श्री विलियम्स को सार्त्र के दर्शन और फ्रांसीसी भाषा दोनों का उत्कृष्ट ज्ञान है, और उन्होंने अपना समय और प्रयास देने में जो उदारता दिखाई है, वह मेरे लिए अमूल्य है।
मैं अपने मित्र श्री रॉबर्ट ओ. लेहनेर्ट के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूं, जिन्होंने पुस्तक के बड़े हिस्से को पढ़ा है और कई उपयोगी सुझाव दिए हैं और जिन्होंने हमारे साथ हुई प्रेरक चर्चाओं के माध्यम से इस कार्य को और अधिक सुखद बना दिया है।
अंत में, मैं कोलोराडो विश्वविद्यालय का आभारी हूं, जिसने अनुसंधान और रचनात्मक कार्य परिषद के माध्यम से टाइपस्क्रिप्ट तैयार करने के लिए धनराशि उपलब्ध कराई है।
इतने लंबे काम में गलतियाँ होना स्वाभाविक है। चूंकि अनुवाद की पूरी जाँच मैंने ही की है, इसलिए गलतियों के लिए मैं ही जिम्मेदार हूँ। मुझे उम्मीद है कि गलतियाँ इतनी कम होंगी कि यह उन पाठकों के लिए उपयोगी साबित हो सके जो मूल पाठ की सटीकता के बजाय अपनी भाषा की सरलता को प्राथमिकता देते हैं। हेज़ल ई. बार्न्स
कोलोराडो विश्वविद्यालय

अनुवादक का परिचय
अस्तित्ववाद को विलियम जेम्स द्वारा वर्णित "किसी सिद्धांत के विकास के शास्त्रीय चरण" से गुजरते देखना रोचक रहा है। जेम्स के अनुसार, कोई भी नया सिद्धांत पहले "बेतुका बताकर उस पर हमला किया जाता है; फिर उसे सत्य माना जाता है, लेकिन स्पष्ट और महत्वहीन; अंत में वह इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसके विरोधी दावा करते हैं कि उन्होंने ही उसकी खोज की है।" निश्चित रूप से अस्तित्ववाद पहले चरण से बहुत आगे निकल चुका है। विशेष रूप से जीन-पॉल सार्त्र के संदर्भ में, गंभीर दार्शनिकों को यह साबित करने में समय और ऊर्जा बर्बाद किए हुए काफी समय हो गया है कि उनका दर्शन फ्रांस की कब्जे और युद्धोत्तर संकट के प्रति अप्रिय प्रतिक्रियाओं से कहीं अधिक है। और ऐसे संकेत हैं कि तीसरे चरण के भी करीब पहुंचा जा चुका है। उदाहरण के लिए, स्टर्न, हालांकि कभी यह दावा नहीं करते कि उन्होंने स्वयं सार्त्र के विचारों का पूर्वाभास किया है, सार्त्र के प्रत्येक मुख्य विचार के लिए किसी अन्य दार्शनिक के कार्य में एक स्रोत दिखाने का प्रयास करते हैं। फिर भी, सार्त्र के कार्यों के आलोचक अक्सर उन्हें टुकड़ों में ही देखते हैं, प्रत्येक अलग-अलग दृष्टिकोण की मौलिकता पर ही ध्यान केंद्रित करते हैं, दो अलग-अलग विचारों की आपस में तुलना करते हैं और उन्हें मूल ढांचे से जोड़े बिना उनकी संगति की जांच करते हैं। लेकिन, उदाहरण के लिए, चेतना के उनके विशिष्ट वर्णन पर विचार किए बिना सार्त्र के स्वतंत्रता के दृष्टिकोण को समझना उतना ही असंभव है जितना कि प्लेटो के इस सिद्धांत को कि ज्ञान स्मरण है, विचारों के सिद्धांत से जोड़े बिना समझना। आलोचक अक्सर यह समझने में विफल रहते हैं कि सार्त्र बीसवीं सदी के उन गिने-चुने दार्शनिकों में से एक हैं जिन्होंने हमें एक संपूर्ण प्रणाली प्रस्तुत की है। कोई भी इस प्रणाली को अपनी इच्छा से स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, लेकिन इसके किसी भी भाग को संपूर्ण से अलग करके देखना उचित नहीं है। सार्त्र द्वारा प्रस्तुत नई अंतर्दृष्टियाँ इतनी मौलिक हैं कि वे सभी परिचित अवधारणाओं को एक बिल्कुल नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती हैं। संक्षिप्त परिचय में मैं सार्त्र के विचारों के पूर्ण विस्तार को दर्शाने के लिए आवश्यक विस्तृत प्रमाणों के विशाल भंडार का वर्णन नहीं कर सकता, लेकिन मैं दो बातें अवश्य करना चाहूँगा: पहली, मुझे लगता है कि सार्त्र की उन पूर्व रचनाओं पर संक्षेप में विचार करना लाभकारी होगा जो 'अस्तित्व और शून्यता' में विस्तृत विवेचना के लिए एक आधार का काम करती हैं; दूसरी, मैं इस कृति में प्रस्तुत कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर चर्चा करना चाहूँगा। पूर्व रचनाओं के संदर्भ में, मैं केवल उन्हीं पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करूँगा जो मुझे 'अस्तित्व और शून्यता' में मूलभूत विचारों से महत्वपूर्ण रूप से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं; दूसरे भाग में मैं पुस्तक का पूर्ण विश्लेषण या व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा नहीं कर रहा हूँ, बल्कि केवल कुछ केंद्रीय विचारों की संभावित व्याख्या के संबंध में कुछ सामान्य टिप्पणियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

“ला ट्रांसेंडेंस डे ल’ईगो. एस्क्विसे डी’उन डिस्क्रिप्शन फेनोमेनोलॉजिक” (1936) नामक लेख में सार्त्र ने घटना विज्ञान के सामान्य क्षेत्र में रहते हुए भी हुसर्ल की पारलौकिक अहं की अवधारणा को चुनौती दी। यह लेख अस्तित्व और शून्यता के कुछ प्रमुख विचारों को प्रस्तुत करने से कहीं अधिक करता है। यह कुछ मूलभूत स्थितियों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करता है, जो बाद के कार्यों में मूलभूत होते हुए भी, यहाँ पर सरसरी तौर पर प्रस्तुत की गई हैं या यहाँ तक कि पूर्वकल्पित भी हैं। सबसे महत्वपूर्ण है सार्त्र द्वारा कार्टेशियन कॉगिटो की प्रधानता का खंडन। वे आपत्ति जताते हैं कि डेसकार्टेस के सूत्र—“मैं सोचता हूँ; इसलिए मैं हूँ”—में, जो चेतना कहती है, “मैं हूँ,” वह वास्तव में वह चेतना नहीं है जो सोचती है। (पृष्ठ 92) इसके बजाय हम एक गौण गतिविधि से निपट रहे हैं। इसी प्रकार, सार्त्र कहते हैं, डेसकार्टेस ने सहज संदेह, जो एक चेतना है, को व्यवस्थित संदेह, जो एक क्रिया है, के साथ भ्रमित कर दिया है। (पृष्ठ 104) जब हम किसी वस्तु की झलक पाते हैं, तो उस वस्तु के अनिश्चित होने के कारण हमारे मन में संदेह का भाव उत्पन्न हो सकता है। लेकिन डेसकार्टेस के 'कॉगिटो' ने इस चेतना को ही एक वस्तु के रूप में स्थापित किया है; डेसकार्टेस का 'कॉगिटो' संदेहपूर्ण चेतना के साथ एकरूप नहीं है, बल्कि उस पर चिंतन करता है। दूसरे शब्दों में, यह 'कॉगिटो' डेसकार्टेस का संदेह नहीं है; यह डेसकार्टेस का संदेह पर चिंतन है। "मैं संदेह करता हूँ; इसलिए मैं हूँ" वास्तव में "मैं जानता हूँ कि मैं संदेह करता हूँ; इसलिए मैं हूँ" है। डेसकार्टेस का 'कॉगिटो' चिंतनशील है, और इसका विषय स्वयं नहीं, बल्कि संदेह की मूल चेतना है। जिस चेतना ने संदेह किया था, अब 'कॉगिटो' उस पर चिंतन कर रहा है, लेकिन वह स्वयं कभी चिंतनशील नहीं थी; इसका एकमात्र विषय वह वस्तु है जिसके बारे में यह संदेहपूर्ण रूप से सचेत है। इन निष्कर्षों के आधार पर सार्त्र ने पूर्व-चिंतनशील 'कॉगिटो' को प्राथमिक चेतना के रूप में स्थापित किया, और अपने सभी बाद के कार्यों में उन्होंने इसे अपना प्रारंभिक बिंदु बनाया। पहली नज़र में ऐसा लग सकता है कि यह स्थिति एक अनंत प्रतिगमन को जन्म देगी। क्योंकि यदि कार्तीय चिंतन स्वयं पर नहीं, बल्कि पूर्व-चिंतनशील चेतना पर चिंतन करता है, तो आत्म-चेतना के अस्तित्व के लिए, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमें कार्तीय चिंतन के लिए एक चिंतन, इस चिंतन के लिए एक और चिंतन, और इसी प्रकार अनंत तक, की आवश्यकता होगी। लेकिन ऐसा तभी होगा जब आत्म-चेतना के लिए स्वयं को एक वस्तु के रूप में स्थापित करना आवश्यक हो, और सार्त्र इस बात से इनकार करते हैं। वे कहते हैं कि चेतना का मूल स्वभाव ही ऐसा है कि उसके लिए, स्वयं का होना और स्वयं को जानना एक ही बात है। (पृष्ठ 112) किसी वस्तु की चेतना, वस्तु की चेतना होने की चेतना है। इस प्रकार स्वभाव से ही समस्त चेतना आत्म-चेतना है, लेकिन इससे सार्त्र का यह तात्पर्य नहीं है कि स्वयं को अनिवार्य रूप से एक वस्तु के रूप में स्थापित किया जाए। जब मैं किसी कुर्सी के प्रति सजग होता हूँ, तो मैं अपनी जागरूकता के प्रति गैर-चिंतनशील रूप से सजग होता हूँ। लेकिन जब मैं जानबूझकर अपनी जागरूकता के बारे में सोचता हूँ, तो यह चेतना का एक बिल्कुल नया कार्य है; और यहीं पर

मैं स्पष्ट रूप से अपनी जागरूकता या स्वयं को चिंतन के विषय के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। पूर्व-चिंतनशील कॉगिटो एक गैर-स्थितीय आत्म-चेतना है। सार्त्र 'कॉन्शियस नॉन-पोजिशनेल (डी) सोई' शब्दों का प्रयोग करते हैं और 'डी' को कोष्ठक में रखते हैं ताकि यह दर्शाया जा सके कि कोई पृथक्करण नहीं है, स्वयं को चेतना के विषय के रूप में स्थापित नहीं किया गया है। इसी प्रकार वे इसे एक गैर-थेटिक आत्म-चेतना कहते हैं। थेटिक या स्थितीय आत्म-चेतना 'कॉन्शियस डी सोई' है जिसमें चेतना जानबूझकर अपने कार्यों और अवस्थाओं पर चिंतन करती है और जहाँ तक संभव हो स्वयं को एक विषय के रूप में स्थापित करती है। कार्टेशियन कॉगिटो, निश्चित रूप से, द्वितीय श्रेणी का है।
इसी लेख में सार्त्र ने पूर्व-चिंतनशील चेतना के संबंध में दो मूलभूत सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं, जो उनके बाद के कार्यों में आधारभूत हैं। पहला, वे हुसर्ल का अनुसरण करते हुए मानते हैं कि समस्त चेतना किसी न किसी चीज़ की चेतना है; अर्थात्, चेतना सचेतन और दिशासूचक होती है, जो स्वयं से भिन्न किसी पारलौकिक वस्तु की ओर इंगित करती है। यहीं से सार्त्र के मनुष्य के संसार में होने के बाद के दृष्टिकोण का बीज बोया जाता है, और चेतना से बाह्य एक स्व-अस्तित्व के अस्तित्व के उनके “सत्तामीमांसीय प्रमाण” का भी। दूसरा, पूर्व-चिंतनशील विचार अवैयक्तिक होता है। यह सत्य नहीं है कि हम “मैं कुर्सी के प्रति सचेत हूँ” जैसे किसी कथन से शुरुआत कर सकते हैं। इस प्रारंभिक अवस्था में हम सत्यतः केवल इतना ही कह सकते हैं कि “कुर्सी की चेतना है”। अहं (जिसमें “मैं” और “मुझे” दोनों शामिल हैं) तब तक अस्तित्व में नहीं आता जब तक कि मूल चेतना को चिंतन का विषय नहीं बना दिया जाता। इस प्रकार अहं चेतना कभी नहीं होती, बल्कि केवल अहं की चेतना होती है। यह, निःसंदेह, सार्त्र द्वारा कार्टेशियन कॉगिटो की प्रधानता पर आपत्ति जताने का एक और कारण है, क्योंकि डेसकार्टेस वास्तव में "मैं" के अस्तित्व को साबित करने की कोशिश कर रहे थे।
सार्त्र के अनुसार, अहम चेतना में नहीं है, जो पूरी तरह से पारदर्शी है, बल्कि संसार में है; और संसार की ही तरह यह चेतना का विषय है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अहम भौतिक है, बल्कि केवल यह है कि यह एक ऐसा विषय नहीं है जो किसी अर्थ में चेतना को नियंत्रित या निर्देशित करता हो। कड़ाई से कहें तो, हमें कभी भी "मेरी चेतना" नहीं कहना चाहिए, बल्कि "मेरे प्रति चेतना" कहना चाहिए। यह चौंकाने वाला विचार जितना पहली नज़र में लगता है, उतना चरम नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि चेतना सामान्य है, एक सार्वभौमिक सर्वव्यापी मानस है। चेतना प्रारंभ में भी विशिष्ट होती है, क्योंकि जिन वस्तुओं के प्रति वह सचेत होती है, वे विशिष्ट वस्तुएँ होती हैं, न कि संपूर्ण ब्रह्मांड। इस प्रकार दो व्यक्तियों की चेतनाएँ हमेशा व्यक्तिगत और आत्म-चेतनाएँ होती हैं, लेकिन व्यक्तिगत होना और आत्म-चेतन होना व्यक्तिगत होना नहीं है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो, अहम "मनोवैज्ञानिक पक्ष में" है। (पृष्ठ 106) सार्त्र ने शुद्ध व्यक्तिगत चेतना और मानसिक गुणों के बीच स्पष्ट अंतर बताया है, जिनसे उनका तात्पर्य

उस चीज़ से है जिसे आम तौर पर व्यक्तित्व माना जाता है। जिसे वे प्रचलित धारणा कहते हैं, उसके अनुसार अहं मानसिक अवस्थाओं (जैसे प्रेम, घृणा) के लिए उत्तरदायी है और ये अवस्थाएँ हमारी चेतना को निर्धारित करती हैं। उनका दावा है कि वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। चेतना अवस्था को निर्धारित करती है, और अवस्थाएँ अहं का निर्माण करती हैं। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के प्रति मेरी तत्काल घृणा या आकर्षण की प्रतिक्रिया एक चेतना है। चिंतनशील चेतना द्वारा इस प्रतिक्रिया और पहले की समान प्रतिक्रियाओं के बीच स्थापित एकता ही मेरी प्रेम या घृणा की अवस्था का निर्माण करती है। मेरा अहं मेरी सभी अवस्थाओं, गुणों और क्रियाओं की आदर्श एकता के रूप में खड़ा है, लेकिन इस रूप में यह एक वस्तु-ध्रुव है, विषय नहीं। यह "चेतना का प्रवाह है जो स्वयं को अपनी एकता के रूप में गठित करता है।" (पृष्ठ 100) इस प्रकार अहं "आंतरिकता और पारलौकिकता का संश्लेषण" है। (पृष्ठ 111) पूर्व-चिंतनशील चेतना की आंतरिकता इस तथ्य में निहित है कि उसके लिए स्वयं को जानना और अस्तित्व में होना एक ही है; परन्तु इस शुद्ध आंतरिकता को केवल जिया जा सकता है, चिंतन नहीं किया जा सकता। परिभाषा के अनुसार शुद्ध आंतरिकता का कोई "बाहरी भाग" नहीं हो सकता। जब चेतना स्वयं पर वापस मुड़ने और स्वयं का चिंतन करने का प्रयास करती है, तो वह इस आंतरिकता पर चिंतन कर सकती है, परन्तु केवल इसे एक विषय बनाकर। अहंकार चेतना की आंतरिकता है जब वह स्वयं द्वारा चिंतन की जाती है। यद्यपि यह अचिंतनशील दृष्टिकोण के एक वस्तु-ध्रुव के रूप में खड़ा है, यह केवल चिंतन के जगत में ही प्रकट होता है।
तकनीकी दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अहं का चेतना के सभी मानसिक विषयों से वही संबंध है जो "संसार" नामक एकता का चेतना के भौतिक विषयों से है। यदि चेतना अपने किसी भी कर्म या अवस्था, किसी भी मानसिक विषय पर ध्यान केंद्रित करती है, तो यह अहं की ओर ठीक उसी प्रकार इंगित करता है जिस प्रकार कोई भौतिक वस्तु "संसार" की ओर इंगित करती है। "संसार" और "अहं" दोनों ही पारलौकिक विषय हैं—वास्तव में, आदर्श एकताएँ हैं। हालाँकि, इनमें यह अंतर है कि मानसिक चेतना पर निर्भर है और एक अर्थ में उसी द्वारा निर्मित है, जबकि संसार की वस्तुएँ चेतना द्वारा निर्मित नहीं होतीं। जहाँ तक "मैं" और "मुझे" की बात है, ये अहं के दो पहलू हैं, जिन्हें उनके कार्य के अनुसार अलग किया गया है। "मैं" कर्मों की आदर्श एकता है, और "मुझे" अवस्थाओं और गुणों की।
इस दृष्टिकोण के तीन परिणामों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए, एक इसलिए कि यह एक ऐसा विचार है जिसे सार्त्र ने बाद में स्पष्ट रूप से त्याग दिया, और अन्य दो इसलिए कि, हालांकि इस लेख में केवल संकेत दिया गया है, वे 'अस्तित्व और शून्यता' के कुछ सबसे महत्वपूर्ण अनुभागों का आधार बनते हैं। सबसे पहले, सार्त्र का दावा है कि एक बार जब हम "मैं" को चेतना से बाहर निकालकर संसार में रख देते हैं (इस अर्थ में कि अब यह चेतना का विषय नहीं बल्कि वस्तु है), तो हम आत्मवाद के किसी भी तर्क को नकार देते हैं। क्योंकि यद्यपि हम अभी भी कह सकते हैं कि केवल निरपेक्ष चेतना ही निरपेक्ष रूप में

विद्यमान है, वही बात व्यक्तिगत "मैं" के लिए सत्य नहीं है। मेरा "मैं" अन्य लोगों के "मैं" से अधिक निश्चित नहीं है। बाद में, जैसा कि हम देखेंगे, सार्त्र ने इसे आत्मवाद का खंडन मानते हुए खारिज कर दिया और घोषणा की कि न तो मेरा अपना अस्तित्व और न ही दूसरे का अस्तित्व "सिद्ध" किया जा सकता है, बल्कि दोनों "तथ्यात्मक आवश्यकताएं" हैं जिन पर हम केवल अमूर्त रूप से संदेह कर सकते हैं।
दूसरे, सार्त्र का मानना है कि चेतना से "मैं" और "मुझे" को हटाकर और चेतना को निरपेक्ष और गैर-व्यक्तिगत मानकर, तथा "एक दुनिया" के रूप में अस्तित्व के गठन और एक अहं के रूप में अपनी गतिविधियों के लिए उत्तरदायी मानकर, उन्होंने घटना विज्ञान को इस आरोप से बचाया है कि इसने आदर्शवाद में वास्तविक दुनिया की शरण ली है। यदि अहं और दुनिया दोनों चेतना के विषय हैं, यदि किसी ने दूसरे को नहीं बनाया है, तो चेतना उनके आपसी संबंधों को स्थापित करके दुनिया में व्यक्ति की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सार्त्र का यह दावा कि चेतना उस "मैं" से असीम रूप से विलीन हो जाती है जो सामान्यतः उसे एकजुट करता है, उनके व्यथा के दृष्टिकोण का आधार, उनके "दुष्ट विश्वास" के सिद्धांत का बीज और चेतना की पूर्ण स्वतंत्रता में उनके विश्वास का आधार है। "चेतना अपनी सहजता से भयभीत होती है क्योंकि वह स्वयं को स्वतंत्रता से परे महसूस करती है।" (पृष्ठ 120) दूसरे शब्दों में, हमें इस बात का एहसास होने से पहले ही चक्कर या व्यथा का अनुभव होता है कि हमारे अतीत या स्पष्ट व्यक्तित्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमारे सामान्य आचरण के किसी भी पैटर्न का पालन सुनिश्चित करता हो। चेतना को अपने अस्तित्व के तरीके का पूरी तरह से नया चुनाव करने से रोकने वाला कुछ भी नहीं है। अहं के माध्यम से, चेतना स्वयं को इस असीमित स्वतंत्रता से आंशिक रूप से बचा सकती है जो व्यक्तित्व की सीमाओं को ही खतरे में डाल देती है। "सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो चेतना ने अहं को स्वयं की एक झूठी छवि के रूप में निर्मित किया हो, मानो चेतना अपने द्वारा स्थापित इस अहं द्वारा सम्मोहित हो गई हो और उसमें लीन हो गई हो।" यहां अविकसित दुर्भावना का मूल निहित है, चेतना की आगे-पीछे डगमगाने की संभावना, एक स्वतंत्र चेतना के विशेषाधिकारों की मांग करना, फिर भी पहले से स्थापित अहंकार में छिपे और सीमित होने का दिखावा करके स्वतंत्रता की जिम्मेदारियों से शरण लेना।
सन् 1940 में प्रकाशित घटनात्मक मनोविज्ञान पर एक ग्रंथ, 'कल्पना का मनोविज्ञान' में, हमें सार्त्र के बाद के शून्यता के प्रतिपादन का आधार मिलता है। पुस्तक का मुख्य पाठ कल्पना और बोध के बीच अंतर से संबंधित है। सार्त्र इस आम धारणा को खारिज करते हैं कि कल्पना एक अस्पष्ट या धुंधली धारणा है। वे बताते हैं कि अक्सर दोनों के विषय एक ही होते हैं, लेकिन इन दोनों को अलग करने वाला कारक विषय के प्रति सचेत दृष्टिकोण है। निष्कर्ष में वे कल्पना के घटनात्मक वर्णन की समस्या से कहीं अधिक व्यापक महत्व का प्रश्न उठाते हैं। वे दो प्रश्न पूछते हैं: (1) "क्या काल्पनिक क्रिया 'चेतना' के सार का एक आकस्मिक और आध्यात्मिक विशिष्टीकरण है, या इसे उस सार

की एक मूलभूत संरचना के रूप में वर्णित किया जाना चाहिए?" (2) क्या एक कल्पनाशील चेतना को साकार करने के लिए आवश्यक शर्तें "सामान्य रूप से चेतना की संभावना की शर्तों के समान हैं या भिन्न हैं?"
पूरी किताब में सार्त्र इस बात पर ज़ोर देते रहे हैं कि कल्पना में वस्तु को या तो अनुपस्थित, अस्तित्वहीन, कहीं और विद्यमान, या उदासीन (अर्थात, विद्यमान नहीं) के रूप में स्थापित किया जाता है। अब इस प्रकार की स्थापना के लिए, चेतना को अपनी विशिष्ट शून्यीकरण (नियंटाइजेशन) शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। यदि किसी वस्तु को अनुपस्थित या अस्तित्वहीन के रूप में स्थापित किया जाना है, तो उसके संबंध में शून्यता या कुछ भी नहीं की रचना करने की क्षमता का होना आवश्यक है। सार्त्र इससे आगे बढ़कर कहते हैं कि कल्पना के प्रत्येक कार्य में वास्तव में दोहरा शून्यीकरण होता है। इस संदर्भ में वे संसार में होने और संसार के मध्य में होने के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर स्पष्ट करते हैं। संसार के मध्य में होना, वस्तुओं की तरह, संसार के साथ एक होना है। लेकिन चेतना संसार के मध्य में नहीं होती; वह संसार में ही होती है। इसका अर्थ यह है कि चेतना अनिवार्य रूप से संसार से जुड़ी हुई है (क्योंकि हमारे शरीर हैं और क्योंकि परिभाषा के अनुसार चेतना एक पारलौकिक वस्तु की चेतना है), लेकिन चेतना और संसार की वस्तुओं के बीच एक अलगाव है। जैसा कि हमने पहले देखा, चेतना अपने प्राथमिक रूप में एक गैर-स्थितीय आत्म-चेतना है; इसलिए यदि चेतना किसी वस्तु की चेतना है, तो वह वस्तु न होने की चेतना है। संक्षेप में, चेतना में एक ऐसी वापसी की शक्ति होती है कि वह उन वस्तुओं को शून्य कर सकती है (अस्तित्वहीनता के क्षेत्र में समाहित कर सकती है) जिनकी वह चेतना है। कल्पना के लिए इन दो शून्यीकरण क्रियाओं की आवश्यकता होती है। जब हम कल्पना करते हैं, तो हम एक ऐसे संसार की कल्पना करते हैं जिसमें कोई वस्तु उपस्थित नहीं होती, ताकि हम एक ऐसे संसार की कल्पना कर सकें जिसमें हमारी कल्पित वस्तु उपस्थित हो। जब तक मैं वास्तव में किसी पेड़ को देख रहा होता हूँ, तब तक मैं उसकी कल्पना नहीं करता। इस कल्पनात्मक क्रिया को पूरा करने के लिए, हमें पहले संसार को एक संश्लेषित समग्रता के रूप में स्थापित करने में सक्षम होना चाहिए। यह केवल उसी चेतना के लिए संभव है जो संसार से शून्यीकरण वापसी करने में सक्षम हो। फिर हम काल्पनिक वस्तु को किसी न किसी रूप में दुनिया से अलग विद्यमान मानते हैं, इस प्रकार उसे मौजूदा दुनिया का हिस्सा होने से इनकार करते हैं।
अतः कल्पनात्मक क्रिया निर्माण, पृथक्करण और विलोपन का कार्य है। यह संसार को एक संसार के रूप में निर्मित करती है, क्योंकि चेतना से पूर्व कोई "संसार" नहीं था, बल्कि केवल पूर्ण, अविभेदित अस्तित्व था। फिर यह एक विशेष दृष्टिकोण से संसार का विलोपन करती है और विलोपन की दूसरी क्रिया द्वारा वस्तु को संसार से पृथक कर देती है—जैसे कि वह पहुँच से बाहर हो।
एक बार जब हम कल्पना के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेते हैं, तो सार्त्र के दो प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि कल्पनाशील चेतना की संभावना की शर्तें सामान्य चेतना के समान ही हैं। यह स्पष्ट है कि

कल्पनाशील क्रिया चेतना के सार का अभिन्न अंग है। कल्पनाहीन चेतना की कल्पना करना असंभव है। क्योंकि यदि चेतना कल्पना नहीं कर सकती, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि उसमें अलगाव को नकारने की शक्ति का अभाव है, जिसे सार्त्र शून्यीकरण कहते हैं; और इसके परिणामस्वरूप चेतना संसार में इस प्रकार विलीन हो जाएगी कि वह स्वयं को संसार से अलग नहीं कर पाएगी। “यदि एक क्षण के लिए भी ऐसी चेतना की कल्पना करना संभव हो जो कल्पना नहीं करती, तो उसकी कल्पना पूर्णतः विद्यमान में समाहित और विद्यमान के अलावा किसी भी चीज़ को समझने की क्षमता से रहित के रूप में करनी होगी।” (पृष्ठ 271)। अपनी इस प्रारंभिक पुस्तक में सार्त्र ने शून्यता और स्वतंत्रता के विचारों को पहले ही जोड़ दिया था। “कल्पना करने के लिए, चेतना को सभी विशिष्ट वास्तविकता से मुक्त होना चाहिए और यह स्वतंत्रता स्वयं को एक ऐसे ‘संसार में होने’ के रूप में परिभाषित करने में सक्षम होनी चाहिए जो एक ही समय में संसार का निर्माण और निषेध दोनों हो।” (पृष्ठ 269) इसका अर्थ है कि चेतना को ‘अवास्तविक’ के उद्भव को प्रभावित करने में सक्षम होना चाहिए। “अवास्तविक संसार के बाहर उस चेतना द्वारा उत्पन्न होता है जो संसार में रहती है, और मनुष्य की पारलौकिक स्वतंत्रता के कारण ही वह कल्पना कर सकता है।” (पृष्ठ 271)
द इमोशंस (1939) में सार्त्र एक बार फिर चेतना की संरचना और दुनिया के संगठन पर चर्चा करते हैं, और एक अलग दृष्टिकोण से, लेकिन चेतना की किसी भी क्रिया में पूर्ण भागीदारी और दुनिया से अपने संबंध स्थापित करने के तरीके को स्वतंत्र रूप से चुनने की उसकी क्षमता के मूल विचार वही रहते हैं। जैसा कि अपेक्षित है, वे इस विचार को पूरी तरह से खारिज करते हैं कि भावनाएँ ऐसी शक्तियाँ हैं जो किसी पर हावी होकर चेतना और उसकी क्रियाओं को निर्धारित कर सकती हैं। भावना मात्र एक ऐसा तरीका है जिससे चेतना दुनिया के साथ अपने संबंध को जीने का चुनाव करती है। जिसे हम अस्तित्व का रोजमर्रा का व्यावहारिक स्तर कह सकते हैं, उस पर हमारी धारणा दुनिया को मांगों के संदर्भ में निर्मित करती है। हम इसका एक प्रकार का "होडोलॉजिकल" मानचित्र बनाते हैं जिसमें दुनिया में वस्तुओं की संभाव्यता और प्रतिरोधों के अनुसार वस्तुओं तक और उनके बीच मार्ग बनाए जाते हैं। इसलिए, अगर मुझे सड़क पर निकलना है, तो मुझे कई कदम उठाने होंगे, फर्नीचर से बचना होगा, दरवाजा खोलना होगा, आदि। या इसे अमूर्त स्तर पर कहें, अगर मैं किसी को किसी कार्य के लिए राजी करना चाहता हूँ, तो मुझे न केवल ऐसी भाषा का प्रयोग करना होगा जिसका अर्थ उसके लिए लगभग एक जैसा हो, बल्कि मुझे अंतर-व्यक्तिगत संबंधों के कुछ "नियमों" का भी पालन करना होगा ताकि मैं उसकी बुद्धि को प्रभावित कर सकूँ न कि उसके पूर्वाग्रह को; मुझे उससे उसके अनुभव के आधार पर बात करनी होगी न कि उसकी अज्ञानता का हवाला देकर, इत्यादि। संक्षेप में, जिन वस्तुओं को मैं साकार करना चाहता हूँ, वे मुझे कुछ निश्चित तरीकों से "साझा होने वाली" प्रतीत होती हैं। "हमारी इच्छाओं, हमारी आवश्यकताओं और हमारे कार्यों की दुनिया ऐसी प्रतीत होती है मानो वह सख्त और संकरे रास्तों से भरी हो जो किसी न किसी निश्चित लक्ष्य की ओर ले

जाते हैं, अर्थात् किसी सृजित वस्तु की उपस्थिति की ओर।" (पृष्ठ 57) इसकी तुलना पिन-बॉल मशीन से की जा सकती है, जिसमें किसी निश्चित स्थान पर गेंद को पहुँचाने के लिए गड्ढों और बाधाओं से भरे कई रास्तों में से किसी एक को चुनना पड़ता है। यह सब "उपकरण संबंधी परिसरों" के पदानुक्रम का पूर्वाभास है, जिसका सार्त्र ने 'अस्तित्व और शून्यता' में विस्तार से वर्णन किया है और जो शरीर, हमारी स्थिति—सामान्यतः जिसे वे हमारी "तथ्यता" या "दुनिया में हमारा होना" कहते हैं—के उनके विवेचन के लिए महत्वपूर्ण है।
यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि यह होडोलॉजिकल मानचित्र कुछ हद तक बाहरी भौतिक पदार्थ पर निर्भर करता है और इसलिए सभी लोगों के लिए काफी हद तक समान है, फिर भी यह आंशिक रूप से एक निर्माणकारी चेतना पर निर्भर करता है। यह इसलिए सत्य है क्योंकि चेतना के बिना ऐसा कोई सार्थक संगठन संभव नहीं है। लेकिन इसका अर्थ लक्षित वस्तु और उस वस्तु के प्रति चेतना के दृष्टिकोण के अनुसार भी बदलता रहता है। इस प्रकार, दरवाजा बाहर जाने का साधन हो सकता है या (यदि बंद हो) अवांछित मेहमानों से सुरक्षा प्रदान कर सकता है। पर्यावरण का स्वरूप और उसका संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि मैं पैदल चल रहा हूँ या गाड़ी चला रहा हूँ। अंत में, सार्त्र का दावा है कि मैं इस साधनिक संगठन को पूरी तरह से अनदेखा या उपेक्षित करने का विकल्प चुन सकता हूँ, और यहीं पर भावना का प्रवेश होता है। मैं क्रोध में आकर, पिन-बॉल मशीन का हैंडल खींचने से इनकार कर सकता हूँ या कह सकता हूँ कि गेंद अपने गंतव्य तक पहुँच गई है, भले ही वह गलत छेद में चली गई हो, या (अतिवादी उदाहरण के लिए) शीशा तोड़कर गेंद को अपनी इच्छानुसार जगह पर रख सकता हूँ या कह सकता हूँ कि मेरा वास्तव में हैंडल खींचने का कोई इरादा ही नहीं था। होडोलॉजिकल चिह्नों से युक्त यह दुनिया जटिल है; और यदि परिस्थितियाँ अत्यंत कठिन हो जाती हैं, यदि मेरी योजनाएँ पूरी तरह विफल हो जाती हैं, तो मैं उस संसार के संपूर्ण स्वरूप को बदलने का प्रयास कर सकता हूँ जो मुझे अवरुद्ध करता है। चूंकि मैं वास्तव में ऐसा नहीं कर सकता, इसलिए मैं एक प्रकार के जादुई परिवर्तन द्वारा समानांतर परिणाम प्राप्त करता हूँ। भावना “संसार का परिवर्तन है। जब निर्धारित मार्ग बहुत कठिन हो जाते हैं, या जब हमें कोई मार्ग दिखाई नहीं देता, तो हम इतने कठिन और अत्यावश्यक संसार में नहीं रह सकते। सभी मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। फिर भी, हमें कार्य करना होगा। इसलिए हम संसार को बदलने का प्रयास करते हैं, अर्थात् ऐसे जीने का प्रयास करते हैं मानो वस्तुओं और उनकी संभावनाओं के बीच का संबंध नियतिवादी प्रक्रियाओं द्वारा नहीं, बल्कि जादू द्वारा नियंत्रित हो।” (पृष्ठ 58) हम नए मार्ग और संबंध बनाते हैं; लेकिन चूंकि हम संसार को बदलकर ऐसा नहीं कर सकते, इसलिए हम स्वयं को बदलते हैं। कुछ मामलों में हम बेहोश भी हो सकते हैं, इस प्रकार संसार से अपने संबंध को समाप्त करके जादुई और अस्थायी रूप से संसार का नाश कर देते हैं। आनंदमय भावनाएँ भी इसी पैटर्न में ढल जाती हैं, क्योंकि आनंद में हम एक ही बार में और समग्र रूप से एक वांछनीय स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जिसे वास्तव में अनुभव करने के लिए धीरे-धीरे और व्यवस्थित तरीके से प्राप्त करना

आवश्यक है। संक्षेप में, भावना चेतना का संसार से व्यक्तिगत संबंध है और इस प्रकार यह अस्थायी रूप से संतोषजनक हो सकती है, लेकिन यह मूल रूप से अप्रभावी और क्षणभंगुर होती है, जिसमें पर्यावरण को प्रभावित करने की कोई प्रत्यक्ष शक्ति नहीं होती।
उपरोक्त तीनों रचनाओं में सार्त्र स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि वे हुसर्ल और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित विचार-धारा का हूबहू अनुसरण नहीं कर रहे हैं, यद्यपि इन तीनों रचनाओं में, साथ ही 'अस्तित्व और शून्यता' के मामले में भी, सार्त्र अपने दृष्टिकोण को घटनात्मक कहते हैं। यद्यपि इन उदाहरणों में हमें अस्तित्ववाद से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए माने जाने वाले तत्व बहुत कम मिलते हैं—अर्थात, जीवित व्यक्ति और उसकी पीड़ा, निराशा, मतली आदि जैसी ठोस भावनाओं से संबंधित विचार। वास्तव में, 'अस्तित्व और शून्यता' के प्रकाशन तक, सार्त्र की मनुष्य के सुख-दुख, उनकी नैतिक समस्याओं, उद्देश्यों और आचरण से संबंधित चिंता मुख्य रूप से उनकी विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं में ही व्यक्त हुई थी। इनमें से उपन्यास 'मतली' (1937) दार्शनिक विषयवस्तु से सबसे समृद्ध है। वास्तव में, यह कहना सत्य होगा कि इसके अर्थ की पूर्ण व्याख्या 'अस्तित्व और शून्यता' के संपूर्ण ग्रंथ में ही संभव है। लेकिन अस्तित्ववादी विचारों के लिए दृष्टांतों की एक पुस्तक के रूप में काम आने वाली प्रचुर सामग्री के बीच दो बातें विशेष महत्व रखती हैं। पहली बात यह है कि नायक, रोकेंटिन, यह महसूस करता है कि सामान्य रूप से अस्तित्व और विशेष रूप से वह स्वयं अनावश्यक है; अर्थात्, अस्तित्व स्वयं आकस्मिक, निरर्थक और अनुचित है। यह इस अर्थ में बेतुका है कि इसका कोई कारण नहीं है, इसे अर्थ देने वाला कोई बाहरी उद्देश्य नहीं है, कोई दिशा नहीं है। अस्तित्व है, और इसके बाहर—कुछ भी नहीं। जिस अंश में इस विचार को विशेष रूप से विकसित किया गया है, उसमें हम रोकेंटिन को इस विचार से जूझते हुए पाते हैं कि वस्तुएँ उन सभी संबंधों और पदनामों से परे हैं जिन्हें वह उनसे जोड़ सकता है, एक ऐसा विचार जिसे सार्त्र ने बाद में "अस्तित्व की पारलौकिकता" के सिद्धांत के रूप में विकसित किया। इसके अलावा, रोकेंटिन को यह भी एहसास होता है कि चूंकि वह एक अस्तित्व है, इसलिए वह इस मूल आकस्मिकता, इस "अश्लील अतिरिक्तता" से बच नहीं सकता।
“हम जीवित प्राणियों का एक ढेर थे, चिढ़े हुए, खुद पर शर्मिंदा, हमारे वहाँ होने का ज़रा भी कारण नहीं था, हममें से किसी का भी नहीं; हर कोई, भ्रमित, अस्पष्ट रूप से भयभीत, दूसरों के संबंध में अनावश्यक महसूस कर रहा था। अनावश्यक: यही एकमात्र संबंध था जिसे मैं इन पेड़ों, इन फाटकों, इन पत्थरों के बीच स्थापित कर सका। मैंने व्यर्थ ही शाहबलूत के पेड़ों को गिनने की कोशिश की, उन्हें वेलेडा के संबंध में खोजने की कोशिश की, उनकी ऊँचाई की तुलना चिनार के पेड़ों की ऊँचाई से करने की कोशिश की: उनमें से प्रत्येक उस संबंध से बच निकला जिसमें मैंने उसे समाहित करने की कोशिश की, खुद को अलग कर लिया और उमड़ पड़ा…। और मैं—कोमल, कमजोर, अश्लील, पचाता हुआ, निराशाजनक विचारों से जूझता हुआ—मैं भी अनावश्यक था…। मेरी मृत्यु भी अनावश्यक होती। अनावश्यक, मेरा शव, मेरा खून इन पत्थरों पर, इन पौधों के

बीच, मुस्कुराते हुए बगीचे के पीछे। और विघटित मांस उस धरती में अनावश्यक होता जो अंत में मेरी हड्डियों को ग्रहण करती; साफ, रहित, छिला हुआ, उचित और दांतों की तरह साफ, वह होता। मैं अनंत काल तक अत्यधिक था। (पृष्ठ 172-173) यह अंश 'बीइंग एंड नथिंगनेस' में भी प्रतिध्वनित होता है, जहां सार्त्र 'स्वयं में अस्तित्व' का वर्णन करने के लिए लगभग उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं।
“स्वयं में अस्तित्व न तो संभव है और न ही असंभव। यह है। चेतना इसी बात को मानवरूपी शब्दों में व्यक्त करती है, जब वह कहती है कि अस्तित्व निरर्थक है—अर्थात्, चेतना किसी भी चीज़ से, न किसी अन्य अस्तित्व से, न किसी संभावना से, न किसी अनिवार्य नियम से, अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सकती। अजन्मा, अस्तित्व के कारण के बिना, किसी अन्य अस्तित्व से किसी भी संबंध के बिना, स्वयं में अस्तित्व अनंत काल तक निरर्थक है।” (पृष्ठ 68ii)
बाद के कार्यों में सार्त्र इस अचेतन अस्तित्व को स्व-अस्तित्व या चेतना से स्पष्ट रूप से विपरीत बताते हैं। लेकिन रोकेन्टिन द्वारा व्यक्त की गई आकस्मिकता इस तथ्य में अभी भी बनी हुई है कि यद्यपि स्व-अस्तित्व अपने अस्तित्व का तरीका चुनने के लिए स्वतंत्र है, यह न तो अस्तित्वहीन होने का चुनाव कर सकता है और न ही स्वतंत्र न होने का। इसके अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं है, सिवाय उसके जो वह स्वयं बनाता है।
उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण विषय मतली की अवधारणा है। मतली "मेरी वास्तविकता का स्वाद" है, मेरे शरीर का मेरे सामने प्रकटीकरण और स्वयं- अस्तित्व के साथ मेरे अपरिहार्य संबंध का प्रकटीकरण है। उपन्यास में सार्त्र मुख्य रूप से रोक्वेंटिन की उस अनुभूति से उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं कि शरीर धारण करने के माध्यम से वह वस्तुओं के अस्तित्व में भागीदार बनता है।
“जो चीज प्रतीक्षा कर रही थी, वह सतर्क थी, उसने मुझ पर आक्रमण कर दिया है, वह मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, मैं उसमें समाया हुआ हूँ। वह कुछ भी नहीं है: मैं ही वह चीज हूँ। अस्तित्व, मुक्त, अनासक्त, मुझ पर छा जाता है। मैं विद्यमान हूँ।”
“मेरा अस्तित्व है। यह मीठा है, बहुत मीठा, बहुत धीमा। और हल्का: ऐसा लगता है जैसे यह अपने आप तैर रहा हो। यह हलचल मचाता है। यह मुझे छूता है, पिघलता है और गायब हो जाता है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे। मेरे मुँह में पानी के बुलबुले उठ रहे हैं। मैं निगलता हूँ। यह मेरे गले से नीचे जाता है, मुझे सहलाता है—और अब यह फिर से मेरे मुँह में आ जाता है। हमेशा के लिए मेरे मुँह में सफ़ेद पानी का एक छोटा सा कुंड रहेगा—नीचे पड़ा हुआ—मेरी जीभ को छूता हुआ। और यह कुंड अभी भी मैं ही हूँ। और जीभ। और गला भी मैं ही हूँ।” (पृष्ठ 134)
'अस्तित्व और शून्यता' में सार्त्र, शायद सौभाग्यवश, उन संवेदनाओं पर अधिक ध्यान नहीं देते जिनके द्वारा हमारी वास्तविकता प्रकट होती है। लेकिन यह अवधारणा उनके शरीर संबंधी विवेचना का आधार है। इसके अलावा, वास्तविकता के अध्ययन के संदर्भ में ही वे स्वतंत्रता की समस्या का सबसे विस्तृत

विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि बाह्य अस्तित्व से मनुष्य के संबंधों द्वारा उत्पन्न सीमाएँ ही सार्त्र के इस विचार के लिए सबसे गंभीर खतरा हैं कि 'स्वयं के लिए' पूर्णतः स्वतंत्र है।
'अस्तित्व और शून्यता' (Being and Nothingness), जो 1943 में फ्रांस में 'L’Être et le Néant' के रूप में प्रकाशित हुई, में सार्त्र ने उन विचारों को शामिल किया है जिनका मैंने यहाँ उल्लेख किया है, साथ ही बिखरी हुई लघु कहानियों और निबंधों में पाए जाने वाले कई कम महत्वपूर्ण विषयों को भी। मूल अवधारणाएँ वास्तव में नहीं बदली हैं, बल्कि उन्हें समृद्ध और विस्तृत किया गया है और एक व्यवस्थित दर्शन में ढाला गया है। इस दर्शन का विषय उतना ही व्यापक है जितना कि शीर्षक से पता चलता है, और पुस्तक के अधिकांश भाग में इसका विवेचन पूरी तरह से अमूर्त है। फिर भी हम यह भी कह सकते हैं कि यह मानवीय स्थिति का अध्ययन है; क्योंकि "मनुष्य वह प्राणी है जिसके द्वारा शून्यता संसार में आती है," इसका अर्थ है कि मनुष्य स्वयं अस्तित्व और शून्यता है। और अपनी रचना को समाप्त करने से पहले, सार्त्र ने न केवल प्रेम, घृणा, कामुकता, पीड़ा के संकट, विश्वासघात के जाल जैसी ठोस समस्याओं पर विचार किया है, बल्कि उन्होंने एक ऐसे दृष्टिकोण की रूपरेखा भी प्रस्तुत की है जिसके द्वारा हम अस्तित्व के उस मूल चुनाव का पता लगाने की आशा कर सकते हैं जिसके द्वारा वास्तविक व्यक्तियों ने स्वयं को वह बनाया है जो वे हैं।
इस व्यापक विवरण की मूल योजना अपेक्षाकृत सरल है। प्रस्तावना में, जो पुस्तक का सबसे कठिन भाग है, सार्त्र बताते हैं कि हमें पूर्व-चिंतनशील चेतना से शुरुआत क्यों करनी चाहिए, वे यथार्थवाद और आदर्शवाद के साथ अपने दृष्टिकोण की तुलना करते हैं, घटना के पीछे किसी भी अलौकिक जगत के विचार को खारिज करते हैं, और "अस्तित्व की पारलौकिकता" के अपने विचार की व्याख्या करते हैं। इसके बाद वे अचेतन अस्तित्व (स्वयं में अस्तित्व) और चेतन अस्तित्व (स्वयं के लिए अस्तित्व) के बीच अपने अंतर को प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट रूप से कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। विशेष रूप से, चूंकि दोनों प्रकार मौलिक रूप से भिन्न और एक दूसरे से अलग हैं, तो वे दोनों एक ही अस्तित्व का हिस्सा कैसे हो सकते हैं?
उत्तर की खोज में, सार्त्र प्रथम भाग में स्वयं प्रश्न पर—एक प्रश्न के रूप में—ध्यान केंद्रित करते हैं और इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि मनुष्य (या स्वयं-स्वयं) प्रश्न पूछ सकता है और अपने अस्तित्व में ही स्वयं प्रश्न में हो सकता है, क्योंकि उसमें शून्यता विद्यमान है। इस शून्यता का गहन अध्ययन दर्शाता है कि अस्तित्वहीनता ही अस्तित्व की ओर किसी भी पारगमन की अवस्था है। परन्तु मनुष्य स्वयं अपनी शून्यता कैसे हो सकता है और संसार में शून्यता के उदय के लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता है? हम सीखते हैं कि शून्यता हमें पीड़ा में सबसे पूर्णतः प्रकट होती है और मनुष्य सामान्यतः इस पीड़ा, इस शून्यता से, जो वह स्वयं है, "दुर्भावनापूर्ण विश्वास" के माध्यम से भागने का प्रयास करता है। "दुर्भावनापूर्ण विश्वास" का अध्ययन हमें यह प्रकट करता है कि जहाँ स्वयं-स्वयं अस्तित्व

मात्र है, वहीं मनुष्य वह अस्तित्व है "जो वह नहीं है जो वह है और जो वह नहीं है जो वह है।" दूसरे शब्दों में, मनुष्य निरंतर स्वयं का निर्माण करता है। होने के बजाय, उसे "होना ही है"; उसके वर्तमान अस्तित्व का अर्थ केवल उस भविष्य के प्रकाश में है जिसकी ओर वह स्वयं को प्रक्षेपित करता है। इस प्रकार वह वह नहीं है जो हम किसी भी क्षण कहना चाहें कि वह है, बल्कि वह वह है जिसकी ओर वह स्वयं को प्रक्षेपित करता है, लेकिन जो वह अभी तक नहीं है। यह अस्पष्टता कुकर्म की संभावना प्रदान करती है क्योंकि मनुष्य अपने इस क्षणभंगुर "अस्तित्व" की व्याख्या इस प्रकार करने का प्रयास कर सकता है मानो वह स्वयं में अस्तित्व का "अस्तित्व" हो, या वह इन दोनों के बीच विसरित हो सकता है।
भाग दो में सार्त्र, स्वयं के लिए को शून्यता और एक निरंतर भविष्य की परियोजना के रूप में देखते हुए, स्वयं के लिए को आत्मत्व के रूप में अस्तित्व की खोज के रूप में विवेचना करते हैं। इसमें संभावना, मूल्य और कालिकता के प्रश्न शामिल हैं, जो सभी स्वयं के लिए की मूल अवधारणा से अभिन्न रूप से संबंधित सिद्ध होते हैं, जो स्वयं में अस्तित्व के आंतरिक निषेध के रूप में है। लेकिन यदि स्वयं के लिए, स्वयं में से संबंध है, भले ही निषेध के माध्यम से ही सही, तो हमें किसी प्रकार का सेतु खोजना होगा। यह सेतु ज्ञान है, जिसकी चर्चा भाग दो के अंत में होती है।
ज्ञान की पूर्ण प्रस्तुति इंद्रियों के विचार के बिना संभव नहीं है, इसलिए हमें शरीर की ओर निर्देशित किया जाता है। तीसरा भाग शरीर की चर्चा से शुरू होता है, और हम शीघ्र ही यह जान लेते हैं कि शरीर की प्रमुख विशेषताओं में से एक यह है कि यह मुझे दूसरे द्वारा देखे जाने का कारण बनता है। अतः तीसरा भाग मुख्य रूप से 'दूसरों के लिए अस्तित्व' के अध्ययन को समर्पित है, जिसमें ठोस व्यक्तिगत संबंधों का वर्णन भी शामिल है। अंत में, दूसरों के साथ हमारे संबंधों की खोज हमें यह दर्शाती है कि 'स्वयं के लिए' का एक बाह्य भाग होता है, कि यद्यपि 'स्वयं के लिए' कभी भी 'अंतर्स्वयं के लिए' के साथ मेल नहीं खा सकता, फिर भी 'स्वयं के लिए' उसके मध्य में ही होता है। और अंत में चौथे भाग में हम 'अंतर्स्वयं के लिए' की ओर लौटते हैं।
हम दो मूलभूत दृष्टिकोणों से 'अंतर्ज्ञान' का अध्ययन करते हैं। पहला, हम अपनी स्वतंत्रता खोए बिना 'अंतर्ज्ञान' के केंद्र में कैसे रह सकते हैं? यहाँ हमें स्वतंत्रता और वास्तविकता पर सार्त्र के विचारों की पूर्ण व्याख्या मिलती है। दूसरा, हम पाते हैं कि अस्तित्व के साथ हमारा मूलभूत संबंध ऐसा है कि हम इसे क्रिया, अधिकार या इसके साथ एक होने के प्रयास के माध्यम से अपनाना चाहते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण से हम अस्तित्व के अपने मूल चुनाव के प्रश्न पर पहुँचते हैं, और यहीं पर सार्त्र हमारे लिए अपने अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। निष्कर्ष को छोड़कर पुस्तक यहीं समाप्त होती है, जिसमें सार्त्र अपने लंबे "अस्तित्व की खोज" के परिणामस्वरूप उभरने वाले विभिन्न आध्यात्मिक और नैतिक निहितार्थों का सुझाव देते हैं और हमें एक अन्य कृति का वादा भी करते हैं जिसमें वे नैतिक संभावनाओं को और विकसित करेंगे।

आध्यात्मिक पदार्थ के भ्रामक नाम के रूप में। फिर भी, शून्यता को उत्पन्न करने, उसे पहचानने और उसका उपयोग करने की शक्ति एक सकारात्मकता प्रतीत होती है। यदि यह शक्ति स्वयं-स्वयं की है, तो क्या हम विरोधाभास में पड़ रहे हैं? और यदि स्वयं-स्वयं एक शून्यता है, तो वह किस अर्थ में अस्तित्व है?
निष्कर्ष में सार्त्र हमें एक उपयोगी तुलना प्रदान करते हैं, जिसमें वे हमें एक वैज्ञानिक काल्पनिक कहानी की याद दिलाते हैं जिसका उपयोग कभी-कभी ऊर्जा संरक्षण के भौतिक सिद्धांत को समझाने के लिए किया जाता है।
“वे कहते हैं कि यदि ब्रह्मांड के परमाणुओं में से एक भी परमाणु नष्ट हो जाए, तो एक ऐसी प्रलय आएगी जो पूरे ब्रह्मांड में फैल जाएगी, और विशेष रूप से पृथ्वी और सौर मंडल का अंत हो जाएगा। यह उपमा हमारे लिए यहाँ उपयोगी हो सकती है। 'स्वयं' एक छोटे से विनाश के समान है जिसका उद्गम अस्तित्व के केंद्र में है; और यह विनाश 'स्वयं' में पूर्ण उथल-पुथल उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। यही उथल-पुथल संसार है।” (पृष्ठ 617–618)
इस तुलना से हम देख सकते हैं कि 'स्वयं के लिए' का अस्तित्व केवल अस्तित्व के विनाश के रूप में ही प्रकट होता है। हालांकि, इसमें थोड़ा सा अंतर यह है कि यह एक विशिष्ट, विशेष 'स्वयं में' का विनाश है। यह सामान्य शून्यता नहीं बल्कि एक विशिष्ट अभाव, एक व्यक्तिगत गैर-अस्तित्व है। ठीक वैसे ही जैसे हम कह सकते हैं कि नष्ट हुए परमाणु द्वारा उत्पन्न तबाही का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि कौन सा परमाणु नष्ट हुआ है।
तो क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे पास एक विघटित सत्ता है या द्वैत का स्पष्ट उदाहरण है, जिसमें एक ओर 'स्वयं में' और दूसरी ओर 'स्वयं के लिए' है? सार्त्र इस बिंदु पर पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि घटनात्मक मनोविज्ञान, मानव विज्ञान आदि में हमारा मार्गदर्शन करने के लिए आध्यात्मिक परिकल्पनाएँ बनाते समय, हम अपनी इच्छानुसार पुराने सत्ता- चेतना द्वैतवाद को बनाए रख सकते हैं या एक ऐसी घटना की नई अवधारणा अपना सकते हैं जिसमें सत्ता के दो आयाम (स्वयं में और स्वयं के लिए) हों। लेकिन ऐसी परिकल्पनाओं का उपयोग हम केवल उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे भौतिक विज्ञानी तरंग सिद्धांत या क्वांटम सिद्धांत का उपयोग इच्छानुसार कर सकता है; अर्थात्, इस विचार के साथ नहीं कि दोनों में से कोई भी एक संपूर्ण विवरण है, बल्कि यह केवल एक उपयुक्त परिकल्पना है जिसके भीतर प्रयोग किए जा सकते हैं।
अन्य अंशों में सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि स्वयं में अस्तित्व, स्वयं के लिए अस्तित्व से तार्किक रूप से पूर्व है, और बाद वाला अपने उद्भव और निरंतर इतिहास दोनों में स्वयं में अस्तित्व पर निर्भर है। मूल शून्यीकरण में, स्वयं के लिए अस्तित्व को स्वयं में अस्तित्व द्वारा निर्मित (est été) किया जाता है। अस्तित्व से बाहर किसी भी चीज़ ने स्वयं में अस्तित्व की आत्म-पहचान में विखंडन उत्पन्न नहीं किया। यह किसी न किसी रूप में अस्तित्व में ही घटित हुआ। इस प्रकार, अस्तित्व के बिना स्वयं के लिए अस्तित्व मात्र एक अमूर्त अवधारणा होगी, क्योंकि यह इस अस्तित्व के

शून्यता के सिवा कुछ भी नहीं है और इसलिए एक स्वायत्त पदार्थ नहीं है। यह असंबद्ध है। (पृष्ठ 619) “परन्तु यह एक शून्यीकरण के रूप में है; और यह स्वयं में अस्तित्व के साथ पूर्व-स्थापित एकता में है।” (पृष्ठ 621) इस बात को और स्पष्ट करने के प्रयास में, सार्त्र बताते हैं कि यदि हम यह कल्पना करने का प्रयास करें कि किसी संसार के अस्तित्व में आने से पहले "क्या था", तो हम "कुछ नहीं" का सही उत्तर तब तक नहीं दे सकते जब तक कि हम "कुछ नहीं" और "पहले" दोनों को पूर्वव्यापी न बना दें। अर्थात्, अस्तित्व के बिना कुछ नहीं का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि यह वह है जो अस्तित्व से भिन्न है; यदि किसी प्रकार अस्तित्व न होता, तो कुछ नहीं भी साथ ही लुप्त हो जाता। (पृष्ठ 16) एक विशिष्ट अस्तित्व की शून्यता के रूप में, प्रत्येक निषेध (स्पिनोज़ा के प्रसिद्ध कथन के विपरीत) एक निर्धारण है। शून्यता एक प्रकार का उधार लिया हुआ अस्तित्व धारण कर लेती है। यह स्वयं में नहीं है, परन्तु यह अपनी प्रभावकारिता ठोस रूप से अस्तित्व से प्राप्त करती है। "शून्यता स्वयं को केवल अस्तित्व की नींव पर ही नष्ट कर सकती है; यदि शून्यता दी जा सकती है, तो यह न तो अस्तित्व से पहले है, न बाद में, और न ही सामान्य रूप से अस्तित्व से बाहर है। शून्यता अस्तित्व के हृदय में कुंडली मारकर बैठी रहती है—एक कीड़े की तरह।" (पृष्ठ 21) इस प्रकार स्वयं में होना तार्किक रूप से स्वयं के लिए होने से पहले आता है; क्योंकि स्वयं में होने को शून्यता की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह एक पूर्णता है, लेकिन स्वयं के लिए होना केवल होने के माध्यम से और होने के केंद्र में एक विखंडन के रूप में उत्पन्न होता है।
इसके अलावा, स्वयं-के-लिए-स्वयं पर न केवल उसकी उत्पत्ति में, बल्कि उसके निरंतर अस्तित्व में भी निर्भरता है। हमने देखा है कि चेतना, अस्तित्व का एक प्रकटीकरण है, और ऐसा इसलिए है क्योंकि चेतना अपने और अस्तित्व के बीच या अस्तित्व के विभिन्न भागों के बीच शून्यता को स्थापित कर सकती है, जिससे एक भेद उत्पन्न होता है। हमने कल्पना के मनोविज्ञान के संदर्भ में यह भी देखा कि चेतना की स्वयं को शून्यता द्वारा संसार से अलग करने की यह क्षमता उसे अवास्तविक के उद्भव को प्रेरित करने में सक्षम बनाती है, इस प्रकार वास्तविक और संभव, छवि और बोध आदि के बीच अंतर करने में सक्षम बनाती है। अस्तित्व और शून्यता में सार्त्र चेतना की "प्रकट करने वाली अंतर्ज्ञान" को "आंतरिक निषेध" के रूप में विकसित करते हैं। एक बाह्य निषेध दो वस्तुओं के बीच एक ऐसा भेद है जो किसी को भी प्रभावित नहीं करता; उदाहरण के लिए, प्याला मेज नहीं है। लेकिन एक आंतरिक निषेध में, जो केवल चेतना में ही विद्यमान हो सकता है, निषेध करने वाला अस्तित्व अपने अस्तित्व में प्रभावित होता है। इस प्रकार चेतना आंतरिक रूप से यह अहसास करके कि वह स्वयं-स्वयं नहीं है, निरंतर स्वयं-स्वयं का निषेध करती है; यह स्वयं-सम्भाव को समग्र रूप से और व्यक्तिगत स्वयं-सम्भावों या वस्तुओं के संदर्भ में भी समाप्त कर देता है। और यह इस ज्ञान के माध्यम से ही होता है कि यह क्या नहीं है, जिससे चेतना स्वयं को यह ज्ञात कराती है कि वह क्या है। इस प्रकार, अपने दैनिक अस्तित्व में, स्वयं-के-लिए-सम्भाव स्वयं-

प्रेरणा तभी प्रेरणा बनती है जब चेतना द्वारा किए गए मुक्त शून्यीकरण से वह स्वतंत्र रूप से निर्मित होती है। और अंत में वे इसका प्रयोग स्वतंत्रता के अपने विवेचन में करते हैं। चेतना स्वतंत्र है क्योंकि वह "पर्याप्त नहीं" है। यदि वह पूर्ण अस्तित्व होती, तो वह अस्तित्व को चुनने के लिए स्वतंत्र नहीं होती। परन्तु चूंकि उसमें अस्तित्व की अपर्याप्तता है, चूंकि वह वास्तविक संसार के साथ एक नहीं है, इसलिए वह अस्तित्व के साथ वे संबंध स्थापित करने के लिए स्वतंत्र है जो वह चाहती है।
इस प्रकार, 'स्वयं के लिए' अस्तित्व का एक प्रकटीकरण है, अस्तित्व का एक आंतरिक शून्यीकरण है, अस्तित्व से एक संबंध है, अस्तित्व की एक इच्छा है, और अस्तित्व का एक विकल्प है। यह सब कुछ तभी हो सकता है, क्योंकि यह अस्तित्व नहीं है। इस तथ्य में कोई संदेह नहीं है कि सार्त्र अस्तित्व का पूरा भार 'स्वयं में' के पक्ष में डाल देते हैं, लेकिन महत्व और गतिविधि के संदर्भ में, 'स्वयं के लिए' ही सब कुछ के लिए जिम्मेदार है—भले ही यह 'स्वयं में' के बिना संभव न हो। यद्यपि यह तुलना कुछ हद तक अटपटी है, फिर भी इस संदर्भ में मुझे शोपेनहावर के तर्क की याद आती है, जो इच्छा द्वारा निर्मित होकर इच्छा पर ही पलटवार करके उसे नकार देता है।
जैसा कि मैंने ऊपर बताया, सार्त्र हाइडेगर की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने शून्यता के अपने अनुभव को विशेष संकटों तक सीमित रखा और उन असंख्य रोजमर्रा की स्थितियों को अनदेखा किया जिनमें यह अवधारणा शामिल होती है। हालांकि, यह दिलचस्प है कि सार्त्र, दूसरी ओर, उन विशेष अनुभवों के पूरे समूह को अनदेखा करते हैं जिनमें शून्यता का विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है; अर्थात्, रहस्यवाद का संपूर्ण इतिहास। उनसे रहस्यवाद पर एक पूर्ण निबंध लिखने की अपेक्षा करना अनुचित होगा; आखिरकार, उनके अस्तित्ववाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन यह थोड़ा आश्चर्यजनक है कि उन्होंने इस विषय पर बिल्कुल भी विचार नहीं किया, क्योंकि वे अक्सर उन घटनाओं की अपनी व्याख्या देने में बहुत सावधानी बरतते हैं जिन्हें आम तौर पर धार्मिक माना जाता है और क्योंकि रहस्यवादी साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है जो उनके विश्लेषण के लिए उपयोगी हो सकता था। मेरा मानना है कि यदि हम रहस्यवादी आदर्श के उस प्रासंगिक भाग पर संक्षेप में नज़र डालें, तो हम पाते हैं कि यहाँ, ईश्वर के प्रति उनके विशिष्ट दृष्टिकोण के संदर्भ में, सार्त्र ने सचेतन या अचेतन रूप से अनुभव के उन तत्वों को लिया है जो आस्तिक के लिए विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जो सामान्य जीवन से अलग हैं और जिन्हें एक आदर्श लक्ष्य के स्तर तक उठाया गया है या कम से कम दिव्य गारंटी से सुसज्जित किया गया है, और सार्त्र ने इन्हें मानवीय स्थिति के रोजमर्रा के आंकड़ों में पिरोया है।
हम यह देख सकते हैं कि रहस्यवादी द्वारा शून्यता की अवधारणा का प्रयोग पहले उल्लेखित अवधारणाओं से इस प्रकार भिन्न है: (1) इस अवधारणा को परम वास्तविकता, एक, पर नकारात्मक परिभाषा के रूप में लागू करना; (2) व्यक्तित्व के लोप को, जो शून्यता का एक प्रकार है, एक आदर्श लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करना; (3) संपूर्ण अनुभव को अतार्किक (लगभग सनसनीखेज) रूप

देना। रहस्यवादी दृष्टिकोण की वैधता पर कोई निर्णय दिए बिना, हम कम से कम यह देख सकते हैं कि यहाँ, सार्त्र की तरह, शून्यता की अवधारणा, "सब कुछ" का खंडन करते हुए भी, अत्यंत महत्वपूर्ण और परिणाममय हो जाती है। यह सब कैसे हुआ, इसके बारे में अनुमान लगाया जा सकता है। संभवतः यहाँ भी यह आंशिक रूप से अस्तित्व और गैर-अस्तित्व की तार्किक परस्परनिर्भरता के अवलोकन के कारण है। यदि एक, सभी अस्तित्व से भिन्न है, तो वह अस्तित्व नहीं है। आत्म-विनाश का कारण संभवतः आंशिक रूप से वही है (यदि हमें ईश्वर के साथ एक होना है, तो हमें अनात्म होना चाहिए) और साथ ही अपने अस्तित्व की जिम्मेदारी से बचने की इच्छा भी। शायद, इंद्रियों के एक-दूसरे में विलीन होने, अत्यधिक तीव्र होने पर दर्द या सुन्नता में परिवर्तित होने, और ध्वनि के अत्यधिक उच्च या निम्न स्तर पर मौन में परिवर्तित होने के अवलोकन ने भी इस भावना को मजबूत किया होगा कि एक पूर्ण शून्यता व्याप्त है जिसमें किसी न किसी प्रकार के महत्वपूर्ण लक्षण हैं।
सार्त्र ने इन सभी बातों को विशुद्ध मानवीय आंकड़ों तक सीमित कर दिया है। जहाँ रहस्यवादी व्यक्तित्व के वियोग को लक्ष्य मानता है, वहीं सार्त्र गैर-व्यक्तिगत चेतना से शुरुआत करते हैं। एक अर्थ में, हमारे अहंकार से परे इस चेतना के अस्तित्व की हमारी पहचान ही हमारी मुक्ति है; क्योंकि अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की स्वीकृति ही मनुष्य के रूप में पूर्ण अस्तित्व की सच्ची इच्छा के अनुरूप एकमात्र अस्तित्व है। लेकिन यह पहचान परमानंद में नहीं, बल्कि पीड़ा में आती है। यह किसी उच्च शक्ति के साथ विलय नहीं, बल्कि अपने एकाकीपन का अहसास है; यह शाश्वतता का दर्शन नहीं, बल्कि यह अनुभूति है कि व्यक्ति पूर्णतः प्रक्रिया है, एक ऐसे आत्म का निर्माण है जिसके साथ वह एकात्म नहीं हो सकता। रहस्यवादी अंतर्मुखी होकर स्वयं को त्यागना और स्वयं को एक के साथ एकाग्र पाना सीखता है; वहीं स्व-स्वयं उस आत्म को खोजने का प्रयास करता है जिसे वह किसी भी अंतिम अर्थ में कभी प्राप्त नहीं कर सकता। रहस्यवादी एक ऐसे पूर्ण शून्यता में अपने अस्तित्व को पार करने का प्रयास करता है जो किसी न किसी रूप में तृप्त करने वाला होता है। स्वयं-केंद्रित प्राणी अपना जीवन अस्तित्व की व्यर्थ खोज में व्यतीत करता है और उस शून्यता से बचने का व्यर्थ प्रयास करता है जो वह स्वयं है।
हमने देखा है कि शून्यता के रूप में 'स्वयं के लिए' न केवल अस्तित्व का आंतरिक निषेध और प्रकटीकरण है, बल्कि अस्तित्व की इच्छा और चुनाव भी है। मैं 'स्वयं के लिए' के इन अंतिम दो पहलुओं की जांच करना चाहूंगा, क्योंकि इन स्तरों पर हम धर्मशास्त्र के संबंध में सार्त्र के दृष्टिकोण के महत्व को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, जिसे वे प्रतिस्थापित करने का प्रयास करते हैं, और मनोविज्ञान के संबंध में, जिसे वे काफी हद तक संशोधित करना चाहते हैं। जब हम चेतना को इच्छा के रूप में देखते हैं, तो हमें वही स्थिति मिलती है जिसका हमने पहले सामना किया है; अर्थात्, इसकी मूल संरचना नकारात्मक है, लेकिन परिणाम पूरी तरह से सकारात्मक हैं। यहाँ हमेशा की तरह चेतना किसी न किसी चीज़ की चेतना है; इस प्रकार अब हम पाते हैं कि यह अपने

विषय की वांछनीयता की चेतना है। इच्छा, मूल्य की तरह, न तो बाहरी दुनिया में रहती है और न ही चेतना में। यह एक ऐसा तरीका है जिससे चेतना स्वयं को दुनिया की वस्तुओं से जोड़ती है। इसके अलावा, जिस प्रकार चेतना संपूर्ण अस्तित्व (दुनिया के रूप में) के प्रकटीकरण के आधार पर विशिष्ट वस्तुओं का प्रकटीकरण है, उसी प्रकार 'स्वयं के लिए' अस्तित्व की एक मूलभूत इच्छा के आधार पर अपनी विशिष्ट इच्छाओं को विद्यमान करता है। प्रत्येक व्यक्तिगत इच्छा, चाहे वह कितनी भी तुच्छ क्यों न हो, का अर्थ केवल अस्तित्व के साथ व्यक्ति के मूलभूत संबंध (अर्थात, अस्तित्व के तरीके का व्यक्ति का मूल चुनाव, वह तरीका जिससे व्यक्ति अस्तित्व में रहना चुनता है) के संदर्भ में ही होता है। इस प्रकार, कुछ हद तक विरोधाभासी रूप से, सार्त्र के लिए प्रत्येक ठोस इच्छा (और सभी इच्छाएँ ठोस होती हैं) महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विचाराधीन व्यक्ति के व्यक्तिगत चरित्र को इंगित करती है, लेकिन यह केवल अपने आप में ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सर्वव्यापी, अविभाज्य इच्छा की ओर इशारा करती है जो हमें व्यक्ति को प्रकट करती है। सार्त्र का विचार है कि चूंकि 'स्वयं के लिए' वस्तुओं के साथ अपने संबंध में 'अंतर्स्वयं' का सामना कर रहा है, इसका अर्थ है कि यदि वह इन वस्तुओं की इच्छा करता है, तो वह 'अंतर्स्वयं' को अपनाना चाहता है। दूसरे शब्दों में, वह अस्तित्व की इच्छा करता है, या तो प्रत्यक्ष रूप से इस अर्थ में कि वह अस्तित्व में समाहित होना चाहता है या उसके साथ एक होना चाहता है, या अप्रत्यक्ष रूप से पहले संसार के रूप में अस्तित्व को प्राप्त करके (धारण करके)।
मुझे यहाँ थोड़ी सी कठिनाई प्रतीत होती है। एक ओर सार्त्र कहते हैं कि हम इस अविभाज्य चुनाव का पता लगाकर मनुष्य की वैयक्तिकता को समझ सकते हैं। दूसरी ओर, वे कहते हैं कि प्रत्येक स्व-हितैषी (शायद अस्तित्ववादी प्रकार के शुद्धार्सिस को छोड़कर) मूलतः अपने भीतर के साथ एक होना चाहता है (इस प्रकार एक स्व होने के नाते, अस्तित्व की पूर्णता प्राप्त करके, पूर्ण सुरक्षा और निश्चितता प्राप्त करता है), लेकिन फिर भी वह इस स्व के लिए स्वतंत्र रूप से उत्तरदायी होना और अपने अस्तित्व की नींव रखने के प्रति जागरूक रहना नहीं छोड़ता। स्पष्ट रूप से, जैसा कि सार्त्र कहते हैं, यह इच्छा अतार्किक है; कोई व्यक्ति स्व-स्थापना की आवश्यकता से परे भी नहीं हो सकता और उसे प्राप्त करने के लिए उत्तरदायी भी नहीं हो सकता। यह कारण बनने की इच्छा (इसलिए पूर्ण, न्यायसंगत) और कारण बनने की इच्छा दोनों है। संक्षेप में, वांछित आदर्श वह स्व-हितैषी है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। मनुष्य ईश्वर बनना चाहता है! इस स्थिति के धार्मिक निहितार्थों की हम बाद में जाँच करेंगे। वर्तमान में हम यह देख सकते हैं कि यदि यह इच्छा सभी या लगभग सभी व्यक्तियों में सत्य है, तो यह समझना कठिन है कि अस्तित्व का अंतिम चुनाव व्यक्ति को किस प्रकार प्रकट करता है। अधिक से अधिक, कुछ मूलभूत प्रकार ही प्रतीत होते हैं। इसका उत्तर उन वस्तुओं के प्रकारों में निहित प्रतीत होता है जिनके द्वारा व्यक्ति इस मूलभूत चुनाव को साकार करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, हमारे द्वारा ज्ञात व्यक्तियों के लिए

तार्किक तर्क तीन समस्याओं पर केंद्रित हैं: (1) क्या सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर का विचार स्व-संगत है और क्या यह मानवीय स्वतंत्रता के लिए कोई गुंजाइश छोड़ता है? (2) क्या ईश्वर को स्वयं कारण के रूप में देखने में कोई असंगति है? (3) क्या ईश्वर समग्रता से बाहर विद्यमान हो सकता है? सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा पर विचार करते हुए, सार्त्र कलात्मक रचना को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जो पुस्तक मैं लिखता हूँ, वह मुझसे उत्पन्न होती है, परन्तु एक बार रचित हो जाने पर, एक अर्थ में वह मेरी नहीं रह जाती। मैं इस पर नियंत्रण नहीं रख सकता कि उसका क्या उपयोग किया जाएगा या लोग उससे क्या अर्थ निकालेंगे। वह कुछ ऐसा कह सकती है जो मैंने कभी सोचा भी नहीं था। सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा के साथ भी यही बात लागू होती है। यदि प्राणी आंतरिक रूप से ईश्वर पर निर्भर है, तो वह पृथक नहीं है, स्वतंत्र नहीं है, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु यदि वह अपने भीतर ईश्वर पर निर्भर नहीं है, तो वह ईश्वर से अपने अस्तित्व का कोई औचित्य या कोई पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। उसे किसी सृष्टिकर्ता की “आवश्यकता” नहीं है। या तो मनुष्य स्वतंत्र है और ईश्वर से अपना अर्थ प्राप्त नहीं करता, या वह ईश्वर पर निर्भर है और स्वतंत्र नहीं है। अनेक कारणों से, जिनमें से कुछ पर पहले ही चर्चा हो चुकी है, सार्त्र दूसरे विकल्प को अस्वीकार करते हैं। वे सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा से निकटता से जुड़े दो अन्य दृष्टिकोणों को भी अस्वीकार करते हैं। इनमें से एक लाइबनिज़ का स्वतंत्रता का दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य के सार का निर्धारण किया है और फिर उसे अपने सार की मांगों के अनुसार स्वतंत्र रूप से कार्य करने के लिए छोड़ दिया है। सार्त्र का उत्तर इस विचार को अस्वीकार करना है कि यह स्वतंत्रता है। उनका तर्क है कि यदि ईश्वर ने हमें एक सार दिया है, तो यह एक मूल संकेत द्वारा हमारे सभी भावी कार्यों को निर्धारित करना है। इस प्रकार, सार्त्र एक बार फिर सृष्टिकर्ता को अस्वीकार करते हैं क्योंकि स्वयं की 'स्वयं के लिए' की पूर्ण स्वतंत्रता पर उनकी मूलभूत स्थिति है। दूसरा बिंदु वे एक साक्षात्कार के परिणाम स्वरूप उठाते हैं, जिसके बारे में उनका कहना है कि यह उनका रेवरेंड फादर बोइसेलॉट के साथ हुआ था। (पृष्ठ 538) फादर बोइसेलॉट ने कहा कि अंतिम न्याय ईश्वर द्वारा किया गया एक प्रकार का "हिसाब-किताब बंद करना" है, जो यह निर्धारित करता है कि किसी की मृत्यु कब होगी, इस प्रकार व्यक्ति को "अंततः वही बना देता है जो वह रहा है - अपरिवर्तनीय रूप से।" सार्त्र इस बात से सहमत हैं कि मृत्यु के क्षण में व्यक्ति केवल अपना अतीत बन जाता है और इसलिए एक 'स्वयं में' होता है; अब से जीवन का अर्थ केवल दूसरों की व्याख्या के आधार पर ही निर्धारित और कायम रखा जा सकता है। लेकिन वह इस बात से इनकार करते हैं कि यदि ईश्वर जीवन का अंत निर्धारित कर सकता है तो जीवन स्वतंत्र है। चाहे मैं किसी महान कलात्मक कृति को पूरा करने से पहले मरूँ या बाद में, या किसी बड़े अपराध को अंजाम देने से, मेरे जीवन का अर्थ बहुत बदल जाएगा। यदि ईश्वर ही समय निर्धारित करता है, तो मैं अपने जीवन को उसके स्वरूप में ढालने के लिए उत्तरदायी नहीं रहूँगा। बेशक,

यदि ईश्वर मेरी मृत्यु निर्धारित नहीं करता है, तो भी यह तथ्य बना रहता है कि जब तक मैं आत्महत्या नहीं करता, मैं स्वयं अपनी मृत्यु निर्धारित नहीं करता। लेकिन सार्त्र इस अनिश्चितता को स्वतंत्रता के लिए खतरा नहीं मानते, बल्कि इसे उस सीमितता का एक और उदाहरण मानते हैं जिसके भीतर मैं स्वयं को ढालता हूँ।
ईश्वर को स्वयं-कारण मानने का विचार इच्छा पर हमारी चर्चा के संदर्भ में पहले ही उल्लेखित किया जा चुका है। इससे संबंधित, लेकिन थोड़ा भिन्न तर्क आवश्यकता और आकस्मिकता के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। यह इस प्रकार है: यदि ईश्वर स्वयं का कारण है, तो उसे स्वयं से दूरी पर होना चाहिए। इससे ईश्वर का स्वयं आकस्मिक हो जाता है; अर्थात् आश्रित। परन्तु आकस्मिक ईश्वर नहीं हो सकता। अतः ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। या दूसरे दृष्टिकोण से, यदि ईश्वर आकस्मिक नहीं है, तो उसका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि अस्तित्व आकस्मिक है।
फिर भी, हम विरोधाभास के बिना ईश्वर को एक बुद्धिमान प्राणी के रूप में नहीं देख सकते जो समग्रता से परे भी है और उसमें समाहित भी है।
“क्योंकि यदि ईश्वर चेतना है, तो वह समग्रता में समाहित है। और यदि वह स्वभाव से चेतना से परे एक सत्ता है (अर्थात् एक ऐसी आत्म-सम्भावी सत्ता जो स्वयं ही आधार है), तब भी समग्रता उसे केवल वस्तु के रूप में ही दिखाई दे सकती है (इस स्थिति में उसमें समग्रता का आंतरिक एकीकरण नहीं होता, जो आत्म-बोध के व्यक्तिपरक प्रयास के रूप में प्रकट होता है) या कर्ता के रूप में (तब, चूंकि ईश्वर यह कर्ता नहीं है, वह इसे जाने बिना ही इसका अनुभव कर सकता है)। इस प्रकार समग्रता पर कोई भी दृष्टिकोण संभव नहीं है; समग्रता का कोई ‘बाहर’ नहीं है और ‘अंदरूनी’ के अर्थ का प्रश्न ही अर्थहीन हो जाता है। हम इससे आगे नहीं बढ़ सकते।” (पृष्ठ 302)
अंततः, ये सभी अवधारणाएँ और सार्त्र की उन पर आपत्तियाँ इस सिद्धांत से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं कि मनुष्य स्वयं के लिए (ईश्वर के रूप में प्रक्षेपित) निरंतर आदर्श के साथ जीता है, जो स्वयं में-स्वयं के लिए के संश्लेषण को प्राप्त करना है। यह स्पष्ट रूप से आत्म-विरोधी आदर्श है, क्योंकि स्वयं के लिए का सार शून्यता को गुप्त रखने की शक्ति है, हमेशा बनने की प्रक्रिया में रहना, अस्तित्व में आने वाला होना। यदि उसे पूर्ण रूप से विद्यमान होना है, तो स्वयं के लिए को अपने अस्तित्वहीन होने का निरंतर दावा करना होगा ताकि वह अस्तित्व को प्रकट कर सके, ताकि अस्तित्व हो सके। स्वयं के लिए का स्वयं में के साथ एक होना पूर्णता, अस्तित्व और गैर-अस्तित्व की पहचान को आवश्यक बना देगा - एक ऐसी पहचान जो आत्म-विरोधी होने के कारण असंभव है। स्वयं के लिए के स्वयं में बनने का एकमात्र तरीका स्वयं के लिए होना बंद करना होगा, और जैसा कि हमने देखा है, यह केवल मृत्यु में ही संभव है। इस तर्कहीन खोज की झलक फ्रायड की गर्भ की सुरक्षा के लिए तड़प में, मनुष्य की प्रकृति के साथ एकात्मता के खोए हुए स्वर्ग को पुनः प्राप्त करने की भावुक इच्छा में, और रहस्यवादी की परम सत्ता में लीन होने की इच्छा में मिलती है।

उत्पन्न कर सकता था जिसे हम चेतना के रूप में जानते हैं? कई विश्वासियों की तरह, सार्त्र भी इसे एक परम सत्य के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश हैं, यदि रहस्य नहीं, और केवल एक 'मानो' व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सब कुछ इस तरह घटित हुआ है मानो स्वयं को स्थापित करने के प्रयास में अस्तित्व विभाजित हो गया हो और उसने 'स्वयं के लिए' का निर्माण किया हो, जो उसकी अपनी शून्यता का आधार है, लेकिन उसके अपने अस्तित्व का नहीं।
ईश्वर की चर्चा के लिए समर्पित अंशों के अलावा, धर्म से जुड़े अन्य विचारों की व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इनमें से एक सबसे महत्वपूर्ण विचार सार्त्र का अपराधबोध पर किया गया विवेचन है। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक अपराधबोध और अस्तित्वगत अपराधबोध के बीच अंतर देख सकते हैं। मनोवैज्ञानिक अपराधबोध, जिससे मेरा तात्पर्य उस प्रकार के गलत कार्य के प्रति जागरूकता से है जिसे टाला जा सकता था और जिसके लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी होता है, सार्त्र इसे कुभाविक आचरण में पाते हैं। इसमें स्वयं के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को स्वीकार न करना, अपने द्वारा स्वतंत्र रूप से किए गए कार्यों के लिए किसी और को या किसी वस्तु को दोष देना, अपनी स्वतंत्रता का दावा केवल वहीं करना जहाँ यह उचित हो और अन्य अवसरों पर मनोवैज्ञानिक नियतिवाद के सिद्धांत का सहारा लेना शामिल है। यह इस बात को स्वीकार करने के बजाय कि व्यक्ति अपना जीवन स्वयं को विकसित करने और गढ़ने में व्यतीत करता है, यह दिखावा करना है कि वह जन्म से ही एक निर्धारित व्यक्तित्व के साथ पैदा हुआ है। यह हमारी पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार करने से उत्पन्न पीड़ा का सामना करने से इनकार करना है। इस प्रकार, अपराधबोध प्रामाणिकता की कमी है, जो अस्तित्ववाद में एकमात्र नए और पूर्ण सद्गुण के करीब आता है।
लेकिन आश्चर्यजनक रूप से, एक गैर-आस्तिक दर्शन में भी हमें अस्तित्वगत अपराधबोध की अवधारणा मिलती है, एक ऐसा अपराधबोध जिससे बचा नहीं जा सकता, एक प्रकार का मूल पाप। “मेरा मूल पतन दूसरे का अस्तित्व है।” (पृष्ठ 263) मेरी शर्म और मेरा अभिमान दोनों इस तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि मेरा एक “बाहरी” या “स्वभाव” है, एक ऐसा स्व जो दूसरे के लिए विद्यमान है और जिसे मैं निर्धारित करने या जानने में भी असमर्थ हूँ। इस प्रकार, यद्यपि मैं कभी भी, चाहे कितना भी प्रयास करूँ, स्वयं के लिए एक वस्तु नहीं हो सकता, मैं दूसरों के लिए एक वस्तु बन जाता हूँ। “मैं दूसरे के समक्ष दोषी हूँ। मैं सबसे पहले तब दोषी होता हूँ जब दूसरे की दृष्टि के नीचे मैं अपने अलगाव और नग्नता को एक ऐसे पतन के रूप में अनुभव करता हूँ जिसे मुझे स्वीकार करना ही होगा। यही धर्मग्रंथ की प्रसिद्ध पंक्ति का अर्थ है: वे जानते थे कि वे नग्न हैं।” (पृष्ठ 410) इस प्रकार, जो स्वयं के लिए पूर्णतः व्यक्तिपरक है, वह स्वयं को दोषी महसूस करता है क्योंकि उसे दूसरे द्वारा एक वस्तु बना दिया जाता है। वह दोषी है क्योंकि वह इस अलगाव को स्वीकार करता है और फिर से दोषी है क्योंकि वह अनिवार्य रूप से दूसरे को भी इसी अलगाव का अनुभव कराएगा। हम दूसरे को वस्तु और साधन बनाए बिना नहीं रह सकते, इस प्रकार उसकी श्रेष्ठता का उल्लंघन करते हैं, और यह उसकी आत्मनिष्ठा पर अत्याचार है।

सार्त्र कहते हैं कि ईश्वर के प्रति भय तब उत्पन्न होता है जब कोई स्वयं को एक निरपेक्ष विषय के समक्ष केवल एक वस्तु के रूप में स्थापित करके इस वस्तु-अवस्था का महिमामंडन करने का प्रयास करता है। (पृष्ठ 290) लेकिन सार्त्र के अनुसार, यह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अपराधबोध को और बढ़ाएगा, क्योंकि यह व्यक्ति की स्वतंत्र आत्मनिष्ठा का झूठा खंडन है। इसके विपरीत स्थिति तब उत्पन्न होती है जब कोई ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किए बिना, काले अनुष्ठान करके, पवित्र रोटी का अपमान करके, बुराई के लिए बुराई की इच्छा करके, आदि द्वारा उसे एक निरपेक्ष वस्तु बनाने का प्रयास करता है। (हालाँकि, इस अंतिम उदाहरण में, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह केवल बुराई की पारंपरिक परिभाषा के अनुसार ही बुराई की इच्छा करना है।)
कई ऐसे अंशों में जहाँ कोई स्पष्ट धार्मिक संबंध नहीं है, सार्त्र अपने शब्दों के चयन से ऐसे संबंध का संकेत देते प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा तीन "एक्स्टेसिस" का प्रयोग। यह शब्द अनिवार्य रूप से रहस्यवादी अर्थों का सुझाव देता है। देसान संकेत देते हैं कि तीन एक्स्टेसिस की अवधारणा की तुलना ईसाई त्रिमूर्ति से की जा सकती है— हालाँकि वे कभी भी इस तुलना को करने का प्रयास नहीं करते। मैं स्वयं सार्त्र के तीन एक्स्टेसिस और पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा के बीच प्रत्यक्ष तुलना की कोई संभावना नहीं देखता। लेकिन चूंकि प्रत्येक मामले में एक्स्टेसिस स्वयं से अलग वह स्थिति है जो रहस्यवादी का लक्ष्य था, इसलिए यह संभव प्रतीत होता है कि यहाँ भी सार्त्र अक्सर मानवीय स्थिति के अपने वर्णन के भाग के रूप में एक ऐसे अनुभव को प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे एक बिल्कुल अलग संदर्भ में धार्मिक महत्व दिया गया है। सार्त्र के तीन एक्स्टेसिस हैं: (1) स्वयं के लिए द्वारा स्वयं में का निरंतर नवीकृत आंतरिक निषेध। इसमें तीन लौकिक एक्स्टेसिस का "प्रवासन" शामिल है। वर्तमान में, 'स्वयं के लिए' कुछ भी नहीं है। परन्तु यह 'अंतर्स्वयं' के लिए उपस्थित है। 'स्वयं के लिए' अतीत से जो अर्थ निकालता है (जिससे तात्पर्य वह है जो 'स्वयं के लिए' रहा है, एक ऐसा 'अंतर्स्वयं' जिससे अब वह शून्यता द्वारा अलग हो गया है), उसके प्रकाश में, 'स्वयं के लिए' भविष्य की ओर अग्रसर होता है, उस 'स्वयं' का चयन करके जो वह होगा। (2) वह चिंतन जिसके द्वारा 'स्वयं के लिए' अपने मूल शून्यीकरण (शुद्ध चिंतन के रूप में जानी जाने वाली प्रक्रिया) और अपनी मानसिक अवस्थाओं (अशुद्ध चिंतन) पर चिंतन करता है। (3) 'दूसरों के लिए होना' जब 'स्वयं के लिए' यह अहसास करता है कि उसका एक 'स्वयं' है जो दूसरे के लिए विद्यमान है और जिसे वह कभी जान नहीं सकता।
कुछ अन्य अस्पष्ट रूप से धार्मिक अवधारणाओं पर संक्षेप में चर्चा की गई है। उदाहरण के लिए, सार्त्र शाश्वतता को उस आदर्श मूल्य के रूप में परिभाषित करते हैं जिसकी मनुष्य खोज कर रहा है और जो "अवधि की अनंतता नहीं है, स्वयं की उस व्यर्थ खोज की अनंतता नहीं है जिसके लिए मैं स्वयं जिम्मेदार हूँ; मनुष्य स्वयं में विश्राम चाहता है, स्वयं के साथ पूर्ण समकालिकता की खोज करता है।" (पृष्ठ 141-142) एक पवित्र वस्तु वह है जो

संसार में संसार से परे पारलौकिकता की ओर इशारा करती है। (पृष्ठ 374) स्वयं के अप्रत्याशित प्रतिरोध द्वारा प्रदत्त "अप्रत्याशितता की सीमा" का संबंध अज्ञात देवता के लिए वेदी स्थापित करने की यूनानी प्रथा से है। (पृष्ठ 507) एक प्रकार का शारीरिक सर्वेश्वरवाद भी सार्त्र के उस वर्णन में उचित स्थान पाता है जिसमें हम "अपने शरीर में विद्यमान" हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने आप को शरीर और उसके सुखों के साथ यथासंभव पूर्ण रूप से पहचानना चुनता है, तो इसे एक ऐसी विधि के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है जिसके द्वारा स्वयं के लिए "स्वयं को अस्तित्व में लाता है।" “इस स्थिति में, स्वयं-स्वयं और स्वयं-के-लिए का वांछित संश्लेषण, स्वयं-स्वयं की समग्रता और उसे पुनः प्राप्त करने वाले स्वयं-के-लिए का अर्ध-सर्वेश्वरवादी संश्लेषण होगा। यहाँ शरीर संश्लेषण का साधन है; उदाहरण के लिए, यह थकान में स्वयं को खो देता है, ताकि यह स्वयं-स्वयं पूर्ण रूप से विद्यमान हो सके।” (पृष्ठ 456)
ऐसे अंशों में अन्य अंश भी जोड़े जा सकते हैं जिनमें मात्र भाषा से ही यह आभास होता है कि पुराने शब्दों को जानबूझकर एक नए ढांचे में ढाला जा रहा है। इस प्रकार, वह प्रक्रिया जिसके द्वारा 'स्वयं के लिए' अपने वास्तविक स्वरूप का सामना करता है, एक ऐसी प्रक्रिया जिसे सार्त्र एक नैतिक जीवन जीने से पहले आवश्यक बताते हैं, उसे कैथार्सिस या शुद्धि कहा जाता है। बाह्य वस्तुएं या प्राणी "एक ऐसे संसार में सह-उपस्थित प्रकट होते हैं जहां 'स्वयं के लिए' उन्हें अपने रक्त से उस पूर्ण परमानंदमय आत्म-बलिदान द्वारा एकजुट करता है जिसे उपस्थिति कहा जाता है।" (पृष्ठ 122) यहां तक कि अस्तित्व की पारलौकिकता, उसकी पारघटनशीलता का प्रमाण भी एक सत्तामीमांसीय प्रमाण कहलाता है। ऐसा लगता है मानो सार्त्र एक नए धार्मिक तर्क का उपयोग करके निरपेक्ष, अनुचित, अचेतन द्रव्यमान के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हों।
सार्त्र ने अपने धार्मिक दृष्टिकोण का संक्षिप्त और सटीक वर्णन किया है। “सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो संसार, मनुष्य और संसार में मनुष्य ने केवल एक लुप्त ईश्वर को ही साकार कर लिया हो।” (पृष्ठ 623) यह प्रश्न अक्सर उठाया जाता है कि जब सार्त्र की अस्तित्व की संपूर्ण व्याख्या ईश्वर की खोज पर आधारित है, तो वे एक कदम आगे बढ़कर एक वास्तविक ईश्वर की परिकल्पना करने को क्यों तैयार नहीं हैं? या यदि यह अत्यधिक अपेक्षा है (और वास्तव में मुझे लगता है कि इससे उनका पूरा कार्य ही उलट जाएगा), तो वे इस अवधारणा को एक प्रेरणादायक शक्ति से परिपूर्ण एक मूल्यवान मिथक के रूप में क्यों स्वीकार नहीं करते? यद्यपि सार्त्र ने कभी भी स्पष्ट शब्दों में यह प्रश्न नहीं उठाया और न ही इसका उत्तर दिया, मुझे लगता है कि उनका उत्तर स्पष्ट है। वे ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व की धारणा को अस्वीकार करते हैं क्योंकि यह विचार उन्हें तार्किक आधार पर असत्य प्रतीत होता है। वे इस मिथक को आंशिक रूप से इसलिए नकारते हैं क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि हमें वास्तविकता का सामना करना चाहिए, न कि उन मिथकों के पीछे छिपना चाहिए जो मानवीय दुविधा की गहराई को धुंधला कर देते हैं। वह इसे इसलिए भी

मानकर ही संभव है। स्वयं के लिए होने के नाते, यद्यपि मैं किसी दूसरे का दृष्टिकोण अपना सकता हूँ, जैसे हाथ या पैर उठाकर उसे देखना, मैं अपने शरीर को अपना तभी अनुभव करता हूँ जब मैं इसके माध्यम से संसार का अनुभव करता हूँ। इस स्थिति में मैं अपने शरीर को एक उपकरण के रूप में नहीं देखता जिसका उपयोग मैं पुराने आत्मा-शरीर द्वैतवाद की तरह करता हूँ, बल्कि मैं वह उपकरण हूँ जिसकी ओर संसार के उपकरण इंगित कर रहे हैं और जिसके द्वारा संसार उपकरणों के एक पदानुक्रम के रूप में प्रकट होता है। यदि स्वयं के लिए चेतना के साथ-साथ शरीर न होता, तो वस्तुओं को उपकरण के रूप में देखने का विचार अर्थहीन हो जाता। मैं अपने शरीर को स्वयं के लिए अस्तित्व के रूप में जानता हूँ, न कि एक ऐसे हिस्से के रूप में जिसका बोझ मुझ पर है। “इस प्रकार, यह कहना कि मैं संसार में प्रवेश कर चुका हूँ, संसार में आ चुका हूँ, या यह कहना कि संसार का अस्तित्व है, या यह कहना कि मेरा शरीर है, एक ही बात है।” (पृष्ठ 318)
इस संदर्भ में शरीर एक आवश्यक कड़ी के रूप में कार्य करता है जिसके द्वारा सार्त्र दूसरे के अस्तित्व की अवधारणा स्थापित करते हैं। हमने देखा कि "ला ट्रांसेंडेंस डे ल'ईगो" में सार्त्र का मानना था कि अहंकार को मानसिक का हिस्सा बनाकर और इस प्रकार उसे संसार में एक वस्तु बनाकर, वे आत्मवाद का खंडन कर सकते हैं। "बीइंग एंड नथिंगनेस" में वे कहते हैं कि पिछले लेख में वे कुछ अधिक ही आशावादी थे।
“भले ही अनुभवजन्य अहं के बाहर उस अहं की चेतना के अलावा कुछ भी न हो— अर्थात्, एक विषयविहीन पारलौकिक क्षेत्र—फिर भी यह तथ्य बना रहता है कि दूसरे के प्रति मेरी स्वीकृति संसार से परे एक समान पारलौकिक क्षेत्र के अस्तित्व की मांग करती है और उसे अनिवार्य बनाती है। परिणामस्वरूप, आत्मवाद से बचने का एकमात्र उपाय यहाँ फिर से यह सिद्ध करना होगा कि मेरी पारलौकिक चेतना अपने अस्तित्व में ही उसी प्रकार की अन्य चेतनाओं के अलौकिक अस्तित्व से प्रभावित होती है।” (पृष्ठ 235)
तर्क और प्रमाण की दृष्टि से, सार्त्र को विश्वास है कि हम कभी भी दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि दूसरा, परिभाषा के अनुसार, मेरे अनुभव से परे एक स्व-अस्तित्व है और प्रमाण मेरे अनुभव के भीतर मौजूद चीज़ों पर आधारित होना चाहिए। यद्यपि हम दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करते, फिर भी हम उसे एक "तथ्यात्मक आवश्यकता" के रूप में अनुभव करते हैं; उसके अस्तित्व के प्रति हमारा संदेह केवल एक अमूर्त संदेह है जिसे हम अपने स्वयं के अस्तित्व पर भी समान रूप से लागू कर सकते हैं, और यह ठोस नहीं है। एक प्रकार के तात्विक प्रमाण द्वारा सार्त्र ने स्व-अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता को दर्शाया था। दूसरे का अस्तित्व एक तात्विक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि आवश्यकता हो, तो हम एक ऐसे संसार की कल्पना कर सकते हैं जहाँ कोई दूसरा न हो। (पृष्ठ 252) परन्तु दूसरे का अस्तित्व एक "आकस्मिक आवश्यकता" है। हमें दूसरे के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं मिलते, परन्तु हम दूसरे का सामना करते हैं और आत्मवाद का उतना ही स्वाभाविक प्रतिरोध करते हैं जितना हम अपने स्वयं के

अस्तित्व के संदेह का करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि मैं इस तथ्य को साबित नहीं कर सकता कि मेरी चेतना का मूल अस्तित्व किसी अन्य चेतना से प्रभावित होता है, लेकिन वास्तव में मैं इसका अनुभव करता हूं।
यहां जोड़ने वाली कड़ी शरीर है। जब मैं दुनिया की वस्तुओं के साथ अपने सामान्य संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया में अपने शरीर को "अस्तित्व" देता हूं, तो यह मेरा "स्वयं का शरीर" होता है। लेकिन शरीर के दो अन्य आयाम भी हैं। एक है "दूसरे के लिए शरीर" और दूसरा है "दूसरे द्वारा देखा गया शरीर"। जब मैं दूसरे के शरीर को देखता हूं, तो मैं उसकी गतिविधियों की व्याख्या केवल यह मानकर कर सकता हूं कि वह किसी स्व-प्रेरित शक्ति द्वारा निर्देशित है, संक्षेप में, उसकी मानसिक गुणवत्ता को पहचानकर। लेकिन इसका अर्थ यह है कि दुनिया का वह स्थानिक और साधनिक संगठन जिसे मैंने अपने शरीर को संदर्भ केंद्र मानकर स्थापित किया था, अब एकमात्र संभव व्यवस्था नहीं रह जाती। इसके बजाय, दूसरे को केंद्र मानकर वस्तुओं का एक समूह प्रकट होता है; उसने "मेरी दुनिया में एक आंतरिक रक्तस्राव" किया है जो उसकी दिशा में बहता है। उसने मेरी दुनिया मुझसे छीन ली है। इससे भी आगे का विकास तब होता है जब मैं अपने शरीर को दूसरे द्वारा देखे जाने का अनुभव करता हूं। इस स्थिति में मुझे अचानक यह अहसास होता है कि मैं दूसरे के लिए एक वस्तु के रूप में विद्यमान हूँ, कि मेरा एक ऐसा स्व है जिसे वह जानता है और जिसे मैं कभी नहीं जान सकता, और मैं दूसरे के प्रति असुरक्षित हूँ, जो मेरी क्रियाओं की संभावनाओं का पूर्वाभास कर उन्हें अवरुद्ध कर सकता है। इस प्रकार दूसरे का प्रकटीकरण दृष्टि है। जब वह मुझे देखता है तो मैं उसे विषय के रूप में अनुभव करता हूँ और जब मैं उसे देखता हूँ तो उसे वस्तु के रूप में अनुभव करता हूँ। और विषय और वस्तु के इस अस्थिर परिवर्तन पर सार्त्र के प्रेम, घृणा, क्रूरता, आत्मपीड़ा और यहाँ तक कि उदासीनता का संपूर्ण ढाँचा खड़ा है, जो सब मिलकर उस संघर्ष का निर्माण करते हैं जो सभी अंतर-मानवीय संबंधों का आधार है।
शरीर वह माध्यम है जिसके द्वारा दृष्टि का अनुभव होता है, लेकिन कामुकता ही वह मूल तत्व है जो फ्रायड के मनोविज्ञान की तरह ही—हालांकि एक बिल्कुल अलग तरीके से—सभी मानवीय संबंधों की जड़ में निहित है। फ्रायड की तरह, सार्त्र का भी मानना है कि परिपक्व यौन आवेग एक लंबे विकास का परिणाम है, लेकिन कामुकता तो शिशु में भी विद्यमान होती है। हालांकि, मेरी जानकारी के अनुसार, जब वे लिखते हैं, “कहा जाता है कि मनुष्य एक यौन प्राणी है क्योंकि उसमें एक लिंग होता है। और यदि इसका विपरीत सत्य हो? यदि लिंग केवल एक साधन हो, और एक प्रकार से, एक मूलभूत कामुकता की छवि हो? यदि मनुष्य में एक लिंग केवल इसलिए हो क्योंकि वह मूल रूप से और मौलिक रूप से एक यौन प्राणी है, एक ऐसा प्राणी जो दुनिया में अन्य मनुष्यों के साथ संबंध में विद्यमान है?” (पृष्ठ 383) इस अद्भुत कथन की व्याख्या वे यौन इच्छा के विश्लेषण द्वारा करते हैं। सबसे पहले यह बताते हुए कि इच्छा का होना आवश्यक रूप से केवल पूर्ण विकसित यौन अंगों की उपस्थिति के साथ ही नहीं होता, वे कहते हैं कि यौन इच्छा केवल या मुख्य रूप से शारीरिक “संतुष्टि” की इच्छा नहीं है।

स्वतंत्रता की दिशा में निरंतर आत्म-उत्कृष्टता को बढ़ावा देगा। अभी तक, अस्तित्ववादी नायक के सबसे निकट जो व्यक्तिगत नैतिकता के आदर्श का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है, वह नाटक “द फ्लाइज़” में ओरेस्टेस है। इस नाटक में, जो स्पष्ट रूप से “गंभीरता की भावना” और पारंपरिक धार्मिक विचारों पर प्रहार है, ओरेस्टेस क्लिटेम्नेस्ट्रा और एगिस्थस (आदम और हव्वा?) के पाप से उत्पन्न सामान्य अपराधबोध और प्रायश्चित की आवश्यकता की भावना में लोगों के साथ शामिल होने से इनकार करता है। वह ब्रह्मांड के चमत्कारों के प्रदर्शन (जैसे बवंडर से आती आवाज?) से प्रभावित नहीं होगा। वह इस बात पर ज़ोर देता है कि सृष्टि के क्षण से ही वह अपने रचयिता से मुक्त हो गया था, और उसका दावा है कि वह किसी देवता द्वारा निर्धारित आदेशों का पालन करने के लिए ब्रह्मांड में नहीं है। लेकिन बदले में वह क्या देता है? वह अपने प्रत्येक कार्य की पूर्ण जिम्मेदारी स्वीकार करने पर ज़ोर देता है। वह दर्शक की भूमिका त्याग देता है और स्वेच्छा से अपनी स्वतंत्रता को आर्गोस के लोगों के हित में समर्पित कर देता है। वह पीड़ा के लिए अपनी मन की शांति का त्याग करने को तैयार है। वह अकेले ही ऐसे नए मार्ग खोजने के लिए निकल पड़ता है जो उस मनुष्य के लिए उपयुक्त हों जो अब स्वयं को प्रकृति की योजना का हिस्सा मानकर अपने भाग्य का पता नहीं लगा सकता। संक्षेप में, वह पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण जिम्मेदारी के बीच के तनाव को स्वीकार करता है। नाटक में ओरेस्टेस को यह ठीक से पता नहीं लगता कि आर्गोस छोड़ने के बाद वह कौन सा मार्ग अपनाएगा, लेकिन हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वह मानवीय स्थिति के तथ्यों का तर्कसंगत रूप से सामना करने को प्राथमिकता देगा और अपने पहले के कथनों के अनुरूप आचरण के सिद्धांत विकसित करेगा। मुझे संदेह है कि फिलहाल हम नैतिक चर्चा की प्रकृति के बारे में कोई भी भविष्यवाणी करने के लिए इससे अधिक आगे नहीं जा सकते, जिसका वादा सार्त्र ने हमसे किया है।
हेज़ल ई. बार्न्स
कोलोराडो विश्वविद्यालय
जेम्स, विलियम। व्यावहारिकता। सोचने के कुछ पुराने तरीकों के लिए एक नया नाम। न्यूयॉर्क: लॉन्गमैन्स, ग्रीन, एंड कंपनी, 1949। पृष्ठ 198।
स्टर्न, अल्फ्रेड। सार्त्र। उनका दर्शन और मनोविश्लेषण। न्यूयॉर्क: लिबरल आर्ट्स प्रेस। 1953। इस सूची में नीत्शे, काफ्का, सालाक्रू, हाइडेगर, क्रोसे, मार्क्स, हेगेल, काल्डवेल, फॉकनर, एडलर, श्निज़लर, मालरो और बैचेलार्ड शामिल हैं। कई बार स्टर्न लगभग यह संकेत देते प्रतीत होते हैं कि सार्त्र ने जानबूझकर अपने स्रोत को छिपाया है। पृष्ठ 212 पर वे कहते हैं कि सार्त्र चयनात्मक नहीं हैं। पृष्ठ 166 पर वे घोषणा करते हैं कि सार्त्र की रचनात्मक प्रतिभा स्त्री जैसी है और उसे अन्य लोगों द्वारा पोषित और प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है!
3 इस कथन का सबसे उल्लेखनीय अपवाद फ्रांसिस जीन्सन हैं, जो सार्त्र के अधिकांश आलोचकों की ओर से इस प्रवृत्ति की निंदा करते हैं। ले प्रॉब्लम मोरल एट ला पेन्सी डे सार्त्र। पेरिस: एडिशन डु मायर्टे। 1947.
4 रेचेर्चेस फिलॉसॉफिक्स में। वॉल्यूम. VI, 1936-1937। पृ. 85-123.

[5] L’imaginaire, psychologie phénoménolgique de l’imagination. [illegible]: [illegible]. 1940. [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]: [illegible] [illegible]. [illegible]: [illegible] [illegible]. 1948.

[6] [illegible] [illegible]’[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]: [illegible] 1939[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]: [illegible] [illegible]: [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]: [illegible] [illegible] [illegible] 1939[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [

[17] □□□□. □□. □□□., □□. 73.

[18] □□□□□, □□. □□□□□□. □□□□□□□ □□□□□ 276.

परिचय

अस्तित्व की खोज
I. घटना
आधुनिक चिंतन ने विद्यमान को उसके प्रकट होने वाले विभिन्न रूपों की श्रृंखला में विभाजित करके उल्लेखनीय प्रगति की है। इसका उद्देश्य दर्शनशास्त्र को विवश करने वाले कुछ द्वैतवादों को दूर करना और उनकी जगह घटना के अद्वैतवाद को स्थापित करना था। क्या यह प्रयास सफल रहा है? सर्वप्रथम, हम उस द्वैतवाद से निश्चित रूप से छुटकारा पा लेते हैं जो अस्तित्व में आंतरिक और बाह्य को विपरीत रखता है। यदि हमारा तात्पर्य किसी ऐसी सतही आवरण से है जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को दृष्टि से छुपाता है, तो अस्तित्व के लिए अब कोई बाह्य नहीं रह जाता। और यह वास्तविक स्वरूप, यदि वस्तु की गुप्त वास्तविकता है, जिसका पूर्वाभास हो सकता है या जिसकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन जिसे कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि यह विचाराधीन वस्तु का "आंतरिक" भाग है—तो यह स्वरूप अब अस्तित्व में नहीं रहता। अस्तित्व को प्रकट करने वाले स्वरूप न तो आंतरिक हैं और न ही बाह्य; वे सभी समान हैं, वे सभी अन्य स्वरूपों को संदर्भित करते हैं, और उनमें से कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। उदाहरण के लिए, बल एक अज्ञात प्रकार का आध्यात्मिक संवेदन नहीं है जो अपने प्रभावों (त्वरण, विचलन आदि) के पीछे छिपा रहता है; यह इन प्रभावों की समग्रता है। इसी प्रकार, विद्युत धारा का कोई गुप्त विपरीत पक्ष नहीं होता; यह उन सभी भौतिक-रासायनिक क्रियाओं का समग्र रूप है जो इसे प्रकट करती हैं (विद्युत अपघटन, कार्बन तंतु का प्रज्वलन, गैल्वेनोमीटर की सुई का विस्थापन आदि)। इनमें से कोई भी क्रिया इसे प्रकट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। लेकिन कोई भी क्रिया अपने पीछे की किसी भी चीज़ का संकेत नहीं देती; यह केवल स्वयं और संपूर्ण श्रृंखला का संकेत देती है।
स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि अस्तित्व और आभास का द्वैतवाद दर्शनशास्त्र में अब किसी भी वैध मान्यता का हकदार नहीं है। आभास से तात्पर्य आभासों की संपूर्ण श्रृंखला से है, न कि किसी छिपी हुई वास्तविकता से जो विद्यमान के संपूर्ण अस्तित्व को अपने भीतर समाहित कर ले। और आभास स्वयं इस अस्तित्व की असंगत अभिव्यक्ति नहीं है। जिस हद तक मनुष्यों ने अलौकिक वास्तविकताओं में विश्वास किया है, उन्होंने आभास को एक शुद्ध नकारात्मकता के रूप में प्रस्तुत किया है। यह "वह है जो अस्तित्व नहीं है"; इसका भ्रम और त्रुटि के अलावा कोई अन्य अस्तित्व नहीं था। लेकिन यह अस्तित्व भी उधार लिया गया था, यह स्वयं एक आडंबर था, और दार्शनिकों को आभास में सामंजस्य और अस्तित्व बनाए रखने में सबसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा ताकि यह स्वयं अलौकिक अस्तित्व की गहराई में पुनः समाहित न हो जाए। लेकिन यदि हम एक बार नीत्शे द्वारा वर्णित "पर्दे के पीछे की दुनिया के भ्रम" से दूर हो जाते हैं, और यदि हम अब आभास के पीछे के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं, तो आभास पूर्ण सकारात्मकता बन जाता है; इसका सार एक ऐसा "प्रकट होना" है जो अब

है, क्योंकि सिद्धांत रूप में यह वह है जिसे व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों की एक अनंत श्रृंखला द्वारा प्रकट किया जा सकता है।
इस प्रकार अनेक विरोधों को एक ही द्वैतवाद से प्रतिस्थापित करने से, जिस पर वे सभी आधारित हैं, क्या हमें लाभ हुआ है या हानि? यह हम शीघ्र ही देखेंगे। फिलहाल, "घटना के सिद्धांत" का पहला परिणाम यह है कि उपस्थिति, अस्तित्व को उस प्रकार संदर्भित नहीं करती जिस प्रकार कांट की घटना, मूल तत्व को संदर्भित करती है। चूंकि उपस्थिति के पीछे कुछ भी नहीं है, और चूंकि यह केवल स्वयं को (और उपस्थितियों की संपूर्ण श्रृंखला को) इंगित करती है, इसलिए इसे अपने स्वयं के अलावा किसी अन्य अस्तित्व द्वारा समर्थित नहीं किया जा सकता है। उपस्थिति शून्यता की वह पतली परत नहीं हो सकती जो विषय के अस्तित्व को परम अस्तित्व से अलग करती है। यदि उपस्थिति का सार एक "प्रकट होना" है जो अब किसी भी अस्तित्व के विपरीत नहीं है, तो इस प्रकट होने के अस्तित्व के संबंध में एक वैध समस्या उत्पन्न होती है। यही समस्या हमारी पहली चिंता होगी और यही अस्तित्व और शून्यता की हमारी खोज का प्रारंभिक बिंदु होगी।
II. अस्तित्व की घटना और घटना का अस्तित्व यह आभास किसी भी भिन्न अस्तित्व द्वारा समर्थित नहीं है; इसका अपना अस्तित्व है। हमारे सत्तामीमांसा संबंधी अन्वेषण में हमें जो पहला अस्तित्व मिलता है, वह आभास का अस्तित्व है। क्या यह स्वयं एक आभास है? पहली नज़र में ऐसा ही लगता है। घटना वह है जो स्वयं को प्रकट करती है, और अस्तित्व किसी न किसी रूप में सभी के समक्ष स्वयं को प्रकट करता है, क्योंकि हम इसके बारे में बात कर सकते हैं और क्योंकि हमें इसकी एक निश्चित समझ है। इस प्रकार इसके लिए अस्तित्व की एक घटना, अस्तित्व का एक आभास होना चाहिए, जिसका वर्णन इसी रूप में किया जा सके। अस्तित्व हमें किसी प्रकार की प्रत्यक्ष पहुँच—ऊब, मतली आदि—के माध्यम से प्रकट होगा, और सत्तामीमांसा अस्तित्व की घटना का वर्णन होगी जैसा कि वह स्वयं को प्रकट करती है; अर्थात्, बिना किसी मध्यस्थ के। हालाँकि, किसी भी सत्तामीमांसा के लिए हमें एक प्रारंभिक प्रश्न उठाना चाहिए: क्या इस प्रकार प्राप्त अस्तित्व की घटना, घटनाओं के अस्तित्व के समान है? दूसरे शब्दों में, क्या वह अस्तित्व जो स्वयं को मेरे समक्ष प्रकट करता है, जो मुझे दिखाई देता है, उसी प्रकृति का है जिस प्रकृति के अस्तित्व मुझे दिखाई देते हैं? ऐसा लगता है कि इसमें कोई कठिनाई नहीं है। हुसरल ने दिखाया है कि कैसे एक आदर्श सरलीकरण हमेशा संभव है; यानी, कैसे कोई व्यक्ति हमेशा मूर्त घटना से परे जाकर उसके सार की ओर बढ़ सकता है। हाइडेगर के अनुसार भी "मानवीय वास्तविकता" सत्तामीमांसा-सत्तामीमांसा है; यानी, यह हमेशा घटना से परे जाकर उसके अस्तित्व की ओर बढ़ सकती है। लेकिन विशिष्ट वस्तु से सार की ओर जाना समरूप से समरूप की ओर जाना है। क्या अस्तित्व से सत्ता की घटना की ओर जाने के लिए भी यही बात लागू होती है: क्या अस्तित्व से परे जाकर सत्ता की घटना की ओर बढ़ना वास्तव में उससे परे जाकर उसके

अस्तित्व की ओर बढ़ना है, जैसे कोई विशिष्ट वस्तु से परे जाकर उसके सार की ओर बढ़ता है? आइए इस पर और विचार करें।
किसी वस्तु में रंग, गंध आदि जैसे गुण हमेशा स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर, उनके द्वारा निहित सार का निर्धारण किया जा सकता है, जैसे कोई चिह्न अपने अर्थ को प्रकट करता है। वस्तु-सार की समग्रता एक संगठित इकाई का निर्माण करती है। सार वस्तु में निहित नहीं होता; यह वस्तु का अर्थ है, उन विभिन्न अभिव्यक्तियों का सिद्धांत है जो इसे प्रकट करती हैं। परन्तु अस्तित्व न तो वस्तु का कोई गुण है, जिसे अन्य गुणों के बीच समझा जा सके, और न ही वस्तु का कोई अर्थ है। वस्तु किसी संकेत के रूप में अस्तित्व को संदर्भित नहीं करती; उदाहरण के लिए, अस्तित्व को उपस्थिति के रूप में परिभाषित करना असंभव होगा, क्योंकि अनुपस्थिति भी अस्तित्व को प्रकट करती है, क्योंकि न होना भी अस्तित्व का अर्थ है। वस्तु में अस्तित्व नहीं होता, और उसका अस्तित्व न तो अस्तित्व में सहभागिता है, न ही किसी अन्य प्रकार का संबंध। वह है। यही उसके अस्तित्व के स्वरूप को परिभाषित करने का एकमात्र तरीका है; वस्तु अस्तित्व को छुपाती नहीं है, और न ही प्रकट करती है। वस्तु इसे छुपाती नहीं है, क्योंकि अस्तित्व के कुछ गुणों को दरकिनार करके उनके पीछे छिपे अस्तित्व को खोजना व्यर्थ होगा। अस्तित्व उन सभी का समान अस्तित्व है। वस्तु अपने अस्तित्व को प्रकट नहीं करती, क्योंकि वस्तु के अस्तित्व को समझने के लिए उससे संपर्क करना व्यर्थ होगा। विद्यमान एक घटना है; इसका अर्थ है कि यह स्वयं को गुणों की एक संगठित समग्रता के रूप में परिभाषित करता है। यह स्वयं को परिभाषित करता है, अपने अस्तित्व को नहीं। अस्तित्व समस्त प्रकटीकरण की मूल अवस्था है। यह प्रकट करने के लिए अस्तित्व (être-pour-dévoiler) है, न कि प्रकट अस्तित्व (être dévoilé)। तो फिर, उस सत्तामीमांसा की ओर अग्रसर होने का क्या अर्थ है, जिसकी चर्चा हाइडेगर करते हैं? निःसंदेह मैं इस मेज या इस कुर्सी से परे जाकर इसके अस्तित्व की ओर बढ़ सकता हूँ और मेज या कुर्सी के अस्तित्व के प्रश्न को उठा सकता हूँ। लेकिन उस क्षण मैं मेज की घटना से अपनी दृष्टि हटाकर अस्तित्व की घटना पर ध्यान केंद्रित करता हूँ, जो अब समस्त रहस्योद्घाटन की शर्त नहीं है, बल्कि स्वयं ही प्रकट है—एक ऐसा स्वरूप जिसे स्वयं एक अस्तित्व की आवश्यकता होती है जिसके आधार पर वह स्वयं को प्रकट कर सके।
यदि घटनाओं का अस्तित्व, अस्तित्व की घटना में विलीन नहीं हो जाता, और फिर भी हम अस्तित्व की इस घटना पर विचार किए बिना अस्तित्व के बारे में कुछ नहीं कह सकते, तो सबसे पहले उस सटीक संबंध को स्थापित करना होगा जो अस्तित्व की घटना को घटना के अस्तित्व से जोड़ता है। हम इसे अधिक आसानी से कर सकते हैं यदि हम यह मानें कि उपरोक्त सभी टिप्पणियाँ सीधे तौर पर अस्तित्व की घटना के प्रकट करने वाले अंतर्ज्ञान से प्रेरित हैं। अस्तित्व को रहस्योद्घाटन की शर्त के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी उपस्थिति के रूप में मानकर जिसे अवधारणाओं में निर्धारित किया जा सकता है, हमने सबसे पहले यह समझा है कि ज्ञान स्वयं अस्तित्व का विवरण नहीं दे सकता;

अर्थात्, घटना के अस्तित्व को अस्तित्व की घटना तक सीमित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में, अस्तित्व की घटना उस अर्थ में "सत्तामीमांसीय" है जिस अर्थ में हम सेंट एंसलम और डेसकार्टेस के सत्तामीमांसीय प्रमाण की बात करते हैं। यह अस्तित्व का आह्वान है; इसे एक ऐसी घटना के रूप में एक आधार की आवश्यकता होती है जो घटना से परे हो। अस्तित्व की घटना को अस्तित्व की घटना से परे होने की आवश्यकता होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अस्तित्व घटनाओं के पीछे छिपा हुआ है (हम देख चुके हैं कि घटना अस्तित्व को छिपा नहीं सकती), न ही यह कि घटना एक ऐसी उपस्थिति है जो किसी विशिष्ट अस्तित्व को संदर्भित करती है (घटना केवल उपस्थिति के रूप में ही विद्यमान है; अर्थात्, यह अस्तित्व के आधार पर स्वयं को प्रकट करती है)। उपरोक्त विचारों से यह तात्पर्य निकलता है कि घटना का अस्तित्व, यद्यपि घटना के साथ सह-विस्तारित है, घटना की उस स्थिति के अधीन नहीं हो सकता—जिसका अर्थ है कि वह केवल तभी विद्यमान होता है जब वह स्वयं को प्रकट करता है—और परिणामस्वरूप, यह हमारे ज्ञान से परे है और ऐसे ज्ञान का आधार प्रदान करता है।
III. पूर्व-चिंतनशील विचार और बोधकर्ता का अस्तित्व शायद कोई यह उत्तर देने के लिए प्रेरित होगा कि ऊपर बताई गई सभी कठिनाइयाँ अस्तित्व की एक विशेष अवधारणा से संबंधित हैं, एक प्रकार के सत्तामीमांसीय यथार्थवाद से जो उपस्थिति की मूल धारणा के साथ पूरी तरह असंगत है। उपस्थिति का अस्तित्व इस तथ्य से निर्धारित होता है कि वह प्रकट होती है। और चूंकि हमने वास्तविकता को घटना तक सीमित कर दिया है, इसलिए हम घटना के बारे में कह सकते हैं कि वह वैसी ही है जैसी वह प्रकट होती है। क्यों न इस विचार को उसकी चरम सीमा तक ले जाकर यह कहा जाए कि उपस्थिति का अस्तित्व ही उसका प्रकट होना है? यह बर्कले के पुराने कथन "एस्से एस्ट पर्सिपी" को नए शब्दों में ढालने का एक सरल तरीका है। और वास्तव में हुसर्ल और उनके अनुयायी भी यही कर रहे हैं जब घटनात्मक सरलीकरण करने के बाद, वे नोएमा को अवास्तविक मानते हैं और घोषणा करते हैं कि उसका एस्से पर्सिपी है।
ऐसा प्रतीत होता है कि बर्कले का प्रसिद्ध सूत्र हमें संतुष्ट नहीं कर सकता - इसके दो महत्वपूर्ण कारण हैं, एक तो परसिपी की प्रकृति से संबंधित है, दूसरा परसिपेरे की प्रकृति से।
बोधगम्य की प्रकृति।
यदि प्रत्येक तत्वमीमांसा वास्तव में ज्ञान के सिद्धांत को पूर्वधारणा में रखती है, तो ज्ञान का प्रत्येक सिद्धांत भी बदले में तत्वमीमांसा को पूर्वधारणा में रखता है। इसका अर्थ यह है कि एक आदर्शवाद जो अस्तित्व को उसके बारे में हमारे पास मौजूद ज्ञान तक सीमित करने का प्रयास करता है, उसे पहले ज्ञान के अस्तित्व के लिए किसी प्रकार की गारंटी देनी चाहिए। दूसरी ओर, यदि कोई ज्ञान को उसके अस्तित्व का आधार स्थापित करने की चिंता किए बिना, एक दी गई वस्तु के रूप में स्वीकार करता है, और यदि कोई फिर यह दावा करता है कि esse est percipi, तो समग्रता "अनुभूत-बोध" एक ठोस अस्तित्व के

[illegible] (l'être-fondement) [illegible] (percipi) [illegible] (percipiens) [illegible] (noema) [illegible] (noesis) [illegible] (percipi) [illegible] (noesis) [illegible]

ओर, मेज की ओर निर्देशित है; मेरे सभी निर्णय या व्यावहारिक गतिविधियाँ, मेरी सभी वर्तमान प्रवृत्तियाँ स्वयं को पार कर जाती हैं; वे मेज की ओर लक्षित होती हैं और उसमें समाहित हो जाती हैं। सभी चेतना ज्ञान नहीं है (उदाहरण के लिए, भावात्मक चेतना की अवस्थाएँ होती हैं), लेकिन सभी ज्ञानी चेतना केवल अपनी वस्तु का ही ज्ञान हो सकती है।
हालांकि, किसी सचेत चेतना के लिए अपने विषय का ज्ञान होने की आवश्यक और पर्याप्त शर्त यह है कि वह स्वयं को उस ज्ञान के रूप में सचेत करे। यह एक आवश्यक शर्त है, क्योंकि यदि मेरी चेतना मेज के प्रति सचेत होने की चेतना न होती, तो वह मेज के प्रति सचेत तो होती, लेकिन स्वयं के प्रति सचेत न होती। दूसरे शब्दों में, वह स्वयं से अनभिज्ञ चेतना होती, एक अचेतन अवस्था—जो कि निरर्थक है। यह एक पर्याप्त शर्त है, क्योंकि मेज के प्रति सचेत होने की चेतना होना ही वास्तव में मुझे उसके प्रति सचेत होने के लिए पर्याप्त है। बेशक, यह मुझे यह पुष्टि करने की अनुमति देने के लिए पर्याप्त नहीं है कि यह मेज स्वयं में विद्यमान है—बल्कि यह कि यह मेरे लिए विद्यमान है। चेतना की यह चेतना क्या है? हम ज्ञान की प्रधानता के भ्रम से इस हद तक ग्रस्त हैं कि हम स्पिनोज़ा की शैली में चेतना की चेतना को तुरंत एक विचार (आइडिया) बना देते हैं; अर्थात्, ज्ञान का ज्ञान। एलेन, "जानना ही जानने की चेतना है" इस स्पष्ट कथन को व्यक्त करने के लिए, इसे इन शब्दों में व्याख्यायित करते हैं: "जानना ही यह जानना है कि कोई जानता है।" इस प्रकार हम चेतना के परावर्तन या स्थितिजन्य चेतना, या बेहतर कहें तो चेतना के ज्ञान को परिभाषित कर सकते थे। यह एक ऐसी पूर्ण चेतना होगी जो किसी ऐसी चीज़ की ओर निर्देशित होगी जो स्वयं नहीं है; अर्थात्, परावर्तन के विषय के रूप में चेतना की ओर। तब यह स्वयं को पार कर जाएगी और संसार की स्थितिजन्य चेतना की तरह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में क्षीण हो जाएगी। परन्तु वह लक्ष्य स्वयं एक चेतना होगी।
चेतना की चेतना की इस व्याख्या को स्वीकार करना हमारे लिए संभव नहीं लगता। चेतना को ज्ञान तक सीमित करने का अर्थ वास्तव में चेतना में विषय-वस्तु द्वैतवाद को शामिल करना है, जो ज्ञान की विशेषता है। लेकिन यदि हम ज्ञाता- ज्ञात के द्वैतवाद के नियम को स्वीकार करते हैं, तो ज्ञाता के ज्ञात होने के लिए एक तीसरे पद की आवश्यकता होगी, और हम इस दुविधा का सामना करेंगे: या तो हम श्रृंखला के किसी एक पद पर रुक जाएँ—ज्ञात, ज्ञाता ज्ञात, ज्ञाता द्वारा ज्ञाता, इत्यादि। इस स्थिति में घटना की समग्रता अज्ञात में समा जाती है; अर्थात्, हम हमेशा एक अचेतन प्रतिबिंब और एक अंतिम पद से टकराते हैं। या फिर हम एक अनंत प्रतिगमन (विचार विचार विचार, इत्यादि) की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, जो कि निरर्थक है। इस प्रकार चेतना को सत्तामीमांसा के आधार पर स्थापित करने की आवश्यकता में हम एक नई आवश्यकता जोड़ देंगे: इसे ज्ञानमीमांसा के आधार पर स्थापित करने की आवश्यकता। क्या हम अंततः इस द्वैतवाद के नियम को चेतना में शामिल करने के लिए बाध्य हैं? आत्म-चेतना द्वैत नहीं है। यदि हम अनंत प्रतिगमन से बचना चाहते हैं, तो स्वयं का स्वयं से एक तात्कालिक, गैर-संज्ञानात्मक संबंध होना चाहिए।

इसके अलावा, चिंतनशील चेतना, परावर्तित चेतना को अपना विषय मानती है। चिंतन की क्रिया में मैं परावर्तित चेतना पर निर्णय लेता हूँ; मुझे उस पर शर्म आती है, मुझे उस पर गर्व होता है, मैं उसे चाहता हूँ, मैं उसे नकारता हूँ, इत्यादि। मेरी प्रत्यक्ष बोध चेतना मुझे न तो निर्णय लेने देती है, न ही इच्छा करने देती है और न ही शर्म महसूस करने देती है। वह मेरे बोध को नहीं जानती, न ही उसे स्थापित करती है; मेरी वास्तविक चेतना में जो भी आशय है, वह बाहरी दुनिया की ओर, संसार की ओर निर्देशित है। बदले में, मेरे बोध की यह सहज चेतना ही मेरी बोधात्मक चेतना का निर्माण करती है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु की प्रत्येक स्थितिगत चेतना, साथ ही साथ स्वयं की गैर-स्थितिगत चेतना भी होती है। यदि मैं उस पात्र में रखी सिगरेटों को गिनता हूँ, तो मुझे ऐसा आभास होता है कि मैं सिगरेटों के इस संग्रह के एक वस्तुनिष्ठ गुण को प्रकट कर रहा हूँ: वे एक दर्जन हैं। यह गुण मेरी चेतना को संसार में विद्यमान एक गुण के रूप में दिखाई देता है। यह संभव है कि मुझे उन्हें गिनने की कोई स्थितिगत चेतना न हो। तब मैं स्वयं को गिनते हुए नहीं जानता। इसका प्रमाण यह है कि जो बच्चे सहज रूप से जोड़ कर सकते हैं, वे बाद में यह नहीं समझा पाते कि उन्होंने ऐसा कैसे किया। पियाजे के परीक्षण, जो इसे दर्शाते हैं, एलेन के इस सूत्र का उत्कृष्ट खंडन करते हैं कि जानना ही यह जानना है कि कोई जानता है। फिर भी, जिस क्षण ये सिगरेटें मुझे एक दर्जन के रूप में दिखाई देती हैं, उस समय मुझे अपनी जोड़ की क्रिया का एक गैर-भौतिक ज्ञान होता है। यदि कोई मुझसे प्रश्न करे, वास्तव में, यदि कोई पूछे, "आप वहाँ क्या कर रहे हैं?" तो मैं तुरंत उत्तर दूँगा, "मैं गिन रहा हूँ।" यह उत्तर न केवल उस तात्कालिक चेतना को लक्षित करता है जिसे मैं चिंतन द्वारा प्राप्त कर सकता हूँ, बल्कि उन क्षणभंगुर चेतनाओं को भी लक्षित करता है जो बिना चिंतन किए बीत चुकी हैं, जो मेरे तात्कालिक अतीत में हमेशा के लिए अनसुनी रह गई हैं। इस प्रकार चिंतन का चिंतन-युक्त चेतना पर कोई प्रभुत्व नहीं है। यह चिंतन नहीं है जो चिंतन-युक्त चेतना को स्वयं के प्रति प्रकट करता है। इसके विपरीत, यह गैर-चिंतनशील चेतना है जो चिंतन को संभव बनाती है; एक पूर्व-चिंतनशील विचार होता है जो कार्तीय विचार की स्थिति है। साथ ही, गिनती की यह गैर-धार्मिक चेतना ही मेरे जोड़ने की क्रिया की मूल शर्त है। यदि ऐसा न होता, तो जोड़ मेरी चेतनाओं का एकीकृत विषय कैसे होता? ताकि यह विषय एकीकरण और पहचान के संपूर्ण संश्लेषणों पर प्रभुत्व स्थापित कर सके, इसे स्वयं के प्रति उपस्थित होना चाहिए, किसी वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि एक क्रियाशील इरादे के रूप में, जो केवल प्रकट-प्रकट (révélante-révélée) के रूप में ही विद्यमान हो सकता है, जैसा कि हाइडेगर ने कहा है। इस प्रकार, गिनने के लिए, गिनती के प्रति सचेत होना आवश्यक है।
बेशक, कोई कह सकता है, लेकिन इससे तो एक चक्र बन जाता है। क्या गिनती के प्रति सचेत होने के लिए वास्तव में गिनती करना आवश्यक नहीं है? यह सच है। हालाँकि, कोई चक्र नहीं है, या यूँ कहें कि चेतना का मूल स्वभाव ही "एक चक्र में" विद्यमान होना है। इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है:

"चेतन" का गुण ग्रहण करे, जैसे प्रकाश की किरणों की पेंसिल। एक अविभाज्य, अविघटनीय सत्ता है—निश्चित रूप से कोई पदार्थ नहीं जो अस्तित्व के कणों की तरह अपने गुणों को धारण करता हो, बल्कि एक ऐसी सत्ता जो पूर्णतः अस्तित्व है। आनंद आत्म-चेतना की सत्ता है और यह आत्म-चेतना आनंद के अस्तित्व का नियम है। हाइडेगर ने इस बात को बहुत अच्छे से व्यक्त किया है जब उन्होंने लिखा (हालाँकि वे चेतना के बारे में नहीं बल्कि डैसीन के बारे में बात कर रहे थे): “इस अस्तित्व का ‘तरीका’ (एसेंसिया), जहाँ तक इसे सामान्य रूप से समझा जा सकता है, इसके अस्तित्व (एक्ज़िस्टेंशिया) के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।” इसका अर्थ यह है कि चेतना किसी अमूर्त संभावना के विशेष उदाहरण के रूप में उत्पन्न नहीं होती, बल्कि अस्तित्व के केंद्र तक पहुँचकर, यह अपने सार—अर्थात् अपनी संभावनाओं के संश्लेषित क्रम—का निर्माण और समर्थन करती है।
इसका अर्थ यह भी है कि चेतना का स्वरूप उस स्वरूप के विपरीत है जो तात्विक प्रमाण हमें प्रकट करता है। चूंकि चेतना अस्तित्व से पहले संभव नहीं है, लेकिन चूंकि इसका अस्तित्व ही समस्त संभावनाओं का स्रोत और आधार है, इसलिए इसका अस्तित्व इसके सार को दर्शाता है। हुसर्ल ने "तथ्य की अनिवार्यता" की बात करते हुए इसे उपयुक्त रूप से व्यक्त किया है। आनंद का सार होने के लिए, पहले इस आनंद की चेतना का तथ्य होना आवश्यक है। चेतना के उन काल्पनिक नियमों का आह्वान करना व्यर्थ है जिनका सार अभिव्यक्त समग्रता हो। नियम ज्ञान का एक पारलौकिक विषय है; किसी नियम की चेतना हो सकती है, चेतना का नियम नहीं। इन्हीं कारणों से चेतना को स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य प्रेरणा देना असंभव है। अन्यथा यह मानना आवश्यक होगा कि चेतना, जिस हद तक एक प्रभाव है, स्वयं के प्रति सचेत नहीं है। किसी न किसी रूप में यह आवश्यक होगा कि वह अस्तित्व के प्रति सचेत हुए बिना हो। हम उस सामान्य भ्रम में पड़ जाएंगे जो चेतना को अर्ध-चेतन या निष्क्रियता मान लेता है। लेकिन चेतना पूर्णतः चेतना है। यह केवल स्वयं से ही सीमित हो सकता है।
चेतना के इस आत्म-निर्धारण को उत्पत्ति या विकास के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि इससे हमें यह मानना पड़ेगा कि चेतना अपने अस्तित्व से पहले मौजूद है। न ही इस आत्म-सृजन को एक क्रिया के रूप में समझना आवश्यक है, क्योंकि उस स्थिति में चेतना स्वयं को एक क्रिया के रूप में सचेत करेगी, जो कि वह नहीं है। चेतना अस्तित्व की पूर्णता है, और स्वयं द्वारा स्वयं का यह निर्धारण एक आवश्यक विशेषता है। "स्वयं का कारण" अभिव्यक्ति का दुरुपयोग न करना ही बुद्धिमानी होगी, क्योंकि इससे हमें एक क्रमिक विकास, स्वयं-कारण और स्वयं-प्रभाव के बीच संबंध की कल्पना करने की अनुमति मिलती है। सीधे शब्दों में कहें तो यह कहना अधिक सटीक होगा: चेतना का अस्तित्व स्वयं चेतना से आता है। इससे हमें यह समझने की आवश्यकता नहीं है कि चेतना "शून्यता से उत्पन्न होती है"। चेतना से पहले "चेतना की शून्यता" नहीं हो सकती। चेतना से "पहले" केवल एक ऐसी पूर्णता की कल्पना की जा सकती है जिसका कोई भी तत्व अनुपस्थित चेतना को संदर्भित नहीं कर सकता। यदि चेतना की शून्यता होनी है, तो एक ऐसी चेतना का होना आवश्यक है जो पहले

अस्तित्व में थी और अब नहीं है, और एक साक्षी चेतना का होना आवश्यक है जो प्रथम चेतना की शून्यता को पहचान के संश्लेषण के लिए प्रस्तुत करती है। चेतना शून्यता से पूर्व है और अस्तित्व से "व्युत्पन्न" है।
इन निष्कर्षों को स्वीकार करने में शायद कुछ कठिनाई हो। लेकिन अधिक ध्यानपूर्वक विचार करने पर ये बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होंगे। विरोधाभास यह नहीं है कि "स्वयं-प्रेरित" अस्तित्व होते हैं, बल्कि यह है कि किसी अन्य प्रकार का अस्तित्व ही नहीं है। वास्तव में अकल्पनीय है निष्क्रिय अस्तित्व; अर्थात्, ऐसा अस्तित्व जो स्वयं को उत्पन्न करने या स्वयं को बनाए रखने की शक्ति के बिना ही स्वयं को निरंतर बनाए रखता है। इस दृष्टिकोण से, जड़त्व के सिद्धांत से अधिक समझ से परे कुछ भी नहीं है। वास्तव में, यदि चेतना किसी चीज से "उत्पन्न" होती है, तो वह कहाँ से "उत्पन्न" होगी? अचेतन या शारीरिक अवस्था की अनिश्चित स्थिति से। लेकिन यदि हम स्वयं से यह प्रश्न पूछें कि यह अनिश्चित अवस्था स्वयं कैसे अस्तित्व में रह सकती है और इसे अपना अस्तित्व कहाँ से प्राप्त होता है, तो हम निष्क्रिय अस्तित्व की अवधारणा से रूबरू होते हैं; अर्थात्, हम यह पूर्णतः नहीं समझ सकते कि यह अचेतन प्रदत्त (अचेतन या शारीरिक) जो स्वयं से अपना अस्तित्व प्राप्त नहीं करता, फिर भी इस अस्तित्व को कैसे निरंतर बनाए रख सकता है और इसके अतिरिक्त चेतना उत्पन्न करने की क्षमता कैसे प्राप्त कर सकता है। यह दर्शाता है कि 'विश्व की आकस्मिकता' के प्रमाण को कितना महत्व प्राप्त है।
इस प्रकार, ज्ञान की प्रधानता को त्यागकर, हमने ज्ञाता के अस्तित्व की खोज की है और उस परम सत्ता का सामना किया है, वही परम सत्ता जिसे सत्रहवीं शताब्दी के तर्कवादियों ने ज्ञान के विषय के रूप में परिभाषित और तार्किक रूप से स्थापित किया था। लेकिन ठीक इसी कारण कि प्रश्न अस्तित्व की परम सत्ता से संबंधित है, न कि ज्ञान की, यह उस प्रसिद्ध आपत्ति के अधीन नहीं है जिसके अनुसार एक ज्ञात परम सत्ता अब परम सत्ता नहीं रह जाती क्योंकि वह उस ज्ञान के सापेक्ष हो जाती है जो किसी के पास उसके बारे में होता है। वास्तव में, यहाँ परम सत्ता ज्ञान के आधार पर तार्किक निर्माण का परिणाम नहीं है, बल्कि सबसे ठोस अनुभवों का विषय है। और यह इस अनुभव के सापेक्ष बिल्कुल भी नहीं है क्योंकि यह स्वयं यह अनुभव है। इसी प्रकार, यह एक सारहीन परम सत्ता है। कार्तीय तर्कवाद की तात्विक त्रुटि यह न देख पाना है कि यदि परम सत्ता को सार पर अस्तित्व की प्रधानता द्वारा परिभाषित किया जाता है, तो इसे एक पदार्थ के रूप में नहीं माना जा सकता। चेतना में कुछ भी सार नहीं है, यह शुद्ध "प्रकटता" है, इस अर्थ में कि यह केवल उसी हद तक विद्यमान है जिस हद तक यह प्रकट होती है। लेकिन चेतना ठीक इसी कारण से शुद्ध उपस्थिति है, क्योंकि यह पूर्ण शून्यता है (क्योंकि संपूर्ण संसार इसके बाहर है) - उपस्थिति और अस्तित्व की इस पहचान के कारण ही इसे परम माना जा सकता है।
IV. बोधगम्य का अस्तित्व

ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपनी खोज के लक्ष्य तक पहुँच गए हैं। हमने चीजों को उनके सभी स्वरूपों की एकीकृत समग्रता में समाहित कर लिया है, और हमने यह स्थापित कर लिया है कि ये स्वरूप एक ऐसे अस्तित्व का दावा करते हैं जो स्वयं स्वरूप नहीं रह गया है। “परसिपी” ने हमें एक परसिपिएंस की ओर निर्देशित किया, जिसका अस्तित्व हमें चेतना के रूप में प्रकट हुआ है। इस प्रकार हमने ज्ञान के तात्विक आधार को प्राप्त कर लिया है, वह प्रथम अस्तित्व जिसके समक्ष सभी अन्य स्वरूप प्रकट होते हैं, वह निरपेक्ष जिसके सापेक्ष प्रत्येक घटना सापेक्ष है। यह अब कांट के अर्थ में विषय नहीं है, बल्कि यह स्वयं व्यक्तिपरकता है, स्वयं में स्वयं की अंतर्निहितता है। अब से हम आदर्शवाद से मुक्त हो गए हैं। आदर्शवाद के अनुसार, अस्तित्व को ज्ञान द्वारा मापा जाता है, जो इसे द्वैत के नियम के अधीन कर देता है। केवल ज्ञात अस्तित्व ही है; यह स्वयं विचार का प्रश्न है। विचार केवल अपने ही उत्पादों के माध्यम से प्रकट होता है; अर्थात्, हम इसे हमेशा केवल उत्पन्न विचारों के अर्थ के रूप में ही समझते हैं, और विचार की खोज में लगे दार्शनिक को स्थापित विज्ञानों पर प्रश्न उठाना चाहिए ताकि वह उनसे विचार की संभावना की शर्त के रूप में इसे प्राप्त कर सके। दूसरी ओर, हमने एक ऐसे अस्तित्व को समझा है जो ज्ञान के अधीन नहीं है और जो ज्ञान का आधार है; एक ऐसा विचार जो निश्चित रूप से व्यक्त विचारों के प्रतिनिधित्व या अर्थ के रूप में नहीं दिया गया है, बल्कि जिसे सीधे उसी रूप में समझा जाता है—और यह बोध का तरीका ज्ञान की घटना नहीं है, बल्कि अस्तित्व की संरचना है। हम वर्तमान में हुसर्ल के घटना विज्ञान के आधार पर हैं, हालांकि हुसर्ल स्वयं अपनी पहली अंतर्दृष्टि के प्रति हमेशा वफादार नहीं रहे हैं। क्या हम संतुष्ट हैं? हमने एक अलौकिक अस्तित्व का सामना किया है, लेकिन क्या यह वास्तव में वही अस्तित्व है जिसका उल्लेख अस्तित्व की घटना से होता है? क्या यह वास्तव में घटना का अस्तित्व है? दूसरे शब्दों में, क्या चेतना, उपस्थिति के रूप में उपस्थिति के लिए आधार प्रदान करने के लिए पर्याप्त है? हमने चेतना को देने के लिए घटना से इसके अस्तित्व को निकाला है, और हमने अनुमान लगाया था कि चेतना बाद में इसे घटना में वापस कर देगी। क्या यह संभव है? हमें इसका उत्तर बोध की सत्तामीमांसा संबंधी आवश्यकताओं की जांच में मिलेगा।
सबसे पहले, आइए ध्यान दें कि अनुभव की गई वस्तु का एक अस्तित्व होता है— जैसा कि अनुभव किया जाता है। भले ही मैं इस मेज को व्यक्तिपरक छापों के संश्लेषण में परिणत करना चाहूँ, मुझे कम से कम यह अवश्य कहना चाहिए कि यह इस संश्लेषण के माध्यम से मेज के रूप में स्वयं को प्रकट करती है, कि यह संश्लेषण की पारलौकिक सीमा है, इसका कारण है और इसका अंत है। मेज ज्ञान से परे है और इसे उस ज्ञान के साथ नहीं जोड़ा जा सकता जो हमें इसके बारे में है; अन्यथा यह चेतना—अर्थात्, शुद्ध अंतर्निहितता—हो जाएगी और मेज के रूप में लुप्त हो जाएगी। इसी कारण से, भले ही तर्क का एक शुद्ध भेद मेज को उन व्यक्तिपरक छापों के संश्लेषण से अलग कर दे जिनके माध्यम से मैं इसे समझता हूँ, कम से कम यह संश्लेषण नहीं हो सकता; ऐसा करना इसे संबंध की एक

संश्लेषित गतिविधि में परिणत करना होगा। इसलिए, जहाँ तक ज्ञात को ज्ञान में पुनः समाहित नहीं किया जा सकता है, हमें इसके लिए एक अस्तित्व की खोज करनी होगी। हमें बताया गया है कि यह अस्तित्व ही अनुभव है। सबसे पहले, हमें यह समझना होगा कि अनुभव करने वाले व्यक्ति का अस्तित्व, अनुभव प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अस्तित्व—अर्थात चेतना—तक सीमित नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे तालिका को निरूपणों के बंधन तक सीमित नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि यह इस अस्तित्व के सापेक्ष है। लेकिन यह सापेक्षता अनुभव करने वाले व्यक्ति के अस्तित्व की जाँच को अनावश्यक नहीं बनाती।
अब बोध का स्वरूप निष्क्रिय है। यदि घटना का अस्तित्व उसके बोध में निहित है, तो यह अस्तित्व निष्क्रियता है। सापेक्षता और निष्क्रियता—ये अस्तित्व की विशिष्ट संरचनाएँ हैं, जहाँ तक इसे बोध तक सीमित किया जाता है। निष्क्रियता क्या है? मैं निष्क्रिय होता हूँ जब मुझमें कोई ऐसा परिवर्तन होता है जिसका मैं मूल नहीं हूँ; अर्थात्, न तो स्रोत और न ही निर्माता। इस प्रकार मेरा अस्तित्व एक ऐसे अस्तित्व का समर्थन करता है जिसका वह स्रोत नहीं है। फिर भी, मेरे समर्थन के लिए, मेरा अस्तित्व होना आवश्यक है, और इसी कारण मेरा अस्तित्व हमेशा निष्क्रियता के दूसरी ओर स्थित होता है। उदाहरण के लिए, "निष्क्रिय रूप से समर्थन करना" एक ऐसा आचरण है जिसे मैं अपनाता हूँ और जो मेरी स्वतंत्रता को उतना ही संलग्न करता है जितना कि "दृढ़ता से अस्वीकार करना"। यदि मुझे हमेशा के लिए "अपमानित व्यक्ति" बने रहना है, तो मुझे अपने अस्तित्व में दृढ़ रहना होगा; अर्थात्, मैं स्वयं अपने अस्तित्व को ग्रहण करता हूँ। लेकिन फिर भी मैं किसी न किसी रूप में अपनी ओर से प्रतिक्रिया करता हूँ और अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ; मैं इसके प्रति निष्क्रियता खो देता हूँ। अतः हमारे पास दो विकल्प हैं: या तो वास्तव में मैं अपने अस्तित्व में निष्क्रिय नहीं हूँ, इस स्थिति में मैं अपनी भावनाओं का आधार बन जाता हूँ, भले ही प्रारंभ में मैं उनका स्रोत न रहा हूँ—या मैं अपने अस्तित्व में ही निष्क्रियता से प्रभावित हूँ, मेरा अस्तित्व एक प्रदत्त अस्तित्व है, और अतः सब कुछ शून्यता में विलीन हो जाता है। इस प्रकार निष्क्रियता एक द्विसापेक्ष घटना है, जो कर्म करने वाले की सक्रियता और भोगने वाले के अस्तित्व के सापेक्ष है। इसका तात्पर्य यह है कि निष्क्रियता निष्क्रिय विद्यमान के वास्तविक अस्तित्व को प्रभावित नहीं कर सकती; यह एक अस्तित्व का दूसरे अस्तित्व से संबंध है, न कि एक अस्तित्व का शून्यता से। यह असंभव है कि बोधकर्ता अस्तित्व की अनुभूति को प्रभावित करे, क्योंकि अनुभूति के प्रभावित होने के लिए उसे किसी न किसी रूप में पहले से ही प्रदत्त होना और अस्तित्व प्राप्त करने से पहले विद्यमान होना आवश्यक होगा। एक सृजन की कल्पना इस शर्त पर की जा सकती है कि सृजित प्राणी स्वयं को पुनः प्राप्त करे, स्वयं को सृष्टिकर्ता से अलग कर ले ताकि वह तुरंत स्वयं में समाहित हो जाए और अपना अस्तित्व ग्रहण कर ले; इसी अर्थ में एक पुस्तक अपने लेखक से भिन्न अस्तित्व रखती है। लेकिन यदि सृजन की प्रक्रिया अनिश्चित काल तक

जारी रहनी है, यदि सृजित प्राणी को उसके अंतर्मन में भी सहारा देना है, यदि उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, यदि वह अपने आप में केवल शून्यता है—तो प्राणी अपने सृष्टिकर्ता से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं रह जाता; वह उसमें समाहित हो जाता है; हम एक झूठे पारलौकिकता से निपट रहे हैं, और सृष्टिकर्ता को अपनी व्यक्तिपरकता से बाहर निकलने का भ्रम भी नहीं हो सकता।
इसके अलावा, प्राप्तकर्ता की निष्क्रियता कर्ता की ओर से भी समान निष्क्रियता की मांग करती है। यह क्रिया और प्रतिक्रिया के सिद्धांत में व्यक्त होता है; क्योंकि मेरा हाथ कुचला जा सकता है, पकड़ा जा सकता है, काटा जा सकता है, इसलिए मेरा हाथ कुचल सकता है, काट सकता है, पकड़ सकता है। हम बोध, ज्ञान को निष्क्रियता का कौन सा तत्व दे सकते हैं? वे सभी सक्रियता हैं, सभी सहजता हैं। यह ठीक इसी कारण है कि यह शुद्ध सहजता है, क्योंकि कोई भी इस पर पकड़ नहीं बना सकता, इसलिए चेतना किसी भी चीज पर क्रिया नहीं कर सकती। इस प्रकार, 'एस्से एस्ट पर्सिपी' (बोध) यह मांग करेगा कि चेतना, शुद्ध सहजता जो किसी भी चीज पर क्रिया नहीं कर सकती, एक पारलौकिक शून्यता को अस्तित्व प्रदान करे, साथ ही उसे उसकी शून्यता की स्थिति में बनाए रखे। कितना बेतुका! हुसर्ल ने ज्ञान में निष्क्रियता को शामिल करके इन आपत्तियों को दूर करने का प्रयास किया है; यह अनुभव का शुद्ध प्रवाह और निष्क्रिय संश्लेषण का पदार्थ है। लेकिन उन्होंने केवल उन कठिनाइयों में एक और कठिनाई जोड़ दी है जिनका हमने उल्लेख किया है। उन्होंने वास्तव में उन तटस्थ तथ्यों को प्रस्तुत किया है, जिनकी असंभवता हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। निश्चित रूप से, ये चेतना की "विषयवस्तु" नहीं हैं, लेकिन फिर भी ये और भी अधिक बोधगम्य बनी रहती हैं। हाइले वास्तव में चेतना नहीं हो सकता, क्योंकि यह पारभासीपन में विलीन हो जाएगा और उन छापों का प्रतिरोध प्रदान नहीं कर सकता जिन्हें वस्तु की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। लेकिन यदि यह चेतना से संबंधित नहीं है, तो इसे अपना अस्तित्व और अपारदर्शिता कहाँ से प्राप्त होती है? यह वस्तुओं के अपारदर्शी प्रतिरोध और विचार की व्यक्तिपरकता को एक साथ कैसे बनाए रख सकता है? इसका अस्तित्व किसी प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि चेतना वस्तुओं की ओर अग्रसर होकर इससे परे चली जाती है। लेकिन यदि हाइले अपना अस्तित्व केवल स्वयं से ही प्राप्त करता है, तो हम एक बार फिर चेतना के उससे स्वतंत्र अस्तित्वों के साथ संबंध की अनसुलझी समस्या का सामना करते हैं। भले ही हम हुसर्ल को यह मान लें कि ज्ञान के लिए एक हाइलेटिक स्तर है, फिर भी हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि चेतना इस व्यक्तिपरक स्तर को वस्तुनिष्ठता की ओर कैसे अग्रसर कर सकती है। हुसर्ल का मानना था कि हाइले को वस्तु और चेतना दोनों की विशेषताएं प्रदान करके, उन्होंने एक से दूसरे में संक्रमण को सुगम बनाया, लेकिन वे केवल एक संकर प्राणी बनाने में सफल हुए जिसे चेतना अस्वीकार करती है और जो दुनिया का हिस्सा नहीं हो सकता।
इसके अलावा, जैसा कि हमने देखा है, बोध का तात्पर्य यह है कि बोध के अस्तित्व का नियम सापेक्षता है। क्या हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ज्ञात

वस्तु का अस्तित्व ज्ञान के सापेक्ष है? किसी विद्यमान के लिए अस्तित्व की सापेक्षता का क्या अर्थ हो सकता है, यदि इसका अर्थ यह न हो कि विद्यमान का अपना अस्तित्व स्वयं से भिन्न किसी अन्य चीज़ में है; अर्थात्, एक ऐसे विद्यमान में जो वह स्वयं नहीं है। निश्चित रूप से यह अकल्पनीय नहीं होगा कि यदि इसका अर्थ यह है कि यह अस्तित्व स्वयं की बाह्यता है, तो कोई अस्तित्व स्वयं से बाह्य हो सकता है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। बोधित अस्तित्व चेतना से पहले है; चेतना उस तक नहीं पहुँच सकती, और वह चेतना में प्रवेश नहीं कर सकती; और क्योंकि बोधित अस्तित्व चेतना से विमुख है, इसलिए वह अपने अस्तित्व से विमुख होकर विद्यमान है। हुसर्ल की तरह इसे अवास्तविक बनाना व्यर्थ होगा; अवास्तविक होते हुए भी इसका अस्तित्व होना चाहिए।
इस प्रकार, सापेक्षता और निष्क्रियता के दो निर्धारण, जो अस्तित्व के रूपों से संबंधित हो सकते हैं, किसी भी स्थिति में अस्तित्व पर लागू नहीं हो सकते। घटना का सार उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता। चेतना का पराघटनात्मक अस्तित्व घटना के पराघटनात्मक अस्तित्व का आधार नहीं बन सकता। यहीं पर घटनावादियों की त्रुटि दिखाई देती है: वस्तु को उसके प्रकट होने की क्रमबद्ध श्रृंखला में विभाजित करके, उन्होंने यह मान लिया कि उन्होंने उसके अस्तित्व को उसके अस्तित्व के रूपों के अनुक्रम में विभाजित कर दिया है। यही कारण है कि उन्होंने इसे उन अवधारणाओं द्वारा समझाया है जो केवल अस्तित्व के रूपों पर ही लागू हो सकती हैं, क्योंकि वे पहले से विद्यमान अनेक प्राणियों के बीच संबंधों को इंगित कर रहे हैं।
V. सत्तामीमांसीय प्रमाण अस्तित्व को उसका उचित सम्मान नहीं मिला है। हमने मान लिया था कि हमने घटना के अस्तित्व को पारलौकिकता प्रदान करने की आवश्यकता समाप्त कर दी है क्योंकि हमने चेतना के अस्तित्व की पारलौकिकता की खोज कर ली थी। इसके विपरीत, हम यह देखने जा रहे हैं कि यह पारलौकिकता ही घटना के अस्तित्व की पारलौकिकता की आवश्यकता है। इसका "सत्तामीमांसीय प्रमाण" चिंतनशील चेतना से नहीं, बल्कि बोधकर्ता के पूर्व-चिंतनशील अस्तित्व से प्राप्त किया जा सकता है। अब हम इसे सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।
सभी चेतना किसी न किसी चीज़ की चेतना होती है। चेतना की इस परिभाषा को दो बिल्कुल अलग-अलग अर्थों में लिया जा सकता है: या तो हम इससे यह समझते हैं कि चेतना अपने विषय के अस्तित्व का एक अभिन्न अंग है, या इसका अर्थ यह है कि चेतना अपने अंतर्मन में एक पारलौकिक सत्ता से संबंध है। लेकिन सूत्र की पहली व्याख्या स्वयं ही विफल हो जाती है: किसी चीज़ के प्रति सचेत होना एक ठोस और पूर्ण उपस्थिति का सामना करना है जो चेतना नहीं है। बेशक, कोई अनुपस्थिति के प्रति सचेत हो सकता है। लेकिन यह अनुपस्थिति उपस्थिति की एक पूर्व शर्त के रूप में अनिवार्य रूप से प्रकट होती है। जैसा कि हमने देखा है, चेतना एक वास्तविक व्यक्तिपरकता है और प्रभाव एक व्यक्तिपरक परिपूर्णता है। लेकिन यह व्यक्तिपरकता स्वयं से बाहर निकलकर किसी पारलौकिक वस्तु को इस प्रकार स्थापित नहीं कर सकती कि उसे प्रभावों की

है, बना देते हैं, उसी क्षण वे अपने सिद्धांत के प्रति पूरी तरह से विश्वासघात कर बैठते हैं।
चेतना किसी न किसी चीज़ की चेतना है। इसका अर्थ है कि पारलौकिकता चेतना की मूलभूत संरचना है; अर्थात्, चेतना एक ऐसे अस्तित्व द्वारा समर्थित जन्म लेती है जो स्वयं नहीं है। इसे हम सत्तामीमांसीय प्रमाण कहते हैं। निस्संदेह कोई यह उत्तर देगा कि चेतना की मांग का अस्तित्व यह सिद्ध नहीं करता कि इस मांग को पूरा किया जाना चाहिए। परन्तु यह आपत्ति हुसर्ल द्वारा वर्णित इरादे के विश्लेषण के सामने टिक नहीं सकती, यद्यपि निश्चित रूप से उन्होंने इसके मूल स्वरूप को गलत समझा। यह कहना कि चेतना किसी चीज़ की चेतना है, इसका अर्थ है कि चेतना के लिए किसी चीज़ की प्रकट करने वाली अंतर्ज्ञान होने की उस सटीक बाध्यता के बाहर कोई अस्तित्व नहीं है— अर्थात्, एक पारलौकिक अस्तित्व की। न केवल शुद्ध व्यक्तिपरकता, यदि प्रारंभ में दी गई हो, तो वस्तुनिष्ठ को स्थापित करने के लिए स्वयं को पार करने में विफल रहती है; बल्कि एक "शुद्ध" व्यक्तिपरकता लुप्त हो जाती है। जिसे उचित रूप से व्यक्तिपरकता कहा जा सकता है वह चेतना (की) चेतना है। परन्तु इस चेतना (के अस्तित्व की) चेतना को किसी न किसी रूप में योग्य बनाना होगा, और इसे केवल प्रकट करने वाली अंतर्ज्ञान के रूप में ही योग्य बनाया जा सकता है अन्यथा यह कुछ भी नहीं है। अब एक प्रकट करने वाली अंतर्ज्ञान किसी प्रकट चीज़ का संकेत देती है। पूर्ण आत्मनिष्ठा केवल किसी प्रकट सत्ता के समक्ष ही स्थापित की जा सकती है; अंतर्निहितता को केवल पारलौकिक सत्ता की अनुभूति के भीतर ही परिभाषित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यहाँ कांट द्वारा समस्यात्मक आदर्शवाद के खंडन की प्रतिध्वनि है। परन्तु हमें डेसकार्टेस के बारे में सोचना चाहिए। हम यहाँ अस्तित्व के आधार पर हैं, ज्ञान के आधार पर नहीं। यह सिद्ध करने का प्रश्न नहीं है कि आंतरिक इंद्रियों की घटनाएँ वस्तुनिष्ठ स्थानिक घटनाओं के अस्तित्व को दर्शाती हैं, बल्कि यह कि चेतना अपने अस्तित्व में एक अचेतन और पारलौकिक सत्ता को दर्शाती है। विशेष रूप से, यह उत्तर देने का कोई अर्थ नहीं है कि वास्तव में आत्मनिष्ठा वस्तुनिष्ठता को दर्शाती है और यह वस्तुनिष्ठता का निर्माण करते हुए स्वयं का निर्माण करती है; हम देख चुके हैं कि आत्मनिष्ठा वस्तुनिष्ठता का निर्माण करने में असमर्थ है। यह कहना कि चेतना किसी वस्तु की चेतना है, इसका अर्थ है कि उसे स्वयं को एक ऐसी सत्ता के प्रकट-प्रकटीकरण के रूप में उत्पन्न करना चाहिए जो स्वयं नहीं है और जो चेतना द्वारा प्रकट होने पर स्वयं को पूर्व-विमीय रूप में प्रकट करती है।
इस प्रकार हम शुद्ध दिखावे को छोड़कर पूर्ण अस्तित्व तक पहुँच गए हैं। चेतना एक ऐसा अस्तित्व है जिसका अस्तित्व उसके सार को स्थापित करता है, और इसके विपरीत यह एक ऐसे अस्तित्व की चेतना है जिसका सार उसके अस्तित्व को दर्शाता है; अर्थात्, जिसमें दिखावे का अस्तित्व पर दावा होता है। अस्तित्व सर्वव्यापी है। निश्चित रूप से हम चेतना पर वह परिभाषा लागू कर सकते हैं जो हाइडेगर ने डेसिन के लिए आरक्षित रखी है और कह सकते हैं कि यह

एक ऐसा अस्तित्व है जिसके अस्तित्व में ही उसका अस्तित्व प्रश्नचिह्नित है। लेकिन परिभाषा को पूर्ण करना और उसे इस प्रकार सूत्रबद्ध करना आवश्यक होगा: चेतना एक ऐसा अस्तित्व है जिसके अस्तित्व में ही उसका अस्तित्व प्रश्नचिह्नित है, इस हद तक कि यह अस्तित्व स्वयं से भिन्न किसी अन्य अस्तित्व को दर्शाता है।
हमें यह समझना होगा कि यह सत्ता घटनाओं की पारलौकिक सत्ता के अलावा और कुछ नहीं है, न कि कोई ऐसी अलौकिक सत्ता जो उनके पीछे छिपी हो। यह इस मेज की, तंबाकू के इस पैकेट की, दीपक की, और सामान्यतः चेतना द्वारा निहित संसार की सत्ता है। इसके लिए बस इतना ही आवश्यक है कि जो प्रकट होता है, उसकी सत्ता केवल प्रकट होने तक ही सीमित न रहे। चेतना के लिए विद्यमान वस्तु की पारलौकिक सत्ता स्वयं में ही है (lui-même en soi)।
VI. स्वयं में अस्तित्व
अब हम अस्तित्व की घटना के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जिन पर हमने पूर्वोक्त अवलोकन करने के लिए विचार किया है। चेतना, विद्यमानों का प्रकट-प्रकटीकरण है, और विद्यमान अपने अस्तित्व के आधार पर चेतना के समक्ष प्रकट होते हैं। फिर भी, किसी विद्यमान के अस्तित्व की प्राथमिक विशेषता यह है कि वह स्वयं को चेतना के समक्ष पूर्णतः प्रकट नहीं करता। किसी विद्यमान को उसके अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता; अस्तित्व ही विद्यमान का सर्वव्यापी आधार है; यह उसमें सर्वत्र विद्यमान है और कहीं नहीं। ऐसा कोई अस्तित्व नहीं है जो किसी विशिष्ट प्रकार के अस्तित्व का अस्तित्व न हो, ऐसा कोई अस्तित्व नहीं है जिसे उस प्रकार के अस्तित्व के माध्यम से न समझा जा सके जो अस्तित्व को प्रकट करता है और साथ ही उसे छुपाता भी है। चेतना हमेशा विद्यमान से परे जा सकती है, उसके अस्तित्व की ओर नहीं, बल्कि उस अस्तित्व के अर्थ की ओर। इसीलिए हम इसे तात्विक-तात्विक कहते हैं, क्योंकि इसकी पारलौकिकता की एक मूलभूत विशेषता तात्विक से तात्विक की ओर अग्रसर होना है। विद्यमान के अस्तित्व का अर्थ, जहाँ तक वह स्वयं को चेतना के समक्ष प्रकट करता है, अस्तित्व की घटना है। इस अर्थ का अपना एक अस्तित्व है, जिसके आधार पर यह स्वयं को प्रकट करता है।
इसी दृष्टिकोण से हम प्रसिद्ध स्कोलास्टिक तर्क को समझ सकते हैं, जिसके अनुसार अस्तित्व से संबंधित प्रत्येक प्रस्ताव में एक दुष्चक्र होता है, क्योंकि अस्तित्व के बारे में कोई भी निर्णय पहले से ही अस्तित्व को दर्शाता है। लेकिन वास्तव में ऐसा कोई दुष्चक्र नहीं है, क्योंकि इस अर्थ के अस्तित्व से परे जाकर इसके अर्थ की ओर जाना आवश्यक नहीं है; अस्तित्व का अर्थ प्रत्येक घटना के अस्तित्व के लिए मान्य है, जिसमें स्वयं का अस्तित्व भी शामिल है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, अस्तित्व की घटना स्वयं अस्तित्व नहीं है। लेकिन यह अस्तित्व को इंगित करती है और इसकी आवश्यकता होती है—यद्यपि, वास्तव में, ऊपर उल्लिखित सत्तामीमांसा संबंधी प्रमाण विशेष रूप से या केवल इसके लिए मान्य नहीं है; चेतना के संपूर्ण क्षेत्र के लिए एक ही सत्तामीमांसा संबंधी प्रमाण मान्य है। लेकिन यह प्रमाण अस्तित्व की घटना से प्राप्त होने वाली सभी सूचनाओं को उचित

ठहराने के लिए पर्याप्त है। अस्तित्व की घटना, प्रत्येक प्राथमिक घटना की तरह, चेतना के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होती है। हमारे पास प्रत्येक क्षण वह होता है जिसे हाइडेगर पूर्व-सत्तामीमांसा संबंधी बोध कहते हैं; अर्थात्, वह बोध जो अवधारणाओं में स्थिरीकरण और स्पष्टीकरण के साथ नहीं होता है। इसलिए, फिलहाल हमारे लिए अस्तित्व के अर्थ को निर्धारित करने के उद्देश्य से इस घटना पर विचार करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। हमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए:
(1) यह व्याख्या कि अस्तित्व के अर्थ का स्पष्टीकरण केवल घटना के अस्तित्व के लिए ही मान्य है। चूंकि चेतना का अस्तित्व मौलिक रूप से भिन्न है, इसलिए इसके अर्थ के लिए एक विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता होगी, जो एक अन्य प्रकार के अस्तित्व, स्वयं के लिए अस्तित्व (l’être-pour-soi) के प्रकट-प्रकटीकरण के संदर्भ में होगा, जिसे हम बाद में परिभाषित करेंगे और जो घटना के स्वयं में अस्तित्व (l’être-en-soi) के विपरीत है।
(2) स्वयं-अस्तित्व के अर्थ की व्याख्या करने का जो प्रयास हम यहाँ करने जा रहे हैं, वह केवल अस्थायी ही हो सकता है। जो पहलू प्रकट होंगे, वे अन्य अर्थों को भी दर्शाते हैं, जिन्हें अंततः हमें समझना और निर्धारित करना होगा। विशेष रूप से, पूर्वोक्त चिंतन ने हमें अस्तित्व के दो पूर्णतः पृथक क्षेत्रों को भेदने में सक्षम बनाया है: पूर्व-चिंतनशील चेतना का अस्तित्व और घटना का अस्तित्व। यद्यपि अस्तित्व की अवधारणा में यह विशेषता है कि यह दो क्षेत्रों में विभाजित है जिनका आपस में कोई संबंध नहीं है, फिर भी हमें यह स्पष्ट करना होगा कि इन दोनों क्षेत्रों को एक ही शीर्षक के अंतर्गत कैसे रखा जा सकता है। इसके लिए इन दो प्रकार के अस्तित्व की जाँच आवश्यक होगी, और यह स्पष्ट है कि हम इनमें से किसी का भी अर्थ तब तक सही मायने में नहीं समझ सकते जब तक हम सामान्य रूप से अस्तित्व की धारणा और उन्हें जोड़ने वाले संबंधों के साथ उनका वास्तविक संबंध स्थापित नहीं कर लेते। हमने वास्तव में गैर-स्थितीय आत्म-चेतना की जाँच करके यह स्थापित किया है कि घटना का अस्तित्व किसी भी स्थिति में चेतना पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इस प्रकार हमने चेतना के साथ घटना के संबंधों की यथार्थवादी अवधारणा को खारिज कर दिया है।
हमने अचिंतनशील चिंतन की सहजता की जाँच करके यह भी सिद्ध किया है कि यदि चेतना को आरंभ में ही व्यक्तिपरक बना दिया गया हो, तो वह उससे बाहर नहीं निकल सकती, और चेतना न तो पारलौकिक सत्ता पर क्रिया कर सकती है और न ही विरोधाभास के बिना उन निष्क्रिय तत्वों को स्वीकार कर सकती है जो उनसे उत्पन्न होने वाली पारलौकिक सत्ता के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। इस प्रकार हमने समस्या के आदर्शवादी समाधान को खारिज कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमने सभी द्वार बंद कर दिए हैं और अब हम पारलौकिक सत्ता और चेतना को दो बंद समग्रताओं के रूप में देखने के लिए विवश हैं जिनके बीच कोई संचार संभव नहीं है। यह सिद्ध करना आवश्यक होगा कि समस्या का समाधान यथार्थवाद या आदर्शवाद के अलावा भी संभव है।

किसी अन्य अस्तित्व से किसी भी संबंध के बिना, स्वयं में अस्तित्व अनंत काल के लिए डी ट्रोप है।
अस्तित्व है। अस्तित्व स्वयं में है। अस्तित्व वही है जो वह है। ये तीन विशेषताएँ हैं जो अस्तित्व की घटना की प्रारंभिक जाँच हमें घटनाओं के अस्तित्व को प्रदान करती हैं। फिलहाल, हमारी जाँच को आगे बढ़ाना संभव नहीं है। यह अभी तक स्वयं में विद्यमान का वह परीक्षण नहीं है—जो हमेशा वही होता है जो वह है—जो हमें स्वयं के लिए के साथ इसके संबंधों को स्थापित करने और समझाने में सक्षम बनाएगा। इस प्रकार हमने "परिदृश्यों" को छोड़ दिया है और धीरे-धीरे दो प्रकार के अस्तित्व, स्वयं में विद्यमान और स्वयं के लिए, को स्थापित करने की ओर अग्रसर हुए हैं, जिनके बारे में हमारे पास अभी तक केवल सतही और अपूर्ण जानकारी है। अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं: इन दो प्रकार के अस्तित्व का अंतिम अर्थ क्या है? किन कारणों से ये दोनों सामान्य रूप से अस्तित्व से संबंधित हैं? उस अस्तित्व का क्या अर्थ है जो अपने भीतर अस्तित्व के इन दो मौलिक रूप से पृथक क्षेत्रों को समाहित करता है? यदि आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों उन संबंधों को समझाने में विफल रहते हैं जो वास्तव में उन क्षेत्रों को एकजुट करते हैं जो सिद्धांत रूप में संचार से रहित हैं, तो हम इस समस्या का और क्या समाधान खोज सकते हैं? और किसी घटना का अस्तित्व किस प्रकार अलौकिक हो सकता है?
इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के उद्देश्य से मैंने यह कृति लिखी है।
1 ग्रीक से । सार्त्र ने शायद खुरदरी साँस लेने की क्रिया को नज़रअंदाज़ कर दिया है और "एक्ज़िस" लिखा है। Tr.
2 शायद इसका अधिक समझने योग्य प्रतिरूपण यह होगा, "मेज या कुर्सी होने का क्या अर्थ है, यह प्रश्न।" Tr.
यह स्पष्ट है कि बोधकर्ता को मानवीय वास्तविकता के किसी अन्य दृष्टिकोण से प्रतिस्थापित करने का कोई भी प्रयास उतना ही निष्फल होगा। यदि हम यह मान भी लें कि अस्तित्व मनुष्य के समक्ष "क्रिया" के माध्यम से प्रकट होता है, तब भी क्रिया से इतर क्रिया के अस्तित्व की गारंटी देना आवश्यक होगा। क्योंकि अंग्रेजी वाक्य संरचना में “of” की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए मैं अब से conscience (de) soi का अनुवाद स्वतंत्र रूप से “self-consciousness” के रूप में करूँगा।
इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि चेतना ही उसके अस्तित्व का आधार है। इसके विपरीत, जैसा कि हम आगे देखेंगे, चेतना का अस्तित्व पूर्णतः आकस्मिक है। हम केवल यह दर्शाना चाहते हैं कि (1) कुछ भी चेतना का कारण नहीं है। (2) चेतना स्वयं अपने अस्तित्व का कारण है।
6 इसी कारण से पदार्थ का कार्तीय सिद्धांत स्पिनोजा के कार्यों में अपनी तार्किक पराकाष्ठा पाता है।
7 यानी, इस तरह से कि धारणाओं को वस्तु के गुणों में वस्तुनिष्ठ बनाया जा सके। Tr.

भाग एक

[illegible]

अध्याय एक

निषेध की उत्पत्ति I. प्रश्न
हमारी खोज हमें अस्तित्व के मूल तक ले आई है। लेकिन हम एक गतिरोध पर आ गए हैं क्योंकि हम अस्तित्व के उन दो क्षेत्रों के बीच संबंध स्थापित नहीं कर पाए हैं जिन्हें हमने खोजा है। निस्संदेह, इसका कारण यह है कि हमने एक अनुपयुक्त दृष्टिकोण अपनाया है। डेसकार्टेस को भी इसी तरह की समस्या का सामना करना पड़ा था जब उन्हें आत्मा और शरीर के बीच संबंध पर विचार करना था। तब उन्होंने उस स्तर पर समाधान खोजने की योजना बनाई जहाँ चिंतनशील पदार्थ और विस्तारित पदार्थ का मिलन वास्तव में होता है—अर्थात कल्पना में। उनकी सलाह मूल्यवान है। निश्चित रूप से, हमारी चिंता डेसकार्टेस की नहीं है और हम कल्पना को उनके समान नहीं समझते हैं। लेकिन हम इस बात को याद रख सकते हैं कि किसी संबंध के दो पदों को पहले अलग करके बाद में उन्हें फिर से जोड़ने का प्रयास करना लाभप्रद नहीं है। संबंध एक संश्लेषण है। इसलिए, विश्लेषण के परिणामों को इस संश्लेषण के क्षणों द्वारा पुनः नहीं ढका जा सकता है।
एम. लापोर्टे कहते हैं कि अमूर्तता तब उत्पन्न होती है जब किसी ऐसी चीज़ को, जो एकांत में विद्यमान नहीं हो सकती, एकांत अवस्था में माना जाता है। इसके विपरीत, मूर्त एक समग्रता है जो अपने आप में विद्यमान हो सकती है। हुसरल भी इसी मत के हैं; उनके अनुसार लाल रंग एक अमूर्तता है क्योंकि रंग रूप के बिना विद्यमान नहीं हो सकता। दूसरी ओर, एक स्थानिक-कालिक वस्तु, अपने सभी निर्धारणों के साथ, मूर्त का एक उदाहरण है। इस दृष्टिकोण से, चेतना एक अमूर्तता है क्योंकि यह अपने भीतर 'स्वयं में' क्षेत्र में एक सत्तात्मक स्रोत को छुपाती है, और इसके विपरीत घटना भी एक अमूर्तता है क्योंकि इसे चेतना के समक्ष "प्रकट" होना पड़ता है। मूर्त केवल वह संश्लेषित समग्रता हो सकती है जिससे चेतना, घटना की तरह, केवल क्षणों का निर्माण करती है। मूर्त वह विशिष्ट मिलन है जिसमें मनुष्य संसार के भीतर होता है, जिसे उदाहरण के लिए हाइडेगर "संसार में होना" कहते हैं। यदि हम कांट की तरह "अनुभव" पर प्रश्न उठाते हैं, उसकी संभावना की शर्तों की पड़ताल करते हैं—या यदि हम हुसर्ल की तरह घटनात्मक सरलीकरण करते हैं, जो दुनिया को चेतना के नोएमा-सहसंबंध की स्थिति तक सीमित कर देता है—तो हम जानबूझकर अमूर्त से शुरुआत करते हैं। लेकिन हम उससे निकाले गए तत्वों के योग या संगठन द्वारा ठोस को पुनर्स्थापित करने में उसी प्रकार असफल होंगे, जिस प्रकार स्पिनोज़ा उसके विभिन्न रूपों के अनंत योग द्वारा पदार्थ तक नहीं पहुँच सकते।
विभिन्न अस्तित्वों के बीच का संबंध एक मौलिक उद्भव है और इन अस्तित्वों की संरचना का अभिन्न अंग है। हमने इसे अपने पहले अवलोकनों में ही खोज लिया था। अब बस इतना ही काफी है कि हम अपनी आँखें खोलें और मनुष्य के संसार-संबंधी इस समग्रता पर सहजता से प्रश्न करें। इसी समग्रता के वर्णन से हम

था, "यह दृष्टिकोण हमें क्या प्रकट करता है?" लेकिन वास्तव में हम देखते हैं कि इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में हमेशा "कुछ नहीं", "कोई नहीं" या "कभी नहीं" जैसे उत्तर देना संभव होता है। अतः जब मैं पूछता हूँ, "क्या कोई ऐसा आचरण है जो मुझे मनुष्य और संसार के बीच संबंध प्रकट कर सके?" तो मैं सैद्धांतिक रूप से "नहीं, ऐसा कोई आचरण मौजूद नहीं है" जैसे नकारात्मक उत्तर की संभावना को स्वीकार करता हूँ। इसका अर्थ यह है कि हम ऐसे आचरण के अस्तित्वहीन होने के परम सत्य को स्वीकार करते हैं।
शायद कोई व्यक्ति किसी गैर-अस्तित्व के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व में विश्वास न करने के लिए प्रलोभित हो; वह कहेगा कि इस स्थिति में तथ्य मुझे केवल मेरी व्यक्तिपरकता की ओर ले जाता है; मैं उस पारलौकिक सत्ता से यह सीखूंगा कि जिस आचरण की अपेक्षा की जा रही है वह एक कोरी कल्पना है। लेकिन सबसे पहले, इस आचरण को कोरी कल्पना कहना निषेध को दूर किए बिना उसे छिपाना है। "कोरी कल्पना होना" यहाँ "केवल एक कल्पना होना" के समतुल्य है। परिणामस्वरूप, निषेध की वास्तविकता को नष्ट करना उत्तर की वास्तविकता को लुप्त करना है। यह उत्तर वास्तव में वही सत्ता है जो मुझे इसे प्रदान करती है; अर्थात्, मुझे निषेध प्रकट करती है। तब प्रश्नकर्ता के लिए नकारात्मक उत्तर की स्थायी वस्तुनिष्ठ संभावना विद्यमान रहती है। इस संभावना के संबंध में, प्रश्नकर्ता प्रश्न पूछने मात्र से ही स्वयं को अनिश्चितता की स्थिति में पाता है; उसे नहीं पता कि उत्तर सकारात्मक होगा या नकारात्मक। इस प्रकार प्रश्न दो गैर-अस्तित्वों के बीच स्थापित एक सेतु है: मनुष्य में ज्ञान का गैर-अस्तित्व, पारलौकिक सत्ता में अस्तित्व के गैर-अस्तित्व की संभावना। अंततः प्रश्न सत्य के अस्तित्व को दर्शाता है। प्रश्नकर्ता स्वयं प्रश्न के माध्यम से यह पुष्टि करता है कि वह एक वस्तुनिष्ठ उत्तर की अपेक्षा रखता है, जिससे हम कह सकें, "यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं।" संक्षेप में, सत्य, जो अस्तित्व से भिन्न है, प्रश्न को निर्धारित करने वाले एक तीसरे अस्तित्वहीनता—सीमा की अस्तित्वहीनता—को प्रस्तुत करता है। यह त्रिविध अस्तित्वहीनता प्रत्येक प्रश्न को, और विशेष रूप से आध्यात्मिक प्रश्न को, जो हमारा प्रश्न है, प्रभावित करती है।
हमने अपने अस्तित्व की खोज शुरू की, और हमें लगा कि हमारे प्रश्नों की श्रृंखला हमें अस्तित्व के मूल तक ले आई है। लेकिन देखिए, जिस क्षण हमें लगा कि हम अपने लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं, प्रश्न पर ही एक नज़र डालने से अचानक हमें पता चला कि हम शून्यता से घिरे हुए हैं। हमारे भीतर और बाहर, अस्तित्वहीनता की स्थायी संभावना, अस्तित्व के बारे में हमारे प्रश्नों को निर्धारित करती है। इसके अलावा, अस्तित्वहीनता ही उत्तर को सीमित करने वाली है। अस्तित्व क्या होगा, यह अनिवार्य रूप से इस आधार पर उत्पन्न होगा कि वह क्या नहीं है। अस्तित्व चाहे जो भी हो, यह इस सूत्र को जन्म देगा: "अस्तित्व वह है और उसके बाहर कुछ भी नहीं है।"
इस प्रकार, यथार्थ का एक नया घटक हमारे सामने प्रकट हुआ है— अस्तित्वहीनता। इससे हमारी समस्या और भी जटिल हो जाती है, क्योंकि अब हम अपनी पड़ताल को केवल मनुष्य के स्वयं-अस्तित्व से संबंधों तक सीमित नहीं

रख सकते, बल्कि इसमें अस्तित्व और अस्तित्वहीनता के संबंधों तथा मानवीय अस्तित्वहीनता और पारलौकिक अस्तित्व के संबंधों को भी शामिल करना होगा।
लेकिन आइए इस पर और विचार करें।
II. निषेध
कोई आपत्ति करेगा कि स्वयं में अस्तित्व नकारात्मक उत्तर नहीं दे सकता। क्या हमने स्वयं यह नहीं कहा था कि यह पुष्टि से परे है, जैसे निषेध से परे है? इसके अलावा, सामान्य अनुभव, जब स्वयं तक सीमित हो जाता है, तो हमें किसी भी प्रकार के अस्तित्वहीनता का पता नहीं चलता। मुझे लगता है कि मेरे बटुए में पंद्रह सौ फ्रैंक हैं, और मुझे केवल तेरह सौ मिलते हैं; इसका मतलब यह नहीं है, कोई कहेगा, कि अनुभव ने मेरे लिए पंद्रह सौ फ्रैंक की अस्तित्वहीनता का पता लगाया है, बल्कि केवल इतना है कि मैंने तेरह सौ फ्रैंक के नोट गिने हैं। हमें बताया जाता है कि उचित निषेध अकल्पनीय है; यह केवल एक निर्णय के स्तर पर प्रकट हो सकता है जिसके द्वारा मैं अपेक्षित परिणाम और प्राप्त परिणाम के बीच तुलना स्थापित करूँ। इस प्रकार निषेध केवल निर्णय का एक गुण होगा और प्रश्नकर्ता की अपेक्षा निर्णय-उत्तर की अपेक्षा होगी। जहाँ तक शून्यता की बात है, यह नकारात्मक निर्णयों से उत्पन्न होगी; यह इन सभी निर्णयों की पारलौकिक एकता को स्थापित करने वाली एक अवधारणा होगी, एक प्रतिपादक क्रिया, इस प्रकार की, "X नहीं है।"
हम देख सकते हैं कि यह सिद्धांत किस ओर ले जा रहा है; इसके समर्थक हमें यह निष्कर्ष निकालने पर मजबूर करना चाहते हैं कि स्वयं में अस्तित्व पूर्ण सकारात्मकता है और उसमें कोई निषेध समाहित नहीं है। दूसरी ओर, यह नकारात्मक निर्णय, एक व्यक्तिपरक क्रिया होने के कारण, सकारात्मक निर्णय के साथ सख्ती से जुड़ा हुआ है। वे यह नहीं देख पाते कि उदाहरण के लिए, कांट ने अपने आंतरिक स्वरूप में नकारात्मक निर्णय क्रिया को सकारात्मक निर्णय क्रिया से अलग किया है। प्रत्येक मामले में अवधारणाओं का एक संश्लेषण क्रियाशील होता है; वह संश्लेषण, जो मानसिक जीवन की एक ठोस और पूर्ण घटना है, यहाँ केवल "है" क्रिया के रूप में और वहाँ "नहीं है" क्रिया के रूप में क्रियाशील होता है। उसी प्रकार, छाँटने (पृथक करने) की क्रिया और जोड़ने (मिलाने) की क्रिया दो वस्तुनिष्ठ क्रियाएँ हैं जिनमें तथ्य की एक ही वास्तविकता होती है। इस प्रकार निषेध, अस्तित्व में न होते हुए भी, निर्णय क्रिया के "अंत में" होगा। यह एक ऐसी अवास्तविक वस्तु की तरह है जो दो पूर्ण वास्तविकताओं से घिरी हुई है, जिनमें से कोई भी उस पर अपना दावा नहीं करती; स्वयं में अस्तित्व, यदि निषेध के बारे में प्रश्न किया जाए, तो निर्णय को संदर्भित करता है, क्योंकि अस्तित्व केवल वही है जो वह है—और निर्णय, एक पूर्णतः मानसिक सकारात्मकता, अस्तित्व को संदर्भित करता है क्योंकि निर्णय एक निषेध को सूत्रबद्ध करता है जो अस्तित्व से संबंधित है और जो फलस्वरूप पारलौकिक है। निषेध, ठोस मानसिक क्रियाओं का परिणाम, इन्हीं क्रियाओं द्वारा अस्तित्व में समर्थित है और स्वयं अस्तित्व में रहने में असमर्थ है; इसका एक नोएमा-सहसंबंधी अस्तित्व है; इसका एस्से ठीक इसके परसिपी में निवास करता है। शून्यता, नकारात्मक निर्णयों की वैचारिक

एकता, वास्तविकता का जरा सा भी अंश नहीं रख सकती, सिवाय उसके जो स्टोइक अपने "लेक्टन" को प्रदान करते हैं। क्या हम इस अवधारणा को स्वीकार कर सकते हैं?
इस प्रश्न को इस प्रकार समझा जा सकता है: क्या न्यायोचित प्रस्ताव की संरचना के रूप में निषेध शून्यता का मूल है? या इसके विपरीत, क्या शून्यता यथार्थ की संरचना के रूप में निषेध का मूल और आधार है? इस प्रकार, अस्तित्व की समस्या ने हमें पहले मानवीय दृष्टिकोण के रूप में प्रश्न की समस्या की ओर निर्देशित किया था, और अब प्रश्न की समस्या हमें निषेध के अस्तित्व की समस्या की ओर निर्देशित करती है।
यह स्पष्ट है कि अस्तित्वहीनता हमेशा मानवीय अपेक्षा की सीमाओं के भीतर ही प्रकट होती है। मैं पंद्रह सौ फ्रैंक मिलने की उम्मीद करता हूँ, इसलिए मुझे केवल तेरह सौ ही मिलते हैं। एक भौतिक विज्ञानी अपनी परिकल्पना के निश्चित सत्यापन की अपेक्षा करता है, इसलिए प्रकृति उसे मना कर सकती है। यह कहना व्यर्थ होगा कि निषेध मनुष्य और संसार के बीच संबंध के मूल आधार पर ही प्रकट होता है। संसार अपने अस्तित्वहीन तत्वों को उस व्यक्ति के सामने प्रकट नहीं करता जिसने पहले उन्हें संभावनाओं के रूप में स्थापित न किया हो। लेकिन क्या इसका अर्थ यह है कि इन अस्तित्वहीन तत्वों को विशुद्ध व्यक्तिपरकता तक सीमित कर देना चाहिए? क्या इसका अर्थ यह है कि हमें उन्हें स्टोइक दर्शन के "लेक्टन" या हुसर्ल के नोएमा के समान महत्व और अस्तित्व का प्रकार देना चाहिए? हमें ऐसा नहीं लगता।
सबसे पहले, यह सच नहीं है कि निषेध केवल निर्णय का गुण है। प्रश्न एक प्रश्नवाचक निर्णय द्वारा तैयार किया जाता है, लेकिन यह स्वयं एक निर्णय नहीं है; यह एक पूर्व-निर्णयात्मक दृष्टिकोण है। मैं एक नज़र से, एक हावभाव से प्रश्न कर सकता हूँ। प्रश्न पूछते समय मैं एक निश्चित तरीके से अस्तित्व के सामने खड़ा होता हूँ और अस्तित्व के साथ यह संबंध अस्तित्व का संबंध है; निर्णय केवल इसकी एक वैकल्पिक अभिव्यक्ति है। साथ ही, यह आवश्यक नहीं है कि प्रश्नकर्ता किसी व्यक्ति से ही अस्तित्व के बारे में प्रश्न करे; प्रश्न की यह अवधारणा, इसे एक अंतर्वैयक्तिक घटना बनाकर, इसे उस अस्तित्व से अलग कर देती है जिससे यह जुड़ा होता है और इसे संवाद की एक शुद्ध विधि के रूप में हवा में छोड़ देती है। इसके विपरीत, हमें संवाद में प्रश्न को केवल "प्रश्न" वर्ग की एक विशेष प्रजाति के रूप में मानना चाहिए; प्रश्न में मौजूद अस्तित्व का चिंतनशील होना आवश्यक नहीं है। यदि मेरी कार खराब हो जाती है, तो मैं कार्बोरेटर, स्पार्क प्लग आदि पर प्रश्न करता हूँ। यदि मेरी घड़ी रुक जाती है, तो मैं घड़ीसाज़ से रुकने का कारण पूछ सकता हूँ, लेकिन घड़ीसाज़ घड़ी के विभिन्न तंत्रों पर ही सवाल उठाएगा। कार्बोरेटर से मेरी अपेक्षा और घड़ीसाज़ घड़ी के पुर्जों से मेरी अपेक्षा किसी निर्णय पर आधारित नहीं होती; यह अस्तित्व का एक प्रकटीकरण होता है जिसके आधार पर हम निर्णय ले सकते हैं। और यदि मैं अस्तित्व के प्रकटीकरण की अपेक्षा करता हूँ, तो साथ ही मैं गैर-अस्तित्व के प्रकटीकरण की संभावना के लिए भी तैयार रहता हूँ। यदि मैं कार्बोरेटर पर सवाल उठाता हूँ, तो इसका

संबंध स्थापित करती है; अनगिनत लोग ऐसे हैं जिनका इस कैफ़े से कोई संबंध नहीं है, क्योंकि उनकी अनुपस्थिति को स्थापित करने वाली कोई वास्तविक अपेक्षा नहीं है। लेकिन, सटीक रूप से कहें तो, मुझे स्वयं पियरे को देखने की अपेक्षा थी, और मेरी अपेक्षा ने ही पियरे की अनुपस्थिति को इस कैफ़े से संबंधित एक वास्तविक घटना के रूप में घटित किया है। यह एक वस्तुनिष्ठ तथ्य है कि मैंने इस अनुपस्थिति का पता लगा लिया है, और यह पियरे और उस परिवेश के बीच एक संश्लेषित संबंध के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करता है जिसमें मैं उसे खोज रहा हूँ। अनुपस्थित पियरे इस कैफ़े को प्रेतवाधित करता है और इसके आत्म-शून्य संगठन की स्थिति है। इसके विपरीत, वे निर्णय जो मैं बाद में अपने मनोरंजन के लिए ले सकता हूँ, जैसे, "वेलिंगटन इस कैफ़े में नहीं है, पॉल वैलेरी अब यहाँ नहीं है, आदि"—इनका विशुद्ध रूप से अमूर्त अर्थ है; ये निरर्थकता के सिद्धांत के शुद्ध अनुप्रयोग हैं जिनका कोई वास्तविक या प्रभावी आधार नहीं है, और ये कैफ़े और वेलिंगटन या वैलेरी के बीच कोई वास्तविक संबंध स्थापित करने में कभी सफल नहीं होते। यहाँ "नहीं है" का संबंध मात्र एक विचार है। यह उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि किसी वस्तु में अस्तित्वहीनता किसी नकारात्मक निर्णय से उत्पन्न नहीं होती; बल्कि इसके विपरीत, नकारात्मक निर्णय ही अस्तित्वहीनता से प्रेरित और समर्थित होता है।
ऐसा कैसे हो सकता है? यदि सब कुछ पूर्णता और सकारात्मकता से परिपूर्ण है, तो हम निर्णय के नकारात्मक रूप की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं? हमने एक क्षण के लिए यह मान लिया कि अपेक्षित परिणाम और प्राप्त परिणाम के बीच तुलना से निषेध उत्पन्न हो सकता है। लेकिन आइए उस तुलना पर गौर करें। यहाँ एक मूल निर्णय है, एक ठोस, सकारात्मक मानसिक क्रिया जो एक तथ्य को स्थापित करती है: "मेरे बटुए में 1300 फ़्रैंक हैं।" फिर एक और है जो कुछ और है, अब वह नहीं बल्कि एक तथ्य की स्थापना और पुष्टि है: "मुझे 1500 फ़्रैंक मिलने की उम्मीद थी।" यहाँ हमारे पास वास्तविक और वस्तुनिष्ठ तथ्य, मानसिक और सकारात्मक घटनाएँ, सकारात्मक निर्णय हैं। निषेध को हम कहाँ रखें? क्या हमें यह मानना चाहिए कि यह एक श्रेणी का शुद्ध और सरल अनुप्रयोग है? और क्या हम यह मानना चाहते हैं कि मन स्वयं में 'नहीं' को छँटाई और पृथक्करण के रूप में धारण करता है? लेकिन इस मामले में हम निषेध से नकारात्मकता के जरा से भी संदेह को दूर कर देते हैं। यदि हम यह स्वीकार करें कि "नहीं" की श्रेणी वास्तव में मन में विद्यमान है और हमारे ज्ञान को सुदृढ़ और व्यवस्थित करने की एक सकारात्मक और ठोस प्रक्रिया है, यदि हम पहले यह स्वीकार करें कि यह हमारे भीतर कुछ सकारात्मक निर्णयों की उपस्थिति से अचानक प्रकट होती है और फिर यह अचानक उन विचारों पर अपनी मुहर लगा देती है जो इन निर्णयों से उत्पन्न होते हैं—तो इन विचारों से हम निषेध को उसके सभी नकारात्मक कार्यों से सावधानीपूर्वक मुक्त कर देंगे। क्योंकि निषेध अस्तित्व का अस्वीकार है। इसके माध्यम से एक अस्तित्व (या अस्तित्व का एक तरीका) स्थापित किया जाता है, फिर उसे शून्यता में वापस फेंक दिया जाता है। यदि निषेध एक श्रेणी है, यदि यह केवल कुछ निर्णयों पर उदासीनता से

लगाया गया एक प्रकार का प्लग है, तो हम इस तथ्य की व्याख्या कैसे करेंगे कि यह एक अस्तित्व को नष्ट कर सकता है, उसे अचानक उत्पन्न कर सकता है, और फिर उसे गैर-अस्तित्व में वापस फेंक सकता है? यदि पूर्व निर्णय तथ्य स्थापित करते हैं, जैसे कि हमने उदाहरण के तौर पर लिए हैं, तो निषेध एक स्वतंत्र खोज की तरह होना चाहिए, यह हमें सकारात्मकता की उस दीवार से अलग कर देना चाहिए जो हमें घेरे हुए है। निषेध निरंतरता में एक अचानक विराम है जो किसी भी स्थिति में पूर्व कथनों से उत्पन्न नहीं हो सकता; यह एक मौलिक और अविभाज्य घटना है। यहाँ हम चेतना के क्षेत्र में हैं। इसके अतिरिक्त, चेतना निषेध की चेतना के रूप में ही निषेध उत्पन्न कर सकती है। कोई भी श्रेणी चेतना में "निवास" नहीं कर सकती और किसी वस्तु की तरह वहाँ निवास नहीं कर सकती। 'नहीं', एक अचानक सहज ज्ञानिक खोज के रूप में, चेतना (अस्तित्व की) के रूप में, 'नहीं' की चेतना के रूप में प्रकट होता है। संक्षेप में, यदि अस्तित्व सर्वव्यापी है, तो यह केवल शून्यता ही नहीं है, जो कि बर्गसन के अनुसार, अकल्पनीय है; क्योंकि निषेध कभी भी अस्तित्व से उत्पन्न नहीं हो सकता। हमारे 'नहीं' कहने के लिए आवश्यक शर्त यह है कि गैर-अस्तित्व हमारे भीतर और हमारे बाहर एक शाश्वत उपस्थिति हो, कि शून्यता अस्तित्व को व्याप्त रखे।
लेकिन शून्यता की उत्पत्ति कहाँ से होती है? यदि यह प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति और सामान्यतः सभी दार्शनिक या वैज्ञानिक अन्वेषण की मूल अवस्था है, तो शून्यता के साथ मनुष्य का मूल संबंध क्या है? मूल शून्यीकरणकारी व्यवहार क्या है?
III. शून्यता की द्वंद्वात्मक अवधारणा अभी हमारे लिए इस शून्यता के अर्थ को पूरी तरह से समझना जल्दबाजी होगी, जिसके सामने यह प्रश्न अचानक खड़ा हो गया है। लेकिन अभी भी हम कई निष्कर्ष निकाल सकते हैं। विशेष रूप से, अस्तित्व और उस गैर-अस्तित्व के बीच संबंधों को निर्धारित करना उपयोगी होगा जो उसे व्याकुल रखता है। हमने अस्तित्व के समक्ष मनुष्य द्वारा अपनाए जाने वाले आचरण और शून्यता के समक्ष उसके द्वारा बनाए रखे जाने वाले आचरण के प्रकारों के बीच एक निश्चित समानता स्थापित की है, और हम तुरंत अस्तित्व और गैर-अस्तित्व को वास्तविकता के दो पूरक घटकों के रूप में मानने के लिए प्रेरित होते हैं— जैसे अंधकार और प्रकाश। संक्षेप में, हम दो विशुद्ध रूप से समकालीन धारणाओं से निपट रहे होंगे जो किसी न किसी तरह अस्तित्वों के निर्माण में एकजुट होंगी और जिन्हें अलग-अलग विचार करना व्यर्थ होगा। शुद्ध अस्तित्व और शुद्ध गैर-अस्तित्व दो अमूर्त अवधारणाएँ होंगी जिन्हें केवल ठोस वास्तविकताओं के आधार पर ही पुनः एकजुट किया जा सकता है।
हेगेल का दृष्टिकोण निश्चित रूप से यही है। वास्तव में, वे तर्कशास्त्र में ही अस्तित्व और गैर-अस्तित्व के संबंधों का अध्ययन करते हैं, और वे तर्कशास्त्र को "विचारों के शुद्ध निर्धारणों की प्रणाली" कहते हैं। वे इसे और अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए कहते हैं, “विचार, जैसा कि वे सामान्यतः प्रस्तुत किए जाते हैं, शुद्ध विचार नहीं हैं, क्योंकि जिस

सत्ता को विचार कहा जाता है, उससे हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से है जिसका सार अनुभवजन्य सार है। तर्कशास्त्र में विचारों को इस प्रकार समझा जाता है कि उनका शुद्ध विचार के सार के अलावा कोई अन्य सार नहीं होता, और यह सार उसी से उत्पन्न होता है।” निस्संदेह, ये निर्धारण “वस्तुओं में जो सबसे गहरा है, वही हैं, परन्तु साथ ही जब कोई उन्हें “स्वयं में और अपने लिए” देखता है, तो वह उन्हें स्वयं विचार से ही व्युत्पन्न करता है और उनमें उनके सत्य को खोजता है। यद्यपि हेगेलियन तर्कशास्त्र का प्रयास “उन धारणाओं की अपर्याप्तता को स्पष्ट करना है जिन पर वह एक-एक करके विचार करता है और उन्हें समझने के लिए, प्रत्येक को एक अधिक पूर्ण धारणा तक उठाने की आवश्यकता को स्पष्ट करना है जो उन्हें एकीकृत करते हुए उनसे आगे निकल जाती है।”
हेगेल पर वही बात लागू होती है जो ले सेने ने हैमेलिन के दर्शन के बारे में कही थी: “प्रत्येक निम्न पद उच्च पद पर निर्भर करता है, जैसे अमूर्त मूर्त पर, जो स्वयं को साकार करने के लिए आवश्यक है।” हेगेल के लिए सच्चा मूर्त अपने सार सहित विद्यमान है; यह वह समग्रता है जो सभी अमूर्त क्षणों के संश्लेषित एकीकरण से उत्पन्न होती है, जो अपने पूरक की आवश्यकता के कारण इसमें पार हो जाते हैं। इस अर्थ में, अस्तित्व सबसे अमूर्त और सबसे कमज़ोर होगा, यदि हम इसे स्वयं में देखें—अर्थात्, इसे सार की ओर इसके पारगमन से अलग करके। वास्तव में, “अस्तित्व सार से उसी प्रकार संबंधित है जैसे तात्कालिक मध्यस्थ से। वस्तुएँ सामान्यतः ‘हैं’, परन्तु उनका अस्तित्व उनके सार को प्रकट करने में निहित है। अस्तित्व सार में विलीन हो जाता है। इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, ‘अस्तित्व सार को पूर्वधारणा में रखता है।’ यद्यपि सार अस्तित्व के संबंध में मध्यस्थ के रूप में प्रकट होता है, फिर भी सार ही सच्चा मूल है। अस्तित्व अपने आधार पर लौटता है; अस्तित्व सार में पार हो जाता है।”
इस प्रकार, सार से अलग होकर, जो उसका आधार है, अस्तित्व "महज खाली तात्कालिकता" बन जाता है। मन की घटना विज्ञान इसे इसी प्रकार परिभाषित करता है, शुद्ध अस्तित्व को "सत्य के दृष्टिकोण से" तात्कालिकता के रूप में प्रस्तुत करते हुए। यदि तर्क का आरंभ तात्कालिकता है, तो हम आरंभ को अस्तित्व में पाएंगे, जो "वह अनिश्चितता है जो सभी निर्धारणों से पहले आती है, वह अनिश्चितता जो पूर्ण प्रस्थान बिंदु है।"
लेकिन इस प्रकार अनिर्धारित अस्तित्व तुरंत अपने विपरीत में परिवर्तित हो जाता है। हेगेल ने अपने लॉजिक (एनसाइक्लोपीडिया का) में लिखा है, "यह शुद्ध अस्तित्व शुद्ध अमूर्तता है और फलस्वरूप पूर्ण निषेध है, जो अपने तात्कालिक क्षण में अस्तित्वहीनता भी है।" क्या शून्यता वास्तव में स्वयं के साथ सरल एकता, पूर्ण शून्यता, निर्धारणों और विषयवस्तु का अभाव नहीं है? शुद्ध अस्तित्व और शुद्ध शून्यता तब एक ही चीज हैं। या बल्कि यह कहना सही होगा कि वे भिन्न हैं; लेकिन "चूंकि यहां अंतर अभी तक एक निर्धारित अंतर नहीं है - क्योंकि अस्तित्व और अस्तित्व उनमें मौजूद तात्कालिक क्षण का निर्माण करते हैं - इस अंतर को नाम नहीं दिया जा सकता;

को वैधता अस्तित्व की घटना पर विचार करने से प्राप्त होगी, न कि समझ की नकारने वाली प्रक्रियाओं से।
लेकिन यहां जिस बात की जांच करने की जरूरत है, वह विशेष रूप से हेगेल का यह कथन है कि अस्तित्व और शून्यता दो विपरीत अवधारणाएं हैं, जिनके बीच का अंतर विचाराधीन अमूर्तता के स्तर पर केवल एक साधारण "राय" है।
हेगेल की तरह, अस्तित्व और शून्यता को सिद्धांत और प्रतिवाद के रूप में प्रस्तुत करना, यह मानना है कि वे तार्किक रूप से समकालीन हैं। इस प्रकार, एक तार्किक श्रृंखला के दो सीमित पदों के रूप में दो विपरीत अवधारणाएँ एक साथ उत्पन्न होती हैं। यहाँ हमें ध्यानपूर्वक यह समझना चाहिए कि केवल विपरीत अवधारणाएँ ही इस समकालिकता का आनंद ले सकती हैं क्योंकि वे समान रूप से सकारात्मक (या समान रूप से नकारात्मक) होती हैं। लेकिन गैर-अस्तित्व, अस्तित्व का विपरीत नहीं है; यह उसका विरोधाभास है। इसका तात्पर्य यह है कि तार्किक रूप से शून्यता, अस्तित्व के बाद आती है क्योंकि यह अस्तित्व ही है, जिसे पहले स्थापित किया जाता है, फिर अस्वीकार किया जाता है। इसलिए यह संभव नहीं है कि अस्तित्व और गैर-अस्तित्व एक ही विषयवस्तु वाली अवधारणाएँ हों, क्योंकि इसके विपरीत गैर-अस्तित्व एक अविभाज्य मानसिक क्रिया को मानता है। अस्तित्व का मूल अविभेदन चाहे जो भी हो, गैर-अस्तित्व उसी अविभेदन का अस्वीकार है। यह हेगेल को अस्तित्व को शून्यता में परिवर्तित करने की अनुमति देता है; यही वह बात है जिसने अप्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व की उनकी परिभाषा में ही निषेध को समाहित कर दिया है। यह स्वतः स्पष्ट है क्योंकि कोई भी परिभाषा नकारात्मक होती है, क्योंकि हेगेल ने स्पिनोज़ा के एक कथन का उपयोग करते हुए हमें बताया है कि सर्वव्यापी निर्धारण ही निषेध है। और क्या वह यह नहीं लिखते, “इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह निर्धारण या सार क्या है जो किसी अस्तित्व को किसी अन्य चीज़ से अलग करता है; जो कुछ भी इसे सार प्रदान करेगा, वह इसे अपनी शुद्धता में बने रहने से रोकेगा। यह शुद्ध अनिश्चितता और शून्यता है। इसमें कुछ भी समझा नहीं जा सकता।”
इस प्रकार, जो कोई भी अस्तित्व में बाहर से निषेध का समावेश करता है, वह बाद में पाएगा कि वह उसे अस्तित्वहीनता में परिवर्तित कर देता है। लेकिन यहाँ निषेध की अवधारणा से जुड़ा एक शब्द-खेल है। क्योंकि यदि मैं अस्तित्व को कोई निर्धारण या सार देने से इनकार करता हूँ, तो भी मुझे कम से कम यह स्वीकार करना ही होगा कि वह अस्तित्व में है। इस प्रकार, चाहे कोई भी अस्तित्व को चाहे जितना भी नकार दे, वह उसे अस्तित्वहीन नहीं बना सकता, क्योंकि वह इस तथ्य के कारण ही इनकार करता है कि वह यह है या वह है। निषेध, अस्तित्व के केंद्र को स्पर्श नहीं कर सकता, जो कि पूर्ण परिपूर्णता और संपूर्ण सकारात्मकता है। इसके विपरीत, अस्तित्वहीनता एक निषेध है जिसका लक्ष्य इस पूर्ण सघनता के केंद्र पर होता है। अस्तित्वहीनता को अस्तित्व के मूल में ही नकारा जाता है। जब हेगेल लिखते हैं, "(अस्तित्व और शून्यता) खाली अमूर्त अवधारणाएँ हैं, और एक दूसरे के समान ही खाली है," तो वे यह भूल जाते हैं कि शून्यता किसी न किसी चीज़ की शून्यता है। अस्तित्व स्वयं के

साथ एकात्मता के अलावा किसी अन्य निर्धारण से रहित है, जबकि अस्तित्वहीनता, अस्तित्व से रहित है। संक्षेप में, हमें हेगेल के विपरीत यह याद रखना चाहिए कि अस्तित्व है और शून्यता नहीं है।
इस प्रकार, यद्यपि अस्तित्व किसी भी विभेदित गुण का आधार नहीं हो सकता, फिर भी शून्यता तार्किक रूप से इसके बाद आती है, क्योंकि यह अस्तित्व को नकारने के लिए उसे मानती है, क्योंकि शून्यता का अविभाज्य गुण स्वयं को उस अविभेदित अस्तित्व के समूह में जोड़कर उसे मुक्त करता है। इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि हमें अस्तित्व और गैर-अस्तित्व को एक ही धरातल पर रखने से इनकार करना चाहिए, बल्कि यह भी है कि हमें कभी भी शून्यता को उस मूल अथाह गहराई के रूप में नहीं मानना चाहिए जिससे अस्तित्व उत्पन्न हुआ हो। शून्यता की अवधारणा का हम जो परिचित रूप में उपयोग करते हैं, वह हमेशा अस्तित्व के एक प्रारंभिक विशिष्टीकरण को मानता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भाषा हमें वस्तुओं की शून्यता और मनुष्यों की शून्यता प्रदान करती है। लेकिन अधिकांश मामलों में विशिष्टीकरण और भी स्पष्ट होता है। हम वस्तुओं के एक विशेष संग्रह की ओर इशारा करते हुए कहते हैं, "किसी चीज को मत छुओ," जिसका अर्थ है, बिल्कुल सटीक रूप से, उस संग्रह की किसी भी वस्तु को नहीं। इसी प्रकार, यदि हम किसी से उसके निजी या सार्वजनिक जीवन की सुस्थापित घटनाओं के बारे में प्रश्न करते हैं, तो वह उत्तर दे सकता है, "मुझे कुछ नहीं पता।" और इस 'कुछ नहीं' में वे सभी तथ्य समाहित हैं जिन पर हमने उनसे प्रश्न पूछे थे। यहाँ तक कि सुकरात भी अपने प्रसिद्ध कथन, "मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता," के द्वारा सत्य के रूप में माने जाने वाले अस्तित्व की समग्रता को दर्शाते हैं।
यदि हम कुछ समय के लिए सरल ब्रह्मांडीय सिद्धांतों के दृष्टिकोण को अपना लें, तो स्वयं से यह प्रश्न पूछने का प्रयास करें कि संसार के अस्तित्व में आने से पहले क्या था? यदि हमारा उत्तर "कुछ नहीं" हो, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि यह "पहले" और यह "कुछ नहीं" वास्तव में पूर्वव्यापी हैं। आज हम, जो अस्तित्व में स्थिर हैं, उस अस्तित्व को नकारते हैं जो इस अस्तित्व से पहले था। यहाँ निषेध उस चेतना से उत्पन्न होता है जो आरंभ की ओर मुड़ी हुई है। यदि हम इस मूल शून्यता से इस संसार से और संसार का रूप धारण करने वाले प्रत्येक समग्र से रहित होने की विशेषता, साथ ही इसके पहले की विशेषता को हटा दें, जो एक बाद की परिकल्पना करती है, तो निषेध स्वयं ही लुप्त हो जाता है, और एक पूर्ण अनिश्चितता को जन्म देता है जिसकी कल्पना करना असंभव होगा, यहाँ तक कि और विशेष रूप से शून्यता के रूप में भी। इस प्रकार स्पिनोज़ा के कथन को उलटते हुए, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक निषेध निर्धारण है। इसका अर्थ है कि अस्तित्व शून्यता से पूर्व है और उसके लिए आधार स्थापित करता है। इससे हमें न केवल यह समझना चाहिए कि अस्तित्व शून्यता से तार्किक रूप से श्रेष्ठ है, बल्कि यह भी कि शून्यता को अपना ठोस प्रभाव अस्तित्व से ही प्राप्त होता है। यही हमारा वह तात्पर्य है जब हम कहते हैं कि शून्यता अस्तित्व को प्रभावित करती है। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्व को साकार होने के लिए शून्यता की आवश्यकता नहीं है और हम इसके

विचार का पूर्णतः अध्ययन कर सकते हैं, फिर भी हमें उसमें शून्यता का जरा सा भी अंश नहीं मिलेगा। लेकिन दूसरी ओर, शून्यता, जो अस्तित्वहीन है, का अस्तित्व केवल उधार का ही हो सकता है और उसे अपना अस्तित्व अस्तित्व से ही प्राप्त होता है। उसके अस्तित्व की शून्यता केवल अस्तित्व की सीमाओं के भीतर ही पाई जाती है और अस्तित्व का पूर्णतः लुप्त होना गैर-अस्तित्व के शासन का आगमन नहीं होगा, बल्कि इसके विपरीत शून्यता का भी लुप्त होना होगा। गैर-अस्तित्व केवल अस्तित्व की सतह पर ही विद्यमान होता है।
IV. शून्यता की घटनात्मक अवधारणा अस्तित्व और शून्यता को पूरक के रूप में समझने का एक और संभावित तरीका है। इन्हें वास्तविकता के दो समान रूप से आवश्यक घटकों के रूप में देखा जा सकता है, बिना अस्तित्व को शून्यता में विलीन किए—जैसा कि हेगेल करते हैं — और बिना शून्यता की परवर्तीता पर ज़ोर दिए, जैसा कि हमने करने का प्रयास किया। इसके विपरीत, हम अस्तित्व और गैर-अस्तित्व के बीच परस्पर प्रतिकर्षण की शक्तियों पर ज़ोर दे सकते हैं, वास्तविकता किसी न किसी रूप में इन विरोधी शक्तियों से उत्पन्न तनाव है। हाइडेगर इसी नई अवधारणा की ओर उन्मुख हैं।
हेइगेगर के शून्यता सिद्धांत ने हेगेल के सिद्धांत की तुलना में जो प्रगति की है, उसे देखने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। सर्वप्रथम, अस्तित्व और गैर-अस्तित्व अब निरर्थक अवधारणाएँ नहीं रह गई हैं। हेइगेगर ने अपने सबसे महत्वपूर्ण कार्य में अस्तित्व से संबंधित प्रश्न उठाने की वैधता सिद्ध की है; अब अस्तित्व में वह विद्वतापूर्ण सार्वभौमिकता नहीं रह गई है, जो हेगेल के समय में भी बनी हुई थी। अस्तित्व का एक अर्थ है जिसे स्पष्ट किया जाना आवश्यक है; अस्तित्व की एक "पूर्व-सत्तामीमांसीय समझ" है जो "मानव वास्तविकता" से संबंधित प्रत्येक प्रकार के आचरण में निहित है—अर्थात, इसकी प्रत्येक परियोजना में। इसी प्रकार, शून्यता की समस्या पर विचार करते ही आमतौर पर उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ निराधार सिद्ध होती हैं; वे केवल इस हद तक महत्वपूर्ण हैं कि वे समझ के कार्यक्षेत्र को सीमित करती हैं, और वे यह दर्शाती हैं कि यह समस्या समझ के दायरे से बाहर है। दूसरी ओर, "मानवीय वास्तविकता" के अनेक दृष्टिकोण मौजूद हैं जो शून्यता की "समझ" को दर्शाते हैं: घृणा, निषेध, पश्चाताप आदि। "डेसिन" के लिए, शून्यता के साथ "आमने-सामने" होने और उसे एक घटना के रूप में खोजने की एक स्थायी संभावना भी है: यही संभावना पीड़ा है। हाइडेगर, शून्यता की ठोस समझ की संभावनाओं को स्थापित करते हुए, हेगेल की त्रुटि में कभी नहीं पड़ते; वे गैर-अस्तित्व के लिए किसी अस्तित्व को संरक्षित नहीं करते, यहाँ तक कि अमूर्त अस्तित्व को भी नहीं। कुछ भी नहीं है; यह स्वयं को ही नष्ट कर देता है। यह पारलौकिकता द्वारा समर्थित और नियंत्रित है। हम जानते हैं कि हाइडेगर के लिए मानवीय वास्तविकता का अस्तित्व "संसार में होना" के रूप में परिभाषित किया गया है। संसार साधनिक वास्तविकताओं का एक संश्लेषित परिसर है क्योंकि वे एक दूसरे की ओर निरंतर विस्तृत होते वृत्तों में इंगित करती हैं, और क्योंकि मनुष्य स्वयं को उस

परिसर के संदर्भ में प्रकट करता है जो वह है। इसका अर्थ यह है कि "मानवीय वास्तविकता" अस्तित्व से परिपूर्ण होकर उत्पन्न होती है और अस्तित्व में स्वयं को पाती है (sich befinden) - और यह भी कि मानवीय वास्तविकता अपने चारों ओर के अस्तित्व को संसार के रूप में मानवीय वास्तविकता के चारों ओर व्यवस्थित करती है।
लेकिन मानवीय वास्तविकता, अस्तित्व को पार करके ही, संसार में एक संगठित समग्रता के रूप में प्रकट कर सकती है। हाइडेगर के अनुसार, सभी निर्धारण एक पार करने की प्रक्रिया है, क्योंकि इसमें एक विशेष दृष्टिकोण से पीछे हटना शामिल है। संसार से परे जाना, जो स्वयं संसार के उदय की एक शर्त है, उस सहजता (डेसिन) द्वारा संभव होता है जो पार करने की प्रक्रिया को स्वयं की ओर निर्देशित करती है। वास्तव में, आत्मत्व (सेल्बस्थाइट) की विशेषता यह है कि मनुष्य अपने आप से उस अस्तित्व की व्यापकता से अलग रहता है जो वह नहीं है। वह संसार के दूसरी ओर से स्वयं को ज्ञात करता है और अपने आंतरिक अस्तित्व को पुनः प्राप्त करने के लिए क्षितिज से स्वयं की ओर देखता है। मनुष्य "दूरियों का अस्तित्व" है। अंतर्मुखी होने की उस गति में जो संपूर्ण अस्तित्व को पार करती है, अस्तित्व का उदय होता है और वह स्वयं को संसार के रूप में संगठित करता है, बिना इस बात की प्राथमिकता के कि गति संसार से ऊपर है या संसार गति से ऊपर। लेकिन संसार से परे स्वयं का यह प्रकटीकरण—अर्थात्, वास्तविकता की समग्रता से परे—शून्यता में "मानवीय वास्तविकता" का उद्भव है। केवल शून्यता में ही अस्तित्व को पार किया जा सकता है। साथ ही, यह संसार से परे के दृष्टिकोण से ही है कि अस्तित्व संसार में संगठित होता है, जिसका अर्थ है कि एक ओर मानवीय वास्तविकता अस्तित्वहीनता में अस्तित्व के उद्भव के रूप में उभरती है और दूसरी ओर संसार शून्यता में "स्थिर" रहता है। पीड़ा इस दोहरे, शाश्वत शून्यता की खोज है। संसार से परे जाने के संदर्भ में ही डेसिन संसार की आकस्मिकता को साकार करने में सक्षम होते हैं; अर्थात्, यह प्रश्न उठाते हैं, "ऐसा कैसे होता है कि कुछ है, शून्यता नहीं?" इस प्रकार, संसार की आकस्मिकता मानवीय वास्तविकता के समक्ष इस हद तक प्रकट होती है कि मानवीय वास्तविकता ने आकस्मिकता को समझने के लिए स्वयं को शून्यता में स्थापित कर लिया है। यहां शून्यता चारों ओर से अस्तित्व को घेरे हुए है और साथ ही अस्तित्व से निष्कासित भी है। यहां शून्यता को उस रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे संसार को संसार के रूप में उसकी रूपरेखा प्राप्त होती है। क्या यह समाधान हमें संतुष्ट कर सकता है?
इस बात से कोई इनकार नहीं किया जा सकता कि दुनिया को दुनिया के रूप में समझना एक शून्यता है। जिस क्षण दुनिया दुनिया के रूप में प्रकट होती है, वह स्वयं को केवल उसी रूप में प्रकट करती है। इस समझ का आवश्यक प्रतिरूप वास्तव में शून्यता में "मानवीय वास्तविकता" का उदय है। लेकिन "मानवीय वास्तविकता" को इस प्रकार अस्तित्वहीनता में उभरने की शक्ति कहाँ से मिलती है? निस्संदेह हाइडेगर इस तथ्य पर जोर देने में सही हैं कि निषेध का आधार शून्यता से प्राप्त होता है। लेकिन यदि शून्यता निषेध के लिए आधार

बात करते हुए इनके महत्व की झलक पाई, जो नकारात्मक और सकारात्मक के संश्लेषण के प्रकार हैं जिनमें निषेध सकारात्मकता की शर्त है। निषेध का कार्य विचाराधीन वस्तु की प्रकृति के अनुसार भिन्न होता है। पूर्णतः सकारात्मक वास्तविकताओं (जिनमें हालांकि निषेध उनकी रूपरेखा की स्पष्टता की शर्त के रूप में, उनके स्वरूप को निर्धारित करने वाले तत्व के रूप में, बना रहता है) और उन वास्तविकताओं के बीच जिनमें सकारात्मकता केवल शून्यता के एक छिद्र को छुपाने वाला एक आवरण मात्र है, सभी स्तर संभव हैं। किसी भी स्थिति में इन निषेधों को अलौकिक शून्यता में वापस फेंकना असंभव है क्योंकि वे अस्तित्व में विलीन हैं, अस्तित्व द्वारा समर्थित हैं और वास्तविकता की शर्तें हैं। संसार से परे शून्यता पूर्ण निषेध का प्रतिपादन करती है; लेकिन हमने अभी-अभी अलौकिक प्राणियों के एक समूह की खोज की है जिनमें अन्य प्राणियों के समान ही वास्तविकता और प्रभावकारिता है, लेकिन जो अपने भीतर गैर-अस्तित्व को समाहित करते हैं। उन्हें एक ऐसे स्पष्टीकरण की आवश्यकता है जो यथार्थ की सीमाओं के भीतर रहे। यदि शून्यता अस्तित्व द्वारा समर्थित है, तो वह शून्यता के रूप में लुप्त हो जाती है, और हम अस्तित्व पर लौट आते हैं। शून्यता को केवल अस्तित्व के आधार पर ही नष्ट किया जा सकता है; यदि शून्यता को दिया जा सकता है, तो वह न तो अस्तित्व से पहले है, न ही बाद में, और न ही सामान्य रूप से अस्तित्व से बाहर है। शून्यता अस्तित्व के हृदय में एक कीड़े की तरह कुंडली मारकर बैठी रहती है। V. शून्यता की उत्पत्ति
इस बिंदु पर पीछे मुड़कर देखना और अब तक तय किए गए मार्ग का आकलन करना उचित होगा। हमने सबसे पहले अस्तित्व का प्रश्न उठाया। फिर इसी प्रश्न को मानवीय व्यवहार के एक प्रकार के रूप में परिकल्पित करते हुए, हमने इस पर भी प्रश्न उठाया। इसके बाद हमें यह समझना पड़ा कि यदि निषेध का अस्तित्व न हो तो कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सकता, विशेषकर अस्तित्व का प्रश्न तो बिल्कुल नहीं। परन्तु जब इस निषेध का और अधिक गहराई से विश्लेषण किया गया, तो इसने हमें शून्यता की ओर वापस मोड़ दिया, जो इसका मूल और आधार है। संसार में निषेध के अस्तित्व के लिए और फलस्वरूप अस्तित्व से संबंधित प्रश्न उठाने के लिए, यह आवश्यक है कि किसी न किसी रूप में शून्यता को प्रदान किया जाए। तब हमने यह समझा कि शून्यता को न तो अस्तित्व से बाहर, न ही एक पूरक, अमूर्त धारणा के रूप में, और न ही एक अनंत परिवेश के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है जहाँ अस्तित्व निलंबित हो। शून्यता को अस्तित्व के केंद्र में प्रदान किया जाना चाहिए, ताकि हम उस विशेष प्रकार की वास्तविकताओं को समझ सकें जिन्हें हमने 'नकारात्मकता' कहा है। परन्तु यह सांसारिक शून्यता स्वयं अस्तित्व द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती; पूर्ण सकारात्मकता के रूप में अस्तित्व की धारणा में शून्यता एक संरचना के रूप में समाहित नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अस्तित्व इसे बाहर रखता है। अस्तित्व का इससे कोई संबंध नहीं है। अतः अब हमारे समक्ष एक विशेष रूप से महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है: यदि शून्यता की कल्पना न तो अस्तित्व से बाहर की जा सकती है, न ही अस्तित्व के संदर्भ में, और यदि दूसरी ओर, चूंकि यह अस्तित्वहीनता है,

इसलिए यह स्वयं से "स्वयं को नष्ट करने" की आवश्यक शक्ति प्राप्त नहीं कर सकती, तो शून्यता का स्रोत क्या है?
यदि हम इस समस्या को और आगे बढ़ाना चाहते हैं, तो हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि हम शून्यता को "स्वयं को नष्ट करने" का गुण प्रदान नहीं कर सकते। यद्यपि "स्वयं को नष्ट करना" अभिव्यक्ति को शून्यता से अस्तित्व के अंतिम अंश को मिटाने के रूप में समझा जाता है, हमें यह समझना होगा कि केवल अस्तित्व ही स्वयं को नष्ट कर सकता है; चाहे वह किसी भी रूप में हो, स्वयं को नष्ट करने के लिए उसका अस्तित्व होना आवश्यक है। परन्तु शून्यता का अस्तित्व नहीं है। यदि हम इसके बारे में बात कर सकते हैं, तो केवल इसलिए कि इसमें अस्तित्व का आभास होता है, एक उधार लिया हुआ अस्तित्व, जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है। शून्यता का अस्तित्व नहीं है, शून्यता "बनाई गई" है। शून्यता स्वयं को नष्ट नहीं करती; शून्यता "नष्ट की जाती है"। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ऐसा अस्तित्व होना चाहिए (यह स्वयं में नहीं हो सकता) जिसका गुण शून्यता को नष्ट करना, उसके अस्तित्व में उसका समर्थन करना, उसके अस्तित्व में उसे निरंतर बनाए रखना है, एक ऐसा अस्तित्व जिसके द्वारा शून्यता वस्तुओं में आती है। लेकिन यह सत्ता शून्यता से किस प्रकार संबंधित हो सकती है कि इसके माध्यम से शून्यता वस्तुओं में प्रवेश कर सके? हमें सर्वप्रथम यह समझना होगा कि परिकल्पित सत्ता शून्यता के संबंध में निष्क्रिय नहीं हो सकती, उसे ग्रहण नहीं कर सकती; शून्यता इस सत्ता तक किसी अन्य सत्ता के माध्यम से ही आ सकती है—जो कि एक अनंत प्रतिगमन होगा। परन्तु दूसरी ओर, जिस सत्ता द्वारा शून्यता संसार में प्रवेश करती है, वह शून्यता का सृजन करते समय उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकती—जैसे स्टोइक कारण जो स्वयं परिवर्तित हुए बिना अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। यह अकल्पनीय होगा कि पूर्ण सकारात्मकता से परिपूर्ण सत्ता अपने से बाहर शून्यता या पारलौकिक सत्ता का सृजन करे, क्योंकि सत्ता में ऐसा कुछ भी नहीं होगा जिससे सत्ता स्वयं को गैर-सत्ता की ओर अग्रसर कर सके। जिस सत्ता द्वारा शून्यता संसार में प्रवेश करती है, उसे अपने अस्तित्व में शून्यता का नाश करना होगा, और फिर भी वह शून्यता को अंतर्निहितता के केंद्र में ही पारलौकिक के रूप में स्थापित करने का जोखिम उठाती है, जब तक कि वह अपने अस्तित्व के संबंध में शून्यता का नाश न कर दे। जिस सत्ता के द्वारा शून्यता संसार में आती है, वह ऐसी सत्ता है कि उसकी सत्ता की शून्यता ही प्रश्नचिह्न बन जाती है। जिस सत्ता के द्वारा शून्यता संसार में आती है, वह स्वयं अपनी शून्यता ही होनी चाहिए। इससे हमारा तात्पर्य किसी विनाशकारी क्रिया से नहीं है, जिसके लिए सत्ता में आधार की आवश्यकता होगी, बल्कि उस सत्ता के एक तात्विक गुण से है जिसकी आवश्यकता है। अब यह जानना बाकी है कि सत्ता के किस सूक्ष्म, उत्कृष्ट क्षेत्र में हम उस सत्ता से मिलेंगे जो स्वयं अपनी शून्यता है।
जिस आचरण ने हमें प्रारंभिक बिंदु बनाया, उसकी अधिक विस्तृत जाँच से हमारी जाँच में सहायता मिलेगी। हमें प्रश्न पर लौटना होगा। जैसा कि हमने देखा है, प्रत्येक प्रश्न में मूलतः नकारात्मक उत्तर की संभावना निहित होती

हैं जैसा कि संसार में संलग्न मनुष्य को दिखाई देता है। संसार में मनुष्य के वे संबंध, जिन्हें नकारात्मकताएँ दर्शाती हैं, अनुभवजन्य गतिविधि द्वारा प्रकट होने वाले अनुभवजन्य संबंधों से भिन्न हैं। हम अब उन साधनिक संबंधों से नहीं निपट रहे हैं जिनके द्वारा, हाइडेगर के अनुसार, संसार में वस्तुएँ स्वयं को "मानव वास्तविकता" के समक्ष प्रकट करती हैं। प्रत्येक नकारात्मकता इस साधनिक संबंध की आवश्यक शर्तों में से एक के रूप में प्रकट होती है। हमारे चारों ओर समग्र अस्तित्व को व्यवस्थित करने के लिए, स्वयं को ऐसे विभेदित समूहों में विभाजित करने के लिए जो एक दूसरे से संबंधित हों और जिनका उपयोग किया जा सके, यह आवश्यक है कि निषेध अन्य वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी श्रेणी के आधार के रूप में उभरे जो वस्तुओं में अस्तित्व के विशाल समूहों की व्यवस्था और पुनर्वितरण पर प्रभुत्व रखती है। इस प्रकार, मनुष्य का उस अस्तित्व के बीच उदय जो उसे "आश्रित" करता है, एक संसार की खोज का कारण बनता है। लेकिन इस उदय का मूल और मौलिक क्षण निषेध है। इस प्रकार हम इस अध्ययन के पहले लक्ष्य तक पहुँच गए हैं। मनुष्य वह अस्तित्व है जिसके माध्यम से शून्यता संसार में आती है। लेकिन यह प्रश्न तुरंत एक और प्रश्न को जन्म देता है: मनुष्य को अपने अस्तित्व में क्या होना चाहिए ताकि उसके माध्यम से शून्यता अस्तित्व में आ सके?
अस्तित्व केवल अस्तित्व को ही उत्पन्न कर सकता है, और यदि मनुष्य इस सृजन प्रक्रिया में समाहित है, तो उससे केवल अस्तित्व ही निकलेगा। यदि हम यह मान लें कि मनुष्य इस प्रक्रिया पर प्रश्न उठाने में सक्षम है—अर्थात्, इसे प्रश्न के दायरे में लाने में—तो उसे इसे समग्र रूप में देखने में सक्षम होना चाहिए। उसे स्वयं को अस्तित्व से बाहर रखने में सक्षम होना चाहिए और उसी प्रकार अस्तित्व की संरचना को कमजोर करना चाहिए। फिर भी, “मानवीय वास्तविकता” के लिए अपने समक्ष स्थापित अस्तित्व के समूह को अस्थायी रूप से भी नष्ट करना संभव नहीं है। मनुष्य का अस्तित्व से संबंध यह है कि वह उसे रूपांतरित कर सकता है। मनुष्य द्वारा किसी विशिष्ट अस्तित्व को परिक्रमण से बाहर करना, स्वयं को उस अस्तित्व के परिक्रमण से बाहर करना है। इस स्थिति में वह उसके अधीन नहीं है; वह उसकी पहुँच से बाहर है; वह उस पर क्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि वह शून्यता से परे चला गया है। स्टोइक दर्शन का अनुसरण करते हुए डेसकार्टेस ने मानवीय वास्तविकता की उस संभावना को एक नाम दिया है जिसके द्वारा वह एक शून्यता को गुप्त रख सकती है जो उसे अलग-थलग कर देती है—यह स्वतंत्रता है। लेकिन यहाँ स्वतंत्रता केवल एक नाम है। यदि हम इस प्रश्न की गहराई में जाना चाहते हैं, तो हमें इस उत्तर से संतुष्ट नहीं होना चाहिए और हमें अब यह पूछना चाहिए कि यदि मानव स्वतंत्रता के माध्यम से ही संसार में शून्यता आती है, तो मानव स्वतंत्रता का क्या अर्थ है?
स्वतंत्रता की समस्या को उसके संपूर्ण रूप में समझना अभी संभव नहीं है। वास्तव में, अब तक हमने जो कदम उठाए हैं, वे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि स्वतंत्रता मानव आत्मा की ऐसी क्षमता नहीं है जिसे अलग से देखा और वर्णित

किसी अनुपस्थित व्यक्ति का कमरा, वे पुस्तकें जिनके पन्ने उसने पलटे थे, वे वस्तुएँ जिन्हें उसने छुआ था, अपने आप में केवल पुस्तकें और वस्तुएँ हैं; अर्थात् पूर्ण वास्तविकताएँ। उसके छोड़े गए निशानों को उसके निशान के रूप में तभी समझा जा सकता है जब उसे पहले से ही अनुपस्थित मान लिया गया हो। बार-बार पढ़े गए पन्नों वाली, मुड़ी-तुड़ी किताब अपने आप में वह किताब नहीं है जिसके पन्ने पियरे ने पलटे हों, या जिसे वह अब नहीं पलटता हो। यदि हम इसे अपनी अनुभूति की वर्तमान, पारलौकिक प्रेरणा या यहाँ तक कि मेरी इंद्रिय संवेदनाओं द्वारा नियंत्रित संश्लेषित प्रवाह के रूप में देखें, तो यह केवल मुड़े हुए, घिसे हुए पन्नों वाली एक पुस्तक है; यह केवल स्वयं को या वर्तमान वस्तुओं को, इसे रोशन करने वाले दीपक को, इसे रखने वाली मेज को संदर्भित कर सकती है। प्लेटो ने फ़ेडो में जिस प्रकार निकटता द्वारा संबंध स्थापित किया है, वहाँ वह अनुपस्थित व्यक्ति की छवि को वीणा या सितार की अनुभूति के हाशिये पर प्रकट करता है जिसे उसने छुआ है, वह व्यर्थ होगा। यदि हम इस छवि को अपने आप में और शास्त्रीय सिद्धांतों की भावना से देखें, तो यह एक निश्चित पूर्णता है; यह एक ठोस और सकारात्मक मानसिक तथ्य है। इसलिए हमें अनिवार्य रूप से इस पर दोहरा नकारात्मक निर्णय देना होगा: व्यक्तिपरक रूप से, यह दर्शाना कि छवि एक अनुभूति नहीं है; वस्तुनिष्ठ रूप से, यह अस्वीकार करना कि जिस पियरे की छवि मैं बना रहा हूँ, वह इस समय यहाँ मौजूद है।
यह वास्तविक छवि की विशेषताओं की प्रसिद्ध समस्या है, जिसने टैने से लेकर स्पायर तक कई मनोवैज्ञानिकों को चिंतित किया है। हम देखते हैं कि साहचर्य इस समस्या का समाधान नहीं करता; यह इसे चिंतन के स्तर पर धकेल देता है। लेकिन हर तरह से यह एक निषेध की मांग करता है; यानी, कम से कम, व्यक्तिपरक घटना के रूप में समझी गई छवि के संबंध में चेतना का एक पूर्णतः निरस्त्रीकरण, ताकि इसे केवल एक व्यक्तिपरक घटना के रूप में ही स्थापित किया जा सके।
मैंने पहले भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि यदि हम छवि को पहले एक पुनर्जीवित बोध के रूप में मानते हैं, तो बाद में इसे वास्तविक बोधों से अलग करना पूरी तरह असंभव है। छवि की संरचना में ही एक शून्यवाद का सिद्धांत समाहित होता है। यह स्वयं को छवि के रूप में स्थापित करती है, जबकि अपने विषय को कहीं और विद्यमान या गैर-अस्तित्वमान मानती है। इसमें दोहरा निषेध निहित है; पहला, यह संसार का शून्यवाद है (क्योंकि संसार कल्पित वस्तु को बोध की वास्तविक वस्तु के रूप में प्रस्तुत नहीं करता), दूसरा, छवि के विषय का शून्यवाद (इसे अवास्तविक माना जाता है), और अंत में, इसी प्रकार यह स्वयं का शून्यवाद है (क्योंकि यह एक ठोस, पूर्ण मानसिक प्रक्रिया नहीं है)। कमरे में पियरे की अनुपस्थिति को मैं कैसे समझता हूँ, यह समझाने के लिए हुसर्ल के उन प्रसिद्ध "खोखले इरादों" का उल्लेख करना व्यर्थ होगा, जो बोध के एक बड़े हिस्से का निर्माण करते हैं। विभिन्न प्रत्यक्ष इरादों में, वास्तव में, प्रेरणा के संबंध होते हैं (परन्तु प्रेरणा कारण नहीं है), और इन इरादों में से कुछ पूर्ण होते हैं (अर्थात,

अपने लक्ष्य से परिपूर्ण) और कुछ खाली। परन्तु चूंकि खाली इरादों को भरने वाला पदार्थ अस्तित्वहीन होता है, इसलिए यह उनकी संरचना में उन्हें प्रेरित करने वाला कारक नहीं हो सकता। और चूँकि अन्य इरादे पूर्ण होते हैं, इसलिए वे खाली इरादों को प्रेरित नहीं कर सकते, क्योंकि खाली इरादे स्वयं खाली होते हैं। इसके अतिरिक्त, ये इरादे मानसिक प्रकृति के होते हैं और इन्हें भौतिकता के रूप में देखना त्रुटिपूर्ण होगा; अर्थात्, ऐसे प्राप्तकर्ता के रूप में जिन्हें पहले दिया जाएगा, जो परिस्थितियों के अनुसार खाली या भरे जा सकते हैं, और जो स्वभावतः अपनी खाली या भरी हुई अवस्था के प्रति उदासीन होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हुसर्ल भौतिकवादी भ्रम से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए हैं। खाली होने के लिए, एक इरादे को स्वयं को खाली और ठीक उसी पदार्थ से खाली होना चाहिए जिसका वह लक्ष्य रखता है। एक खाली इरादा स्वयं को ठीक उसी हद तक खाली बनाता है जिस हद तक वह अपने पदार्थ को अस्तित्वहीन या अनुपस्थित मानता है। संक्षेप में, एक खोखला इरादा निषेध की एक चेतना है जो स्वयं को उस वस्तु की ओर ले जाती है जिसे वह अनुपस्थित या अस्तित्वहीन मानती है।
अतः हम इसकी जो भी व्याख्या करें, पियरे की अनुपस्थिति को स्थापित या साकार करने के लिए एक नकारात्मक क्षण की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा पूर्व निर्धारित सभी बातों के अभाव में चेतना स्वयं को निषेध के रूप में स्थापित करती है। यदि कमरे के बारे में मेरी धारणाओं के संदर्भ में, मैं उस पूर्व निवासी की कल्पना करता हूँ जो अब कमरे में नहीं है, तो मुझे अनिवार्य रूप से एक विचार क्रिया उत्पन्न करनी पड़ती है जिसे कोई पूर्व अवस्था निर्धारित या प्रेरित नहीं कर सकती, संक्षेप में, अपने आप में अस्तित्व से एक विच्छेद स्थापित करना पड़ता है। और जहाँ तक मैं लगातार अस्तित्वों को अलग करने और निर्धारित करने के लिए - अर्थात्, उनके बारे में सोचने के लिए - नकारात्मकता का उपयोग करता हूँ, मेरी "चेतना की अवस्थाओं" का क्रम कारण से प्रभाव का एक निरंतर पृथक्करण है, क्योंकि प्रत्येक शून्यीकरण प्रक्रिया का स्रोत केवल स्वयं से ही प्राप्त होता है। चूंकि मेरी वर्तमान अवस्था मेरी पूर्व अवस्था का विस्तार होगी, इसलिए निषेध के प्रवेश का हर द्वार पूरी तरह से अवरुद्ध हो जाएगा। शून्यीकरण की प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया तात्कालिक मानसिक अतीत और वर्तमान के बीच एक विखंडन का संकेत देती है। यह विभाजन असल में शून्यता है। कम से कम, कोई कहेगा, शून्यीकरण प्रक्रियाओं के बीच क्रमिक जुड़ाव की संभावना बनी रहती है। पियरे की अनुपस्थिति की मेरी स्थापना, उसे न देख पाने के मेरे अफसोस का कारण हो सकती है; आपने शून्यीकरण के नियतिवाद की संभावना को खारिज नहीं किया है। लेकिन इस तथ्य के अलावा कि श्रृंखला का मूल शून्यीकरण अनिवार्य रूप से पिछली सकारात्मक प्रक्रियाओं से अलग होना चाहिए, शून्यता द्वारा शून्यता की प्रेरणा का क्या अर्थ हो सकता है? एक सत्ता वास्तव में स्वयं को निरंतर शून्य कर सकती है, लेकिन जिस हद तक वह स्वयं को शून्य करती है, वह किसी अन्य घटना, यहाँ तक कि दूसरे शून्यीकरण की उत्पत्ति होने से वंचित हो जाती है।

क्षण बाद ही वह पीड़ा का अनुभव करेगा, जब वह घबराकर अपने हाथों को मलते हुए (उस क्रिया के प्रति एक प्रतीकात्मक प्रतिक्रिया जो थोपी गई है लेकिन अभी भी पूरी तरह से अनिश्चित है) स्वयं से कहेगा: “मैं क्या करूँ? मैं क्या करूँ?” इस अर्थ में भय और पीड़ा एक दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि भय अलौकिक की अविवेकी अनुभूति है और पीड़ा स्वयं की चिंतनशील अनुभूति है; एक दूसरे के विनाश से उत्पन्न होती है। मैंने जिस उदाहरण का अभी उल्लेख किया है, उसमें सामान्य प्रक्रिया एक से दूसरे में निरंतर संक्रमण है। लेकिन ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जहाँ पीड़ा शुद्ध रूप में प्रकट होती है; अर्थात्, बिना किसी भय के, न तो उससे पहले और न ही उसके बाद। उदाहरण के लिए, यदि मुझे एक नए सम्मान के साथ पदोन्नत किया गया है और एक नाजुक और प्रशंसनीय मिशन सौंपा गया है, तो मुझे इस विचार से पीड़ा हो सकती है कि शायद मैं इसे पूरा करने में सक्षम न होऊं, फिर भी मुझे अपनी संभावित विफलता के परिणामों से जरा भी डर नहीं होगा।
मैंने अभी जो विभिन्न उदाहरण दिए हैं, उनमें पीड़ा का क्या अर्थ है? आइए, चक्कर आने के उदाहरण पर फिर से विचार करें। चक्कर आना भय के रूप में प्रकट होता है; मैं एक संकरे रास्ते पर हूँ—बिना रेलिंग के—जो एक गहरी खाई की ओर जाता है। खाई मुझे ऐसी प्रतीत होती है जिससे बचना चाहिए; यह मृत्यु के खतरे का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही, मैं सार्वभौमिक नियतिवाद से उत्पन्न होने वाले कुछ कारणों की कल्पना करता हूँ, जो मृत्यु के उस खतरे को वास्तविकता में बदल सकते हैं; मैं एक पत्थर पर फिसलकर खाई में गिर सकता हूँ; रास्ते की धंसती हुई मिट्टी मेरे कदमों के नीचे ढह सकती है। इन विभिन्न आशंकाओं के माध्यम से, मैं स्वयं को एक वस्तु के रूप में पाता हूँ; मैं इन संभावनाओं के संबंध में निष्क्रिय हूँ; ये मुझ तक बाहर से आती हैं; क्योंकि मैं भी संसार में एक वस्तु हूँ, गुरुत्वाकर्षण के अधीन, इसलिए ये मेरी संभावनाएं हैं। इस क्षण भय प्रकट होता है, जो इस परिस्थिति में स्वयं को एक नाशवान पारलौकिक सत्ता के रूप में, पारलौकिक सत्ताओं के बीच, एक ऐसी वस्तु के रूप में देखने का भय है जिसमें उसके भविष्य के लुप्त होने का कोई स्रोत निहित नहीं है। मेरी प्रतिक्रिया चिंतनशील होगी; मैं सड़क के पत्थरों पर ध्यान दूंगा; मैं यथासंभव पथ के किनारे से दूर रहूंगा। मैं स्वयं को पूरी शक्ति से इस खतरनाक स्थिति को दूर धकेलते हुए महसूस करता हूं, और अपने सामने भविष्य के कुछ ऐसे आचरणों की कल्पना करता हूं जो संसार के खतरों को मुझसे दूर रखने के लिए नियत हैं। ये आचरण मेरी संभावनाएं हैं। मैं भय से इस तथ्य से बच निकलता हूं कि मैं स्वयं को एक ऐसे तल पर स्थापित कर रहा हूं जहां मेरी अपनी संभावनाएं पारलौकिक संभावनाओं का स्थान ले लेती हैं, जहां मानवीय क्रिया का कोई स्थान नहीं है।
लेकिन ये व्यवहार, ठीक इसलिए क्योंकि ये मेरी संभावनाएं हैं, मुझे किसी बाहरी कारण से निर्धारित नहीं लगते। न केवल यह निश्चित नहीं है कि वे प्रभावी होंगे; विशेष रूप से यह निश्चित नहीं है कि उन्हें अपनाया जाएगा, क्योंकि उनका अस्तित्व स्वयं में पर्याप्त नहीं है। हम बर्कले के कथन को थोड़ा बदलकर कह सकते हैं कि उनका "अस्तित्व एक निरंतर अस्तित्व है" और

उनके "अस्तित्व की संभावना केवल एक 'निरंतर होने की अपेक्षा' है।" इस तथ्य के कारण, उनकी संभावना के लिए नकारात्मक व्यवहार (सड़क पर पत्थरों पर ध्यान न देना, भागना, किसी और चीज़ के बारे में सोचना) और विपरीत व्यवहार (खुद को खाई में फेंक देना) की संभावना एक आवश्यक शर्त है। जिस संभावना को मैं अपनी मूर्त संभावना बनाता हूँ, वह केवल उस स्थिति द्वारा अनुमत तार्किक संभावनाओं की समग्रता के आधार पर स्वयं को ऊपर उठाकर ही मेरी संभावना के रूप में प्रकट हो सकती है। लेकिन इन अस्वीकृत संभावनाओं का बदले में उनके "निरंतर अस्तित्व" के अलावा कोई अन्य अस्तित्व नहीं है; मैं ही उनके अस्तित्व को बनाए रखता हूँ, और इसके विपरीत, उनका वर्तमान अस्तित्वहीन होना एक ऐसी स्थिति है जिसे बनाए नहीं रखा जाना चाहिए। कोई भी बाह्य कारण उन्हें नष्ट नहीं कर सकता। मैं ही उनके अस्तित्वहीन होने का स्थायी स्रोत हूँ, मैं स्वयं उनमें संलग्न रहता हूँ; अपनी संभावना को प्रकट करने के लिए, मैं अन्य संभावनाओं को इस प्रकार स्थापित करता हूँ कि वे समाप्त हो जाएँ। यदि मैं इन संभावनाओं के साथ अपने संबंधों में स्वयं को एक ऐसे कारण के रूप में समझ पाता जो उनके प्रभावों को उत्पन्न करता है, तो इससे व्यथा उत्पन्न नहीं होती। इस स्थिति में, मेरी संभावना के रूप में परिभाषित प्रभाव पूर्णतः निर्धारित होता। लेकिन तब वह संभव नहीं रह जाता; वह मात्र "होने ही वाला" बन जाता। यदि मैं व्यथा और बेचैनी से बचना चाहता हूँ, तो यह पर्याप्त होगा यदि मैं उन उद्देश्यों (आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति, पूर्व भय आदि) पर विचार करूँ, जो मुझे परिकल्पित स्थिति को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करते हैं, और जो मेरी पूर्व गतिविधि को उसी प्रकार निर्धारित करते हैं जैसे किसी निश्चित बिंदु पर किसी दिए गए द्रव्यमान की उपस्थिति अन्य द्रव्यमानों द्वारा अपनाए गए मार्गों को निर्धारित करती है; दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक होगा कि मैं अपने भीतर एक कठोर मनोवैज्ञानिक नियतिवाद को समझूँ। लेकिन मैं व्यथित हूँ क्योंकि मेरी ओर से कोई भी आचरण केवल संभव है, और इसका अर्थ यह है कि उस स्थिति से दूर धकेलने के लिए प्रेरणाओं की समग्रता का निर्माण करते हुए, मैं उसी क्षण इन प्रेरणाओं को पर्याप्त रूप से प्रभावी नहीं समझता। जिस क्षण मैं अपने अस्तित्व को खाई के भय के रूप में समझता हूँ, उसी क्षण मैं उस भय को अपने संभावित आचरण के संबंध में निर्धारक नहीं मानता। एक अर्थ में वह भय विवेकपूर्ण आचरण की मांग करता है, और यह स्वयं उस आचरण की एक पूर्व-रूपरेखा है: दूसरे अर्थ में, यह उस आचरण के अंतिम विकास को केवल संभव के रूप में प्रस्तुत करता है, क्योंकि मैं इसे इन अंतिम विकासों के कारण के रूप में नहीं बल्कि आवश्यकता, अपील आदि के रूप में समझता हूँ।
जैसा कि हमने देखा है, अस्तित्व की चेतना ही चेतना का अस्तित्व है। यहाँ उस चिंतन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता जो मैं घटना के बाद कर सकता हूँ, या उस भय का जो पहले से ही स्थापित हो चुका है; भय का अस्तित्व ही स्वयं को उस आचरण का “कारण न होने” के रूप में प्रकट करना है जिसकी वह अपेक्षा करता है। संक्षेप में, भय से बचने के लिए, जो मुझे एक निश्चित रूप से निर्धारित पारलौकिक भविष्य दिखाता है, मैं चिंतन का सहारा लेता हूँ, परन्तु चिंतन भी

जिस उदाहरण का हमने अभी विश्लेषण किया है, उससे हमें वह चीज़ दिखाई दी जिसे हम "भविष्य के प्रति पीड़ा" कह सकते हैं। एक और प्रकार की पीड़ा भी होती है: अतीत के प्रति पीड़ा। यह उस जुआरी की पीड़ा है जिसने स्वेच्छा से और ईमानदारी से जुआ न खेलने का निश्चय किया है, लेकिन जब वह जुए की मेज़ के पास पहुँचता है, तो अचानक उसके सारे संकल्प चकनाचूर हो जाते हैं। इस घटना को अक्सर इस प्रकार वर्णित किया गया है मानो जुए की मेज़ को देखते ही हमारे भीतर एक ऐसी प्रवृत्ति जागृत हो जाती है जो हमारे पूर्व संकल्प से टकराती है और अंततः हमें इसके बावजूद जुआ खेलने के लिए प्रेरित करती है। यह वर्णन भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया गया है और मन में विरोधी शक्तियों को भर देता है (उदाहरण के लिए, नैतिकतावादियों का प्रसिद्ध "तर्क और भावनाओं का संघर्ष"), लेकिन यह तथ्यों को स्पष्ट नहीं करता। वास्तव में—दोस्तोवस्की के पत्र इसकी गवाही देते हैं—हमारे भीतर ऐसा कुछ भी नहीं है जो किसी आंतरिक वाद-विवाद जैसा हो, मानो हमें निर्णय लेने से पहले उद्देश्यों और प्रेरणाओं का मूल्यांकन करना पड़ता हो। “अब और नहीं खेलूंगा” का पूर्व संकल्प हमेशा मौजूद रहता है, और अधिकतर मामलों में जुआरी जुए की मेज के सामने आकर उसकी ओर ऐसे मुड़ता है मानो उससे मदद मांग रहा हो; क्योंकि वह खेलना नहीं चाहता, या यूं कहें कि उसने कल ही यह संकल्प लिया था, और अब भी वह यही सोचता है कि वह अब और नहीं खेलना चाहता; वह इस संकल्प की प्रभावशीलता में विश्वास रखता है। लेकिन उस क्षण वह पीड़ा में ठीक उसी बात को समझता है जो पिछले संकल्प की पूर्ण निरर्थकता है। यह संकल्प निस्संदेह मौजूद है, लेकिन स्थिर, अप्रभावी, इस तथ्य से ही दब गया है कि मैं इसके प्रति सचेत हूं। संकल्प अभी भी मैं ही हूं, इस हद तक कि मैं समय के निरंतर प्रवाह में स्वयं के साथ अपनी पहचान को महसूस करता हूं, लेकिन यह अब मैं नहीं हूं—क्योंकि यह मेरी चेतना का एक विषय बन गया है। मैं इसके अधीन नहीं हूं, यह उस कार्य में विफल हो गया है जो मैंने इसे सौंपा था। संकल्प अभी भी मौजूद है, मैं अस्तित्वहीनता की अवस्था में वही हूं। इस क्षण जुआरी फिर से नियतिवाद में स्थायी दरार को समझता है; शून्यता ही उसे स्वयं से अलग करती है; काश मैं अब जुआ न खेल पाता; कल तो मुझे स्थिति का एक कृत्रिम भय भी सता रहा था (बर्बादी का खतरा, रिश्तेदारों की निराशा) जो मुझे खेलने से रोक रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था मानो मैंने जुए और अपने बीच एक वास्तविक दीवार खड़ी कर दी हो, और अब अचानक मुझे एहसास हो रहा है कि स्थिति के बारे में मेरी पिछली समझ एक विचार की स्मृति मात्र है, एक भावना की स्मृति है। इसे फिर से अपने काम में लाने के लिए, मुझे इसे शून्य से और स्वतंत्र रूप से फिर से बनाना होगा। जुआ न खेलना मेरी संभावनाओं में से एक है, जैसे जुआ खेलना भी एक है, न इससे अधिक न इससे कम। मुझे आर्थिक बर्बादी या परिवार को निराश करने आदि के भय को फिर से खोजना होगा, मुझे इसे एक अनुभव किए गए भय के रूप में फिर से सृजित करना होगा। यह मेरे पीछे एक निराकार प्रेत की तरह खड़ा है। इसे साकार रूप देने की जिम्मेदारी सिर्फ मुझ पर है। मैं प्रलोभन के सामने अकेला और नंगा हूँ, जैसा कि मैं कल था। धैर्यपूर्वक अवरोध और दीवारें खड़ी करने के बाद, संकल्प के जादुई घेरे में खुद को बंद करने के

अपने आप में अस्तित्व में होने के रूप में ग्रहण करती है। यहीं पर व्यथा स्वयं की अनुभूति के रूप में प्रकट होती है क्योंकि यह निरंतर अस्तित्व से विरक्त रहती है; या बेहतर कहें तो, क्योंकि यह स्वयं को अस्तित्व में लाती है। क्योंकि हम कभी भी किसी अनुभव को उस प्रकृति के सजीव परिणाम के रूप में नहीं समझ सकते जो हमारी है। हमारी चेतना का अतिप्रवाह धीरे-धीरे उस प्रकृति का निर्माण करता है, लेकिन वह हमेशा हमारे पीछे बनी रहती है और हमारे भीतर हमारी पूर्वव्यापी समझ के स्थायी विषय के रूप में निवास करती है। यह प्रकृति एक मांग है, सहारा नहीं, इसलिए इसे पीड़ा के साथ समझा जाता है।
पीड़ा में स्वतंत्रता स्वयं से ही व्यथित हो जाती है, क्योंकि यह किसी भी चीज से प्रेरित या बंधी नहीं होती। कोई कहेगा, स्वतंत्रता को अभी-अभी मनुष्य के एक स्थायी स्वरूप के रूप में परिभाषित किया गया है; यदि पीड़ा इसे प्रकट करती है, तो पीड़ा मेरी भावनाओं की एक स्थायी अवस्था होनी चाहिए। परन्तु, इसके विपरीत, यह पूरी तरह से अपवाद है। हम पीड़ा की इस दुर्लभ घटना को कैसे समझा सकते हैं?
सबसे पहले हमें यह समझना चाहिए कि हमारे जीवन की सबसे आम परिस्थितियाँ, जिनमें हम अपनी संभावनाओं को सक्रिय रूप से साकार करके समझते हैं, हमें पीड़ा के रूप में प्रकट नहीं होतीं, क्योंकि उनकी संरचना ही पीड़ापूर्ण समझ को नकारती है। वास्तव में पीड़ा किसी संभावना को अपनी संभावना के रूप में पहचानना है; अर्थात्, यह तब उत्पन्न होती है जब चेतना स्वयं को शून्यता द्वारा अपने सार से कटा हुआ या अपनी स्वतंत्रता द्वारा भविष्य से अलग हुआ पाती है। इसका अर्थ है कि एक निरर्थक शून्यता मुझसे सभी बहाने छीन लेती है और साथ ही, जिसे मैं अपने भविष्य के अस्तित्व के रूप में देखता हूँ, वह हमेशा निरर्थक हो जाता है और केवल एक संभावना बनकर रह जाता है, क्योंकि मैं जो भविष्य हूँ वह मेरी पहुँच से बाहर रहता है। लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन विभिन्न उदाहरणों में हमारा संबंध एक लौकिक रूप से है जहाँ मैं भविष्य में स्वयं की प्रतीक्षा करता हूँ, जहाँ मैं "उस घंटे, उस दिन या उस महीने के बाद स्वयं से एक मुलाकात तय करता हूँ।" पीड़ा उस मुलाकात में स्वयं को न पाने का भय है, वहाँ जाने की इच्छा भी न होने का भय है। लेकिन मैं स्वयं को ऐसे कार्यों में भी संलग्न पाता हूँ जो मेरी संभावनाओं को उसी क्षण प्रकट करते हैं जब वे साकार होती हैं। इस सिगरेट को जलाते हुए मैं अपनी ठोस संभावना, या आप चाहें तो धूम्रपान की अपनी इच्छा को जान पाता हूँ। इस कागज और कलम को अपनी ओर आकर्षित करने के कार्य से ही मैं स्वयं को इस पुस्तक पर कार्य करने की सबसे तात्कालिक संभावना प्रदान करता हूँ; मैं वहीं संलग्न होता हूँ, और मैं इसे उसी क्षण खोजता हूँ जब मैं स्वयं को इसमें पूरी तरह से झोंक देता हूँ। उस क्षण, निश्चित रूप से, यह मेरी संभावना बनी रहती है, क्योंकि मैं हर क्षण अपने काम से अपना ध्यान हटा सकता हूँ, नोटबुक को दूर धकेल सकता हूँ, अपने फाउंटेन पेन पर ढक्कन लगा सकता हूँ। लेकिन क्रिया को बाधित करने की यह संभावना दूसरे स्तर पर इस तथ्य से अस्वीकृत हो जाती है कि जो क्रिया मेरे कार्य के माध्यम से स्वयं को प्रकट

करती है, वह एक पारलौकिक, अपेक्षाकृत स्वतंत्र रूप में स्थिर होने लगती है। क्रियाशील मनुष्य की चेतना अचिंतनशील चेतना है। यह किसी चीज की चेतना है, और जो पारलौकिक इस चेतना के समक्ष स्वयं को प्रकट करता है, वह एक विशेष प्रकृति का है; यह संसार में एक अनिवार्यता की संरचना है, और संसार इसके साथ ही जटिल क्रियाविधियों को प्रकट करता है। जिन अक्षरों को मैं लिख रहा हूँ, उन्हें लिखने की प्रक्रिया में, अभी तक पूर्ण न हुआ पूरा वाक्य, एक निष्क्रिय अनिवार्यता के रूप में प्रकट होता है जिसे लिखा जाना है। यह अक्षरों का वही अर्थ है जिसे मैं आकार दे रहा हूँ, और इसकी अपील पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता, क्योंकि मैं शब्दों को वाक्य की ओर अग्रसर किए बिना नहीं लिख सकता, और क्योंकि मैं इसे उन शब्दों के अर्थ के लिए आवश्यक शर्त के रूप में पाता हूँ जिन्हें मैं लिख रहा हूँ। साथ ही, इस क्रिया के ढांचे में ही उपकरणों का एक सांकेतिक जटिल समूह प्रकट होता है और स्वयं को व्यवस्थित करता है (कलम-स्याही-कागज-रेखाएँ-हाशिया, आदि), एक ऐसा जटिल समूह जिसे स्वयं में समझा नहीं जा सकता, लेकिन जो उस पारलौकिकता के हृदय में उत्पन्न होता है जो मुझे एक निष्क्रिय अनिवार्यता के रूप में लिखे जाने वाले वाक्य को प्रकट करता है। इस प्रकार, रोजमर्रा के कार्यों की अर्ध-सामान्य प्रकृति में, मैं संलग्न हूं, मैंने जोखिम उठाया है, और मैं उन्हें आवश्यकताओं, तात्कालिकताओं, साधनों के रूप में साकार करके और उन्हें साकार करने की क्रिया में ही अपनी संभावनाओं की खोज करता हूं।
निःसंदेह, इस प्रकार के प्रत्येक कार्य में, इस कार्य पर प्रश्न उठाने की संभावना बनी रहती है—यहाँ तक कि यह अधिक दूरगामी, अधिक आवश्यक उद्देश्यों से संबंधित है—इसके अंतिम अर्थों और मेरी मूलभूत संभावनाओं के संदर्भ में। उदाहरण के लिए, जो वाक्य मैं लिखता हूँ वह उन अक्षरों का अर्थ है जिन्हें मैं उकेरता हूँ, परन्तु जो संपूर्ण रचना मैं करना चाहता हूँ वह उस वाक्य का अर्थ है। और यह रचना एक ऐसी संभावना है जिसके संबंध में मैं व्यथा अनुभव कर सकता हूँ; यह वास्तव में मेरी संभावना है, और मुझे नहीं पता कि मैं इसे कल जारी रख पाऊँगा या नहीं; कल इसके संबंध में मेरी स्वतंत्रता अपनी विनाशकारी शक्ति का प्रयोग कर सकती है। परन्तु वह व्यथा रचना को मेरी संभावना के रूप में समझने को दर्शाती है। मुझे स्वयं को इसके ठीक सामने रखना होगा और इसके साथ अपने संबंध को समझना होगा। इसका अर्थ यह है कि मुझे इसके संदर्भ में केवल वस्तुनिष्ठ प्रश्न ही नहीं उठाने चाहिए जैसे, "क्या इस रचना को लिखना आवश्यक है?" इन सवालों के जवाब में मुझे व्यापक वस्तुनिष्ठ अर्थों की ओर ध्यान देना चाहिए, जैसे, "क्या इस समय इसे लिखना उचित है? क्या यह किसी अन्य ऐसी ही पुस्तक की पुनरावृति मात्र नहीं है? क्या इसकी विषयवस्तु पर्याप्त रुचिकर है? क्या इस पर पर्याप्त विचार किया गया है?" इत्यादि—ये सभी अर्थ सर्वोपरि रहते हैं और संसार में अनेक आवश्यकताओं के रूप में प्रकट होते हैं।
जिस पुस्तक को मैं लिख रहा हूँ, उससे संबंधित मेरी स्वतंत्रता में पीड़ा उत्पन्न होने के लिए, इस पुस्तक का मेरे साथ संबंध स्पष्ट होना आवश्यक है। एक ओर, मुझे अपने सार को उस रूप में खोजना होगा जो मैं रहा हूँ—मैं "इस

पुस्तक को लिखना चाहता था", मैंने इसकी कल्पना की, मुझे विश्वास था कि इसे लिखना रुचिकर होगा, और मैंने स्वयं को इस प्रकार निर्मित किया है कि इस तथ्य को ध्यान में रखे बिना मुझे समझना संभव नहीं है कि यह पुस्तक मेरी मूल संभावना रही है। दूसरी ओर, मुझे उस शून्यता को खोजना होगा जो मेरी स्वतंत्रता को इस सार से अलग करती है: मैं "लिखना चाहता था", लेकिन कुछ भी नहीं, यहाँ तक कि जो मैं रहा हूँ, वह भी मुझे इसे लिखने के लिए विवश नहीं कर सकता। अंत में, मुझे उस शून्यता को खोजना होगा जो मुझे उस रूप से अलग करती है जो मैं भविष्य में बनूँगा: मैं पाता हूँ कि पुस्तक को त्यागने की स्थायी संभावना ही इसे लिखने की संभावना की मूल शर्त है और मेरी स्वतंत्रता का मूल अर्थ है। यह आवश्यक है कि पुस्तक को अपनी संभावना के रूप में निर्मित करते समय, मैं अपनी स्वतंत्रता को वर्तमान और भविष्य में अपने अस्तित्व के संभावित विनाशक के रूप में समझूँ। अर्थात्, मुझे स्वयं को चिंतन के धरातल पर स्थापित करना होगा। जब तक मैं कर्म के धरातल पर रहता हूँ, तब तक लिखी जाने वाली पुस्तक केवल उस क्रिया का दूरस्थ और पूर्वकल्पित अर्थ है जो मेरे लिए मेरी संभावनाओं को प्रकट करती है। पुस्तक केवल क्रिया का निहितार्थ है; इसे एक वस्तु बनाकर स्वयं के लिए स्थापित नहीं किया जाता; यह "प्रश्न नहीं उठाती"; इसे न तो आवश्यक माना जाता है और न ही आकस्मिक। यह केवल वह स्थायी, दूरस्थ अर्थ है जिसके संदर्भ में मैं वर्तमान में जो लिख रहा हूँ उसे समझ सकता हूँ, और इसलिए, इसे अस्तित्व के रूप में माना जाता है; अर्थात्, केवल पुस्तक को उस विद्यमान आधार के रूप में स्थापित करके जिस पर मेरा वर्तमान, विद्यमान वाक्य उभरता है, मैं अपने वाक्य को एक निश्चित अर्थ प्रदान कर सकता हूँ।
अब हर पल हम संसार में प्रवेश करते हैं और उसमें संलग्न हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि हम अपनी संभावनाओं को स्थापित करने से पहले ही कार्य करते हैं, और ये संभावनाएँ, जो साकार हो चुकी हैं या साकार होने की प्रक्रिया में हैं, ऐसे अर्थों को संदर्भित करती हैं जिनके लिए प्रश्न उठाने हेतु विशेष कार्यों की आवश्यकता होती है। सुबह बजने वाला अलार्म मेरे काम पर जाने की संभावना को दर्शाता है, जो मेरी संभावना है। लेकिन अलार्म की पुकार को एक पुकार के रूप में समझना ही उठना है। इसलिए उठने की क्रिया ही सुकून देने वाली है, क्योंकि यह इस प्रश्न को टाल देती है, "क्या काम करना मेरी संभावना है?" परिणामस्वरूप, यह मुझे निष्क्रियता की संभावना, काम से इनकार करने की संभावना, और अंततः संसार को अस्वीकार करने की संभावना और मृत्यु की संभावना को समझने की स्थिति में नहीं डालती। संक्षेप में, जिस हद तक मैं बजने वाले अलार्म का अर्थ समझता हूँ, मैं उसकी पुकार पर पहले ही उठ चुका होता हूँ; यह समझ मुझे उस व्यथित अंतर्ज्ञान से बचाती है कि अलार्म घड़ी को उसकी आवश्यकता मैं ही देता हूँ—केवल मैं ही।
इसी प्रकार, जिसे हम रोजमर्रा की नैतिकता कह सकते हैं, उसमें नैतिक पीड़ा का अभाव है। नैतिक पीड़ा तब उत्पन्न होती है जब मैं मूल्यों के साथ अपने मूल संबंध पर विचार करता हूँ। वास्तव में मूल्य वे मांगें हैं जो एक आधार का दावा करती हैं। परन्तु यह आधार किसी भी प्रकार से अस्तित्व नहीं हो

सकता, क्योंकि प्रत्येक मूल्य जो अपने आदर्श स्वरूप को अपने अस्तित्व पर आधारित करता है, वह मूल्य ही नहीं रह जाता और मेरी इच्छा की पराकाष्ठा को साकार कर देता है। मूल्य अपना अस्तित्व अपनी आवश्यकता से प्राप्त करता है, न कि अपनी आवश्यकता को अपने अस्तित्व से। यह स्वयं को उस चिंतनशील अंतर्ज्ञान के अधीन नहीं करता जो इसे मूल्य के रूप में समझे और इस प्रकार मेरी स्वतंत्रता पर इसके अधिकार को छीन ले। इसके विपरीत, यह केवल एक सक्रिय स्वतंत्रता के समक्ष प्रकट हो सकता है जो इसे मूल्य के रूप में पहचान कर ही इसे अस्तित्व में लाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मेरी स्वतंत्रता मूल्यों का एकमात्र आधार है और कुछ भी, बिलकुल कुछ भी नहीं, मुझे इस या उस विशेष मूल्य, इस या उस विशेष मूल्य पैमाने को अपनाने का औचित्य सिद्ध नहीं करता। एक ऐसे अस्तित्व के रूप में जिसके द्वारा मूल्य विद्यमान हैं, मैं अनुचित हूँ। मेरी स्वतंत्रता मूल्यों का आधार होते हुए भी स्वयं आधारहीन होने पर व्यथित है। इसके अतिरिक्त यह पीड़ादायक है क्योंकि मूल्य, चूंकि वे मूलतः स्वतंत्रता से जुड़े होते हैं, स्वयं को प्रकट किए बिना साथ ही साथ "प्रश्न में डाले" नहीं जा सकते, क्योंकि मूल्यों के तराजू को पलटने की संभावना ही मेरी संभावना के रूप में पूरक रूप से प्रकट होती है। मूल्यों के समक्ष यह पीड़ा ही मूल्यों की आदर्शता की पहचान है।
हालांकि, सामान्यतः मूल्यों के प्रति मेरा दृष्टिकोण अत्यंत आश्वस्त करने वाला है। वास्तव में, मैं मूल्यों की दुनिया में ही लीन हूँ। मेरी स्वतंत्रता द्वारा पोषित मूल्यों की पीड़ादायक अनुभूति एक गौण और मध्यस्थ घटना है। तात्कालिक ही वह दुनिया है जिसमें तात्कालिकता व्याप्त है; और इस दुनिया में जहाँ मैं स्वयं को संलग्न करता हूँ, मेरे कर्म मूल्यों को तीतरों की तरह जन्म देते हैं। मेरे आक्रोश ने मुझे नकारात्मक मूल्य "नीचता" दिया है, मेरी प्रशंसा ने सकारात्मक मूल्य "महानता" दिया है। सबसे बढ़कर, असंख्य वर्जनाओं के प्रति मेरा पालन, जो वास्तविक है, मुझे इन वर्जनाओं को वास्तविकता के रूप में प्रकट करता है। वे बुर्जुआ जो स्वयं को "सम्मानित नागरिक" कहते हैं, नैतिक मूल्यों पर चिंतन करने के परिणामस्वरूप सम्मानित नहीं बनते। बल्कि, संसार में उनके उदय के क्षण से ही उन्हें व्यवहार के एक ऐसे प्रतिरूप में ढाल दिया जाता है जिसका अर्थ सम्माननीयता है। इस प्रकार सम्माननीयता अस्तित्व प्राप्त कर लेती है; इस पर प्रश्न नहीं उठाया जाता। मूल्य मेरे मार्ग में हजारों छोटी-छोटी वास्तविक मांगों के रूप में बोए जाते हैं, जैसे वे संकेत जो हमें घास पर न चलने का आदेश देते हैं।
इस प्रकार, जिसे हम तात्कालिक जगत कहेंगे, जो हमारी अचिंतित चेतना के समक्ष प्रकट होता है, उसमें हम पहले स्वयं को प्रकट नहीं करते, बल्कि बाद में उद्यमों में संलग्न हो जाते हैं। हमारा अस्तित्व तात्कालिक रूप से "स्थिति में" होता है; अर्थात्, यह उद्यमों में उत्पन्न होता है और स्वयं को सर्वप्रथम तभी जान पाता है जब यह उन उद्यमों में प्रतिबिंबित होता है। तब हम स्वयं को मांगों से भरे जगत में, "पूर्णता की प्रक्रिया में"

परियोजनाओं के केंद्र में पाते हैं। मैं लिख रहा हूँ। मैं सिगरेट पीने जा रहा हूँ। आज शाम मेरी पियरे से मुलाकात है। मुझे साइमन को उत्तर देना नहीं भूलना चाहिए। अब मुझे क्लाउड से सच्चाई छिपाने का कोई अधिकार नहीं है। वास्तविकता की ये सभी तुच्छ निष्क्रिय अपेक्षाएँ, ये सभी सामान्य, रोजमर्रा के मूल्य, स्वयं के एक मौलिक प्रक्षेपण से अपना अर्थ प्राप्त करते हैं जो दुनिया में स्वयं के मेरे चुनाव के रूप में खड़ा है। लेकिन सटीक रूप से कहें तो, स्वयं का यह प्रक्षेपण एक मौलिक संभावना की ओर, जो मूल्यों, अपीलों, अपेक्षाओं और सामान्यतः एक दुनिया के अस्तित्व का कारण बनता है, मुझे केवल दुनिया से परे ही मेरे उद्यमों के अर्थ और अमूर्त, तार्किक संकेत के रूप में दिखाई देता है। बाकी सब कुछ तो अलार्म घड़ियों, साइनबोर्डों, टैक्स फॉर्मों, पुलिसकर्मियों और पीड़ा से बचाव के अनगिनत उपायों के रूप में मौजूद है। लेकिन जैसे ही उद्यम मुझसे दूर हो जाता है, जैसे ही मुझे खुद से जोड़ा जाता है क्योंकि मुझे भविष्य में खुद का इंतजार करना है, तब मैं अचानक खुद को उस व्यक्ति के रूप में पाता हूँ जो अलार्म घड़ी को अर्थ देता है, जो साइनबोर्ड के जरिए खुद को फूलों की क्यारी या लॉन पर चलने से रोकता है, जिससे बॉस का आदेश अपनी तात्कालिकता उधार लेता है, जो अपनी लिखी किताब के हित का फैसला करता है, और अंततः जो मूल्यों को अस्तित्व में लाता है ताकि उनकी मांगों के अनुसार अपने कार्यों को निर्धारित कर सके। मैं अकेला और पीड़ा में डूबा हुआ उस अद्वितीय और मौलिक परियोजना का सामना करता हूँ जो मेरे अस्तित्व का निर्माण करती है; सभी अवरोध, सभी सुरक्षा उपाय ढह जाते हैं, मेरी स्वतंत्रता की चेतना से नष्ट हो जाते हैं। मेरे पास कोई मूल्य नहीं है और न ही मैं किसी मूल्य का सहारा ले सकता हूँ इस तथ्य के विरुद्ध कि मैं ही मूल्यों को अस्तित्व में बनाए रखता हूँ। कुछ भी मुझे खुद से नहीं बचा सकता, इस शून्यता के कारण जो मैं हूँ, मैं दुनिया से और अपने सार से कटा हुआ हूँ। मुझे दुनिया और अपने अस्तित्व का अर्थ समझना होगा; मैं इनके बारे में बिना किसी औचित्य या बहाने के निर्णय लेता हूँ।
इसलिए पीड़ा स्वयं में स्वतंत्रता की चिंतनशील अनुभूति है। इस अर्थ में यह मध्यस्थता है, क्योंकि यद्यपि यह स्वयं की तात्कालिक चेतना है, यह संसार के प्रलोभनों के निषेध से उत्पन्न होती है। यह उस क्षण प्रकट होती है जब मैं स्वयं को उस संसार से अलग करता हूँ जिसमें मैं संलग्न था—स्वयं को समझने के लिए एक ऐसी चेतना की आवश्यकता होती है जो अपने सार की पूर्व-समीक्षा और अपनी संभावनाओं का पूर्व-निर्णयात्मक बोध रखती है। पीड़ा उस गंभीर व्यक्ति के मन के विपरीत है जो मूल्यों को संसार के संदर्भ में समझता है और मूल्यों के आश्वस्त करने वाले, भौतिकवादी औचित्य में निवास करता है। गंभीर मनोदशा में मैं स्वयं को वस्तु के संदर्भ में परिभाषित करता हूँ, उन सभी कार्यों को पूर्व-सिद्ध रूप से असंभव मानकर दरकिनार कर देता हूँ जिनमें मैं उस क्षण संलग्न नहीं हूँ; मेरी स्वतंत्रता ने संसार को जो अर्थ दिया है, उसे मैं संसार से उत्पन्न और अपने दायित्वों के रूप में समझता हूँ। पीड़ा में मैं स्वयं को एक साथ पूर्णतः स्वतंत्र और संसार

चाहिए। दुर्भावना हमारी जांच का अगला विषय होगा। मनुष्य के प्रश्न करने में सक्षम होने के लिए, उसे स्वयं की शून्यता होने में सक्षम होना चाहिए; अर्थात्, वह अस्तित्व में गैर-अस्तित्व का मूल तभी हो सकता है जब उसका अस्तित्व—स्वयं में और स्वयं द्वारा—शून्यता से पंगु हो जाए। इस प्रकार, अतीत और भविष्य की पारलौकिकताएँ मानवीय वास्तविकता के क्षणिक अस्तित्व में प्रकट होती हैं। परन्तु दुर्भावना क्षणिक होती है। तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि चेतना पूर्व-चिंतनशील चिंतन की तात्कालिकता में होनी चाहिए—यदि मनुष्य दुर्भावना रखने में सक्षम है?
1 एक अमूर्त अवधारणा या विशुद्ध रूप से नाममात्र अस्तित्व वाली कोई चीज़—जैसे स्थान या समय। Tr.
2 परिचय वी. पी. सी. 2 सीडी. Eξxxiv लेफेब्रे द्वारा उद्धृत: मोर्सियो चॉइसिस।
3 लापोर्टे: ले प्रोब्लेम डे आई'एब्स्ट्रेक्शन, पी। 25 (प्रेस यूनिवर्सिटीज़, 1940)।
हेगेल द्वारा 1808 और 1811 के बीच लिखित तर्कशास्त्र पर ग्रंथ, जो नूर्नबर्ग के जिम्नेजियम में उनके पाठ्यक्रम के आधार के रूप में कार्य करता था।
5 हेगेल: P.c—E.988
हेगेल: ग्रेटर लॉजिक, अध्याय 1.
7 पी. सी. 2 संस्करण. ई. ξLxxxvii.
8 यह और भी अजीब है कि हेगेल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह बात नोट की थी कि "प्रत्येक निषेध एक निर्धारित निषेध है"; यानी, यह एक विषयवस्तु पर निर्भर करता है।
9 Ne … rien = “कुछ नहीं” इसके विपरीत ne … personne = “कोई नहीं,” जो समान रूप से मौलिक नकारात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। सार्त्र ने यहाँ सुविधापूर्वक अपने सत्तामीमांसा को विशुद्ध रूप से फ्रांसीसी वाक्यविन्यास की आवश्यकताओं पर आधारित किया है। Tr.
10 हाइडेगर: क्वेस्ट-से क्यू ला मेटाफिज़िक (अनुवाद: कोर्बिन, एन.आर.एफ., 1938)। अंग्रेज़ी में “मेटाफिज़िक्स क्या है?” अनुवाद: आर.एफ.सी. हल और एलन क्रिक। अस्तित्व और सत्ता से, संपादक: वर्नर ब्रॉक, हेनरी रेगनेरी। 1949।
हाइडेगर ने अब तक प्रसिद्ध अभिव्यक्ति "दास निट्स निच्टेट" या "कुछ नहीं कुछ नहीं" का प्रयोग किया है। मेरा मानना है कि "निहिलेट" सार्त्र के "निएंटिस" के अधिक निकट पर्यायवाची है, न कि "एनहिलेट" क्योंकि इस शब्द का मूल अर्थ "कुछ नहीं बनाना" है, न कि "नष्ट करना या समाप्त करना"। निच्टेट, निएंटिस और निहिलेट, ये तीनों ही अपने-अपने भाषाओं के शब्दकोशों में निराधार हैं।
हेगेल जिसे “तत्काल भिन्नता” कहते थे।
13 सार्त्र द्वारा गढ़ा गया एक शब्द जिसका अंग्रेजी में कोई समकक्ष नहीं है। Tr.
फ़्रेंच में est été का शाब्दिक अर्थ है "हो चुका है", जो सामान्य फ़्रेंच में उतना ही अर्थहीन है जितना कि अंग्रेज़ी में। मौरिस नैटनसन "है-था" का सुझाव देते हैं। (जीन-पॉल सार्त्र के सत्तामीमांसा की एक आलोचना। नेब्रास्का विश्वविद्यालय अध्ययन। मार्च 1951. पृ. 59।) मैं "बनाया गया है" को प्राथमिकता देता हूँ क्योंकि सार्त्र यहाँ être का प्रयोग सकर्मक क्रिया के रूप में कर रहे हैं, निष्क्रिय स्वर में, इस प्रकार यह सुझाव देते हैं कि शून्यता को अस्तित्व से जुड़ी एक क्रिया के अधीन किया गया है। मेरा मानना है कि इस अभिव्यक्ति वाले अन्य अंश इस व्याख्या की पुष्टि करेंगे।
15 देखें भाग IV, अध्याय I.
16 एल’इमैजिनेशन. अल्कान, 1936.
17 प्रस्तावना देखें: III.

[18] [illegible]

[20] [illegible] III, [illegible] I.

अध्याय दो

असद्भाव
I. कपट और झूठ
मनुष्य केवल वह प्राणी नहीं है जिसके द्वारा संसार में नकारात्मकताएँ प्रकट होती हैं; वह स्वयं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाला भी है। अपने परिचय में हमने चेतना को इस प्रकार परिभाषित किया था: “एक ऐसा प्राणी जिसके अस्तित्व में ही प्रश्नचिह्न लग जाता है, क्योंकि यह अस्तित्व स्वयं से भिन्न किसी अन्य अस्तित्व को इंगित करता है।” परन्तु अब जब हमने “प्रश्न” के अर्थ का विश्लेषण कर लिया है, तो हम इसे इस प्रकार भी लिख सकते हैं: “चेतना एक ऐसा प्राणी है, जिसका स्वभाव अपने अस्तित्व की शून्यता के प्रति सचेत रहना है।” उदाहरण के लिए, किसी निषेध या निषेध में, मनुष्य भविष्य की पारलौकिकता को नकारता है। परन्तु यह निषेध व्याख्यात्मक नहीं है। मेरी चेतना केवल नकारात्मकता की कल्पना तक सीमित नहीं है। यह अपने आप को अपने ही स्वरूप में एक ऐसी संभावना के शून्यीकरण के रूप में स्थापित करती है जिसे कोई अन्य मानवीय वास्तविकता अपनी संभावना के रूप में प्रस्तुत करती है। इसी कारण यह संसार में एक ‘नहीं’ के रूप में उत्पन्न होती है; यह एक 'नहीं' के रूप में ही है कि दास सबसे पहले स्वामी को पहचानता है, या भागने की कोशिश कर रहा कैदी उस रक्षक को देखता है जो उस पर नज़र रख रहा है। यहाँ तक कि कुछ ऐसे पुरुष भी हैं (जैसे, रखवाले, निरीक्षक, जेलर) जिनकी सामाजिक वास्तविकता विशिष्ट रूप से 'नहीं' की है, जो पृथ्वी पर हमेशा के लिए केवल एक 'नहीं' बनकर ही जिएंगे और मरेंगे। अन्य लोग 'नहीं' को अपने आत्मनिष्ठा का हिस्सा बनाकर, अपने मानवीय व्यक्तित्व को एक शाश्वत निषेध के रूप में स्थापित करते हैं। यही वह अर्थ और कार्य है जिसे शेलर "नाराजगी का आदमी" कहते हैं—वास्तव में, 'नहीं'। लेकिन इससे भी सूक्ष्म व्यवहार मौजूद हैं, जिनका वर्णन हमें चेतना की अंतर्मुखी गहराई में ले जाएगा। विडंबना इनमें से एक है। विडंबना में एक व्यक्ति एक ही क्रिया में अपने द्वारा स्थापित चीज़ को नष्ट कर देता है; वह हमें विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है ताकि उस पर विश्वास न किया जाए; वह इनकार करने के लिए पुष्टि करता है और पुष्टि करने के लिए इनकार करता है; वह एक सकारात्मक वस्तु का निर्माण करता है लेकिन उसका अस्तित्व उसके शून्यता के अलावा कुछ नहीं होता। इस प्रकार, स्वयं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण हमें एक नया प्रश्न उठाने की अनुमति देता है: हम उस मनुष्य के अस्तित्व को क्या कहेंगे जिसमें स्वयं को नकारने की संभावना है? लेकिन "स्व-अस्वीकृति" के दृष्टिकोण पर सार्वभौमिक रूप से चर्चा करना संभव नहीं है। इस श्रेणी में आने वाले व्यवहारों के प्रकार बहुत विविध हैं; इससे केवल उनके अमूर्त रूप को ही समझने का जोखिम रहता है। बेहतर यही होगा कि हम एक निश्चित दृष्टिकोण का चयन करें और उसका अध्ययन करें जो मानवीय वास्तविकता के लिए आवश्यक है और जो ऐसा है कि चेतना अपनी नकारात्मकता को बाहर की ओर निर्देशित करने के

बजाय स्वयं की ओर मोड़ देती है। मुझे लगता है कि यह दृष्टिकोण दुर्भावना (mauvaise foi) है।
अक्सर इसे असत्य के साथ जोड़ दिया जाता है। हम किसी व्यक्ति के बारे में बिना सोचे-समझे कह देते हैं कि वह कुटिलता के लक्षण दिखाता है या स्वयं से झूठ बोलता है। हम सहर्ष स्वीकार करते हैं कि कुटिलता स्वयं से झूठ बोलना है, बशर्ते हम स्वयं से झूठ बोलने और सामान्य झूठ बोलने में अंतर कर सकें। झूठ बोलना एक नकारात्मक दृष्टिकोण है, हम इससे सहमत होंगे। लेकिन यह निषेध स्वयं चेतना पर लागू नहीं होता; इसका लक्ष्य केवल पारलौकिक होता है। झूठ का सार वास्तव में यह दर्शाता है कि झूठा व्यक्ति उस सत्य का पूर्ण ज्ञान रखता है जिसे वह छिपा रहा है। मनुष्य उस विषय पर झूठ नहीं बोलता जिसके बारे में वह अनभिज्ञ है; वह तब झूठ नहीं बोलता जब वह किसी ऐसी त्रुटि को फैलाता है जिसका वह स्वयं शिकार है; वह तब झूठ नहीं बोलता जब वह स्वयं गलत होता है। झूठे व्यक्ति का आदर्श वर्णन एक निंदक चेतना होगी, जो अपने भीतर सत्य की पुष्टि करता है, अपने शब्दों में उसका खंडन करता है, और उस खंडन का ही खंडन करता है। अब यह दोहरा नकारात्मक दृष्टिकोण पारलौकिक पर आधारित है; व्यक्त किया गया तथ्य पारलौकिक है क्योंकि उसका अस्तित्व नहीं है, और मूल खंडन एक सत्य पर आधारित है; यानी, एक विशेष प्रकार की पारलौकिकता पर। जहाँ तक उस आंतरिक निषेध का सवाल है जिसे मैं स्वयं के लिए सत्य की पुष्टि के साथ सहसंबद्ध रूप से उत्पन्न करता हूँ, यह शब्दों पर आधारित है; यानी, संसार में घटित एक घटना पर। इसके अलावा, झूठे व्यक्ति का आंतरिक स्वभाव सकारात्मक होता है; यह एक सकारात्मक निर्णय का विषय हो सकता है। झूठा व्यक्ति धोखा देने का इरादा रखता है और वह इस इरादे को स्वयं से छिपाने या चेतना की पारदर्शिता को छुपाने की कोशिश नहीं करता; इसके विपरीत, जब द्वितीयक व्यवहार का निर्णय लेने का प्रश्न आता है तो वह इसका सहारा लेता है। यह स्पष्ट रूप से सभी मनोवृत्तियों पर एक नियामक नियंत्रण रखता है। जहाँ तक उसके सत्य बोलने के दिखावटी इरादे का सवाल है ("मैं तुम्हें कभी धोखा नहीं देना चाहूँगा! यह सच है! मैं कसम खाता हूँ!")—यह सब, निश्चित रूप से, एक आंतरिक निषेध का विषय है, लेकिन झूठा व्यक्ति इसे अपने इरादे के रूप में नहीं पहचानता। यह अभिनय किया जाता है, नकल किया जाता है, यह उस चरित्र का इरादा है जिसे वह अपने प्रश्नकर्ता की आँखों में निभाता है, लेकिन यह चरित्र, ठीक इसलिए क्योंकि वह अस्तित्व में नहीं है, एक पारलौकिक है। इस प्रकार झूठ वर्तमान चेतना की आंतरिक संरचना को प्रभावित नहीं करता; इसमें निहित सभी निषेध उन वस्तुओं से संबंधित होते हैं जो इस तथ्य के कारण चेतना से परे होती हैं। इसलिए झूठ को किसी विशेष तात्विक आधार की आवश्यकता नहीं होती, और निषेध के अस्तित्व के लिए आवश्यक व्याख्याएँ छल के मामले में भी अपरिवर्तित रहती हैं। हमने आदर्श झूठ का वर्णन किया है; निस्संदेह ऐसा अक्सर होता है कि झूठा व्यक्ति अपने झूठ का शिकार होता है, कि वह स्वयं को आधा-अधूरा झूठ पर विश्वास दिला लेता है। लेकिन झूठ के ये सामान्य, प्रचलित रूप भी इसके पतित पहलू हैं; वे असत्य और दुर्भावना के बीच मध्यस्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं। झूठ एक पारलौकिक व्यवहार है।

झूठ भी एक सामान्य घटना है जिसे हाइडेगर "मित्सिन" कहते हैं। यह मेरे अस्तित्व, दूसरे के अस्तित्व, दूसरे के लिए मेरे अस्तित्व और मेरे लिए दूसरे के अस्तित्व को पूर्वकल्पित करता है। इसलिए यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि झूठे को झूठ की योजना पूरी स्पष्टता से बनानी चाहिए और उसे झूठ और उस सत्य की पूर्ण समझ होनी चाहिए जिसे वह बदल रहा है। यह पर्याप्त है कि एक समग्र अस्पष्टता उसके इरादों को दूसरे से छिपा दे; यह पर्याप्त है कि दूसरा झूठ को सत्य मान ले। झूठ के द्वारा चेतना इस बात की पुष्टि करती है कि वह स्वभाव से ही दूसरे से छिपी हुई है; यह अपने लाभ के लिए स्वयं की और दूसरे की दृष्टि में स्वयं की तात्विक द्वैतता का उपयोग करती है।
यदि यह, जैसा कि हमने कहा है, वास्तव में स्वयं से झूठ है, तो दुर्भावना के मामले में स्थिति समान नहीं हो सकती। निश्चित रूप से, दुर्भावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति एक अप्रिय सत्य को छिपा रहा होता है या एक सुखद असत्य को सत्य के रूप में प्रस्तुत कर रहा होता है। इस प्रकार दुर्भावना देखने में असत्य की संरचना प्रतीत होती है। केवल जो बात सब कुछ बदल देती है, वह यह है कि दुर्भावना में मैं स्वयं से ही सत्य को छिपा रहा होता हूँ। इस प्रकार, यहाँ धोखेबाज और धोखे में आने वाले का द्वैत अस्तित्व में नहीं है। इसके विपरीत, दुर्भावना सार रूप में एक ही चेतना की एकता को दर्शाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह मानव वास्तविकता की अन्य सभी घटनाओं की तरह मितसेन द्वारा नियंत्रित नहीं हो सकती, बल्कि मितसेन दुर्भावना को केवल स्वयं को एक ऐसी स्थिति के रूप में प्रस्तुत करके ही उत्पन्न कर सकती है जिसे दुर्भावना पार करने की अनुमति देती है; दुर्भावना मानव वास्तविकता में बाहर से नहीं आती। व्यक्ति अपनी दुर्भावना से ग्रस्त नहीं होता; वह इससे संक्रमित नहीं होता; यह कोई अवस्था नहीं है। परन्तु चेतना स्वयं को दुर्भावना से प्रभावित करती है। दुर्भावना का एक मूल उद्देश्य और एक योजना होनी चाहिए; इस परियोजना में दुर्भावना की समझ और चेतना की दुर्भावना से प्रभावित होने की पूर्व-चिंतनशील आशंका निहित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसे झूठ बोला जाता है और जो झूठ बोलता है, वे एक ही व्यक्ति हैं, जिसका अर्थ है कि मुझे धोखेबाज के रूप में उस सत्य को जानना होगा जो मुझे धोखा खाने वाले के रूप में छिपाया गया है। इससे भी बेहतर यह होगा कि मुझे सत्य को और अधिक सावधानी से छिपाने के लिए उसे बहुत सटीक रूप से जानना होगा—और यह दो अलग-अलग क्षणों में नहीं, जो हमें द्वैत का आभास करा सकते हैं—बल्कि एक ही परियोजना की एकीकृत संरचना में। फिर झूठ कैसे कायम रह सकता है यदि उसे नियंत्रित करने वाला द्वैत दबा दिया जाए?
इस कठिनाई में एक और कठिनाई जुड़ जाती है जो चेतना की पूर्ण पारदर्शिता से उत्पन्न होती है। जो स्वयं को दुर्भावना से प्रभावित करता है, उसे अपनी दुर्भावना का सचेत होना ही चाहिए, क्योंकि चेतना का अस्तित्व ही अस्तित्व की चेतना है। तब ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे सद्भाव में होना चाहिए, कम से कम उस हद तक जहाँ तक मैं अपनी दुर्भावना के प्रति सचेत हूँ। लेकिन फिर यह संपूर्ण मानसिक तंत्र नष्ट हो जाता है। वास्तव में हमें यह मानना होगा कि

यदि मैं जानबूझकर और निंदनीय रूप से स्वयं से झूठ बोलने का प्रयास करता हूँ, तो मैं इस प्रयास में पूरी तरह असफल हो जाता हूँ; झूठ मेरी दृष्टि के नीचे ही बिखर जाता है; स्वयं से झूठ बोलने की चेतना ही उसे पीछे से नष्ट कर देती है, जो निर्दयतापूर्वक स्वयं को मेरी योजना के भीतर ही अपनी शर्त के रूप में स्थापित कर लेती है। यहाँ हमारे सामने एक क्षणभंगुर घटना है जो केवल अपने ही भेदन में विद्यमान है। निस्संदेह, ये घटनाएँ अक्सर होती हैं और हम देखेंगे कि वास्तव में दुर्भावना की एक "अस्थिरता" होती है, जो स्पष्ट रूप से सद्भाव और संशयवाद के बीच निरंतर डगमगाती रहती है: यद्यपि दुर्भावना का अस्तित्व अत्यंत अनिश्चित है, और यद्यपि यह उस प्रकार की मानसिक संरचनाओं से संबंधित है जिन्हें हम "अस्थिर" कह सकते हैं, फिर भी यह एक स्वायत्त और स्थायी रूप प्रस्तुत करती है। यह बहुत से लोगों के जीवन का सामान्य पहलू भी हो सकता है। एक व्यक्ति दुर्भावना में जी सकता है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि उसे संशयवाद या सद्भाव की अचानक अनुभूति नहीं होती, बल्कि इसका तात्पर्य जीवन की एक निरंतर और विशिष्ट शैली से है। हमारी दुविधा तब अत्यधिक प्रतीत होती है क्योंकि हम न तो दुर्भावना को अस्वीकार कर सकते हैं और न ही उसे समझ सकते हैं।
इन कठिनाइयों से बचने के लिए लोग खुशी-खुशी अचेतन मन का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या में, वे सेंसर की परिकल्पना का उपयोग करते हैं, जिसे सीमा शुल्क, पासपोर्ट विभाजन, मुद्रा नियंत्रण आदि के साथ एक सीमा रेखा के रूप में परिकल्पित किया जाता है, ताकि धोखेबाज और धोखा खाने वाले के द्वैत को पुनः स्थापित किया जा सके। यहाँ सहज प्रवृत्ति या, यदि आप चाहें, तो हमारी व्यक्तिगत पृष्ठभूमि द्वारा निर्मित मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तियों के समूह वास्तविकता का निर्माण करते हैं। यह न तो सत्य है और न ही असत्य, क्योंकि इसका अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। यह बस है, ठीक इस तालिका की तरह, जो अपने आप में न तो सत्य है और न ही असत्य, बल्कि केवल वास्तविक है। सहज प्रवृत्ति के सचेत प्रतीकों के लिए, यह व्याख्या उन्हें दिखावे के रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक मानसिक तथ्यों के रूप में लेती है। भय, विस्मरण, सपने चेतना के ठोस तथ्यों के रूप में वास्तव में विद्यमान होते हैं, ठीक उसी तरह जैसे झूठे व्यक्ति के शब्द और व्यवहार ठोस, वास्तविक रूप से विद्यमान व्यवहार के प्रतिरूप होते हैं। इन घटनाओं के प्रति विषय का वही संबंध होता है जो धोखा खाने वाले का धोखेबाज के व्यवहार के प्रति होता है। वह उन्हें उनकी वास्तविकता में स्थापित करता है और उनकी व्याख्या करता है। धोखेबाज की गतिविधियों में एक सत्य होता है; यदि धोखा खाया हुआ व्यक्ति उन्हें उस स्थिति से पुनः जोड़ सके जहाँ धोखेबाज स्वयं को स्थापित करता है और उसके झूठ के षड्यंत्र से जोड़ सके, तो झूठ बोलने के कारण वे सत्य के अभिन्न अंग बन जाएँगे। इसी प्रकार प्रतीकात्मक क्रियाओं में भी सत्य निहित होता है; मनोविश्लेषक इसे तब खोजता है जब वह उन्हें रोगी की ऐतिहासिक स्थिति से, उन अचेतन जटिलताओं से जिन्हें वे व्यक्त करते हैं, और संशय के अवरोध से जोड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आचरण के अर्थ के बारे में स्वयं को धोखा देता है; वह इसे इसके

मूर्त रूप में तो समझता है, लेकिन इसके सत्य रूप में नहीं, क्योंकि वह इसे मूल स्थिति और मानसिक संरचना से प्राप्त नहीं कर सकता जो उससे अपरिचित हैं।
फ्रायड ने "इड" और "ईगो" के बीच अंतर करके मानसिक समग्रता को दो भागों में बाँट दिया है। मैं ईगो हूँ, लेकिन इड नहीं। मेरे अचेतन मन के संबंध में मेरी कोई विशेष स्थिति नहीं है। मैं स्वयं अपने मानसिक अनुभवों का हिस्सा हूँ, क्योंकि मैं उन्हें उनकी चेतन वास्तविकता में स्थापित करता हूँ। उदाहरण के लिए, मैं इस पुस्तक-स्तंभ से यह या वह पुस्तक चुराने की प्रेरणा हूँ। मैं इस प्रेरणा का अभिन्न अंग हूँ; मैं इसे उत्पन्न करता हूँ और इसके साथ मिलकर चोरी करने का निश्चय करता हूँ। लेकिन मैं उन मानसिक तथ्यों का हिस्सा नहीं हूँ, क्योंकि मैं उन्हें निष्क्रिय रूप से ग्रहण करता हूँ और उनकी उत्पत्ति और उनके वास्तविक अर्थ के बारे में परिकल्पनाओं का सहारा लेने के लिए बाध्य हूँ, ठीक वैसे ही जैसे कोई विद्वान किसी बाहरी घटना की प्रकृति और सार के बारे में अनुमान लगाता है। उदाहरण के लिए, यह चोरी, जिसे मैं उस पुस्तक की दुर्लभता, रुचि या कीमत से प्रेरित तात्कालिक प्रेरणा के रूप में देखता हूँ जिसे मैं चुराने जा रहा हूँ—वास्तव में यह आत्म-दंड से उत्पन्न एक प्रक्रिया है, जो कमोबेश सीधे तौर पर ओडिपस कॉम्प्लेक्स से जुड़ी है। चोरी की प्रवृत्ति में एक ऐसा सत्य निहित है जिसे केवल कमोबेश संभावित परिकल्पनाओं के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इस सत्य का मापदंड उन सचेत मानसिक तथ्यों की संख्या होगी जिनकी व्याख्या यह करता है; अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण से, यह उस मनोरोग उपचार की सफलता भी होगी जिसकी यह अनुमति देता है। अंततः, इस सत्य की खोज के लिए मनोविश्लेषक के सहयोग की आवश्यकता होगी, जो मेरी अचेतन इच्छाओं और मेरे चेतन जीवन के बीच मध्यस्थ के रूप में प्रकट होता है। दूसरा व्यक्ति अचेतन सिद्धांत और चेतन प्रतिवाद के बीच संश्लेषण करने में सक्षम प्रतीत होता है। मैं स्वयं को केवल दूसरे व्यक्ति की मध्यस्थता से ही जान सकता हूँ, जिसका अर्थ है कि मैं अपने "अचेतन" के संबंध में, दूसरे व्यक्ति की स्थिति में खड़ा हूँ। यदि मुझे मनोविश्लेषण का थोड़ा ज्ञान है, तो मैं विशेष रूप से अनुकूल परिस्थितियों में, स्वयं का मनोविश्लेषण करने का प्रयास कर सकता हूँ। लेकिन यह प्रयास तभी सफल हो सकता है जब मैं हर प्रकार की अंतर्ज्ञान पर अविश्वास करूँ, जब मैं अपने मामले पर पहले से सीखे गए अमूर्त योजनाओं और नियमों को बाहर से लागू करूँ। परिणामों की बात करें, चाहे वे मेरे अकेले प्रयासों से प्राप्त हों या किसी तकनीशियन के सहयोग से, उनमें वह निश्चितता कभी नहीं होगी जो अंतर्ज्ञान प्रदान करता है; उनमें केवल वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की निरंतर बढ़ती संभावना ही होगी। ओडिपस कॉम्प्लेक्स की परिकल्पना, परमाणु सिद्धांत की तरह, केवल एक "प्रायोगिक विचार" है; जैसा कि पियर्स ने कहा, इसे उन अनुभवों की समग्रता से अलग नहीं किया जा सकता जिन्हें यह साकार होने देता है और उन परिणामों से जिन्हें यह हमें पूर्वानुमानित करने में सक्षम बनाता है। इस प्रकार मनोविश्लेषण दुर्भावना की धारणा, झूठे के बिना झूठ के विचार का स्थान लेता है; यह मुझे

स्टेकेल को बताता है कि उसकी पत्नी ने आनंद के वस्तुनिष्ठ संकेत दिए हैं, लेकिन पूछताछ किए जाने पर महिला उनका पुरजोर खंडन करती है। यहाँ हमें ध्यान भटकाने का एक पैटर्न दिखाई देता है। स्टेकेल द्वारा प्राप्त स्वीकारोक्तियों से हमें पता चलता है कि ये रोगात्मक रूप से ठंडी महिलाएं उस आनंद से पहले ही अपना ध्यान भटकाने का प्रयास करती हैं जिससे वे डरती हैं; उदाहरण के लिए, कई महिलाएं यौन क्रिया के समय अपने विचारों को अपने दैनिक कार्यों की ओर मोड़ लेती हैं, अपने घरेलू हिसाब-किताब करती हैं। क्या यहाँ कोई अचेतन की बात करेगा? फिर भी, यदि ठंडी महिला इस प्रकार अपने अनुभव किए गए आनंद से अपनी चेतना का ध्यान भटकाती है, तो यह किसी भी तरह से निंदनीय और स्वयं से पूर्ण सहमति नहीं है; यह स्वयं को यह सिद्ध करने के लिए है कि वह ठंडी है। वास्तव में, हमें दुर्भावना की घटना से निपटना है क्योंकि अनुभव किए गए आनंद में उपस्थित न होने के लिए किए गए प्रयास इस बात की स्वीकृति का संकेत देते हैं कि आनंद का अनुभव किया जा रहा है; वे इसे नकारने के लिए इसका संकेत देते हैं। लेकिन अब हम मनोविश्लेषण के दायरे में नहीं हैं। इस प्रकार, एक ओर तो अचेतन मन के माध्यम से दी जाने वाली व्याख्या, मानसिक एकता को भंग करने के कारण, उन तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकती जिन्हें पहली नज़र में वह व्याख्या करने में सक्षम प्रतीत होती है। दूसरी ओर, कुटिल इरादे से किए गए व्यवहार के अनगिनत प्रकार मौजूद हैं जो स्पष्ट रूप से इस प्रकार की व्याख्या को अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनका सार यह दर्शाता है कि वे केवल चेतना की पारदर्शिता में ही प्रकट हो सकते हैं। हम पाते हैं कि जिस समस्या को हमने हल करने का प्रयास किया था, वह अभी भी अनसुलझी है।
II. दुर्भावना के प्रतिरूप यदि हम इस कठिनाई से बाहर निकलना चाहते हैं, तो हमें कपटपूर्ण व्यवहार के स्वरूपों का अधिक बारीकी से अध्ययन करना चाहिए और उनका वर्णन करने का प्रयास करना चाहिए। यह वर्णन शायद हमें कपटपूर्ण व्यवहार की संभावना की स्थितियों को अधिक सटीक रूप से निर्धारित करने में सक्षम बनाएगा; अर्थात्, उस प्रश्न का उत्तर देने में जो हमने प्रारंभ में उठाया था: "मनुष्य का स्वरूप कैसा होना चाहिए यदि वह कपटपूर्ण व्यवहार करने में सक्षम हो?"
एक महिला का उदाहरण लीजिए जो पहली बार किसी पुरुष के साथ बाहर जाने के लिए राज़ी हुई है। वह उस पुरुष के मन में उसके लिए जो भावनाएँ हैं, उन्हें भली- भांति जानती है। वह यह भी जानती है कि उसे देर-सवेर कोई निर्णय लेना ही होगा। लेकिन वह इस बात को लेकर जल्दबाज़ी नहीं करना चाहती; वह केवल अपने साथी के व्यवहार में मौजूद सम्मानजनक और विवेकपूर्ण बातों पर ही ध्यान देती है। वह इस व्यवहार को "पहली मुलाक़ात" का प्रयास नहीं मानती; यानी, वह उसके व्यवहार में निहित भविष्य की संभावनाओं को नहीं देखना चाहती। वह अपने व्यवहार को वर्तमान तक ही सीमित रखती है; वह उसके द्वारा कहे गए शब्दों में उनके स्पष्ट अर्थ के अलावा कुछ और नहीं समझना चाहती। यदि वह उससे कहता है, "तुम मुझे बहुत आकर्षक लगती हो!" तो वह इस वाक्य के यौन संदर्भ को नज़रअंदाज़ कर देती है; वह बातचीत और वक्ता के व्यवहार से

हमारे लिए अस्तित्व की स्वयं के साथ एक पूर्ण समतुल्यता का प्रस्ताव रखता है, अस्तित्व के एक प्रतिरूप के रूप में। इस अर्थ में यह आवश्यक है कि हम स्वयं को वही बनाएँ जो हम हैं। परन्तु यदि हम पर स्वयं को वही बनाने का निरंतर दायित्व है जो हम हैं, यदि हमारे अस्तित्व का तरीका वही होना है जो हम हैं, तो हम क्या हैं?
आइए कैफे में बैठे इस वेटर पर गौर करें। उसकी चाल तेज और आगे की ओर है, कुछ ज्यादा ही सटीक, कुछ ज्यादा ही तेज। वह ग्राहकों की ओर कुछ ज्यादा ही तेजी से कदम बढ़ाता है। वह कुछ ज्यादा ही उत्सुकता से आगे झुकता है; उसकी आवाज, उसकी आंखें ग्राहक के ऑर्डर के प्रति कुछ ज्यादा ही उत्सुकता दिखाती हैं। अंत में वह वापस लौटता है, अपनी चाल में किसी मशीन जैसी अकड़न दिखाने की कोशिश करता है, जबकि ट्रे को वह रस्सी पर चलने वाले की तरह लापरवाही से पकड़े रहता है, उसे लगातार अस्थिर, लगातार टूटे हुए संतुलन में रखता है जिसे वह हाथ और बांह के हल्के इशारे से बार-बार ठीक करता है। उसका सारा व्यवहार हमें एक खेल जैसा लगता है। वह अपनी हरकतों को इस तरह जोड़ता है जैसे वे कोई मशीन हों, एक दूसरे को नियंत्रित करती हों; उसके हाव-भाव और यहां तक कि उसकी आवाज भी मशीन जैसी लगती है; वह खुद को चीजों की फुर्ती और निर्मम तेजी देता है। वह खेल रहा है, वह अपना मनोरंजन कर रहा है। लेकिन वह क्या खेल रहा है? हमें इसे समझने के लिए ज़्यादा देर देखने की ज़रूरत नहीं है: वह एक कैफ़े में वेटर होने का नाटक कर रहा है। इसमें हमें आश्चर्यचकित करने जैसा कुछ नहीं है। यह खेल एक तरह से पहचान बनाने और पड़ताल करने जैसा है। बच्चा अपने शरीर से खेलता है ताकि उसका पता लगा सके, उसका जायज़ा ले सके; कैफ़े का वेटर अपनी स्थिति से खेलता है ताकि उसे साकार कर सके। यह दायित्व सभी व्यापारियों पर लागू होने वाले दायित्व से भिन्न नहीं है। उनकी स्थिति पूरी तरह से एक औपचारिकता है। जनता उनसे अपेक्षा करती है कि वे इसे एक औपचारिकता के रूप में निभाएँ; दुकानदार, दर्जी, नीलामीकर्ता का एक विशेष नृत्य होता है, जिसके द्वारा वे अपने ग्राहकों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करते हैं कि वे केवल एक दुकानदार, एक नीलामीकर्ता, एक दर्जी हैं। सपने देखने वाला दुकानदार खरीदार को अप्रिय लगता है, क्योंकि ऐसा दुकानदार पूरी तरह से दुकानदार नहीं रह जाता। समाज उससे यही अपेक्षा करता है कि वह स्वयं को एक दुकानदार के रूप में सीमित रखे, ठीक वैसे ही जैसे सावधान मुद्रा में खड़ा सैनिक स्वयं को एक सैनिक की छवि में ढाल लेता है, उसकी सीधी दृष्टि न तो कुछ देखती है और न ही कुछ और, क्योंकि अब उसका देखने का कोई उद्देश्य ही नहीं रह गया है। क्योंकि क्षणिक हित नहीं, बल्कि नियम ही यह निर्धारित करता है कि उसे किस बिंदु पर अपनी दृष्टि टिकाए रखनी है (वह दृष्टि जो "दस कदम की दूरी पर टिकी है")। वास्तव में, मनुष्य को उसकी वर्तमान स्थिति में कैद रखने के लिए अनेक उपाय किए जाते हैं, मानो हम निरंतर इस भय में जी रहे हों कि वह इससे मुक्त हो जाएगा, कि वह टूटकर अचानक अपनी स्थिति से बाहर निकल जाएगा।
इसी तरह की स्थिति में, कैफे में काम करने वाला वेटर, अंदर से देखने पर, तुरंत कैफे वेटर नहीं बन जाता, इस अर्थ में कि यह स्याही की दवात सिर्फ एक

स्याही की दवात है या यह गिलास सिर्फ एक गिलास है। इसका यह मतलब बिलकुल नहीं है कि वह अपनी स्थिति के बारे में चिंतनशील निर्णय या अवधारणाएँ नहीं बना सकता। वह अच्छी तरह जानता है कि इसका क्या अर्थ है: सुबह पाँच बजे उठना, रेस्टोरेंट खुलने से पहले दुकान का फर्श साफ करना, कॉफी पॉट चालू करना आदि। वह उन अधिकारों को भी जानता है जो इससे मिलते हैं: टिप पाने का अधिकार, किसी यूनियन का सदस्य होने का अधिकार आदि। लेकिन ये सभी अवधारणाएँ, ये सभी निर्णय अलौकिक से संबंधित हैं। यह अमूर्त संभावनाओं का मामला है, उन अधिकारों और कर्तव्यों का जो "अधिकार रखने वाले व्यक्ति" को दिए गए हैं। और ठीक यही वह व्यक्ति है जो मुझे होना है (यदि मैं प्रश्न में उल्लिखित वेटर हूँ) और जो मैं नहीं हूँ। ऐसा नहीं है कि मैं यह व्यक्ति नहीं बनना चाहता या मैं चाहता हूँ कि यह व्यक्ति अलग हो। बल्कि, उसके अस्तित्व और मेरे अस्तित्व के बीच कोई साझा मापदंड नहीं है। यह दूसरों के लिए और मेरे लिए एक "प्रतिनिधित्व" है, जिसका अर्थ है कि मैं केवल प्रतिनिधित्व में ही वह हो सकता हूँ। लेकिन यदि मैं स्वयं को उसके रूप में प्रस्तुत करता हूँ, तो मैं वह नहीं हूँ; मैं उससे इस प्रकार अलग हो जाता हूँ जैसे वस्तु विषय से अलग होती है, किसी भी चीज़ से अलग नहीं, लेकिन यह शून्यता मुझे उससे अलग कर देती है। मैं वह नहीं हो सकता, मैं केवल उसके होने का नाटक कर सकता हूँ; अर्थात्, अपने आप को यह कल्पना कर सकता हूँ कि मैं वह हूँ। और इस प्रकार मैं उसे शून्यता से प्रभावित करता हूँ। व्यर्थ ही मैं एक कैफ़े वेटर की भूमिका निभाता हूँ। मैं केवल तटस्थ अवस्था में ही वह हो सकता हूँ, जैसे अभिनेता हैमलेट होता है, अपनी स्थिति के विशिष्ट हाव-भावों को यंत्रवत रूप से करके और उन हाव-भावों को एक "सादृश्य" मानकर स्वयं को एक काल्पनिक कैफे वेटर के रूप में प्रस्तुत करके। मैं कैफे वेटर के अस्तित्व को साकार करने का प्रयास करता हूँ, मानो यह केवल मेरे बस में न हो कि मैं अपने कर्तव्यों और पद के अधिकारों को उनका मूल्य और तात्कालिकता प्रदान कर सकूँ, मानो यह मेरी स्वतंत्र इच्छा न हो कि मैं हर सुबह पाँच बजे उठूँ या बिस्तर पर ही रहूँ, भले ही इसका मतलब नौकरी से निकाल दिया जाना हो। मानो इस भूमिका को निभाने मात्र से ही मैं इससे हर तरफ से ऊपर न उठ जाऊँ, मानो मैं स्वयं को अपनी स्थिति से परे न बना लूँ। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि मैं एक अर्थ में कैफे वेटर हूँ—अन्यथा क्या मैं स्वयं को राजनयिक या पत्रकार नहीं कह सकता था? लेकिन यदि मैं ऐसा हूँ, तो यह अस्तित्व की अवस्था में नहीं हो सकता। मैं एक ऐसा वेटर हूँ जो वह होने का दिखावा कर रहा है जो मैं नहीं हूँ।
इसके अलावा, हम केवल सामाजिक स्थितियों से ही नहीं निपट रहे हैं; मैं कभी भी अपने किसी एक दृष्टिकोण या किसी एक कार्य से परिभाषित नहीं होता। अच्छा वक्ता वह है जो बोलने का अभिनय करता है, क्योंकि वह वास्तव में बोल नहीं सकता। वह ध्यानमग्न विद्यार्थी जो ध्यान देना चाहता है, जिसकी आँखें शिक्षक पर टिकी हैं, कान खुले हैं, ध्यानमग्न होने की भूमिका निभाने में इतना थक जाता है कि अंत में वह कुछ भी सुन नहीं पाता। अपने शरीर और अपने कार्यों से निरंतर अनुपस्थित रहते हुए, मैं अनजाने में ही वह "दिव्य

अनुपस्थिति" हूँ जिसके बारे में वैलेरी बात करते हैं। मैं न तो यह कह सकता हूँ कि मैं यहाँ हूँ या नहीं, उस अर्थ में जैसे हम कहते हैं "माचिस की डिब्बी मेज पर है"; यह मेरे "संसार में होने" को "संसार के बीच में होने" से भ्रमित करना होगा। न ही मैं कह सकता हूँ कि मैं खड़ा हूँ, न ही मैं बैठा हूँ; यह मेरे शरीर को उस विलक्षण समग्रता से भ्रमित करना होगा जिसका वह केवल एक हिस्सा है। चारों ओर से मैं अस्तित्व से बच निकलता हूँ और फिर भी— मैं हूँ।
लेकिन एक ऐसी अवस्था पर विचार करें जो केवल मुझसे संबंधित है: मैं दुखी हूँ। कोई सोच सकता है कि निश्चित रूप से मैं ही उस अवस्था में मौजूद दुख हूँ। लेकिन दुख क्या है, यदि वह सचेत एकता नहीं है जो मेरे संपूर्ण आचरण को पुनः संगठित और जीवंत करती है? यह उस नीरस दृष्टि का अर्थ है जिससे मैं दुनिया को देखता हूँ, मेरे झुके हुए कंधों का, मेरे झुके हुए सिर का, मेरे पूरे शरीर में व्याप्त उदासीनता का। लेकिन जिस क्षण मैं इनमें से प्रत्येक भाव को अपनाता हूँ, क्या मैं यह नहीं जानता कि मैं इसे बनाए नहीं रख पाऊँगा? मान लीजिए कोई अजनबी अचानक प्रकट हो जाए, तो मैं अपना सिर उठा लूँगा, मैं एक जीवंत प्रसन्नता का आलिंगन कर लूँगा। मेरे दुख का क्या शेष रहेगा सिवाय इसके कि मैं विनम्रतापूर्वक आगंतुक के जाने के बाद उससे मिलने का वादा कर दूँ? इसके अलावा, क्या यह दुख स्वयं एक आचरण नहीं है? क्या यह चेतना नहीं है जो किसी अति गंभीर स्थिति के विरुद्ध एक जादुई उपाय के रूप में स्वयं को दुख से प्रभावित करती है? और इस मामले में भी, क्या हमें यह नहीं कहना चाहिए कि दुखी होने का अर्थ है पहले स्वयं को दुखी करना? कोई कहेगा, शायद ऐसा हो, लेकिन आखिर क्या स्वयं को दुःख का अनुभव कराना, उस दुःख को ग्रहण करना ही नहीं है? इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मैं इसे कहाँ से ग्रहण करता हूँ। असल बात यह है कि जो चेतना स्वयं को दुःख से प्रभावित करती है, वह ठीक इसी कारण दुःखी होती है। लेकिन चेतना के स्वरूप को समझना कठिन है; दुःख का अनुभव कोई बना-बनाया अनुभव नहीं है जिसे मैं स्वयं को दे सकूँ, जैसे मैं अपने मित्र को यह पुस्तक दे सकता हूँ। मुझमें स्वयं को दुःख से प्रभावित करने का गुण नहीं है। यदि मैं स्वयं को दुःखित करता हूँ, तो मुझे शुरू से अंत तक स्वयं को दुःखित करते रहना होगा। मैं अपने दुःख को एक ऐसी आवेग की तरह नहीं मान सकता जो अंततः प्राप्त हो गया हो और उसे पुनः उत्पन्न किए बिना रिकॉर्ड में रख दूँ, न ही मैं उसे एक जड़ शरीर की तरह ढो सकता हूँ जो प्रारंभिक आघात के बाद भी गतिमान रहता है। चेतना में कोई जड़ता नहीं होती। यदि मैं स्वयं को दुःखित करता हूँ, तो इसका कारण यह है कि मैं दुःखी नहीं हूँ— दुःख का अनुभव मुझसे उसी क्रिया के द्वारा और उसी क्रिया में दूर हो जाता है जिसके द्वारा मैं स्वयं को दुःख से प्रभावित करता हूँ। दुःख का स्वतः अस्तित्व मेरी दुःख की चेतना को निरंतर सताता रहता है, परन्तु यह एक ऐसे मूल्य के रूप में है जिसे मैं साकार नहीं कर सकता; यह मेरे दुःख के एक नियामक अर्थ के रूप में खड़ा है, न कि इसके मूलभूत तरीके के रूप में।

कहा था कि ईमानदार होना वही होना है जो हम हैं। इसका अर्थ यह है कि मैं मूल रूप से वह नहीं हूँ जो मैं हूँ। लेकिन यहाँ स्वाभाविक रूप से कांट का कथन "तुम्हें करना चाहिए, इसलिए तुम कर सकते हो" निहित है। मैं ईमानदार बन सकता हूँ; यही मेरा कर्तव्य और ईमानदारी प्राप्त करने का मेरा प्रयास है। लेकिन हम निश्चित रूप से यह स्थापित करते हैं कि "वह न होना जो हम हैं" की मूल संरचना स्वयं में होने या "वह होने जो हम हैं" की ओर सभी गति को पहले से ही असंभव बना देती है। और यह असंभवता चेतना से छिपी नहीं है; इसके विपरीत, यह चेतना का मूल तत्व है; यह वह विवश करने वाली बाधा है जिसका हम निरंतर अनुभव करते हैं; यह स्वयं को पहचानने, स्वयं को उस रूप में स्थापित करने की हमारी अक्षमता है जो हम हैं। यह आवश्यकता ही है जिसका अर्थ है कि जैसे ही हम स्वयं को एक निश्चित अस्तित्व के रूप में स्थापित करते हैं, एक वैध निर्णय द्वारा, जो आंतरिक अनुभव पर आधारित हो या पूर्वज्ञान या अनुभवजन्य आधारों से सही ढंग से निकाला गया हो, तो उसी स्थापना के द्वारा हम इस अस्तित्व से आगे निकल जाते हैं - और यह किसी अन्य अस्तित्व की ओर नहीं बल्कि शून्यता की ओर, कुछ भी नहीं की ओर होता है।
तो फिर हम किसी दूसरे को बेईमान कैसे ठहरा सकते हैं या अपनी ईमानदारी पर कैसे गर्व कर सकते हैं, जबकि यही ईमानदारी हमें असंभव सी लगती है? बातचीत में, स्वीकारोक्ति में, आत्मनिरीक्षण में, हम ईमानदारी का प्रयास कैसे कर सकते हैं, जबकि यह प्रयास अपने आप में ही असफलता की ओर अग्रसर है और जिस क्षण हम इसे घोषित करते हैं, उसी क्षण हमें इसकी निरर्थकता का पूर्वाभास हो जाता है? आत्मनिरीक्षण में मैं यह निर्धारित करने का प्रयास करता हूँ कि मैं वास्तव में क्या हूँ, बिना विलंब किए अपने सच्चे स्वरूप को अपनाने का निश्चय करता हूँ—भले ही इसका अर्थ हो स्वयं को बदलने के तरीके खोजना। लेकिन इसका क्या अर्थ है, यदि यह नहीं कि मैं स्वयं को एक वस्तु के रूप में स्थापित कर रहा हूँ? क्या मैं उन उद्देश्यों और प्रेरणाओं के समूह को निर्धारित करूँ जिन्होंने मुझे यह या वह कार्य करने के लिए प्रेरित किया है? लेकिन यह तो एक कारण-कार्य संबंध स्थापित करना है जो मेरी चेतना की अवस्थाओं के प्रवाह को भौतिक अवस्थाओं के अनुक्रम के रूप में स्थापित करता है। क्या मैं अपने भीतर की "प्रेरणाओं" को उजागर करूँ, भले ही उन्हें शर्मिंदगी के साथ स्वीकार करना पड़े? लेकिन क्या यह जानबूझकर भूल जाना नहीं है कि ये भावनाएँ मेरी सहमति से साकार होती हैं, कि ये प्रकृति की शक्तियाँ नहीं हैं बल्कि मैं इनके मूल्य के बारे में निरंतर नए निर्णय लेकर इन्हें प्रभावी बनाता हूँ? क्या मैं अपने चरित्र, अपने स्वभाव पर निर्णय सुनाऊँ? क्या यह उस क्षण स्वयं से उस बात को छिपाना नहीं है जिसे मैं भली-भांति जानता हूँ, कि मैं इस प्रकार एक ऐसे अतीत का न्याय कर रहा हूँ जिसके अधीन मेरा वर्तमान नहीं है? इसका प्रमाण यह है कि वही व्यक्ति जो ईमानदारी से यह मानता है कि वह वास्तव में वही है जो वह था, दूसरे के निंदा से क्रोधित हो जाता है और यह कहकर उसे निरस्त करने का प्रयास करता है कि वह अब वह नहीं हो सकता जो वह था। हम आसानी से आश्चर्यचकित और परेशान हो जाते हैं जब न्यायालय का दंड उस व्यक्ति को प्रभावित करता है जो अपनी नई

स्वतंत्रता में अब वह दोषी व्यक्ति नहीं है जो वह था। लेकिन साथ ही हम उस व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हैं कि वह स्वयं को दोषी के रूप में स्वीकार करे। तो फिर ईमानदारी क्या है सिवाय दुर्भावना की एक घटना के? क्या हमने वास्तव में यह नहीं दिखाया है कि दुर्भावना में मानवीय वास्तविकता एक ऐसे अस्तित्व के रूप में निर्मित होती है जो वह नहीं है जो वह है जो वह है? आइए एक उदाहरण लेते हैं: एक समलैंगिक व्यक्ति अक्सर असहनीय अपराधबोध से ग्रस्त रहता है, और उसका पूरा जीवन इसी भावना से जुड़ा होता है। यह आसानी से समझा जा सकता है कि वह कुटिल है। वास्तव में, अक्सर ऐसा होता है कि यह व्यक्ति, अपनी समलैंगिक प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए, अपने द्वारा किए गए प्रत्येक कुकर्म को कबूल करते हुए भी, खुद को "बाल यौन शोषण करने वाला" मानने से पूरी तरह इनकार कर देता है। उसका मामला हमेशा "अलग", विचित्र होता है; इसमें एक खेल, संयोग, दुर्भाग्य का तत्व शामिल होता है; सारी गलतियाँ अतीत की होती हैं; उन्हें सुंदरता की एक ऐसी अवधारणा से समझाया जाता है जिसे स्त्रियाँ संतुष्ट नहीं कर सकतीं; हमें उनमें एक गहरी जड़ वाली प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के बजाय एक बेचैन खोज के परिणाम देखने चाहिए, इत्यादि। यहाँ निश्चित रूप से एक कुटिल व्यक्ति है जो हास्यास्पद लगता है क्योंकि, उस पर लगाए गए सभी आरोपों को स्वीकार करते हुए भी, वह उनसे निकलने वाले निष्कर्ष को मानने से इनकार कर देता है। उसका मित्र, जो उसका सबसे बड़ा आलोचक है, इस दोहरे व्यवहार से चिढ़ जाता है। आलोचक केवल एक ही बात पूछता है—और शायद तब वह अपना उदार रवैया दिखाएगा: कि दोषी व्यक्ति स्वयं को दोषी माने, कि समलैंगिक व्यक्ति खुलकर स्वीकार करे—चाहे विनम्रता से या गर्व से—"मैं एक बाल यौन शोषण करने वाला हूँ।" हम यहाँ पूछते हैं: दुराचारी कौन है? समलैंगिक या ईमानदारी का रक्षक?
समलैंगिक व्यक्ति अपनी कमियों को पहचानता है, लेकिन वह इस कठोर धारणा से पूरी ताकत से लड़ता है कि उसकी गलतियाँ ही उसका भाग्य हैं। वह खुद को एक वस्तु के रूप में नहीं देखना चाहता। उसके मन में एक अस्पष्ट लेकिन प्रबल भावना है कि एक समलैंगिक, समलैंगिक नहीं है, जैसे यह मेज एक मेज है या जैसे यह लाल बालों वाला आदमी लाल बालों वाला है। उसे ऐसा लगता है कि जैसे ही वह अपनी किसी गलती को स्वीकार करता है, वह उससे मुक्त हो जाता है; उसे यह भी लगता है कि समय बीतने के साथ ही वह हर कुकर्म से मुक्त हो जाता है, उसके लिए एक अनिश्चित भविष्य का निर्माण करता है, उसे नया जन्म देता है। क्या वह गलत है? क्या वह अपने भीतर मानवीय वास्तविकता के विशिष्ट, अविभाज्य स्वरूप को नहीं पहचानता? उसका दृष्टिकोण सत्य की निर्विवाद समझ को समाहित करता है। लेकिन साथ ही, उसे जीने के लिए इस निरंतर पुनर्जन्म, इस निरंतर पलायन की आवश्यकता है; उसे सामूहिक न्याय से बचने के लिए लगातार खुद को पहुंच से बाहर रखना पड़ता है। इस प्रकार वह 'अस्तित्व' शब्द के साथ खेलता है। अगर वह "मैं बाल यौन शोषण करने वाला नहीं हूँ" इस वाक्यांश को "मैं वह नहीं हूँ जो मैं हूँ" के अर्थ में समझता, तो वह वास्तव में सही होता। यानी, अगर वह खुद से कहता, "जिस हद तक किसी आचरण को बाल यौन शोषण करने वाले के आचरण के रूप में परिभाषित किया जाता है और जिस हद तक मैंने इस आचरण को अपनाया है, मैं

बाल यौन शोषण करने वाला हूँ। लेकिन जिस हद तक मानवीय वास्तविकता को आचरण के स्वरूपों द्वारा अंतिम रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता, मैं बाल यौन शोषण करने वाला नहीं हूँ।" लेकिन इसके बजाय वह चुपके से "होना" शब्द के एक अलग अर्थ की ओर बढ़ जाता है। वह "न होना" को "स्वयं में न होना" के अर्थ में समझता है। वह "बाल यौन शोषण करने वाला न होने" का दावा उस अर्थ में करता है जिस अर्थ में यह मेज स्याही की दवात नहीं है। उसकी मंशा गलत है।
लेकिन सत्यनिष्ठा का समर्थक मानवीय वास्तविकता की श्रेष्ठता से अनभिज्ञ नहीं होता, और वह जानता है कि आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग अपने लाभ के लिए कैसे करना है। वह इसका उपयोग करता है और वर्तमान तर्क में भी इसका उल्लेख करता है। क्या वह पहले सत्यनिष्ठा के नाम पर, फिर स्वतंत्रता के नाम पर, यह नहीं चाहता कि समलैंगिक व्यक्ति आत्मचिंतन करे और स्वयं को समलैंगिक के रूप में स्वीकार करे? क्या वह दूसरे को यह नहीं समझाता कि ऐसा स्वीकारोक्ति उसे क्षमा प्रदान करेगी? इसका क्या अर्थ है, यदि यह नहीं कि जो व्यक्ति स्वयं को समलैंगिक के रूप में स्वीकार करेगा, वह उस समलैंगिक से भिन्न हो जाएगा जिसे वह स्वीकार करता है, और वह स्वतंत्रता और सद्भावना के क्षेत्र में पलायन कर जाएगा? आलोचक तब उस व्यक्ति से कहता है कि वह वही बने जो वह है, ताकि वह वह न रहे जो वह है। यही कहावत का गहरा अर्थ है, "स्वीकार किया गया पाप आधा क्षमा हो जाता है।" आलोचक दोषी से यह मांग करता है कि वह स्वयं को एक वस्तु के रूप में स्थापित करे, ताकि उसे वस्तु के रूप में न माना जाए। और यही विरोधाभास सत्यनिष्ठा की मांग का मूल तत्व है। कौन नहीं देख सकता कि "वह तो बस एक बाल यौन शोषण करने वाला है" जैसा कथन दूसरे के लिए कितना अपमानजनक है और मेरे लिए कितना सुकून देने वाला है? यह कथन एक विशेषता से एक परेशान करने वाली स्वतंत्रता को छीन लेता है और इसका उद्देश्य आगे चलकर दूसरे के सभी कृत्यों को उसके सार से उत्पन्न होने वाले परिणाम के रूप में स्थापित करना है। वास्तव में आलोचक अपने शिकार से यही मांग कर रहा है—कि वह स्वयं को एक वस्तु के रूप में स्थापित करे, कि वह अपनी स्वतंत्रता को अपने मित्र को एक जागीर की तरह सौंप दे, ताकि मित्र बाद में उसे उसे लौटा दे—जैसे कोई स्वामी अपने जागीरदार को। ईमानदारी का पैरोकार उस हद तक बेईमान है, जिस हद तक वह स्वयं को आश्वस्त करने के लिए न्याय करने का दिखावा करता है, जिस हद तक वह मांग करता है कि स्वतंत्रता, स्वतंत्रता के रूप में, स्वयं को एक वस्तु के रूप में स्थापित करे। यहाँ हमारे पास चेतनाओं की मृत्यु की उस लड़ाई का केवल एक उदाहरण है जिसे हेगेल "स्वामी और दास का संबंध" कहते हैं। एक व्यक्ति दूसरे से अपील करता है और मांग करता है कि चेतना के रूप में अपने स्वभाव के नाम पर वह स्वयं को चेतना के रूप में पूरी तरह से नष्ट कर दे, लेकिन इस अपील को करते समय वह दूसरे को इस विनाश के बाद पुनर्जन्म की आशा की ओर ले जाता है।
कोई कहेगा, ठीक है, लेकिन हमारा व्यक्ति ईमानदारी का दुरुपयोग कर रहा है, एक पक्ष को दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर रहा है। हमें ईमानदारी को आत्म-साक्षात्कार में नहीं, बल्कि जहाँ वह शुद्ध है—व्यक्ति के स्वयं से संबंधों में—ढूंढना चाहिए। लेकिन कौन नहीं देख सकता कि वस्तुनिष्ठ

ईमानदारी भी इसी तरह से निर्मित होती है? कौन नहीं देख सकता कि ईमानदार व्यक्ति स्वयं को एक वस्तु के रूप में निर्मित करता है ताकि ईमानदारी के उसी कार्य द्वारा वस्तु की स्थिति से मुक्त हो सके? जो व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि वह बुरा है, उसने अपनी विचलित करने वाली "बुराई के लिए स्वतंत्रता" को बुराई के निर्जीव स्वरूप से बदल दिया है; वह बुरा है, वह स्वयं से चिपटा हुआ है, वह वही है जो वह है। लेकिन उसी प्रहार से, वह उस वस्तु से मुक्त हो जाता है, क्योंकि वही उसका चिंतन करता है, क्योंकि यह उस पर निर्भर करता है कि वह उसे अपनी दृष्टि में बनाए रखे या उसे अनेक विशिष्ट कार्यों में विलीन होने दे। वह अपनी ईमानदारी से पुण्य प्राप्त करता है, और योग्य व्यक्ति वह बुरा व्यक्ति नहीं है जो बुरा है, बल्कि वह है जो अपनी बुराई से परे है। साथ ही, बुराई भी निष्प्रभावी हो जाती है क्योंकि नियतिवाद के धरातल पर तो वह कुछ भी नहीं है, और क्योंकि उसे स्वीकार करने से मैं उसके संबंध में अपनी स्वतंत्रता स्थापित करता हूँ; मेरा भविष्य अछूता है; मेरे लिए सब कुछ जायज़ है।
इस प्रकार, ईमानदारी की मूल संरचना दुर्भावना से भिन्न नहीं होती, क्योंकि ईमानदार व्यक्ति स्वयं को वही बनाता है जो वह है, ताकि वह वह न रहे। यह उस सत्य की व्याख्या करता है जिसे सभी जानते हैं कि ईमानदारी के माध्यम से भी दुर्भावना का शिकार हुआ जा सकता है। जैसा कि वैलेरी ने बताया, स्टेंडहल के मामले में भी यही बात लागू होती है। पूर्ण, निरंतर ईमानदारी, स्वयं से जुड़े रहने का निरंतर प्रयास है, जो स्वभावतः स्वयं से वियोग का निरंतर प्रयास है। व्यक्ति स्वयं को स्वयं से मुक्त कर लेता है, ठीक उसी क्रिया द्वारा जिससे वह स्वयं को अपने लिए एक वस्तु बना लेता है। अपने स्वरूप का निरंतर मूल्यांकन करने का अर्थ है लगातार स्वयं को नकारना और एक ऐसे क्षेत्र में शरण लेना जहाँ व्यक्ति केवल एक शुद्ध, मुक्त दृष्टि बनकर रह जाता है। जैसा कि हमने कहा, दुर्भावना का लक्ष्य स्वयं को पहुँच से बाहर रखना है; यह एक पलायन है। अब हम देखते हैं कि ईमानदारी को परिभाषित करने के लिए हमें इन्हीं शब्दों का प्रयोग करना होगा। इसका क्या अर्थ है?
अंततः, ईमानदारी का लक्ष्य और कपट का लक्ष्य बहुत अलग नहीं हैं। निश्चित रूप से, एक ईमानदारी ऐसी भी होती है जो अतीत से संबंधित होती है और जिसका यहाँ हमसे कोई लेना-देना नहीं है; मैं ईमानदार हूँ यदि मैं इस सुख या उस इरादे को स्वीकार करता हूँ। हम देखेंगे कि यदि यह ईमानदारी संभव है, तो इसका कारण यह है कि अतीत में लीन होने पर मनुष्य का अस्तित्व स्वयं में एक अस्तित्व के रूप में स्थापित होता है। लेकिन यहाँ हमारा संबंध केवल उस ईमानदारी से है जो वर्तमान में स्वयं को लक्षित करती है। इसका लक्ष्य क्या है? मुझे स्वयं से यह स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना कि मैं क्या हूँ ताकि मैं अंततः अपने अस्तित्व के साथ एकरूप हो सकूँ; दूसरे शब्दों में, मुझे स्वयं में एक होने की अवस्था में वह बनाना जो मैं "जो मैं हूँ वह न होने" की अवस्था में हूँ। इसकी मान्यता यह है कि मूल रूप से मैं स्वयं में एक होने की अवस्था में पहले से ही वह हूँ जो मुझे होना चाहिए। इस प्रकार, ईमानदारी के आधार में हमें दर्पण और प्रतिबिंब का एक निरंतर खेल मिलता है,

एक ऐसा निरंतर संक्रमण जो यथार्थ से अवास्तविक अवस्था की ओर और इसके विपरीत अवास्तविक अवस्था से यथार्थ की ओर होता है। और कपट का लक्ष्य क्या है? मुझे "यथावत न होने" की अवस्था में वही बनाना जो मैं हूँ, या "यथावत होने" की अवस्था में मुझे वह न बनाना जो मैं हूँ। यहाँ हमें दर्पणों का वही खेल मिलता है। वास्तव में, ईमानदारी का बोध रखने के लिए, मुझे प्रारंभ में ही एक साथ वही होना और न होना चाहिए जो मैं हूँ। ईमानदारी मुझे किसी विशेष अवस्था या गुण से नहीं जोड़ती, बल्कि उस गुण के संबंध में इसका उद्देश्य मुझे एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ले जाना है। यह दूसरी अवस्था, ईमानदारी का आदर्श, प्रकृति द्वारा मुझे प्राप्त करने से रोका गया है; और जिस क्षण मैं इसे प्राप्त करने का प्रयास करता हूँ, मुझे एक अस्पष्ट पूर्वाग्रही समझ होती है कि मैं इसे प्राप्त नहीं कर पाऊँगा। लेकिन फिर भी, किसी बुरे इरादे को समझने के लिए, मेरा स्वभाव ऐसा होना चाहिए कि मैं अपने भीतर ही अपने अस्तित्व से पलायन कर सकूँ। यदि मैं इस स्याहीदान की तरह उदास या कायर होता, तो बुरे इरादे की संभावना ही नहीं होती। मैं न केवल अपने अस्तित्व से पलायन करने में असमर्थ होता, बल्कि मैं यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि मैं इससे पलायन कर सकता हूँ। लेकिन यदि किसी सरल योजना के कारण बुरे इरादे संभव हैं, तो इसका कारण यह है कि जहाँ तक मेरे अस्तित्व का संबंध है, यदि मैं अपनी योजना से अलग हो जाता हूँ, तो अस्तित्व और गैर-अस्तित्व में कोई अंतर नहीं रह जाता।
कपटपूर्ण नीयत तभी संभव है जब ईमानदारी अपने स्वभाव के कारण अपने लक्ष्य से भटकने के प्रति सचेत रहती है। मैं स्वयं को "कायर नहीं" समझने का प्रयास तभी कर सकता हूँ, जब मैं वास्तव में कायर हूँ, और वह "कायरता" स्वयं उस क्षण "प्रश्न के घेरे में" हो जब वह अस्तित्व में हो, जब वह स्वयं एक प्रश्न हो, और जिस क्षण मैं उसे समझने का प्रयास करूँ, वह चारों ओर से मुझसे बच निकले और स्वयं को नष्ट कर दे। जिस स्थिति में मैं कपटपूर्ण नीयत से प्रयास कर सकता हूँ, वह यह है कि एक अर्थ में, मैं वह कायर नहीं हूँ जो मैं बनना नहीं चाहता। लेकिन यदि मैं "वह न होने" के सरल अर्थ में कायर न होता जो मैं नहीं हूँ, तो मैं यह घोषणा करके "सद्भावनापूर्ण" होता कि मैं कायर नहीं हूँ। इस प्रकार यह अबोधगम्य कायर क्षणभंगुर है; कायर न होने के लिए, मुझे किसी न किसी रूप में कायर होना भी आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझे "थोड़ा" कायर होना चाहिए, उस अर्थ में जहाँ "थोड़ा" का अर्थ "कुछ हद तक कायर होना—न कि पूरी तरह कायर न होना" होता है। नहीं। मुझे एक ही समय में कायर होना भी चाहिए और पूरी तरह से और हर मायने में कायर नहीं भी होना चाहिए। इस प्रकार, इस मामले में दुर्भावना यह मांग करती है कि मैं वह न होऊं जो मैं हूं; अर्थात्, मानवीय वास्तविकता के अस्तित्व के स्वरूप में अस्तित्व और गैर-अस्तित्व के बीच एक अथाह अंतर होना चाहिए।
लेकिन दुर्भावना केवल मुझमें निहित गुणों को नकारने या मेरे वास्तविक स्वरूप को न देखने तक ही सीमित नहीं है। यह मुझे वह बनाने का भी प्रयास करती है जो मैं नहीं हूँ। यह मुझे साहसी समझती है जबकि मैं ऐसा नहीं हूँ। और यह तभी संभव है जब मैं वह हूँ जो मैं नहीं हूँ; अर्थात्, यदि मुझमें

विद्यमान अस्तित्वहीनता के रूप में भी अस्तित्वहीन हो। बेशक, अनिवार्य रूप से मैं साहसी नहीं हूँ; अन्यथा दुर्भावना दुर्भावना नहीं होती। लेकिन इसके अतिरिक्त, दुर्भावना में मेरे प्रयास में यह तात्विक समझ भी शामिल होनी चाहिए कि अपने सामान्य अस्तित्व में भी, मैं वास्तव में वह नहीं हूँ और "दुखी होने" के अस्तित्व में, उदाहरण के लिए—जो मैं अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं हूँ—और साहसी न होने के "अस्तित्वहीनता" में, जिसे मैं स्वयं से छिपाना चाहता हूँ, कोई अंतर नहीं है। इसके अलावा, यह विशेष रूप से आवश्यक है कि अस्तित्व का निषेध स्वयं एक निरंतर शून्यीकरण का विषय हो, कि मानवीय वास्तविकता में "अस्तित्वहीनता" का अर्थ ही निरंतर प्रश्नचिह्न बना रहे। यदि मैं उस प्रकार साहसी न होता जिस प्रकार यह स्याहीदान मेज नहीं है; अर्थात्, यदि मैं अपनी कायरता में अलग-थलग होता, उस पर दृढ़ता से टिका होता, उसे उसके विपरीत से जोड़ने में असमर्थ होता, यदि मैं स्वयं को कायर के रूप में निर्धारित करने में सक्षम न होता—अर्थात, स्वयं को साहस से वंचित करके उसी क्षण अपनी कायरता से बच निकलता जिस क्षण मैं उसे स्वीकार करता हूँ—यदि मेरे लिए अपने साहसी न होने और अपने साहसी होने दोनों के साथ एकमत होना सैद्धांतिक रूप से असंभव न होता—तो किसी भी कुकर्म का प्रयास मेरे लिए वर्जित होता। इस प्रकार, कुकर्म के संभव होने के लिए, स्वयं ईमानदारी को कुकर्म में होना आवश्यक है। दुर्भावना की संभावना की शर्त यह है कि मानवीय वास्तविकता, अपने सबसे तात्कालिक स्वरूप में, पूर्व-चिंतनशील चिंतन की संरचना में, वह होनी चाहिए जो वह नहीं है और वह नहीं होनी चाहिए जो वह है।
III. धोखे की "विश्वास"
फिलहाल हमने केवल उन्हीं परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो दुर्भावना को संभव बनाती हैं, अस्तित्व की उन संरचनाओं का जो हमें दुर्भावना की अवधारणाएँ बनाने की अनुमति देती हैं। हम स्वयं को इन्हीं विचारों तक सीमित नहीं रख सकते; हमने अभी तक दुर्भावना और झूठ में अंतर नहीं किया है। जिन दोहरे चरित्र वाली अवधारणाओं का हमने वर्णन किया है, उनका उपयोग निस्संदेह एक झूठा व्यक्ति अपने प्रश्नकर्ता को हतोत्साहित करने के लिए करेगा, यद्यपि उनका दोहरा चरित्र मनुष्य के अस्तित्व पर आधारित है, न कि किसी अनुभवजन्य परिस्थिति पर, और यह सभी के लिए स्पष्ट होना चाहिए। दुर्भावना की वास्तविक समस्या स्पष्ट रूप से इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि दुर्भावना ही विश्वास है। यह न तो निंदनीय झूठ हो सकता है और न ही निश्चितता—यदि निश्चितता किसी वस्तु का सहज ज्ञान है। लेकिन यदि हम विश्वास को किसी वस्तु के प्रति अस्तित्व के लगाव के रूप में लेते हैं, जब वस्तु दी नहीं गई हो या अस्पष्ट रूप से दी गई हो, तो दुर्भावना ही विश्वास है; और दुर्भावना की मूल समस्या विश्वास की समस्या है।
हम उन अवधारणाओं पर कैसे विश्वास कर सकते हैं जिन्हें हम जानबूझकर खुद को समझाने के लिए गढ़ते हैं? वास्तव में, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि दुर्भावना की परियोजना स्वयं दुर्भावना से भरी होनी चाहिए। मैं केवल तभी दुर्भावना में नहीं होता जब मैं अपने दोहरे विचारों का निर्माण कर लेता

स्वयं को आश्वस्त कर सके कि मैं वह हूँ जो मैं नहीं हूँ), तो शुरुआत में, एक ऐसी आस्था जो स्वयं को पूरी तरह आश्वस्त न होने की इच्छा रखती है, संभव होनी चाहिए। इस प्रकार के विश्वास की संभावना के लिए क्या शर्तें हैं? मुझे विश्वास है कि मेरा मित्र पियरे मुझसे मित्रता का भाव रखता है। मैं यह सच्चे मन से मानता हूँ। मैं मानता तो हूँ, लेकिन इसके लिए मेरे पास कोई स्वतः सिद्ध अंतर्ज्ञान नहीं है, क्योंकि विषय की प्रकृति अंतर्ज्ञान के अनुकूल नहीं है। मैं मानता हूँ; अर्थात्, मैं इस पर विश्वास करने की सभी भावनाओं के आगे झुक जाता हूँ; मैं इस पर विश्वास करने का निश्चय करता हूँ और इस निर्णय पर अडिग रहता हूँ; अंततः, मैं ऐसा व्यवहार करता हूँ मानो मुझे इस बात का पूरा यकीन हो—और यह सब एक ही दृष्टिकोण की संश्लेषित एकता में होता है। जिसे मैं सच्चा विश्वास कहता हूँ, उसे हेगेल तात्कालिकता कहते हैं। यह सरल विश्वास है। हेगेल तुरंत यह सिद्ध कर देते कि तात्कालिकता मध्यस्थता की मांग करती है और विश्वास स्वयं में विश्वास बनकर अविश्वास की अवस्था में पहुँच जाता है। यदि मैं मानता हूँ कि मेरा मित्र पियरे मुझे पसंद करता है, तो इसका अर्थ है कि उसकी मित्रता मुझे उसके सभी कार्यों का अर्थ प्रतीत होती है। विश्वास पियरे के कार्यों के अर्थ की एक विशेष चेतना है। लेकिन यदि मैं जानता हूँ कि मैं विश्वास करता हूँ, तो विश्वास मुझे बिना किसी बाहरी सहसंबंध के विशुद्ध व्यक्तिपरक निर्धारण के रूप में प्रतीत होता है। यही कारण है कि "विश्वास करना" शब्द का प्रयोग अटूट आस्था की दृढ़ता को दर्शाने के लिए किया जाता है ("हे ईश्वर, मैं आप पर विश्वास करता हूँ") और इसकी निहत्थी और विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक प्रकृति को भी दर्शाता है। ("क्या पियरे मेरा मित्र है? मुझे नहीं पता; मुझे ऐसा लगता है।") लेकिन चेतना का स्वभाव ऐसा है कि उसमें परवर्ती और तात्कालिक एक ही सत्ता हैं। विश्वास करना यह जानना है कि कोई विश्वास करता है, और यह जानना कि कोई विश्वास करता है, अब विश्वास नहीं रह जाता। इस प्रकार विश्वास करना अब विश्वास नहीं रह जाता क्योंकि वह केवल विश्वास करना है—यह एक ही गैर-धार्मिक आत्म-चेतना की एकता में है। निश्चित रूप से, हमने यहाँ इस घटना का वर्णन "जानना" शब्द से करके उसे बाध्य किया है; गैर-धार्मिक चेतना जानना नहीं है। लेकिन यह अपनी पारदर्शिता में ही समस्त ज्ञान का मूल है। इस प्रकार विश्वास की गैर-धार्मिक चेतना विश्वास का नाश करती है। लेकिन साथ ही, पूर्व-चिंतनशील चिंतन का नियम यह भी दर्शाता है कि विश्वास की सत्ता ही विश्वास की चेतना होनी चाहिए।
इस प्रकार, विश्वास एक ऐसा अस्तित्व है जो अपने ही अस्तित्व पर प्रश्न उठाता है, जो स्वयं को केवल अपने विनाश में ही जान सकता है, जो स्वयं को केवल स्वयं का खंडन करके ही स्वयं को प्रकट कर सकता है। यह एक ऐसा अस्तित्व है जिसके लिए होना ही प्रकट होना है और प्रकट होना ही स्वयं का खंडन करना है। विश्वास करना ही अविश्वास है। हम इसका कारण देख सकते हैं; चेतना का अस्तित्व स्वयं से विद्यमान होना है, फिर स्वयं को अस्तित्व में लाना और इस प्रकार स्वयं से परे जाना है। इस अर्थ में चेतना निरंतर स्वयं से पलायन करती रहती है, विश्वास अविश्वास बन जाता है, तात्कालिक मध्यस्थता बन जाता

है, निरपेक्ष सापेक्ष बन जाता है और सापेक्ष निरपेक्ष बन जाता है। सद्भावना का आदर्श (जो विश्वास है उस पर विश्वास करना) सत्यनिष्ठा (जो है वही होना) की तरह, स्वयं में होने का आदर्श है। प्रत्येक विश्वास अपूर्ण होता है; व्यक्ति कभी भी अपने विश्वास पर पूर्णतः विश्वास नहीं करता। फलस्वरूप, दुर्भावना की मूल परियोजना चेतना के इस आत्म-विनाश का ही उपयोग है। यदि सद्भावना से किया गया प्रत्येक विश्वास एक असंभव विश्वास है, तो प्रत्येक असंभव विश्वास के लिए एक स्थान है। खुद को साहसी मानने में मेरी असमर्थता मुझे हतोत्साहित नहीं करेगी, क्योंकि हर विश्वास में पूर्ण विश्वास न होना शामिल होता है। मैं इस असंभव विश्वास को अपना विश्वास मानूंगा। निश्चित रूप से, मैं खुद से यह नहीं छिपा पाऊंगा कि मैं विश्वास इसलिए करता हूं ताकि विश्वास न कर सकूं और इसलिए विश्वास नहीं करता ताकि विश्वास कर सकूं। लेकिन दुर्भावना का सूक्ष्म, पूर्ण विनाश मुझे आश्चर्यचकित नहीं कर सकता; यह सभी विश्वासों के आधार में विद्यमान है। तो फिर यह क्या है? जिस क्षण मैं खुद को साहसी मानना चाहता हूं, मैं जानता हूं कि मैं कायर हूं। और यह निश्चित रूप से मेरे विश्वास को नष्ट कर देगा। लेकिन सबसे पहले, मैं न तो साहसी हूं और न ही कायर, यदि हम इसे 'स्वयं में' के दृष्टिकोण से समझें। दूसरे स्थान पर, मैं नहीं जानता कि मैं साहसी हूं; स्वयं के बारे में ऐसा दृष्टिकोण केवल विश्वास के साथ ही संभव है, क्योंकि यह विशुद्ध चिंतनशील निश्चितता से परे है। तीसरे स्थान पर, यह सत्य है कि दुर्भावना वह मानने में सफल नहीं होती जो वह मानना चाहती है। लेकिन यह ठीक उसी बात को स्वीकार करने में ही दुर्भावना है जिस पर वह विश्वास करती है। नेक नीयत "अपने विश्वासों पर अविश्वास" से बचने के लिए यथार्थ में शरण लेती है। दुर्भावना "अपने विश्वासों पर अविश्वास" में शरण लेकर यथार्थ से भागती है। यह पहले से ही सभी विश्वासों को निष्क्रिय कर देती है—वे विश्वास जिन्हें वह अपनाना चाहती है और साथ ही साथ अन्य विश्वासों को भी, जिनसे वह बचना चाहती है। विश्वासों के इस आत्म-विनाश की इच्छा में, जिससे विज्ञान प्रमाणों की खोज करके बचता है, यह उन विश्वासों को नष्ट कर देती है जो इसके विपरीत हैं, जो स्वयं को केवल विश्वास के रूप में प्रकट करते हैं। इस प्रकार हम दुर्भावना की मूल घटना को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। कपटपूर्ण विश्वास में न तो कोई कपटपूर्ण झूठ होता है और न ही छलपूर्ण विचारों की जानबूझकर की गई तैयारी। बल्कि कपटपूर्ण विश्वास का पहला कार्य उस चीज़ से भागना है जिससे वह भाग नहीं सकता, उस चीज़ से भागना है जो वह है। भागने की यह योजना ही कपटपूर्ण विश्वास को उसके अस्तित्व के भीतर एक आंतरिक विघटन का एहसास कराती है, और यही विघटन है जो कपटपूर्ण विश्वास बनना चाहता है। वास्तव में, हमारे अस्तित्व के सामने हम जो दो तात्कालिक दृष्टिकोण अपना सकते हैं, वे इस अस्तित्व की प्रकृति और इसके अंतर्मन से सीधे संबंध से निर्धारित होते हैं। सद्भाव अपने अस्तित्व के आंतरिक विघटन से भागकर उस अंतर्मन की ओर जाना चाहता है जो उसे होना चाहिए, लेकिन वह नहीं है। कपटपूर्ण विश्वास अपने अस्तित्व के आंतरिक विघटन के माध्यम से अंतर्मन से भागना चाहता है। लेकिन यह इस विघटन को ही नकार देता है, जैसे यह

स्वयं कपटपूर्ण विश्वास होने से इनकार करता है। कपटपूर्ण विश्वास "वह न होने" के माध्यम से उस अंतर्मन से बचने का प्रयास करता है जो मैं नहीं हूँ, उस स्थिति में जब मैं वह नहीं होता जो मैं नहीं हूँ। यह स्वयं को दुर्भावना के रूप में अस्वीकार करता है और उस अंतर्मन की ओर लक्षित होता है जिसमें मैं "वह न होना जो कोई नहीं है" के भाव में नहीं हूँ। यदि दुर्भावना संभव है, तो इसका कारण यह है कि यह मानव के प्रत्येक कार्य के लिए एक तात्कालिक, स्थायी खतरा है; इसका कारण यह है कि चेतना अपने अस्तित्व में दुर्भावना का एक स्थायी जोखिम छिपाए रखती है। इस जोखिम का मूल कारण यह है कि चेतना का स्वभाव एक ही समय में वह होना है जो वह नहीं है और वह न होना है जो वह है। इन टिप्पणियों के प्रकाश में, अब हम चेतना के तात्विक अध्ययन को मानव के समग्र अस्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि इस अस्तित्व के तात्कालिक केंद्रक के रूप में देख सकते हैं।
1 दुनिया में दूसरों के साथ "होना"। Tr.
2 सार्त्र का स्वयं का शब्द, जिसका अर्थ है अचानक परिवर्तन या संक्रमण के अधीन। Tr.
3 एन.आर.एफ.
4 ल'अमोर, सी'एस्ट ब्यूकौप प्लस क्यू ल'अमोर।
5 जे सुइस ट्रॉप ग्रैंड पौर मोई।
6 यह आपके लिए पर्याप्त है।
मुझे लगता है कि मुझे बदलाव की कोई ज़रूरत नहीं है।
7 सी.एफ. एल'इमेजिनेयर। निष्कर्ष।
8 एस्क्विसे डी'उन थियोरी डेस इमोशन्स। हरमन पॉल. अंग्रेजी में। भावनाएँ. एक सिद्धांत की रूपरेखा. दार्शनिक पुस्तकालय. 1948.
यदि यह बात मायने नहीं रखती कि कोई व्यक्ति सद्भावना से काम कर रहा है या दुर्भावना से, क्योंकि दुर्भावना सद्भावना को पुनः परिभाषित करती है और सद्भावना की मूल अवधारणा तक पहुँच जाती है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दुर्भावना से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सकते। लेकिन इसके लिए उस अस्तित्व की आत्म-पुनर्प्राप्ति आवश्यक है जो पहले दूषित हो चुका था। इस आत्म-पुनर्प्राप्ति को हम प्रामाणिकता कहेंगे, जिसका वर्णन यहाँ उचित नहीं है।

भाग दो

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अध्याय एक

स्वयं के लिए तात्कालिक संरचनाएँ I. स्वयं के प्रति उपस्थिति निषेध ने हमें स्वतंत्रता की ओर, स्वतंत्रता को दुर्भावना की ओर, और दुर्भावना को चेतना के अस्तित्व की ओर निर्देशित किया है, जो दुर्भावना की संभावना के लिए आवश्यक शर्त है। पिछले अध्यायों में स्थापित आवश्यकताओं के आलोक में, अब हमें उस वर्णन को पुनः आरंभ करना होगा जिसका प्रयास हमने इस कृति के परिचय में किया था; अर्थात्, हमें पूर्व-चिंतनशील कॉगिटो के तल पर लौटना होगा। अब कॉगिटो कभी भी उससे कुछ अलग नहीं देता जो हम उससे पूछते हैं। डेसकार्टेस ने इसके कार्यात्मक पहलू के संबंध में इस पर प्रश्न उठाया—"मैं संदेह करता हूँ, मैं सोचता हूँ।" और क्योंकि वह इस कार्यात्मक पहलू से अस्तित्वगत द्वंद्ववाद तक बिना किसी सूत्र के आगे बढ़ना चाहता था, इसलिए वह पदार्थ की त्रुटि में पड़ गया। इस त्रुटि से आगाह होकर, हुसर्ल कार्यात्मक वर्णन के तल पर ही भयभीत होकर बने रहे। इस तथ्य के कारण वे कभी भी प्रत्यक्ष स्वरूप के शुद्ध वर्णन से आगे नहीं बढ़ पाए; उन्होंने स्वयं को कॉगिटो के भीतर बंद कर लिया और—अपने इनकार के बावजूद—घटनावादी कहलाने के पात्र हैं, न कि घटनाविज्ञानी। उनका घटनावाद हर क्षण कांटियन आदर्शवाद की सीमा पर है। हेइडेगर, उस वर्णनात्मक घटनावाद से बचना चाहते थे जो सार के मेगारियन, द्वंद्व-विरोधी अलगाव की ओर ले जाता है, इसलिए वे कॉगिटो से गुज़रे बिना अस्तित्ववादी विश्लेषण से शुरुआत करते हैं। लेकिन चूंकि डेसिन (Dasein) शुरू से ही चेतना के आयाम से वंचित रहा है, इसलिए यह इस आयाम को कभी पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। हेइडेगर मानवीय वास्तविकता को एक आत्म-समझ प्रदान करते हैं जिसे वे अपनी संभावनाओं की एक "एक्स्टेटिक परियोजना" के रूप में परिभाषित करते हैं। निश्चित रूप से मेरा इरादा इस परियोजना के अस्तित्व को नकारना नहीं है। लेकिन ऐसी समझ कैसे हो सकती है जो स्वयं में चेतना (की) समझ न हो? मानवीय वास्तविकता का यह एक्स्टेटिक चरित्र एक वस्तु-समान, स्वयं में अंधा बन जाएगा जब तक कि यह एक्स्टेटिक चेतना से उत्पन्न न हो। वास्तव में कॉगिटो हमारा प्रस्थान बिंदु होना चाहिए, लेकिन हम इसके बारे में एक प्रसिद्ध कहावत का उपहास करते हुए कह सकते हैं कि यह हमें तभी आगे ले जाता है जब हम इससे बाहर निकल जाते हैं। हमारे पिछले अध्ययन का उद्देश्य, जो कुछ प्रकार के आचरण की संभावना की शर्तों से संबंधित था, केवल हमें चेतना के अस्तित्व पर प्रश्न उठाने की स्थिति में लाना और हमें वह द्वंद्वात्मक साधन प्रदान करना था जो हमें चेतना में ही तात्कालिकता से मुक्ति पाकर उस समग्र अस्तित्व की ओर ले जाए जो मानवीय वास्तविकता का निर्माण करता है। आइए अब हम गैर-आध्यात्मिक आत्म-चेतना के वर्णन पर लौटें; आइए हम इसके परिणामों की जांच करें और यह प्रश्न करें कि चेतना के लिए इसका क्या अर्थ है कि उसे अनिवार्य रूप से वह होना चाहिए जो वह नहीं है और वह नहीं होना चाहिए जो वह है।

मौलिक रूप से भिन्न हैं, यद्यपि वे एक ही सत्ता की अविभाज्य एकता के अंतर्गत आते हैं।
कोई कहेगा, ठीक है, लेकिन कम से कम हमें यह तो कहना ही चाहिए कि विश्वास की चेतना, विश्वास की चेतना ही है। इस स्तर पर हम पहचान और स्वयं-स्वयं को पुनः खोजते हैं। यह केवल उस उपयुक्त तल का चुनाव करने का प्रश्न था जिस पर हम अपने विषय को समझें। लेकिन यह सच नहीं है: यह कहना कि विश्वास की चेतना, विश्वास की चेतना ही है, चेतना को विश्वास से अलग करना, कोष्ठक को दबाना और विश्वास को चेतना का विषय बनाना है; यह अचानक परावर्तन के तल पर उतरना है। विश्वास की वह चेतना जो केवल विश्वास की चेतना ही होगी, वास्तव में स्वयं की चेतना को विश्वास की चेतना के रूप में ग्रहण करेगी। विश्वास चेतना का एक शुद्ध पारलौकिक और बौद्धिक गुण बन जाएगा; चेतना उस विश्वास के सामने अपनी इच्छानुसार स्वयं को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र होगी। यह उस उदासीन दृष्टि के समान होगी, जिसके अनुसार विक्टर कजिन कहते हैं, चेतना मानसिक घटनाओं को एक-एक करके स्पष्ट करने के लिए उन पर दृष्टि डालती है। लेकिन हुसर्ल द्वारा किए गए व्यवस्थित संदेह के विश्लेषण ने स्पष्ट रूप से यह तथ्य दिखाया है कि केवल चिंतनशील चेतना ही उस चेतना से विभाजित हो सकती है जिस पर चिंतन किया गया है। केवल चिंतनशील स्तर पर ही हम एक तर्क को कोष्ठक में रखने का प्रयास कर सकते हैं, केवल वहीं हम हुसर्ल द्वारा वर्णित 'मिटमाचेन' (संपर्क) को अस्वीकार कर सकते हैं। विश्वास की चेतना, विश्वास को अपरिवर्तनीय रूप से बदलते हुए भी, स्वयं को विश्वास से अलग नहीं करती; यह आस्था के कार्य को करने के लिए विद्यमान है। इस प्रकार हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि विश्वास की चेतना ही विश्वास है। इसके मूल में हमने संदर्भ के इस दोहरे खेल को समझा है: विश्वास की चेतना ही विश्वास है और विश्वास ही विश्वास की चेतना है। किसी भी स्थिति में हम यह नहीं कह सकते कि चेतना ही चेतना है या विश्वास ही विश्वास है। प्रत्येक पद दूसरे को संदर्भित करता है और दूसरे में समाहित हो जाता है, फिर भी प्रत्येक पद दूसरे से भिन्न है। हमने देखा है कि न तो विश्वास, न ही सुख, न ही आनंद चेतना से पहले अस्तित्व में आ सकते हैं; चेतना ही उनके अस्तित्व का मापदंड है; फिर भी यह भी उतना ही सत्य है कि विश्वास, इस तथ्य के कारण कि यह केवल विक्षिप्त अवस्था में ही विद्यमान हो सकता है, प्रारंभ से ही स्वयं से पलायन करने वाले, उन सभी अवधारणाओं की एकता को चकनाचूर करने वाले के रूप में अस्तित्व में आता है जिनमें कोई इसे समाहित करना चाहता है।
इस प्रकार, विश्वास की चेतना और विश्वास एक ही सत्ता हैं, जिसकी विशेषता पूर्ण अंतर्निहितता है। लेकिन जैसे ही हम इस सत्ता को समझने का प्रयास करते हैं, यह हमारी उंगलियों से फिसल जाती है, और हम स्वयं को द्वैत के एक पैटर्न, प्रतिबिंबों के खेल में उलझा हुआ पाते हैं। क्योंकि चेतना एक प्रतिबिंब (रिफ्लेट) है, लेकिन प्रतिबिंब के रूप में यह ठीक वही है जो प्रतिबिंबित (रिफ्लेचिसेंट) है, और यदि हम इसे प्रतिबिंबित के रूप में समझने का प्रयास करते हैं, तो यह लुप्त हो जाती है और हम प्रतिबिंब पर ही लौट आते हैं। प्रतिबिंब-प्रतिबिंब (रिफ्लेट-रिफ्लेटेंट) की इस संरचना ने

दार्शनिकों को विचलित कर दिया है, जिन्होंने इसे अनंतता के संदर्भ में समझाने का प्रयास किया है—या तो इसे स्पिनोज़ा की तरह एक विचार-विचार के रूप में स्थापित करके, जो इसे विचार-विचार-विचार आदि कहते हैं, या इसे हेगेल की तरह स्वयं पर प्रतिध्वनि के रूप में, वास्तविक अनंत के रूप में परिभाषित करके। लेकिन चेतना में अनंतता का समावेश, इस तथ्य के अलावा कि यह घटना को स्थिर और अस्पष्ट कर देता है, केवल एक व्याख्यात्मक सिद्धांत है जिसे विशेष रूप से चेतना के अस्तित्व को स्वयं-में-अस्तित्व तक सीमित करने के लिए बनाया गया है। फिर भी, यदि हम प्रतिबिंब के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—जैसा कि दिया गया है, प्रतिबिंबित करते हुए—तो हम स्वयं-में-अस्तित्व से भिन्न एक अस्तित्व की कल्पना करने के लिए बाध्य हैं, एक ऐसी एकता नहीं जिसमें द्वैत समाहित हो, एक ऐसा संश्लेषण नहीं जो थीसिस और एंटीथीसिस के अमूर्त क्षणों को पार कर जाए और ऊपर उठा दे, बल्कि एक ऐसा द्वैत जो एकता है, एक ऐसा प्रतिबिंब (रिफ्लेक्ट) जो स्वयं का प्रतिबिंब (रिफ्लेक्शन) है। वास्तव में, यदि हम संपूर्ण घटना (अर्थात, इस द्वैत या विश्वास की चेतना की एकता) को समझने का प्रयास करते हैं, तो हम तुरंत एक पद की ओर निर्देशित होते हैं, और यह पद बदले में हमें अंतर्निहितता के एकात्मक संगठन की ओर निर्देशित करता है। लेकिन इसके विपरीत, यदि हम द्वैतवाद से हटकर चेतना और विश्वास को एक द्वंद्व के रूप में स्थापित करना चाहें, तो हम स्पिनोज़ा के विचारों के जाल में फंस जाते हैं और उस पूर्व-चिंतनशील घटना से चूक जाते हैं जिसका अध्ययन हम करना चाहते थे। ऐसा इसलिए है क्योंकि पूर्व-चिंतनशील चेतना आत्म-चेतना है। आत्म की इसी अवधारणा का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि यही चेतना के मूल स्वरूप को परिभाषित करती है।
सबसे पहले, आइए ध्यान दें कि 'स्वयं में' शब्द, जिसे हमने परंपरा से पारलौकिक सत्ता को दर्शाने के लिए उधार लिया है, सटीक नहीं है। वास्तव में, स्वयं के साथ समरूपता की सीमा पर, 'स्व' लुप्त हो जाता है और उसकी जगह एक समान सत्ता आ जाती है। 'स्व' स्वयं में सत्ता का गुण नहीं हो सकता। स्वभाव से यह एक प्रतिवर्ती क्रिया है, जैसा कि वाक्यविन्यास पर्याप्त रूप से इंगित करता है—विशेष रूप से लैटिन वाक्यविन्यास की तार्किक कठोरता, जिसमें व्याकरण द्वारा 'इजुस' और 'सुई' के उपयोगों के बीच सख्त अंतर स्थापित किए गए हैं। 'स्व' संदर्भित करता है, लेकिन यह ठीक विषय को संदर्भित करता है। यह विषय और स्वयं के बीच एक संबंध को इंगित करता है, और यह संबंध ठीक एक द्वैत है, लेकिन एक विशिष्ट द्वैत है क्योंकि इसके लिए विशिष्ट क्रिया प्रतीकों की आवश्यकता होती है। लेकिन दूसरी ओर, 'स्व' न तो सत्ता को विषय के रूप में और न ही विधेय के रूप में दर्शाता है। उदाहरण के लिए, यदि मैं "इल स'एननुई" में "से" पर विचार करूं, तो मैं यह स्थापित करता हूं कि यह स्वयं विषय को इसके पीछे प्रकट होने की अनुमति देने के लिए खुलता है। यह विषय नहीं है, क्योंकि स्वयं से संबंध के बिना विषय स्वयं में समाहित हो जाएगा; न ही यह यथार्थ का सुसंगत अभिव्यंजक है, क्योंकि यह विषय को अपने पीछे प्रकट होने देता है। वास्तव में, स्वयं को एक वास्तविक

रहे जो निरंतर अपने भीतर अस्तित्व का विराम उत्पन्न करता है। यह विराम हमें किसी अन्य अस्तित्व की ओर नहीं ले जाता; यह केवल स्वयं से स्वयं का, परावर्तन से परावर्तक का, परावर्तक से परावर्तक का निरंतर संदर्भ है। यद्यपि यह संदर्भ स्वयं के हृदय में अनंत गति उत्पन्न नहीं करता, बल्कि एक ही क्रिया की एकता के भीतर निहित है। अनंत गति केवल उस चिंतनशील दृष्टि से संबंधित है जो घटना को समग्रता के रूप में समझना चाहती है और जो परावर्तन से परावर्तक, परावर्तक से परावर्तक तक निरंतर बिना रुके संदर्भित होती रहती है। इस प्रकार शून्यता अस्तित्व का यह छिद्र है, स्वयं में निहित का स्वयं की ओर यह पतन है, वह पतन जिससे स्वयं के लिए अस्तित्व का निर्माण होता है। परन्तु इस शून्यता को तभी "अस्तित्व में लाया जा सकता है" जब इसका उधार लिया गया अस्तित्व, अस्तित्व द्वारा किए गए किसी विलोपनकारी कार्य से संबंधित हो। इस निरंतर कार्य को, जिसके द्वारा स्वयं में निहित स्वयं की उपस्थिति में विलीन हो जाता है, हम सत्तामीमांसीय कार्य कहेंगे। शून्यता, अस्तित्व द्वारा अस्तित्व पर प्रश्न उठाना है—अर्थात्, चेतना या स्वयं के लिए। यह एक निरपेक्ष घटना है जो अस्तित्व के माध्यम से अस्तित्व में आती है और जो अस्तित्व के बिना भी, निरंतर अस्तित्व द्वारा पोषित होती है। चूँकि स्वयं में निहित अस्तित्व अपनी पूर्ण धनात्मकता के कारण अपने अस्तित्व में पृथक है, इसलिए कोई भी अस्तित्व, अस्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता और शून्यता के सिवा अस्तित्व के माध्यम से अस्तित्व में कुछ भी घटित नहीं हो सकता। शून्यता, अस्तित्व की विशिष्ट संभावना और उसकी अद्वितीय संभावना है। फिर भी यह मूल संभावना केवल उस निरपेक्ष कार्य में प्रकट होती है जो इसे साकार करता है। चूँकि शून्यता, अस्तित्व की शून्यता है, इसलिए यह केवल स्वयं अस्तित्व के माध्यम से ही अस्तित्व में आ सकती है। निःसंदेह, इसका अस्तित्व एक विशिष्ट सत्ता के माध्यम से उत्पन्न होता है, जो मानवीय वास्तविकता है। परन्तु यह सत्ता मानवीय वास्तविकता के रूप में इसलिए निर्मित होती है क्योंकि यह अपने आप में शून्यता की मूल परियोजना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मानवीय वास्तविकता अस्तित्व है क्योंकि अपने भीतर और अपने अस्तित्व के लिए यह अस्तित्व के केंद्र में स्थित शून्यता का अद्वितीय आधार है।
II. स्वयं के लिए की वास्तविकता फिर भी, यह अपने आप में विद्यमान है। हम कह सकते हैं कि यह तब भी विद्यमान है, जब यह एक ऐसा अस्तित्व है जो न तो वह है जो यह है और न ही वह जो यह नहीं है। यह इसलिए विद्यमान है क्योंकि चाहे इसे विफल करने वाली कितनी भी बाधाएँ क्यों न हों, ईमानदारी की परियोजना कम से कम कल्पना करने योग्य तो है ही। यह अपने आप में विद्यमान है, एक घटना की तरह, उस अर्थ में जिसमें मैं कह सकता हूँ कि फिलिप द्वितीय रहे हैं, कि मेरा मित्र पियरे है या विद्यमान है। यह अपने आप में विद्यमान है, जहाँ तक यह उस स्थिति में प्रकट होता है जिसे इसने नहीं चुना है, जैसे पियरे 1942 में एक फ्रांसीसी बुर्जुआ है, जैसे श्मिट 1870 में बर्लिन का एक मजदूर था; यह इसलिए विद्यमान है क्योंकि इसे एक दुनिया में फेंक दिया जाता है और एक "स्थिति" में छोड़ दिया जाता

है; यह विशुद्ध रूप से आकस्मिक है क्योंकि इसके लिए, दुनिया की चीजों के लिए, इस दीवार के लिए, इस पेड़ के लिए, इस कप के लिए, मूल प्रश्न पूछा जा सकता है: "यह अस्तित्व ठीक ऐसा क्यों है, अन्यथा क्यों नहीं?" इसका अर्थ यह है कि इसमें कुछ ऐसा है जिसका यह आधार नहीं है - दुनिया के प्रति इसकी उपस्थिति।
अस्तित्व स्वयं को अपने आधार के रूप में नहीं समझता, और यही समझ प्रत्येक चिंतन का आधार है। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि यह डेसकार्टेस के चिंतनशील चिंतन में तुरंत प्रकट हो जाता है। जब डेसकार्टेस इस रहस्योद्घाटन का लाभ उठाना चाहते हैं, तो वे स्वयं को एक अपूर्ण अस्तित्व के रूप में समझते हैं, "क्योंकि उन्हें संदेह है।" लेकिन इस अपूर्ण अस्तित्व में वे पूर्णता के विचार की उपस्थिति स्थापित करते हैं। तब वे उस प्रकार के अस्तित्व के बीच एक विखंडन समझते हैं जिसकी वे कल्पना कर सकते हैं और उस अस्तित्व के बीच जो वे स्वयं हैं। यही विखंडन या अस्तित्व का अभाव ईश्वर के अस्तित्व के दूसरे प्रमाण का मूल है। वास्तव में, यदि हम विद्वतापूर्ण शब्दावली को हटा दें, तो इस प्रमाण का क्या शेष बचता है? यह स्पष्ट संकेत कि वह अस्तित्व जिसमें पूर्णता का विचार निहित है, स्वयं का आधार नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वह स्वयं को उस विचार के अनुरूप उत्पन्न करता। दूसरे शब्दों में, एक ऐसा अस्तित्व जो स्वयं ही अपनी नींव हो, वह अपने वास्तविक स्वरूप और अपनी कल्पना के बीच जरा सा भी अंतर सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने अस्तित्व की समझ के अनुरूप ही स्वयं को उत्पन्न करेगा और केवल अपने वास्तविक स्वरूप की ही कल्पना कर सकता है। लेकिन अस्तित्व के सामने अस्तित्वहीनता के रूप में इस आशंका को सर्वप्रथम कॉगिटो द्वारा अपनी आकस्मिकता की समझ माना जाता है। मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ। मैं क्या हूँ? एक ऐसा अस्तित्व जो स्वयं का आधार नहीं है, जो अस्तित्व के रूप में, उस हद तक भिन्न हो सकता है जिस हद तक वह अपने अस्तित्व का हिसाब नहीं देता। यह हमारी अपनी आकस्मिकता का वह पहला अंतर्ज्ञान है जिसे हाइडेगर अप्रामाणिक से प्रामाणिक की ओर संक्रमण के लिए प्रथम प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत करते हैं।5 बेचैनी है, अंतरात्मा से अपील (रूफ डेस गेविसेन्स) है, अपराधबोध की भावना है। वास्तव में, हाइडेगर का वर्णन उस नैतिकता के लिए एक सत्तामीमांसीय आधार स्थापित करने की उनकी चिंता को स्पष्ट रूप से दर्शाता है जिससे वे संबंधित न होने का दावा करते हैं, साथ ही अपने मानवतावाद को पारलौकिक की धार्मिक भावना के साथ सामंजस्य स्थापित करने की भी। हमारी आकस्मिकता का अंतर्ज्ञान अपराधबोध की भावना के समान नहीं है। फिर भी यह सच है कि स्वयं के बारे में हमारी अपनी धारणा में, हम स्वयं को एक अनुचित तथ्य के रूप में देखते हैं। पहले, हम स्वयं को चेतना के रूप में समझते थे—अर्थात्, एक "स्वयं विद्यमान प्राणी" के रूप में। एक ही प्रकार के अस्तित्व के उद्भव की एकता के भीतर, हम वह प्राणी कैसे हो सकते हैं जो स्वयं विद्यमान है और अपने अस्तित्व का आधार नहीं है? या दूसरे शब्दों में, चूंकि स्वयं-अस्तित्व—जहां तक यह है — स्वयं-अस्तित्व का आधार नहीं है (अर्थात्, इसका आधार नहीं है), तो स्वयं-

अस्तित्व का आधार होने के नाते यह अपने शून्यता का आधार कैसे हो सकता है? उत्तर प्रश्न में ही निहित है।
यद्यपि अस्तित्व वास्तव में शून्यता का आधार है, क्योंकि यह अपने ही अस्तित्व का विलोपन है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यह अपने अस्तित्व का आधार है। अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए इसे स्वयं से दूरी पर विद्यमान होना होगा, और इसका अर्थ होगा स्थापित अस्तित्व का विलोपन, उस अस्तित्व के विलोपन के रूप में जो स्थापित करता है—एक द्वैत जो एकता होगी; यहाँ हम स्व-के-लिए के मामले में वापस आ जाते हैं। संक्षेप में, किसी ऐसे अस्तित्व की कल्पना करने का प्रत्येक प्रयास जो अपने अस्तित्व का आधार होगा, अनिवार्य रूप से एक ऐसे अस्तित्व के निर्माण में परिणत होता है जो स्वयं- में-अस्तित्व के रूप में आकस्मिक है, और अपने ही शून्यता का आधार होगा। कारणता की वह क्रिया जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं का कारण है, एक विलोपनकारी क्रिया है, जैसे स्वयं द्वारा स्वयं की प्रत्येक पुनर्प्राप्ति, उसी हद तक जिस हद तक आवश्यकता का मूल संबंध स्वयं की ओर वापसी है, एक प्रतिवर्तकता है। यह मूल आवश्यकता बदले में एक आकस्मिक अस्तित्व के आधार पर प्रकट होती है, ठीक उसी अस्तित्व पर जो स्वयं का कारण बनने के लिए है। लाइबनिज़ का आवश्यकता को संभावना के संदर्भ में परिभाषित करने का प्रयास—एक परिभाषा जिसे कांट ने पुनः अपनाया—ज्ञान के दृष्टिकोण से किया गया है, न कि अस्तित्व के दृष्टिकोण से। संभावना से अस्तित्व तक का वह मार्ग, जैसा कि लाइबनिज़ ने परिकल्पित किया है (आवश्यक एक ऐसा अस्तित्व है जिसकी संभावना उसके अस्तित्व को दर्शाती है), हमारे अज्ञान से ज्ञान की ओर का मार्ग है। वास्तव में, चूंकि संभावना अस्तित्व से पहले आती है, इसलिए यह केवल हमारे विचार के संबंध में ही संभावना हो सकती है। यह उस अस्तित्व के संबंध में एक बाह्य संभावना है जिसकी यह संभावना है, क्योंकि अस्तित्व इससे एक सिद्धांत के परिणाम की तरह प्रकट होता है। लेकिन हमने पहले ही बताया था कि संभावना की धारणा को दो पहलुओं से समझा जा सकता है। हम इसे एक व्यक्तिपरक संकेत बना सकते हैं। कथन, "यह संभव है कि पियरे मर गया हो," इंगित करता है कि मैं पियरे के भाग्य के बारे में अज्ञानी हूं, और इस मामले में यह एक साक्षी है जो दुनिया की उपस्थिति में संभव का निर्णय करता है। अस्तित्व की संभावना उसके अस्तित्व की संभावनाओं का आकलन करने वाले शुद्ध दृष्टिकोण में स्वयं से बाहर होती है; संभावना वास्तव में हमें अस्तित्व से पहले दी जा सकती है; लेकिन यह हमें दिया गया है और यह किसी भी तरह से इस अस्तित्व की संभावना नहीं है। मेज पर लुढ़कने वाली बिलियर्ड गेंद में कपड़े की तह से अपने रास्ते से भटकने की संभावना नहीं होती; न ही भटकने की संभावना कपड़े से संबंधित होती है; इसे केवल एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा एक बाह्य संबंध के रूप में स्थापित किया जा सकता है। लेकिन संभावना हमें वास्तविकता की एक तात्विक संरचना के रूप में भी प्रकट हो सकती है। तब यह कुछ प्राणियों से उनकी संभावना के रूप में संबंधित होती है; यह वह संभावना है जो वे हैं, जो उन्हें होना है। इस स्थिति में अस्तित्व अपने अस्तित्व में अपनी संभावनाओं को बनाए रखता है; यह उनका आधार है, और अस्तित्व की अनिवार्यता तब

है। लेकिन ताकि मैं अपनी स्थिति से जुड़े दायित्वों को स्वतंत्र रूप से अर्थ दे सकूँ, तब एक अर्थ में स्वयं के लिए के केंद्र में, एक निरंतर क्षणभंगुर समग्रता के रूप में, स्वयं में अस्तित्व को मेरी स्थिति की क्षणभंगुर आकस्मिकता के रूप में दिया जाना चाहिए। यह इस तथ्य का परिणाम है कि यद्यपि मुझे एक कैफ़े वेटर होने के लिए एक कैफ़े वेटर होने का नाटक करना पड़ता है, फिर भी मेरे लिए एक राजनयिक या नाविक होने का नाटक करना व्यर्थ होगा, क्योंकि मैं वह नहीं रहूँगा। मेरी स्थिति का यह अगोचर तथ्य, यह सूक्ष्म अंतर जो बोध के इस नाटक को साधारण नाटक से अलग करता है, वही कारण है कि स्वयं-सम्मोहन, अपनी स्थिति का अर्थ चुनते हुए और स्वयं को स्थिति में आधार बनाते हुए, अपनी स्थिति का चुनाव नहीं कर पाता। मेरी स्थिति का यही भाग मुझे स्वयं को एक साथ अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतः उत्तरदायी— क्योंकि मैं ही उसका आधार हूँ—और फिर भी पूर्णतः अनुचित समझने का कारण बनता है। तथ्यात्मकता के बिना चेतना संसार से अपने लगाव का चुनाव उसी प्रकार कर सकती है जैसे प्लेटो के रिपब्लिक में आत्माएँ अपनी स्थिति का चुनाव करती हैं। मैं स्वयं को "श्रमिक के रूप में जन्म लेना" या "बुर्जुआ के रूप में जन्म लेना" निर्धारित कर सकता हूँ। परन्तु दूसरी ओर, तथ्यात्मकता मुझे बुर्जुआ या श्रमिक के रूप में स्थापित नहीं कर सकती। यह सत्य का प्रतिरोध भी नहीं है, क्योंकि पूर्व-चिंतनशील चिंतन की आधारभूत संरचना में इसे पुनः प्राप्त करके ही मैं इसे इसका अर्थ और इसका प्रतिरोध प्रदान करता हूँ। वास्तविकता मात्र एक संकेत है जो मैं स्वयं को उस अस्तित्व का देता हूं जिससे मुझे स्वयं को पुनः जोड़ना होगा ताकि मैं वह बन सकूं जो मैं हूं।
इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह स्वयं में समाहित और शून्य हो जाता है, जो स्वयं के आधार या उत्थान की अभिव्यक्ति मात्र है, और स्वयं के मूल में ही रहता है। चेतना स्वयं ही अपना आधार है, परन्तु यह आकस्मिक बनी रहती है ताकि अनंत शुद्ध और सरल स्वयं में होने के बजाय एक चेतना का अस्तित्व बना रहे। परम घटना या स्वयं में होना अपने आप में ही आकस्मिक है। यदि मैं पूर्व-चिंतनशील चिंतन के तथ्यों को समझूँ, तो मैं निश्चित रूप से यह स्थापित कर सकता हूँ कि स्वयं का संदर्भ स्वयं से है। स्वयं जो भी हो, वह अस्तित्व की चेतना के रूप में यही है। प्यास, प्यास की चेतना को संदर्भित करती है, जो कि वह अपने आधार के रूप में है—और इसके विपरीत भी। परन्तु समग्रता “प्रतिबिंबित—प्रतिबिंबित करना,” यदि दी जा सकती, तो वह आकस्मिकता और स्वयं में होती। लेकिन इस समग्रता को प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि मैं न तो यह कह सकता हूँ कि प्यास की चेतना ही प्यास की चेतना है, और न ही यह कि प्यास ही प्यास है। यह एक शून्य समग्रता के रूप में, घटना की क्षणभंगुर एकता के रूप में विद्यमान है। यदि मैं घटना को बहुलता के रूप में समझता हूँ, तो यह बहुलता स्वयं को एक पूर्ण एकता के रूप में प्रकट करती है, और इसलिए इसका अर्थ इसकी आकस्मिकता है। अर्थात्, मैं स्वयं से पूछ सकता हूँ, “मैं प्यासा क्यों हूँ? मैं इस गिलास के प्रति सचेत क्यों हूँ? इस 'मैं' के प्रति?” लेकिन जैसे ही मैं इस समग्रता को स्वयं में

ही विद्यमान होता है; और चूँकि यह एक सृजित वस्तु है, इसलिए यह सृष्टि की आकस्मिकता में भाग लेता है। परन्तु यह विद्यमान है। यह अपने आप में विद्यमान होने के चरित्र को अपनी अखंडता में बनाए रखता है, यद्यपि स्वयं के लिए होना इसका गुण है। इसे ही डेसकार्टेस का सारवादी भ्रम कहा जाता है। दूसरी ओर, हमारे लिए, स्वयं के लिए या निरपेक्ष घटना का प्रकट होना वास्तव में स्वयं में विद्यमान द्वारा स्वयं को स्थापित करने के प्रयास को संदर्भित करता है; यह विद्यमान द्वारा अपने विद्य से आकस्मिकता को दूर करने के प्रयास के अनुरूप है। परन्तु यह प्रयास स्वयं में विद्यमान के विनाश का कारण बनता है, क्योंकि स्वयं में विद्यमान स्वयं को स्थापित नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं को या किसी चिंतनशील, विनाशकारी संदर्भ को अपने विद्यमान की निरपेक्ष पहचान में शामिल न कर ले और परिणामस्वरूप स्वयं के लिए में पतित न हो जाए। स्वयं-संबंधी अवधारणा तब स्वयं-संबंधी अवधारणा के विस्तार और विघटन से मेल खाती है, और स्वयं-संबंधी अवधारणा स्वयं को स्थापित करने के प्रयास में ही नष्ट और विलीन हो जाती है। तथ्यात्मकता तब वह पदार्थ नहीं है जिसका स्वयं-संबंधी अवधारणा गुण हो और जो स्वयं को उसी सृजन में समाप्त किए बिना विचार उत्पन्न करे। यह केवल स्वयं-संबंधी अवधारणा में अस्तित्व की स्मृति के रूप में, संसार में उसकी अनुचित उपस्थिति के रूप में विद्यमान रहती है। स्वयं-संबंधी अवधारणा अपने शून्यत्व को तो स्थापित कर सकती है, लेकिन अपने अस्तित्व को नहीं। अपने विसंपीड़न में यह स्वयं को एक ऐसी स्वयं-संबंधी अवधारणा में नष्ट कर देती है जो स्वयं-संबंधी अवधारणा के रूप में ही अपना आधार बन जाती है; परन्तु वह आकस्मिकता जो स्वयं-संबंधी अवधारणा ने स्वयं-संबंधी अवधारणा से प्राप्त की है, पहुँच से बाहर रहती है। यह स्वयं-संबंधी अवधारणा में तथ्यात्मकता के रूप में स्वयं-संबंधी अवधारणा का शेष भाग है और यही वह कारण है जिससे स्वयं-संबंधी अवधारणा की केवल एक तथ्यात्मक आवश्यकता होती है; अर्थात्, यह उसके अस्तित्व-चेतना का आधार है, परन्तु किसी भी स्थिति में वह उसकी उपस्थिति को स्थापित नहीं कर सकती। इस प्रकार चेतना किसी भी स्थिति में स्वयं को अस्तित्व में आने से नहीं रोक सकती, फिर भी वह अपने अस्तित्व के लिए पूरी तरह से जिम्मेदार है।
III. स्वयं के लिए और मूल्यवान होने का अस्तित्व मानव वास्तविकता का कोई भी अध्ययन कॉगिटो से शुरू होना चाहिए। लेकिन कार्टेशियन "मैं सोचता हूँ" को क्षणिक परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है। क्या हम कॉगिटो के मूल में इस तात्कालिकता से परे जाने का कोई मार्ग खोज सकते हैं? यदि मानव वास्तविकता "मैं सोचता हूँ" के अस्तित्व तक ही सीमित होती, तो उसमें केवल एक क्षण का सत्य होता। और यह वास्तव में सच है कि डेसकार्टेस के अनुसार कॉगिटो एक तात्कालिक समग्रता है, क्योंकि यह स्वयं भविष्य पर कोई दावा नहीं करता और क्योंकि इसे एक क्षण से दूसरे क्षण तक ले जाने के लिए निरंतर "सृजन" की क्रिया आवश्यक है। लेकिन क्या हम एक क्षण के सत्य की कल्पना भी कर सकते हैं? क्या कॉगिटो अपने तरीके से अतीत और भविष्य दोनों को शामिल नहीं करता? हाइडेगर इस बात से इतने आश्वस्त हैं कि हुसर्ल

रूप में जो स्वयं नहीं है। अर्थात्, यह अपने अस्तित्व को एक ऐसी सत्ता के माध्यम से निर्धारित करती है जो स्वयं नहीं है।
फिर भी, न होने के अनेक तरीके हैं और उनमें से कुछ अस्तित्व के आंतरिक स्वरूप को नहीं छूते, जो कि वह नहीं है जो वह नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि मैं किसी स्याहीदानी के बारे में कहूँ कि वह पक्षी नहीं है, तो स्याहीदानी और पक्षी दोनों ही निषेध से अप्रभावित रहते हैं। यह एक बाह्य संबंध है जिसे केवल एक मानवीय वास्तविकता द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है जो साक्षी के रूप में कार्य करती है। इसके विपरीत, एक प्रकार का निषेध ऐसा भी होता है जो उस चीज़ के बीच आंतरिक संबंध स्थापित करता है जिसे अस्वीकार किया जा रहा है और जिसके बारे में अस्वीकृति की जा रही है।
सभी आंतरिक निषेधों में से, जो अस्तित्व में सबसे गहराई तक प्रवेश करता है, जो अपने अस्तित्व में उस अस्तित्व को समाहित करता है जिसके प्रति वह इनकार करता है, साथ ही उस अस्तित्व को भी जिसका वह इनकार करता है—यह निषेध अभाव है। यह अभाव स्वयं-स्वयं की प्रकृति से संबंधित नहीं है, जो पूर्णतः सकारात्मकता है। यह संसार में केवल मानवीय वास्तविकता के उभार के साथ प्रकट होता है। केवल मानवीय जगत में ही अभाव हो सकते हैं। अभाव एक त्रिमूर्ति को पूर्वकल्पित करता है: वह जो अनुपस्थित है या "अभाव", वह जो अभाव की कमी को महसूस करता है या "अस्तित्व", और एक समग्रता जो अभाव से टूट गई है और जो "अभाव" और "अस्तित्व" के संश्लेषण से पुनर्स्थापित होगी—यही "अभाव" है। वह अस्तित्व जो मानवीय वास्तविकता की अंतर्ज्ञान के लिए मुक्त होता है, वह हमेशा वह होता है जिसमें किसी चीज का अभाव होता है—अर्थात, अस्तित्व। उदाहरण के लिए, यदि मैं कहूँ कि चंद्रमा पूर्ण नहीं है और उसका एक चौथाई भाग अधूरा है, तो मैं यह निर्णय अर्धचंद्राकार चंद्रमा के पूर्ण अंतर्ज्ञान पर आधारित करता हूँ। इस प्रकार, अंतर्ज्ञान में जो प्रकट होता है वह एक ऐसा स्वतः-स्वरूप है जो स्वयं में न तो पूर्ण है और न ही अपूर्ण, बल्कि वह बस वही है जो वह है, अन्य प्राणियों से संबंध के बिना। इस स्वतः- स्वरूप को अर्धचंद्राकार चंद्रमा के रूप में समझने के लिए, यह आवश्यक है कि मानवीय वास्तविकता दिए गए को पार करके साकार समग्रता की परियोजना— यहाँ पूर्ण चंद्रमा का चक्र—की ओर अग्रसर हो और दिए गए की ओर लौटकर उसे अर्धचंद्राकार चंद्रमा के रूप में स्थापित करे; अर्थात्, उसे उसके अस्तित्व में उस समग्रता के संदर्भ में साकार करे जो उसका आधार बनती है। इसी अग्रगमन में, अपूर्णता को उस रूप में स्थापित किया जाएगा जिसका विद्यमान में संश्लेषित योग, अपूर्णता की संश्लेषित समग्रता का पुनर्निर्माण करेगा। इस अर्थ में, अपूर्णता विद्यमान के समान ही प्रकृति की है; स्थिति को उलट देना ही पर्याप्त होगा ताकि वह विद्यमान बन जाए जिसमें अपूर्णता अनुपस्थित है, जबकि विद्यमान अपूर्णता बन जाएगा। विद्यमान के पूरक के रूप में यह अभाव, अभावग्रस्तता की समग्रता से निर्धारित होता है। इस प्रकार मानवीय जगत में, अपूर्ण अस्तित्व, जो अभावग्रस्तता के रूप में अंतर्ज्ञान को प्राप्त होता है, अपने अस्तित्व में अभावग्रस्तता से निर्मित होता है—अर्थात, जो वह नहीं है उससे।

एक अवस्था का अस्तित्व होगा, और हमें एक बार फिर एक पारलौकिक साक्षी की ओर ले जाया जाता है। लेकिन तब यह प्यास इस पारलौकिकता के लिए इच्छा होगी, स्वयं के लिए नहीं; यह किसी दूसरे की दृष्टि में इच्छा होगी। यदि इच्छा को स्वयं के लिए इच्छा होना है, तो उसे अनिवार्य रूप से स्वयं पारलौकिकता होना चाहिए; अर्थात्, उसे स्वभाव से ही स्वयं से वांछित वस्तु की ओर पलायन होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह एक अभाव होना चाहिए—लेकिन वस्तु-अभाव नहीं, एक ऐसा अभाव जो अनुभव किया गया हो, उस अतिप्रचलन द्वारा निर्मित हो जो वह नहीं है; यह स्वयं का अभाव होना चाहिए। इच्छा अस्तित्व का अभाव है। यह अपने अंतर्मन में उस अस्तित्व से ग्रस्त रहती है जिसकी यह इच्छा है। इस प्रकार यह मानवीय वास्तविकता के अस्तित्व में अभाव के अस्तित्व की गवाही देती है। लेकिन यदि मानवीय वास्तविकता अभाव है, तो मानवीय वास्तविकता के माध्यम से ही विद्यमान, अभावग्रस्त और अभावग्रस्त की त्रिमूर्ति अस्तित्व में आती है। इस त्रिमूर्ति के तीन पद वास्तव में क्या हैं?
जो यहाँ विद्यमान की भूमिका निभाता है, वह वह है जो इच्छा के तात्कालिक रूप में बोधगम्य मन में प्रकट होता है; उदाहरण के लिए, यह वही स्व-रूप है जिसे हमने न होने और न होने के रूप में समझा है। परन्तु हम अभाव को कैसे परिभाषित करें?
इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, हमें अभाव की अवधारणा पर लौटना होगा और विद्यमान और अभावग्रस्त को जोड़ने वाले बंधन को अधिक सटीक रूप से निर्धारित करना होगा। यह बंधन केवल निकटता का नहीं हो सकता। यदि अभावग्रस्त तत्व अपनी अनुपस्थिति में भी विद्यमान के केंद्र में गहराई से विद्यमान है, तो इसका कारण यह है कि विद्यमान और अभावग्रस्त तत्व एक ही क्षण में एक समग्रता की एकता में अनुभव किए जाते हैं और उससे परे चले जाते हैं। और जो स्वयं को अभाव के रूप में प्रकट करता है, वह केवल स्वयं को एक महान विखंडित रूप की ओर अग्रसर करके ही ऐसा कर सकता है। इस प्रकार अभाव समग्रता के आधार पर प्रकट होना है। इसके अलावा, यह बात मायने नहीं रखती कि यह समग्रता मूल रूप से दी गई थी और अब विखंडित हो गई है (उदाहरण के लिए, "वीनस डि मिलो की भुजाएँ अब नहीं हैं") या यह कभी साकार ही नहीं हुई (उदाहरण के लिए, "उसमें साहस का अभाव है।") महत्वपूर्ण केवल यह है कि अभावग्रस्त तत्व और विद्यमान तत्व उस समग्रता की एकता में दिए गए हैं या विलुप्त होने की कगार पर हैं, जिसमें अभाव है। हर वह चीज़ जिसमें अभाव है, उसमें अभाव है — के लिए—। आदिम उत्थान की एकता में जो निहित है, वह है 'रूप', जिसे अभी तक अस्तित्व में न होने के रूप में या अब अस्तित्वहीन होने के रूप में परिकल्पित किया जाता है, एक ऐसी अनुपस्थिति जिसकी ओर संकुचित विद्यमान स्वयं को पार कर जाता है या पार किया जाता है और इस प्रकार स्वयं को संकुचित रूप में गठित करता है। मानवीय वास्तविकता का 'रूप' क्या है? स्वयं के लिए, स्वयं के आधार के रूप में, निषेध का उभार है। स्वयं के लिए स्वयं की स्थापना इस हद तक होती है कि यह अपने संबंध में किसी निश्चित अस्तित्व या अस्तित्व के तरीके को नकारता है। जैसा कि हम जानते हैं, यह जिसे नकारता या नष्ट करता है, वह स्वयं में अस्तित्व है। लेकिन चाहे जो भी

में समझी जाती है। अपने अस्तित्व में आने पर मानवीय वास्तविकता स्वयं को एक अपूर्ण अस्तित्व के रूप में ग्रहण करती है। यह स्वयं को उस सीमा तक अस्तित्व के रूप में समझती है जहाँ तक वह अस्तित्व में नहीं है, उस विशिष्ट समग्रता की उपस्थिति में जिसकी उसमें कमी है और जो वह अपने न होने के रूप में है और जो वही है जो वह है। मानवीय वास्तविकता स्वयं के साथ एक ऐसे समतुल्यता की ओर निरंतर अग्रसर है जो कभी प्राप्त नहीं होती। यदि बोध सत्ता की ओर बढ़ता है, तो ऐसा इसलिए है क्योंकि अपने मूल बल से ही वह स्वयं को सत्ता की ओर अग्रसर करता है, स्वयं को उस सत्ता के रूप में योग्य बनाकर जिसमें स्वयं के साथ समतुल्यता का अभाव है ताकि वह वही हो सके जो वह है। विचार स्वयं-अस्तित्व से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है, न कि किसी विचार के अपने विषय से संबंध के रूप में—जो स्वयं-अस्तित्व को सापेक्ष बना देगा— बल्कि उस अभाव से संबंध के रूप में जो उसके अभाव को परिभाषित करता है। इस अर्थ में दूसरा कार्तीय प्रमाण सटीक है। अपूर्ण अस्तित्व पूर्ण अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है; वह अस्तित्व जो केवल अपने शून्यता का आधार है, उस अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है जो उसके अस्तित्व का आधार है। लेकिन जिस अस्तित्व की ओर मानवीय वास्तविकता अग्रसर होती है, वह कोई पारलौकिक ईश्वर नहीं है; वह मानवीय वास्तविकता के केंद्र में है; वह केवल समग्र रूप में स्वयं मानवीय वास्तविकता है।
यह समग्रता पारलौकिक के शुद्ध और सरल आकस्मिक स्वतःस्फूर्त स्वरूप से भिन्न है। यदि चेतना जिसे उस सत्ता के रूप में बोध करती है जिसकी ओर वह स्वयं को पार करती है, वह शुद्ध स्वतःस्फूर्त स्वरूप होता, तो वह चेतना के विनाश के साथ मेल खाता। परन्तु चेतना अपने विनाश की ओर स्वयं को पार नहीं करती; वह अपने परित्याग की सीमा पर स्थित एकात्म स्वरूप में स्वयं को खोना नहीं चाहती। यह स्वतःस्व के लिए ही है कि स्वतःस्व के लिए स्वतःस्व में होने का दावा करता है।
इस प्रकार, यह शाश्वत अनुपस्थित सत्ता, जो स्वयं-परमात्मा को व्याकुल रखती है, स्वयं स्वयं-परमात्मा में स्थिर है। यह स्वयं-परमात्मा और स्वयं- परमात्मा का असंभव संश्लेषण है; यह शून्यता के रूप में नहीं, बल्कि सत्ता के रूप में अपना आधार स्वयं ही स्थापित करेगी और अपने भीतर चेतना की आवश्यक पारदर्शिता के साथ-साथ स्वयं-परमात्मा के साथ समतुल्यता को भी संरक्षित रखेगी। यह अपने भीतर स्वयं की ओर उस वापसी को संरक्षित रखेगी जो प्रत्येक आवश्यकता और प्रत्येक आधार को निर्धारित करती है। लेकिन स्वयं की ओर यह वापसी दूरी रहित होगी; यह स्वयं की उपस्थिति नहीं, बल्कि स्वयं के साथ एकात्मता होगी। संक्षेप में, यह सत्ता ठीक वही स्वयं होगी जिसे हमने दिखाया है कि वह केवल एक शाश्वत क्षणभंगुर संबंध के रूप में ही विद्यमान हो सकती है, लेकिन यह स्वयं एक ठोस सत्ता के रूप में होगी। इस प्रकार, मानवीय वास्तविकता अपनी समग्रता की उपस्थिति में या उस समग्रता के अभाव के रूप में स्वयं के रूप में उत्पन्न होती है। और यह समग्रता प्रकृति द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वयं-परमात्मा और स्वयं- परमात्मा के असंगत गुणों को अपने भीतर समाहित करती है।

है। मैं एक ही समय में वह दुख बनना और उस पर विजय पाना चाहूँगा, लेकिन यह विशाल, अपारदर्शी दुख, जो मुझे स्वयं से परे ले जाना चाहिए, इसके बजाय मुझे अपने पंख से हल्के से छूता रहता है, और मैं इसे पकड़ नहीं पाता। मुझे केवल स्वयं ही मिलता है, वह स्वयं जो कराहता है, वह स्वयं जो विलाप करता है, वह स्वयं जो अपने इस दुख को साकार करने के लिए निरंतर दुख का नाटक करता है। मैं अपने हाथ मलता हूँ, मैं रोता हूँ ताकि अस्तित्व, उनकी ध्वनियाँ, उनके हाव-भाव संसार में फैल जाएँ, उस आंतरिक दुख से ग्रस्त होकर जिसे मैं नहीं बन सकता। दुख भोगने वाले व्यक्ति की प्रत्येक कराह, उसके चेहरे का प्रत्येक भाव, दुख की एक आंतरिक मूर्ति गढ़ने का लक्ष्य रखता है। लेकिन यह प्रतिमा दूसरों के माध्यम से और दूसरों के लिए ही अस्तित्व में आ सकती है। मेरा दुख वह होने से व्याकुल है जो वह नहीं है और वह न होने से भी जो वह है। स्वयं से एक होने के क्षण में, यह बच निकलता है, स्वयं से किसी भी चीज़ से अलग नहीं होता, उस शून्यता से जिसका यह स्वयं आधार है। यह वाचाल है क्योंकि यह पर्याप्त नहीं है, लेकिन इसका आदर्श मौन है—प्रतिमा का मौन, उस पराजित व्यक्ति का मौन जो अपना सिर झुका लेता है और बिना बोले अपना चेहरा ढक लेता है। लेकिन इस व्यक्ति के साथ भी—यह मेरे लिए ही है कि वह नहीं बोलता। वह अपने भीतर निरंतर बड़बड़ाता रहता है, क्योंकि आंतरिक भाषा के शब्द दुख के "स्वयं" की रूपरेखा के समान हैं। यह मेरी आँखों के लिए ही है कि वह दुख से "कुचल" जाता है; वह स्वयं को उस दुःख के लिए उत्तरदायी मानता है जिसे वह अनचाहा होते हुए भी चाहता है और जिसे वह चाहा होते हुए भी नहीं चाहता, वह दुःख जो एक निरंतर अभाव से ग्रस्त है—उस गतिहीन, मौन पीड़ा का अभाव जो स्वयं है, उस मूर्त, पहुंच से परे समग्रता का अभाव जो स्वयं पीड़ा सहती है, पीड़ा में मानवीय वास्तविकता का स्वरूप। हम देख सकते हैं कि मेरी पीड़ा कभी भी उस स्वयं-पीड़ा को स्थापित नहीं करती जो उस पर आती है। मेरी वास्तविक पीड़ा स्वयं तक पहुंचने का प्रयास नहीं है। बल्कि यह पीड़ा तभी हो सकती है जब उस पूर्ण और अनुपस्थित पीड़ा की उपस्थिति में यह चेतना अपर्याप्त हो।
अब हम अधिक सटीक रूप से यह जान सकते हैं कि स्वयं का अस्तित्व क्या है: यह मूल्य है। मूल्य में वह दोहरा चरित्र होता है, जिसे नैतिकतावादियों ने बहुत अपर्याप्त रूप से समझाया है, यानी बिना शर्त अस्तित्व और बिना शर्त अस्तित्व। वास्तव में, मूल्य के रूप में मूल्य का अस्तित्व होता है, लेकिन यह मानक अस्तित्व ठीक उसी तरह वास्तविकता के रूप में होना आवश्यक नहीं है। इसका अस्तित्व ही मूल्य होना है; अर्थात्, न होने वाला अस्तित्व। इस प्रकार, मूल्य के रूप में मूल्य का अस्तित्व उस चीज़ का अस्तित्व है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। तब मूल्य अगम्य प्रतीत होता है। इसे अस्तित्व के रूप में लेना इसकी अवास्तविकता को पूरी तरह से गलत समझने का जोखिम है और इसे, जैसा कि समाजशास्त्री करते हैं, अन्य तथ्यों के बीच एक आवश्यक तथ्य बना देना है। इस स्थिति में, अस्तित्व की आकस्मिकता मूल्य को नष्ट कर देती है। लेकिन इसके विपरीत, यदि कोई केवल मूल्यों की आदर्शता को देखता है, तो वह उनसे अस्तित्व को निकाल लेगा, और फिर अस्तित्व के अभाव में, वे विलीन हो

विद्यमान होते हुए भी पहुँच से परे है, और इसे उस अभाव के ठोस अर्थ के रूप में अनुभव किया जाता है जो मेरे वर्तमान अस्तित्व को निर्मित करता है। मूल्य को किसी सिद्धांत का विषय बनने के लिए, वह स्व-स्वयं जिसे वह सताता है, चिंतन की दृष्टि में भी प्रकट होना चाहिए। वास्तव में, चिंतनशील चेतना एक ही क्रिया से दो कार्य संपन्न करती है; चिंतन किए गए अनुभव को उसके स्वरूप में अभाव के रूप में स्थापित किया जाता है और मूल्य को उस अभाव के पहुँच से परे अर्थ के रूप में अलग किया जाता है। इस प्रकार चिंतनशील चेतना को उचित रूप से नैतिक चेतना कहा जा सकता है क्योंकि यह मूल्यों को प्रकट किए बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। यह स्पष्ट है कि मैं अपनी चिंतनशील चेतना में इन मूल्यों पर अपना ध्यान केंद्रित करने या उनकी उपेक्षा करने के लिए स्वतंत्र हूँ—ठीक उसी प्रकार जैसे यह मुझ पर निर्भर करता है कि मैं इस मेज, अपनी कलम या अपने तंबाकू के पैकेट को अधिक बारीकी से देखूँ। लेकिन चाहे वे विस्तृत ध्यान का विषय हों या न हों, किसी भी स्थिति में वे मौजूद हैं।
हालाँकि, यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि चिंतनशील दृष्टि ही एकमात्र ऐसी दृष्टि है जो मूल्य को प्रकट कर सकती है, और न ही हमें सादृश्य द्वारा अपने स्वयं के मूल्यों को पारलौकिक जगत में प्रक्षेपित करना चाहिए। यदि अंतर्ज्ञान का विषय मानवीय वास्तविकता की एक घटना है, परन्तु पारलौकिक भी है, तो वह अपने मूल्य के साथ तुरंत प्रकट हो जाती है, क्योंकि दूसरे का स्वयं कोई छिपी हुई घटना नहीं है जिसे केवल सादृश्य द्वारा तर्क के निष्कर्ष के रूप में ही दिया जा सके। यह मूल रूप से मेरे स्वयं के लिए प्रकट होती है; जैसा कि हम देखेंगे, स्वयं की उपस्थिति, दूसरों के लिए भी, स्वयं के स्वरूप के गठन के लिए आवश्यक शर्त है। दूसरों के लिए इस उभार में, स्वयं के उभार की तरह ही मूल्य दिया जाता है, यद्यपि अस्तित्व के एक भिन्न रूप में। परन्तु हम यहाँ संसार में मूल्यों के साथ वस्तुनिष्ठ मुठभेड़ पर चर्चा नहीं कर सकते क्योंकि हमने दूसरों के लिए की प्रकृति को स्पष्ट नहीं किया है। हम इस प्रश्न की जाँच इस कार्य के तीसरे भाग में करेंगे।
IV. स्वयं के लिए और संभावनाओं का अस्तित्व
हमने देखा है कि मानव वास्तविकता स्वयं के लिए एक अभाव है और जिस चीज़ का इसमें अभाव है वह स्वयं के साथ एक निश्चित सामंजस्य है। ठोस रूप से, प्रत्येक विशिष्ट स्वयं के लिए (एर्लेबनिस) में एक विशिष्ट और ठोस वास्तविकता का अभाव होता है, जिसे यदि स्वयं के लिए का संश्लेषणात्मक रूप से उसमें समाहित कर दिया जाए, तो वह स्वयं में ही परिवर्तित हो जाएगा। इसमें किसी अन्य चीज़ के लिए किसी चीज़ का अभाव होता है—जैसे चंद्रमा की टूटी हुई डिस्क में उस चीज़ का अभाव होता है जो उसे पूर्ण करने और उसे पूर्णिमा में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होती। इस प्रकार, अभाव पारगमन की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है और अभाव के संदर्भ में विद्यमान की ओर वापसी द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार परिभाषित अभाव विद्यमान के संबंध में पारलौकिक और पूरक है। तब वे एक ही प्रकृति के होते हैं। अर्धचंद्र को पूर्णिमा होने के लिए जिस चीज़ का अभाव होता है वह ठीक

ज्ञान की ओर जाने वाले मार्ग का केवल एक व्यक्तिपरक चरण है; इसमें केवल एक मानसिक अवस्था की वास्तविकता है; भ्रमित या संकुचित विचार के रूप में इसका एक ठोस अस्तित्व है, लेकिन संसार के गुण के रूप में नहीं। लेकिन लाइबनिज़ की तरह यह भी स्वीकार्य है कि अनंत संभावनाओं को दैवीय बोध के लिए विचार की वस्तु बनाया जाए और इस प्रकार उन्हें पूर्ण वास्तविकता का दर्जा दिया जाए; यह स्थिति दैवीय इच्छा को उनमें से सर्वोत्तम व्यवस्था को साकार करने की शक्ति प्रदान करती है। इस स्थिति में, यद्यपि एकात्मक अवधारणा की बोध श्रृंखला सख्ती से निर्धारित है, और यद्यपि आदम के सार के सूत्र के अनुसार एक सर्वज्ञ सत्ता आदम के निर्णय को निश्चित रूप से स्थापित कर सकती है, फिर भी यह कहना बेतुका नहीं है: "यह संभव है कि आदम ने सेब न चुना हो।" इसका अर्थ केवल यह है कि दैवीय समझ के विचार के आधार पर सह-संभावनाओं की एक और प्रणाली मौजूद है, जिसमें आदम को ज्ञान के वृक्ष का फल न खाने वाले व्यक्ति के रूप में दर्शाया गया है।
लेकिन क्या यह अवधारणा स्पिनोज़ा की अवधारणा से इतनी अलग है? वास्तव में, संभव की वास्तविकता अद्वितीय रूप से दिव्य विचार की ही है! इसका अर्थ है कि इसका अस्तित्व एक ऐसे विचार के रूप में है जो अभी तक साकार नहीं हुआ है। बेशक, यहाँ व्यक्तिपरकता के विचार को उसकी चरम सीमा तक ले जाया गया है, क्योंकि हम एक दिव्य चेतना से निपट रहे हैं, मेरी नहीं; और यदि हमने शुरुआत में ही व्यक्तिपरकता और परिमितता को भ्रमित करने का प्रयास किया है, तो जब समझ अनंत हो जाती है तो व्यक्तिपरकता लुप्त हो जाती है। फिर भी, यह तथ्य बना रहता है कि संभव एक ऐसा विचार है जो केवल विचार ही है। लाइबनिज़ स्वयं संभावनाओं को एक स्वायत्तता और एक विशेष प्रकार का महत्व प्रदान करना चाहते थे, क्योंकि कौटुरेट द्वारा प्रकाशित कई आध्यात्मिक अंश हमें संभवों को सह-संभावनाओं की प्रणालियों में संगठित होते हुए दिखाते हैं, जिनमें सबसे पूर्ण और समृद्ध स्वयं ही साकार हो जाते हैं। लेकिन यहाँ ऐसे सिद्धांत का केवल एक संकेत है, और लाइबनिज़ ने इसे विकसित नहीं किया है - निस्संदेह इसलिए क्योंकि वे ऐसा कर नहीं सकते थे। संभावनाओं को अस्तित्व की ओर झुकाव देना या तो यह दर्शाता है कि संभावना पहले से ही पूर्ण रूप से विद्यमान है और उसका अस्तित्व उसी प्रकार का है—जिस अर्थ में हम कली को फूल बनने की प्रवृत्ति देते हैं—या फिर यह कि दिव्य बोध के भीतर संभावना पहले से ही एक विचार-शक्ति है और किसी प्रणाली में संगठित विचार-शक्तियों का अधिकतम योग स्वतः ही दिव्य इच्छा को प्रकट करता है। परन्तु बाद वाले मामले में हम व्यक्तिपरकता से बाहर नहीं निकल पाते। यदि हम संभावना को गैर-विरोधाभासी के रूप में परिभाषित करें, तो उसका अस्तित्व केवल वास्तविक जगत से पूर्व या जगत की शुद्ध चेतना से पूर्व किसी अस्तित्व के विचार के रूप में ही हो सकता है। दोनों ही मामलों में संभावना अपनी संभावना का स्वरूप खो देती है और निरूपण की व्यक्तिपरकता में पुनः समाहित हो जाती है।
लेकिन संभावना का यह निरूपित स्वरूप अपने स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता; बल्कि इसके विपरीत, यह अपने स्वरूप को नष्ट कर देता है। संभावना के

तथ्य बना देना आवश्यक था? जैसे संसार में अभाव तभी हो सकता है जब वह किसी ऐसे प्राणी के माध्यम से संसार में आए जो स्वयं ही अभाव हो, वैसे ही संसार में संभावना तभी हो सकती है जब वह किसी ऐसे प्राणी के माध्यम से आए जो स्वयं ही अपनी संभावना में विद्यमान हो।
लेकिन सटीक रूप से कहें तो, संभावना सार रूप में संभावनाओं के शुद्ध विचार के साथ मेल नहीं खा सकती। वास्तव में, यदि संभावना को पहले प्राणियों या किसी विशेष प्राणी की वस्तुनिष्ठ संरचना के रूप में नहीं दिया जाता है, तो विचार, चाहे हम इसे किसी भी रूप में देखें, संभावना को अपने विचार विषयवस्तु के रूप में समाहित नहीं कर सकता। यदि हम दिव्य समझ के केंद्र में संभावनाओं को दिव्य विचार की विषयवस्तु के रूप में देखें, तो वे विशुद्ध रूप से ठोस निरूपण बन जाते हैं। आइए एक शुद्ध परिकल्पना के रूप में स्वीकार करें—यद्यपि यह समझना असंभव है कि यह नकारात्मक शक्ति पूरी तरह से सकारात्मक प्राणी में कैसे आ सकती है—कि ईश्वर के पास अस्वीकार करने की शक्ति है; अर्थात्, अपने निरूपणों पर नकारात्मक निर्णय लागू करने की शक्ति। फिर भी हम यह नहीं समझ सकते कि वह इन निरूपणों को संभावनाओं में कैसे बदल सकता है। निषेध का परिणाम अधिक से अधिक उन्हें "वास्तविक संगति के बिना" स्थापित करना होगा। लेकिन यह कहना कि सेंटॉर का अस्तित्व नहीं है, इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि वह संभव है। न तो पुष्टि और न ही निषेध किसी निरूपण को संभावना का चरित्र प्रदान कर सकता है। यदि यह दावा किया जाता है कि इस विशेषता को निषेध और पुष्टि के संश्लेषण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, तब भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि संश्लेषण कोई योग नहीं है और इस संश्लेषण को एक जैविक समग्रता के रूप में समझाना आवश्यक होगा, जिसका अपना अर्थ हो, न कि उन तत्वों के संदर्भ में जिनका यह संश्लेषण है। इसी प्रकार, हमारे किसी विचार के यथार्थ से संबंध के बारे में हमारी अज्ञानता का विशुद्ध व्यक्तिपरक और नकारात्मक प्रमाण इस प्रस्तुतिकरण में संभावना की विशेषता को स्पष्ट नहीं कर सकता; यह केवल हमें प्रस्तुतिकरण के प्रति उदासीनता की स्थिति में डाल सकता है और इसे यथार्थ पर वह अधिकार प्रदान नहीं कर सकता जो संभव की मूलभूत संरचना है। यदि यह बताया जाता है कि कुछ प्रवृत्तियाँ मुझे इसकी अपेक्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं, तो हम कहेंगे कि ये प्रवृत्तियाँ, पारलौकिकता की व्याख्या करने के बजाय, इसके विपरीत इसे पूर्वकल्पित करती हैं; जैसा कि हमने देखा है, वे पहले से ही एक कमी के रूप में विद्यमान हैं। इसके अलावा, यदि संभव को किसी प्रकार से स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया जाता है, तो ये प्रवृत्तियाँ हमें यह आशा करने के लिए प्रेरित कर सकती हैं कि मेरा निरूपण वास्तविकता के अनुरूप हो सकता है, लेकिन वे मुझे वास्तविक पर कोई अधिकार प्रदान नहीं कर सकतीं। संक्षेप में, संभव की अवधारणा ही एक मौलिक परिक्रमण की कल्पना करती है। संभव को उस व्यक्तिपरकता के संदर्भ में स्थापित करने का हर प्रयास, जो यथार्थ हो—अर्थात्, जो स्वयं में ही सिमट जाए—सिद्धांततः विफलता के लिए अभिशप्त है।

सकता है जब यह उन संभावनाओं को संदर्भित करता है जो अभी तक साकार नहीं हुई हैं लेकिन हमेशा खुली हैं।
सच कहें तो, चेतना का कोई भी तथ्य यह चेतना नहीं है। यहाँ तक कि अगर हम हुसर्ल की तरह इस चेतना को कृत्रिम रूप से आंतरिक संरचनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रदान भी कर दें, तो भी वे उस चेतना से आगे नहीं बढ़ पाएँगी जिसकी वे संरचना हैं, और इसलिए दयनीय रूप से अपने आप में सिमट जाएँगी— जैसे मक्खियाँ खिड़की पर अपनी नाक रगड़ती हैं लेकिन शीशा साफ़ नहीं कर पातीं। जैसे ही हम चेतना को संदेह, बोध, प्यास आदि के रूप में परिभाषित करना चाहते हैं, हम उस शून्यता की ओर बढ़ जाते हैं जो अभी तक अस्तित्व में नहीं है। पढ़ने की चेतना इस अक्षर, इस शब्द, इस वाक्य या यहाँ तक कि इस अनुच्छेद को पढ़ने की चेतना नहीं है; यह इस पुस्तक को पढ़ने की चेतना है, जो मुझे उन सभी पृष्ठों की ओर ले जाती है जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं गया है, उन सभी पृष्ठों की ओर जिन्हें पहले ही पढ़ा जा चुका है, जो परिभाषा के अनुसार चेतना को स्वयं से अलग कर देती है। वह चेतना जो स्वयं की चेतना होना चाहेगी, उसे प्रत्येक शब्द को स्पष्ट रूप से लिखना होगा।
संक्षेप में, प्रत्येक स्व-रूप स्वयं के साथ एक निश्चित सामंजस्य का अभाव है। इसका अर्थ है कि यह उस चीज़ की उपस्थिति से ग्रस्त है जिसके साथ इसे स्वयं होने के लिए सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। परन्तु यद्यपि स्वयं में यह सामंजस्य सदा स्वयं के साथ सामंजस्य होता है, वह सत्ता जिसका स्व-रूप में अभाव है, वह सत्ता जो स्व-रूप को अपने साथ समाहित करके स्वयं बना देगी — यह सत्ता भी स्व-रूप ही है। हमने देखा है कि स्व-रूप "स्वयं की उपस्थिति" है; इस स्वयं की उपस्थिति में जिस चीज़ का अभाव है, वह इसे केवल स्वयं की उपस्थिति के रूप में ही प्रकट नहीं हो सकती। स्व-रूप का उसकी संभावना से निर्धारक संबंध स्वयं की उपस्थिति के बंधन का एक शून्यताकारी शिथिलन है; यह शिथिलन पारलौकिकता तक विस्तारित होता है क्योंकि स्वयं की उपस्थिति जिसका स्व-रूप में अभाव है, वह एक ऐसी स्वयं की उपस्थिति है जो स्वयं नहीं है। इस प्रकार, 'स्वयं के लिए' (For itself) जहाँ तक वह स्वयं नहीं है, एक ऐसी उपस्थिति है जिसमें एक निश्चित उपस्थिति का अभाव है, और इसी उपस्थिति के अभाव के कारण वह 'स्वयं के लिए' है।
प्रत्येक चेतना में किसी न किसी चीज़ की कमी होती है। लेकिन यह समझना आवश्यक है कि यह कमी बाहर से नहीं आती, जैसा कि पूर्णिमा के संबंध में अर्धचंद्र के मामले में होता है। स्वयं के लिए की कमी एक ऐसी कमी है जो स्वयं ही है। स्वयं के लिए उपस्थिति की रूपरेखा, जो स्वयं के लिए अभाव है, वही स्वयं के लिए के अस्तित्व का निर्माण करती है, जो उसके अपने शून्यता का आधार है। संभव एक अभाव है जो चेतना का निर्माण करता है, क्योंकि चेतना स्वयं को बनाती है। उदाहरण के लिए, प्यास कभी भी पर्याप्त प्यास नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं को प्यासा बनाती है; वह प्यास के स्वयं के स्वरूप की उपस्थिति से ग्रस्त रहती है। लेकिन इस ठोस मूल्य से ग्रस्त होने के कारण, वह अपने अस्तित्व में एक निश्चित स्वयं के लिए की कमी के रूप में स्वयं को प्रश्न में डालती है, जो उसे संतुष्ट प्यास के रूप में साकार करेगा और उसे

स्वयं में अस्तित्व प्रदान करेगा। यह स्वयं के लिए की कमी ही संभव है। वास्तव में, यह कहना सटीक नहीं है कि प्यास, प्यास के रूप में ही अपने विनाश की ओर अग्रसर होती है; ऐसी कोई चेतना नहीं है जिसका उद्देश्य स्वयं का दमन करना हो। फिर भी, जैसा कि हमने पहले बताया, प्यास एक अभाव है। इस रूप में यह तृप्त होना चाहती है; परन्तु यह तृप्त प्यास, जो आत्म-इच्छा या प्यास तथा आत्म-चिंतन या पीने की क्रिया के समकालिक होने से संश्लेषित आत्मसात्करण द्वारा साकार होती है, प्यास के दमन के रूप में लक्षित नहीं है। इसके ठीक विपरीत, इसका उद्देश्य प्यास को अस्तित्व की परिपूर्णता में स्थानांतरित करना है, वह प्यास जो अरस्तू के रूप के समान पदार्थ को ग्रहण और रूपांतरित करती है; यह शाश्वत प्यास बन जाती है।
यह दृष्टिकोण बहुत देर से और चिंतनशील है—ठीक वैसे ही जैसे प्यास बुझाने के लिए शराब पीने वाला, या यौन इच्छा शांत करने के लिए वेश्यालय जाने वाला। प्यास और यौन इच्छा, अविवेकी और भोलेपन की अवस्था में आनंद लेना चाहती हैं; वे स्वयं के साथ उस समतुल्यता की तलाश करती हैं जो तृप्ति है, जहाँ प्यास स्वयं को प्यास के रूप में जानती है और साथ ही साथ पीने से तृप्ति भी मिलती है, जब तृप्ति के कारण ही वह अभाव का स्वरूप खो देती है और तृप्ति के माध्यम से ही प्यास बन जाती है। इस प्रकार एपिकुरस एक ही समय में सही और गलत दोनों हैं; वास्तव में इच्छा अपने आप में एक शून्यता है। लेकिन कोई भी अविवेकी परियोजना केवल इस शून्यता को दबाने का लक्ष्य नहीं रखती। इच्छा स्वयं को बनाए रखने की प्रवृत्ति रखती है; मनुष्य अपनी इच्छाओं से बुरी तरह चिपटा रहता है। इच्छा एक भरी हुई शून्यता बनना चाहती है, लेकिन वह शून्यता अपनी परिपूर्णता को उसी प्रकार आकार देती है जैसे साँचा उसमें ढाले गए काँसे को आकार देता है। प्यास की चेतना की संभावना ही पीने की चेतना है। हम यह भी जानते हैं कि स्वयं से समभाव असंभव है, क्योंकि संभव की अनुभूति से प्राप्त स्वयं-स्वयं स्वयं को स्वयं-स्वयं के रूप में स्थापित कर लेता है—अर्थात, संभावनाओं के एक अन्य क्षितिज के साथ। इसलिए तृप्ति के साथ आने वाली निरंतर निराशा, प्रसिद्ध प्रश्न: "क्या बस इतना ही है?" जो संतुष्टि से मिलने वाले ठोस आनंद पर निर्देशित नहीं होता, बल्कि स्वयं से समभाव के क्षणभंगुर होने पर निर्देशित होता है। इस प्रकार हम कालिकता के उद्गम की एक झलक पाते हैं, क्योंकि प्यास इसकी संभवता भी है और इसकी असंभवता भी। यह शून्यता जो मानवीय वास्तविकता को स्वयं से अलग करती है, समय का उद्गम है। लेकिन हम इस पर बाद में विचार करेंगे। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वयं-स्वयं उस उपस्थिति-स्वयं से अलग है जिसका इसमें अभाव है और जो इसकी स्वयं की संभावना है, एक अर्थ में शून्यता द्वारा और दूसरे अर्थ में संसार में विद्यमान समग्रता द्वारा अलग, क्योंकि स्वयं- स्वयं, चाहे अभाव हो या संभव, संसार की एक निश्चित अवस्था में उपस्थिति के रूप में स्वयं-स्वयं है। इस अर्थ में, वह अस्तित्व जिसके परे स्वयं-संबंधी अभिव्यक्ति स्वयं से समरूप होने का अनुभव कराती है, अनंत अस्तित्व का संसार या दूरी है जिसके परे मनुष्य को अपनी संभाव्यता से पुनः जुड़ना होता है। हम स्वयं-संबंधी अभिव्यक्ति और उसकी संभाव्यता के बीच के संबंध के लिए

"स्वयं-परिपथ" (Circuit de ipséité) शब्द का प्रयोग करेंगे, और "संसार" शब्द का प्रयोग उस संपूर्ण अस्तित्व के लिए करेंगे जिसे स्वयं-परिपथ पार करता है।
अब हम संभाव्यता के अस्तित्व के स्वरूप को स्पष्ट करने की स्थिति में हैं। संभाव्यता वह तत्व है जिसकी स्वयं-स्वयं को स्वयं होने के लिए कमी होती है। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि यह संभाव्यता के रूप में है—जब तक कि हम अस्तित्व से किसी ऐसे अस्तित्व को न समझें जो "अस्तित्व में लाया गया" है, इस हद तक कि वह अस्तित्वहीन है, या यदि आप चाहें, तो दूर से दिखाई देने वाला मेरा स्वरूप। संभाव्यता एक शुद्ध निरूपण के रूप में विद्यमान नहीं है, यहाँ तक कि अस्वीकृत निरूपण के रूप में भी नहीं, बल्कि अस्तित्व की एक वास्तविक कमी के रूप में है, जो कमी के रूप में अस्तित्व से परे है। इसमें कमी का अस्तित्व है और कमी के रूप में, इसमें अस्तित्व की कमी है। संभाव्यता अस्तित्व में नहीं है, संभाव्यता को ठीक उसी हद तक संभाव्य बनाया जाता है जिस हद तक स्वयं-स्वयं स्वयं को अस्तित्व में लाता है; संभाव्यता शून्यता में एक स्थान को योजनाबद्ध रूपरेखा में निर्धारित करती है जहाँ स्वयं-स्वयं स्वयं से परे है। स्वाभाविक रूप से, इसे पहले विषयगत रूप से स्थापित नहीं किया जाता है; यह संसार से परे रेखांकित है और मेरी वर्तमान धारणा को उसका अर्थ देता है, जैसा कि यह संसार में आत्म-बोध के दायरे में बोधित होती है। परन्तु न तो संभाव्य को उपेक्षित किया जाता है और न ही अचेतन; यह एक अधार्मिक चेतना के रूप में अधार्मिक आत्म-चेतना की सीमाओं को रेखांकित करता है। प्यास की अचिंतनशील चेतना को पानी के गिलास के माध्यम से वांछनीय के रूप में बोधित किया जाता है, बिना स्वयं को इच्छा के अंत के रूप में केंद्र में रखे। परन्तु संभाव्य तृप्ति संसार के मध्य में स्थित गिलास के क्षितिज पर अधार्मिक आत्म-चेतना के एक गैर-स्थितीय सहसंबंध के रूप में प्रकट होती है।
V. स्वयं और आत्मत्व का चक्र Recherches Philosophiques में प्रकाशित एक लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया था कि अहंकार स्वयं-संबंधी क्षेत्र से संबंधित नहीं है। मैं यहाँ इसे दोहराना नहीं चाहता। आइए, केवल अहंकार के पारगमन के कारण पर ध्यान दें: अनुभव के एक एकीकृत ध्रुव के रूप में अहंकार स्वयं में है, स्वयं के लिए नहीं। यदि यह चेतना के स्वरूप का होता, तो वास्तव में यह तात्कालिकता की पारदर्शिता में स्वयं के लिए ही आधार होता। लेकिन तब हमें यह कहना होगा कि यह वह है जो यह नहीं है और यह वह नहीं है जो यह है, और यह किसी भी तरह से "मैं" के अस्तित्व का तरीका नहीं है। वास्तव में, "मैं" के प्रति मेरी चेतना इसे कभी पूर्ण नहीं करती, और चेतना वह नहीं है जो इसे अस्तित्व में लाती है; "मैं" हमेशा चेतना से पहले से विद्यमान रहा है—और साथ ही साथ उसमें ऐसी गहराइयाँ हैं जिन्हें धीरे-धीरे प्रकट किया जाना है। इस प्रकार, अहंकार चेतना के समक्ष एक पारलौकिक सत्ता के रूप में, मानव जगत में विद्यमान सत्ता के रूप में प्रकट होता है, न कि चेतना के स्वरूप के रूप में।

फिर भी हमें यह निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता नहीं है कि स्वयं-संबंधी चिंतन एक शुद्ध और सरल "निराकार" चिंतन है। लेकिन अहंकार चेतना का वैयक्तिक ध्रुव नहीं है, जिसके बिना चेतना निराकार अवस्था में ही रहेगी; इसके विपरीत, यह चेतना अपने मूलभूत आत्मत्व में ही है जो कुछ परिस्थितियों में अहंकार को उस आत्मत्व की पारलौकिक घटना के रूप में प्रकट होने देती है। जैसा कि हमने देखा है, वास्तव में यह कहना असंभव है कि स्वयं-संबंधी चिंतन स्वयं है। यह बस है। इस अर्थ में, कुछ लोग कहेंगे कि "मैं", जिसे वे गलत तरीके से चेतना का निवासी मानते हैं, चेतना का "मुझे" है, न कि उसका स्वयं का स्व। इस प्रकार, स्वयं-संबंधी चिंतन के स्वरूप को मूर्त रूप देकर और उसे स्वयं-संबंधी चिंतन बनाकर, ये लेखक स्वयं पर चिंतन की गति को स्थिर और नष्ट कर देते हैं; चेतना तब स्वयं के रूप में अहंकार की ओर एक शुद्ध वापसी होगी, लेकिन अहंकार अब किसी भी चीज़ को संदर्भित नहीं करता है। प्रतिवर्ती संबंध एक सरल अभिकेन्द्रीय संबंध में परिवर्तित हो गया है, और केंद्र, इसके अतिरिक्त, अस्पष्टता का एक नाभिक है। इसके विपरीत, हमने यह सिद्ध किया है कि मूल रूप से आत्मा चेतना में निवास नहीं कर सकती। यह उस अनंत गति का कारण है जिसके द्वारा परावर्तन, परावर्तक को संदर्भित करता है और परावर्तक फिर से परावर्तन को संदर्भित करता है; परिभाषा के अनुसार यह एक आदर्श, एक सीमा है। इसे सीमा के रूप में उत्पन्न करने वाला कारक, एक प्रकार के अस्तित्व के रूप में अस्तित्व की एकता के भीतर अस्तित्व की उपस्थिति की शून्यतावादी वास्तविकता है। इस प्रकार, अपने प्रथम उद्भव से ही, चेतना परावर्तन की शुद्ध शून्यतावादी गति द्वारा स्वयं को व्यक्तिगत बना लेती है; क्योंकि किसी प्राणी को व्यक्तिगत अस्तित्व प्रदान करने वाला कारक अहंकार का होना नहीं है—जो केवल व्यक्तित्व का संकेत है— बल्कि यह तथ्य है कि प्राणी स्वयं के लिए एक उपस्थिति के रूप में विद्यमान है।
अब इस प्रथम चिंतनशील गति में एक द्वितीय या आत्मत्व भी समाहित है। आत्मत्व में मेरी संभावना मेरी चेतना पर प्रतिबिंबित होती है और उसे उसके स्वरूप के रूप में निर्धारित करती है। आत्मत्व पूर्व-चिंतनशील चेतना की शुद्ध उपस्थिति से परे शून्यता की एक अवस्था को दर्शाता है—इस अर्थ में कि जो संभावना मैं हूँ, वह स्वयं के लिए शुद्ध उपस्थिति नहीं है, जैसे प्रतिबिंब, प्रतिबिंब के लिए, बल्कि यह अनुपस्थित उपस्थिति है। इसी कारण स्वयं के लिए अस्तित्व की संरचना के रूप में संदर्भ का अस्तित्व और भी स्पष्ट हो जाता है। स्वयं के लिए स्वयं ही वहाँ नीचे है, उसकी पहुँच से परे, उसकी संभावनाओं की दूर-दूर तक फैली हुई है। वहाँ नीचे अस्तित्व की यह स्वतंत्र आवश्यकता—जो व्यक्ति अभाव के रूप में है—आत्मत्व या व्यक्ति के द्वितीय पहलू का निर्माण करती है। वास्तव में, यदि व्यक्ति को स्वयं से मुक्त संबंध के रूप में परिभाषित न किया जाए, तो उसे कैसे परिभाषित किया जा सकता है?
जहाँ तक संसार का संबंध है—अर्थात्, आत्मत्व के दायरे में विद्यमान सभी प्राणियों की समग्रता—यह केवल वही हो सकता है जो मानवीय वास्तविकता

समस्या के अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकेंगे जो हमारे लिए प्रासंगिक है: चेतना और अस्तित्व के बीच मूल संबंध।
1 के लिए सुधार, एक स्पष्ट गलत मुद्रण। Tr.
2 “भाग लेना,” “भागीदारी करना।” Tr.
3 शाब्दिक रूप से “वह खुद से ऊब जाता है” (il s’ennuie) में “स्वयं” शब्द, जो कई फ्रांसीसी रिफ्लेक्सिव क्रियाओं में एक परिचित संरचना है। तुलना करें अंग्रेजी “वह खुद को धोता है।” Tr.
4 Deux en-soi. हालाँकि "in-itselfs" अभिव्यक्ति व्याकरणिक रूप से गलत है, फिर भी मुझे यह सबसे सटीक अनुवाद लगता है। "In-themselves" का अर्थ भिन्न होगा, क्योंकि यह स्वयं में होने के दो उदाहरणों की एकता का सुझाव देगा, और सार्त्र का यहाँ मुख्य बिंदु उनकी द्वैतता और एक दूसरे से अलगाव है। Tr. मैंने एक त्रुटि को ठीक कर दिया है जो निश्चित रूप से एक गलत मुद्रण है। "प्रामाणिक से प्रामाणिक तक," जैसा कि पाठ वास्तव में लिखा गया है, का कोई अर्थ नहीं होगा। Tr.
6 देखें. प्रस्तावना, खंड III.
यह तर्क वास्तव में स्पष्ट रूप से तर्क की आवश्यकताओं पर आधारित है।
8 सार्त्र ने यहाँ “नष्ट” कहा है, लेकिन मुझे लगता है कि उनका मतलब “निराश” ही रहा होगा क्योंकि उन्होंने पहले ही हमें बताया है कि अस्तित्व को नष्ट नहीं किया जा सकता। Tr.
भाग एक, अध्याय II, खंड ii. “दुर्भावना के पैटर्न।”
हेगेलियन विरोध इसी प्रकार के निषेध से संबंधित है। लेकिन यह विरोध स्वयं एक मूल आंतरिक निषेध पर आधारित होना चाहिए; अर्थात् अभाव पर। उदाहरण के लिए, यदि गैर-आवश्यक वस्तु अपने आप में आवश्यक बन जाती है, तो इसका कारण यह है कि इसे आवश्यक वस्तु के मूल में अभाव के रूप में अनुभव किया जाता है।
11 Le manquant, “कमी वाला,” l’existant, “मौजूद”; le manqué, “कमी वाला।” Le manque का अर्थ है “कमी।” कभी-कभी जब manqué का प्रयोग विशेषण के रूप में किया जाता है, तो मैंने इसका अनुवाद “गायब” के रूप में किया है, जैसे, 1’en-soi manqué, “स्वयं में गायब।” Tr.
शायद कोई इस त्रिमूर्ति को हेगेलियन शब्दों में अनुवादित करने और 'स्वयं में' को थीसिस, 'स्वयं के लिए' को प्रतिथीसिस और 'स्वयं में-स्वयं के लिए' या मूल्य को संश्लेषण मानने के लिए प्रलोभित हो। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जहाँ 'स्वयं के लिए' में 'स्वयं में' का अभाव है, वहीं 'स्वयं में' में 'स्वयं के लिए' का अभाव नहीं है। इसलिए विरोध में कोई पारस्परिकता नहीं है। संक्षेप में, 'स्वयं के लिए' 'स्वयं में' के संबंध में गैर-आवश्यक और आकस्मिक बना रहता है, और इसी गैर-आवश्यकता को हमने पहले इसकी तथ्यात्मकता कहा था। इसके अतिरिक्त, संश्लेषण या मूल्य वास्तव में थीसिस की ओर वापसी होगी, फिर स्वयं पर वापसी होगी; लेकिन चूंकि यह एक अवास्तविक समग्रता है, इसलिए 'स्वयं के लिए' एक ऐसा क्षण नहीं है जिसे पार किया जा सके। इस प्रकार इसकी प्रकृति कीर्केगार्ड की "अस्पष्ट" वास्तविकताओं के बहुत करीब पहुँच जाती है। इसके अलावा, हमें यहां एकतरफा विरोधों का दोहरा खेल देखने को मिलता है: एक अर्थ में 'स्वयं के लिए' में 'स्वयं के लिए' की कमी होती है, जिसमें 'स्वयं के लिए' की कमी नहीं होती; लेकिन दूसरे अर्थ में 'स्वयं के लिए' में अपनी स्वयं की संभावना (या 'स्वयं के लिए' की कमी) की कमी होती है, जिसमें इस मामले में 'स्वयं के लिए' की कमी नहीं होती।
फ़्रेंच पाठ त्रुटिपूर्ण है, जो पढ़ा जा रहा है। स्पष्टतः सार्त्र का इरादा था। Tr. 14 सार्त्र ने जिस लेख का उल्लेख किया है वह है "ला ट्रान्सेंडेंस डे ल'एगो, एस्क्विसे डी'यून डिस्क्रिप्शन फेनोमेनोलॉजिक," रेचेर्चेस फिलॉसॉफिक्स 6:1936-1937। पृ. 85-123. ट्र.
हम इस भाग के अध्याय III में देखेंगे कि यह परिभाषा—जिसे हम अस्थायी रूप से अपनाते हैं—किस हद तक अपर्याप्त और त्रुटिपूर्ण है।

अध्याय दो

सामयिक प्रकृति
I. तीन लौकिक आयामों की घटना विज्ञान कालिकता स्पष्ट रूप से एक संगठित संरचना है। समय के तीन तथाकथित "तत्वों", भूतकाल, वर्तमान और भविष्य, को हमारे द्वारा सारांशित किए जाने वाले "प्रदत्त" तत्वों के संग्रह के रूप में नहीं माना जाना चाहिए—उदाहरण के लिए, "वर्तमान" की एक अनंत श्रृंखला के रूप में जिसमें कुछ अभी तक नहीं हैं और कुछ अब नहीं रहे—बल्कि एक मौलिक संश्लेषण के संरचित क्षणों के रूप में माना जाना चाहिए। अन्यथा हम तुरंत इस विरोधाभास का सामना करेंगे: भूतकाल अब नहीं है; भविष्य अभी तक नहीं है; जहाँ तक तात्कालिक वर्तमान की बात है, सर्वविदित है कि इसका अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि यह एक अनंत विभाजन की सीमा है, जैसे आयामहीन बिंदु। इस प्रकार पूरी श्रृंखला नष्ट हो जाती है, और यह विनाश दुगुना हो जाता है क्योंकि भविष्य का "वर्तमान", उदाहरण के लिए, भविष्य के रूप में शून्यता है और जब यह वर्तमान "वर्तमान" की स्थिति में परिवर्तित होता है तो शून्यता में ही साकार हो जाता है। कालिकता का अध्ययन करने का एकमात्र संभव तरीका इसे एक समग्रता के रूप में देखना है जो इसकी गौण संरचनाओं पर हावी होती है और उन्हें उनका अर्थ प्रदान करती है। हम इस तथ्य को कभी नहीं भूलेंगे। फिर भी, समय के अस्तित्व की जांच शुरू करने से पहले, हम पूर्व-सत्तामीमांसा और घटनात्मक वर्णन के माध्यम से तीन आयामों के अक्सर अस्पष्ट अर्थ को स्पष्ट किए बिना ऐसा नहीं कर सकते। हमें इस घटनात्मक वर्णन को केवल एक अस्थायी कार्य मानना चाहिए जिसका उद्देश्य केवल हमें समग्र रूप से कालिकता की अंतर्दृष्टि प्राप्त करने में सक्षम बनाना है। विशेष रूप से, हमारा वर्णन हमें प्रत्येक आयाम को कालिक समग्रता के आधार पर प्रकट होते हुए देखने में सक्षम बनाना चाहिए, और हमें उस आयाम की अविभाज्यता को कभी नहीं भूलना चाहिए।
ए. अतीत
स्मृति से संबंधित प्रत्येक सिद्धांत अतीत के अस्तित्व की पूर्वधारणा को दर्शाता है। ये पूर्वधारणाएँ, जिनका कभी स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है, स्मृति और सामान्यतः कालक्रम की समस्या को अस्पष्ट कर देती हैं। हमें अंततः यह प्रश्न अवश्य उठाना चाहिए: अतीत के अस्तित्व का क्या अर्थ है? आम राय दो समान रूप से अस्पष्ट अवधारणाओं के बीच झूलती रहती है। कहा जाता है कि अतीत अब नहीं है। इस दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्व केवल वर्तमान को ही दिया जा सकता है। इस तात्विक पूर्वधारणा ने मस्तिष्क छापों के प्रसिद्ध सिद्धांत को जन्म दिया है। चूंकि अतीत अब नहीं है, चूंकि वह शून्यता में विलीन हो गया है, यदि स्मृति का अस्तित्व बना रहता है, तो यह हमारे अस्तित्व के वर्तमान संशोधन के कारण ही हो सकता है; उदाहरण के लिए, यह मस्तिष्क की कोशिकाओं के एक समूह पर वर्तमान में अंकित एक छाप होगी। इस प्रकार सब कुछ वर्तमान है: शरीर, वर्तमान बोध, और शरीर में वर्तमान छाप के रूप में अतीत—सब कुछ वास्तविकता है; क्योंकि छाप का स्मृति के रूप में

कोई आभासी अस्तित्व नहीं है; यह पूरी तरह से एक वास्तविक छाप है। यदि स्मृति का पुनर्जन्म होता है, तो यह वर्तमान में एक वर्तमान प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप होता है, जो विचाराधीन कोशिकीय समूह में प्रोटोप्लाज्मिक संतुलन में व्यवधान के रूप में प्रकट होता है। मनो-शारीरिक समानता, जो तात्कालिक और काल से परे है, यह समझाने के लिए मौजूद है कि यह शारीरिक प्रक्रिया एक विशुद्ध रूप से मानसिक घटना से कैसे संबंधित है, लेकिन समान रूप से वर्तमान है—चेतना में स्मृति-छवि का प्रकट होना। एनग्राम का हालिया विचार केवल इस सिद्धांत को छद्म-वैज्ञानिक शब्दावली में लपेटकर ही कुछ नया जोड़ता है।
लेकिन यदि सब कुछ मौजूद है, तो हम स्मृति की निष्क्रियता को कैसे समझाएँगे; अर्थात्, यह तथ्य कि स्मरण करने वाली चेतना अपने इरादे में वर्तमान से परे जाकर उस घटना को लक्ष्य बनाती है जो वहाँ घटी थी। मैंने कहीं और दिखाया है कि यदि हम छवि को एक पुनर्जीवित धारणा मानकर शुरुआत करें तो छवि को धारणा से अलग करने का कोई तरीका नहीं है।

1 हमें यहाँ भी वैसी ही असंभवताओं का
सामना करना पड़ेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त, हम इस प्रकार स्मृति को छवि से अलग करने की विधि को भी हटा देते हैं; न तो स्मृति की "कमजोरी", न ही उसका धुंधलापन, न ही उसकी अपूर्णता, और न ही धारणा के तथ्यों के साथ उसके विरोधाभास उसे एक काल्पनिक छवि से अलग कर सकते हैं क्योंकि यह समान विशेषताएँ प्रस्तुत करती है।
इसके अलावा, चूंकि ये विशेषताएं स्मृति के वर्तमान गुण हैं, इसलिए ये हमें वर्तमान से बाहर निकलकर अतीत की ओर निर्देशित करने में सक्षम नहीं बना सकतीं। स्मृति के 'मैं' होने के गुण—क्लैपरेडे के अनुसार इसकी 'मेरी'ता, या जेम्स के अनुसार इसकी 'घनिष्ठता'—का आह्वान करना व्यर्थ होगा। या तो ये विशेषताएं केवल एक वर्तमान वातावरण को प्रकट करती हैं जो स्मृति को घेरे रहता है—और फिर वे वर्तमान में ही बनी रहती हैं और वर्तमान को संदर्भित करती हैं, या फिर वे स्वयं अतीत से एक संबंध हैं—और फिर वे उस बात को पूर्वकल्पित करती हैं जिसे उन्हें स्पष्ट करना चाहिए। कुछ विद्वानों का मानना है कि वे स्मृति को स्थानीयकरण के एक अंतर्निहित पैटर्न और इसे 'स्मृति के सामाजिक संदर्भों' के अस्तित्व द्वारा सुगम बौद्धिक क्रियाओं के एक समूह में कम करके इस समस्या से आसानी से छुटकारा पा सकते हैं। निस्संदेह ये क्रियाएं मौजूद हैं और मनोवैज्ञानिक जांच का विषय होनी चाहिए। लेकिन यदि अतीत से संबंध किसी प्रकार से दिया नहीं गया है, तो ये क्रियाएं इसे उत्पन्न नहीं कर सकतीं। संक्षेप में कहें तो, यदि हम मनुष्य को उसके वर्तमान के क्षणिक द्वीप पर अलग-थलग करके शुरुआत करें, और यदि उसके अस्तित्व के सभी स्वरूप प्रकट होते ही प्रकृति द्वारा शाश्वत वर्तमान के लिए नियत हों, तो हम अतीत के साथ उसके मूल संबंध को समझने के सभी तरीकों को पूरी तरह से नकार देंगे। हम वर्तमान से उधार लिए गए तत्वों से "अतीत" आयाम को स्थापित करने में उसी प्रकार सफल नहीं होंगे, जिस प्रकार "आनुवंशिकीविदों" ने अविस्तारित तत्वों से विस्तार को स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं की है।

रखते हैं, तो हम उस चीज़ में अंतर करने की सारी संभावना खो देते हैं जो अब नहीं है और जो नहीं है। कोई आपत्ति कर सकता है कि जो अब नहीं है वह कम से कम कभी तो रहा होगा, जबकि जो नहीं है उसका अस्तित्व से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। यह सत्य है। लेकिन सांसारिक क्षण के अस्तित्व के नियम को, जैसा कि हमने देखा है, सरल शब्दों, "अस्तित्व है" से व्यक्त किया जा सकता है, जो सकारात्मकताओं की एक विशाल परिपूर्णता को इंगित करता है जहाँ जो नहीं है उसे किसी भी तरह से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है, यहाँ तक कि किसी आभास, शून्यता, अपील या "हिस्टेरेसिस" द्वारा भी नहीं। जो अस्तित्व है वह अपने आप को अस्तित्व में ही पूर्णतः समाहित कर लेता है; उसका जो नहीं है या जो अब नहीं है उससे कोई संबंध नहीं है। चाहे वह कितना भी उग्र हो या "अब नहीं" के रूप में दबी हुई नकारात्मकता हो, इस पूर्ण सघनता में कोई स्थान नहीं पा सकती। इसलिए अतीत अपने तरीके से विद्यमान तो रह सकता है, लेकिन संबंध टूट चुके हैं। अस्तित्व ने अपने अतीत को "भुलाया" भी नहीं है, क्योंकि भूलना भी एक प्रकार का जुड़ाव ही होगा। अतीत सपने की तरह उससे ओझल हो गया है।
डेसकार्टेस और बर्गसन दोनों की अवधारणाओं को एक साथ खारिज किया जा सकता है क्योंकि दोनों पर एक ही आपत्ति लागू होती है। चाहे अतीत को मिटाने का सवाल हो या उसके लिए एक पारिवारिक देवता के अस्तित्व को संरक्षित करने का, इन लेखकों ने इसकी स्थिति को वर्तमान से अलग करके देखा है। चेतना की उनकी अवधारणा चाहे जो भी हो, उन्होंने इसे स्वयं में अस्तित्व प्रदान किया है; उन्होंने इसे वही माना है जो यह है। बाद में आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि वे अतीत को वर्तमान से जोड़ने में विफल रहे, क्योंकि इस प्रकार परिकल्पित वर्तमान अपनी पूरी शक्ति से अतीत को अस्वीकार कर देगा। यदि उन्होंने लौकिक घटना को उसकी समग्रता में देखा होता, तो वे देखते कि "मेरा" अतीत सबसे पहले मेरा है; अर्थात्, यह एक निश्चित अस्तित्व के कार्य के रूप में विद्यमान है जो मैं हूँ। अतीत कुछ भी नहीं है; न ही यह वर्तमान है; बल्कि अपने मूल में ही यह एक निश्चित वर्तमान और एक निश्चित भविष्य से जुड़ा हुआ है, और दोनों से ही इसका संबंध है। क्लैपरेड जिस "मेरेपन" की बात करते हैं, वह कोई व्यक्तिपरक सूक्ष्मता नहीं है जो स्मृति को चकनाचूर कर देती है; यह एक तात्विक संबंध है जो अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। मेरा अतीत कभी भी अपने "अतीत स्वरूप" में पृथक नहीं दिखता; यह सोचना भी हास्यास्पद होगा कि वह इस रूप में विद्यमान हो सकता है। यह मूलतः इस वर्तमान का अतीत है। इसे सर्वप्रथम इसी रूप में स्पष्ट किया जाना चाहिए।
मैं लिखता हूँ कि 1920 में पॉल पॉलिटेक्निक स्कूल में छात्र थे। वह कौन है जो "थे"? ज़ाहिर है पॉल, लेकिन कौन सा पॉल? 1920 का वह युवक? लेकिन 1920 में पॉल के संदर्भ में, पॉलिटेक्निक छात्र होने के गुण के लिए "होना" क्रिया का एकमात्र उपयुक्त काल वर्तमान काल है। जहाँ तक वह थे, हमें उनके बारे में कहना होगा - "वह हैं।" यदि पॉल अब अतीत में चले गए हैं और पॉलिटेक्निक स्कूल में छात्र थे, तो वर्तमान से उनका सारा संबंध टूट जाता है: वह व्यक्ति जिसने यह उपाधि धारण की थी, यानी कर्ता, 1920 में अपने उस

गुण के साथ वहीं रह गया है। यदि हम स्मरण को संभव बनाए रखना चाहते हैं, तो इस परिकल्पना के आधार पर हमें एक स्मरण संश्लेषण को स्वीकार करना होगा जो अतीत से संपर्क बनाए रखने के लिए वर्तमान से उत्पन्न होता है। यह संश्लेषण तब तक असंभव है जब तक यह मूल अस्तित्व का एक रूप न हो। ऐसे संश्लेषण के अभाव में, हमें अतीत को उसके पूर्ण अलगाव में छोड़ना होगा। इसके अलावा, व्यक्तित्व में इस तरह के विभाजन का क्या अर्थ होगा? प्रॉस्ट, बेशक, स्वयं की क्रमिक बहुलता को स्वीकार करते हैं, लेकिन यदि हम इस अवधारणा को शाब्दिक रूप से लें, तो यह हमें उन दुर्गम कठिनाइयों में डाल देती है जिनका सामना उनके समय में एसोसिएशन स्कूल को करना पड़ा था।
शायद कोई परिवर्तन में स्थायित्व की परिकल्पना सुझाएगा: पॉलिटेक्निक का छात्र वही पॉल है जो 1920 में भी अस्तित्व में था और आज भी अस्तित्व में है। तो फिर, जिसके बारे में पहले हम कहते हैं, "वह पॉलिटेक्निक का छात्र है," आज हम कहते हैं, "वह पॉलिटेक्निक का पूर्व छात्र है।" लेकिन स्थायित्व का सहारा लेने से हमारी समस्या हल नहीं हो सकती। यदि कुछ भी "वर्तमान" के प्रवाह को पीछे की ओर मोड़कर लौकिक श्रृंखला और इस श्रृंखला के भीतर स्थायी विशेषताओं का निर्माण नहीं करता, तो स्थायित्व प्रत्येक व्यक्तिगत "वर्तमान" के घनत्व के बिना एक निश्चित तात्कालिक सामग्री मात्र है। स्थायित्व के लिए अतीत का होना आवश्यक है, और परिणामस्वरूप कोई न कोई ऐसा व्यक्ति या वस्तु होनी चाहिए जो अतीत का हिस्सा हो। समय के निर्माण में सहायता करने के बजाय, स्थायित्व स्वयं को प्रकट करने और उसके साथ परिवर्तन को प्रकट करने के लिए समय को पूर्व निर्धारित करता है।
तो हम फिर उसी बात पर लौटते हैं जिसकी झलक हमें पहले मिली थी। यदि अतीत के रूप में अस्तित्वगत अवशेष मेरे वास्तविक वर्तमान से उत्पन्न नहीं होता, यदि मेरा बीता हुआ अतीत मेरे आज के वर्तमान के पीछे एक अलौकिक सत्ता के रूप में विद्यमान नहीं है, तो हम अतीत को वर्तमान से जोड़ने की सारी आशा खो चुके हैं। यदि मैं पौलुस के बारे में कहूँ कि वह कभी या एक निरंतर अवधि तक पॉलिटेक्निक का छात्र था, तो मैं उसी पौलुस की बात कर रहा हूँ जो वर्तमान में है और जिसके बारे में मैं यह भी कहता हूँ कि वह अब चालीस वर्ष का है। यह वह किशोर नहीं है जो पॉलिटेक्निक में था। बाद वाले के बारे में, जब तक वह वहाँ था, हमें कहना होगा: वह है। चालीस वर्ष का व्यक्ति ही छात्र था। वास्तव में तीस वर्ष का व्यक्ति भी छात्र था। लेकिन फिर चालीस वर्ष के उस व्यक्ति के बिना यह तीस वर्ष का व्यक्ति क्या होगा? अपने वर्तमान की चरम सीमा पर ही यह चालीस वर्ष का व्यक्ति पॉलिटेक्निक का छात्र "था"। अंततः, एर्लेबनिस का अस्तित्व ही चालीस वर्ष के पुरुष, तीस वर्ष के पुरुष और किशोर के रूप में अस्तित्व में रहने का दायित्व निभाता है—ये सभी अस्तित्व के विभिन्न रूपों में हैं। इस एर्लेबनिस के विषय में, हम आज कहते हैं कि यह है; हम चालीस वर्ष के पुरुष और किशोर के बारे में भी उनके समय में कहते हैं कि वे हैं; आज वे अतीत का एक हिस्सा हैं, और अतीत स्वयं इस अर्थ में है कि वर्तमान में यह पौलुस या इस एर्लेबनिस का अतीत है। इस प्रकार, पूर्ण काल के विशेष काल उन प्राणियों को इंगित करते हैं जो वास्तव में

विद्यमान हैं, यद्यपि विभिन्न रूपों में, लेकिन जिनमें से एक है और साथ ही साथ दूसरा भी था। अतीत को किसी वस्तु या किसी व्यक्ति के अतीत के रूप में परिभाषित किया जाता है; प्रत्येक व्यक्ति का एक अतीत होता है। यह उपकरण, यह समाज, यह व्यक्ति ही हैं जिनका अपना अतीत है। पहले कोई सार्वभौमिक अतीत नहीं होता जिसे बाद में मूर्त अतीतों में विशिष्टीकृत किया जाता है। इसके विपरीत, यह विशिष्ट अतीत ही हैं जिन्हें हम पहले खोजते हैं। असली समस्या— जिस पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे—यह पता लगाना होगा कि किस प्रक्रिया से इन व्यक्तिगत अतीतों को इस प्रकार एकजुट किया जा सकता है जिससे एक समग्र अतीत का निर्माण हो सके।
शायद कोई आपत्ति करे कि हमने एक ऐसे उदाहरण को चुनकर तराजू को झुका दिया है जिसमें "जो विषय था" वह अभी भी वर्तमान में विद्यमान है। हम अन्य उदाहरण देंगे। उदाहरण के लिए, मैं पियरे के बारे में कह सकता हूँ, जो अब जीवित नहीं है: "उसे संगीत से प्रेम था।" इस मामले में, विषय, गुण की तरह, अतीत है। कोई जीवित पियरे नहीं है जिसके संदर्भ में यह अतीत-अस्तित्व उत्पन्न हो सके। लेकिन हम ऐसे विषय की कल्पना करते हैं। हम उसकी कल्पना इस हद तक करते हैं कि हम यह भी स्वीकार करते हैं कि पियरे के लिए संगीत का शौक कभी अतीत नहीं था। पियरे हमेशा इस शौक के साथ समकालीन रहा है, जो उसका शौक था; उसका जीवित व्यक्तित्व इससे बच नहीं पाया, न ही संगीत का शौक व्यक्तित्व से बच पाया। इसलिए यहाँ जो अतीत है वह पियरे का संगीत-प्रेम है। और मैं वही प्रश्न उठा सकता हूँ जो मैंने पहले उठाया था: यह अतीत का पियरे किसका अतीत है? यह एक सार्वभौमिक वर्तमान के संबंध में नहीं हो सकता जो अस्तित्व की एक शुद्ध पुष्टि है; यह तब मेरी वास्तविकता का अतीत है। और वास्तव में पियरे मेरे लिए था, और मैं उसके लिए था। जैसा कि हम देखेंगे, पियरे के अस्तित्व ने मेरी अंतर्मन की गहराइयों को छुआ है; यह उस वर्तमान का हिस्सा था जो "संसार में, मेरे लिए और दूसरों के लिए" था, जो पियरे के जीवनकाल में मेरा वर्तमान था—एक ऐसा वर्तमान जो मैं रहा हूँ। इस प्रकार, जो ठोस वस्तुएँ लुप्त हो चुकी हैं, वे अतीत हैं क्योंकि वे जीवित बचे व्यक्ति के ठोस अतीत का हिस्सा हैं। मालरो ने कहा, "मृत्यु की सबसे भयानक बात यह है कि यह जीवन को नियति में बदल देती है।" इससे हमें यह समझना चाहिए कि मृत्यु स्वयं के लिए-दूसरों के लिए की स्थिति को केवल दूसरों के लिए की स्थिति में बदल देती है। आज मैं अकेला ही मृत पियरे के अस्तित्व के लिए जिम्मेदार हूँ, मैं अपनी स्वतंत्रता में। वे मृत व्यक्ति जिन्हें बचाया नहीं जा सका और जीवित बचे व्यक्ति के ठोस अतीत की सीमाओं तक नहीं पहुँचाया जा सका, वे अतीत नहीं हैं; वे अपने अतीत के साथ ही नष्ट हो गए हैं।
फिर कुछ ऐसे प्राणी भी होते हैं जिनका अतीत होता है। अभी हमने एक यंत्र, एक समाज, एक मनुष्य का ज़िक्र किया। क्या यह सही था? क्या हम शुरुआत में ही सभी परिमित अस्तित्वों को अतीत से जोड़ सकते हैं या केवल उनमें से कुछ श्रेणियों को? यह तब आसानी से निर्धारित किया जा सकता है जब हम इस विशेष अवधारणा—अतीत का होना—की गहराई से जांच करें। कोई व्यक्ति अतीत को उस तरह से नहीं रख सकता जैसे वह किसी कार या रेसिंग अस्तबल को रखता है। कहने

का तात्पर्य यह है कि अतीत पर वर्तमान का अधिकार नहीं हो सकता, जो उससे पूरी तरह से अलग रहता है, जैसे मैं, उदाहरण के लिए, अपने फाउंटेन पेन से अलग रहता हूँ। संक्षेप में, जिस अर्थ में अधिकार सामान्यतः अधिकारकर्ता और अधिकार प्राप्त वस्तु के बीच बाहरी संबंध को व्यक्त करता है, उस अर्थ में अधिकार की अभिव्यक्ति अपर्याप्त है। बाहरी संबंध अतीत और वर्तमान के बीच एक अथाह खाई को छिपा देंगे, जो तब वास्तविक संचार के बिना दो तथ्यात्मक तथ्य बन जाएंगे। बर्गसन की अवधारणा के अनुसार, अतीत का वर्तमान में पूर्णतः समाहित होना भी इस समस्या का समाधान नहीं करता, क्योंकि यह समाहित होना, जो अतीत और वर्तमान का संगठन है, अंततः स्वयं अतीत से ही उत्पन्न होता है और केवल एक उपस्थिति का संबंध है। अतीत को वास्तव में वर्तमान में विद्यमान माना जा सकता है, लेकिन ऐसा मानकर हम इस अंतर्निहितता को नदी की तलहटी में पड़े पत्थर के समान प्रस्तुत करने के सभी तरीके खो देते हैं। अतीत वास्तव में वर्तमान को प्रभावित कर सकता है, लेकिन वह वर्तमान नहीं हो सकता; वर्तमान ही उसका अतीत है।
इसलिए यदि हम अतीत और वर्तमान के संबंधों का अध्ययन अतीत के संदर्भ में करें, तो हम उनके बीच आंतरिक संबंध कभी स्थापित नहीं कर पाएंगे। परिणामस्वरूप, एक ऐसी वस्तु जिसका वर्तमान यथार्थ है, उसका कोई अतीत नहीं हो सकता। शेवेलियर द्वारा अपने सिद्धांत के समर्थन में दिए गए उदाहरण, और विशेष रूप से हिस्टैरेसिस के तथ्य, हमें पदार्थ की वर्तमान अवस्था पर अतीत की किसी भी क्रिया को स्थापित करने की अनुमति नहीं देते हैं। वास्तव में, इनमें से कोई भी उदाहरण ऐसा नहीं है जिसे यांत्रिक नियतिवाद के सामान्य साधनों द्वारा समझाया न जा सके। शेवेलियर हमें बताते हैं कि इन दो कीलों में से एक अभी-अभी बनी है और कभी इस्तेमाल नहीं हुई है, दूसरी को मोड़ा गया है, फिर हथौड़े की चोटों से सीधा किया गया है; वे बिल्कुल एक जैसी दिखती हैं। फिर भी, पहली चोट में ही एक दीवार में सीधे धंस जाएगी, और दूसरी फिर से मुड़ जाएगी; यही अतीत की क्रिया है। हमारे विचार से, इस उदाहरण में अतीत की क्रिया को देखने के लिए थोड़ी सी कुटिलता की आवश्यकता है। घनत्व के संदर्भ में दी गई इस अस्पष्ट व्याख्या के स्थान पर, हम आसानी से एकमात्र संभावित व्याख्या को प्रतिस्थापित कर सकते हैं: इन कीलों की बाहरी दिखावट समान है, लेकिन उनकी वर्तमान आणविक संरचनाएँ स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। वर्तमान आणविक अवस्था प्रत्येक क्षण पिछली आणविक अवस्था का सटीक परिणाम है, जिसका वैज्ञानिक के लिए निश्चित रूप से यह अर्थ नहीं है कि अतीत की स्थिरता के भीतर एक क्षण से दूसरे क्षण में कोई "परिवर्तन" होता है, बल्कि भौतिक समय के दो क्षणों की सामग्री के बीच केवल एक अपरिवर्तनीय संबंध है। इसी प्रकार, अतीत की इस स्थिरता के प्रमाण के रूप में नरम लोहे के एक टुकड़े में चुंबकत्व के अवशेष को प्रस्तुत करना किसी भी सार्थक बात को सिद्ध नहीं करता है। यहाँ हम एक ऐसी घटना से निपट रहे हैं जो अपने कारण से अधिक समय तक जीवित रहती है, न कि अतीत की अवस्था में कारण के अस्तित्व से। पानी को भेदने वाला पत्थर समुद्र की तलहटी में गिरने के बहुत समय बाद भी, संकेंद्रित तरंगें उसकी सतह पर चलती रहती हैं; यहाँ कोई भी इस घटना की

फिर भी, जब तक हम जीवित हैं, हम स्वयं में यह पहचान नहीं हैं। हमें यह होना पड़ता है। सामान्यतः किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है; ऐसा इसलिए है क्योंकि वह अपने अतीत से पुनः जुड़ जाता है; वह इसका अस्तित्व तो है, लेकिन इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। जब तक वह जीवित है, वह मेरे द्वेष का पात्र है; अर्थात्, मैं उसके अतीत के लिए उसे न केवल इसलिए दोषी ठहराता हूँ क्योंकि वह इसका अस्तित्व है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि वह प्रत्येक क्षण इसे पुनः ग्रहण करता है और इसे अपने अस्तित्व में बनाए रखता है, क्योंकि वह इसके लिए उत्तरदायी है। यह सत्य नहीं है कि द्वेष व्यक्ति को उसके अतीत में स्थिर कर देता है; अन्यथा यह मृत्यु के बाद भी बना रहता। यह उस जीवित व्यक्ति को संबोधित है जो अपने अस्तित्व में स्वतंत्र रूप से वह है जो वह था। मैं ही मेरा अतीत हूँ और यदि मैं न होता, तो मेरा अतीत न तो मेरे लिए और न ही किसी और के लिए अस्तित्वहीन होता। इसका वर्तमान से कोई संबंध नहीं होता। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह अस्तित्वहीन होता, बल्कि केवल यह कि उसका अस्तित्व अज्ञात होता। मैं ही वह हूँ जिसके द्वारा मेरा अतीत इस संसार में आता है। लेकिन यह समझना आवश्यक है कि मैं इसे अस्तित्व प्रदान नहीं करता। दूसरे शब्दों में, यह "मेरे" प्रतिनिधित्व के रूप में विद्यमान नहीं है। यह इसलिए विद्यमान नहीं है क्योंकि मैं अपने अतीत का "प्रतिनिधित्व" करता हूँ। बल्कि यह इसलिए विद्यमान है क्योंकि मैं ही मेरा अतीत हूँ, इसलिए यह संसार में प्रवेश करता है, और संसार में इसके विद्यमान होने के संदर्भ में ही मैं एक विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को लागू करके इसे स्वयं के समक्ष प्रस्तुत कर सकता हूँ।
अतीत वह है जो मुझे होना है, फिर भी उसका स्वरूप मेरी संभावनाओं से भिन्न है। संभावना, जो मुझे होना ही है, मेरी मूर्त संभावना बनी रहती है, जिसका विपरीत भी उतना ही संभव है—यद्यपि कम मात्रा में। इसके विपरीत, अतीत वह है जिसमें किसी भी प्रकार की संभावना नहीं है; यह वह है जिसने अपनी संभावनाओं को समाप्त कर दिया है। मुझे वह होना है जो अब मेरे होने की क्षमता पर निर्भर नहीं है, जो अपने आप में वह सब कुछ है जो वह हो सकता है। मैं जो अतीत हूँ, मुझे उसे न होने की किसी भी संभावना के बिना होना है। मैं इसकी पूरी जिम्मेदारी लेता हूँ मानो मैं इसे बदल सकता हूँ, फिर भी मैं इसके अलावा कुछ और नहीं हो सकता। हम आगे देखेंगे कि हम अतीत के अर्थ को बदलने की संभावना को निरंतर बनाए रखते हैं, क्योंकि यह एक पूर्व-वर्तमान है जिसका भविष्य रहा है। लेकिन अतीत की विषयवस्तु से मैं कुछ भी नहीं हटा सकता और न ही उसमें कुछ जोड़ सकता हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं जो अतीत था, वह वही है जो वह है; यह संसार की वस्तुओं की तरह अपने आप में एक इकाई है। अतीत के साथ मुझे जिस प्रकार का अस्तित्व का संबंध बनाए रखना है, वह एक प्रकार का 'स्वयं में' संबंध है - अर्थात्, स्वयं के साथ एकात्मता।
दूसरी ओर, मैं अपना अतीत नहीं हूँ। मैं वह नहीं हूँ क्योंकि मैं वह था। दूसरों की दुर्भावना मुझे हमेशा आश्चर्यचकित करती है और मुझे क्रोधित करती है। वे मुझमें, जो मैं अब हूँ, उस व्यक्ति से घृणा कैसे कर सकते हैं जो

पुनर्प्राप्ति द्वारा ही ग्रहण कर सकता है, जो उसे उस अस्तित्व से दूर कर देता है। स्वयं-स्वरूप में होने की पुष्टि मात्र से ही मैं उस पुष्टि से मुक्त हो जाता हूँ, क्योंकि अपने मूल स्वरूप में ही वह निषेध को दर्शाती है। इस प्रकार, स्वयं-के-लिए-स्वरूप अपने आप में जो है, उससे परे ही रहता है, क्योंकि वह स्वयं-के-लिए-स्वरूप है और उसे होना ही है। परन्तु साथ ही, उसके पीछे विद्यमान सत्ता वास्तव में वही है, कोई दूसरी सत्ता नहीं। इस प्रकार हम "था" का अर्थ समझते हैं, जो केवल स्वयं-के-लिए-स्वरूप की सत्ता के प्रकार को दर्शाता है—अर्थात स्वयं-के-लिए-स्वरूप का उसकी सत्ता से संबंध। अतीत वह स्वयं-स्वरूप है जो मैं हूँ, परन्तु मैं इस स्वयं-स्वरूप को पार कर चुका हूँ।
अब हमें उस विशिष्ट तरीके का अध्ययन करना बाकी है जिससे 'स्वयं के लिए' स्वयं का अतीत था। अब हम जानते हैं कि 'स्वयं के लिए' उस मूल क्रिया में प्रकट होता है जिसके द्वारा 'अंतर्स्व' स्वयं को मिटाकर स्वयं की स्थापना करता है। 'स्वयं के लिए' स्वयं ही अपनी नींव है क्योंकि यह 'अंतर्स्व' की अपनी नींव बनने की विफलता को स्वयं ही बना लेता है। लेकिन इन सबके बावजूद 'स्वयं के लिए' स्वयं को 'अंतर्स्व' से मुक्त करने में सफल नहीं हुआ है। 'अंतर्स्व' जो पार हो चुका है, वह 'स्वयं के लिए' की मूल आकस्मिकता के रूप में जीवित रहता है और उसे सताता रहता है। 'स्वयं के लिए' कभी भी 'अंतर्स्व' तक नहीं पहुँच सकता और न ही स्वयं को यह या वह समझ सकता है, लेकिन यह स्वयं को वह होने से भी नहीं रोक सकता जो वह है—स्वयं से दूर। 'स्वयं के लिए' की यह आकस्मिकता, यह भार जो पार हो चुका है और पार होने में ही संरक्षित है— यही वास्तविकता है। लेकिन यह अतीत भी है। "वास्तविकता" और "अतीत" दो शब्द हैं जो एक ही बात को दर्शाते हैं। वास्तव में, अतीत, वास्तविकता की तरह, स्वयं में निहित उस अटल आकस्मिकता का प्रतीक है जिसे मुझे होना ही है, और उससे अलग होने की कोई संभावना नहीं है। यह तथ्य की अनिवार्यता है, आवश्यकता के कारण नहीं बल्कि तथ्य के कारण। यह तथ्य का अस्तित्व है, जो मेरी प्रेरणाओं की विषयवस्तु निर्धारित नहीं कर सकता, परन्तु अपनी आकस्मिकता से उन्हें पंगु बना देता है क्योंकि वे न तो इसे दबा सकते हैं और न ही बदल सकते हैं; यह वह है जिसे वे इसे संशोधित करने के लिए अनिवार्य रूप से अपने साथ रखते हैं, वह है जिसे वे इससे बचने के लिए संरक्षित करते हैं, वह है जिसे उन्हें न होने के अपने प्रयास में ही होना पड़ता है; यह वह है जिसके आधार पर वे स्वयं को वह बनाते हैं जो वे हैं। यही अस्तित्व इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि प्रत्येक क्षण मैं न तो राजनयिक हूँ और न ही नाविक, बल्कि एक प्रोफेसर हूँ, यद्यपि मैं इस अस्तित्व को केवल एक भूमिका के रूप में निभा सकता हूँ और यद्यपि मैं कभी भी इससे एकात्म नहीं हो सकता। यदि मैं अतीत में पुनः प्रवेश नहीं कर सकता, तो इसका कारण यह नहीं है कि कोई जादुई शक्ति इसे मेरी पहुँच से बाहर रखती है, बल्कि यह है कि यह स्वयं में निहित है और क्योंकि मैं स्वयं के लिए हूँ। अतीत वह है जो मैं बिना उसे जीए ही हूं। अतीत सार है। इस अर्थ में कार्टेशियन कॉगिटो को इस प्रकार व्यक्त किया जाना चाहिए: "मैं सोचता हूं; इसलिए मैं था।"

जो बात हमें धोखा देती है, वह है अतीत और वर्तमान की स्पष्ट समरूपता। क्योंकि कल मैंने जिस शर्म का अनुभव किया, वह उस समय की 'स्वयं के लिए' अनुभूति का हिस्सा थी। हम मानते हैं कि वह आज भी 'स्वयं के लिए' ही बनी हुई है; हम गलत निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि मैं उसमें पुनः प्रवेश नहीं कर सकता, तो इसका कारण यह है कि वह अब अस्तित्व में नहीं है। लेकिन सत्य तक पहुँचने के लिए हमें इस संबंध को उलटना होगा। अतीत और वर्तमान के बीच पूर्ण विषमता है; और यदि मैं अतीत में प्रवेश नहीं कर सकता, तो इसका कारण यह है कि अतीत है। मेरे लिए 'अंतरात्मा' बनने का एकमात्र तरीका यह है कि मैं स्वयं 'स्वयं में' समाहित हो जाऊँ ताकि पहचान के रूप में उसमें विलीन हो जाऊँ; परिभाषा के अनुसार, यह मुझे नहीं दिया गया है। वास्तव में, कल मैंने जिस शर्म का अनुभव किया और जो 'स्वयं के लिए' शर्म थी, वह वर्तमान में भी हमेशा शर्म ही रहती है, और उसके सार को अभी भी 'स्वयं के लिए' के रूप में वर्णित किया जा सकता है। लेकिन उसका अस्तित्व अब 'स्वयं के लिए' नहीं है क्योंकि वह अब प्रतिबिंब-प्रतिबिंब के रूप में विद्यमान नहीं है। यद्यपि उसे 'स्वयं के लिए' के रूप में वर्णित किया जा सकता है, वह बस है। अतीत को 'स्वयं के लिए' से 'स्वयं में' बने हुए के रूप में दिया गया है। जब तक मैं उस शर्म को जीता हूँ, वह वैसी नहीं रहती जैसी वह असल में है। अब जब मैं खुद उस शर्म का अनुभव कर चुका हूँ, तो मैं कह सकता हूँ: वह शर्म थी। वह अब वैसी ही हो गई है जैसी वह पहले थी—मेरे पीछे छूट गई है। उसमें स्वयं की स्थिरता और स्थायित्व है; वह अनंत काल के लिए अपने अंतिम पड़ाव पर है; उसमें स्वयं से स्वयं का पूर्ण जुड़ाव है।
एक अर्थ में, अतीत, जो एक ही समय में स्वयं के लिए और स्वयं में विद्यमान है, मूल्य या स्वयं के समान है, जिसका वर्णन हमने पिछले अध्याय में किया था; क्योंकि यह उस अस्तित्व का एक निश्चित संश्लेषण प्रस्तुत करता है जो वह नहीं है जो वह है और वह नहीं है जो वह है—उस अस्तित्व के साथ जो वह है जो वह है। इसी अर्थ में हम अतीत के क्षणभंगुर मूल्य की बात कर सकते हैं। इसलिए यह तथ्य सामने आता है कि स्मृति हमें उस अस्तित्व को प्रस्तुत करती है जो हम थे, साथ ही अस्तित्व की उस परिपूर्णता के साथ जो इसे एक प्रकार की कविता प्रदान करती है। वह दुःख जो हमने अनुभव किया—यद्यपि अतीत में स्थिर है— स्वयं के लिए अर्थ प्रस्तुत करना बंद नहीं करता, और फिर भी यह दूसरे के दुःख की मौन स्थिरता के साथ, एक मूर्ति के दुःख की स्थिरता के साथ स्वयं में विद्यमान रहता है। इसे स्वयं को अस्तित्व में लाने के लिए अब स्वयं के समक्ष प्रकट होने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, यह स्वयं के लिए इसका चरित्र है; अपने अस्तित्व के तरीके से बहुत दूर, यह केवल अस्तित्व का एक तरीका, एक गुण बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने अतीत में मानसिक अवस्था का अध्ययन करते हुए यह दावा किया है कि चेतना एक ऐसा गुण है जो मानसिक अवस्था को प्रभावित कर सकता है या नहीं, लेकिन उसके अस्तित्व को बदले बिना। अतीत की मानसिक अवस्था पहले अस्तित्व में थी; और फिर वह अपने आप में ही अस्तित्व में है—ठीक वैसे ही जैसे पियरे गोरा है, जैसे वह पेड़ एक बलूत का पेड़ है।

मानवीय वास्तविकता एक उपस्थिति के रूप में व्याप्त है। दूसरे शब्दों में, कोई भी ऐसे विद्यमान की कल्पना नहीं कर सकता जो पहले स्वयं के लिए विद्यमान हो और बाद में विद्यमान के प्रति विद्यमान हो। लेकिन स्वयं-के- लिए-स्वयं को स्वयं-के-लिए-स्वयं...
स्वयं-स्वयं किस सत्ता के समक्ष अपनी उपस्थिति प्रकट करता है? उत्तर स्पष्ट है: स्वयं-स्वयं, अपने भीतर की संपूर्ण सत्ता के लिए उपस्थिति है। या यूँ कहें कि स्वयं-स्वयं की उपस्थिति ही अपने भीतर की सत्ता को समग्रता के रूप में विद्यमान करती है। क्योंकि सत्ता के प्रति उपस्थिति के इसी स्वरूप से, वह सारी संभावना समाप्त हो जाती है जिससे स्वयं-स्वयं किसी एक विशेष सत्ता के प्रति अन्य सभी सत्ताओं की तुलना में अधिक उपस्थित हो सके। यद्यपि उसके अस्तित्व की वास्तविकता ही उसे वहाँ विद्यमान रखती है, कहीं और नहीं, फिर भी वहाँ विद्यमान होना, उपस्थित होने के समान नहीं है। वहाँ विद्यमान होना केवल उस परिप्रेक्ष्य को निर्धारित करता है जिसके द्वारा अपने भीतर की संपूर्ण सत्ता के प्रति उपस्थिति का अहसास होता है। वहाँ विद्यमान के माध्यम से, स्वयं-स्वयं सत्ताओं को एक ही उपस्थिति के लिए विद्यमान बनाता है। सत्ताएँ एक ऐसे संसार में सह-उपस्थित प्रकट होती हैं जहाँ स्वयं-स्वयं उन्हें अपने रक्त से उस पूर्ण आत्म-त्याग द्वारा एकजुट करता है जिसे उपस्थिति कहा जाता है। स्वयं-स्वयं के बलिदान से पहले यह कहना असंभव होता कि सत्ताएँ एक साथ विद्यमान थीं या अलग-अलग। लेकिन स्वयं- स्वयं वह सत्ता है जिसके द्वारा वर्तमान संसार में प्रवेश करता है; संसार के प्राणी वास्तव में सह-उपस्थित हैं, ठीक उसी हद तक क्योंकि एक ही स्वयं- स्वयं एक ही समय में उन सभी के लिए उपस्थित है। इस प्रकार, स्वयं-स्वयं के लिए जिसे हम सामान्यतः वर्तमान कहते हैं, वह उनकी सत्ता से स्पष्ट रूप से भिन्न है, यद्यपि वह उनकी सत्ता से अधिक कुछ नहीं है। क्योंकि उनकी वर्तमान का अर्थ केवल उनकी सह-उपस्थिति है, उस हद तक जहाँ तक स्वयं-स्वयं उनके लिए उपस्थित है।
अब हम जानते हैं कि वर्तमान क्या है और वर्तमान किसके प्रति उपस्थित है। लेकिन उपस्थिति क्या है?
हमने देखा है कि यह दो अस्तित्वों का शुद्ध सह-अस्तित्व नहीं हो सकता, जिसे बाह्यता के एक सरल संबंध के रूप में समझा जाए, क्योंकि इसके लिए सह-अस्तित्व स्थापित करने हेतु एक तीसरे पद की आवश्यकता होगी। यह तीसरा पद संसार के मध्य में वस्तुओं के सह-अस्तित्व के मामले में विद्यमान है; यह स्वयं-स्वयं ही है जो स्वयं को सभी के साथ सह-उपस्थित करके इस सह-अस्तित्व को स्थापित करता है। परन्तु स्वयं-स्वयं की उपस्थिति के मामले में, कोई तीसरा पद नहीं हो सकता। कोई साक्षी—यहाँ तक कि ईश्वर भी—उस उपस्थिति को स्थापित नहीं कर सकता; स्वयं-स्वयं भी उसे तभी जान सकता है जब उपस्थिति पहले से ही विद्यमान हो। फिर भी उपस्थिति स्वयं-स्वयं के रूप में नहीं हो सकती। इसका अर्थ है कि मूलतः स्वयं-स्वयं ही अस्तित्व के लिए उपस्थिति है, इस हद तक कि स्वयं-स्वयं ही अपने सह-अस्तित्व का साक्षी है। हम इसे कैसे समझें? हम जानते हैं कि स्वयं-स्वयं वह अस्तित्व है जो अपने अस्तित्व के

लिए-स्वयं का वस्तु से आंतरिक संबंध है। स्वयं-के-लिए-स्वयं को वस्तु के निषेध के रूप में वस्तु के संदर्भ में बाहर स्थापित करता है; इस प्रकार स्वयं-में-अस्तित्व के साथ इसका पहला संबंध निषेध है। यह स्वयं-के-लिए-स्वयं के रूप में "अस्तित्व" है; अर्थात्, एक पृथक अस्तित्व के रूप में, क्योंकि यह स्वयं को अस्तित्वहीन के रूप में प्रकट करता है। यह आंतरिक विघटन और स्पष्ट निषेध द्वारा दोहरी तरह से अस्तित्व से बच निकलता है। वर्तमान ठीक यही अस्तित्व का निषेध है, अस्तित्व से यही पलायन है, क्योंकि अस्तित्व वहाँ उस रूप में मौजूद है जिससे कोई बच निकलता है। स्वयं-के-लिए-स्वयं अस्तित्व के समक्ष पलायन के रूप में उपस्थित है; वर्तमान अस्तित्व के सामने एक निरंतर पलायन है। इस प्रकार हमने वर्तमान के मूल अर्थ को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है: वर्तमान अस्तित्वहीन है। वर्तमान क्षण, स्वयं के लिए की एक यथार्थवादी और वस्तु-उन्मुख अवधारणा से उत्पन्न होता है; यही अवधारणा हमें स्वयं के लिए को उस रूप में निरूपित करने के लिए प्रेरित करती है जो विद्यमान है और जिसके लिए वह विद्यमान है—उदाहरण के लिए, घड़ी के चेहरे पर वह सुई। इस अर्थ में यह कहना हास्यास्पद होगा कि स्वयं के लिए नौ बज रहे हैं, लेकिन स्वयं के लिए नौ बजे की ओर इंगित सुई के लिए विद्यमान हो सकता है। जिसे हम भ्रमवश वर्तमान कहते हैं, वह वह अस्तित्व है जिसके लिए वर्तमान उपस्थिति है। वर्तमान को एक क्षण के रूप में समझना असंभव है, क्योंकि क्षण वह क्षण होगा जब वर्तमान विद्यमान होता है। लेकिन वर्तमान विद्यमान नहीं है; यह स्वयं को पलायन के रूप में विद्यमान करता है।
लेकिन वर्तमान केवल स्वयं के अस्तित्वहीन होने का ही प्रकटीकरण नहीं है। स्वयं के अस्तित्व के रूप में इसका अस्तित्व इसके बाहर, आगे और पीछे भी मौजूद है। पीछे इसका अतीत था; और आगे इसका भविष्य होगा। यह सह-वर्तमान अस्तित्व से बाहर की ओर और उस अस्तित्व से, जो यह था, उस अस्तित्व की ओर एक पलायन है जो यह होगा। वर्तमान में यह वह नहीं है जो यह है (अतीत) और यह वह है जो यह नहीं है (भविष्य)। इसलिए यहाँ हमारा संदर्भ भविष्य से है।
सी. भविष्य
सबसे पहले, आइए ध्यान दें कि स्वयं में निहित चीज़ न तो भविष्य हो सकती है और न ही भविष्य का कोई अंश समाहित कर सकती है। पूर्णिमा का चंद्रमा तभी भविष्य है जब मैं इस अर्धचंद्राकार चंद्रमा को उस "संसार में" देखता हूँ जो मानवीय वास्तविकता के समक्ष प्रकट होता है: भविष्य केवल मानवीय वास्तविकता के माध्यम से ही संसार में आता है। स्वयं में चंद्रमा का यह भाग वही है जो वह है। इसमें कुछ भी संभाव्यता नहीं है। यह वास्तविकता है। भविष्य, अतीत की तरह, स्वयं में निहित होने की उस मूल कालिकता की घटना के रूप में विद्यमान नहीं है। यदि स्वयं में निहित चीज़ का भविष्य अस्तित्व में होता, तो वह स्वयं में ही विद्यमान होता, अस्तित्व से कटा हुआ—अतीत की तरह। भले ही हम लाप्लास के साथ एक पूर्ण नियतिवाद को स्वीकार कर लें जो हमें भविष्य की स्थिति का पूर्वानुमान लगाने की अनुमति देता है, फिर भी यह आवश्यक होगा कि इस भविष्य की परिस्थिति को भविष्य के प्रारंभिक प्रकटीकरण

पर, संसार के आने वाले अस्तित्व पर रेखांकित किया जाए—अन्यथा समय एक भ्रम है और कालक्रम निष्कर्षणीयता के एक विशुद्ध तार्किक क्रम को छुपाता है। यदि भविष्य को दुनिया के क्षितिज पर पूर्वनिर्धारित किया गया है, तो यह केवल उसी सत्ता द्वारा संभव है जो स्वयं अपना भविष्य है; अर्थात्, जो स्वयं अपने लिए आने वाली है, जिसका अस्तित्व स्वयं के अस्तित्व के आत्म-साक्षात्कार से निर्मित होता है। यहाँ भी हमें वैसी ही आनंदमय संरचनाएँ मिलती हैं जैसी हमने अतीत के लिए वर्णित की हैं। केवल वही सत्ता जिसका अस्तित्व मात्र होने के बजाय स्वयं का अस्तित्व होना आवश्यक है, उसका भविष्य हो सकता है।
लेकिन "भविष्य होने" से वास्तव में क्या तात्पर्य है? और भविष्य किस प्रकार का अस्तित्व रखता है? हमें शुरुआत में ही इस विचार को त्याग देना चाहिए कि भविष्य एक प्रतिनिधित्व के रूप में विद्यमान है। सबसे पहले, भविष्य का "प्रतिनिधित्व" शायद ही कभी होता है। जब ऐसा होता है, तो जैसा कि हाइडेगर कहते हैं, यह विषय बन जाता है और मेरा भविष्य होने के बजाय मेरे प्रतिनिधित्व का उदासीन वस्तु बन जाता है। अंततः, यदि इसका प्रतिनिधित्व किया जाता, तो यह मेरे प्रतिनिधित्व की "विषयवस्तु" नहीं हो सकता था, क्योंकि विषयवस्तु, यदि कोई होती, तो उसे वर्तमान होना पड़ता। कोई कह सकता है कि यह वर्तमान विषयवस्तु एक "भविष्यवादी" इरादे से प्रेरित होगी। यह तर्कसंगत नहीं है। भले ही वह इरादा मौजूद हो, या तो वह स्वयं अनिवार्य रूप से वर्तमान होगा—और फिर भविष्य की समस्या का कोई समाधान संभव नहीं है; या फिर वह इरादा भविष्य में वर्तमान से परे चला जाता है, और फिर इस इरादे का अस्तित्व भविष्य में होता है, और भविष्य में एक ऐसे अस्तित्व को पहचानना आवश्यक है जो सरल बोध से भिन्न हो। इसके अतिरिक्त, यदि 'स्वयं के लिए' अपने वर्तमान तक ही सीमित रहे, तो वह भविष्य को स्वयं के लिए कैसे प्रस्तुत कर सकता है? उसे भविष्य का ज्ञान या पूर्वाभास कैसे हो सकता है? कोई भी गढ़ा हुआ विचार इसके समतुल्य नहीं हो सकता। एक बार जब हम वर्तमान को वर्तमान तक सीमित कर देते हैं, तो यह स्पष्ट है कि हम इससे कभी बाहर नहीं निकल पाएंगे। वर्तमान को "भविष्य से परिपूर्ण" कहना व्यर्थ होगा। या तो इस अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं है, या यह वर्तमान में किसी वास्तविक प्रभाव को दर्शाती है, या यह 'स्वयं के लिए' के अस्तित्व के नियम को उसके भविष्य के रूप में इंगित करती है - और इस अंतिम स्थिति में यह केवल उस बात की ओर इशारा करती है जिसका वर्णन और व्याख्या की जानी चाहिए। 'स्वयं के लिए' न तो "भविष्य से परिपूर्ण" हो सकता है, न ही "भविष्य की आशा रखने वाला" हो सकता है, और न ही "भविष्य का ज्ञान" हो सकता है, सिवाय स्वयं के साथ अपने मूल और पूर्वाग्रहपूर्ण संबंध के आधार पर। हम स्वयं-के-लिए-के-लिए विषयगत दूरदर्शिता की थोड़ी सी भी संभावना की कल्पना नहीं कर सकते, यहाँ तक कि वैज्ञानिक ब्रह्मांड में निर्धारित अवस्थाओं की भी नहीं, जब तक कि वह अस्तित्व भविष्य के संदर्भ में स्वयं तक नहीं पहुँचता, वह अस्तित्व जो भविष्य में अपने से बाहर अपने अस्तित्व के रूप में स्वयं को अस्तित्व में लाता है।

आइए एक सरल उदाहरण लेते हैं। टेनिस कोर्ट पर मैं जो स्थिति तुरंत अपनाता हूँ, उसका अर्थ केवल उस गति से है जो मैं तुरंत बाद रैकेट से गेंद को नेट के पार वापस भेजने के लिए करूँगा। लेकिन मैं भविष्य की गति के "स्पष्ट निरूपण" या उसे पूरा करने की "दृढ़ इच्छा" का पालन नहीं कर रहा हूँ। निरूपण और इच्छाशक्ति मनोवैज्ञानिकों द्वारा गढ़ी गई मूर्तियाँ हैं। यह भविष्य की गति ही है, जो विषयगत रूप से स्थापित हुए बिना भी, मेरे द्वारा अपनाई गई स्थितियों की पृष्ठभूमि में मंडराती रहती है, ताकि उन्हें स्पष्ट कर सके, उन्हें जोड़ सके और उनमें संशोधन कर सके। एक ही बार में, जब मैं कोर्ट पर होता हूँ और गेंद वापस भेज रहा होता हूँ, तो मैं सबसे पहले स्वयं के लिए एक अभाव के रूप में विद्यमान होता हूँ, और मेरे द्वारा अपनाई गई मध्यवर्ती स्थितियाँ केवल स्वयं को उस भविष्य की स्थिति से जोड़ने और उसमें विलीन होने के तरीके हैं; प्रत्येक स्थिति का अर्थ केवल उस भविष्य की स्थिति के माध्यम से ही होता है। मेरी चेतना में ऐसा कोई क्षण नहीं है जो भविष्य के साथ आंतरिक संबंध द्वारा इसी प्रकार परिभाषित न हो; जब मैं लिखता हूँ, जब मैं धूम्रपान करता हूँ, जब मैं शराब पीता हूँ, जब मैं आराम करता हूँ, तो मेरी चेतन अवस्थाओं का अर्थ हमेशा दूर, नीचे, बाहर होता है। इस अर्थ में हाइडेगर का यह कहना सही है कि 'डेसिन' "हमेशा उससे कहीं अधिक होता है जितना कि अगर हम इसे केवल वर्तमान तक सीमित कर दें।" इससे भी बेहतर, यह सीमा असंभव होगी, क्योंकि तब हम वर्तमान को 'स्वयं में' बना देंगे। इस प्रकार, अंतिम रूप को कार्य-कारण का उल्टा कहना उचित है—अर्थात भविष्य की अवस्था की प्रभावकारिता। लेकिन अक्सर लोग इस सूत्र को अक्षरशः लेना भूल जाते हैं।
हमें भविष्य से ऐसे "वर्तमान" को नहीं समझना चाहिए जो अभी तक अस्तित्व में नहीं है। यदि हम ऐसा करते हैं, तो हम स्वतःस्फूर्तता में ही सिमट जाएंगे, और इससे भी बदतर, हमें समय को एक स्थिर और निश्चित पात्र के रूप में देखना पड़ेगा। भविष्य वह है जिसमें मुझे होना है, क्योंकि मैं वह नहीं हो सकता। आइए याद रखें कि स्वतःस्वयं स्वयं को अस्तित्व के समक्ष इस रूप में प्रकट करता है कि वह यह अस्तित्व नहीं है और अतीत में वह स्वयं का अस्तित्व रहा है। यह उपस्थिति पलायन है। हम यहां अस्तित्व के निकट विश्राम करने वाली विलंबित उपस्थिति की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि अस्तित्व से बाहर की ओर पलायन की बात कर रहे हैं। और यह पलायन दो प्रकार का है, क्योंकि जिस अस्तित्व का वह नहीं है, उससे भागते हुए, उपस्थिति उस अस्तित्व से भागती है जो वह थी। वह किस ओर भाग रही है? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस हद तक वह अस्तित्व से भागने के लिए स्वयं को अस्तित्व में प्रकट करती है, स्वतःस्वयं एक अभाव है। संभव वह है जिसकी स्वतःस्वयं में कमी है ताकि वह स्वयं हो सके या, यदि आप चाहें, तो दूर से मैं जो हूं उसका स्वरूप। इस प्रकार हम उस पलायन का अर्थ समझते हैं जो उपस्थिति है; यह अपने अस्तित्व की ओर एक उड़ान है; अर्थात् उस स्व की ओर जो इसकी कमी के साथ संयोगवश इसका स्वरूप बनेगा। भविष्य वह कमी है जो इसे उपस्थिति के आंतरिक स्वरूप से अलग कर देती है। यदि उपस्थिति में किसी चीज की कमी न होती, तो वह अस्तित्व में

इस प्रकार परिभाषित भविष्य, आने वाले क्षणों के एक समरूप और कालानुक्रमिक क्रम से मेल नहीं खाता। निश्चित रूप से, मेरी संभावनाओं का एक पदानुक्रम है। लेकिन यह पदानुक्रम सार्वभौमिक कालक्रम के उस क्रम से मेल नहीं खाता जो मूल कालक्रम के आधार पर स्थापित होगा। मैं अनंत संभावनाओं का समूह हूँ, क्योंकि 'स्वयं के लिए' का अर्थ जटिल है और इसे किसी एक सूत्र में समाहित नहीं किया जा सकता। लेकिन एक विशेष संभावना, वर्तमान 'स्वयं के लिए' के अर्थ को निर्धारित करने में, सार्वभौमिक काल में निकट की किसी अन्य संभावना से अधिक निर्णायक हो सकती है। उदाहरण के लिए, दो साल से जिस मित्र से नहीं मिला हूँ, उससे मिलने के लिए दोपहर दो बजे जाने की संभावना—यह वास्तव में एक ऐसी संभावना है जो मैं हूँ। लेकिन निकट की संभावनाएँ— टैक्सी से, बस से, मेट्रो से, पैदल वहाँ जाने की संभावनाएँ—ये सभी वर्तमान में अनिश्चित हैं। मैं इनमें से कोई भी संभावना नहीं हूँ। मेरी संभावनाओं की श्रृंखला में अंतराल भी हैं। ज्ञान के क्रम में, ये अंतराल एक समरूप काल के निर्माण द्वारा भरे जाएँगे, जिसमें कोई कमी नहीं होगी। क्रिया के क्रम में वे इच्छाशक्ति से भरे जाएंगे - अर्थात्, मेरे संभावितों के संदर्भ में तर्कसंगत, विषयगत चुनाव द्वारा, और उन संभावनाओं द्वारा जो मेरी संभावनाएं नहीं हैं और कभी नहीं होंगी और जिन्हें मैं पूर्ण उदासीनता के तरीके से साकार करूंगा ताकि उस संभावना के साथ पुन: एकजुट हो सकूं जो मैं हूं।
II. कालिकता का सत्तामीमांसा A. स्थिर कालिकता
तीनों लौकिक परमानंदों का हमारा घटनात्मक विवरण हमें वर्तमान में लौकिकता को एक समग्र संरचना के रूप में समझने में सक्षम बनाएगा, जिसके भीतर द्वितीयक परमानंद संरचनाएं संगठित होती हैं। लेकिन यह नया अध्ययन दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से किया जाना चाहिए।
समय को अक्सर अपरिभाषित माना जाता है। हालांकि, सर्वमान्य है कि यह सर्वप्रथम एक क्रम है। और क्रम को एक ऐसे क्रम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें क्रम का मूल सिद्धांत पूर्व-पश्चात संबंध है। पूर्व और पश्चात के संदर्भ में व्यवस्थित बहुलता एक कालिक बहुलता है। इसलिए, पूर्व और पश्चात शब्दों की संरचना और आवश्यकताओं पर विचार करके प्रारंभ करना उचित है। इसे हम स्थिर कालिकता कहेंगे क्योंकि पूर्व और पश्चात की इन धारणाओं को परिवर्तन से स्वतंत्र एक पूर्णतः क्रमबद्ध व्यवस्था में माना जा सकता है। लेकिन समय केवल एक निश्चित बहुलता के लिए एक स्थिर क्रम नहीं है; समय का अधिक बारीकी से अध्ययन करने पर हम क्रम के तथ्य को स्थापित करते हैं; अर्थात्, यह तथ्य कि एक विशेष पश्चात एक पूर्व बन जाता है, कि वर्तमान भूतकाल बन जाता है और भविष्य एक पूर्व-भविष्य बन जाता है। यह हमारे दूसरे अन्वेषण का विषय हो सकता है जिसे गतिशील कालिकता कहा जाएगा। निश्चित रूप से गतिशील कालिकता में ही हमें समय की स्थिर संरचना का रहस्य खोजना होगा। लेकिन कठिनाइयों को विभाजित करना बेहतर है। वास्तव में, एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि स्थिर लौकिक को लौकिकता की एक निश्चित औपचारिक संरचना के रूप

में अलग से माना जा सकता है—जिसे कांट समय का क्रम कहते हैं—और गतिशील लौकिक भौतिक प्रवाह या—कांट की शब्दावली में—समय के प्रवाह से मेल खाती है। इसलिए हमारे लिए पहले इस क्रम और फिर इस प्रवाह पर अलग से विचार करना लाभकारी होगा।
“पहले-बाद” का क्रम सर्वप्रथम अपरिवर्तनीयता द्वारा परिभाषित होता है। हम ऐसी श्रृंखला को क्रमिक कहते हैं जब हम एक समय में केवल एक ही पद पर और केवल एक ही दिशा में विचार कर सकते हैं। लेकिन ठीक इसी कारण कि श्रृंखला के पद एक-एक करके प्रकट होते हैं और प्रत्येक पद दूसरे से अनन्य होता है, कुछ लोगों ने पहले और बाद के रूपों में अलगाव को देखने की इच्छा व्यक्त की है। वास्तव में, समय मुझे, उदाहरण के लिए, मेरी इच्छाओं की पूर्ति से अलग करता है। यदि मुझे उस पूर्ति के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो इसका कारण यह है कि वह अन्य घटनाओं के बाद घटित होती है। “बाद” के क्रम के बिना, मैं तुरंत वही बन जाऊँगा जो मैं बनना चाहता हूँ; वर्तमान और भविष्य के बीच कोई दूरी नहीं रहेगी, न ही सपने और कर्म के बीच कोई अलगाव रहेगा। उपन्यासकारों और कवियों ने समय की अलग करने की शक्ति पर बल दिया है, और उन्होंने एक संबंधित विचार पर भी बल दिया है, जो गतिशील कालिकता से उत्पन्न होता है— कि प्रत्येक “वर्तमान” एक “पूर्व” बनने के लिए नियत है। समय क्षीण करता है और क्षीण करता है; यह अलग करता है; यह उड़ जाता है। और अलगाव के कारण— मनुष्य को उसके दर्द से या उसके दर्द के कारण से अलग करके—समय सब कुछ ठीक कर देता है।
“समय को अपना काम करने दो,” राजा ने डॉन रोड्रिगो से कहा। आम तौर पर लोगों को यह एहसास होता है कि हर चीज़ को अनंत काल तक फैले हुए क्रमिक परिवर्तनों में बाँटा जा सकता है। यहाँ तक कि स्थायी चीज़ें, यहाँ तक कि यह मेज़ भी, जो मेरे बदलते रहने पर भी अपरिवर्तित रहती है, समय के साथ फैलती है और अपना स्वरूप बदलती है। समय मुझे स्वयं से, मेरे अतीत से, मेरे भविष्य से, मेरे कर्मों से, वस्तुओं से और दूसरों से अलग करता है। समय को ही दूरी मापने का व्यावहारिक पैमाना माना जाता है; यह शहर आधे घंटे की दूरी पर है, वह एक घंटे की; इस काम को पूरा करने में तीन दिन लगेंगे, इत्यादि। इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार और मनुष्य की समय-आधारित दृष्टि पहले और बाद के परिवर्तनों में विलीन हो जाएगी। इस विलीनता की एकता, यानी समय का परमाणु, वह क्षण होगा, जिसका स्थान कुछ निश्चित क्षणों से पहले और अन्य क्षणों के बाद होगा, और वह अपने स्वरूप में पहले या बाद को समाहित नहीं करेगा। क्षण अविभाज्य और कालहीन है, क्योंकि कालक्रम निरंतर चलता रहता है, परन्तु संसार अनंत क्षणों की धूल में विलीन हो जाता है। उदाहरण के लिए, डेसकार्टेस के लिए यह समझना एक चुनौती है कि एक क्षण से दूसरे क्षण तक कैसे पहुंचा जा सकता है; क्योंकि क्षण एक दूसरे के समानांतर हैं—अर्थात, उनके बीच कोई विभाजक नहीं है, फिर भी उनका आपस में कोई संवाद नहीं है। इसी प्रकार, प्रॉस्ट पूछते हैं कि उनका आत्म एक क्षण से दूसरे क्षण तक कैसे पहुंच सकता है; उदाहरण के लिए, रात की नींद के बाद उन्हें ठीक वही आत्म कैसे मिलता है जो पिछले दिन का था, न कि कोई और। इससे भी अधिक व्यापक रूप

से, अनुभववादी आत्म की स्थायित्वता को नकारने के बाद, मानसिक जीवन के क्षणों के बीच एक समानांतर एकता स्थापित करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। इस प्रकार, जब हम कालक्रम की विलीन करने वाली शक्ति पर अलग से विचार करते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि किसी दिए गए क्षण में अस्तित्व में होना अगले क्षण में अस्तित्व में रहने का अधिकार नहीं देता, यहां तक कि भविष्य पर कोई अधिकार या दावा भी नहीं। तो समस्या यह समझाने की है कि दुनिया कैसे अस्तित्व में है—अर्थात, समय के साथ जुड़े हुए परिवर्तन और स्थायित्व कैसे मौजूद हैं।
फिर भी, कालिकता केवल या मुख्य रूप से अलगाव नहीं है। हम इसे पहले और बाद की अवधारणा पर अधिक सटीक रूप से विचार करके समझा सकते हैं। मान लीजिए, A, B के बाद है। अब हमने A और B के बीच एक स्पष्ट क्रम संबंध स्थापित कर लिया है, जो इस क्रम के केंद्र में उनके एकीकरण को दर्शाता है। यदि A और B के बीच इसके अलावा कोई अन्य संबंध न भी होता, तब भी यह उनके जुड़ाव को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त होता, क्योंकि यह विचार को एक से दूसरे तक जाने और उन्हें क्रम के निर्णय में एकजुट करने की अनुमति देता। यदि समय अलगाव है, तो यह कम से कम एक विशेष प्रकार का अलगाव है—एक ऐसा विभाजन जो पुनर्मिलन करता है। कोई कहेगा कि अब तक तो सब ठीक है, लेकिन यह एकीकरण संबंध मुख्य रूप से एक बाह्य संबंध है। जब साहचर्य सिद्धांत यह स्थापित करना चाहता था कि मन की छापें केवल विशुद्ध रूप से बाह्य बंधनों से बंधी होती हैं, तो क्या उन्होंने अंततः सभी साहचर्य संबंधों को पहले-बाद के संबंध तक सीमित नहीं कर दिया, जिसे सरल "निकटता" के रूप में समझा गया?
बेशक। लेकिन क्या कांट ने यह नहीं दिखाया है कि अनुभव की एकता और इसलिए लौकिक परिवर्तन का एकीकरण, अनुभवजन्य जुड़ाव के किसी भी सूक्ष्म बंधन के संभव होने के लिए आवश्यक है? आइए, जुड़ाव सिद्धांत पर अधिक ध्यान से विचार करें। यह एक अद्वैतवादी अवधारणा से जुड़ा है, जिसका अर्थ है कि अस्तित्व हर जगह स्वयं में अस्तित्व है। मन पर प्रत्येक छाप अपने आप में वही है जो वह है; यह अपनी वर्तमान पूर्णता में पृथक है और भविष्य या किसी कमी का कोई संकेत नहीं देती। ह्यूम ने जब अपनी प्रसिद्ध चुनौती दी, तो उनका उद्देश्य इस नियम को स्थापित करना था, जिसे उन्होंने अनुभव से प्राप्त करने का दावा किया: कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी भी छाप की जांच कर सकता है, चाहे वह मजबूत हो या कमजोर; उसे उसमें स्वयं के अलावा कुछ भी नहीं मिलेगा, इसलिए किसी पूर्ववर्ती या परिणामी के साथ कोई भी संबंध, चाहे वह कितना भी स्थिर क्यों न हो, समझ से परे रहता है।
मान लीजिए कि एक कालिक तत्व A एक स्व-अस्तित्व में विद्यमान है और एक कालिक तत्व B, जो पहले के बाद आता है और उसी प्रकार विद्यमान है—अर्थात, पहचान के स्व-समावेश में। सर्वप्रथम यह ध्यान देने योग्य है कि यह स्व-पहचान उन्हें स्वयं से किसी भी प्रकार के पृथक्करण के बिना, यहाँ तक कि किसी कालिक पृथक्करण के बिना भी विद्यमान होने के लिए बाध्य करती है, चाहे वह शाश्वत हो या वर्तमान क्षण—और शाश्वत और क्षण यहाँ समतुल्य हैं क्योंकि क्षण, पूर्व-पश्चात के संबंध में आंतरिक रूप से परिभाषित न होने

के कारण, अकालिक है। कोई पूछ सकता है कि इन परिस्थितियों में अवस्था A, अवस्था B से पूर्व कैसे हो सकती है? यह उत्तर देना व्यर्थ होगा कि पूर्व या पश्चात अवस्थाएँ नहीं बल्कि वे क्षण हैं जो उन्हें समाहित करते हैं, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार क्षण अवस्थाओं की तरह ही स्व-अस्तित्व में होते हैं। लेकिन A की B पर प्राथमिकता A (क्षण या अवस्था) के मूल स्वरूप में ही एक अपूर्णता को दर्शाती है जो B की ओर इंगित करती है। यदि A, B से पूर्व है, तो A को यह निर्धारण B में ही प्राप्त होता है। अन्यथा, अपने क्षण में पृथक B का उत्थान या विनाश, अपने क्षण में पृथक A को कोई विशिष्ट गुण प्रदान नहीं कर सकता। संक्षेप में, यदि A को B से पूर्व होना है, तो उसे अपने अस्तित्व में ही B में A के भविष्य के रूप में विद्यमान होना चाहिए। इसके विपरीत, यदि B को A के बाद होना है, तो उसे A में स्वयं के पीछे रहना होगा, जो B को उसकी पराक्रमिकता का बोध कराएगा। यदि हम A और B को स्वयं में पूर्व-सिद्ध अस्तित्व प्रदान करते हैं, तो उनके बीच उत्तराधिकार का कोई भी संबंध स्थापित करना असंभव है। वह संबंध वास्तव में एक विशुद्ध बाह्य संबंध होगा और इस प्रकार अनिवार्य रूप से अधर में लटका रहेगा, किसी आधार से रहित, A या B में से किसी पर भी पकड़ बनाने की शक्ति के बिना—एक प्रकार के कालिक शून्यता में।
यह संभावना बनी रहती है कि यह पूर्व-पश्चात संबंध केवल उसी साक्षी के लिए विद्यमान हो सकता है जो इसे स्थापित करता है। कठिनाई यह है कि यदि यह साक्षी एक ही समय में A और B दोनों में हो सकता है, तो इसका कारण यह है कि वह स्वयं कालिक है, और उसके लिए यह समस्या नए सिरे से उत्पन्न होगी। या बल्कि, इसके विपरीत, वह कालिक सर्वव्यापकता के वरदान से समय को पार कर सकता है जो कि कालिकता के समतुल्य है। यही वह समाधान है जिस पर डेसकार्टेस और कांट दोनों रुक गए। उनके लिए कालिक एकता, जिसके केंद्र में पूर्व-पश्चात का संश्लेषित संबंध प्रकट होता है, क्षणों की बहुलता को एक ऐसे अस्तित्व द्वारा प्रदान की जाती है जो स्वयं कालिकता से परे है। दोनों एक ऐसे समय की पूर्वधारणा से शुरू करते हैं जो विभाजन का एक रूप होगा और जो स्वयं शुद्ध बहुलता में विलीन हो जाता है। चूंकि समय की एकता स्वयं समय द्वारा प्रदान नहीं की जा सकती, इसलिए दोनों दार्शनिक इसे एक बाह्य-कालिक अस्तित्व को सौंपते हैं: डेसकार्टेस के साथ ईश्वर और उसकी निरंतर सृष्टि, कांट के साथ "मैं सोचता हूँ" (Ich denke) और उसकी संश्लेषित एकता के रूप। डेसकार्टेस के अनुसार, समय अपने भौतिक स्वरूप से एकीकृत होता है, जो शून्य से निरंतर सृजन द्वारा अस्तित्व में बना रहता है; वहीं दूसरी ओर, कांट के लिए शुद्ध बोध की अवधारणाएँ समय के स्वरूप पर ही लागू होती हैं। दोनों ही मामलों में, यह एक कालिक (ईश्वर या "मैं") है जो अकालिक (क्षणों) को उनकी कालिकता प्रदान करने के लिए बाध्य है। कालिकता अकालिक पदार्थों के बीच एक सरल बाह्य और अमूर्त संबंध बन जाती है; इसे पूरी तरह से अकालिक पदार्थों से पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया जाता है।
यह स्पष्ट है कि समय के विरोध में किया गया ऐसा पुनर्निर्माण बाद में समयबद्धता की ओर नहीं ले जा सकता। या तो हम अप्रत्यक्ष रूप से और गुप्त रूप

से गैर-समयबद्धता को समयबद्ध कर देंगे; या फिर यदि हम इसकी गैर-समयबद्धता को सावधानीपूर्वक संरक्षित करते हैं, तो समय एक शुद्ध मानवीय भ्रम, एक सपना बन जाएगा। यदि समय वास्तविक है, तो ईश्वर को भी "चीनी के घुलने का इंतजार" करना होगा। क्षणों को जोड़ने के लिए उन्हें भविष्य में और अतीत में बीते कल में, दोनों ही अवस्थाओं में होना आवश्यक है, क्योंकि यह आवश्यक है कि वे उन्हें वहीं ग्रहण करें जहाँ वे हैं। इस प्रकार उनकी छद्म गैर-समयबद्धता अन्य अवधारणाओं को छुपाती है—समयबद्ध अनंतता और समयबद्ध सर्वव्यापकता की अवधारणा। लेकिन इनका अर्थ केवल स्वयं से विमुखता के एक संश्लेषित रूप के लिए हो सकता है जो अब स्वयं में होने के अनुरूप नहीं है। इसके विपरीत, यदि हम, उदाहरण के लिए, ईश्वर के सर्वज्ञता को उनकी समय से परेता पर आधारित करते हैं, तो उन्हें यह देखने के लिए चीनी के घुलने तक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी कि वह घुल जाएगी। लेकिन तब प्रतीक्षा की आवश्यकता और परिणामस्वरूप कालिकता केवल मानवीय परिमितता से उत्पन्न एक भ्रम मात्र हो सकती है; कालानुक्रमिक क्रम केवल एक तार्किक और शाश्वत क्रम की भ्रमित धारणा है। इस तर्क को कांट के "मैं सोचता हूँ" पर बिना किसी संशोधन के लागू किया जा सकता है। कांट की तरह यह आपत्ति करना व्यर्थ होगा कि समय में एकता है क्योंकि यह गैर-कालिक से एक पूर्व-निर्धारित रूप में उत्पन्न होता है; क्योंकि समस्या इसके उद्भव की पूर्ण एकता को समझाने की नहीं है, बल्कि पहले और बाद के अंतर्कालिक संबंधों को समझाने की है।
कोई व्यक्ति एक संभावित कालिकता की बात कर सकता है जिसे एकीकरण वास्तविकता में बदल देता है। लेकिन यह संभावित क्रम उस वास्तविक क्रम से भी कम समझ में आता है जिसकी हमने पहले चर्चा की थी। वह क्रम क्या है जो क्रम बनने के लिए एकीकरण की प्रतीक्षा करता है? यह किसका या किससे संबंधित है? फिर भी, यदि यह पहले से कहीं दिया हुआ नहीं है, तो गैर-कालिक इसे गैर-कालिकता खोए बिना कैसे प्रकट कर सकता है? गैर-कालिक से क्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है, बिना उसे तोड़े? इसके अलावा, एकीकरण का विचार ही यहाँ पूरी तरह से समझ से परे है। हमने वास्तव में दो अलग-अलग तत्वों की कल्पना की है, जो अपने-अपने स्थान और समय पर पृथक हैं। हम उन्हें कैसे एकीकृत कर सकते हैं? क्या हम एक वास्तविक एकीकरण की बात कर रहे हैं? इस स्थिति में या तो हम केवल शब्दों से खेल रहे हैं—और एकीकरण का उन दो अलग-अलग तत्वों पर कोई प्रभाव नहीं होगा जो अपनी-अपनी आत्म-पहचान और पूर्णता में पृथक हैं; अन्यथा एक नए प्रकार की एकता का निर्माण करना आवश्यक होगा—अर्थात्, परमानंदमय एकता जिसमें प्रत्येक अवस्था स्वयं से बाहर होगी, नीचे की ओर ताकि वह दूसरी से पहले या बाद में हो। लेकिन इसके लिए उनके अस्तित्व को तोड़ना, उसका विस्तार करना, दूसरे शब्दों में, उसे कालिक बनाना आवश्यक होगा, और यह केवल उन्हें एक साथ नहीं लाएगा। लेकिन विचार की सरल क्षमता के रूप में "मैं सोचता हूँ" की अकालिक एकता अस्तित्व के इस विसंपीड़न को कैसे प्रभावित कर पाएगी? क्या हम कह सकते हैं कि एकीकरण संभाव्य है; अर्थात्, छापों से परे हमने एक प्रकार की एकता को प्रक्षेपित किया है जो लगभग हुसर्ल के नोएमा के तुलनीय है? लेकिन एक अकालिक, जिसे अकालिकों को एकजुट

पश्चात संबंध को साकार करेगा, यह b ही है जो स्वयं से पहले होगा क्योंकि यह a और c से अविभाज्य है। सब ठीक है! लेकिन ऐसा अस्तित्व कैसे संभव है? इसकी परमानंदमय प्रकृति कहाँ से आती है? ऐसा क्यों होता है कि इसमें उल्लिखित विभाजन प्राप्त नहीं होता? यह दो पदों में क्यों नहीं विलीन हो जाता, जिनमें से एक a में और दूसरा c में विलीन हो जाए? हम यह देखने में कैसे विफल हो सकते हैं कि यहाँ इसकी एकता से संबंधित एक समस्या है? शायद इस अस्तित्व की संभावनाओं की शर्तों की गहन जाँच से हमें पता चलता कि केवल 'स्वयं के लिए' ही इस प्रकार आत्म की परमानंदमय एकता में विद्यमान हो सकता है। लेकिन यह जाँच नहीं की गई है, और लाइबनिज़ के अनुसार, लौकिक सामंजस्य अंततः तर्क की पूर्ण अंतर्निहितता—अर्थात पहचान—के माध्यम से सामंजस्य को छुपाता है। लेकिन यदि कालानुक्रमिक क्रम निरंतर है, तो यह पहचान के क्रम के साथ "प्रतीकात्मक" नहीं हो सकता, क्योंकि निरंतरता समरूप के साथ संगत नहीं है। इसी प्रकार, बर्गसन अपने कालक्रम के साथ, जो एक मधुर संगठन और अंतर्प्रवेश की बहुलता है, यह नहीं समझ पाते कि बहुलता का संगठन एक संगठनात्मक क्रिया को पूर्व निर्धारित करता है। डेसकार्टेस के विपरीत, जब वे क्षण को दबाते हैं तो वे सही होते हैं; लेकिन यह दावा करने में कि कोई निश्चित संश्लेषण नहीं है, बर्गसन की तुलना में कांट अधिक सही थे। बर्गसन का यह अतीत, जो वर्तमान से जुड़ा रहता है और उसमें प्रवेश भी करता है, एक अलंकारिक रूपक से अधिक कुछ नहीं है। यह बर्गसन को स्मृति के अपने सिद्धांत में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन्हें स्पष्ट रूप से दर्शाता है। क्योंकि यदि अतीत, जैसा कि वे मानते हैं, निष्क्रिय है, तो वह केवल पीछे रह सकता है और स्मृति के रूप में वर्तमान में कभी प्रवेश नहीं कर सकता, जब तक कि कोई वर्तमान सत्ता अतीत में भी परमानंद की अवस्था में विद्यमान न हो। बेशक, बर्गसन के अनुसार, वास्तव में एक ही सत्ता है जो बनी रहती है। लेकिन इससे सत्तामीमांसा संबंधी स्पष्टीकरणों की आवश्यकता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि हम अंततः नहीं जानते कि क्या सत्ता ही बनी रहती है या कालक्रम ही सत्ता है। और यदि अवधि ही अस्तित्व है, तो बर्गसन को हमें यह बताना होगा कि अवधि की सत्तामीमांसीय संरचना क्या है; और यदि इसके विपरीत, यह अस्तित्व ही है जो कायम रहता है, तो उसे हमें यह दिखाना होगा कि अस्तित्व में ऐसा क्या है जो इसे कायम रहने की अनुमति देता है।
इस चर्चा के फलस्वरूप हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? सर्वप्रथम यह: कालिकता एक विघटनकारी शक्ति है, परन्तु यह एक एकीकरणकारी क्रिया के केंद्र में है; यह वास्तविक बहुलता नहीं है—जो बाद में कोई एकता ग्रहण नहीं कर सकती और फलस्वरूप बहुलता के रूप में अस्तित्व में भी नहीं रह सकती — बल्कि एक अर्ध-बहुलता है, एकता के केंद्र में वियोजन का पूर्वाभास है। हमें इन दोनों पहलुओं पर अलग-अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम पहले कालिक एकता को स्थापित करते हैं, तो हम इस एकता के अर्थ के रूप में अपरिवर्तनीय अनुक्रम को समझने में असमर्थ हो जाते हैं, और यदि हम विघटनकारी अनुक्रम को समय का मूल स्वरूप मानते हैं, तो हम यह समझने में असमर्थ हो जाते हैं कि एक ही समय है। यदि एकता को बहुलता पर, और बहुलता को

अस्तित्व के केंद्र में अर्ध-बहुलता का संचार करती है। यह अर्ध-बहुलता ही संसार के भीतर की सभी बहुलताओं का आधार है, क्योंकि बहुलता एक मूल एकता को मानती है जिसके केंद्र में बहुलता की रूपरेखा निहित होती है। इस अर्थ में, जैसा कि मायर्सन दावा करते हैं, यह सत्य नहीं है कि विविधता एक विवाद उत्पन्न करती है और इस विवाद की जिम्मेदारी वास्तविकता पर है। स्वयं में मौजूद अस्तित्व विविधता नहीं है; यह बहुलता नहीं है; और इसके लिए बहुलता को संसार के मध्य में अपने अस्तित्व की विशेषता के रूप में ग्रहण करने के लिए, एक ऐसे अस्तित्व का उदय होना चाहिए जो अपनी-अपनी पहचान में पृथक प्रत्येक स्वयं में एक साथ उपस्थित हो। मानवीय वास्तविकता के माध्यम से ही बहुलता संसार में आती है; स्वयं के लिए अस्तित्व के केंद्र में स्थित अर्ध-बहुलता ही संसार में संख्या को प्रकट करती है।
लेकिन स्वयं के लिए की इन अनेक विमाओं या अर्ध-बहुविधताओं का क्या अर्थ है? ये इसके अस्तित्व से विभिन्न संबंध हैं। जब कोई वस्तु अपने आप में जो है वही होती है, तो उसके अस्तित्व का केवल एक ही तरीका होता है। लेकिन जिस क्षण कोई वस्तु अपने अस्तित्व से विमुख हो जाती है, तब उसके अस्तित्व में रहते हुए भी उसके न होने के अनेक तरीके एक साथ उत्पन्न होते हैं। स्वयं के लिए—यदि हम प्राथमिक परमानंद (वे जो शून्यता के मूल अर्थ को इंगित करते हैं और न्यूनतम शून्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं) पर ध्यान केंद्रित करें—तो वह एक ही समय में इन तीन आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है और करना ही चाहिए: (1) वह न होना जो वह है, (2) वह होना जो वह नहीं है, (3) वह होना जो वह नहीं है और वह न होना जो वह है—एक शाश्वत संदर्भ की एकता के भीतर। यहाँ हम तीन परमानंदी विमाओं की बात कर रहे हैं; परमानंद का अर्थ है स्वयं से दूरी। ऐसी चेतना की कल्पना करना असंभव है जो इन तीन विमाओं में विद्यमान न हो। और यदि कॉगिटो इनमें से किसी एक को पहले खोज लेता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि यह आयाम प्रथम है, बल्कि केवल यह कि यह सबसे आसानी से प्रकट होता है। परन्तु स्वयं में यह अविभाज्य है और यह तुरंत अन्य आयामों को प्रकट होने देता है। 'स्वयं के लिए' एक ऐसा अस्तित्व है जिसे एक साथ अपने सभी आयामों में विद्यमान होना चाहिए। यहाँ दूरी, जिसे स्वयं से दूरी के रूप में समझा जाता है, कुछ भी वास्तविक नहीं है, कुछ भी ऐसा नहीं है जो सामान्य रूप से स्वयं में हो; यह केवल शून्यता है, वह शून्यता है जो अलगाव के रूप में "अस्तित्व में लाई जाती है"। प्रत्येक आयाम 'स्वयं के लिए' का स्वयं को व्यर्थ ही स्वयं की ओर प्रक्षेपित करने का तरीका है, शून्यता से परे वह होने का तरीका है जो वह है, अस्तित्व के इस पतन का, अस्तित्व की इस निराशा का एक अलग तरीका है जिसे 'स्वयं के लिए' होना ही है। आइए इन आयामों पर एक-एक करके विचार करें।
प्रथम आयाम में, 'स्वयं के लिए' को स्वयं के पीछे, अपने स्वरूप में होना चाहिए, जो स्वयं का आधार न होते हुए भी उसका अस्तित्व है। उसका अस्तित्व वहाँ, उसके विपरीत, मौजूद है, परन्तु एक शून्यता उसे उसके अस्तित्व से अलग करती है, वास्तविकता की शून्यता। 'स्वयं के लिए' अपनी शून्यता के आधार के रूप में—और इस प्रकार आवश्यक—अपनी मूल आकस्मिकता से इस अर्थ में विरक्त

प्रत्येक चेतना अपने भीतर स्थिर एक पूर्व चेतना को मानती है। वर्तमान स्व-संबंधी और स्व-संबंधी से स्व-संबंधी तक का संबंध हमें अतीत के आदिम संबंध से छिपा देता है, जो स्व-संबंधी और शुद्ध स्व-संबंधी के बीच का संबंध है। वास्तव में, स्व-संबंधी के शून्यीकरण के रूप में ही स्व-संबंधी का संसार में उदय होता है, और इसी परम घटना से अतीत स्वयं के रूप में स्व-संबंधी और स्व-संबंधी के बीच मूल, शून्यीकरणकारी संबंध के रूप में स्थापित होता है। मूल रूप से, 'स्वयं के लिए' का अस्तित्व उस अस्तित्व से संबंध पर आधारित है जो चेतना नहीं है, जो पहचान के पूर्ण अंधकार में विद्यमान है, और जिसके लिए 'स्वयं के लिए' स्वयं से बाहर और पीछे होना अनिवार्य है। 'स्वयं के लिए', जिसे किसी भी स्थिति में इस अस्तित्व तक सीमित नहीं किया जा सकता, इसके संबंध में एक पूर्ण नवीनता का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन 'स्वयं के लिए' इसके साथ अस्तित्व की एक गहरी एकजुटता का अनुभव करता है और इसे 'पहले' शब्द से इंगित करता है। 'स्वयं के भीतर' वही है जो 'स्वयं के लिए' पहले था। इस अर्थ में हम आसानी से समझ सकते हैं कि हमारा अतीत हमें एक महीन, चिकने तार से घिरा हुआ प्रतीत होता है, जो तब वास्तविक हो जाता जब चेतना अतीत होने से पहले ही संसार में उत्पन्न हो सकती थी, लेकिन इसके विपरीत, यह उस अंधकार में धीरे-धीरे विलीन होता जाता है जो फिर भी हम स्वयं ही हैं। हम भ्रूण के साथ इस चौंकाने वाली एकजुटता के तात्विक अर्थ की कल्पना कर सकते हैं, एक ऐसी एकजुटता जिसे हम न तो नकारते हैं और न ही समझते हैं। क्योंकि अंततः यह भ्रूण मैं ही था; यह मेरी स्मृति की तथ्यात्मक सीमा का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन मेरे अतीत की सैद्धांतिक सीमा का नहीं।
जन्म से संबंधित एक तत्वमीमांसा संबंधी समस्या यह है कि मैं यह जानने के लिए उत्सुक हो सकता हूँ कि मैं उस विशेष भ्रूण से कैसे जन्मा; और यह समस्या शायद अनसुलझी है। लेकिन यह एक तात्विक समस्या नहीं है; हमें यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि चेतना का जन्म क्यों हो सकता है, क्योंकि चेतना स्वयं को केवल अपने भीतर के शून्यीकरण के रूप में ही प्रकट कर सकती है—अर्थात, पहले से ही जन्मी हुई अवस्था के रूप में। जन्म, अस्तित्व का उस भीतर के साथ एक परमानंदमय संबंध है जो वह नहीं है और अतीत की पूर्व-निर्धारित संरचना है, यह स्वयं के लिए अस्तित्व का एक नियम है। स्वयं के लिए होना ही जन्म लेना है। लेकिन इसके बाद हमें उस भीतर के बारे में तत्वमीमांसा संबंधी प्रश्न नहीं उठाने चाहिए जिससे स्वयं के लिए का जन्म हुआ, जैसे: “स्वयं के लिए के जन्म से पहले एक भीतर कैसे था? स्वयं के लिए का जन्म इस भीतर से कैसे हुआ, न कि किसी अन्य से?” इत्यादि। ये सभी प्रश्न इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखते कि स्वयं के लिए के माध्यम से ही सामान्यतः अतीत का अस्तित्व संभव है। यदि कोई पूर्व अस्तित्व है, तो इसका कारण यह है कि स्वयं-स्वयं का संसार में उदय हुआ है, और स्वयं-स्वयं के दृष्टिकोण से ही अतीत को स्थापित किया जा सकता है। जिस हद तक स्वयं-स्वयं को स्वयं-स्वयं के साथ सह-उपस्थित किया जाता है, उस हद तक स्वयं-स्वयं के पृथक उदाहरणों के स्थान पर एक संसार प्रकट होता है। और इस संसार में किसी वस्तु को नाम देना और उसे वह वस्तु कहना संभव है। इस अर्थ में, जिस प्रकार स्वयं-स्वयं के अस्तित्व में आने से

अनुभव में स्वयं-स्वयं स्वयं को वस्तु न होने के रूप में स्वीकार करता है, जबकि अतीत के अनावरण में, स्वयं-स्वयं स्वयं को अतीत के रूप में स्वीकार करता है और उससे केवल अपने स्वयं-स्वयं स्वरूप के कारण विमुख होता है, जो शून्यता हो सकती है। इस प्रकार अतीत को सिद्धांत नहीं बनाया जाता, फिर भी अतीत स्वयं-स्वयं में अंतर्निहित नहीं है। यह स्वयं-स्वयं को उस क्षण भी सताता है जब स्वयं-स्वयं स्वयं को यह या वह विशेष वस्तु न होने के रूप में स्वीकार करता है। अतीत स्वयं-स्वयं के ध्यान का विषय नहीं है। यह पारदर्शी ध्यान वस्तु से परे, भविष्य की ओर निर्देशित होता है। अतीत एक ऐसी वस्तु के रूप में है जिसे बिना स्थापित किए ही अस्तित्व में लाया जा सकता है, एक ऐसी चीज के रूप में जो बिना देखे ही व्याकुल रहती है, यह 'स्वयं के लिए' के पीछे है, उस विषयगत क्षेत्र से बाहर है जो 'स्वयं के लिए' के समक्ष है और जिसे वह प्रकाशित करता है। अतीत को 'स्वयं के लिए' के विपरीत स्थापित किया जाता है और उसे उस रूप में मान लिया जाता है जिसे 'स्वयं के लिए' होना ही है, बिना उसे न तो स्वीकार करने, न अस्वीकार करने, न ही विषयवस्तु बनाने और न ही आत्मसात करने की क्षमता के।
निःसंदेह, अतीत मेरे लिए एक शोध का विषय हो सकता है, और वास्तव में इसे अक्सर विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन तब यह एक स्पष्ट अन्वेषण का विषय होता है, और इस मामले में स्वयं-स्वयं स्वयं को उस अतीत के रूप में नहीं मानता जिसे वह स्थापित करता है। अतीत अब पीछे नहीं छूटता; यह अतीत होना बंद नहीं करता, बल्कि मैं स्वयं अतीत होना बंद कर देता हूँ। प्राथमिक अवस्था में मैं अपने अतीत को जाने बिना ही उसका हिस्सा था (लेकिन निश्चित रूप से उसके प्रति सचेत हुए बिना नहीं); द्वितीयक अवस्था में मैं अपने अतीत को जानता हूँ लेकिन मैं अब वह नहीं हूँ। कोई पूछ सकता है कि यदि मेरा अतीत विषयगत अवस्था में नहीं है तो मैं उसके प्रति सचेत कैसे हो सकता हूँ। फिर भी अतीत निरंतर मौजूद रहता है। यह उस वस्तु का अर्थ है जिसे मैं देखता हूँ और जिसे मैं पहले ही देख चुका हूँ, उन परिचित चेहरों का जो मेरे चारों ओर हैं। यह उस गति का मूल है जो वर्तमान में घटित हो रही है और जिसे मैं चक्रीय नहीं कह सकता यदि मैं स्वयं - अतीत में - इसके आरंभ का साक्षी न होता। यह मेरे सभी कार्यों का मूल और आधार है; यह संसार का वह निरंतर घनत्व है जो मुझे स्वयं को दिशा देने और अपनी स्थिति का पता लगाने में सक्षम बनाता है। यह मैं ही हूँ, इस अर्थ में कि मैं स्वयं को एक व्यक्ति के रूप में देखता हूँ (अहं की एक भावी संरचना भी है)। संक्षेप में, अतीत संसार और स्वयं के साथ मेरा आकस्मिक और निःस्वार्थ बंधन है, क्योंकि मैं इसे निरंतर पूर्ण त्याग के रूप में जीता हूँ। मनोवैज्ञानिक इसे अनुभवजन्य ज्ञान (सावोइर) कहते हैं। लेकिन इस शब्द से वे इसे "मनोवैज्ञानिक" बना देते हैं, और इस प्रकार इसके स्पष्टीकरण की किसी भी विधि को हटा देते हैं। क्योंकि अनुभवजन्य ज्ञान सर्वत्र मौजूद है और हर चीज को प्रभावित करता है, यहाँ तक कि स्मृति को भी; दूसरे शब्दों में, बौद्धिक स्मृति ज्ञान को पूर्वकल्पित करती है। और उनका अनुभवजन्य ज्ञान क्या है—यदि हम इसे एक वर्तमान तथ्य के रूप में समझें—यदि यह एक बौद्धिक स्मृति नहीं है? यह लचीला, संकेतपूर्ण,

परिवर्तनशील ज्ञान जो हमारे सभी विचारों का ताना-बाना बुनता है और जो हजारों खाली संकेतों, हजारों पदनामों से बना है जो बिना छवि, बिना शब्दों, बिना सिद्धांत के हमारे पीछे की ओर इशारा करते हैं—यही मेरा ठोस अतीत है क्योंकि मैं इसे अपने सभी विचारों और सभी भावनाओं की अपरिवर्तनीय पृष्ठभूमि-गहराई के रूप में देखता था।
शून्यता के अपने दूसरे आयाम में, 'स्वयं के लिए' स्वयं को एक निश्चित अभाव के रूप में अनुभव करता है। यह अभाव भी है और अभावग्रस्त भी, क्योंकि इसे वही होना है जो यह है। पीना या पीता रहना का अर्थ है कभी न समाप्त होना, उस पीने से परे भी पीते रहना जो मैं हूँ। और जब "मैंने पीना समाप्त कर दिया," तो मैं पी चुका होता हूँ: संपूर्णता अतीत में विलीन हो जाती है। वास्तव में पीते समय, मैं वह पीना होता हूँ जो मुझे होना है और जो मैं नहीं हूँ; स्वयं का प्रत्येक पदनाम, यदि वह भारी और परिपूर्ण होना है, यदि उसमें आत्म-समानता का घनत्व होना है—ऐसा प्रत्येक पदनाम मुझसे अतीत में विलीन हो जाता है। यदि वह वर्तमान में मुझ तक पहुँचता है, तो इसका कारण यह है कि वह स्वयं को 'अभी तक नहीं' में विभाजित कर देता है; इसका कारण यह है कि वह मुझे एक अप्राप्त समग्रता के रूप में नामित करता है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह 'अभी तक नहीं' स्वयं के लिए की शून्यताकारी स्वतंत्रता से कुतर दिया जाता है। यह केवल दूर से होना ही नहीं है; यह अस्तित्व का क्षय है। यहाँ, जो स्वयं-स्वयं, शून्यता के प्रथम आयाम में अपने से आगे था, अब अपने से पीछे है। अपने से आगे, अपने से पीछे: कभी स्वयं नहीं। यही भूतकाल और भविष्य, इन दो परमानंदों का अर्थ है, और इसीलिए स्वयं में मूल्य स्वभावतः आत्म-विश्राम, कालहीनता है! मनुष्य जिस शाश्वतता की खोज कर रहा है, वह समय की अनंतता नहीं है, उस व्यर्थ आत्म-प्रलोभन की अनंतता नहीं है जिसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ; मनुष्य स्वयं में विश्राम, स्वयं के साथ पूर्ण समकालिकता की खोज करता है।
अंततः, तीसरे आयाम में, स्व-स्वयं, परावर्तित-प्रतिबिंबित के निरंतर खेल में विलीन होकर, एक ही उड़ान की एकता में स्वयं से मुक्त हो जाता है। यहाँ अस्तित्व सर्वत्र और कहीं नहीं है: जहाँ भी कोई इसे पकड़ने का प्रयास करता है, यह उसके सामने होता है, यह बच निकलता है। स्व-स्वयं के केंद्र में स्थित यह संगीतमय कुर्सियों का खेल ही अस्तित्व की उपस्थिति है। वर्तमान, अतीत और भविष्य—ये तीनों एक ही समय में मौजूद हैं—स्वयं के लिए अस्तित्व को तीन आयामों में बिखेरते हुए, यह क्षणिक है क्योंकि यह स्वयं को ही नष्ट कर देता है। इनमें से किसी भी आयाम को दूसरे पर कोई तात्विक वरीयता नहीं है; इनमें से कोई भी दो के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। फिर भी, इन सबके बावजूद, हाइडेगर की तरह भविष्य के लिए नहीं, बल्कि वर्तमान के लिए ही जोर देना बेहतर है: क्योंकि स्वयं के लिए ही यह एक रहस्योद्घाटन है कि स्वयं के लिए ही इसका अतीत है, वह जो इसे स्वयं के लिए एक शून्यतापूर्ण परिक्रमण में होना है; और यह स्वयं के लिए ही एक रहस्योद्घाटन है कि यह एक अभाव है और यह अपने भविष्य से प्रेतवाधित है— अर्थात, उस चीज़ से जो यह स्वयं के लिए वहाँ दूर है। वर्तमान, अतीत और

भविष्य से तात्विक रूप से "पूर्व" नहीं है; यह उनसे उतना ही प्रभावित होता है जितना कि उन्हें प्रभावित करता है, लेकिन यह कालिकता के संपूर्ण संश्लेषित रूप के लिए अपरिहार्य गैर-अस्तित्व का साँचा है।
इस प्रकार, कालिकता एक सार्वभौमिक समय नहीं है जो सभी प्राणियों और विशेष रूप से मानवीय वास्तविकताओं को समाहित करता हो। न ही यह विकास का कोई नियम है जो अस्तित्व पर बाहर से थोपा जाता है। न ही यह अस्तित्व है। बल्कि यह अस्तित्व की आंतरिक संरचना है जो स्वयं का शून्यीकरण है—अर्थात्, स्वयं के लिए अस्तित्व का विशिष्ट स्वरूप। स्वयं के लिए अस्तित्व वह अस्तित्व है जिसे कालिकता के प्रवासी रूप में अपना अस्तित्व होना पड़ता है।
बी. कालिकता की गतिशीलता
यह तथ्य कि स्व-स्वयं का उभार अनिवार्य रूप से कालक्रम के तीन आयामों के अनुसार होता है, हमें स्थूलता की समस्या के बारे में कुछ नहीं बताता, जो समय की गतिशीलता के अंतर्गत आती है। पहली नज़र में यह समस्या दो भागों में बँटी हुई प्रतीत होती है। स्व-स्वयं अपने अस्तित्व में वह परिवर्तन क्यों करता है जिससे वह अतीत बन जाता है? और एक नया स्व-स्वयं शून्य से क्यों उत्पन्न होता है और इस अतीत का वर्तमान बन जाता है?
यह समस्या लंबे समय से मनुष्य को एक स्वतः-स्वरूप इकाई के रूप में देखने की धारणा के पीछे छिपी रही है। यह बर्कले के आदर्शवाद के कांट के खंडन का आधार है और लाइबनिज़ का एक पसंदीदा तर्क है कि परिवर्तन अपने आप में स्थायित्व का सूचक है। परिणामस्वरूप, यदि हम एक निश्चित गैर-कालिक स्थायित्व की कल्पना करें जो समय के साथ बना रहता है, तो कालिकता केवल परिवर्तन के माप और क्रम तक सीमित हो जाती है। परिवर्तन के बिना कालिकता का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि समय स्थायी और समरूप को धारण नहीं कर सकता। इसके अलावा, यदि लाइबनिज़ की तरह परिवर्तन को ही निष्कर्षों और आधार वाक्यों के संबंध की तार्किक व्याख्या के रूप में दिया जाए—अर्थात्, एक स्थायी विषय के गुणों के विकास के रूप में—तो फिर वास्तविक कालिकता का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।
लेकिन यह धारणा कई त्रुटियों पर आधारित है। सर्वप्रथम, परिवर्तनशील तत्व से अलग किसी स्थायी तत्व का अस्तित्व परिवर्तन को तभी साकार रूप दे सकता है जब उसे केवल वही साक्षी देखे जो स्वयं परिवर्तनशील और स्थिर दोनों से जुड़ा हो। संक्षेप में, परिवर्तन को साकार रूप देने के लिए परिवर्तन और स्थायी की एकता आवश्यक है। परन्तु यही एकता शब्द, जिसका लाइबनिज़ और कांट ने दुरुपयोग किया है, यहाँ बहुत अधिक अर्थ नहीं रखता। विभिन्न तत्वों की इस एकता से क्या तात्पर्य है? क्या यह केवल एक विशुद्ध बाह्य आसंजन है? तब तो इसका कोई अर्थ नहीं है। यह अस्तित्व की एकता होनी चाहिए। परन्तु ऐसी अस्तित्व की एकता के लिए यह आवश्यक है कि स्थायी वह हो जो परिवर्तनशील हो; और इसलिए यह एकता प्रारंभ में परमानंदमय है और स्वयं-के-लिए को संदर्भित करती है क्योंकि स्वयं-के-लिए अनिवार्य रूप से परमानंदमय अस्तित्व है; इसके अतिरिक्त, यह एकता स्थायित्व और परिवर्तन को स्वयं-में-अस्तित्व में रहने से रोकती है। जो बात नहीं कही गई है वह यह है कि स्थायित्व और

वास्तविक प्रश्न यह है कि अस्तित्व, चाहे वह कुछ भी हो, एक ही क्षण में पूर्णतः रूपांतरित होना—रूप और सार दोनों में—अतीत में विलीन होना और साथ ही शून्य से भविष्य की ओर अग्रसर होना आवश्यक है।
लेकिन क्या ये सचमुच दो समस्याएँ हैं? आइए ज़रा गौर से देखें। वर्तमान का अंत तभी हो सकता है जब वह एक ऐसे 'स्वयं के लिए' के पूर्व में आ जाए जो स्वयं को उस वर्तमान के बाद के रूप में स्थापित करता है। तब केवल एक ही घटना घटती है: एक नए वर्तमान का उदय जो अपने पूर्व वर्तमान को अतीत बना रहा है, और एक ऐसे वर्तमान का अतीत बनना जिसमें एक 'स्वयं के लिए' का प्रकट होना शामिल है जिसके लिए यह वर्तमान अतीत बनने जा रहा है। समय के साथ होने वाला परिवर्तन एक व्यापक रूपांतरण है क्योंकि एक ऐसा अतीत जो किसी भी चीज़ का अतीत नहीं होगा, वह अब अतीत नहीं रहेगा और क्योंकि वर्तमान अनिवार्य रूप से इस अतीत का वर्तमान होगा। इसके अलावा, यह रूपांतरण न केवल शुद्ध वर्तमान को प्रभावित करता है; बल्कि पूर्व अतीत और भविष्य भी समान रूप से प्रभावित होते हैं। वर्तमान का अतीत, जो अतीतत्व के रूपांतरण से गुजरा है, एक अतीत का अतीत बन जाता है—या एक पूर्ण भूतकाल। जहाँ तक पूर्ण भूतकाल का संबंध है, वर्तमान और अतीत की भिन्नता अब अचानक समाप्त हो जाती है क्योंकि जो चीज़ वर्तमान को अतीत से अलग बनाती थी, वह अब अतीत बन चुकी है। रूपांतरण की प्रक्रिया में वर्तमान, अतीत का वर्तमान ही रहता है, परन्तु वह अतीत का भूतकाल-वर्तमान बन जाता है। इसका पहला अर्थ यह है कि वर्तमान, अतीत की उस श्रृंखला के साथ समरूप है जो इसकी उत्पत्ति तक फैली हुई है, और दूसरा यह कि वर्तमान अब अपने अतीत का वह रूप नहीं है जो उसे होना ही था, बल्कि वह वह रूप है जिसमें उसे होना पड़ा था। भूतकाल और पूर्णतम रूप के बीच का संबंध स्वयं- में-होने के भाव में है, और यह स्वयं-के-लिए-वर्तमान की नींव पर प्रकट होता है। यही वह तत्व है जो भूतकाल और पूर्णतम रूपों की श्रृंखला को एक ही इकाई में बांधे रखता है।
दूसरी ओर, भविष्य, यद्यपि रूपांतरण से समान रूप से प्रभावित होता है, फिर भी भविष्य होना नहीं छोड़ता—अर्थात्, स्वयं से परे, अग्रिम, अस्तित्व से परे रहना नहीं छोड़ता—बल्कि यह अतीत का भविष्य या पूर्ववर्ती भविष्य बन जाता है। यह नए वर्तमान के साथ दो प्रकार के संबंध स्थापित कर सकता है, इस आधार पर कि हम निकट भविष्य की बात कर रहे हैं या दूर के भविष्य की। पहले मामले में, वर्तमान को अतीत के संबंध में इस भविष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है: "जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा था—वह यहाँ है।" यह अपने अतीत का वर्तमान, इस अतीत के पूर्ववर्ती भविष्य के रूप में है। लेकिन साथ ही, जब यह अतीत के भविष्य के रूप में स्वयं के लिए है, तो यह स्वयं को स्वयं के लिए के रूप में साकार करता है, इसलिए यह वह नहीं है जो भविष्य ने होने का वादा किया था। एक विभाजन होता है: वर्तमान अतीत का पूर्ववर्ती भविष्य बन जाता है, जबकि यह इस भविष्य होने से इनकार करता है। और मूल भविष्य साकार नहीं होता; यह वर्तमान के संबंध में अब भविष्य नहीं है, लेकिन यह अतीत के संबंध में भविष्य होना नहीं छोड़ता। यह वर्तमान का अवास्तविक सह-अस्तित्व बन जाता है और एक पूर्ण आदर्शता को संरक्षित करता है। "क्या यही वह चीज़ थी

जिसका मैं इंतज़ार कर रहा था?" यह एक ऐसा भविष्य बना रहता है जो आदर्श रूप से वर्तमान के साथ सह-अस्तित्व में है, इस वर्तमान के अतीत के अवास्तविक भविष्य के रूप में।
जब भविष्य बहुत दूर होता है, तो वह नए वर्तमान के संबंध में भविष्य ही बना रहता है; लेकिन यदि वर्तमान स्वयं को इस भविष्य की कमी के रूप में स्थापित नहीं करता है, तो यह भविष्य संभावना के रूप में अपना स्वरूप खो देता है। इस स्थिति में पूर्व भविष्य नए वर्तमान के संबंध में एक उदासीन संभावना बन जाता है, न कि उसकी संभावना। इस अर्थ में, यह अब स्वयं को संभावना नहीं बनाता है, बल्कि संभावना के रूप में यह स्वयं में अस्तित्व प्राप्त करता है। यह एक दी गई संभावना बन जाता है; अर्थात्, एक ऐसी संभावना जो स्वयं में है, स्वयं के लिए है, जो स्वयं में बन जाती है। कल यह संभव था—मेरी संभावना के रूप में—कि मैं अगले सोमवार को गाँव के लिए रवाना हो जाऊँ। आज यह संभावना अब मेरी संभावना नहीं है; यह मेरे चिंतन का विषय बनी हुई है और वह शाश्वत भविष्य की संभावना बन गई है जो मैं रहा हूँ। लेकिन मेरे वर्तमान के साथ इसका एकमात्र बंधन यह है कि मुझे "था" की अवस्था में रहना है, यह वर्तमान अतीत बन गया है जिसके लिए यह संभावना मेरे वर्तमान से परे, एक संभावना बनी हुई है। लेकिन भविष्य और अतीत का वर्तमान मेरे वर्तमान की नींव पर स्वयं में ठोस हो जाते हैं। इस प्रकार, समय की प्रक्रिया के दौरान भविष्य, भविष्य के रूप में अपना स्वरूप खोए बिना, स्वयं में परिवर्तित हो जाता है। जब तक यह वर्तमान द्वारा प्राप्त नहीं होता, तब तक यह मात्र एक प्रदत्त भविष्य बन जाता है। जब यह प्राप्त हो जाता है, तो यह आदर्शता के गुण से प्रभावित होता है; परन्तु यह आदर्शता स्वयं में आदर्शता है, क्योंकि यह स्वयं को एक प्रदत्त अतीत की प्रदत्त कमी के रूप में प्रस्तुत करती है, न कि उस कमी के रूप में जो वर्तमान को अस्तित्वहीनता की अवस्था में होना चाहिए। जब भविष्य पार हो जाता है, तो यह अतीतों की श्रृंखला के हाशिये पर एक पूर्व भविष्य के रूप में सदा बना रहता है—एक विशिष्ट अतीत का पूर्व भविष्य जो पूर्ण हो जाता है, एक आदर्श प्रदत्त भविष्य जो वर्तमान के साथ सह-वर्तमान होता है और अतीत बन जाता है।
वर्तमान के अतीत में रूपांतरण और उसके साथ उत्पन्न होने वाले नए वर्तमान के उद्भव का अभी अध्ययन करना बाकी है। यह मानना त्रुटिपूर्ण होगा कि पूर्व वर्तमान का अंत हो जाता है और एक ऐसा वर्तमान उत्पन्न होता है जो लुप्त वर्तमान की छवि को बनाए रखता है। एक अर्थ में, सत्य को जानने के लिए शब्दों को उलटना लगभग उचित होगा, क्योंकि पूर्व वर्तमान का अतीत में बदलना स्वयं में प्रवेश का मार्ग है, जबकि एक नए वर्तमान का प्रकट होना उस स्वयं में का विलोपन है। वर्तमान एक नया स्वयं में नहीं है; यह वह है जो यह नहीं है, जो अस्तित्व से परे है; यह वह है जिसके बारे में हम केवल अतीत में ही कह सकते हैं कि "यह है"। अतीत का अंत नहीं होता; यह वह है जो वह बन गया है जो वह था; यह वर्तमान का अस्तित्व है। अंत में, जैसा कि हमने पर्याप्त रूप से सिद्ध किया है, वर्तमान और अतीत का संबंध अस्तित्व का संबंध है, प्रतिनिधित्व का नहीं।

परिणामस्वरूप, जो पहली विशेषता हमें चौंकाती है, वह है अस्तित्व द्वारा स्वयं के लिए की पुन: अनुभूति, मानो स्वयं के लिए में अब अपनी शून्यता को बनाए रखने की शक्ति न रह गई हो। वह गहरी दरार, जिसे स्वयं के लिए होना आवश्यक था, भर जाती है; वह शून्यता जिसे "अस्तित्व में लाया जाना" आवश्यक था, अस्तित्वहीन हो जाती है, निष्कासित हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप स्वयं के लिए अस्तित्व, अतीत बनकर, स्वयं में का एक गुण बन जाता है। यदि मैंने अतीत में किसी विशेष दुःख का अनुभव किया है, तो वह अब अस्तित्व में नहीं है, क्योंकि मैंने स्वयं को उसका अनुभव कराया है। इस दुःख में अब अस्तित्व का वह सटीक माप नहीं है जिसका आनंद एक ऐसी उपस्थिति द्वारा लिया जा सकता है जो स्वयं को अपना साक्षी बनाती है। यह इसलिए है क्योंकि यह रहा है; अस्तित्व इसके लिए, एक तरह से, एक बाहरी आवश्यकता के रूप में आता है। अतीत एक विपरीत नियति है। स्वयं के लिए स्वयं को वह बना सकता है जो वह चाहता है, लेकिन वह अपरिवर्तनीय रूप से - एक नए स्वयं के लिए - वह होने की आवश्यकता से बच नहीं सकता जो वह होना चाहता था। अतः अतीत एक स्व-स्वरूप है जो अब 'अंतर्-स्वरूप' के लिए एक पारलौकिक उपस्थिति नहीं रह गया है। अब स्व-स्वरूप बनकर, यह संसार के मध्य में समाहित हो गया है। मुझे जो होना है, मैं संसार के लिए एक उपस्थिति के रूप में हूँ, जो मैं नहीं हूँ, बल्कि जो मैं था; मैं संसार के मध्य में वही था, ठीक वैसे ही जैसे वस्तुएँ हैं, संसार के भीतर विद्यमान होने के कारण। फिर भी, यह संसार जिसमें स्व-स्वरूप को वह होना है जो वह था, उस संसार के समान नहीं हो सकता जिसमें वह वास्तव में उपस्थित है। इस प्रकार, स्व-स्वरूप का अतीत संसार की एक भूतकाल अवस्था के लिए भूतकाल उपस्थिति के रूप में निर्मित होता है। भले ही स्व-स्वरूप के वर्तमान से भूतकाल में "प्रवेश" करते समय संसार में कोई परिवर्तन न हुआ हो, कम से कम यह माना जा सकता है कि इसमें वही औपचारिक परिवर्तन हुआ है जिसका वर्णन हमने पहले स्व-स्वरूप के मूल में घटित होने के रूप में किया था। यह परिवर्तन चेतना के वास्तविक आंतरिक परिवर्तन का मात्र प्रतिबिंब है। दूसरे शब्दों में, स्वयं-स्वयं का अतीत में एक पूर्व-उपस्थिति-से- अस्तित्व के रूप में विलीन होना, स्वयं में समाहित हो जाना, "संसार के मध्य में" एक अस्तित्व बन जाना, और संसार अतीत के आयाम में उस रूप में बना रहता है जिसके मध्य में अतीत-स्वयं-स्वयं स्वयं में समाहित है। जैसे जलपरी जिसका मानव शरीर मछली की पूंछ में पूर्ण होता है, वैसे ही अलौकिक स्वयं- स्वयं संसार में एक वस्तु के रूप में अपने पीछे पूर्ण होता है। मैं क्रोधित हूँ, उदास हूँ, मुझमें हमेशा से ओडिपस कॉम्प्लेक्स या हीनता की भावना रही है, लेकिन अतीत में संसार के मध्य में "था" के रूप में—ठीक वैसे ही जैसे मैं एक सरकारी कर्मचारी हूँ, या एक हाथ वाला व्यक्ति हूँ, या एक सर्वहारा हूँ। अतीत में संसार मुझे घेरे रहता है, और मैं सार्वभौमिक नियतिवाद में खो जाता हूँ; लेकिन मैं अपने अतीत को भविष्य की ओर उसी हद तक पार कर जाता हूँ जिस हद तक मैं "वह था"।
एक ऐसा स्व-स्वरूप जिसने अपने सारे शून्यता को निचोड़कर, अंतर्स्वरूप द्वारा पुनः ग्रहण कर लिया है, एक ऐसा स्व-स्वरूप जो संसार में विलीन हो

जाता है—यही वह अतीत है जो मुझे होना है, यही स्व-स्वरूप का अवतार है। परन्तु यह अवतार एक ऐसे स्व-स्वरूप के साथ एकता में उत्पन्न होता है जो संसार के समक्ष अपनी उपस्थिति को मिटा देता है और जिसे उस अतीत में समाहित होना पड़ता है जिसे वह पार कर जाता है। इस उभार का क्या अर्थ है? हमें यहाँ किसी नए अस्तित्व के प्रकट होने से सावधान रहना चाहिए। सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो वर्तमान अस्तित्व में एक शाश्वत रिक्त स्थान हो—जो तुरंत भर जाता है और निरंतर पुनर्जन्म लेता है—मानो वर्तमान उस "अंतर्स्वरूप" के जाल से निरंतर पलायन हो जो उसे तब तक धमकाता रहता है जब तक कि अंतर्स्वरूप की वह अंतिम विजय न हो जाए जो उसे एक ऐसे अतीत में खींच ले जाएगी जो अब किसी भी स्व-स्वरूप का अतीत नहीं है। यह जीत मृत्यु में ही निहित है, क्योंकि मृत्यु संपूर्ण व्यवस्था के अतीत में घटित होने से, या यूं कहें कि अंतर्मन द्वारा मानवीय समग्रता की पुनः प्राप्ति से, कालिकता का अंतिम विराम है।
हम कालिकता के इस गतिशील स्वरूप को कैसे समझा सकते हैं? यदि यह—जैसा कि हमने सिद्ध करने का प्रयास किया है—स्वयं के अस्तित्व में निहित एक आकस्मिक गुण नहीं है, तो हमें यह सिद्ध करना होगा कि इसकी गतिशीलता स्वयं के अस्तित्व की एक आवश्यक संरचना है, जिसे स्वयं की शून्यता के रूप में परिकल्पित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक बार फिर अपने आरंभिक बिंदु पर पहुँच गए हैं।
लेकिन सच्चाई तो यह है कि कोई समस्या नहीं है। अगर हमें लगता है कि कोई समस्या है, तो इसका कारण यह है कि स्वयं के लिए को वास्तव में स्वयं के लिए समझने के हमारे प्रयासों के बावजूद, हम स्वयं को इसे अपने भीतर में स्थापित करने से नहीं रोक पाए हैं। अगर हम अपने भीतर से शुरू करते हैं, तो परिवर्तन का दिखना वास्तव में एक समस्या बन सकता है: अगर अपने भीतर वही है जो वह है, तो वह फिर वैसा कैसे नहीं रह सकता? लेकिन इसके विपरीत, अगर हम स्वयं के लिए की पर्याप्त समझ से आगे बढ़ते हैं, तो अब परिवर्तन को समझाने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि स्थायित्व को समझाने की ज़रूरत है—अगर स्थायित्व का अस्तित्व हो सकता है। वास्तव में, अगर हम समय के क्रम के अपने वर्णन को समय के प्रवाह से उत्पन्न होने वाली हर चीज़ से अलग करके देखें, तो यह स्पष्ट है कि अपने क्रम में सिमटी हुई कालिकता तुरंत अपने भीतर की कालिकता बन जाएगी। कालिक अस्तित्व का परमानंद यहाँ कुछ भी नहीं बदलेगा क्योंकि यह चरित्र अतीत में पाया जाता है, स्वयं के लिए के घटक के रूप में नहीं, बल्कि अपने भीतर द्वारा समर्थित एक गुण के रूप में। यदि हम एक ऐसे भविष्य की कल्पना करें जो विशुद्ध रूप से एक स्व-स्वयं के भविष्य के समान हो, जो कि एक निश्चित अतीत का स्व-स्वयं है, और यदि हम यह मानें कि परिवर्तन, कालिकता के वर्णन के संदर्भ में एक नई समस्या है, तो हम इस भविष्य को, इस रूप में परिकल्पित भविष्य को, एक क्षणिक स्थिरता प्रदान करते हैं; हम स्व-स्वयं को एक निश्चित गुण प्रदान करते हैं जिसे निर्दिष्ट किया जा सकता है; और अंततः संपूर्ण इकाई एक निर्मित समग्रता बन जाती है, भविष्य और अतीत स्व-स्वयं को सीमित करते हैं और उसके लिए निर्धारित सीमाएँ

भी परिस्थिति में क्षण की सीमाओं के भीतर विद्यमान नहीं हो सकती। ऐसा कोई क्षण नहीं है जिस पर हम यह कह सकें कि 'स्वयं के लिए' का अस्तित्व है, ठीक इसलिए क्योंकि 'स्वयं के लिए' कभी अस्तित्व में ही नहीं होता। इसके विपरीत, कालिकता स्वयं को पूर्णतः क्षण के अस्वीकरण के रूप में कालिक बनाती है।

III. मूल कालिकता और मानसिक कालिकता: चिंतन स्वयं के लिए अस्तित्व एक गैर-थेटिक चेतना के रूप में बना रहता है। लेकिन मैं "बहते हुए समय को महसूस कर सकता हूँ" और स्वयं को एक क्रम की एकता के रूप में समझ सकता हूँ। इस स्थिति में मैं स्थायित्व के प्रति सचेत हूँ। यह चेतना थेटिक है और ज्ञान से बहुत मिलती-जुलती है, ठीक वैसे ही जैसे मेरे ध्यान में समयबद्ध अवधि लगभग ज्ञान की वस्तु के समान होती है। मूल कालिकता और इस मानसिक कालिकता के बीच क्या संबंध हो सकता है जिसका सामना मैं स्वयं को "स्थायित्व की प्रक्रिया में" समझते ही करता हूँ? यह समस्या हमें तुरंत एक और समस्या की ओर ले जाती है, क्योंकि अवधि की चेतना एक ऐसी चेतना की चेतना है जो बनी रहती है; इसलिए, अवधि की इस थेटिक चेतना की प्रकृति और नियमों का प्रश्न उठाना, परावर्तन की प्रकृति और नियमों का प्रश्न उठाने के समान है। वास्तव में, मानसिक अवधि के रूप में कालिकता परावर्तन से संबंधित है, और मानसिक अवधि की सभी प्रक्रियाएँ परावर्तित चेतना से संबंधित हैं।
किसी मानसिक अवधि को चिंतन के अंतर्निहित विषय के रूप में कैसे स्थापित किया जा सकता है, यह पूछने से पहले, हमें इस प्रारंभिक प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करना चाहिए: एक ऐसे अस्तित्व के लिए चिंतन कैसे संभव है जो केवल अतीत में ही विद्यमान हो सकता है? डेसकार्टेस और हुसर्ल चिंतन को एक प्रकार की विशिष्ट अंतर्ज्ञान शक्ति मानते हैं क्योंकि यह वर्तमान और तात्कालिक अंतर्निहितता की क्रिया में चेतना को ग्रहण करता है। क्या यह अपनी निश्चितता बनाए रखेगा यदि वह अस्तित्व जिसे इसे जानना है, इसके संबंध में अतीत में हो? और चूंकि हमारी संपूर्ण सत्तामीमांसा चिंतनशील अनुभव पर आधारित है, तो क्या यह अपने सभी नियमों को खोने का जोखिम नहीं उठाता? फिर भी क्या वास्तव में अतीत का अस्तित्व ही चिंतनशील चेतना का विषय होना चाहिए? यदि चिंतन की प्रक्रिया स्वयं एक स्व-प्रथा है, तो क्या इसे एक ऐसे अस्तित्व और निश्चितता तक सीमित होना चाहिए जो तात्कालिक हो? हम इन प्रश्नों का उत्तर तभी दे सकते हैं जब हम चिंतनशील घटना पर लौटें और इसकी संरचना का निर्धारण करें।
परावर्तन स्वयं के प्रति सचेत चेतना है। चूंकि स्वयं के प्रति सचेत चेतना पहले से ही एक गैर-आध्यात्मिक आत्मचेतना है, इसलिए हम परावर्तन को एक नई चेतना के रूप में प्रस्तुत करने के आदी हैं, जो अचानक प्रकट होती है, परावर्तित चेतना पर निर्देशित होती है और उसके साथ सहजीवन में रहती है। यहाँ स्पिनोज़ा के पुराने विचार 'आइडिया' की याद आती है।
लेकिन चिंतनशील चेतना के अचानक उत्पन्न होने की व्याख्या करना कठिन होने के साथ-साथ, इस प्रकार से परावर्तित चेतना के साथ इसकी पूर्ण एकता को समझाना भी पूरी तरह असंभव है, एक ऐसी एकता जो केवल चिंतनशील अंतर्ज्ञान के नियमों और निश्चितता को ही संभव बनाती है। हम यहाँ यह नहीं कह सकते कि जिस परावर्तित किया जा रहा है उसका अस्तित्व एक प्रत्यक्ष अनुभव है, क्योंकि उसका अस्तित्व ऐसा है कि उसे अस्तित्व में रहने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता नहीं है। और परावर्तन के साथ उसका प्राथमिक संबंध किसी निरूपण

है (se reflete en soi), तब तक परावर्तित, परावर्तक के लिए एक उपस्थिति होता है, और परावर्तक केवल तभी साक्षी हो सकता है जब तक वह स्वयं के प्रति सचेत हो; अर्थात्, ठीक उसी सीमा तक जब तक यह साक्षी, जो वह स्वयं है, एक परावर्तक के लिए एक परावर्तन (reflet) है, जो वह स्वयं भी है। अतः परावर्तित और परावर्तक दोनों ही स्व-निर्भरता की ओर प्रवृत्त होते हैं, और जो शून्यता उन्हें अलग करती है, वह उन्हें स्वयं के लिए की शून्यता की तुलना में कहीं अधिक गहराई से विभाजित करती है, जो परावर्तन (प्रतिबिंब) को परावर्तित करने वाले से अलग करती है।
फिर भी हमें दो बातों पर ध्यान देना चाहिए: (1) साक्षी के रूप में परावर्तन (रिफ्लेक्शन) केवल उपस्थिति में और उसके माध्यम से ही साक्षी के रूप में अस्तित्व रख सकता है; अर्थात्, यह अपने परावर्तनशीलता से अपने अस्तित्व में गहराई से प्रभावित होता है और परिणामस्वरूप कभी भी उस आत्म-निर्भरता (सेल्फस्टैंडिगकेइट) को प्राप्त नहीं कर सकता जिसका वह लक्ष्य रखता है, क्योंकि यह अपने कार्य से और अपने कार्य को स्वयं-परावर्तित से प्राप्त करता है। (2) परावर्तित परावर्तन (रिफ्लेक्शन) द्वारा इस अर्थ में गहराई से परिवर्तित होता है कि यह आत्म-चेतना है, जो इस या उस पारलौकिक घटना की परावर्तित चेतना है। परावर्तित स्वयं को प्रेक्षित जानता है। इसकी तुलना एक ठोस उदाहरण के रूप में उस व्यक्ति से की जा सकती है जो मेज पर झुककर लिख रहा है और लिखते समय जानता है कि उसके पीछे खड़ा कोई व्यक्ति उसे देख रहा है। इस प्रकार, परावर्तित को एक प्रकार से स्वयं की चेतना होती है, मानो उसका कोई बाह्य अस्तित्व हो या बाह्य अस्तित्व का आभास हो; यानी, यह स्वयं को एक वस्तु बना लेता है, ताकि परावर्तित होने पर इसका अर्थ परावर्तक से अविभाज्य हो जाए और स्वयं से दूर, उस चेतना में विद्यमान हो जो इस पर परावर्तित होती है। इस अर्थ में, परावर्तित वस्तु में स्वयं की स्थिरता (Selbständigkeit) नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वयं परावर्तक में नहीं होती।
हुसरल हमें बताते हैं कि जिस पर चिंतन किया जाता है, वह "स्वयं को चिंतन से पहले से विद्यमान" के रूप में प्रकट करता है। लेकिन हमें यहाँ भ्रमित नहीं होना चाहिए; सभी संभावित चिंतन के संबंध में, जिस पर चिंतन नहीं किया जाता, उसकी स्व-निर्भरता चिंतन की घटना में परिवर्तित नहीं होती, क्योंकि घटना अपना 'परिष्कृत नहीं' होने का चरित्र खो देती है। किसी चेतना के लिए, जिस पर चिंतन किया जाता है, उसका अर्थ है अपने अस्तित्व में एक गहरा परिवर्तन आना और ठीक उसी स्व-निर्भरता को खो देना जो उसके पास "परिष्कृत-परावर्तक" के रूप में थी। अंततः, जिस हद तक एक शून्यता परिष्कृत को चिंतनशील से अलग करती है, यह शून्यता, जो स्वयं से अपना अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे "अस्तित्व में लाया जाना" चाहिए। इससे हमें यह समझना चाहिए कि केवल अस्तित्व की एक एकात्मक संरचना ही अपने अस्तित्व के रूप में अपनी शून्यता हो सकती है। वास्तव में, न तो चिंतनशील और न ही परिष्कृत इस पृथक्करणकारी शून्यता को उत्पन्न कर सकते हैं। लेकिन चिंतन एक ही सत्ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वयं के लिए चिंतनहीन सत्ता, यह किसी सत्ता का जोड़ नहीं है;

यह एक ऐसी सत्ता है जिसे स्वयं का शून्य होना है। यह स्वयं के लिए निर्देशित एक नई चेतना का प्रकटीकरण नहीं है, बल्कि एक आंतरिक संरचनात्मक परिवर्तन है जिसे स्वयं के लिए सत्ता स्वयं में साकार करती है; दूसरे शब्दों में, यह स्वयं के लिए सत्ता ही है जो स्वयं को चिंतन-प्रतिबिंबित-पर-अस्तित्व में लाती है, न कि केवल चिंतन-प्रतिबिंबित के द्वंद्व में; इसके अलावा, अस्तित्व का यह नया स्वरूप चिंतन-प्रतिबिंबित के स्वरूप को एक प्राथमिक आंतरिक संरचना के रूप में विद्यमान रहने देता है। जो मुझ पर चिंतन कर रहा है वह किसी प्रकार का गैर-कालिक दृष्टिकोण नहीं है, बल्कि मैं स्वयं हूँ, वह स्वयं जो अपने आत्मत्व के चक्र में निरंतर संलग्न हूँ, संसार में खतरे में हूँ, अपनी ऐतिहासिकता के साथ। यह ऐतिहासिकता, यह संसार में होना और आत्मत्व का यह चक्र—ये सब मेरे द्वारा विद्यमान स्वयं का वह स्वरूप है जो चिंतनशील विच्छेद (dédoubiement) के स्वरूप में रहता है। जैसा कि हमने देखा है, परावर्तित और प्रतिबिंबित वस्तु के बीच एक शून्यता का विभेदन होता है। इस प्रकार, परावर्तन की घटना स्वयं के अस्तित्व का ही विलोपन है, एक ऐसा विलोपन जो बाहरी रूप से नहीं आता बल्कि स्वयं को ही अनुभव करना पड़ता है। इस और भी अधिक विलोपन का स्रोत क्या है? इसका प्रेरक क्या हो सकता है?
स्वयं के लिए अस्तित्व के उत्थान में एक मौलिक विक्षेपण होता है: स्वयं के लिए अस्तित्व बाहर, भीतर के निकट और तीन लौकिक परमानंदों में खो जाता है। यह स्वयं से बाहर है, और अपने अंतर्मन में यह स्वयं के लिए अस्तित्व परमानंदमय है क्योंकि इसे अपने अस्तित्व को कहीं और खोजना पड़ता है—यदि यह स्वयं को प्रतिबिंब बनाता है तो परावर्तक में, और यदि यह स्वयं को परावर्तक के रूप में स्थापित करता है तो परावर्तन में। स्वयं के लिए उत्थान, भीतर के अस्तित्व की विफलता की पुष्टि करता है, जो स्वयं का आधार नहीं बन पाया है। स्वयं के लिए परावर्तन एक स्थायी संभावना बनी रहती है, अस्तित्व को पुनः प्राप्त करने का एक प्रयास। परावर्तन द्वारा, स्वयं के लिए अस्तित्व, जो स्वयं को बाहर खो चुका है, स्वयं को अपने भीतर स्थापित करने का प्रयास करता है। परावर्तन स्वयं के लिए अस्तित्व का दूसरा प्रयास है; अर्थात्, स्वयं के लिए वह होना जो वह है। वास्तव में, यदि परावर्तन-प्रतिबिंब के अर्ध-द्वैत को एक ऐसे साक्षी के लिए समग्रता में समेट लिया जाए जो स्वयं ही हो, तो वह अपनी दृष्टि में वही होगा जो वह है। संक्षेप में, लक्ष्य उस अस्तित्व को पकड़ना है जो स्वयं से भागता है जबकि वह अस्तित्वहीनता के भाव में वही है जो वह है, और जो अपने ही प्रवाह में बहता रहता है, जो अपनी ही उंगलियों के बीच से निकल जाता है; लक्ष्य उसे एक प्रदत्त बनाना है, एक ऐसा प्रदत्त जो अंततः वही है जो वह है; समस्या इस अप्राप्त समग्रता को एक ही दृष्टि की एकता में एकत्रित करना है, जो केवल इसलिए अप्राप्त है क्योंकि वह स्वयं के लिए अपनी ही अप्राप्ति है, उस शाश्वत संदर्भ के क्षेत्र से बचना है जो स्वयं का संदर्भ होना चाहिए, और - ठीक इसी कारण से कि वह इस संदर्भ की बेड़ियों से मुक्त हो गया है - उसे एक

दृश्य संदर्भ के रूप में स्थापित करना है - अर्थात्, एक ऐसे संदर्भ के रूप में जो वही है जो वह है।
लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक है कि यह सत्ता जो स्वयं को पुनः प्राप्त करती है और स्वयं को एक प्रदत्त के रूप में स्थापित करती है—अर्थात्, जो स्वयं को अस्तित्व की आकस्मिकता प्रदान करती है ताकि इसे स्थापित करते हुए संरक्षित कर सके—यह स्वयं वही होनी चाहिए जिसे यह पुनः प्राप्त करती है और स्थापित करती है, जिसे यह परमानंदमय विक्षेपण से बचाती है। चिंतन (प्रतिबिंब) की प्रेरणा दोहरे प्रयास में निहित है, एक साथ वस्तुनिष्ठता और आंतरिककरण। आंतरिककरण की पूर्ण एकता में स्वयं के लिए एक वस्तु के रूप में होना—यही चिंतन-सत्ता का स्वरूप होना चाहिए।
स्वयं के लिए ही अपना आधार बनने का, अपने भीतर अपनी उड़ान को पुनः प्राप्त करने और उस पर प्रभुत्व स्थापित करने का, अंततः उस उड़ान को क्षणिक उड़ान के रूप में देखने के बजाय स्वयं वही उड़ान बनने का प्रयास—यह प्रयास अनिवार्य रूप से विफलता में परिणत होता है; और यही विफलता चिंतन है। वास्तव में, यह स्वयं ही वह सत्ता है जिसे खोए हुए अस्तित्व को पुनः प्राप्त करना है, और यह पुनः प्राप्ति उसी अस्तित्व के स्वरूप में होनी चाहिए जो उसका अपना है; अर्थात्, स्व-स्वयं के स्वरूप में, अतः उड़ान के स्वरूप में। स्व-स्वयं के स्वरूप में ही स्व-स्वयं वह बनने का प्रयास करेगा जो वह है, या दूसरे शब्दों में, वह स्वयं के लिए वही होगा जो वह स्वयं के लिए है। इस प्रकार, चिंतन या स्वयं पर वापस मुड़कर स्व-स्वयं को पुनः प्राप्त करने का प्रयास स्व-स्वयं के लिए स्व-स्वयं की उपस्थिति का परिणाम होता है। वह सत्ता जो अस्तित्व में आधार खोजना चाहती है, वह स्वयं ही अपने शून्यता का आधार है। फलस्वरूप संपूर्ण अस्तित्व एक शून्य-स्वयं में ही रह जाता है। साथ ही, स्वयं पर ही लौट आने से, जो लौटता है और जिस पर लौटता है, उनके बीच एक दूरी का आभास ही होता है। स्वयं पर यह लौट आना, स्वयं से विमुख होकर उसमें वापस लौटने का एक प्रयास है। यही लौट आना चिंतनशील शून्यता का आभास कराता है। क्योंकि स्वयं-के-लिए की आवश्यक संरचना यह मांग करती है कि उसके अस्तित्व को केवल उसी अस्तित्व द्वारा पुनः प्राप्त किया जा सकता है जो स्वयं स्वयं-के-लिए के रूप में विद्यमान हो। इस प्रकार, पुनः प्राप्ति करने वाला अस्तित्व स्वयं-के-लिए के रूप में गठित होना चाहिए, और जिस अस्तित्व को पुनः प्राप्त किया जाना है, वह स्वयं-के-लिए के रूप में विद्यमान होना चाहिए। और ये दोनों अस्तित्व एक ही अस्तित्व होने चाहिए। लेकिन ठीक उसी हद तक, जिस हद तक यह अस्तित्व स्वयं को पुनः प्राप्त करता है, यह अपने और स्वयं के बीच—अस्तित्व की एकता में—एक पूर्ण दूरी का अस्तित्व उत्पन्न करता है। परावर्तन की यह घटना स्वयं-के-लिए की एक स्थायी संभावना है क्योंकि परावर्तित स्वयं-के-लिए में परावर्तशील विखंडन की क्षमता विद्यमान होती है; वास्तव में इतना ही पर्याप्त है कि स्वयं के लिए चिंतन करने वाला (रिफ्लेन्ट) स्वयं को उसके लिए चिंतन (रिफ्लेक्ट) के साक्षी के रूप में स्थापित करे और स्वयं के लिए (रिफ्लेक्शन) स्वयं को उसके लिए इस चिंतन के प्रतिबिंब के रूप में स्थापित करे। इस प्रकार, स्वयं

हैं; वे ज्ञान और संदेह की वस्तु के अस्तित्व को मानती हैं—अर्थात, सार्वभौमिक समय में एक पारलौकिक स्थायित्व को। यह एक संबंधित आचरण है जो वस्तु पर संदेह करता है, एक ऐसा आचरण जो मानव वास्तविकता के संसार में होने के तरीकों में से एक का प्रतिनिधित्व करता है। स्वयं को संशय में पाना, भविष्य में स्वयं से आगे निकल जाना है, जो इस संशय के अंत, समाप्ति और अर्थ को छिपाता है, और अतीत में स्वयं से पीछे निकल जाना है, जो संशय की मूल प्रेरणाओं और उसके विकास के चरणों को छिपाता है, और उस वस्तु के प्रति उपस्थिति के रूप में दुनिया में स्वयं से बाहर होना है जिस पर व्यक्ति संशय करता है।
ये ही अवलोकन किसी भी चिंतनशील कथन पर लागू होते हैं: मैं पढ़ता हूँ, मैं सपने देखता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं कार्य करता हूँ। या तो ये हमें चिंतन के लिए अकाट्य प्रमाण देने से इनकार करने के लिए प्रेरित करेंगे, और फिर स्वयं के बारे में मेरा मूल ज्ञान मात्र संभावना में विलीन हो जाएगा और मेरा अस्तित्व ही मात्र एक संभावना है (क्योंकि मेरा वर्तमान क्षण में होना एक अस्तित्व नहीं है)—या फिर हमें चिंतन के नियमों को मानव समग्रता तक विस्तारित करना होगा—अर्थात् अतीत तक, भविष्य तक, वर्तमान तक, वस्तु तक। लेकिन यदि हमने सही ढंग से अवलोकन किया है, तो चिंतन स्वयं के लिए है जो निरंतर अपूर्णता में एक समग्रता के रूप में स्वयं को पुनः प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह उस अस्तित्व के प्रकटीकरण की पुष्टि है जो स्वयं के लिए ही उसका प्रकटीकरण है। जैसे ही स्वयं के लिए स्वयं को कालिक बनाता है, ये परिणाम निकलते हैं: (1) स्वयं के लिए के अस्तित्व के तरीके के रूप में चिंतन को कालिक होना चाहिए, और यह स्वयं उसका अतीत और उसका भविष्य है। (2) स्वभावतः चिंतन अपने नियमों और अपनी निश्चितता को उन संभावनाओं तक विस्तारित करता है जो मैं हूँ और उस अतीत तक जो मैं था। चिंतनशील किसी तात्कालिक चिंतन का बोध नहीं है, और न ही वह स्वयं तात्कालिकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि चिंतनशील अपने भविष्य के साथ चिंतनशील के भविष्य को और अपने अतीत के साथ ज्ञात की जाने वाली चेतना के अतीत को जानता है। इसके विपरीत, भविष्य और अतीत के माध्यम से ही चिंतनशील और चिंतनशील को उनके अस्तित्व की एकता के भीतर भेदा जाता है। वास्तव में, चिंतनशील का भविष्य उसकी अपनी संभावनाओं का समूह है जो चिंतनशील को चिंतनशील होने के नाते धारण करना होता है। इस प्रकार, इसमें चिंतनशील भविष्य की चेतना शामिल नहीं हो सकती। यही बातें चिंतनशील अतीत के लिए भी मान्य होंगी, यद्यपि यह अंततः स्वयं के लिए मूल के अतीत में निहित है। लेकिन यदि चिंतन अपना अर्थ अपने भविष्य और अपने अतीत से प्राप्त करता है, तो यह पहले से ही एक पलायनशील उपस्थिति के समान है, जो इस उड़ान की पूरी लंबाई में परमानंद से परिपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, स्वयं के लिए अस्तित्व, जो चिंतनशील वियोग के रूप में स्वयं को अस्तित्व में लाता है, क्योंकि स्वयं के लिए अस्तित्व अपनी संभावनाओं और अपने भविष्य से अपना अर्थ प्राप्त करता है। इस अर्थ में, चिंतन एक प्रवासी घटना है; लेकिन स्वयं के लिए एक उपस्थिति के रूप में, स्वयं के लिए अस्तित्व अपने सभी आनंदमय आयामों में उपस्थित होता है।

गुणों, अवस्थाओं और क्रियाओं की इन एकताओं के बीच आमतौर पर पहले और बाद के संबंध स्थापित होते हैं; और इन्हीं एकताओं का उपयोग काल निर्धारण के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार, अपने दैनिक जीवन में संसार में मनुष्य की चिंतनशील चेतना उन मानसिक वस्तुओं के सामने पाई जाती है जो जैसी हैं वैसी ही हैं, जो हमारी कालिकता के निरंतर ताने-बाने में एक टेपेस्ट्री पर बने डिज़ाइनों और रूपांकनों की तरह प्रकट होती हैं, और जो सार्वभौमिक समय में संसार की वस्तुओं के क्रम में एक दूसरे का स्थान लेती हैं; अर्थात्, केवल बाहरी अनुक्रम के संबंधों में प्रवेश किए बिना एक दूसरे को प्रतिस्थापित करती हैं।
हम उस आनंद की बात करते हैं जो मुझे है या जो मुझे था; हम कहते हैं कि यह मेरा आनंद है, मानो मैं ही इसका आधार हूँ और मानो यह मुझसे इस प्रकार विरक्त है जैसे स्पिनोज़ा के परिमित भाव गुण के आधार से विरक्त होते हैं। हम यहाँ तक कहते हैं कि मैं इस आनंद का अनुभव ऐसे करता हूँ मानो इसने मेरे कालिक बोध पर मुहर लगा दी हो; या इससे भी बेहतर, मानो मुझमें इन भावनाओं, इन विचारों, इन अवस्थाओं की उपस्थिति एक प्रकार का आगमन हो। हम इसे भ्रम नहीं कह सकते—यह मानसिक अवधि स्वायत्त संगठनों के ठोस प्रवाह से निर्मित है; संक्षेप में, मानसिक तथ्यों, चेतना के तथ्यों के अनुक्रम से। वास्तव में, इनकी वास्तविकता ही मनोविज्ञान का विषय है। व्यवहारिक रूप से देखा जाए तो, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य के स्तर पर ही है कि मनुष्यों के बीच ठोस संबंध स्थापित होते हैं—दावे, ईर्ष्या, द्वेष, सुझाव, संघर्ष, छल आदि। फिर भी, यह कल्पना करना असंभव है कि स्वयं के लिए चिंतनहीन, जो अपने उत्थान में स्वयं का इतिहास रचता है, स्वयं ही ये गुण, ये अवस्थाएँ और ये क्रियाएँ हो। इसकी एकता एक दूसरे से बाह्य अनेक अस्तित्वों में विलीन हो जाएगी, कालिकता की सत्तामीमांसा संबंधी समस्या पुनः प्रकट होगी, और इस बार हम इसे हल करने के सभी तरीके खो चुके होंगे; क्योंकि यद्यपि स्वयं के लिए स्वयं का अतीत होना संभव है, फिर भी मेरे आनंद से यह अपेक्षा करना हास्यास्पद होगा कि वह उससे पहले का दुख हो, भले ही वह "अस्तित्वहीनता" की अवस्था में ही क्यों न हो। मनोवैज्ञानिक इस परमानंदमय अस्तित्व का विकृत चित्रण करते हैं जब वे यह दावा करते हैं कि मानसिक तथ्य एक दूसरे के सापेक्ष होते हैं और लंबे मौन के बाद सुनाई देने वाली गड़गड़ाहट को "लंबे मौन के बाद गड़गड़ाहट" के रूप में समझा जाता है। यह अवलोकन सही है, लेकिन उन्होंने इस सापेक्षता को क्रमिक रूप से समझाने से खुद को रोक लिया है क्योंकि उन्होंने इससे सभी तात्विक आधार को हटा दिया है। वास्तव में, यदि हम स्वयं-स्वयं को उसके ऐतिहासिक स्वरूप में समझते हैं, तो मानसिक कालखंड लुप्त हो जाता है और अवस्थाएँ, गुण और क्रियाएँ गायब हो जाती हैं, और उनके स्थान पर स्वयं-स्वयं का अस्तित्व आ जाता है, जो केवल उस अद्वितीय व्यक्तित्व के रूप में है जिससे ऐतिहासिककरण की प्रक्रिया को अलग नहीं किया जा सकता। यही वह है जो प्रवाहित होता है, जो भविष्य के आधार से स्वयं को पुकारता है, और जो अपने अतीत के भार से भरा हुआ है; यही वह है जो अपने स्वयं को ऐतिहासिक बनाता है, और हम जानते हैं कि यह - प्राथमिक या अचिंतनशील अवस्था में - विश्व की चेतना है, स्वयं की नहीं। अत:

गुण और अवस्थाएँ इसके अस्तित्व में विद्यमान नहीं हो सकतीं (इस अर्थ में कि आनंद के प्रवाह की एकता चेतना द्वारा "निहित" या "निर्मित" हो)। केवल इसके आंतरिक, गैर-स्थितीय रंग ही विद्यमान हैं; ये स्वयं के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, और इन्हें इसके बाहर नहीं समझा जा सकता।
यहां हम दो कालखंडों की उपस्थिति में हैं: मूल कालखंड, जिसका हम कालखंडीकरण हैं, और मानसिक कालखंड, जो एक साथ हमारे अस्तित्व के स्वरूप के साथ असंगत और एक अंतर्वैयक्तिक वास्तविकता, विज्ञान का विषय, मानवीय कार्यों का लक्ष्य (उदाहरण के लिए, इस अर्थ में कि मैं ऐनी को मुझसे प्रेम करवाने के लिए, उसे मेरे प्रति प्रेम से परिपूर्ण करने के लिए हर संभव प्रयास करता हूँ) के रूप में प्रकट होता है। यह मानसिक कालखंड, जो स्पष्ट रूप से व्युत्पन्न है, सीधे मूल कालखंड से उत्पन्न नहीं हो सकता; मूल कालखंड स्वयं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जहाँ तक मानसिक कालखंड की बात है, वह स्वयं को निर्मित करने में असमर्थ है, क्योंकि वह केवल तथ्यों का एक क्रमिक क्रम है। इसके अलावा, मानसिक कालखंड स्वयं के लिए चिंतनहीन अवस्था में प्रकट नहीं हो सकता, जो संसार के लिए शुद्ध परमानंदमय उपस्थिति है। मानसिक कालखंड स्वयं को चिंतन के माध्यम से प्रकट करता है, और चिंतन को ही इसे निर्मित करना चाहिए। लेकिन चिंतन इसे कैसे निर्मित कर सकता है यदि चिंतन उस ऐतिहासिकता की शुद्ध और सरल खोज है जो यह स्वयं है?
यहां हमें शुद्ध चिंतन और अशुद्ध या मूलभूत चिंतन के बीच अंतर करना होगा, क्योंकि अशुद्ध चिंतन ही मानसिक तथ्यों या मानस के अनुक्रम का निर्माण करता है। दैनिक जीवन में सबसे पहले जो प्रस्तुत होता है वह अशुद्ध या मूलभूत चिंतन होता है, हालांकि इसमें मूल संरचना के रूप में शुद्ध चिंतन भी शामिल होता है। लेकिन शुद्ध चिंतन केवल स्वयं में होने वाले एक परिवर्तन के फलस्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है, जो एक प्रकार के आत्म-निरीक्षण के रूप में होता है।
इस आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा और संरचना का वर्णन करने का यह उचित स्थान नहीं है। हमारे लिए अशुद्ध चिंतन का वर्णन महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह मानसिक कालिकता का निर्माण और प्रकटीकरण करता है।
जैसा कि हमने देखा है, परावर्तन एक प्रकार का अस्तित्व है जिसमें स्वयं के लिए अस्तित्व स्वयं के लिए वही होता है जो वह है। परावर्तन तब अस्तित्व की शुद्ध उदासीनता में एक मनमौजी उभार नहीं है, बल्कि यह एक 'के लिए' के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होता है। हमने यहाँ देखा है कि स्वयं के लिए अस्तित्व वह है जो अपने अस्तित्व में 'के लिए' का आधार है। परावर्तन का अर्थ तब उसका 'के लिए' होना है। विशेष रूप से परावर्तित वह है जिस पर परावर्तित हुआ है, जो स्वयं को नष्ट करके स्वयं को पुनः प्राप्त करता है। इस अर्थ में, परावर्तित, जहाँ तक उसे परावर्तित होना है, 'स्वयं के लिए' से बच निकलता है, जो कि परावर्तित होने के रूप में 'होना ही है' के रूप में है। लेकिन यदि यह केवल उस परावर्तित होने के लिए होता जिस पर उसे होना है, तो यह 'स्वयं के लिए' से बच निकलता ताकि उसे पुनः खोज सके; हर जगह और जिस भी

में विकृत हो चुका है। मानस का एक संक्षिप्त पूर्व-वर्णन हमें इस आत्म-अवस्था को समझने में सहायक होगा।
(1) मन से हमारा तात्पर्य अहम्, उसकी अवस्थाओं, उसके गुणों और उसके कार्यों से है। “मैं” और “मुझे” के दोहरे व्याकरणिक रूप वाला अहम् हमारे व्यक्तित्व को एक पारलौकिक मानसिक एकता के रूप में दर्शाता है। इसका वर्णन हमने अन्यत्र किया है। अहम् के रूप में ही हम वास्तव में और सिद्धांत में विषय हैं, सक्रिय और निष्क्रिय, स्वैच्छिक कर्ता, उत्तरदायित्व के मूल्य के संबंध में निर्णय के संभावित विषय।
अहं के गुण उन सद्गुणों, अंतर्निहित विशेषताओं और क्षमताओं के समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं जो हमारे चरित्र और आदतों का निर्माण करते हैं (ग्रीक भाषा में)। अहं क्रोध, परिश्रम, ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा, कामुकता आदि का एक "गुण" है। लेकिन हमें एक अन्य प्रकार के गुणों को भी पहचानना चाहिए जिनकी उत्पत्ति हमारे इतिहास में होती है और जिन्हें हम अर्जित लक्षण कहते हैं: मैं "अपनी उम्र का प्रभाव दिखा रहा" हो सकता हूँ, थका हुआ, कड़वा, कमजोर या प्रगतिशील हो सकता हूँ; मैं "सफलता के परिणामस्वरूप आत्मविश्वास प्राप्त कर चुका" प्रतीत हो सकता हूँ या इसके विपरीत "एक लंबे समय तक बीमारी के बाद धीरे-धीरे एक अस्वस्थ व्यक्ति की रुचियों, आदतों और कामुकता को अपना चुका" प्रतीत हो सकता हूँ।
अवस्थाएँ—गुणों के विपरीत, जो "संभावित रूप से" विद्यमान होते हैं— वास्तविक रूप से विद्यमान होती हैं। घृणा, प्रेम, ईर्ष्या अवस्थाएँ हैं। कोई बीमारी, जहाँ तक रोगी द्वारा एक मनो-शारीरिक वास्तविकता के रूप में समझी जाती है, एक अवस्था है। इसी प्रकार, मेरे व्यक्तित्व से बाह्य रूप से जुड़ी कई विशेषताएँ, जहाँ तक मैं उन्हें अनुभव करता हूँ, अवस्थाएँ बन सकती हैं। अनुपस्थिति (किसी निश्चित व्यक्ति के संबंध में), निर्वासन, अपमान, विजय अवस्थाएँ हैं। हम देख सकते हैं कि गुण अवस्था से किस प्रकार भिन्न है: कल के मेरे क्रोध के बाद, मेरी "चिड़चिड़ापन" क्रोध करने की एक सरल अव्यक्त प्रवृत्ति के रूप में बनी रहती है। इसके विपरीत, पियरे के कृत्य और उसके कारण मेरे मन में उत्पन्न आक्रोश के बाद, मेरी घृणा एक वास्तविक वास्तविकता के रूप में बनी रहती है, भले ही मेरा विचार वर्तमान में किसी अन्य विषय पर केंद्रित हो। इसके अतिरिक्त, गुण एक जन्मजात या अर्जित प्रवृत्ति है जो मेरे व्यक्तित्व को परिभाषित करने में योगदान देती है। इसके विपरीत, अवस्था कहीं अधिक आकस्मिक और संयोगवश होती है; यह कुछ ऐसा है जो मेरे साथ घटित होता है। हालाँकि, अवस्थाओं और गुणों के बीच मध्यवर्ती तत्व मौजूद होते हैं: उदाहरण के लिए, नेपोलियन के प्रति पोज़ो डि बोर्गो की घृणा, यद्यपि वास्तव में मौजूद थी और पोज़ो और नेपोलियन प्रथम के बीच एक भावनात्मक, आकस्मिक संबंध का प्रतिनिधित्व करती थी, पोज़ो के व्यक्तित्व का एक मूलभूत तत्व थी।
कर्मों से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की संपूर्ण संश्लेषित गतिविधि से है; अर्थात्, साधनों का प्रत्येक विन्यास, जो लक्ष्यों से संबंधित है, न कि स्वयं के लिए उसकी संभावनाओं के रूप में, बल्कि एक ऐसे पारलौकिक मानसिक

संश्लेषण के रूप में जिसे स्वयं के लिए अनुभव करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, मुक्केबाज का प्रशिक्षण एक कर्म है क्योंकि यह स्वयं के लिए को पारलौकिक बनाता है और उसका समर्थन करता है, जो कि इस प्रशिक्षण में और इसके माध्यम से स्वयं को साकार करता है। यही बात वैज्ञानिक के शोध, कलाकार के कार्य और राजनेता के चुनाव अभियान पर भी लागू होती है। इन सभी मामलों में, कर्म एक मानसिक सत्ता के रूप में एक पारलौकिक अस्तित्व और स्वयं के लिए के संसार के साथ संबंध के वस्तुनिष्ठ पहलू का प्रतिनिधित्व करता है।
(2) “मनोवैज्ञानिक” शब्द केवल संज्ञानात्मक क्रियाओं की एक विशेष श्रेणी को दिया गया है—स्वयं-चिंतनशील क्रियाओं को। वास्तव में, अचिंतनशील तल पर, स्वयं-चिंतनशील क्रिया अपने आप में गैर-विषयगत रूप में अपनी ही संभावनाएँ हैं; और क्योंकि इसकी संभावनाएँ विश्व की दी गई अवस्था से परे विश्व में संभावित उपस्थितियाँ हैं, इसलिए इन संभावनाओं के पार जो विषयगत रूप से लेकिन गैर-विषयगत रूप से प्रकट होता है, वह विश्व की एक ऐसी अवस्था है जो दी गई अवस्था से संश्लेषित रूप से बंधी हुई है। फलस्वरूप, विश्व पर थोपे जाने वाले परिवर्तन वर्तमान वस्तुओं में वस्तुनिष्ठ संभाव्यता के रूप में विषयगत रूप से दिए गए हैं, जिन्हें हमारे शरीर को अपने अहसास के साधन के रूप में उधार लेकर स्वयं को साकार करना होता है। इस प्रकार, क्रोधित व्यक्ति अपने विरोधी के चेहरे पर नाक पर मुक्का खाने की इच्छा का वस्तुनिष्ठ गुण देखता है। इसीलिए हमारे पास “थप्पड़ खाने की खुजली” या “मुसीबत मोल लेना” जैसे भाव हैं। यहाँ हमारा शरीर एक समाधि में लीन माध्यम की तरह है। इसके माध्यम से वस्तुओं की एक निश्चित संभाव्यता का अहसास होना चाहिए (जैसे कि पीने योग्य पेय, सहायता मिलने वाली, खतरनाक जानवर जिसे मारा जाने वाला हो, आदि), और इन सबके बीच उत्पन्न होने वाला चिंतन, 'स्वयं के लिए' के अपने संभाव्यताओं के साथ सत्तात्मक संबंध को एक वस्तु के रूप में समझता है। इस प्रकार, क्रिया चिंतनशील चेतना की आभासी वस्तु के रूप में उभरती है। तब मेरे लिए एक ही समय में और एक ही स्तर पर पियरे और उसके प्रति अपनी मित्रता के प्रति सचेत रहना असंभव है; ये दोनों अस्तित्व 'स्वयं के लिए' की व्यापकता से हमेशा अलग रहते हैं। और यह 'स्वयं के लिए' एक छिपी हुई वास्तविकता है; जिस चेतना पर चिंतन नहीं किया जाता, उसमें 'स्वयं के लिए' केवल अमूर्त रूप से मौजूद होता है, और यह संसार में वस्तु और उसकी संभाव्यताओं के सामने लुप्त हो जाता है। चिंतनशील उत्कर्ष की स्थिति में, 'स्वयं के लिए' उस आभासी वस्तु की ओर अग्रसर हो जाता है जिसे चिंतनशील को होना चाहिए। केवल एक शुद्ध चिंतनशील चेतना ही अपनी वास्तविकता में प्रतिबिंबित 'स्वयं के लिए' का पता लगा सकती है। हम 'मनोविज्ञान' शब्द का प्रयोग इन आभासी और पारलौकिक अस्तित्वों की संगठित समग्रता के लिए करते हैं, जो अशुद्ध चिंतन के लिए एक स्थायी मार्ग बनाते हैं और जो मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का स्वाभाविक विषय हैं।
(3) वस्तुएँ आभासी होते हुए भी अमूर्त नहीं होतीं; चिंतन उन्हें शून्यता में लक्षित नहीं करता; वे स्वयं में ठोस रूप में दी जाती हैं, जिसके परे चिंतन को प्रतिबिंबित होना पड़ता है। हम घृणा, निर्वासन, व्यवस्थित संदेह

की प्रत्यक्ष उपस्थिति के लिए साक्ष्य शब्द का प्रयोग करेंगे। इस उपस्थिति के अस्तित्व को आश्वस्त करने के लिए, हमारे अपने व्यक्तिगत अनुभव के उन मामलों को याद करना पर्याप्त है जब हमने किसी मृत प्रेम या किसी बौद्धिक वातावरण को याद करने का प्रयास किया हो, जिसे हमने पहले अनुभव किया था। ऐसे अवसरों पर हमें स्पष्ट रूप से इन विभिन्न वस्तुओं को शून्यता में लक्षित करने की चेतना थी। हम उनकी विशिष्ट अवधारणाएँ बना सकते थे, उनका साहित्यिक वर्णन करने का प्रयास कर सकते थे, लेकिन हम जानते थे कि वे वहाँ नहीं थीं। इसी प्रकार, जीवित प्रेम के लिए भी ऐसे क्षणिक काल होते हैं जिनके दौरान हम जानते हैं कि हम प्रेम करते हैं लेकिन हम उसे महसूस नहीं करते। इन "हृदय में होने वाले विरामों" का वर्णन प्रॉस्ट ने बहुत अच्छे से किया है। इसके विपरीत, प्रेम को पूर्णता में समझना, उस पर चिंतन करना संभव है। लेकिन इसके लिए स्वयं-परीक्षित चेतना के एक विशेष प्रकार के अस्तित्व की आवश्यकता है। मैं पियरे के प्रति अपनी मित्रता को समझ सकता हूँ, लेकिन यह मेरी सहानुभूति के माध्यम से है, जो इस समय एक चिंतनशील चेतना द्वारा परावर्तित वस्तु बन गई है। संक्षेप में, इन गुणों, इन अवस्थाओं या इन क्रियाओं को उपस्थित करने का एकमात्र तरीका उन्हें उस परावर्तित चेतना के माध्यम से समझना है, जिसका वे वस्तुनिष्ठ रूप हैं, स्वयं-परीक्षित चेतना पर पड़ने वाली छाया हैं।
लेकिन प्रेम को वर्तमान में प्रकट करने की यह संभावना किसी भी तर्क से कहीं बेहतर तरीके से मानसिक चेतना की श्रेष्ठता को सिद्ध करती है। जब मैं अचानक अपने प्रेम को खोजता हूँ, जब मैं उसे देखता हूँ, तो उसी क्षण मुझे यह अहसास होता है कि वह मेरी चेतना के समक्ष उपस्थित है। मैं उसके बारे में अलग-अलग दृष्टिकोण अपना सकता हूँ, उसका मूल्यांकन कर सकता हूँ; मैं उसमें उस प्रकार संलग्न नहीं होता जिस प्रकार चिंतनशील वस्तु पर चिंतन करता है। इसी कारण मैं उसे 'स्वयं के लिए' के स्वरूप से भिन्न पाता हूँ। वह उस परम पारदर्शिता से कहीं अधिक भारी, अधिक अपारदर्शी, अधिक ठोस है। यही कारण है कि अशुद्ध चिंतन की अंतर्ज्ञान को मानसिक जो प्रमाण देता है, वह निश्चित नहीं है। 'स्वयं के लिए' परावर्तित वस्तु के भविष्य, जो मेरी स्वतंत्रता द्वारा निरंतर क्षीण और हल्का होता जा रहा है, और मेरे प्रेम के सघन और भयावह भविष्य के बीच एक विखंडन है, एक ऐसा विखंडन जो उसे प्रेम का अर्थ प्रदान करता है। यदि मैं मानसिक वस्तु में रुके हुए भविष्य वाले प्रेम को न पाता, तो क्या वह फिर भी प्रेम होता? क्या यह सनक की श्रेणी में नहीं आता? और क्या सनक भी भविष्य को इस हद तक प्रभावित नहीं करती कि वह सनक ही बनी रहे और कभी प्रेम में परिवर्तित न हो? इस प्रकार, 'स्वयं के लिए' का सदा शून्य भविष्य, 'स्वयं के लिए' के भीतर 'स्वयं के लिए' के रूप में किसी भी निर्धारण को रोकता है, चाहे वह प्रेम करने वाला हो या घृणा करने वाला; और 'स्वयं के लिए' द्वारा प्रतिबिंबित छाया में स्वाभाविक रूप से एक विकृत भविष्य होता है, जो इसके अर्थ को निर्धारित करने में इसका अभिन्न अंग बनता है। लेकिन प्रतिबिंबित भविष्य के निरंतर शून्य होने के संबंध में, संगठित मानसिक समूह अपने भविष्य के साथ केवल संभाव्य ही रहता है। और हमें इससे

किसी बाहरी गुण को नहीं समझना चाहिए जो मेरे ज्ञान के साथ संबंध से उत्पन्न होता है और जिसे आवश्यकता पड़ने पर निश्चितता में परिवर्तित किया जा सकता है, बल्कि एक तात्विक विशेषता को समझना चाहिए।
(4) स्वयं-स्वयं के प्रतिबिंब से उत्पन्न परछाई होने के कारण, मानसिक वस्तु में चेतना के विकृत रूप होते हैं। विशेष रूप से, यह वहाँ एक अप्राप्त और संभावित समग्रता के रूप में प्रकट होती है जहाँ स्वयं-स्वयं एक निरुत्सीकृत समग्रता की प्रवासी एकता में विद्यमान होता है। इसका अर्थ यह है कि कालिकता के तीन परमानंदमय आयामों में बोधित मानसिक, अतीत, वर्तमान और भविष्य के संश्लेषण से निर्मित प्रतीत होता है। प्रेम, एक उद्यम, इन तीनों आयामों की संगठित एकता है। वास्तव में, यह कहना पर्याप्त नहीं है कि प्रेम का भविष्य "है" मानो भविष्य उस वस्तु से बाह्य हो जिसका वह अभिलक्षण करता है; भविष्य "प्रेम" के प्रवाह के संगठित रूप का एक हिस्सा है, क्योंकि प्रेम को भविष्य में होने के कारण ही प्रेम का अर्थ प्राप्त होता है। परन्तु चूंकि मानसिक वस्तु स्वयं में विद्यमान है, इसलिए उसका वर्तमान पलायन नहीं हो सकता, और न ही उसका भविष्य केवल संभावना हो सकता है। प्रवाह के इन रूपों में अतीत की एक अनिवार्य प्राथमिकता होती है, जो स्वयं के लिए था और जो स्वयं के लिए के स्वयं में परिवर्तन को पूर्वकल्पित करता है। चिंतनशील प्रक्षेप तीन लौकिक आयामों से युक्त एक मानसिक वस्तु प्रस्तुत करता है, लेकिन यह इन तीन आयामों का निर्माण केवल उस चीज़ से करता है जिस पर चिंतन किया गया था। भविष्य पहले से ही मौजूद है; अन्यथा मेरा प्रेम प्रेम कैसे हो सकता है? यह केवल दिया नहीं जाता; यह एक "वर्तमान" है जो अभी तक प्रकट नहीं हुआ है। तब यह उस संभावना के रूप में अपना चरित्र खो देता है जिसे मुझे होना है; मेरा प्रेम, मेरा आनंद उनका भविष्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे सन्निहित उदासीनता में ही हैं, ठीक वैसे ही जैसे यह फाउंटेन पेन एक ही समय में एक पेन और - नीचे - एक ढक्कन है। इसी प्रकार वर्तमान को उसके वास्तविक अस्तित्व के गुण में समझा जाता है। केवल यह अस्तित्व ही वहाँ होने से निर्मित होता है। वर्तमान पहले से ही सिर से पैर तक पूर्णतः निर्मित और सुसज्जित है; यह एक "वर्तमान" है जिसे क्षण एक तैयार पोशाक की तरह लाता और ले जाता है; यह एक ऐसा कार्ड है जो खेल से बाहर आता है और वापस खेल में लौट जाता है। भविष्य से वर्तमान और वर्तमान से अतीत में "अभी" का संक्रमण उसमें कोई परिवर्तन नहीं लाता, क्योंकि चाहे भविष्य हो या न हो, वह अतीत ही है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा अवचेतन मन का सहारा लेकर मन के तीन "अभी" को भेदने के सरल तरीके से स्पष्ट होता है: वे उस "अभी" को वर्तमान कहते हैं जो चेतन मन में उपस्थित होता है। जो भविष्य में चले गए हैं, उनमें भी ठीक यही विशेषताएं होती हैं, लेकिन वे अवचेतन मन की अनिश्चित अवस्था में रहते हैं; और यदि हम उन्हें उस अविभेदित वातावरण में देखें, तो उनमें अतीत और भविष्य में अंतर करना असंभव है। अवचेतन मन में जीवित रहने वाली स्मृति अतीत का "अभी" है और साथ ही, चूंकि यह प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रही है, इसलिए यह भविष्य का "अभी" भी है। इस प्रकार, मानसिक रूप अस्तित्व में नहीं है; यह पहले से ही बना हुआ है; यह पहले से ही पूर्ण है, अतीत,

मलाई से धुंधली कॉफी के कप की तरह समझते हैं, अंतर्प्रवेश स्पष्ट हो जाता है। यह तुलना थोड़ी अटपटी है। फिर भी, यह निश्चित है कि प्रेममय मित्रता को मित्रता के एक सरल उदाहरण के रूप में नहीं दिया गया है, जैसे समद्विबाहु त्रिभुज को त्रिभुज के उदाहरण के रूप में दिया जाता है। मित्रता को पूर्ण प्रेम से परिपूर्ण बताया गया है, फिर भी यह प्रेम नहीं है; यह स्वयं को प्रेम नहीं बनाती, क्योंकि ऐसा करने पर मित्रता के रूप में इसकी स्वायत्तता समाप्त हो जाएगी। लेकिन यह स्वयं को एक निष्क्रिय वस्तु के रूप में स्थापित करता है जिसे भाषा शायद ही नाम दे सकती है, जहाँ प्रेम, स्वायत्त और स्वयं में, जादुई रूप से सभी मित्रता में उसी प्रकार विस्तारित होता है जैसे स्टोइक दर्शन में पैर पूरे समुद्र में फैला होता है।
लेकिन मानसिक प्रक्रियाओं में पूर्ववर्ती रूपों की परवर्ती रूपों पर दूरस्थ क्रिया भी निहित होती है। हम इस दूरस्थ क्रिया की कल्पना सरल कार्य-कारणता के उस तरीके से नहीं कर सकते जो उदाहरण के लिए शास्त्रीय यांत्रिकी में पाया जाता है, जो क्षण में समाहित एक गतिशील पिंड के पूर्णतः निष्क्रिय अस्तित्व को मानता है। न ही हम जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा परिकल्पित भौतिक कार्य-कारणता के उस तरीके को स्वीकार कर सकते हैं, जो दो अवस्थाओं के निरंतर और बिना शर्त अनुक्रम द्वारा परिभाषित है, जहाँ प्रत्येक का अस्तित्व दूसरे से अनन्य है। चूँकि मानसिक स्वयं के लिए वस्तुनिष्ठता है, इसलिए इसमें एक निम्न स्तर की सहजता होती है जिसे मानसिक रूप के आंतरिक, प्रदत्त गुण के रूप में समझा जाता है और जो इसके संसंजक बल से अविभाज्य है। अतः इस सहजता को पूर्ववर्ती रूप द्वारा उत्पन्न के रूप में सख्ती से नहीं दिया जा सकता। लेकिन दूसरी ओर, न ही सहजता स्वयं को अस्तित्व में निर्धारित कर सकती है क्योंकि इसे केवल एक दिए गए अस्तित्व के अन्य निर्धारणों में से एक के रूप में ही समझा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ववर्ती रूप को दूर से उसी प्रकृति के एक रूप को जन्म देना होता है, जो प्रवाह के रूप में स्वतः संगठित होता है। हम यहाँ ऐसे अस्तित्व की बात नहीं कर रहे हैं जिसका अपना भविष्य और अतीत हो, बल्कि केवल अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूपों के अनुक्रमों की बात कर रहे हैं जो सभी "होने" की अवस्था में विद्यमान हैं और जो दूर से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह प्रभाव या तो अंतर्प्रवेश द्वारा या प्रेरणा द्वारा प्रकट होगा। यदि अंतर्प्रवेश द्वारा होता है, तो चिंतनशील व्यक्ति दो मानसिक वस्तुओं को एक ही वस्तु के रूप में ग्रहण करता है जो पहले अलग-अलग दी गई थीं। परिणाम एक नई मानसिक वस्तु है, जिसकी प्रत्येक विशेषता पूर्ववर्ती दो का संश्लेषण होगी, यद्यपि यह वस्तु स्वयं में बोधगम्य नहीं है और स्वयं को एक साथ पूर्णतः एक और पूर्णतः दूसरे के रूप में प्रकट करती है, बिना किसी परिवर्तन के। इसके विपरीत, प्रेरणा में, दोनों वस्तुएँ अपने-अपने स्थान पर बनी रहती हैं। लेकिन चूंकि एक मानसिक वस्तु एक संगठित रूप और अंतर्प्रवेश की बहुलता है, इसलिए यह केवल एक पूर्ण वस्तु के रूप में दूसरी पूर्ण वस्तु पर एक साथ कार्य कर सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक का

दूसरे पर जादुई प्रभाव पड़ता है और इस तरह दूर से ही क्रियाशील क्रिया होती है। उदाहरण के लिए, कल की मेरी बेइज्जती आज सुबह मेरे मूड का पूरा कारण है, इत्यादि।
यह तथ्य कि दूर से होने वाली यह क्रिया पूरी तरह से जादुई और अतार्किक है, किसी भी विश्लेषण से बेहतर यह साबित करता है कि बौद्धिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा मानसिक स्तर पर बने रहने और फिर भी बौद्धिक विश्लेषण के माध्यम से इस क्रिया को एक बोधगम्य कार्य-कारण से जोड़ने के प्रयास व्यर्थ हैं। इस प्रकार, प्रॉस्ट बौद्धिक भेदों के माध्यम से इन मानसिक अवस्थाओं के लौकिक अनुक्रम में लगातार तर्कसंगत कार्य-कारण संबंध खोजने का प्रयास करते हैं। लेकिन विश्लेषण के अंत में वे हमें केवल निम्नलिखित जैसे परिणाम ही दे सकते हैं:
जैसे ही स्वान ओडेट की छवि को बिना किसी घृणा के अपने मन में संजो सका, जैसे ही उसने उसकी मुस्कान की दयालुता को फिर से याद किया, और जैसे ही उसे सबसे दूर ले जाने की इच्छा में ईर्ष्या का भाव समाप्त हो गया, उसका प्रेम फिर से ओडेट के व्यक्तित्व से मिलने वाली संवेदनाओं के प्रति एक रुचि में बदल गया, उस आनंद में जो उसे उसकी निगाहों के उठने, उसकी मुस्कान के बनने, उसकी आवाज के किसी स्वर को एक दृश्य के रूप में निहारने या एक घटना के रूप में उस पर सवाल उठाने में मिलता था। और यह आनंद, जो अन्य सभी आनंदों से भिन्न था, अंततः उसके भीतर ओडेट की एक आवश्यकता पैदा कर दी, जिसे केवल वह अपनी उपस्थिति या अपने पत्रों से ही शांत कर सकती थी... इस प्रकार, अपनी पीड़ा की रासायनिक प्रक्रिया से, अपने प्रेम से ईर्ष्या उत्पन्न करने के बाद, उसने ओडेट के लिए कोमलता और दया का भाव उत्पन्न करना शुरू कर दिया। यह अंश स्पष्ट रूप से मानसिक पहलुओं से संबंधित है। हम यहाँ ऐसी भावनाओं को देखते हैं जो स्वभाव से ही व्यक्तिगत और पृथक हैं, और एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं। लेकिन प्रॉस्ट इन भावनाओं की क्रियाविधि को स्पष्ट करने और उन्हें वर्गीकृत करने का प्रयास कर रहे हैं, ताकि वे स्वान द्वारा अनुभव किए जाने वाले उतार-चढ़ावों को समझा सकें। प्रॉस्ट केवल अपने द्वारा निकाले गए निष्कर्षों (जैसे, घृणा से भरी ईर्ष्या से कोमल प्रेम में "उतार-चढ़ाव" के माध्यम से परिवर्तन) का वर्णन करने तक ही सीमित नहीं रहते; वे इन निष्कर्षों की व्याख्या करना चाहते हैं।
इस विश्लेषण के क्या परिणाम निकलते हैं? क्या मानसिक जटिलता दूर हो जाती है? यह आसानी से देखा जा सकता है कि इसके विपरीत, महान मानसिक रूपों को सरल तत्वों में इस मनमाने ढंग से कम करने से उन अंतर्संबंधों की जादुई अतार्किकता और भी बढ़ जाती है जिन्हें मानसिक वस्तुएँ सहारा देती हैं। ईर्ष्या प्रेम में "उसे सबसे दूर ले जाने की इच्छा" कैसे जोड़ती है? और प्रेम में एक बार जुड़ जाने के बाद यह इच्छा (हमेशा कॉफी में "मिलाई गई" मलाई के बादल की छवि) इसे फिर से "ओडेट के व्यक्तित्व द्वारा दिए गए संवेदनाओं के प्रति रुचि" बनने से कैसे रोकती है? और सुख कैसे आवश्यकता उत्पन्न कर सकता है? और प्रेम उस ईर्ष्या को कैसे उत्पन्न करता है जो बदले में प्रेम में ओडेट को सबसे दूर ले जाने की इच्छा को जोड़ती है? और इस

[illegible]

[1] [illegible]. [illegible], 1936.

[2] “[illegible]” [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] “[illegible]” [illegible] [illegible] Tr.

[4] [illegible], [illegible] [illegible] Tr.

[5] [illegible] "[illegible]-[illegible]" [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] Tr.

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "[illegible]-[illegible]", [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]" [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[7] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] Tr.

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "reflection" [illegible] [illegible] [illegible]-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "reflection-reflecting" [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] reflet-reflétant [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "reflection" [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

करने के लिए मैं अंग्रेजी अभिव्यक्ति "reflect-on" का उपयोग कर रहा हूँ जहाँ मानसिक क्रिया शामिल है। "Reflective" भी चिंतन की मानसिक प्रक्रिया को इंगित करता है।
फ़्रेंच में लिखा है "के रूप के बिना," जिसका कोई अर्थ नहीं है और यह निश्चित रूप से एक गलत मुद्रण है।
यहां हमें फिर से वही "समान का स्वयं से विभाजन" देखने को मिलता है जिसे हेगेल चेतना का विशिष्ट लक्षण बताते हैं। लेकिन यह विभाजन, जैसा कि 'मन की घटना विज्ञान' में है, उच्चतर एकीकरण की ओर ले जाने के बजाय, चेतना को स्वयं से अलग करने वाले शून्यता को और भी गहरा और अपूरणीय बना देता है। चेतना हेगेलियन है, लेकिन यह हेगेल का सबसे बड़ा भ्रम है।
11 यानी, स्वयं को इतिहास में स्थापित करना या स्वयं को इतिहास बनाना। सार्त्र ने s’historialise का प्रयोग किया है, जिसका फ्रेंच से वही संबंध है जो “historicizes itself” का अंग्रेजी से है। Tr.
12 एत्रे-पोर। फ्रेंच में पोर का अर्थ या तो 'के लिए' या 'के लिए' हो सकता है, और ये दोनों ही अर्थ एत्रे-पोर में निहित हैं। Tr.
यहां दिए गए फ्रांसीसी भावों का अंग्रेजी में कोई सटीक पर्याय नहीं है। “Tête à gifles” का अर्थ है “थप्पड़ खाने वाला सिर”; “menton qui attire les coups” का अर्थ है “ठोड़ी जो मार को आकर्षित करती है।” किंग लियर में गोनेरिल का ताना:
“डरपोक आदमी! जो मार खाने के लिए गाल आगे कर देता है, और अन्याय के लिए सिर झुका लेता है।”
(IV.ii) ट्र.
सार्त्र के अनुवाद के लिए सुधार।
15 डु कोटे डे चेज़ स्वान, 37e संस्करण, II, पृष्ठ. 82. मेरे इटैलिक.

अध्याय तीन

श्रेष्ठता
स्वयं के लिए की यथासंभव पूर्ण व्याख्या प्राप्त करने के लिए हमने नकारात्मक दृष्टिकोणों की जाँच को मार्गदर्शक सूत्र के रूप में चुना। जैसा कि हमने देखा है, वे सभी प्रश्न जो हम पूछ सकते हैं और उनके उत्तर जो दिए जा सकते हैं, हमारे बाहर और भीतर, अस्तित्वहीनता की स्थायी संभावना से बद्ध हैं। हालाँकि, हमारा मूल लक्ष्य केवल स्वयं के लिए की नकारात्मक संरचनाओं की खोज करना नहीं था। प्रस्तावना में हमें एक समस्या का सामना करना पड़ा, और यही वह समस्या है जिसे हम हल करना चाहते थे: मानव वास्तविकता का घटनाओं के अस्तित्व या स्वयं-अस्तित्व से मूल संबंध क्या है? वास्तव में प्रस्तावना में हमें यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों समाधानों को अस्वीकार करना पड़ा। हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि पारलौकिक अस्तित्व चेतना पर कार्य नहीं कर सकता और चेतना अपनी व्यक्तिपरकता से उधार लिए गए तत्वों को वस्तुनिष्ठ बनाकर पारलौकिक का "निर्माण" नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप, हमने निष्कर्ष निकाला कि अस्तित्व से मूल संबंध एक बाह्य संबंध नहीं हो सकता जो मूल रूप से पृथक दो पदार्थों को एकजुट करे। हमने कहा, “अस्तित्व के क्षेत्रों का संबंध एक आदिम उभार है, और यह इन प्राणियों की संरचना का एक अभिन्न अंग है।” ठोस रूप हमें एक संश्लेषित समग्रता के रूप में प्रकट होता है, जिसमें चेतना, घटना की तरह, केवल अभिव्यक्तियों का निर्माण करती है। लेकिन यद्यपि एक अर्थ में, पृथक चेतना एक अमूर्त अवधारणा है, और यद्यपि घटनाएँ—यहाँ तक कि अस्तित्व की घटना भी—इसी प्रकार अमूर्त हैं क्योंकि वे चेतना के प्रकट हुए बिना घटनाओं के रूप में विद्यमान नहीं हो सकतीं, फिर भी घटनाओं का अस्तित्व, जो अपने आप में एक ऐसी सत्ता है जो वह है, उसे अमूर्त अवधारणा नहीं माना जा सकता। अस्तित्व में रहने के लिए, उसे केवल स्वयं की आवश्यकता होती है; वह केवल स्वयं को संदर्भित करती है। दूसरी ओर, स्व-संबंधी के हमारे वर्णन ने हमें दिखाया है कि यह इसके विपरीत, पदार्थ और स्व-संबंधी से यथासंभव दूर है; हमने देखा है कि यह स्वयं का शून्य है और यह केवल अपने परमानंद की सत्तात्मक एकता में ही विद्यमान हो सकता है। इसलिए, यद्यपि स्व-संबंधी का स्व-संबंधी से संबंध मूल रूप से उस सत्ता का निर्माण करता है जो इस संबंध में निहित है, हमें यह नहीं समझना चाहिए कि यह संबंध स्व-संबंधी का निर्माण करता है, बल्कि स्व-संबंधी का निर्माण करता है। केवल स्व-संबंधी में ही हमें उस सत्ता के संबंध की कुंजी खोजनी चाहिए जिसे हम, उदाहरण के लिए, ज्ञान कहते हैं। स्वयं-संबंधी चेतना अपने अस्तित्व में ही अपने अंतर्मन से संबंध के लिए उत्तरदायी है, या दूसरे शब्दों में कहें तो, यह अंतर्मन से संबंध के आधार पर ही मूल रूप से उत्पन्न होती है। हमने चेतना को इस प्रकार परिभाषित करते समय यही अनुमान लगाया था कि “एक ऐसा अस्तित्व जिसके अस्तित्व में ही उसका अस्तित्व प्रश्नचिह्नित हो जाता है, क्योंकि यह अस्तित्व स्वयं से भिन्न किसी अन्य अस्तित्व को भी दर्शाता है।” लेकिन इस परिभाषा को प्रतिपादित करने के बाद हमने नया ज्ञान प्राप्त

किया है। विशेष रूप से हमने स्वयं-संबंधी चेतना के गहन अर्थ को उसके स्वयं के शून्यत्व के आधार के रूप में समझा है। क्या अब समय नहीं आ गया है कि हम इस ज्ञान का उपयोग स्वयं-संबंधी चेतना और अंतर्मन के उस परमानंदमय संबंध को निर्धारित और स्पष्ट करने के लिए करें, जिसके आधार पर सामान्य रूप से जानना और कार्य करना संभव हो पाता है? क्या अब हम अपने मूल प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति में नहीं हैं? जैसा कि हमने देखा है, गैर-थेटिक आत्म-चेतना होने के लिए चेतना को किसी न किसी की थेटिक चेतना होना आवश्यक है। लेकिन अब तक हमने जो अध्ययन किया है, वह गैर-थेटिक आत्म-चेतना के मूल अस्तित्व के रूप में स्वयं-संबंधी चेतना का है। इसलिए क्या हम स्वयं-संबंधों और स्वयं- परमत्व के बीच के संबंधों का वर्णन करने के लिए बाध्य नहीं हैं, क्योंकि ये संबंध स्वयं-संबंधों के अस्तित्व का मूलभूत आधार हैं? क्या हम वर्तमान में निम्नलिखित प्रकार के प्रश्नों के उत्तर नहीं खोज सकते: चूंकि स्वयं- परमत्व वही है जो वह है, तो स्वयं-संबंधों का अस्तित्व स्वयं-परमत्व का ज्ञान क्यों और कैसे होना चाहिए? और सामान्यतः ज्ञान क्या है?
I. स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच संबंध के एक प्रकार के रूप में ज्ञान केवल सहज ज्ञान ही होता है। तर्क-वितर्क और तार्किक बहस, जिन्हें गलत तरीके से ज्ञान के उदाहरण कहा जाता है, केवल वे साधन हैं जो सहज ज्ञान तक ले जाते हैं। जब सहज ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो उसे प्राप्त करने के लिए उपयोग की गई विधियाँ उसके सामने मिट जाती हैं; यदि वह प्राप्त न हो, तो तर्क और बहस संकेत के रूप में बने रहते हैं जो पहुँच से परे सहज ज्ञान की ओर इशारा करते हैं; अंत में, यदि वह प्राप्त हो गया है लेकिन मेरी चेतना का वर्तमान स्वरूप नहीं है, तो मेरे द्वारा उपयोग किए जाने वाले नियम पूर्व में किए गए कार्यों के परिणाम के रूप में बने रहते हैं, जैसे कि डेसकार्टेस ने जिन्हें "विचारों की स्मृतियाँ" कहा था। यदि कोई सहज ज्ञान की परिभाषा पूछे, तो हुसर्ल, अधिकांश दार्शनिकों से सहमत होते हुए, उत्तर देंगे कि यह चेतना के समक्ष वस्तु (साचे) की "वास्तविक उपस्थिति" है। इसलिए ज्ञान उस प्रकार का अस्तित्व है जिसका वर्णन हमने पिछले अध्याय में "—— के प्रति उपस्थिति" शीर्षक के अंतर्गत किया था। लेकिन हमने यह स्थापित किया है कि स्वयं में कभी भी उपस्थिति नहीं हो सकती। वास्तव में, उपस्थित होना स्वयं के लिए अस्तित्व का एक परमानंदमय स्वरूप है। तब हमें अपनी परिभाषा के शब्दों को उलटना पड़ता है: अंतर्ज्ञान किसी वस्तु के प्रति चेतना की उपस्थिति है। इसलिए अब हमें अस्तित्व के प्रति इस स्व-स्वयं उपस्थिति की प्रकृति और अर्थ की समस्या पर लौटना होगा।
प्रस्तावना में, अभी तक पूरी तरह से स्पष्ट न हुई "चेतना" की अवधारणा का उपयोग करते हुए, हमने चेतना के लिए किसी न किसी चीज़ की चेतना होना आवश्यक बताया है। वास्तव में, जिसके प्रति चेतना सचेत होती है, उसी के माध्यम से चेतना स्वयं को अपनी दृष्टि में अलग करती है और आत्म-चेतना बन सकती है; जो चेतना किसी चीज़ की चेतना न हो, वह किसी चीज़ की चेतना न होकर शून्यता होगी। लेकिन अभी हमने चेतना या स्वयं-अस्तित्व के तात्विक अर्थ को स्पष्ट किया है। इसलिए हम इस समस्या को अधिक सटीक शब्दों में प्रस्तुत कर सकते

हैं और पूछ सकते हैं: जब हम कहते हैं कि चेतना के लिए किसी चीज़ की चेतना होना आवश्यक है—तो तात्विक स्तर पर, अर्थात् स्वयं-अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में—हमारा क्या तात्पर्य है?
हम जानते हैं कि 'स्वयं' अपने ही शून्यता का आधार है, जो प्रेत-प्रतिबिंब-प्रतिबिंब के रूप में प्रकट होता है। प्रतिबिंब केवल प्रतिबिंब को प्रतिबिंबित करने के लिए विद्यमान है, और प्रतिबिंब केवल तभी प्रतिबिंब है जब वह प्रतिबिंब को संदर्भित करता है। इस प्रकार, द्वैत में वर्णित दोनों पद एक दूसरे की ओर इशारा करते हैं, और प्रत्येक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व में समाहित होता है। लेकिन यदि प्रतिबिंब इस प्रतिबिंब के प्रतिबिंब के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, और यदि प्रतिबिंब को केवल "इस प्रतिबिंब में प्रतिबिंबित होने के लिए अस्तित्व" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, तो अर्ध-द्वैत के दोनों पद एक दूसरे पर अपनी दो शून्यताओं का समर्थन करते हैं, और संयुक्त रूप से स्वयं को नष्ट कर देते हैं। यह आवश्यक है कि प्रतिबिंब कुछ प्रतिबिंबित करे ताकि संपूर्ण अस्तित्व शून्य में विलीन न हो जाए। लेकिन यदि प्रतिबिंब, दूसरी ओर, अपने प्रतिबिंबित होने के लिए अस्तित्व से स्वतंत्र कुछ होता, तो उसे अनिवार्य रूप से प्रतिबिंब नहीं बल्कि 'स्वयं' के रूप में परिभाषित किया जाता। इससे "प्रतिबिंब-प्रतिबिंबित" प्रणाली में अस्पष्टता आ जाएगी और इससे भी बढ़कर, सुझाई गई विच्छेदनशीलता पूरी हो जाएगी। क्योंकि स्वयं के लिए ही प्रतिबिंब, प्रतिबिंब ही प्रतिबिंब है। लेकिन यदि प्रतिबिंब को परिभाषित किया जाए, तो वह प्रतिबिंब से अलग हो जाता है और उसका स्वरूप उसकी वास्तविकता से अलग हो जाता है; चिंतन असंभव हो जाता है। प्रतिबिंब एक ही समय में "प्रतिबिंबित होने योग्य वस्तु" और कुछ भी नहीं हो सकता है, लेकिन केवल तभी जब वह स्वयं को अपने से भिन्न किसी वस्तु द्वारा परिभाषित करे या, यदि आप चाहें, तो यदि वह किसी ऐसे बाहरी तत्व के साथ संबंध के रूप में प्रतिबिंबित हो जो वह स्वयं नहीं है।
चिंतन करने वाले के लिए चिंतन को परिभाषित करने वाला तत्व हमेशा वही होता है जिसके प्रति वह उपस्थिति है। यहाँ तक कि बिना चिंतन के अनुभव किया गया आनंद भी, खुशहाल दृष्टिकोणों से भरे एक हंसमुख और खुले संसार में केवल "प्रतिबिंबित" उपस्थिति है। लेकिन पिछले कुछ टिप्पणियों से हमें पहले ही पता चल चुका है कि अस्तित्वहीनता उपस्थिति की एक आवश्यक संरचना है। उपस्थिति उस चीज़ के प्रति एक मौलिक निषेध को समाहित करती है जो व्यक्ति नहीं है। जो मेरे लिए उपस्थित है वह मैं नहीं हूँ। हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि यह "अस्तित्वहीनता" ज्ञान के प्रत्येक सिद्धांत में पूर्व-सिद्ध रूप से निहित है। किसी वस्तु की अवधारणा का निर्माण करना असंभव है यदि हमारे पास मूल रूप से एक नकारात्मक संबंध न हो जो वस्तु को चेतना से इतर के रूप में दर्शाता हो। इसी कारण "अहंहीनता" अभिव्यक्ति का प्रयोग करना आसान हो गया, जो एक समय प्रचलन में थी, हालाँकि इसका प्रयोग करने वालों में उस "नहीं" को स्थापित करने की थोड़ी सी भी चिंता नहीं देखी जा सकती थी जो मूल रूप से बाहरी दुनिया को परिभाषित करती थी। वास्तव में, न तो प्रतिनिधित्व

बंधन के रूप में प्रकट होता है जो किसी साक्षी द्वारा दो प्राणियों के बीच स्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिए, जब मैं कहता हूँ, "एक प्याला स्याही की दवात नहीं है," तो यह स्पष्ट है कि इस निषेध का आधार न तो प्याले में है और न ही स्याही की दवात में। ये दोनों वस्तुएँ जैसी हैं वैसी ही हैं, और बस इतना ही। निषेध एक श्रेणीबद्ध और आदर्श संबंध के रूप में है जिसे मैं उनके बीच बिना किसी भी प्रकार से उन्हें संशोधित किए, बिना उन्हें किसी भी गुण से समृद्ध या अपंग किए स्थापित करता हूँ; इस नकारात्मक संश्लेषण से उन पर जरा सा भी प्रभाव नहीं पड़ता। चूंकि यह न तो उन्हें समृद्ध करता है और न ही उनका निर्माण करता है, इसलिए यह पूरी तरह से बाह्य रहता है। लेकिन हम दूसरे प्रकार के निषेध का अर्थ पहले से ही समझ सकते हैं यदि हम "मैं अमीर नहीं हूँ" या "मैं सुंदर नहीं हूँ" जैसे भावों पर विचार करें। कुछ उदासी भरे लहजे में बोले गए इन शब्दों का अर्थ केवल यह नहीं है कि वक्ता को किसी विशेष गुण से वंचित किया गया है, बल्कि यह है कि यह वंचित होना उस सकारात्मक व्यक्तित्व की आंतरिक संरचना को प्रभावित करता है जिसे वह गुण नहीं मिला है। जब मैं कहता हूँ, "मैं सुंदर नहीं हूँ," तो मैं केवल स्वयं को पूर्णतः मूर्त रूप में लेते हुए किसी ऐसे गुण से वंचित नहीं करता जो इस तथ्य के कारण लुप्त हो जाता है जबकि मेरा सकारात्मक व्यक्तित्व बरकरार रहता है (जैसे जब मैं कहता हूँ, "फूलदान सफेद नहीं है, वह धूसर है"—"स्याही की दवात मेज पर नहीं है, वह शेल्फ पर है")। मेरा तात्पर्य यह इंगित करना है कि "सुंदर न होना" मेरे व्यक्तित्व का एक नकारात्मक गुण है। यह मेरे भीतर की विशेषता है; नकारात्मक होने के कारण यह मेरा एक वास्तविक गुण है—सुंदर न होना—और यह नकारात्मक गुण मेरी उदासी के साथ-साथ, उदाहरण के लिए, दुनिया में मेरी असफलताओं की भी व्याख्या करता है।
आंतरिक निषेध से हमारा तात्पर्य दो प्राणियों के बीच ऐसे संबंध से है जिसमें एक को दूसरे से वंचित किया जाता है, और यही निषेध दूसरे को उसके सार के मूल में – अनुपस्थिति के द्वारा – परिभाषित करता है। निषेध तब एक आवश्यक अस्तित्व का बंधन बन जाता है, क्योंकि जिन प्राणियों पर यह निर्भर करता है उनमें से कम से कम एक ऐसा होता है जो दूसरे की ओर इंगित करता है, जो दूसरे को अपने हृदय में अनुपस्थिति के रूप में धारण करता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का निषेध स्वयं-अस्तित्व पर लागू नहीं किया जा सकता। स्वभावतः यह स्वयं-के-लिए से संबंधित है। केवल स्वयं-के-लिए को ही उसके अस्तित्व में एक ऐसे अस्तित्व द्वारा निर्धारित किया जा सकता है जो वह नहीं है। और यदि आंतरिक निषेध संसार में प्रकट हो सकता है – जैसे जब हम किसी मोती के बारे में कहते हैं कि वह नकली है, किसी फल के बारे में कहते हैं कि वह पका नहीं है, किसी अंडे के बारे में कहते हैं कि वह ताजा नहीं है, आदि – तो यह स्वयं-के-लिए द्वारा ही संसार में आता है – सामान्य निषेध की तरह। ज्ञान केवल स्वयं-के-लिए से संबंधित है, क्योंकि केवल स्वयं-के-लिए ही स्वयं को उस रूप में प्रकट कर सकता है जो वह जानता है। और चूंकि यहां दिखावट और अस्तित्व एक ही हैं—क्योंकि स्वयं के लिए ही उसकी दिखावट होनी चाहिए—इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि स्वयं के लिए अपने

है; इन्हीं से उसे अपनी ऋणात्मक शक्ति प्राप्त होती है और वह इसे निरंतर नवीनीकृत करता रहता है। इस अर्थ में, खंडन किए गए गुणों को स्व-स्वयं अस्तित्व के एक मूलभूत कारक के रूप में देखना आवश्यक है, क्योंकि स्व-स्वयं अस्तित्व को स्वयं से बाहर, उन पर विद्यमान होना चाहिए; उसे 'वे' होना चाहिए ताकि वह यह खंडन कर सके कि वह 'वे' है। संक्षेप में, आंतरिक निषेध का मूल बिंदु 'स्वयं में' है, वह वस्तु जो विद्यमान है, और इसके बाहर शून्यता के सिवा कुछ भी नहीं है, एक ऐसी शून्यता जो वस्तु से केवल एक शुद्ध निषेध द्वारा भिन्न होती है, जिसके लिए यह वस्तु स्वयं विषयवस्तु प्रदान करती है। भौतिकवाद को वस्तु से ज्ञान प्राप्त करने में जो कठिनाई आती है, उसका कारण यह है कि भौतिकवाद एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के संदर्भ में उत्पन्न करना चाहता है। लेकिन यह कठिनाई हमें रोक नहीं सकती, क्योंकि हम यह मानते हैं कि स्वयं-स्वयं के बाहर कुछ भी नहीं है सिवाय उस शून्यता के प्रतिबिंब (रिफ्लेक्ट) के, जो स्वयं स्वयं-स्वयं द्वारा ध्रुवीकृत और परिभाषित है, क्योंकि यह ठीक उसी स्वयं-स्वयं की शून्यता है, वह वैयक्तिक शून्यता जो केवल इसलिए शून्य है क्योंकि वह स्वयं-स्वयं नहीं है। इस प्रकार, इस परमानंदमय संबंध में, जो आंतरिक निषेध और ज्ञान का निर्माण करता है, स्वयं- स्वयं "व्यक्तिगत रूप से" ही अपनी पूर्णता में ठोस ध्रुव है, और स्वयं के लिए वह शून्यता है जिसमें स्वयं-स्वयं विरक्त है।
स्वयं के लिए स्वयं में ही स्वयं से परे है, क्योंकि यह स्वयं को उस चीज़ से परिभाषित करता है जो यह नहीं है; इसलिए स्वयं में और स्वयं के लिए के बीच पहला बंधन अस्तित्व का बंधन है। लेकिन यह बंधन न तो अभाव है और न ही अनुपस्थिति। अनुपस्थिति की स्थिति में, मैं स्वयं को एक ऐसे अस्तित्व द्वारा निर्धारित करता हूँ जो मैं नहीं हूँ और जो अस्तित्व में नहीं है या जो वहाँ नहीं है; अर्थात्, जो मुझे निर्धारित करता है वह मेरे अनुभवजन्य परिपूर्णता के मध्य में एक खोखलेपन के समान है। दूसरी ओर, ज्ञान में, जिसे सत्तात्मक अस्तित्व के बंधन के रूप में लिया जाता है, वह अस्तित्व जो मैं नहीं हूँ, स्वयं में की परम परिपूर्णता का प्रतिनिधित्व करता है। और मैं, इसके विपरीत, शून्यता हूँ, वह अनुपस्थिति हूँ जो इस परिपूर्णता के दृष्टिकोण से अस्तित्व में स्वयं को निर्धारित करती है। इसका अर्थ यह है कि उस प्रकार के अस्तित्व में जिसे हम जानना कहते हैं, एकमात्र अस्तित्व जिसका सामना किया जा सकता है और जो शाश्वत रूप से विद्यमान है, वह ज्ञात है। ज्ञाता सड़ांध है; वह बोधगम्य नहीं है। वह उस तत्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो ज्ञात के अस्तित्व को, उसकी उपस्थिति को, साकार करता है— क्योंकि ज्ञात स्वयं न तो उपस्थित है और न ही अनुपस्थित, वह बस विद्यमान है। परन्तु ज्ञात की यह उपस्थिति किसी भी चीज़ के लिए उपस्थिति नहीं है, क्योंकि ज्ञातकर्ता एक निराकार का शुद्ध प्रतिबिंब है; तब यह उपस्थिति ज्ञात ज्ञात के पूर्ण पारदर्शी स्वरूप में प्रकट होती है, एक परम उपस्थिति।
इस मूल संबंध का मनोवैज्ञानिक और अनुभवजन्य उदाहरण हमें मोह के संदर्भ में मिलता है। मोह, जो जानने की तात्कालिक वास्तविकता को दर्शाता है, में

प्रकटीकरण, स्वयं के लिए अस्तित्व में शुद्ध नकारात्मकता के रूप में एक सत्तात्मक निर्धारण का प्रतिरूप है।
उदाहरण के लिए, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, अस्तित्व की स्थानिकता का प्रकटीकरण स्वयं के द्वारा स्वयं को अविस्तारित रूप में गैर-स्थितीय रूप से बोध करने के साथ एक है। और स्वयं के लिए का अविस्तारित चरित्र आध्यात्मिकता का कोई सकारात्मक, रहस्यमय गुण नहीं है जो नकारात्मक नाम के अंतर्गत छिपा हो; यह एक स्वाभाविक परमानंदमय संबंध है, क्योंकि स्वयं के भीतर पारलौकिक के विस्तार के द्वारा और उसमें ही स्वयं के लिए स्वयं स्वयं को ज्ञात कराता है और अपने अविस्तारित होने का अहसास करता है। स्वयं के लिए पहले अविस्तारित नहीं हो सकता ताकि बाद में किसी विस्तारित सत्ता के साथ संबंध स्थापित कर सके, क्योंकि चाहे हम इसे किसी भी तरह से देखें, अविस्तारित की अवधारणा अपने आप में अर्थहीन है; यह विस्तारित का निषेध मात्र है। यदि हम स्वयं के भीतर के प्रकट निर्धारणों के विस्तार को दबा सकें—एक असंभव कल्पना करें—तो स्वयं के लिए स्थानिक नहीं रहेगा; यह न तो विस्तारित होगा और न ही अविस्तारित, और विस्तार के संदर्भ में इसे किसी भी प्रकार से परिभाषित नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में विस्तार एक पारलौकिक निर्धारण है जिसे स्वयं के लिए को ठीक उसी हद तक समझना होता है जिस हद तक वह स्वयं को विस्तारित होने से नकारता है। इसीलिए ज्ञान और अस्तित्व के बीच इस आंतरिक संबंध को सबसे उपयुक्त रूप से दर्शाने वाला शब्द 'अनुभूति' है, जिसका प्रयोग हमने पहले इसके दोहरे तात्विक और ज्ञानी अर्थ में किया था। मैं किसी परियोजना को तभी साकार करता हूँ जब मैं उसे अस्तित्व देता हूँ, लेकिन मैं अपनी स्थिति को भी तभी साकार करता हूँ जब मैं उसे जीता हूँ और उसे अपने अस्तित्व के साथ जोड़ता हूँ। मैं किसी आपदा के दायरे, किसी कार्य की कठिनाई को 'अनुभूत' करता हूँ। जानना, शब्द के दोनों अर्थों में साकार करना है। यह अस्तित्व को 'वहाँ मौजूद' बनाना है, जबकि स्वयं उस अस्तित्व का प्रतिबिंबित निषेध होना भी आवश्यक है। वास्तविकता ही अहसास है। हम पारलौकिकता को उस आंतरिक और साकार निषेध के रूप में परिभाषित करेंगे जो स्वयं के लिए के अस्तित्व को निर्धारित करते हुए स्वयं में प्रकट करता है।
II. निषेध के रूप में निर्धारण स्वयं-स्वरूप उपस्थिति किस सत्ता के लिए है? आइए हम तुरंत ध्यान दें कि प्रश्न का सही ढंग से निरूपण नहीं किया गया है। सत्ता वही है जो वह है; वह स्वयं में "यह एक" का निर्धारण नहीं कर सकती जिससे "कौन सा?" प्रश्न का उत्तर दिया जा सके। संक्षेप में, प्रश्न का अर्थ तभी है जब उसे किसी संसार में रखा जाए। परिणामस्वरूप, स्वयं-स्वरूप उपस्थिति इस सत्ता के लिए उपस्थित नहीं हो सकती, बल्कि उस सत्ता के लिए उपस्थित हो सकती है, क्योंकि स्वयं-स्वरूप उपस्थिति ही "यह" के अस्तित्व का कारण है, न कि "वह"। हालाँकि, हमारे उदाहरणों ने हमें दिखाया है कि स्वयं-स्वरूप उपस्थिति ठोस रूप से यह अस्वीकार करती है कि वह एक विशिष्ट सत्ता है। यह स्थिति इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि हमने ज्ञान के संबंध का वर्णन उसकी नकारात्मकता की

अस्तित्व उसके समक्ष उस सर्वस्व के रूप में खड़ा होता है जो स्वयं-स्वयं अस्तित्व नहीं है। वास्तव में, मूल निषेध एक मौलिक निषेध है। स्वयं-स्वयं अस्तित्व के समक्ष अपनी समग्रता के रूप में खड़ा होता है, वह स्वयं निषेध का संपूर्ण है और इसलिए संपूर्ण का निषेध है। इस प्रकार, विश्व की प्राप्त समग्रता उस अप्राप्त समग्रता के अस्तित्व के घटक के रूप में प्रकट होती है जिसके द्वारा समग्रता का अस्तित्व उत्पन्न होता है। संसार के माध्यम से ही 'स्वयं के लिए' स्वयं को एक निराकार समग्रता के रूप में प्रकट करता है, जिसका अर्थ है कि अपने उद्गार से ही 'स्वयं के लिए' समग्रता के रूप में अस्तित्व का प्रकटीकरण है, क्योंकि निराकार रूप में 'स्वयं के लिए' को अपनी समग्रता होना ही है। इस प्रकार 'स्वयं के लिए' का अर्थ अस्तित्व में बाह्य है, परन्तु 'स्वयं के लिए' के माध्यम से ही अस्तित्व का अर्थ प्रकट होता है। अस्तित्व का यह समग्रकरण अस्तित्व में कुछ भी नहीं जोड़ता; यह केवल वह तरीका है जिससे अस्तित्व स्वयं के लिए न होने के रूप में प्रकट होता है, वह तरीका जिससे अस्तित्व विद्यमान होता है। यह 'स्वयं के लिए' से बाहर, सर्वथा पहुँच से परे, उस तत्व के रूप में प्रकट होता है जो अपने अस्तित्व में 'स्वयं के लिए' को निर्धारित करता है। परन्तु अस्तित्व को समग्रता के रूप में प्रकट करने का तथ्य अस्तित्व को उतना ही प्रभावित करता है जितना कि मेज पर रखे दो प्यालों को गिनने का तथ्य उनमें से किसी के अस्तित्व या प्रकृति को प्रभावित करता है। फिर भी यह 'स्वयं के लिए' का विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक संशोधन नहीं है क्योंकि यह समस्त व्यक्तिपरकता को संभव बनाता है। लेकिन यदि 'स्वयं के लिए' वह शून्यता है जिसके द्वारा 'अस्तित्व' का आभास होता है, तो अस्तित्व मूल रूप से केवल समग्रता के रूप में ही विद्यमान हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान ही संसार है। हाइडेगर के शब्दों में, संसार और उसके बाहर—शून्यता। लेकिन यह 'शून्यता' मूल रूप से वह नहीं है जिसमें मानवीय वास्तविकता का उदय होता है। यह शून्यता स्वयं मानवीय वास्तविकता है, उस मौलिक निषेध के रूप में जिसके माध्यम से संसार प्रकट होता है। निःसंदेह, समग्रता के रूप में संसार की अनुभूति ही संसार के साथ-साथ एक शून्यता को प्रकट करती है जो इस समग्रता को धारण और समाहित करती है। वास्तव में, यह शून्यता, जो समग्रता से बाहर रह जाती है, समग्रता को ही निर्धारित करती है। यही कारण है कि समग्रता अस्तित्व में कुछ भी नहीं जोड़ती, क्योंकि यह केवल शून्यता की उपस्थिति का परिणाम है जो अस्तित्व की सीमा है। लेकिन यह शून्यता मानवीय वास्तविकता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो स्वयं को अस्तित्व से बहिष्कृत और शाश्वत रूप से अस्तित्व से परे, शून्यता के साथ व्यभिचार करते हुए समझती है। चाहे हम कहें कि मानवीय वास्तविकता वह है जिसके द्वारा अस्तित्व समग्रता के रूप में प्रकट होता है—या मानवीय वास्तविकता वह है जो अस्तित्व के बाहर कुछ भी न होने का कारण बनती है—बात एक ही है। यह शून्यता ही संसार से परे एक अस्तित्व की संभावना है, जिससे (1) अस्तित्व एक संसार के रूप में प्रकट होता है और (2) मानवीय वास्तविकता को यही संभावना होना चाहिए। इस प्रकार, यह शून्यता— अस्तित्व की मूल उपस्थिति के साथ—स्वयं के चक्र का निर्माण करती है।

घटनाओं का निपटान और वर्गीकरण करने का तरीका नहीं हो सकता जो केवल व्यक्तिपरक प्रेतों के रूप में विद्यमान होंगी, और न ही यह अस्तित्व को 'व्यक्तिपरक' बना सकता है क्योंकि इसका प्रकटीकरण 'स्वयं के लिए' का घटक है। इसलिए इसकी बाह्यता ही यह आवश्यक बनाती है कि यह "वायु में" रहे, स्वयं-से-भी-स्वयं से भी बाह्य रहे। दूसरी ओर, ठीक इसी कारण कि यह बाह्यता है, यह स्वयं में विद्यमान नहीं हो सकता; यह सभी आधारों को अस्वीकार करता है, यह स्वभाव से ही अविभाज्य है, और फिर भी इसे किसी पदार्थ से संदर्भित नहीं किया जा सकता। यह शून्य है। वास्तव में, स्याहीदानी न तो मेज है—न पाइप है, न गिलास—इसलिए हम इसे स्याहीदानी के रूप में समझ पाते हैं। और फिर भी यदि मैं कहूँ, "स्याहीदानी मेज नहीं है," तो मैं शून्य के बारे में सोच रहा हूँ। इस प्रकार, निर्धारण एक शून्य है जो न तो वस्तु से और न ही चेतना से आंतरिक संरचना के रूप में संबंधित है, बल्कि इसका अस्तित्व आंतरिक निषेधों की एक प्रणाली के माध्यम से स्वयं-से-भी-आह्वान किया जाना है जिसमें स्वयं-से-भी-स्वयं सभी के प्रति अपनी उदासीनता में प्रकट होता है जो स्वयं नहीं है। जहां तक स्वयं के लिए स्वयं को अपने भीतर के द्वारा ज्ञात कराता है, जो कि वह नहीं है—आंतरिक निषेध के तरीके में, भीतर की उदासीनता, उस उदासीनता के रूप में जो स्वयं के लिए न होने के लिए होती है, दुनिया में निर्धारण के रूप में प्रकट होती है।
III. गुणवत्ता और मात्रा, संभाव्यता, साधनशीलता गुण, किसी वस्तु के अस्तित्व के अलावा और कुछ नहीं है, जब उसे संसार या अन्य वस्तुओं के साथ सभी बाह्य संबंधों से अलग करके देखा जाता है। अक्सर गुण को एक सरल व्यक्तिपरक निर्धारण के रूप में समझा गया है, और इसके अस्तित्व के गुण को मानसिक व्यक्तिपरकता के साथ भ्रमित कर दिया गया है। तब समस्या विशेष रूप से गुणों की पारलौकिक एकता के रूप में परिकल्पित वस्तु- ध्रुव की संरचना की व्याख्या करने में प्रतीत होती है। हमने दिखाया है कि यह समस्या अनसुलझी है। यदि कोई गुण व्यक्तिपरक है, तो वह स्वयं को वस्तुनिष्ठ नहीं बना सकता। मान लीजिए कि हमने वस्तु-ध्रुव की एकता को गुणों से परे प्रक्षेपित किया है, तो अधिक से अधिक उनमें से प्रत्येक को हम पर वस्तुओं की क्रिया के व्यक्तिपरक प्रभाव के रूप में प्रत्यक्ष रूप से दिया जाएगा। लेकिन नींबू का पीला रंग नींबू को समझने का एक व्यक्तिपरक तरीका नहीं है; यह नींबू ही है। और यह भी सच नहीं है कि वस्तु X एक खाली रूप के रूप में प्रकट होती है जो विभिन्न गुणों को एक साथ रखती है। वास्तव में, नींबू अपने सभी गुणों में विस्तारित है, और इसका प्रत्येक गुण अन्य सभी गुणों में विस्तारित है। नींबू का खट्टापन ही उसे पीला बनाता है, और नींबू का पीलापन ही उसे खट्टा बनाता है। हम केक का रंग खाते हैं, और इस केक का स्वाद ही वह साधन है जो हमारे भोजन संबंधी अंतर्ज्ञान को इसकी आकृति और रंग का एहसास कराता है। इसके विपरीत, अगर मैं अपनी उंगली जैम के जार में डालूँ, तो जैम की चिपचिपी ठंडक ही मेरी उंगलियों को उसके मीठे स्वाद का एहसास कराती है। तालाब के पानी का प्रवाह, उसकी गर्माहट, उसका नीलापन, उसकी लहरों जैसी बेचैनी, ये सब एक ही स्पर्श में प्रकट होते हैं, एक गुण दूसरे

तो मूर्त है, न अमूर्त, न वर्तमान, न भविष्य: वह वही है जो वह है। फिर भी अमूर्तन अस्तित्व को समृद्ध नहीं करता; यह केवल अस्तित्व से परे अस्तित्व की शून्यता का प्रकटीकरण है। लेकिन हम किसी को भी चुनौती देते हैं कि वह "यह" के रूप में अस्तित्व पर विचार किए बिना अमूर्तन पर पारंपरिक आपत्तियों को सूत्रबद्ध करे।
इन तत्वों का आपस में मूल संबंध न तो अंतःक्रिया है, न ही कारण-कार्य संबंध, और न ही संसार के एक ही आधार पर इनका उद्भव। यदि हम यह मान लें कि एक तत्व के लिए 'स्वयं-के-लिए' विद्यमान है, तो अन्य तत्व भी उसी समय "संसार में" विद्यमान होते हैं, परन्तु अविभेदित होने के कारण; वे वह आधार बनाते हैं जिस पर सामना किया गया तत्व उभरा हुआ प्रतीत होता है। एक तत्व और दूसरे तत्व के बीच किसी भी प्रकार का संबंध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरा तत्व संसार के आधार पर एक स्पष्ट निषेध के अवसर पर प्रकट हो, जो कि 'स्वयं-के-लिए' को होना चाहिए। परन्तु साथ ही, प्रत्येक तत्व को एक दूसरे से इस प्रकार दूर रखा जाना चाहिए कि वह एक विशुद्ध बाह्य निषेध द्वारा दूसरा न हो। इस प्रकार, इसका उससे मूल संबंध एक बाह्य निषेध है। वह 'यह' न होने के रूप में प्रकट होता है। और बाह्य निषेध 'स्वयं-के-लिए' के समक्ष एक पारलौकिक रूप में प्रकट होता है; यह बाहर है, यह स्वयं में है। हम इसे कैसे समझें?
इस-उस की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम समग्रता के रूप में ही प्रकट हो सकती है। यहाँ प्राथमिक संबंध विघटनशील समग्रता की एकता है; स्वयं के लिए यह निर्धारित है कि संसार के आधार पर यह "यह-वह" नहीं है। "यह-वह" मेरा संपूर्ण स्थान है, जहाँ तक मैं उसमें उपस्थित हूँ। यह ठोस निषेध ठोस द्रव्यमान के इस और उस में विघटन के साथ लुप्त नहीं होगा। इसके विपरीत, यह विघटन की ही शर्त है। परन्तु उपस्थिति के इस आधार पर और उपस्थिति के इस आधार के माध्यम से, अस्तित्व अपनी उदासीन बाह्यता को प्रकट करता है। यह बाह्यता मुझे इस तथ्य में प्रकट होती है कि मैं जो निषेध हूँ वह एक अविभेदित समग्रता के बजाय एक एकता-बहुलता है। अस्तित्व में मेरा नकारात्मक उभार स्वतंत्र निषेधों में विभाजित हो जाता है जिनका आपस में कोई संबंध नहीं है सिवाय इसके कि वे निषेध हैं जो मुझे होने हैं; अर्थात्, वे अपनी आंतरिक एकता मुझसे प्राप्त करते हैं, अस्तित्व से नहीं। मैं उस मेज और उन कुर्सियों पर उपस्थित हूँ, और इस रूप में मैं स्वयं को एक बहुआयामी निषेध के रूप में संश्लेषित करता हूँ; परन्तु यह विशुद्ध आंतरिक निषेध, जहाँ तक यह अस्तित्व का निषेध है, शून्यता के क्षेत्रों से पंगु हो जाता है; यह निषेध के कारण ही नष्ट हो जाता है, यह निरर्थक निषेध है। शून्यता की इन परतों के पार, जिन्हें मुझे अपने स्वयं के निषेध की शून्यता के रूप में धारण करना है, अस्तित्व की उदासीनता प्रकट होती है। परन्तु इस उदासीनता को मुझे उस निषेध की शून्यता के द्वारा साकार करना है जिसे मुझे धारण करना है, न केवल इसलिए कि मैं मूलतः "इस" के प्रति उपस्थित हूँ, बल्कि इसलिए भी कि मैं "उस" के प्रति भी उपस्थित हूँ। मेज पर अपनी उपस्थिति के द्वारा ही मैं कुर्सी की उदासीनता (जिसे मुझे वर्तमान में धारण नहीं करना

है) को एक आधार की अनुपस्थिति, अस्तित्वहीनता की ओर मेरे आवेग की रुकावट, और चक्र में एक टूटन के रूप में साकार करता हूँ। “वह” “यह” के साथ-साथ, एक संपूर्ण रहस्योद्घाटन के केंद्र में प्रकट होता है, उस रूप में जिससे मुझे किसी भी तरह से लाभ नहीं मिल सकता है जिससे मैं स्वयं को “यह” न होने का निर्धारण कर सकूं।
इस प्रकार विखंडन अस्तित्व से उत्पन्न होता है, परन्तु विखंडन और पृथक्करण केवल स्वयं-के-लिए की उपस्थिति से ही समस्त अस्तित्व में संभव है। निषेधों की एकता का निषेध, जहाँ तक यह अस्तित्व की उदासीनता का प्रकटीकरण है और जहाँ तक यह "यह" की "वह" के प्रति और "वह" की "यह" के प्रति उदासीनता को समझता है, बाह्य निषेध में "यह" के मूल संबंध का प्रकटीकरण है। "यह" "वह" नहीं है। विघटनशील समग्रता की एकता के भीतर इस बाह्य निषेध को "और" शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। "यह वह नहीं है" को "यह और वह" लिखा जाता है। बाह्य निषेध में स्वयं-में-अस्तित्व और शुद्ध आदर्शता का दोहरा चरित्र है। यह स्वयं-में है क्योंकि यह किसी भी प्रकार से स्वयं-के-लिए से संबंधित नहीं है; स्वयं के लिए, अस्तित्व की उदासीनता को बाह्यता के रूप में, अपने ही निषेध की परम आंतरिकता के पार खोजता है (क्योंकि सौंदर्यबोधक अंतर्ज्ञान में मैं एक काल्पनिक वस्तु को समझता हूँ)। इसके अलावा, हम ऐसे निषेध से नहीं निपट रहे हैं जिसे होना ही है; यह निषेध किसी भी विचारित अवधारणा से संबंधित नहीं है; यह विशुद्ध रूप से और सरलता से है। यह वही है जो यह है। लेकिन साथ ही, यह किसी भी तरह से अवधारणा की विशेषता नहीं है, न ही इसके गुणों में से एक है। यह अवधारणाओं से पूरी तरह स्वतंत्र है, ठीक इसलिए क्योंकि यह उनमें से किसी से भी संबंधित नहीं है। क्योंकि अस्तित्व की उदासीनता कुछ भी नहीं है; हम इसके बारे में सोच भी नहीं सकते और न ही इसे अनुभव कर सकते हैं। इसका सीधा सा अर्थ है कि विनाश या उसके विभिन्न रूप अवधारणा को शून्यता में संलग्न कर सकते हैं; इस अर्थ में, यह केवल स्वयं में एक शून्यता है जो अवधारणाओं को अलग करती है, और यह शून्यता ही एकमात्र तरीका है जिससे चेतना उस पहचान के सामंजस्य को महसूस कर सकती है जो अस्तित्व की विशेषता है।
यह आदर्श शून्यता स्वयं में ही मात्रा है। मात्रा वास्तव में शुद्ध बाह्यता है; यह जोड़े गए पदों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि केवल उनकी स्वतंत्रता की पुष्टि है। गिनना एक ऐसी समग्रता के भीतर एक आदर्श भेद करना है जो विघटनशील है और पहले से ही मौजूद है। जोड़ से प्राप्त संख्या न तो गिनी गई किसी भी इकाई से संबंधित है और न ही विघटनशील समग्रता से—जहाँ तक यह समग्रता के रूप में प्रकट होती है। यदि मेरे सामने तीन व्यक्ति बात कर रहे हैं, तो मैं उन्हें पहले "बातचीत में लगे समूह" के रूप में नहीं गिनता; और उन्हें तीन के रूप में गिनने से उनके समूह की ठोस एकता पूरी तरह से बरकरार रहती है। "तीन का समूह" होना समूह का कोई ठोस गुण नहीं है। न ही यह उसके सदस्यों का गुण है। हम उनमें से किसी के बारे में यह नहीं कह सकते कि वह तीन है या यहाँ तक कि वह एक तिहाई है—क्योंकि एक तिहाई का गुण केवल स्वयं के लिए गणना की स्वतंत्रता का प्रतिबिंब है; प्रत्येक व्यक्ति एक

किया गया है; यह आत्मत्व के परिपथ में एक चालक के समान है, और यह इस परिपथ की सीमाओं के भीतर प्रकट होता है। जिस हद तक मैं स्वयं को "इस" का निषेध बनाता हूं, मैं इस निषेध से एक पूरक निषेध की दिशा में दूर भागता हूं; और दोनों के विलय से उस "स्वयं में" का प्रकटीकरण होता है जो मैं हूं। "इस" के निषेध और दूसरे संभावित निषेध के बीच एक अस्तित्व का बंधन है; दूसरा केवल कोई निषेध नहीं है, बल्कि वस्तु के प्रति मेरी उपस्थिति का सटीक पूरक निषेध है। लेकिन चूंकि "स्वयं के लिए" स्वयं को उपस्थिति के रूप में, एक गैर-स्थितीय आत्म-चेतना के रूप में गठित करता है, इसलिए यह अपने अस्तित्व के माध्यम से, अपने से बाहर, स्वयं को यह ज्ञात कराता है कि वह क्या नहीं है। यह "प्रतिबिंब-प्रतिबिंबित" के रूप में अपने अस्तित्व को बाहर पुनः प्राप्त करता है। पूरक निषेध, जो स्वयं के लिए ही उसकी अपनी संभावना के रूप में है, तब एक निषेध-उपस्थिति है; अर्थात्, स्वयं के लिए ही उसे एक गैर-थेटिक आत्म-चेतना के रूप में और अस्तित्व-से-परे-अस्तित्व की थेटिक चेतना के रूप में होना चाहिए।
अस्तित्व से परे का अस्तित्व वर्तमान से बंधा हुआ है, किसी बाहरी संबंध से नहीं, बल्कि पूरकता के एक सटीक बंधन से, जो स्वयं के भविष्य से संबंध के साथ पूर्णतः सहसंबंध में है। सर्वप्रथम, यह अस्तित्व के निषेध में प्रकट होता है, जो स्वयं को 'यह' न होने का कारण बनाता है, केवल उपस्थिति के बल पर नहीं, बल्कि एक ऐसे निषेध के रूप में जो स्वयं में आने वाला है, जो उसके वर्तमान से परे उसकी अपनी संभावना है। यह संभावना, जो शुद्ध उपस्थिति को उसके पहुँच से परे अर्थ के रूप में और उस कमी के रूप में सताती है जिसके कारण वह स्वयं में विद्यमान नहीं हो पाती, सर्वप्रथम वर्तमान निषेध के प्रक्षेपण के रूप में, जुड़ाव के बल पर विद्यमान होती है। वास्तव में, प्रत्येक निषेध, जिसके भविष्य में उससे परे जुड़ाव का अर्थ एक ऐसी संभावना के रूप में नहीं होगा जो उसके पास आती है और जिसकी ओर वह स्वयं भागता है, निषेध के रूप में अपना सारा महत्व खो देगा। स्वयं के लिए जो कुछ भी अस्वीकार करता है, वह उसे "भविष्य के आयाम के साथ" अस्वीकार करता है। इसमें या तो बाह्य निषेध (यह वह नहीं है, वह कुर्सी मेज नहीं है) या स्वयं पर लागू होने वाला आंतरिक निषेध शामिल होता है। "यह वह नहीं है" कहना "वह" के संबंध में "यह" की बाह्यता को स्थापित करना है, चाहे वह वर्तमान और भविष्य के लिए हो या केवल "वर्तमान" के लिए; परन्तु बाद वाले मामले में निषेध का एक अस्थायी स्वरूप होता है जो भविष्य को वर्तमान निर्धारण "यह और वह" के संबंध में शुद्ध बाह्यता के रूप में स्थापित करता है। दोनों ही मामलों में अर्थ भविष्य के संदर्भ में निषेध तक पहुँचता है; सभी निषेध परमानंदमय होते हैं। जहाँ तक स्वयं के लिए भविष्य में स्वयं को नकारता है, वह "यह" जिसके संबंध में वह स्वयं को निषेध बनाता है, भविष्य से स्वयं तक आने के रूप में प्रकट होता है। यह संभावना कि चेतना गैर-आध्यात्मिक रूप से चेतना के रूप में विद्यमान है (जो "यह" न होने में सक्षम है) "यह" की वह होने की क्षमता के रूप में प्रकट होती है जो वह है। किसी वस्तु की पहली संभाव्यता, जो जुड़ाव के सहसंबंधी के रूप में निषेध की एक सत्तात्मक संरचना है, स्थायित्व है, जो

को व्याकुल रखती है और उसके अस्तित्व को ही शून्यता के रूप में स्थापित करती है। इस आदर्श को हमने स्वयं-के-लिए-स्वयं या मूल्य कहा है। लेकिन अचिंतनशील स्तर पर यह मूल्य स्वयं-स्वयं द्वारा सैद्धांतिक रूप से नहीं समझा जाता; यह केवल अस्तित्व की एक अवस्था है। यदि हमारे निष्कर्ष सटीक हैं, तो इस अवास्तविक संलयन का यह निरंतर संकेत अचिंतनशील चेतना की संरचना के रूप में नहीं, बल्कि वस्तु की एक आदर्श संरचना के पारलौकिक संकेत के रूप में प्रकट होना चाहिए। इस संरचना को आसानी से प्रकट किया जा सकता है; बहुरूपी निषेध और उसके अर्थ स्वरूप अमूर्त निषेध के विलय के संकेत के साथ सहसंबंध स्थापित करते हुए, एक पारलौकिक और आदर्श संकेत प्रकट होता है— वर्तमान का उसके भविष्य के सार के साथ विलय। इस प्रकार विलय ऐसा होना चाहिए कि अमूर्त, मूर्त का आधार हो और साथ ही मूर्त, अमूर्त का आधार हो। दूसरे शब्दों में, मूर्त "शरीर और रक्त" अस्तित्व ही सार होना चाहिए, और सार स्वयं एक पूर्ण ठोस रूप में उत्पन्न होना चाहिए; अर्थात्, उसमें मूर्त की संपूर्ण समृद्धि होनी चाहिए, फिर भी हमें उसमें उसकी पूर्ण शुद्धता के अलावा कुछ और खोजने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। या यदि आप चाहें, तो रूप स्वयं—और पूर्णतः—अपना पदार्थ होना चाहिए। और इसके विपरीत, पदार्थ को निरपेक्ष रूप में उत्पन्न होना चाहिए।
सार और अस्तित्व का यह निरंतर संकेतित लेकिन असंभव मिलन न तो वर्तमान से संबंधित है और न ही भविष्य से, बल्कि यह अतीत, वर्तमान और भविष्य के मिलन को इंगित करता है, और यह स्वयं को लौकिक समग्रता के एक संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करता है। यह पारलौकिकता के रूप में मूल्य है; यही वह है जिसे हम सौंदर्य कहते हैं। इसलिए सौंदर्य संसार की एक आदर्श अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है, जो स्वयं के लिए एक आदर्श अहसास से संबंधित है; इस अहसास में वस्तुओं का सार और अस्तित्व एक ऐसे प्राणी के लिए पहचान के रूप में प्रकट होता है जो इस प्रकटीकरण में, स्वयं में ही अपने भीतर की पूर्ण एकता में विलीन हो जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सुंदर न केवल एक पारलौकिक संश्लेषण है जिसे साकार किया जाना है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि इसे केवल स्वयं के समग्रता में और उसके माध्यम से ही साकार किया जा सकता है। यही कारण है कि हम सुंदर की इच्छा रखते हैं और यही कारण है कि हम ब्रह्मांड को सुंदर के रूप में इस हद तक समझते हैं कि हम स्वयं को एक कमी के रूप में समझते हैं। लेकिन सुंदर वस्तुओं की संभाव्यता नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वयं के लिए स्वयं की एक विशिष्ट संभावना नहीं है। यह एक अवास्तविक तत्व के रूप में संसार में व्याप्त है। मनुष्य संसार में सुंदरता को जिस हद तक अनुभव करता है, वह उसे काल्पनिक रूप में ही अनुभव करता है। इसका अर्थ यह है कि सौंदर्यबोध की अंतर्ज्ञान में, मैं स्वयं की एक काल्पनिक अनुभूति के माध्यम से एक काल्पनिक वस्तु को एक संपूर्णता के रूप में समझता हूँ, जो स्वयं में और स्वयं के लिए है। सामान्यतः, सुंदरता, मूल्य की तरह, विषयगत रूप से संसार की पहुँच से बाहर के मूल्य के रूप में स्पष्ट नहीं की जाती। इसे वस्तुओं में एक अनुपस्थिति के रूप में

अप्रत्यक्ष रूप से समझा जाता है; यह संसार की अपूर्णता के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होती है।
ये मौलिक संभाव्यताएँ ही इस अस्तित्व की विशेषताएँ नहीं हैं। जिस हद तक 'स्वयं के लिए' को अपने वर्तमान से परे अस्तित्व होना पड़ता है, वह एक योग्य 'अस्तित्व से परे' का प्रकटीकरण है, जो अस्तित्व के आधार पर 'इस' तक पहुँचता है। जिस हद तक 'स्वयं के लिए' अर्धचंद्र से परे है, भविष्य के पूर्णिमा के रूप में एक 'अस्तित्व से परे' अस्तित्व के निकट, पूर्णिमा अर्धचंद्र की संभाव्यता बन जाती है। जिस हद तक 'स्वयं के लिए' कली से परे है, फूल के निकट, फूल कली की संभाव्यता बन जाता है। इन नई संभाव्यताओं का प्रकटीकरण अतीत के साथ एक मौलिक संबंध को दर्शाता है। अतीत में ही अर्धचंद्र और पूर्णिमा के बीच, कली और फूल के बीच का संबंध धीरे-धीरे खोजा जाता है। 'स्वयं के लिए' का अतीत 'स्वयं के लिए' के लिए अनुभवजन्य ज्ञान के रूप में खड़ा है। लेकिन यह ज्ञान एक निष्क्रिय तथ्य के रूप में नहीं रहता। यह 'स्वयं के लिए' के पीछे है, निश्चित रूप से, इस रूप में पहचानने योग्य नहीं और पहुँच से बाहर। लेकिन अपने अस्तित्व की परमानंदमयी एकता में, यह अतीत के संदर्भ में ही है कि स्वयं के लिए यह स्वयं को भविष्य में अपने स्वरूप से अवगत कराता है। चंद्रमा के संबंध में मेरा ज्ञान (सावोइर) एक विषयगत ज्ञान (कॉनैसेंस) के रूप में मुझसे विमुख हो जाता है। लेकिन मैं ही वह हूँ, और मेरे अस्तित्व का तरीका—कम से कम कुछ मामलों में—यह है कि मैं जो अब नहीं हूँ, उसे उस रूप में अपने पास ला सकूँ जो मैं अभी तक नहीं हूँ। इस 'इस' का निषेध—जो मैं रहा हूँ—मैं दो रूपों में हूँ: अब अस्तित्व में न होने के रूप में और अभी तक अस्तित्व में न होने के रूप में। मैं अर्धचंद्र से परे हूँ, पूर्ण वृत्त के रूप में चंद्रमा के एक मौलिक निषेध की संभावना के रूप में; और मेरे भविष्य के निषेध की मेरी वर्तमानता की ओर वापसी के साथ, पूर्णिमा अर्धचंद्र की ओर वापस आती है ताकि इसे इस रूप में एक निषेध के रूप में निर्धारित कर सके; पूर्णिमा वह है जिसकी अर्धचंद्र में कमी है; पूर्णिमा की कमी ही अर्धचंद्र को अर्धचंद्र बनाती है। इस प्रकार, एक ही तात्विक निषेध की एकता के भीतर, मैं भविष्य के आयाम को अर्धचंद्र के रूप में—स्थिरता और सार के रूप में— प्रवणित करता हूँ, और मैं इसे उस कमी की ओर निर्णायक वापसी द्वारा अर्धचंद्र के रूप में स्थापित करता हूँ। इस प्रकार संभावनाओं का वह पैमाना निर्मित होता है जो स्थिरता से सामर्थ्य तक पहुँचता है। मानवीय वास्तविकता अपने निषेध की संभावना की दिशा में स्वयं को पार करते हुए, स्वयं को वह बनाती है जिसके द्वारा परिक्रमण के माध्यम से निषेध संसार में आता है। मानवीय वास्तविकता के माध्यम से ही वस्तुओं में कमी "सामर्थ्य", "अपूर्णता", "निलंबन" और "संभाव्यता" के रूप में आती है।
फिर भी, अभाव का पारलौकिक स्वरूप अंतर्निहित अभाव के परमानंद स्वरूप का नहीं हो सकता। आइए, इस पर और अधिक ध्यान दें। स्वयं में विद्यमान होना 'अभी तक नहीं' के रूप में अपनी संभाव्यता होना आवश्यक नहीं है। स्वयं में विद्यमान का प्रकटीकरण मूलतः उदासीनता की आत्म-पहचान का प्रकटीकरण है। स्वयं में विद्यमान वह है जो वह अपने अस्तित्व के किसी भी परमानंदमय

इससे संबंधित होती हैं—उन्हें हम प्रायिकता कहेंगे, यह दर्शाने के लिए कि वे स्वयं में विद्यमान हैं। हम यह नहीं कह सकते कि मेरी संभावनाएँ हैं; वे संभाव्यता में परिवर्तित होती हैं। लेकिन प्रायिकताएँ "संभाव्यता में परिवर्तित" नहीं होतीं, वे प्रत्येक स्वयं में संभाव्य होती हैं। इस अर्थ में स्याही की दवात है, लेकिन उसका स्याही की दवात होना एक संभाव्यता है; क्योंकि स्याही की दवात का स्याही की दवात होना एक शुद्ध उपस्थिति है जो सीधे बाह्यता के संबंध पर आधारित है।
ये संभाव्यताएँ या संभावनाएँ, जो अस्तित्व से परे अस्तित्व का अर्थ हैं, स्वयं में ही अस्तित्व से परे हैं, और ठीक इसी कारण वे कुछ भी नहीं हैं। स्याहीदानी का सार स्वयं के लिए संभावित निषेध के सहसंबंधी के रूप में निर्मित होता है, लेकिन यह न तो स्याहीदानी है और न ही अस्तित्व। जहाँ तक यह सार स्वयं में है, यह एक परिकल्पित और मूर्त निषेध है; अर्थात्, यह कुछ भी नहीं है, यह शून्यता के उस आवरण से संबंधित है जो संसार को घेरे हुए है और निर्धारित करता है। स्वयं के लिए स्याहीदानी को स्याहीदानी के रूप में प्रकट करता है। लेकिन यह प्रकटीकरण स्याहीदानी के अस्तित्व से परे, उस भविष्य में होता है जो नहीं है; अस्तित्व की सभी संभाव्यताएँ, स्थायित्व से लेकर विशिष्ट संभाव्यताओं तक, उस रूप में परिभाषित की जाती हैं जो अस्तित्व अभी तक नहीं है, बिना वास्तव में कभी भी उनके होने के। यहाँ भी ज्ञान अस्तित्व में कुछ भी नहीं जोड़ता और न ही उससे कुछ हटाता है; ज्ञान उसे किसी नए गुण से सुशोभित नहीं करता। यह अस्तित्व को शून्यता की ओर ले जाकर उसे पार कर जाता है, जो उससे केवल नकारात्मक बाह्य संबंध स्थापित करती है। संभाव्यता में शुद्ध शून्यता का यह स्वरूप विज्ञान के उन प्रयासों को जन्म देता है, जिनका उद्देश्य सरल बाह्यता के संबंध स्थापित करना है, ताकि संभाव्यता (सार और शक्तियाँ) को पूरी तरह से दबा दिया जाए। परन्तु दूसरी ओर, संभाव्यता की एक सार्थक संरचना के रूप में आवश्यकता इतनी स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि हमें यहाँ इस पर ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में, वैज्ञानिक ज्ञान न तो संभाव्यता उत्पन्न करने वाली संरचना को पराजित कर सकता है और न ही दबा सकता है। इसके विपरीत, विज्ञान को इसे पूर्वधारणा के रूप में स्वीकार करना होगा।
हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि कैसे अस्तित्व के लिए स्व-स्वयं की उपस्थिति अस्तित्व को एक वस्तु के रूप में प्रकट करती है, और स्पष्टता के लिए हमें वस्तु की विभिन्न संरचनाओं को क्रमिक रूप से दिखाना पड़ा है: यह और स्थानिकत्व, स्थायित्व, सार और संभाव्यताएँ। हालाँकि, यह स्पष्ट है कि यह क्रमिक विवरण इनमें से कुछ क्षणों की अन्य क्षणों पर वास्तविक प्राथमिकता को नहीं दर्शाता है: स्व-स्वयं के उभार के कारण वस्तु अपनी सभी संरचनाओं के साथ प्रकट होती है। इसके अलावा, इनमें से कोई भी संरचना ऐसी नहीं है जो अन्य सभी को समाहित न करती हो। यह सार पर तार्किक रूप से भी प्राथमिकता नहीं रखता है। इसके विपरीत, यह सार को पूर्वकल्पित करता है, और इसके विपरीत सार इसका सार है। इसी प्रकार, एक गुण के रूप में यह केवल संसार के आधार पर ही प्रकट हो सकता है, लेकिन संसार इन 'यहों' का संग्रह है; संसार

स्थानों" के रूप में उभरती हैं। "स्वयं के द्वारा भरे जाने योग्य रिक्त स्थान" के रूप में उनका स्वरूप अचिंतनशील चेतना को एक प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत तात्कालिकता द्वारा प्रकट होता है, जिसे किसी का संदर्भ दिए बिना या विषयवस्तु बनाए बिना ही अनुभव किया जाता है। उन्हें माँगों के रूप में जीने के तथ्य में ही वह प्रकट होता है जिसे हमने पिछले अध्याय में उनका आत्मत्व कहा था। वे कार्य हैं, और यह संसार कार्यों का संसार है। कार्यों के संबंध में, जो वे इंगित करते हैं वह "इन कार्यों का यह" है - अर्थात्, अपने आप में अद्वितीय जो उनके द्वारा निर्धारित होता है और जिसे वे उन्हें पूरा करने में सक्षम बताते हैं - और वह भी जो इन कार्यों का हिस्सा होना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह पहचान की पूर्ण एकता में विद्यमान है। यह पृथक संबंध, गतिशील परिवेश के भीतर यह निष्क्रिय संबंध ही साधन और साध्य का संबंध कहलाता है। यह एक ऐसा अस्तित्व है जो बाह्यता से विरूपित और विखंडित है, एक ऐसा अस्तित्व जिसकी पारलौकिक आदर्शता की कल्पना केवल उस अस्तित्व के सहसंबंधी के रूप में ही की जा सकती है जिसके लिए स्वयं अस्तित्व में होना आवश्यक है।
वस्तु, जहाँ तक वह उदासीनता के शांत आनंद में विद्यमान है और फिर भी उससे परे उन कार्यों की ओर इशारा करती है जिन्हें पूरा किया जाना है और जो उसे यह प्रकट करते हैं कि उसे क्या होना है, एक उपकरण या साधन है। वस्तुओं के बीच मूल संबंध, जो वस्तुओं के मात्रात्मक संबंध की नींव पर प्रकट होता है, वह साधन का संबंध है। यह साधन पहले से इंगित संरचनाओं के बाद या उनके अधीन नहीं है: एक अर्थ में यह उन्हें पूर्व निर्धारित करता है; दूसरे अर्थ में यह उनके द्वारा पूर्व निर्धारित किया जाता है। वस्तु पहले वस्तु इसलिए नहीं होती कि बाद में उपकरण बने; न ही वह पहले उपकरण इसलिए होती है कि बाद में वस्तु के रूप में प्रकट हो। यह एक साधन-वस्तु है। फिर भी, यह सत्य है कि वैज्ञानिक का आगे का शोध इसे विशुद्ध रूप से एक वस्तु के रूप में प्रकट करेगा—अर्थात, सभी साधनता से रहित। लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि वैज्ञानिक केवल विशुद्ध रूप से बाह्य संबंधों को स्थापित करने से संबंधित है। इसके अलावा, इस वैज्ञानिक शोध का परिणाम यह है कि स्वयं वस्तु, सभी साधनता से रहित होकर, अंततः पूर्ण बाह्यता में विलीन हो जाती है। हम देख सकते हैं कि हमें हाइडेगर की परिभाषा को किस हद तक सुधारना होगा: निश्चित रूप से, संसार आत्मत्व के चक्र में प्रकट होता है; लेकिन चूंकि यह चक्र गैर-धार्मिक है, इसलिए 'मैं क्या हूँ' का प्रकटीकरण भी सैद्धांतिक नहीं हो सकता। संसार में होना संसार से स्वयं की ओर पलायन करना नहीं है, बल्कि संसार से परे, भविष्य के संसार की ओर पलायन करना है। संसार मुझे जो कुछ भी प्रकट करता है, वह केवल "सांसारिक" है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उपकरणों का अनंत संदर्भ कभी भी उस 'स्वयं' को संदर्भित नहीं करता जो मैं हूँ, तो उपकरणों की समग्रता मेरी संभावनाओं का सटीक सहसंबंध है; और चूंकि मैं अपनी संभावनाएं हूँ, इसलिए संसार में उपकरणों का क्रम 'स्वयं' में प्रक्षेपित मेरी संभावनाओं की छवि है; अर्थात्, 'मैं क्या हूँ' की छवि। लेकिन मैं इस सांसारिक छवि को कभी भी समझ नहीं सकता; मैं कर्म के माध्यम से

स्वयं को इसके अनुरूप ढालता हूँ, लेकिन मेरे लिए स्वयं के लिए एक वस्तु बनने में सक्षम होने के लिए एक चिंतनशील विच्छेदनशीलता की आवश्यकता होगी। इसलिए, यह अप्रामाणिकता के कारण नहीं है कि मानवीय वास्तविकता संसार में विलीन हो जाती है। मानवीय वास्तविकता के लिए, संसार में होना, संसार में स्वयं को पूरी तरह से विलीन कर लेना है, उस रहस्योद्घाटन के माध्यम से जो संसार के अस्तित्व का कारण बनता है—अर्थात्, बिना रुके, बिना किसी "उद्देश्य" की संभावना के भी, एक साधन से दूसरे साधन तक निर्देशित होना, चिंतनशील क्रांति के अलावा कोई सहारा नहीं। यह आपत्ति करना व्यर्थ होगा कि "किसके लिए" की श्रृंखला "किसके लिए" (वोरम-विलन) से अलग है। बेशक, वोरम-विलन हमें अस्तित्व की एक ऐसी संरचना की ओर ले जाता है जिसे हमने अभी तक स्पष्ट नहीं किया है; अर्थात्, दूसरों के लिए। और "किसके लिए" निरंतर साधनों के पीछे प्रकट होता है। लेकिन यह "किसके लिए", जिसकी संरचना "किसके लिए" से भिन्न है, श्रृंखला को नहीं तोड़ता। यह केवल एक कड़ी है; जब इसे साधन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तो यह स्वयं से बचने की अनुमति नहीं देता। निश्चित रूप से ये काम के वस्त्र श्रमिक के लिए हैं। लेकिन ये कपड़े मज़दूर के लिए हैं ताकि वह बिना गंदा हुए छत की मरम्मत कर सके। और वह गंदा क्यों न हो? ताकि उसे अपनी तनख्वाह का ज़्यादातर हिस्सा कपड़ों पर खर्च न करना पड़े। यह तनख्वाह उसे न्यूनतम राशि के रूप में दी जाती है जिससे वह अपना गुज़ारा कर सके; और वह अपना गुज़ारा इसलिए करता है ताकि छत की मरम्मत के काम में अपनी क्षमताओं का उपयोग कर सके। और वह छत की मरम्मत क्यों करे? ताकि उस दफ्तर में बारिश न हो जहाँ कर्मचारी हिसाब-किताब का काम कर रहे हैं। इत्यादि। इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें हमेशा दूसरे को किसी विशेष प्रकार के साधन के रूप में देखना चाहिए, बल्कि केवल यह कि जब हम दूसरे को दुनिया के संदर्भ में देखते हैं, तब भी हम साधन संबंधी जटिलताओं के अनंत चक्र से बच नहीं पाते।
अत: जिस हद तक 'स्वयं के लिए' स्वयं की कमी है, जो स्वयं की ओर आवेग के साथ सहसंबंधित अस्वीकृति है, उस हद तक 'स्वयं के लिए' अस्तित्व को संसार के आधार पर एक साधन-वस्तु के रूप में प्रकट किया जाता है, और संसार साधन-संबंधी संकेतात्मक परिसरों के अविभेदित आधार के रूप में उभरता है। इन संदर्भों का समूह अर्थहीन है, लेकिन इस अर्थ में कि इस स्तर पर अर्थ की समस्या को स्थापित करने की संभावना नहीं है। हम जीने के लिए काम करते हैं और काम करने के लिए जीते हैं। समग्र 'जीवन-कार्य' के अर्थ का प्रश्न—"मैं, जो जीवित हूँ, काम क्यों करता हूँ? यदि जीने का उद्देश्य काम करना है तो क्यों जियूँ?"—यह केवल चिंतनशील स्तर पर ही स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि इसमें 'स्वयं के लिए' की ओर से आत्म-खोज निहित है।
अब यह स्पष्ट करना बाकी है कि मैं जिस शुद्ध निषेध का प्रतीक हूँ, उसके सहसंबंधी रूप में संसार में साधनशीलता कैसे उत्पन्न हो सकती है। ऐसा कैसे होता है कि मैं इस शुद्ध 'यह' के निराकार, अनिश्चित रूप से दोहराए जाने वाले निषेध के रूप में नहीं हूँ? यदि मैं उस शुद्ध शून्यता के सिवा कुछ भी नहीं हूँ जो मुझे होना ही है, तो यह निषेध उन अनेक कार्यों को कैसे प्रकट कर

सकता है जो मेरी छवि हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह याद रखना होगा कि 'स्वयं के लिए' केवल एक ऐसा भविष्य नहीं है जो वर्तमान में आता है। इसे 'था' के रूप में अपना अतीत भी होना पड़ता है। तीन लौकिक आयामों में परमानंदमय विरोधाभास ऐसा है कि जहाँ 'स्वयं के लिए' एक ऐसा अस्तित्व है जो अपने भविष्य के माध्यम से स्वयं को 'जो था' का अर्थ बताता है, वहीं यह उसी उत्थान में एक ऐसा अस्तित्व भी है जिसे एक निश्चित 'था' के परिप्रेक्ष्य में अपनी इच्छा-होना होता है जिससे वह भाग रहा है। इस अर्थ में हमें हमेशा एक लौकिक आयाम का अर्थ कहीं और, किसी अन्य आयाम में खोजना होगा। इसी को हमने प्रवासी कहा है, क्योंकि प्रवासी अस्तित्व की एकता कोई स्वाभाविक सहजता नहीं है; यह स्वयं की एकता के भीतर बाहर स्वयं को अनुकूलित करके प्रवासी को साकार करने की आवश्यकता है।
इसलिए, वह निषेध जो मैं हूँ और जो "यह" को प्रकट करता है, उसे "था" के रूप में ही होना चाहिए। यह शुद्ध निषेध, जो साधारण उपस्थिति के रूप में नहीं है, अपने पीछे अतीत या वास्तविकता के रूप में अस्तित्व रखता है। इस प्रकार हमें यह समझना चाहिए कि यह कभी भी जड़विहीन निषेध नहीं है। इसके विपरीत, यह एक योग्य निषेध है—यदि हम इससे यह समझते हैं कि यह अपने साथ उस अस्तित्व के रूप में अपनी योग्यता को भी समेटे हुए है जिसे इसे "था" के रूप में नहीं होना है। निषेध अतीत के एक गैर-थेटिक निषेध के रूप में आंतरिक निर्धारण के रूप में उत्पन्न होता है, क्योंकि यह स्वयं को "यह" का थेटिक निषेध बना लेता है। यह उभार दोहरे "के लिए अस्तित्व" की एकता में होता है, क्योंकि निषेध "यह" के निषेध के रूप में, "परावर्तन-प्रतिबिंबित" के रूप में अपना अस्तित्व स्थापित करता है, ताकि वह अपने वर्तमान अतीत से बच सके; यह अतीत से इसलिए बच निकलता है ताकि भविष्य की ओर बढ़ते हुए "यह" से स्वयं को अलग कर सके। इसे हम वह दृष्टिकोण कहेंगे जो स्वयं-संबंधी का संसार के प्रति होता है। यह दृष्टिकोण, वास्तविकता के तुलनीय, निषेध का परमानंदमय गुण है जो स्वयं-संबंधी मूल संबंध को दर्शाता है। दूसरी ओर, जैसा कि हमने देखा है, जो कुछ भी स्वयं-संबंधी है, वह संसार के परमानंदमय अंग के रूप में "था" के रूप में है। मैं भविष्य में अपनी उपस्थिति को पुनः नहीं खोजता, क्योंकि भविष्य मुझे संसार को आने वाली चेतना के सहसंबंधी रूप में प्रकट करता है। बल्कि मेरा अस्तित्व मुझे अतीत में प्रकट होता है, यद्यपि विषयगत रूप से नहीं, स्वयं-संबंधी के दायरे में; अर्थात्, संसार के मध्य में स्पष्ट रूप से। बेशक यह अस्तित्व अभी भी —— की चेतना है, अर्थात् स्वयं-संबंधी; लेकिन यह स्वयं-संबंधी में स्थिर स्वयं-संबंधी है, और फलस्वरूप संसार की चेतना होते हुए भी, यह संसार के मध्य में समाहित है। यथार्थवाद, प्रकृतिवाद और भौतिकवाद का अर्थ अतीत में निहित है; ये तीनों दर्शन अतीत का इस प्रकार वर्णन करते हैं मानो वह वर्तमान हो।
स्वयं के लिए की गई यह भावना संसार से दोहरी उड़ान है; यह उस संसार के बीच अपनी उपस्थिति से बच निकलती है जिससे वह भाग रही है। संभावना ही इस उड़ान का मुक्त छोर है। स्वयं के लिए की गई यह भावना किसी ऐसे पारलौकिक तत्व की ओर नहीं भाग सकती जो वह स्वयं नहीं है, बल्कि केवल उसी पारलौकिक तत्व की ओर

वह संभावना है कि वह एक ऐसी प्यास बन जाए जो अब अभाव नहीं बल्कि प्यास-पूर्ति हो। संभावना ही पूर्ति का संकेत है; मूल्य, एक प्रेत-सत्ता के रूप में जो स्वयं को पूरी तरह से घेरता और भेदता है, एक ऐसी प्यास का संकेत है जो एक साथ एक प्रदत्त (जैसा कि वह "था") और एक पुनर्प्राप्ति (जैसा कि "प्रतिबिंब-प्रतिबिंब" का खेल इसे परमानंद से निर्मित करता है) होगी। जैसा कि देखा जा सकता है, हम यहाँ एक ऐसी परिपूर्णता से निपट रहे हैं जो स्वयं को प्यास के रूप में निर्धारित करती है। परमानंदमयी भूत-वर्तमान संबंध इस परिपूर्णता की रूपरेखा "प्यास" संरचना को उसके अर्थ के रूप में प्रदान करता है, और जो संभावना मैं हूँ, उसे प्रतिबिंब (प्रतिबिंब) के रूप में इसकी सघनता, इसकी देहमय परिपूर्णता प्रदान करनी चाहिए।
इस प्रकार, मेरी उपस्थिति, जो इसे इस रूप में निर्धारित करती है, "यह" का निषेध है, क्योंकि मैं "यह" के साथ-साथ एक विशिष्ट अभाव भी हूँ। जिस हद तक मेरी संभावना, अस्तित्व से परे अस्तित्व के लिए एक संभावित उपस्थिति है, मेरी संभावना का यह गुणन, अस्तित्व से परे एक ऐसे अस्तित्व को प्रकट करता है, जिसकी सह-उपस्थिति, आने वाली पूर्णता से सख्ती से जुड़ी हुई है। इस प्रकार, संसार में अनुपस्थिति एक ऐसे अस्तित्व के रूप में प्रकट होती है जिसे साकार किया जाना है, क्योंकि यह अस्तित्व उस संभावित अस्तित्व से संबंधित है जिसका मुझमें अभाव है। पानी का गिलास ऐसा प्रतीत होता है मानो वह पीने ही वाला हो; अर्थात्, एक ऐसी प्यास के सहसंबंध के रूप में जिसे गैर-वास्तविक रूप से समझा गया है और जिसका अस्तित्व ही संतुष्ट होने वाला है। लेकिन ये सभी विवरण, जो संसार के भविष्य से संबंध दर्शाते हैं, तब और स्पष्ट हो जाएँगे यदि हम वर्तमान में यह समझाएँ कि संसार का समय या सार्वभौमिक समय मूल निषेध के आधार पर चेतना को कैसे प्रकट होता है।
IV. दुनिया का समय
सार्वभौमिक समय स्वयं-संबंधी सत्ता के माध्यम से संसार में आता है। स्वयं- संबंधी सत्ता कालिकता के अनुकूल नहीं होती, ठीक इसी कारण कि वह स्वयं- संबंधी है और क्योंकि कालिकता उस सत्ता में एकात्मक अस्तित्व का स्वरूप है जो निरंतर स्वयं से दूर रहती है। इसके विपरीत, स्वयं-संबंधी सत्ता ही कालिकता है, परन्तु वह कालिकता की चेतना नहीं होती, सिवाय तब जब वह स्वयं को "चिंतनशील-प्रतिबिंबित-पर" संबंध में उत्पन्न करती है। अचिंतनशील अवस्था में स्वयं-संबंधी सत्ता कालिकता को अस्तित्व पर, अर्थात् बाहर, खोजती है। सार्वभौमिक कालिकता वस्तुनिष्ठ है।
ए. अतीत
यह “यह” एक ऐसे वर्तमान के रूप में प्रकट नहीं होता जो बाद में अतीत बन जाएगा और जो उससे पहले भविष्य था। जिस क्षण मैं इस स्याहीदान को देखता हूँ, यह तीनों लौकिक आयामों में विद्यमान होता है। जहाँ तक मैं इसे स्थायित्व — अर्थात सार—के रूप में समझता हूँ, यह पहले से ही भविष्य में है, यद्यपि मैं अपनी वास्तविक उपस्थिति में इसके समक्ष उपस्थित नहीं हूँ, बल्कि स्वयं के निकट आने की अवस्था में हूँ। इसी प्रकार, मैं इसे संसार में पहले से ही विद्यमान होने के अलावा और कुछ नहीं समझ सकता, क्योंकि मैं स्वयं

की गई कालिकता एक शुद्ध भ्रम है, क्योंकि यह स्वयं को स्वयं के लिए "यह" की कालिकता के रूप में या उस कालिकता के रूप में प्रकट नहीं करती जो स्वयं में निहित को होनी चाहिए। साथ ही, पारलौकिक अतीत, क्योंकि वह अपनी पारलौकिकता के कारण स्वयं में विद्यमान है, वह वर्तमान के समान नहीं हो सकता; अतीत स्व-अस्तित्व के एक भ्रम में विलीन हो जाता है। और चूंकि अतीत का प्रत्येक क्षण एक "हो चुका वर्तमान" है, इसलिए यह अलगाव अतीत के भीतर तक पहुँच जाता है। परिणामस्वरूप, अपरिवर्तनीय 'यह' भ्रम के एक क्षणिक और अनंत विभाजन के माध्यम से प्रकट होता है। इसी प्रकार वह गिलास या वह मेज मुझे दिखाई देती है। वे स्थायी नहीं हैं; वे हैं। समय उन पर बहता है।
बेशक, कोई आपत्ति करेगा कि मैं गिलास या मेज में होने वाले बदलावों को देखने में असमर्थ हूँ। लेकिन यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अनुचित रूप से प्रस्तुत करना है। ऐसा दृष्टिकोण, जिसका कोई औचित्य नहीं है, हमारी स्वयं की अनुभूति से ही विरोधाभासी है। पाइप, पेंसिल, ये सभी वस्तुएँ जो अपने- अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से प्रकट होती हैं और जिनका स्थायित्व अनेक स्वरूपों से अप्रभावित रहता है, भले ही वे काल में प्रकट हों, फिर भी वे काल से परे हैं। "वस्तु" सीधे "रूप" के रूप में विद्यमान होती है; अर्थात् एक संपूर्ण इकाई जो उस पर दिखाई देने वाले सतही परजीवी परिवर्तनों से अप्रभावित रहती है। प्रत्येक "वस्तु" एक अस्तित्व के नियम के साथ प्रकट होती है जो उसकी सीमा, उसके परिवर्तन के स्तर को निर्धारित करता है जहाँ वह अस्तित्वहीन होने के लिए अपना वर्तमान स्वरूप खो देती है। अस्तित्व का यह नियम, जो "स्थायित्व" को व्यक्त करता है, "वस्तु" के सार की एक तात्कालिक रूप से प्रकट संरचना है; यह "वस्तु" में संभाव्यता की एक सीमा निर्धारित करता है—वह है संसार से लुप्त हो जाना। हम इस बिंदु पर फिर लौटेंगे। इस प्रकार, 'स्वयं के लिए' सत्ता पर कालिकता को एक शुद्ध प्रतिबिंब के रूप में समझता है, जो सत्ता की सतह पर बिना किसी परिवर्तन की संभावना के खेलता है। वैज्ञानिक समय के इस निरपेक्ष, प्रेतवाधित, शून्यीकरणकारी गुण को समरूपता के नाम से एक अवधारणा में स्थापित करेगा। परन्तु कालिकता को समाहित करने वाली 'स्वयं के लिए' की परमानंदमय एकता की 'स्वयं के भीतर' पर पारलौकिक समझ, उस एक सत्ता के बिना, जो उस एकता को स्थापित करती है, कालिक एकता के एक खाली रूप की समझ के रूप में होती है। इस प्रकार, वर्तमान-अतीत के तल पर, निरपेक्ष विक्षेपण की वह विचित्र एकता प्रकट होती है जो बाह्य कालिकता है। यहाँ प्रत्येक पूर्व और प्रत्येक पश्चात एक 'स्वयं के भीतर' है जो अपनी उदासीन बाह्यता द्वारा दूसरों से पृथक है, और यहाँ ये क्षण एक ही सत्ता की एकता में पुनः एकजुट होते हैं। और यह सामान्य सत्ता या समय, आवश्यकता और सार के रूप में परिकल्पित, स्वयं विक्षेपण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह विरोधाभासी प्रकृति केवल 'स्वयं के लिए' और 'स्वयं के भीतर' के दोहरे आधार पर ही प्रकट हो सकती है। इस दृष्टिकोण से, जहाँ तक वैज्ञानिक चिंतन बाह्यता के संबंध को मूर्त रूप देने का लक्ष्य रखता है, अस्तित्व की कल्पना शून्यता में की जाएगी—अर्थात्, शून्यता में विचार किया जाएगा— समय से परे लक्षित एक पारगमन के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे सार के रूप में

इस प्रकार संसार का अतीत समरूप क्षणों से बना है, जो विशुद्ध बाह्य संबंध द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अपने अतीत के माध्यम से, 'स्वयं के लिए' स्वयं को 'अंतर्ज्ञान' में स्थापित करता है। अतीत में, 'स्वयं के लिए', जो अब 'अंतर्ज्ञान' बन चुका है, संसार के मध्य में प्रकट होता है: यह विद्यमान है; इसने अपना पारलौकिकता खो दिया है। और इसी कारण इसका विद्यमान समय में अतीत बन जाता है; 'स्वयं के लिए' के अतीत और संसार के अतीत में, जो इसके साथ सह-मौजूद था, कोई अंतर नहीं है, सिवाय इसके कि 'स्वयं के लिए' को अपना ही अतीत होना पड़ता है। इस प्रकार केवल एक ही अतीत है, जो अस्तित्व का अतीत है या वह वस्तुनिष्ठ अतीत जिसमें मैं था। मेरा अतीत संसार में अतीत है, जो अतीत के समग्र अस्तित्व से संबंधित है, जो मैं हूँ, जिससे मैं पलायन करता हूँ। इसका अर्थ है कि एक लौकिक आयाम के लिए उस परमानंदमय लौकिकता के बीच एक संयोग है जो मुझे होना है और संसार का समय एक शुद्ध प्रदत्त शून्यता के रूप में है। अतीत के माध्यम से ही मैं सार्वभौमिक लौकिकता से संबंधित हूँ; वर्तमान और भविष्य के माध्यम से ही मैं इससे बच निकलता हूँ।
बी. वर्तमान
स्वयं के लिए वर्तमान, अस्तित्व की उपस्थिति है, और इस रूप में यह अस्तित्व नहीं है। परन्तु यह अस्तित्व का प्रकटीकरण है। जो अस्तित्व उपस्थिति के समक्ष प्रकट होता है, वह वर्तमान में अस्तित्व के रूप में दिया जाता है। यही कारण है कि वर्तमान को विरोधाभासी रूप से उस क्षण में अस्तित्वहीन के रूप में दिया जाता है जब इसका अनुभव किया जाता है, और अस्तित्व का अद्वितीय मापक होने के रूप में, क्योंकि यह वर्तमान में अपने स्वरूप में प्रकट होता है। ऐसा नहीं है कि अस्तित्व वर्तमान से परे नहीं जाता, परन्तु अस्तित्व की इस अतिप्रचुरता को केवल अतीत रूपी बोध के साधन से ही समझा जा सकता है— अर्थात्, उस रूप में जो अब नहीं है। इस प्रकार मेरी मेज पर रखी यह पुस्तक वर्तमान में है और यह अतीत में (स्वयं के समान) थी। इस प्रकार वर्तमान मूल कालिकता के माध्यम से सार्वभौमिक अस्तित्व के रूप में प्रकट होता है, और साथ ही यह कुछ भी नहीं है—अस्तित्व के सिवा कुछ नहीं; यह अस्तित्व के साथ-साथ एक फिसलता हुआ अतीत है, शुद्ध शून्यता है।
उपरोक्त अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में अस्तित्व से केवल उसका अस्तित्व ही प्राप्त होता है। परन्तु यह भूलना होगा कि अस्तित्व स्वयं के लिए या तो स्थिर रूप में प्रकट होता है या गतिमान रूप में, और गति तथा विश्राम की ये दोनों धारणाएँ द्वंद्वात्मक संबंध में हैं। अब गति को न तो स्वयं के लिए की प्रकृति से, न ही स्वयं में उसके मूलभूत संबंध से, और न ही उस चीज़ से जिसे हम मूल रूप से अस्तित्व की घटना में खोज सकते हैं, तात्विक रूप से प्राप्त किया जा सकता है। गतिहीन संसार की कल्पना की जा सकती है। निश्चित रूप से, हम परिवर्तनहीन संसार की संभावना की कल्पना नहीं कर सकते, सिवाय विशुद्ध रूप से औपचारिक संभावना के आधार पर, परन्तु परिवर्तन गति नहीं है। परिवर्तन इस के गुण का परिवर्तन है; जैसा कि हमने देखा है, यह किसी रूप के उत्थान या विघटन से एक खंड में उत्पन्न होता है। इसके विपरीत, गति सार की स्थायित्व को मानती है। यदि किसी वस्तु को एक

शब्दों में, एलिएटिक विरोधाभास से बचने के लिए हमें उस सर्वमान्य मान्यता को त्यागना होगा जिसके अनुसार गतिमान होने से उसका स्वयं में विद्यमान बना रहता है। केवल AB से गुज़रना ही एक मार्ग-अस्तित्व है। गुज़रने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है एक ही समय में किसी स्थान पर होना और वहाँ न होना। किसी भी क्षण यह नहीं कहा जा सकता कि मार्ग का अस्तित्व यहाँ है, क्योंकि ऐसा कहने से वह अचानक वहीं रुक जाएगा। न ही यह कहा जा सकता है कि वह यहाँ नहीं है, या वहाँ नहीं है, या कहीं और है। स्थान के साथ उसका संबंध अधिभोग का संबंध नहीं है। परन्तु हमने पहले देखा है कि स्थिर “इस” का स्थान, भूमि के साथ उसका बाह्य संबंध था, क्योंकि यह संबंध अन्य “इस” के साथ अनेक बाह्य संबंधों में विलीन हो सकता है जब भूमि स्वयं अनेक आकृतियों में विलीन हो जाती है। अतः अंतरिक्ष का आधार वह पारस्परिक बाह्यता है जो स्वयं के माध्यम से अस्तित्व में आती है और जिसका मूल यह तथ्य है कि अस्तित्व वही है जो वह है। संक्षेप में, यह अस्तित्व ही है जो स्वयं को अन्य प्राणियों के प्रति उदासीन प्रकट करके अपने स्थान को परिभाषित करता है। यह उदासीनता ही उसकी पहचान है, उस परमानंदमय वास्तविकता से उसकी अनुपस्थिति है जिसे वह स्वयं द्वारा बोधित करता है जो पहले से ही अन्य “इस” के लिए उपस्थित है।
अतः, इस तथ्य से ही कि यह जो है वही है, यह एक स्थान धारण करता है, यह एक स्थान में विद्यमान है—अर्थात्, यह स्वयं-के-लिए द्वारा अन्य 'चीजों' के साथ इस प्रकार संबंध स्थापित करता है जैसे कि उनका उनसे कोई संबंध न हो। स्थान संबंध की शून्यता है जिसे स्वयं संबंध बन चुके अस्तित्व द्वारा संबंध के रूप में समझा जाता है। किसी स्थान पर उपस्थित होने के बजाय उसके पास से गुजरने की घटना की व्याख्या केवल अस्तित्व के संदर्भ में ही की जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि चूँकि स्थान अस्तित्व द्वारा स्थापित होता है, इसलिए अस्तित्व अब उसके स्थान को स्थापित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह केवल उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करता है; अन्य 'चीजों' के साथ उसके बाह्य संबंधों को स्वयं-के-लिए द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि बाद वाले को उन संबंधों को एक 'यह' के संदर्भ में स्थापित करना होगा जो विद्यमान है। यद्यपि ये संबंध नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि जिस अस्तित्व के संदर्भ में वे स्थापित होते हैं वह शुद्ध शून्यता नहीं है। जिस 'वर्तमान' में वे स्थापित होते हैं वह पहले से ही उनसे बाह्य है; अर्थात्, उनके प्रकटीकरण के साथ ही, बाह्यता के नए संबंध प्रकट होते हैं जिनका 'यह' आधार है और जो पहले वाले से बाह्य रूप से संबंधित हैं। लेकिन स्थानिक संबंधों की यह निरंतर बाह्यता, जो अस्तित्व के स्थान को परिभाषित करती है, केवल इस तथ्य में ही आधार पा सकती है कि विचाराधीन 'यह' स्वयं से बाह्य है। वास्तव में, यह कहना कि 'यह' किसी स्थान से होकर गुजरता है, इसका अर्थ है कि जब वह अभी भी वहाँ है, तब भी वह वहाँ नहीं है; अर्थात्, स्वयं के संबंध में वह अस्तित्व के परमानंदमय संबंध में नहीं, बल्कि बाह्यता के शुद्ध संबंध में है। इस प्रकार, 'स्थान' का अस्तित्व तभी होता है जब 'यह' अन्य 'यहों' से बाह्य के रूप में प्रकट होता है। और इस स्थान पर एक मार्ग तभी होता है जब

तुरंत विभिन्न स्थानों के बीच विशुद्ध बाह्य संबंधों में विलीन हो जाता है; अर्थात्, उदासीनता या स्थानिकत्व की सरल बाह्यता में। गति का अस्तित्व से अधिक कुछ नहीं है; यह एक ऐसी सत्ता का न्यूनतम अस्तित्व है जो न तो आ सकती है, न ही समाप्त हो सकती है और न ही पूर्ण रूप से विद्यमान हो सकती है। गति, स्वयं के केंद्र में स्थित उदासीनता की बाह्यता का उभार है। अस्तित्व का यह शुद्ध उतार-चढ़ाव, अस्तित्व का एक आकस्मिक प्रयास है। स्वयं के लिए, इसे केवल लौकिक परमानंद की अवस्था में और गतिमान शरीर की स्वयं के साथ परमानंदमय स्थायी पहचान में ही समझ सकता है। यह पहचान किसी क्रिया को नहीं मानती, और विशेष रूप से किसी "पहचान के संश्लेषण" को नहीं; स्वयं के लिए, यह केवल अतीत और वर्तमान के परमानंदमय अस्तित्व की एकता है। इस प्रकार, गतिमान शरीर की अपनी बाह्यता की निरंतर स्थापना के माध्यम से स्वयं के साथ लौकिक पहचान, पथ को स्वयं को प्रकट करने का कारण बनती है—अर्थात्, क्षणभंगुर बनने के रूप में स्थान को उत्पन्न करने का कारण बनती है। गति द्वारा समय में स्थान उत्पन्न होता है; गति बाह्यता से स्वयं तक खींची गई रेखा को विस्तारित करती है। गति के साथ ही रेखा भी लुप्त हो जाती है, और अंतरिक्ष की लौकिक एकता का यह प्रेत निरंतर गैर-लौकिक अंतरिक्ष में स्थापित होता है - अर्थात्, फैलाव की शुद्ध बहुलता में जो बिना किसी अस्तित्व के है।
वर्तमान में 'स्वयं के लिए' अस्तित्व की उपस्थिति है। परन्तु स्थायी की शाश्वत पहचान इस उपस्थिति को वस्तुओं पर प्रतिबिंब (रिफ्लेक्ट) के रूप में समझने की अनुमति नहीं देती, क्योंकि स्थायित्व में कुछ भी 'जो है' और 'जो था' में अंतर नहीं कर पाता। अतः गति न होती तो सार्वभौमिक समय का वर्तमान आयाम अबोधगम्य होता। शुद्ध वर्तमान में गति ही सार्वभौमिक समय को निर्धारित करती है। पहला कारण यह है कि सार्वभौमिक समय वर्तमान के उतार-चढ़ाव के रूप में प्रकट होता है; अतीत में भी यह एक क्षणभंगुर रेखा मात्र रह जाता है, जैसे किसी जहाज की लहर जो धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है; भविष्य में तो यह बिल्कुल भी नहीं होता, क्योंकि यह स्वयं का स्वरूप नहीं बन सकता। यह दीवार पर रेंगती छिपकली की स्थिर गति के समान है। इसके अतिरिक्त, इसके अस्तित्व में क्षणिक अस्पष्टता होती है, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता कि यह है या नहीं; इसके अतिरिक्त, यह प्रकट होते ही अपने आप से परे और बाह्य हो जाता है।
इसलिए सार्वभौमिक समय, स्वयं के लिए वर्तमान से पूर्णतः मेल खाता है: उस सत्ता की स्वयं से बाह्यता, जो न तो हो सकती है और न ही नहीं हो सकती, स्वयं के लिए को एक छवि लौटाती है—जो स्वयं के भीतर के स्तर पर प्रक्षेपित होती है—एक ऐसी सत्ता की छवि जिसे वह होना है जो वह नहीं है और वह नहीं होना है जो वह है। सारा अंतर उस चीज़ में निहित है जो स्वयं से बाह्यता को—जहाँ सत्ता अपनी बाह्यता होने के लिए नहीं है, बल्कि एक परमानंदमय साक्षी की पहचान के माध्यम से "होना है"—शुद्ध कालिक परमानंद से अलग करती है, जहाँ सत्ता को वह होना है जो वह नहीं है। स्वयं के लिए, गतिशील वस्तु के माध्यम से अपने वर्तमान को स्वयं से परिचित कराता है; यह वास्तविक गति के साथ

समकालिक रूप से अपना वर्तमान है; यह गति ही है जो सार्वभौमिक समय को साकार करने के लिए बाध्य होगी, क्योंकि स्वयं के लिए, गतिशील शरीर के वर्तमान के माध्यम से अपने वर्तमान को स्वयं से परिचित कराता है। यह अहसास क्षणों की पारस्परिक बाह्यता को महत्व देगा, क्योंकि गतिमान वस्तु का वर्तमान—गति की प्रकृति के कारण—उसके अतीत की बाह्यता और उस बाह्यता की बाह्यता के रूप में परिभाषित होता है। समय का अनंत विभाजन उस परम बाह्यता पर आधारित है।
सी. भविष्य
मूल भविष्य उस उपस्थिति की संभावना है जो मुझे यथार्थ से परे, उस आत्म-स्वयं से परे, यथार्थ से परे, अस्तित्व में प्राप्त होती है। मेरा भविष्य एक भावी सह-उपस्थिति के रूप में एक भावी जगत की रूपरेखा को समाहित करता है, और जैसा कि हमने देखा है, यही भावी जगत उस आत्म-स्वयं के समक्ष प्रकट होता है जिसमें मैं विद्यमान रहूंगा; यह आत्म-स्वयं की सच्ची संभावनाएं नहीं हैं, क्योंकि केवल चिंतनशील दृष्टि ही इन्हें जान सकती है। चूंकि मेरी संभावनाएं मेरे अस्तित्व का अर्थ हैं और उस आत्म-स्वयं से परे, जिसमें मैं उपस्थित हूं, प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होती हैं, इसलिए मेरे भविष्य के समक्ष प्रकट होने वाले आत्म-स्वयं का भविष्य उस यथार्थ से प्रत्यक्ष और घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है जिसमें मैं उपस्थित हूं। आत्म-स्वयं का भविष्य वर्तमान आत्म-स्वयं का संशोधित रूप है, क्योंकि मेरा भविष्य उस आत्म-स्वयं के समक्ष मेरी उपस्थिति की संभावनाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जिसे मैं संशोधित करूंगा। इस प्रकार जगत का भविष्य मेरे भविष्य के समक्ष प्रकट होता है। यह संभावनाओं के उस पैमाने से निर्मित है जो साधारण स्थायित्व और वस्तु के शुद्ध सार से लेकर सामर्थ्य तक फैला हुआ है। जैसे ही मैं वस्तु के सार को समझ लेता हूँ, जैसे ही मैं उसे मेज या स्याहीदानी के रूप में ग्रहण करता हूँ, मैं तुरंत भविष्य में पहुँच जाता हूँ: पहला कारण यह है कि उसका सार केवल मेरे उस आगे के अस्तित्व की संभावना के साथ सह-उपस्थिति हो सकता है, जिसमें मैं इस निषेध से अधिक कुछ नहीं हूँ, और दूसरा कारण यह है कि मेज या स्याहीदानी की स्थायित्व और स्वयं उसकी उपयोगिता हमें भविष्य की ओर ले जाती है। हमने पिछले अनुभागों में इन अवलोकनों को पर्याप्त रूप से विकसित कर लिया है, इसलिए हमें यहाँ उन पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि प्रत्येक वस्तु, एक उपयोगी वस्तु के रूप में प्रकट होने के क्षण से ही, भविष्य में अपनी कुछ संरचनाओं और गुणों को समाहित कर लेती है।
दुनिया और "इस" की उत्पत्ति के क्षण से ही एक सार्वभौमिक भविष्य विद्यमान है। फिर भी, जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है, दुनिया की प्रत्येक भावी "स्थिति" उदासीनता की पूर्ण पारस्परिक बाह्यता में इसके लिए पराई बनी रहती है। दुनिया में कुछ ऐसे भविष्य हैं जो संयोग से परिभाषित होते हैं और स्वायत्त संभाव्यताएँ बन जाते हैं; वे संभाव्य नहीं होते, परन्तु संभाव्यता के रूप में विद्यमान होते हैं, पूर्णतः गठित वर्तमान के रूप में, जिनकी विषयवस्तु सुस्पष्ट है परन्तु अभी साकार नहीं हुई है। ये

भविष्य प्रत्येक "इस" या "इस" के समूह से संबंधित होते हैं, परन्तु वे बाह्य होते हैं।
तो फिर सार्वभौमिक भविष्य क्या है? हमें इसे समतुल्यताओं के उस पदानुक्रम के अमूर्त संदर्भ के रूप में देखना चाहिए जो भविष्य हैं, पारस्परिक बाह्यताओं का एक पात्र जो स्वयं बाह्यता है, स्वयं में समाहित तत्वों का एक योग जो स्वयं में समाहित है। अर्थात्, जो भी संभावित रूप से प्रबल हो, एक भविष्य है और रहेगा। लेकिन इसी तथ्य के कारण, वह भविष्य, जो वर्तमान से उदासीन और बाह्य है तथा "वर्तमान" से बना है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे से उदासीन है तथा पूर्व-पश्चात के पुष्ट संबंध से जुड़ा हुआ है (इस हद तक कि यह संबंध, अपने परमानंदमय चरित्र से रहित होकर, बाह्य निषेध के अर्थ के अलावा कुछ भी नहीं रह जाता)—यह भविष्य विक्षेपण की एकता में एक दूसरे से जुड़े हुए खाली पात्रों की एक श्रृंखला है। इस अर्थ में, भविष्य कभी-कभी एक तात्कालिकता और एक खतरे के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि मैं सह-वर्तमान से परे अपनी संभावनाओं की परियोजना द्वारा किसी के भविष्य को उसके वर्तमान से सख्ती से जोड़ता हूँ। लेकिन कभी-कभी यह खतरा विशुद्ध बाह्यता में विलीन हो जाता है, और मैं भविष्य को केवल एक शुद्ध औपचारिक पात्र के रूप में ही देख पाता हूँ, जो उसमें भरी हुई किसी भी चीज़ से अप्रभावित और अंतरिक्ष के साथ समरूप है, बाह्यता के एक सरल नियम के रूप में। और अंततः कभी-कभी भविष्य को स्वयं में एक शून्यता के रूप में खोजा जाता है, क्योंकि यह अस्तित्व से परे शुद्ध विक्षेपण है।
इस प्रकार, वे लौकिक आयाम, जिनके पार यह गैर-लौकिक, अपनी कालहीनता के साथ, हमें प्राप्त होता है, वस्तु पर प्रकट होने पर नए गुण ग्रहण कर लेते हैं: स्वयं में अस्तित्व, वस्तुनिष्ठता, उदासीनता की बाह्यता, पूर्ण विक्षेपण। समय, जहाँ तक वह एक परमानंदमय कालिकता के समक्ष प्रकट होता है जो स्वयं को कालबद्ध करती है, सर्वत्र आत्म-अतिक्रमण तथा पूर्व को पश्चात से और पश्चात को पूर्व से संदर्भित करता है। परन्तु यह आत्म-अतिक्रमण, जहाँ तक वह स्वयं को स्वयं में बोधित होने का कारण बनता है, वह स्वयं होना आवश्यक नहीं है; वह उसमें निर्मित होता है। समय का सामंजस्य एक शुद्ध प्रेत है, स्वयं के लिए की परमानंदमय परियोजना का स्वयं की ओर वस्तुनिष्ठ प्रतिबिंब (प्रतिबिंब) तथा मानवीय वास्तविकता का गतिमान सामंजस्य। परन्तु इस सामंजस्य का कोई औचित्य नहीं है। यदि समय को अपने आप में देखा जाए, तो वह तुरंत क्षणों की एक ऐसी असीम बहुलता में विलीन हो जाता है जो अलग-अलग देखने पर अपना सारा लौकिक स्वरूप खो देते हैं और विशुद्ध रूप से 'यह' की पूर्ण कालहीनता में सिमट जाते हैं। इस प्रकार समय अपने आप में शुद्ध शून्यता है, जिसका अस्तित्व केवल उसी क्रिया से प्रकट हो सकता है जिसमें 'स्वयं के लिए' इसे उपयोग करने के लिए पार कर जाता है। हालाँकि, यह अस्तित्व एक विशिष्ट आकृति का है जो समय के अविभेदित आधार पर उभरती है और जिसे हम समय का अंतराल कहते हैं। वास्तव में, वस्तुनिष्ठ समय की हमारी पहली समझ व्यावहारिक है: सह-उपस्थित अस्तित्व से परे अपनी संभावनाओं के बीच ही मैं वस्तुनिष्ठ समय को शून्यता के सांसारिक सहसंबंधी के रूप में खोजता हूँ जो मुझे मेरी

संभावनाओं से अलग करता है। इस दृष्टिकोण से समय एक अनिश्चित फैलाव के केंद्र में एक सीमित, संगठित रूप के रूप में प्रकट होता है। समय का अंतराल एक पूर्ण विसंपीड़न के केंद्र में समय के संपीड़न का परिणाम है, और हमारी संभावनाओं की ओर हमारी स्वयं की परियोजना ही इस संपीड़न को साकार करती है। समय का यह संकुचन निश्चित रूप से फैलाव और अलगाव का एक रूप है, क्योंकि यह संसार में उस दूरी को व्यक्त करता है जो मुझे स्वयं से अलग करती है। परन्तु दूसरी ओर, चूँकि मैं स्वयं को केवल आश्रित संभावनाओं की एक संगठित श्रृंखला के माध्यम से ही एक संभावना की ओर प्रक्षेपित करता हूँ, जो कि मुझे होने के लिए आवश्यक है, और चूँकि उनका गैर-विषयगत और गैर-स्थितिगत प्रकटीकरण उस प्रमुख संभावना के गैर-स्थितिगत प्रकटीकरण में निहित है जिसकी ओर मैं स्वयं को प्रक्षेपित करता हूँ, समय मेरे समक्ष एक वस्तुनिष्ठ, लौकिक रूप में, संभावनाओं के एक संगठित क्रम के रूप में प्रकट होता है। यह वस्तुनिष्ठ रूप या अंतराल मेरे कार्य के प्रक्षेप पथ के समान है।
इस प्रकार समय पथों के माध्यम से प्रकट होता है। लेकिन जिस प्रकार स्थानिक पथ विघटित होकर शुद्ध स्थिर स्थानिकता में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार कालिक पथ भी तब विलीन हो जाता है जब उसे केवल उस रूप में अनुभव नहीं किया जाता जो वस्तुनिष्ठ रूप से स्वयं से हमारी अपेक्षाओं को दर्शाता है। वास्तव में, जो संभाव्यताएँ मुझे प्रकट होती हैं, वे स्वाभाविक रूप से स्वयं में संभाव्यता के रूप में पृथक हो जाती हैं और वस्तुनिष्ठ समय के एक अलग अंश पर कब्जा कर लेती हैं। तब समय का अंतराल लुप्त हो जाता है, और समय एक विशुद्ध रूप से कालिकताहीन अस्तित्व की सतह पर शून्यता की झिलमिलाहट के रूप में प्रकट होता है।
V. ज्ञान
स्वयं-स्वयं के लिए संसार के प्रकटीकरण की यह संक्षिप्त रूपरेखा हमें कुछ निष्कर्ष निकालने में सक्षम बनाती है। हम आदर्शवाद को यह स्वीकार करते हैं कि स्वयं-स्वयं का अस्तित्व, अस्तित्व का ज्ञान है, लेकिन हमें यह भी जोड़ना होगा कि इस ज्ञान का अपना अस्तित्व है। स्वयं-स्वयं के अस्तित्व और ज्ञान की समानता इस तथ्य से नहीं आती कि ज्ञान, अस्तित्व का मापदंड है, बल्कि इस तथ्य से आती है कि स्वयं-स्वयं अपने आप को अपने भीतर के माध्यम से ज्ञात कराता है; अर्थात्, इस तथ्य से कि अपने अस्तित्व में वह अस्तित्व से संबंध रखता है। ज्ञान, स्वयं-स्वयं के लिए अस्तित्व की उपस्थिति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, और स्वयं-स्वयं केवल वह शून्यता है जो उस उपस्थिति को साकार करती है। इस प्रकार ज्ञान स्वभावतः परमानंदमय अस्तित्व है, और इसी कारण यह स्वयं-स्वयं के परमानंदमय अस्तित्व के साथ भ्रमित हो जाता है। स्वयं-स्वयं का अस्तित्व बाद में जानने के लिए नहीं है; न ही हम यह कह सकते हैं कि इसका अस्तित्व केवल तभी है जब यह जानता है या जाना जाता है, क्योंकि ऐसा कहना अस्तित्व को ज्ञान के विशिष्ट अंशों द्वारा नियंत्रित अनंतता में विलीन कर देना होगा। ज्ञान एक निरपेक्ष और मौलिक घटना है; यह अस्तित्व के भीतर और अस्तित्व से परे, उस अस्तित्व के

संदर्भ में जो यह नहीं है और उस अस्तित्व के निषेध और आत्म-शून्यता के रूप में, स्वयं के लिए की निरपेक्ष वृद्धि है। संक्षेप में, आदर्शवादी स्थिति के एक मौलिक उलटफेर द्वारा, ज्ञान अस्तित्व में पुनः समाहित हो जाता है। यह न तो अस्तित्व का गुण है, न ही कार्य है, न ही आकस्मिक घटना है; बल्कि केवल अस्तित्व ही है। इस दृष्टिकोण से आदर्शवादी स्थिति को पूरी तरह से त्यागना आवश्यक प्रतीत होता है, और विशेष रूप से यह मानना संभव हो जाता है कि स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच का संबंध एक मौलिक सत्तामीमांसीय संबंध है। इस पुस्तक के अंत में हम स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच इस अभिव्यक्ति को एक अर्ध-समग्रता की निरंतर गतिशील रूपरेखा के रूप में भी देख सकेंगे जिसे हम अस्तित्व कह सकते हैं। इस समग्रता के दृष्टिकोण से, स्वयं के लिए की वृद्धि न केवल स्वयं के लिए निरपेक्ष घटना है; यह वह भी है जो स्वयं-स्वयं के साथ घटित होता है, स्वयं-स्वयं का एकमात्र संभव साहसिक कार्य। वास्तव में, सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो स्वयं-के-लिए ने अपने शून्यीकरण द्वारा स्वयं को "—— की चेतना" के रूप में स्थापित कर लिया हो; अर्थात्, मानो अपने पारगमन द्वारा ही उसने स्वयं-स्वयं के उस नियम से मुक्ति पा ली हो जिसमें अभिकथन को अभिसिद्ध द्वारा ढक दिया जाता है। स्वयं-के-लिए अपने आत्म-अस्वीकरण द्वारा स्वयं-स्वयं का अभिकथन बन जाता है। सचेत अभिकथन आंतरिक निषेध के विपरीत है; अभिकथन केवल उसी सत्ता द्वारा हो सकता है जो स्वयं का शून्यत्व है और उस सत्ता का जो अभिकथन करने वाली सत्ता नहीं है। परन्तु फिर अस्तित्व की अर्ध-समग्रता में, अभिकथन स्वयं- स्वयं के साथ घटित होता है; अभिसिद्ध होना स्वयं-स्वयं का साहसिक कार्य है। यह पुष्टि, जिसे स्वयं-स्वयं द्वारा स्वयं की पुष्टि के रूप में उसके स्वयं-अस्तित्व को नष्ट किए बिना नहीं किया जा सकता था, स्वयं-स्वयं में तब घटित होती है जब पुष्टि स्वयं-के-लिए द्वारा साकार की जाती है। यह पुष्टि स्वयं-स्वयं की एक निष्क्रिय परमानंद की तरह है जो स्वयं-स्वयं को अपरिवर्तित छोड़ देती है, फिर भी स्वयं-स्वयं में और स्वयं-स्वयं के दृष्टिकोण से प्राप्त होती है। यह सब ऐसे घटित होता है मानो स्वयं-के-लिए में स्वयं को खोने की तीव्र इच्छा हो ताकि पुष्टि का "जगत" स्वयं-स्वयं तक पहुँच सके। बेशक, यह पुष्टि केवल स्वयं-के-लिए के लिए विद्यमान है; यह स्वयं-के-लिए है और इसके साथ ही विलीन हो जाती है। लेकिन यह स्वयं-के-लिए में नहीं है, क्योंकि यह एक परमानंद है। यदि स्वयं-के-लिए इसका एक पद (पुष्टि) है, तो दूसरा पद, स्वयं-स्वयं, वास्तव में इसमें विद्यमान है। जिस जगत की मैं खोज करता हूँ वह अस्तित्व के बाहर विद्यमान है।
दूसरी ओर, यथार्थवाद के अनुसार, हम यह मानेंगे कि ज्ञान के रूप में चेतना में विद्यमान अस्तित्व है और 'स्वयं के लिए' 'स्वयं में' में केवल 'स्वयं में' का अस्तित्व ही निहित है; अर्थात्, सकारात्मक निषेध। वास्तव में, हमने यह सिद्ध करने का कार्य किया है कि संसार, साधन-वस्तु, स्थान, मात्रा और सार्वभौमिक समय, सभी शुद्ध परिकल्पित शून्यताएँ हैं जो उनके माध्यम से प्रकट होने वाली शुद्ध सत्ता को किसी भी प्रकार से रूपांतरित नहीं करतीं। इस अर्थ में, सब कुछ प्रदत्त है, सब कुछ मेरे समक्ष बिना दूरी के और अपनी

पूर्ण वास्तविकता में विद्यमान है। जो कुछ मैं देखता हूँ, उसमें से कुछ भी मुझसे नहीं आता; जो मैं देखता हूँ या देख सकता हूँ, उसके बाहर कुछ भी नहीं है। अस्तित्व मेरे चारों ओर सर्वत्र व्याप्त है; ऐसा प्रतीत होता है कि मैं उसे स्पर्श कर सकता हूँ, उसे पकड़ सकता हूँ; एक मानसिक घटना के रूप में निरूपण दार्शनिकों का एक शुद्ध आविष्कार है। परन्तु इस अस्तित्व से, जो मुझे हर ओर से "आच्छादित" करता है और जिससे मुझे कोई अलग नहीं करता, मैं ठीक शून्यता से ही अलग हूँ; और यह शून्यता, क्योंकि यह शून्यता है, अगम्य है। "अस्तित्व है" क्योंकि मैं अस्तित्व का निषेध हूँ, और सांसारिकता, स्थानिकता, मात्रा, साधन, कालिकता—ये सब केवल इसलिए अस्तित्व में आते हैं क्योंकि मैं अस्तित्व का निषेध हूँ। ये अस्तित्व में कुछ भी नहीं जोड़ते, बल्कि "अस्तित्व है" की शुद्ध, शून्य अवस्थाएँ हैं; ये केवल "अस्तित्व है" को साकार होने का कारण बनते हैं। लेकिन ये अवस्थाएँ, जो कुछ भी नहीं हैं, मुझे अस्तित्व से उन प्रिज्मीय विकृतियों से भी अधिक गहराई से अलग करती हैं, जिनके पार मैं अभी भी अस्तित्व को खोजने की आशा कर सकता हूँ। यह कहना कि अस्तित्व है, कुछ भी नहीं है, और फिर भी यह एक पूर्ण रूपांतरण है— क्योंकि अस्तित्व केवल स्वयं के लिए है। यह अपने स्वयं के गुण में नहीं है कि अस्तित्व स्वयं के सापेक्ष है, न ही अपने अस्तित्व में, और इस प्रकार हम कांट के सापेक्षवाद से बच जाते हैं। अस्तित्व अपने "वहाँ होने" में स्वयं के सापेक्ष है क्योंकि स्वयं अपने आंतरिक निषेध में उस बात की पुष्टि करता है जिसकी पुष्टि नहीं की जा सकती, अस्तित्व को वैसे ही जानता है जैसा वह है, जबकि "जैसा वह है" अस्तित्व से संबंधित नहीं हो सकता। इस अर्थ में, 'स्वयं के लिए' अस्तित्व की प्रत्यक्ष उपस्थिति है, और फिर भी साथ ही यह स्वयं और अस्तित्व के बीच एक अनंत दूरी के रूप में समाहित हो जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ज्ञान का आदर्श 'वही है जो हम जानते हैं' और इसकी मूल संरचना 'वही नहीं है जो ज्ञात है' है। सांसारिकता, स्थानिकता आदि केवल इस 'नहीं' को ही व्यक्त करते हैं। इस प्रकार मैं स्वयं को अपने और अस्तित्व के बीच हर जगह उस 'शून्य' के रूप में पुनः खोजता हूँ जो अस्तित्व नहीं है।
यह संसार मानव-प्रधान है। हम चेतना की विशिष्ट स्थिति को देख सकते हैं: अस्तित्व सर्वत्र है, मेरे सामने, मेरे चारों ओर; यह मुझ पर भार डालता है, मुझे घेर लेता है, और मैं निरंतर एक अस्तित्व से दूसरे अस्तित्व की ओर अग्रसर होता रहता हूँ; वह मेज जो वहाँ है, वह अस्तित्व है और कुछ नहीं; वह चट्टान, वह वृक्ष, वह परिदृश्य—अस्तित्व है और कुछ नहीं। मैं इस अस्तित्व को समझना चाहता हूँ, और मुझे अपने सिवा कुछ नहीं मिलता। ऐसा इसलिए है क्योंकि ज्ञान, जो अस्तित्व और गैर-अस्तित्व के बीच मध्यस्थ है, मुझे परम अस्तित्व की ओर अग्रसर करता है यदि मैं ज्ञान को व्यक्तिपरक बनाना चाहता हूँ, और मुझे स्वयं की ओर अग्रसर करता है जब मैं परम को समझने का प्रयास करता हूँ। ज्ञान का अर्थ ही वह है जो वह नहीं है और वह नहीं है जो वह है; क्योंकि अस्तित्व को उसके वर्तमान स्वरूप में जानने के लिए, उस अस्तित्व का होना आवश्यक होगा। लेकिन यह "जैसा है वैसा" केवल इसलिए है क्योंकि मैं वह अस्तित्व नहीं हूँ जिसे मैं जानता हूँ; और यदि मैं वह बन जाऊँ, तो "जैसा

है वैसा" लुप्त हो जाएगा और उसके बारे में सोचना भी असंभव हो जाएगा। हम यहाँ न तो संशयवाद की बात कर रहे हैं—जो यह मानता है कि यथार्थ ही अस्तित्व का हिस्सा है—और न ही सापेक्षवाद की। ज्ञान हमें परम सत्य के समक्ष खड़ा करता है, और ज्ञान का एक सत्य होता है। परन्तु यह सत्य, यद्यपि हमें परम सत्य से न अधिक और न कम कुछ प्रकट करता है, फिर भी विशुद्ध रूप से मानवीय बना रहता है।
शायद कुछ लोगों को आश्चर्य हो कि हमने शरीर और इंद्रियों के प्रश्न को उठाए बिना या उनका ज़िक्र किए बिना ही ज्ञान की समस्या पर चर्चा की है। मेरा उद्देश्य शरीर की भूमिका को गलत समझना या उसकी अनदेखी करना नहीं है। लेकिन सर्वोपरि, सत्तामीमांसा में और अन्य विषयों में भी, चर्चा में एक सख्त क्रम का पालन करना महत्वपूर्ण है। शरीर, चाहे उसका कार्य कुछ भी हो, सर्वप्रथम ज्ञात के रूप में प्रकट होता है। इसलिए हम ज्ञान को उससे जोड़कर नहीं देख सकते या जानने की परिभाषा दिए बिना उस पर चर्चा नहीं कर सकते, और न ही हम किसी भी तरह से शरीर से जानने की मूलभूत संरचना प्राप्त कर सकते हैं। इसके अलावा, शरीर—हमारा शरीर—की यह विशेषता है कि यह मूलतः वह है जिसे दूसरे द्वारा जाना जाता है। मैं जो जानता हूँ वह दूसरे का शरीर है, और अपने शरीर के बारे में जो मूलभूत तथ्य मैं जानता हूँ, वे इस बात से प्राप्त होते हैं कि दूसरे इसे कैसे देखते हैं। इस प्रकार, मेरे शरीर की प्रकृति मुझे दूसरों के अस्तित्व और दूसरों के लिए मेरे अस्तित्व से जोड़ती है। इसके साथ ही, मैं मानवीय वास्तविकता के लिए अस्तित्व के एक अन्य रूप की खोज करता हूँ जो स्वयं के लिए अस्तित्व जितना ही मौलिक है, और इसे मैं दूसरों के लिए अस्तित्व कहूँगा। यदि मैं मनुष्य और अस्तित्व के संबंध का पूर्णतया वर्णन करना चाहता हूँ, तो मुझे अपने अस्तित्व की इस नई संरचना— दूसरों के लिए अस्तित्व—का अध्ययन करना होगा। एक ही उभार के भीतर मानवीय वास्तविकता का अस्तित्व स्वयं के लिए और दूसरों के लिए होना चाहिए। सार्त्र के पाठ में लिखा है, "इस निषेध का आधार न तो मेज में है और न ही स्याही की दवात में।" "मेज" शब्द निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण है।
2 प्रीलोजिज़्म एक ऐसा शब्द है जो एक अब अप्रमाणित सिद्धांत से लिया गया है, जिसके अनुसार मानव विकास के प्रारंभिक चरण में, विचार तार्किक नहीं था, विशेष रूप से विरोधाभास से बचने की आवश्यकता महसूस नहीं करता था। देखें s.v. “प्रीलोजिक।” आंद्रे लालांडे, वोकैबिलियर टेक्निक एट क्रिटिक डे ला फिलोसोफिक पेरिस। प्रेसेस यूनिवर्सिटेयर्स डे फ्रांस। 1951. पृ. 814-815. ट्र.
3 तकनीकी अर्थ में “निर्धारण” या “सटीक अर्थ देना” के लिए प्रयुक्त।
अध्याय तीन, खंड II.

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

अध्याय एक

दूसरों का अस्तित्व I. समस्या
हमने आचरण के निषेध और चिंतनशील दृष्टिकोण से मानवीय वास्तविकता का वर्णन किया है। इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए हमने पाया है कि मानवीय वास्तविकता स्वयं के लिए है। क्या यही उसका सार है? चिंतनशील वर्णन के अपने दृष्टिकोण से बाहर निकले बिना, हम चेतना के ऐसे रूपों का सामना कर सकते हैं जो स्वयं के लिए ही बने रहते हुए भी, एक बिल्कुल भिन्न प्रकार की सत्तात्मक संरचना की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। यह सत्तात्मक संरचना मेरी है; एक विषय के रूप में स्वयं से संबंध रखते हुए ही मैं स्वयं के बारे में चिंतित हूँ, और फिर भी यह चिंता (स्वयं के लिए) मुझे एक ऐसे अस्तित्व को प्रकट करती है जो मेरे लिए अस्तित्व के बिना मेरा अस्तित्व है।
उदाहरण के लिए, शर्म को लें। यहाँ हम चेतना के एक ऐसे रूप से निपट रहे हैं जिसकी संरचना उन सभी संरचनाओं के समान है जिनका हमने पहले वर्णन किया है। यह एक गैर-स्थितीय आत्म-चेतना है, जो स्वयं को शर्म के रूप में जानती है; इस प्रकार, यह उस चीज़ का एक उदाहरण है जिसे जर्मन भाषा में 'एर्लेबनिस' कहते हैं, और यह चिंतन के लिए सुलभ है। इसके अलावा, इसकी संरचना सचेतन है; यह किसी चीज़ की शर्मनाक अनुभूति है और यह 'मैं' हूँ। मुझे अपने आप पर शर्म आती है। इसलिए शर्म मेरे साथ मेरे घनिष्ठ संबंध को साकार करती है। शर्म के माध्यम से मैंने अपने अस्तित्व के एक पहलू को खोजा है। यद्यपि शर्म से उत्पन्न कुछ जटिल रूप चिंतन के स्तर पर प्रकट हो सकते हैं, शर्म मूल रूप से चिंतन की घटना नहीं है। वास्तव में, शर्म के धार्मिक अभ्यास द्वारा एकांत में जो भी परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं, उसकी प्राथमिक संरचना किसी के सामने शर्म ही है। मैंने अभी-अभी एक अटपटा या भद्दा इशारा किया है। यह इशारा मुझसे जुड़ा हुआ है; मैं न तो इसका न्याय करता हूँ और न ही इसे दोष देता हूँ। मैं बस इसे जीता हूँ। मैं इसे स्वयं के लिए के रूप में अनुभव करता हूँ। लेकिन अब अचानक मैं अपना सिर उठाता हूँ। कोई वहाँ था और उसने मुझे देख लिया। अचानक मुझे अपने हावभाव की अभद्रता का एहसास हुआ और मैं शर्मिंदा हो गया। यह निश्चित है कि मेरी शर्म चिंतनशील नहीं है, क्योंकि किसी दूसरे की उपस्थिति, यहाँ तक कि उत्प्रेरक के रूप में भी, चिंतनशील मनोवृत्ति के साथ मेल नहीं खाती; मेरे चिंतन के क्षेत्र में मुझे अपनी चेतना के अलावा और कुछ नहीं मिल सकता। लेकिन दूसरा व्यक्ति मेरे और मेरे बीच अपरिहार्य मध्यस्थ है। मैं स्वयं से शर्मिंदा हूँ, जैसा कि मैं दूसरे व्यक्ति को दिखाई देता हूँ।
दूसरे के मात्र प्रकट होने मात्र से ही मैं स्वयं को एक वस्तु के रूप में आंकने की स्थिति में आ जाता हूँ, क्योंकि दूसरे को मैं एक वस्तु के रूप में ही दिखाई देता हूँ। परन्तु दूसरे को दिखाई देने वाली यह वस्तु उसके मन में बनी कोई कोरी छवि नहीं है। वास्तव में, ऐसी छवि तो पूरी तरह से दूसरे की ही देन होती है और इसलिए वह मुझे "छू" नहीं सकती। मैं उसके सामने झुंझलाहट या

क्रोध महसूस कर सकता हूँ, मानो स्वयं के किसी बुरे चित्र के सामने, जो मेरे चेहरे को ऐसी कुरूपता या नीचता प्रदान करता है जो मुझमें नहीं है, परन्तु मैं उसके भीतर तक नहीं पहुँच सकता। लज्जा स्वभावतः पहचान है। मैं पहचानता हूँ कि मैं वही हूँ जो दूसरा मुझे देखता है। यद्यपि, स्वयं के लिए मैं जो हूँ और दूसरे के लिए मैं जो हूँ, उसकी तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, मानो मैंने स्वयं में, स्वयं के लिए अस्तित्व की अवस्था में, दूसरे के लिए मैं जो हूँ उसका समतुल्य पा लिया हो। सर्वप्रथम, यह तुलना हमारे भीतर किसी ठोस मानसिक क्रिया के परिणाम स्वरूप नहीं होती। लज्जा एक तात्कालिक कंपकंपी है जो बिना किसी पूर्व-विवेचनात्मक तैयारी के मेरे सिर से पैर तक दौड़ जाती है। इसके अलावा, तुलना करना असंभव है; मैं उस आत्मीयता में, जहाँ मैं बिना दूरी, बिना संकोच, बिना परिप्रेक्ष्य के, विद्यमान हूँ, और उस अनुचित आत्मीयता में, जो मैं दूसरे के लिए हूँ, के बीच कोई संबंध स्थापित नहीं कर सकता। यहाँ कोई मानक नहीं है, कोई सहसंबंध तालिका नहीं है। इसके अलावा, अश्लीलता की अवधारणा ही अंतर-एकल संबंध को दर्शाती है। कोई भी अकेला अश्लील नहीं हो सकता!
इस प्रकार, दूसरे ने न केवल मुझे यह दिखाया कि मैं क्या था; बल्कि उसने मुझे एक नए प्रकार के अस्तित्व में स्थापित किया है जो नई योग्यताओं को धारण कर सकता है। यह अस्तित्व दूसरे के प्रकट होने से पहले मुझमें संभावित रूप से मौजूद नहीं था, क्योंकि यह स्वयं के लिए में कोई स्थान नहीं पा सकता था। भले ही किसी शक्ति ने मुझे एक ऐसा शरीर प्रदान किया होता जो दूसरों के लिए होने से पहले ही पूर्णतः निर्मित होता, फिर भी मेरी अशिष्टता और मेरी अनाड़ीपन उसमें संभावित रूप से निवास नहीं कर सकती थी; क्योंकि वे अर्थ हैं और इस प्रकार वे शरीर से परे हैं और साथ ही साथ उन्हें समझने में सक्षम एक साक्षी और मेरी मानवीय वास्तविकता की समग्रता को संदर्भित करते हैं। लेकिन यह नया अस्तित्व जो दूसरे के लिए प्रकट होता है, दूसरे में निवास नहीं करता; मैं इसके लिए जिम्मेदार हूँ, जैसा कि उस शिक्षा प्रणाली द्वारा स्पष्ट रूप से दिखाया गया है जो बच्चों को उनके होने पर शर्मिंदा करती है। इस प्रकार, शर्म स्वयं की शर्म है जो दूसरे के समक्ष होती है; ये दोनों संरचनाएँ अविभाज्य हैं। परन्तु साथ ही, मुझे अपने अस्तित्व की सभी संरचनाओं को पूर्णतः समझने के लिए दूसरे की आवश्यकता है। 'स्वयं के लिए' का अर्थ 'दूसरों के लिए' है। अतः यदि हम मनुष्य के अस्तित्व और 'स्वयं में अस्तित्व' के संबंध को उसकी संपूर्णता में समझना चाहते हैं, तो हम इस कृति के पूर्वार्धों में उल्लिखित विवरणों से संतुष्ट नहीं हो सकते। हमें दो कहीं अधिक जटिल प्रश्नों के उत्तर देने होंगे: पहला, दूसरे के अस्तित्व का प्रश्न, और दूसरा, मेरे अस्तित्व और दूसरे के अस्तित्व के संबंध का प्रश्न।
II. आत्मवाद की चट्टान
यह विचित्र है कि 'दूसरों' की समस्या ने यथार्थवादियों को कभी सचमुच परेशान नहीं किया। जिस हद तक यथार्थवादी हर चीज़ को यथार्थ मानते हैं, निःसंदेह उन्हें 'दूसरा' भी यथार्थ प्रतीत होता है। यथार्थ के बीच 'दूसरे'

अभ्यस्तताओं से पहले एक विशेष रूप में अनुभव में प्रकट होता है; और किसी भी समरूप निष्कर्ष के अभाव में, तथ्य यह बना रहता है कि वस्तु, संकेतित और बोधगम्य, अभिव्यंजक रूप विशुद्ध रूप से एक मानवीय समग्रता को संदर्भित करते हैं जिसका अस्तित्व विशुद्ध रूप से काल्पनिक बना रहता है।
यदि यथार्थवाद हमें आदर्शवाद की ओर ले जाता है, तो क्या आलोचनात्मक आदर्शवाद के परिप्रेक्ष्य को तुरंत अपनाना उचित नहीं है? चूंकि दूसरा "मेरा प्रतिनिधित्व" है, तो क्या उस प्रणाली के मूल में इस प्रतिनिधित्व पर प्रश्न उठाना बेहतर नहीं है जो वस्तुओं के समूह को प्रतिनिधित्वों के एक जुड़े हुए समूह में बदल देती है और जो सभी अस्तित्व को मेरे द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर मापती है?
हालांकि, हमें कांटवादियों से बहुत कम सहायता मिलेगी। वास्तव में, वे सभी के लिए समान व्यक्तिपरकता के सार्वभौमिक नियमों को स्थापित करने में व्यस्त थे, इसलिए उन्होंने कभी भी व्यक्तियों के प्रश्न पर विचार नहीं किया। विषय केवल इन व्यक्तियों का सामान्य सार है; यह हमें व्यक्तियों की बहुलता को निर्धारित करने की अनुमति नहीं देता, ठीक उसी प्रकार जैसे स्पिनोज़ा की प्रणाली में मनुष्य का सार हमें विशिष्ट व्यक्तियों के सार को निर्धारित करने की अनुमति नहीं देता। इसलिए, पहली नज़र में ऐसा लगता है कि कांट ने दूसरों की समस्या को उन मामलों में रखा जो उनकी आलोचना के दायरे से बाहर थे। लेकिन आइए इसे और गहराई से देखें। दूसरा हमारे अनुभव में मौजूद है; वह एक वस्तु है और एक विशिष्ट वस्तु है। कांट ने न केवल सामान्य रूप से किसी वस्तु के लिए, बल्कि वस्तुओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए भी संभावना की शर्तों को निर्धारित करने के लिए शुद्ध विषय के दृष्टिकोण को अपनाया: भौतिक वस्तु, गणितीय वस्तु, सुंदर या कुरूप वस्तु, और वह वस्तु जो प्रयोजनवादी विशेषताओं को प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ में कांट की रचनाओं में खामियों के लिए उनकी आलोचना की गई है, और कुछ लोगों ने—उदाहरण के लिए डिल्थे का अनुसरण करते हुए—ऐतिहासिक वस्तु की संभावना की शर्तें स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की है—अर्थात् ऐतिहासिक तर्क की आलोचना करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार, यदि यह सत्य है कि 'अन्य' एक विशेष प्रकार की वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जिसे हमारे अनुभव द्वारा खोजा जाता है, तो कठोर कांटवाद के परिप्रेक्ष्य में भी यह प्रश्न पूछना आवश्यक है कि 'अन्य' का ज्ञान कैसे संभव है; अर्थात्, दूसरों से जुड़े अनुभव की संभावना की शर्तें स्थापित करना।
वास्तव में, 'अन्य' और 'आध्यात्मिक वास्तविकताओं' की समस्या को एक ही स्तर पर रखना पूर्णतः त्रुटिपूर्ण होगा। बेशक, यदि कुछ 'अन्य' अस्तित्व में हैं और यदि वे मेरे समान हैं, तो उनके बोधगम्य अस्तित्व का प्रश्न उनके लिए उसी प्रकार पूछा जा सकता है जैसे मेरे आध्यात्मिक अस्तित्व का प्रश्न मेरे लिए पूछा जाता है; और निश्चित रूप से, उत्तर उनके और मेरे दोनों के लिए समान होगा: इस आध्यात्मिक अस्तित्व के बारे में केवल सोचा जा सकता है, इसे साकार नहीं किया जा सकता। लेकिन जब मैं अपने दैनिक अनुभव में 'अन्य' को लक्षित करता हूँ, तो वह किसी भी प्रकार से कोई आध्यात्मिक वास्तविकता नहीं

होती; न ही मैं अपनी बोधगम्य वास्तविकता को समझता हूँ या उसे लक्षित करता हूँ जब मुझे अपनी भावनाओं या अपने अनुभवजन्य विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है। 'अन्य' एक ऐसी घटना है जो अन्य घटनाओं को संदर्भित करती है—जैसे कि 'अन्य' द्वारा मेरे प्रति महसूस किया जाने वाला क्रोध, विचारों की एक श्रृंखला जो उसे उसकी आंतरिक इंद्रियों की घटनाओं के रूप में दिखाई देती है। 'अन्य' में मैं जिस चीज को लक्षित करता हूँ, वह उससे अधिक कुछ नहीं है जो मुझे स्वयं में प्राप्त होता है। लेकिन ये घटनाएँ अन्य सभी घटनाओं से पूर्णतः भिन्न हैं।
सबसे पहले, मेरे अनुभव में दूसरे की उपस्थिति संगठित रूपों जैसे हाव-भाव, अभिव्यक्ति, क्रिया और आचरण के रूप में प्रकट होती है। ये संगठित रूप एक संगठनात्मक एकता को संदर्भित करते हैं जो सिद्धांत रूप से हमारे अनुभव से परे है। दूसरे का क्रोध, जहाँ तक वह उसकी आंतरिक इंद्रिय को प्रकट होता है और स्वभाव से मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति से परे है, उन घटनाओं की श्रृंखला को अर्थ देता है और संभवतः उनका कारण है जिन्हें मैं अभिव्यक्ति या हाव-भाव के रूप में अपने अनुभव में ग्रहण करता हूँ। दूसरा, अपने अनुभवों की संश्लेषित एकता के रूप में और इच्छा और आवेश दोनों के रूप में, मेरे अनुभव को संगठित करता है। यह मेरी संवेदनशीलता पर किसी अज्ञात सत्ता की विशुद्ध क्रिया का प्रश्न नहीं है, बल्कि मेरे अनुभव क्षेत्र के भीतर घटनाओं के जुड़े हुए समूहों के गठन का प्रश्न है, जो किसी ऐसे प्राणी द्वारा किया जाता है जो मैं नहीं हूँ। ये घटनाएँ, अन्य सभी के विपरीत, संभावित अनुभवों को संदर्भित नहीं करतीं, बल्कि उन अनुभवों को संदर्भित करती हैं जो सिद्धांत रूप से मेरे अनुभव से परे हैं और एक ऐसी प्रणाली से संबंधित हैं जो मेरे लिए अगम्य है। लेकिन दूसरी ओर, सभी अनुभवों की संभावना की शर्त यह है कि विषय अपनी छापों को एक जुड़ी हुई प्रणाली में संगठित करे। इस प्रकार हम वस्तुओं में "केवल वही पाते हैं जो हमने उनमें डाला है।" अतः दूसरा तत्व विरोधाभास के बिना हमारे अनुभव को व्यवस्थित करने वाले तत्व के रूप में प्रकट नहीं हो सकता; ऐसा करने से घटना का अति-निर्धारण हो जाएगा।
क्या हम यहाँ कार्य-कारण संबंध का उपयोग कर सकते हैं? यह प्रश्न कांट के दर्शन में 'अन्य' की अस्पष्ट प्रकृति को दर्शाने के लिए उपयुक्त है। वास्तव में, कार्य-कारण संबंध केवल घटनाओं को आपस में जोड़ सकता है। लेकिन सटीक रूप से कहें तो, 'अन्य' का क्रोध एक घटना है, और मेरे द्वारा अनुभव की जाने वाली उग्र अभिव्यक्ति एक अलग घटना है। क्या इनके बीच कोई कार्य-कारण संबंध हो सकता है? यह उनकी घटनात्मक प्रकृति के अनुरूप होगा, और इस अर्थ में मैं पॉल के चेहरे की लाली को उसके क्रोध का परिणाम मानने से नहीं हिचकता; यह मेरी सामान्य स्वीकृति का एक हिस्सा है। लेकिन दूसरी ओर, कार्य-कारण संबंध का अर्थ तभी है जब वह एक ही अनुभव की घटनाओं को जोड़ता है और उस अनुभव के निर्माण में योगदान देता है। क्या यह दो ऐसे अनुभवों के बीच सेतु का काम कर सकता है जो पूरी तरह से अलग हैं? यहाँ हमें ध्यान देना चाहिए कि इस रूप में कार्य-कारण संबंध का उपयोग करके मैं इसे अनुभवजन्य अभिव्यक्तियों के आदर्श एकीकरण के रूप में इसकी प्रकृति को खो दूँगा।

संदर्भित करती हो, बल्कि सिद्धांत रूप में वह उन घटनाओं को संदर्भित करती है जो मेरे लिए संभव सभी अनुभवों से परे स्थित हैं। निःसंदेह, 'अन्य' की अवधारणा मेरे निरूपणों की प्रणाली के केंद्र में खोजों और भविष्यवाणियों की अनुमति देती है, घटनाओं के जाल में एक संकुचन: 'अन्य' की परिकल्पना के कारण मैं इस संकेत को उस अभिव्यक्ति से उत्पन्न होने के रूप में अनुमान लगा सकता हूँ। लेकिन इस अवधारणा को उन वैज्ञानिक धारणाओं (उदाहरण के लिए, काल्पनिक) या भौतिक गणना के दौरान हस्तक्षेप करने वाले उपकरणों के समान प्रस्तुत नहीं किया जाता है, जो समस्या के अनुभवजन्य कथन में प्रस्तुत नहीं होते हैं और जिन्हें परिणामों से हटा दिया जाता है। 'अन्य' की अवधारणा विशुद्ध रूप से साधनिक नहीं है। घटनाओं को एकीकृत करने के उद्देश्य से अस्तित्व में आने वाली अवधारणाओं से बहुत दूर, सच्चाई यह है कि घटनाओं की कुछ श्रेणियां केवल 'अन्य' की अवधारणा के लिए ही अस्तित्व में प्रतीत होती हैं।
मेरे अपने से बिल्कुल भिन्न अर्थों और अनुभवों की एक प्रणाली का अस्तित्व, विभिन्न घटनाओं की श्रृंखलाओं के प्रवाह में निहित एक निश्चित ढांचा है। यह ढांचा, जो सिद्धांत रूप से मेरे अनुभव से परे है, धीरे-धीरे भरता जाता है। हम उस दूसरे के साथ अपने संबंध को कभी नहीं समझ सकते और वह कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु धीरे-धीरे हम उसे एक ठोस वस्तु के रूप में स्थापित करते हैं। वह मेरे अनुभव में किसी घटना की भविष्यवाणी करने वाला साधन नहीं है, परन्तु मेरे अनुभव में ऐसी घटनाएँ हैं जो दूसरे को दूसरे के रूप में स्थापित करती हैं; अर्थात्, एक ऐसी प्रणाली के रूप में जो पहुंच से परे है, एक ठोस और जानने योग्य वस्तु के रूप में। मेरे अनुभवों में मेरा निरंतर लक्ष्य दूसरे की भावनाएँ, दूसरे के विचार, दूसरे की इच्छाएँ और दूसरे का चरित्र होता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि दूसरा न केवल वह है जिसे मैं देखता हूँ, बल्कि वह भी है जो मुझे देखता है। मेरा लक्ष्य दूसरे को इस हद तक प्राप्त करना है कि वह पहुंच से परे अनुभवों की एक जुड़ी हुई प्रणाली है जिसमें मैं अन्य वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में मौजूद हूँ। लेकिन जिस हद तक मैं इस निरूपण प्रणाली की ठोस प्रकृति और उसमें एक वस्तु के रूप में अपने स्थान को निर्धारित करने का प्रयास करता हूँ, उस हद तक मैं अपने अनुभव के क्षेत्र से पूरी तरह से परे चला जाता हूँ। मैं कई ऐसी घटनाओं से चिंतित हूँ जो सिद्धांत रूप से मेरी अंतर्ज्ञान की पहुँच से बाहर हैं, और परिणामस्वरूप मैं अपने ज्ञान की वैध सीमाओं को पार कर जाता हूँ। मैं उन अनुभवों को जोड़ने का प्रयास करता हूँ जो कभी मेरे अनुभव नहीं होंगे, और इसलिए निर्माण और एकीकरण का यह कार्य किसी भी तरह से मेरे अपने अनुभव के एकीकरण में सहायक नहीं हो सकता। जिस हद तक 'अन्य' एक अनुपस्थिति है, वह प्रकृति से परे है। इसलिए 'अन्य' को एक नियामक अवधारणा के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता। बेशक, 'विश्व' जैसे विचार भी सिद्धांत रूप से मेरे अनुभव से परे हैं, लेकिन कम से कम वे इससे जुड़े हुए हैं और केवल इसके माध्यम से ही उनका अर्थ है। इसके विपरीत, 'अन्य' को एक निश्चित अर्थ में मेरे अनुभव के पूर्ण निषेध के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि वह

वह है जिसके लिए मैं विषय नहीं बल्कि वस्तु हूँ। इसलिए ज्ञान के विषय के रूप में मैं उस विषय को वस्तु के रूप में निर्धारित करने का प्रयास करता हूँ जो विषय के रूप में मेरे चरित्र को नकारता है और जो स्वयं मुझे वस्तु के रूप में निर्धारित करता है।
इस प्रकार, आदर्शवाद के परिप्रेक्ष्य में 'अन्य' को न तो मेरे ज्ञान की मूलभूत अवधारणा माना जा सकता है और न ही नियामक अवधारणा। उसे वास्तविक माना जाता है, फिर भी मैं उसके साथ अपने वास्तविक संबंध की कल्पना नहीं कर सकता। मैं उसे वस्तु के रूप में निर्मित करता हूँ, फिर भी वह अंतर्ज्ञान द्वारा कभी मुक्त नहीं होता। मैं उसे विषय के रूप में स्थापित करता हूँ, फिर भी मैं उसे अपने विचारों की वस्तु के रूप में ही देखता हूँ। आदर्शवादी के लिए केवल दो ही समाधान बचते हैं: या तो 'अन्य' की अवधारणा को पूरी तरह से त्याग देना और यह सिद्ध करना कि वह मेरे अनुभव के निर्माण में अनुपयोगी है, या 'अन्य' के वास्तविक अस्तित्व की पुष्टि करना—अर्थात् चेतनाओं के बीच एक वास्तविक, अनुभव-रहित संचार को स्थापित करना।
पहला समाधान आत्मवाद कहलाता है। फिर भी, यदि इसे मेरे अस्तित्वगत एकांत की पुष्टि के रूप में इसके नाम के अनुरूप व्यक्त किया जाए, तो यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक परिकल्पना है, जो पूरी तरह से अनुचित और निरर्थक है; क्योंकि इसका अर्थ यह कहना है कि मेरे बाहर कुछ भी अस्तित्व में नहीं है और इसलिए यह मेरे अनुभव क्षेत्र की सीमाओं से परे है। लेकिन यदि इसे अनुभव के ठोस आधार को न छोड़ने के इनकार और 'अन्य' की अवधारणा का उपयोग न करने के सकारात्मक प्रयास के रूप में अधिक विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत किया जाए, तो यह पूरी तरह से तार्किक है; यह आलोचनात्मक प्रत्यक्षवाद के स्तर पर बना रहता है, और यद्यपि यह हमारे अस्तित्व की गहरी प्रवृत्तियों के विपरीत है, फिर भी यह आदर्शवादी परिप्रेक्ष्य में 'अन्य' की धारणा के विरोधाभासों से अपना औचित्य प्राप्त करता है। वाटसन के "व्यवहारवाद" की तरह, जो मनोविज्ञान सटीक और वस्तुनिष्ठ होना चाहता है, वह वास्तव में एक कार्यशील परिकल्पना के रूप में आत्मवाद ही है। यह मेरे अनुभव के क्षेत्र में उन वस्तुओं की उपस्थिति से इनकार करने की कोशिश नहीं करेगा जिन्हें हम "मानसिक प्राणी" कहेंगे, बल्कि केवल एक प्रकार का अभ्यास करेगा .

3 एक
विषय द्वारा संगठित और मेरे अनुभव के बाहर स्थित अभ्यावेदन प्रणालियों के अस्तित्व के संबंध में।
इस समाधान का सामना करते हुए, कांट और अधिकांश उत्तर-कांटवादी 'अन्य' के अस्तित्व की पुष्टि करते रहते हैं। लेकिन वे अपनी पुष्टि को उचित ठहराने के लिए केवल सामान्य ज्ञान या हमारी गहरी जड़ें जमा चुकी प्रवृत्तियों का ही सहारा ले सकते हैं। हम जानते हैं कि शोपेनहावर आत्मवादी को "एक अभेद्य किले में बंद पागल" कहते हैं। यह कैसी नपुंसकता की स्वीकारोक्ति है! वास्तव में, 'अन्य' के अस्तित्व के संबंध में इसी स्थिति के कारण हम अचानक आदर्शवाद की संरचना को ध्वस्त कर देते हैं और आध्यात्मिक यथार्थवाद में वापस आ जाते हैं। सबसे पहले, बाहरी दुनिया के माध्यम से ही संवाद कर सकने

मैं ईश्वर से अलग हूँ, तो ईश्वर के लिए मेरे अस्तित्व की कोई गारंटी नहीं रह जाती; वह अब मुझसे केवल बाह्यता के संबंध से जुड़ा है, जैसे मूर्तिकार का संबंध तैयार मूर्ति से होता है, और एक बार फिर वह मुझे केवल छवियों के माध्यम से ही जान सकता है। इन परिस्थितियों में, ईश्वर की धारणा हमें चेतनाओं के बीच एकमात्र संभव संबंध के रूप में आंतरिक निषेध को प्रकट करते हुए, अवधारणा की पूर्ण अपर्याप्तता को दर्शाती है: ईश्वर दूसरे के अस्तित्व की गारंटी के रूप में न तो आवश्यक है और न ही पर्याप्त। इसके अलावा, मेरे और दूसरे के बीच मध्यस्थ के रूप में ईश्वर का अस्तित्व पहले से ही मेरे साथ एक आंतरिक संबंध में दूसरे की उपस्थिति को पूर्वकल्पित करता है; ईश्वर, जो मन के मूलभूत गुणों से संपन्न है, दूसरे के सार के रूप में प्रकट होता है, और दूसरे के अस्तित्व की वास्तविक नींव मेरे लिए मान्य होने के लिए उसे मेरे साथ आंतरिक संबंध बनाए रखने में सक्षम होना चाहिए। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे के अस्तित्व का एक सकारात्मक सिद्धांत एक साथ आत्म-केंद्रितता से बचने और ईश्वर का सहारा लेने से बचने में सक्षम होना चाहिए यदि वह दूसरे के साथ मेरे मूल संबंध को एक आंतरिक निषेध के रूप में देखता है; अर्थात्, एक ऐसा निषेध जो दूसरे और मेरे बीच के मूल भेद को इस प्रकार स्थापित करता है कि यह मुझे दूसरे के माध्यम से और दूसरे को मेरे माध्यम से निर्धारित करता है। क्या इस दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखना संभव है?
III. हुसरल, हेगेल, हाइडेगर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दर्शन ने यह समझ लिया था कि एक बार जब स्वयं और दूसरे को दो अलग-अलग तत्वों के रूप में देखा जाता है, तो हम आत्मवाद से बच नहीं सकते; वास्तव में इन तत्वों का कोई भी मिलन असंभव माना जाना चाहिए। यही कारण है कि आधुनिक सिद्धांतों की जांच से हमें चेतना के मूल में ही दूसरे के साथ एक मौलिक, पारलौकिक संबंध को पकड़ने का प्रयास दिखाई देता है, जो प्रत्येक चेतना के उत्थान में उसका मूलभूत तत्व होगा। लेकिन यद्यपि यह दर्शन बाह्य निषेध के सिद्धांत को त्यागता हुआ प्रतीत होता है, फिर भी यह इसके आवश्यक परिणाम को बनाए रखता है; अर्थात्, यह पुष्टि कि दूसरे के साथ मेरा मौलिक संबंध ज्ञान के माध्यम से साकार होता है।
हुसरल ने अपने 'कार्टेशियन मेडिटेशन्स' और 'फॉर्मल एंड ट्रांसेंडेंटल लॉजिक' में जब आत्मवाद का खंडन करने का प्रयास किया, तो उनका मानना था कि वे यह सिद्ध करके सफल हो सकते हैं कि दूसरे का संदर्भ किसी संसार की रचना के लिए अपरिहार्य शर्त है। उनके सिद्धांत के विस्तृत विवरण में न जाते हुए, हम केवल उनकी सामान्य स्थिति को ही दर्शाएंगे। हुसरल के अनुसार, चेतना के समक्ष प्रकट होने वाला संसार अंतर-एकल है। दूसरा उसमें न केवल एक विशिष्ट, ठोस और अनुभवजन्य रूप में, बल्कि उसकी एकता और समृद्धि की एक स्थायी शर्त के रूप में भी विद्यमान है। चाहे मैं इस मेज, इस वृक्ष या इस खाली दीवार को एकांत में देखूं या साथियों के साथ, दूसरा हमेशा उस वस्तु से संबंधित मूलभूत अर्थों की एक परत के रूप में मौजूद रहता है; संक्षेप में, वह वस्तु

चेतना के अलावा कुछ भी न हो—अर्थात, एक विषयविहीन पारलौकिक क्षेत्र— तथ्य यह है कि दूसरे के प्रति मेरी स्वीकृति संसार से परे एक समान पारलौकिक क्षेत्र के अस्तित्व की मांग करती है और उसे आवश्यक बनाती है। परिणामस्वरूप, आत्मवाद से बचने का एकमात्र तरीका यहाँ फिर से यह सिद्ध करना होगा कि मेरी पारलौकिक चेतना अपने अस्तित्व में ही, उसी प्रकार की अन्य चेतनाओं के अलौकिक अस्तित्व से प्रभावित है। क्योंकि हुसरल ने अस्तित्व को अर्थों की एक श्रृंखला तक सीमित कर दिया है, इसलिए मेरे अस्तित्व और दूसरे के अस्तित्व के बीच वह केवल ज्ञान का संबंध ही स्थापित कर पाए हैं। अतः हुसरल भी उसी प्रकार आत्मवाद से नहीं बच सकते जिस प्रकार कांट बच नहीं सके।
यदि अब हम कालानुक्रमिक अनुक्रम के नियमों का पालन करने के बजाय एक प्रकार के गैर-कालिक द्वंद्ववाद के नियमों से निर्देशित हों, तो हम पाएंगे कि हेगेल ने 'मन की घटना विज्ञान' के प्रथम खंड में इस समस्या के जो समाधान दिए हैं, उनमें उन्होंने हुसर्ल की तुलना में महत्वपूर्ण प्रगति की है। यहाँ दूसरे का प्रकट होना न केवल संसार और मेरे अनुभवजन्य "अहं" के गठन के लिए अपरिहार्य है, बल्कि आत्म-चेतना के रूप में मेरी चेतना के अस्तित्व के लिए भी अपरिहार्य है। वास्तव में, आत्म-चेतना के रूप में, आत्मा स्वयं को ही बोध करती है। "मैं = मैं" या "मैं मैं हूँ" समीकरण ठीक इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है। प्रारंभ में यह आत्म-चेतना शुद्ध आत्म-पहचान, स्वयं के लिए शुद्ध अस्तित्व है। इसमें स्वयं का विश्वास है, लेकिन इस विश्वास में अभी भी सत्यता का अभाव है। वास्तव में, यह विश्वास केवल उसी हद तक सत्य होगा जब स्वयं के लिए इसका अस्तित्व इसे एक स्वतंत्र वस्तु के रूप में दिखाई दे। इस प्रकार, आत्म-चेतना सर्वप्रथम एक विषय और एक वस्तु के बीच सत्यहीन समन्वित संबंध है; एक ऐसी वस्तु जो अभी तक वस्तुनिष्ठ नहीं हुई है और जो स्वयं यह विषय है। चूंकि इस चेतना की प्रेरणा स्वयं को सर्वरूप से सचेत करके अपनी अवधारणा को साकार करना है, इसलिए यह स्वयं को वस्तुनिष्ठता और प्रकट अस्तित्व प्रदान करके बाह्य रूप से मान्य बनाने की प्रवृत्ति रखती है। यह "मैं मैं हूँ" को स्पष्ट करने और विकास के अंतिम चरण को प्राप्त करने के लिए स्वयं को एक वस्तु के रूप में उत्पन्न करने से संबंधित है। दूसरे अर्थ में, यह अवस्था स्वाभाविक रूप से चेतना के विकास का मूल प्रेरक है; यह सामान्य रूप से आत्म-चेतना है, जिसे अन्य आत्म-चेतनाओं में पहचाना जाता है और जो उनके साथ-साथ स्वयं के साथ भी एकसमान है। मध्यस्थ 'अन्य' है। 'अन्य' मेरे साथ प्रकट होता है क्योंकि आत्म-चेतना प्रत्येक 'अन्य' के बहिष्कार के माध्यम से स्वयं के साथ एकसमान है। इस प्रकार, प्राथमिक तथ्य चेतनाओं की बहुलता है, और यह बहुलता बहिष्कार के दोहरे, पारस्परिक संबंध के रूप में साकार होती है। यहाँ हम उस संबंध की उपस्थिति में हैं जो पहले बताए गए आंतरिक निषेध के माध्यम से स्थापित होता है। कोई बाह्य शून्यता स्वयं में मेरी चेतना को दूसरे की चेतना से अलग नहीं करती; यह मेरे स्वयं के अस्तित्व के कारण ही है कि मैं दूसरे को बहिष्कृत करता हूँ। दूसरा वह है जो अपने अस्तित्व के कारण मुझे बहिष्कृत करता है, और जिसे मैं अपने

या किसी निश्चित अस्तित्व से मुक्त—जीवन से मुक्त—के रूप में प्रकट करना है।
लेकिन साथ ही मैं दूसरे की मृत्यु की खोज भी करता हूँ। इसका अर्थ है कि मैं स्वयं को एक ऐसे दूसरे के माध्यम से मध्यस्थता करने का प्रयास करता हूँ जो केवल दूसरा ही है—अर्थात् एक आश्रित चेतना के माध्यम से जिसका मूल गुण केवल दूसरे के लिए अस्तित्व में रहना है। यह उसी क्षण पूर्ण होगा जब मैं अपने जीवन को जोखिम में डालूँगा, क्योंकि दूसरे के विरुद्ध संघर्ष में मैंने अपने संवेदी अस्तित्व को जोखिम में डालकर अमूर्त बना दिया है। दूसरी ओर, दूसरा जीवन और स्वतंत्रता को प्राथमिकता देता है, जबकि यह दर्शाता है कि वह स्वयं को वस्तुनिष्ठ रूप से अविभाजित नहीं कर पाया है। इसलिए वह सामान्यतः बाह्य वस्तुओं से बंधा रहता है; वह मुझे और स्वयं को सारहीन प्रतीत होता है। वह दास है, मैं स्वामी हूँ; उसके लिए सार मैं ही हूँ। इस प्रकार प्रसिद्ध "स्वामी-दास" संबंध प्रकट होता है जिसने मार्क्स को अत्यंत गहराई से प्रभावित किया। हमें यहाँ इसके विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। यह समझना ही पर्याप्त है कि दास स्वामी का सत्य है। लेकिन यह एकतरफा मान्यता असमान और अपर्याप्त है, क्योंकि स्वामी के प्रति उसकी आत्म-निश्चितता का सत्य एक सारहीन चेतना है; इसलिए स्वामी स्वयं के लिए सत्य होने के बारे में निश्चित नहीं है। इस सत्य को प्राप्त करने के लिए एक ऐसे क्षण की आवश्यकता है जब स्वामी स्वयं के लिए वही करे जो वह दूसरे के प्रति करता है और जब दास दूसरे के प्रति वही करे जो वह स्वयं के लिए करता है। इस क्षण में एक सामान्य आत्म-चेतना प्रकट होगी जिसे अन्य आत्म-चेतनाओं में पहचाना जाता है और जो उनके साथ-साथ स्वयं के साथ भी एकसमान होती है।
इस प्रकार हेगेल की उत्कृष्ट अंतर्दृष्टि मुझे अपने अस्तित्व में दूसरे पर निर्भर बनाती है। उन्होंने कहा, मैं एक ऐसा अस्तित्व हूँ जो स्वयं के लिए है और जो केवल दूसरे के माध्यम से ही स्वयं के लिए है। इसलिए दूसरा मेरे हृदय तक प्रवेश करता है। मैं स्वयं पर संदेह किए बिना उस पर संदेह नहीं कर सकता क्योंकि "आत्म-चेतना तभी वास्तविक है जब वह दूसरे में अपनी प्रतिध्वनि (और अपने प्रतिबिंब) को पहचानती है।" चूंकि संदेह ही एक ऐसी चेतना को दर्शाता है जो स्वयं के लिए विद्यमान है, इसलिए दूसरे का अस्तित्व उस पर संदेह करने के मेरे प्रयास को उसी प्रकार प्रभावित करता है जैसे डेसकार्टेस के कार्यों में मेरा अस्तित्व व्यवस्थित संदेह को प्रभावित करता है। इस प्रकार आत्मवाद हमेशा के लिए समाप्त होता प्रतीत होता है। हुसर्ल से हेगेल की ओर बढ़ते हुए, हमने अपार प्रगति देखी है: पहला, वह निषेध जो दूसरे का निर्माण करता है, प्रत्यक्ष, आंतरिक और पारस्परिक है; दूसरा, यह प्रत्येक चेतना को जवाबदेह ठहराता है और उसके अस्तित्व के सबसे गहरे भाग तक प्रवेश करता है; समस्या को आंतरिक अस्तित्व के स्तर पर, सार्वभौमिक और पारलौकिक "मैं" के स्तर पर रखा गया है; अंततः, अपने मूल अस्तित्व में मैं दूसरे के मूल अस्तित्व पर निर्भर करता हूँ, और यह मानने के बजाय कि मेरा स्वयं के लिए होना मेरे दूसरों के लिए होने के

विपरीत है, मैं पाता हूँ कि दूसरों के लिए होना मेरे स्वयं के लिए होने के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में प्रकट होता है।
फिर भी, इस समाधान के व्यापक दायरे के बावजूद, स्वामी और दास के सिद्धांत में व्याप्त विस्तृत अंतर्दृष्टियों की समृद्धि और गहनता के बावजूद, क्या हम इससे संतुष्ट हो सकते हैं?
निस्संदेह, हेगेल ने चेतनाओं के अस्तित्व का प्रश्न उठाया है। वे स्वयं के लिए अस्तित्व और दूसरों के लिए अस्तित्व का अध्ययन कर रहे हैं, और उनका मानना है कि प्रत्येक चेतना में दूसरे की वास्तविकता समाहित होती है। फिर भी, यह निश्चित है कि यह तात्विक समस्या हर जगह ज्ञान के संदर्भ में ही व्यक्त की जाती है। चेतनाओं के संघर्ष का मूल कारण प्रत्येक चेतना द्वारा अपनी आत्म-निश्चितता को सत्य में परिवर्तित करने का प्रयास है। और हम जानते हैं कि यह सत्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मेरी चेतना दूसरे के लिए एक वस्तु बन जाए और साथ ही दूसरा मेरी चेतना के लिए एक वस्तु बन जाए। इस प्रकार, जब आदर्शवाद पूछता है, "दूसरा मेरे लिए वस्तु कैसे हो सकता है?" तो हेगेल आदर्शवाद के समान ही उत्तर देते हैं: यदि वास्तव में एक 'मैं' है जिसके लिए दूसरा एक वस्तु है, तो इसका कारण यह है कि एक 'दूसरा' है जिसके लिए 'मैं' वस्तु है। यहाँ ज्ञान अभी भी अस्तित्व का मापदंड है, और हेगेल दूसरों के लिए अस्तित्व की संभावना की कल्पना भी नहीं करते हैं जो अंततः "वस्तु के रूप में अस्तित्व" में परिणत न हो। इस प्रकार, एक सार्वभौमिक आत्म-चेतना जो इन सभी द्वंद्वात्मक चरणों के माध्यम से स्वयं को अलग करने का प्रयास करती है, स्वयं के ही स्वीकारोक्ति के अनुसार एक विशुद्ध रूप से खोखली सूत्र—"मैं मैं हूँ"—में सिमट जाती है। फिर भी हेगेल लिखते हैं, "आत्म-चेतना के संबंध में यह प्रस्ताव सारहीन है।" और एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "[यह] पूर्ण अमूर्तन की प्रक्रिया है जिसमें सभी तात्कालिक अस्तित्व को पार करना शामिल है और जिसके परिणामस्वरूप चेतना का विशुद्ध रूप से नकारात्मक अस्तित्व स्वयं के साथ एकरूप हो जाता है।" इस द्वंद्वात्मक संघर्ष का सीमित शब्द, सार्वभौमिक आत्म-चेतना, अपने अवतारों के बीच समृद्ध नहीं होती; इसके विपरीत, यह पूरी तरह से निष्फल हो जाती है। यह "मैं जानता हूँ कि दूसरा मुझे मैं के रूप में जानता है" से अधिक कुछ नहीं है। बेशक, ऐसा इसलिए है क्योंकि आदर्शवाद के लिए पूर्ण अस्तित्व और ज्ञान एक ही हैं। लेकिन इस पहचान में क्या निहित है?
प्रारंभ में, यह “मैं मैं हूँ,” पहचान का एक शुद्ध, सार्वभौमिक रूप, उस ठोस चेतना से बिलकुल अलग है जिसका वर्णन हमने प्रस्तावना में करने का प्रयास किया है। वहाँ हमने यह स्थापित किया कि आत्म-चेतना के अस्तित्व को ज्ञान के संदर्भ में परिभाषित नहीं किया जा सकता। ज्ञान का आरंभ चिंतन (प्रतिबिंब) से होता है, परन्तु “प्रतिबिंब-प्रतिबिंब-प्रतिबिंब” का खेल विषय-वस्तु का द्वैत नहीं है, यहाँ तक कि परोक्ष रूप से भी नहीं। इसका अस्तित्व किसी पारलौकिक चेतना पर निर्भर नहीं करता; बल्कि इसके अस्तित्व का स्वरूप स्वयं ही प्रश्न के घेरे में है। हमने बाद में भाग दो के प्रथम अध्याय में यह दिखाया कि परावर्तन और परावर्तक के बीच का संबंध किसी भी

प्रकार से पहचान का संबंध नहीं है और इसे हेगेल के “मैं = मैं” या “मैं मैं हूँ” तक सीमित नहीं किया जा सकता। परावर्तन स्वयं को परावर्तक नहीं बनाता; हम यहाँ एक ऐसे अस्तित्व की बात कर रहे हैं जो अपने अस्तित्व में ही स्वयं को नष्ट कर देता है और जो व्यर्थ ही स्वयं में विलीन होने का प्रयास करता है। यदि यह सत्य है कि यही एकमात्र वर्णन है जो हमें चेतना के मूल तथ्य को समझने में सक्षम बनाता है, तो हमें यह मानना होगा कि हेगेल उस अमूर्त 'मैं' के दोहरेपन की व्याख्या करने में सफल नहीं हुए हैं जिसे वे आत्म-चेतना के समतुल्य मानते हैं। अंततः हम उस पारलौकिक 'मैं' की विशुद्ध, अचिंतित चेतना से छुटकारा पाने में सफल हुए जिसने इसे अस्पष्ट कर दिया था और हमने यह सिद्ध किया कि आत्मत्व, व्यक्तिगत अस्तित्व का आधार, अहंकार या अहंकार के स्वयं से संदर्भ से पूरी तरह भिन्न है। इसलिए, चेतना को पारलौकिक अहंकार-विज्ञान के संदर्भ में परिभाषित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संक्षेप में, चेतना एक विशिष्ट, मूर्त सत्ता है, न कि पहचान का एक अमूर्त, अनुचित संबंध। यह आत्मत्व है, न कि किसी अस्पष्ट, निरर्थक अहंकार का स्थान। इसकी सत्ता पारलौकिक चिंतन द्वारा प्राप्त की जा सकती है, और चेतना का एक सत्य है जो 'अन्य' पर निर्भर नहीं करता; बल्कि चेतना का अस्तित्व ही, क्योंकि यह ज्ञान से स्वतंत्र है, अपने सत्य से पूर्व विद्यमान है। इस धरातल पर, जहाँ तक सरल यथार्थवाद का सवाल है, अस्तित्व ही सत्य को मापता है; क्योंकि चिंतनशील अंतर्ज्ञान का सत्य उसके अस्तित्व के अनुरूप होने से मापा जाता है: चेतना ज्ञात होने से पहले ही विद्यमान थी। इसलिए यदि चेतना को दूसरे के समक्ष पुष्ट किया जाता है, तो यह इसलिए है क्योंकि यह अपने अस्तित्व की मान्यता का दावा करती है, न कि किसी अमूर्त सत्य का। वास्तव में, यह सोचना नासमझी होगी कि स्वामी और दास के बीच के तीव्र और जोखिम भरे संघर्ष का एकमात्र उद्देश्य "मैं मैं हूँ" जैसे निरर्थक और अमूर्त सूत्र की मान्यता प्राप्त करना था। इसके अलावा, इस संघर्ष में ही छल निहित होगा क्योंकि अंततः प्राप्त होने वाला लक्ष्य सार्वभौमिक आत्म-चेतना होगा, "स्वयं द्वारा विद्यमान स्वयं का अंतर्ज्ञान।" यहाँ और हर जगह हमें हेगेल कीर्केगार्ड का विरोध करना चाहिए, जो व्यक्ति के दावों को उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में अपनी उपलब्धि, अपने मूर्त अस्तित्व की मान्यता और एक सार्वभौमिक संरचना के वस्तुनिष्ठ विनिर्देश का दावा करता है। बेशक, जो अधिकार मैं दूसरे से माँगता हूँ, वे स्वयं की सार्वभौमिकता को स्थापित करते हैं; व्यक्तियों के प्रति सम्मान मेरे व्यक्ति को सार्वभौमिक के रूप में मान्यता देने की माँग करता है। लेकिन यह मेरा मूर्त और व्यक्तिगत अस्तित्व ही है जो इस सार्वभौमिक में समाहित होकर इसे भर देता है; इसी अस्तित्व के लिए मैं अधिकारों की मांग करता हूँ। यहाँ विशिष्ट ही सार्वभौमिक का आधार और नींव है; इस संदर्भ में सार्वभौमिक का कोई अर्थ नहीं हो सकता यदि वह व्यक्ति विशेष के उद्देश्य से अस्तित्व में न हो।

अस्तित्व और ज्ञान की यह एकरूपता अनेक त्रुटियों या असंभवताओं को जन्म देती है। हम यहाँ दो शीर्षकों के अंतर्गत इन पर विचार करेंगे; अर्थात् हम हेगेल पर आशावाद का दोहरा आरोप लगाएंगे।
सबसे पहले, हेगेल हमें ज्ञानमीमांसा संबंधी आशावाद के दोषी प्रतीत होते हैं। उन्हें लगता है कि आत्म-चेतना का सत्य प्रकट हो सकता है; अर्थात्, चेतनाओं के बीच एक वस्तुनिष्ठ सहमति स्थापित हो सकती है—दूसरे द्वारा मुझे पहचानने और मेरे द्वारा दूसरे को पहचानने के अधिकार से। यह पहचान समवर्ती और पारस्परिक हो सकती है: "मैं जानता हूँ कि दूसरा मुझे स्वयं के रूप में जानता है।" यह वास्तव में और सत्य रूप से आत्म-चेतना की सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। लेकिन दूसरों की समस्या का सही कथन इस सार्वभौमिकता की ओर मार्ग को असंभव बना देता है। यदि दूसरा वास्तव में मेरे "स्वयं" को मुझसे संदर्भित कर सकता है, तो कम से कम द्वंद्वात्मक विकास के अंत में, मेरे लिए उसके महत्व, उसके लिए उसके महत्व, मेरे लिए मेरे महत्व और उसके लिए उसके महत्व के बीच एक समान माप होना चाहिए। बेशक, यह समरूपता प्रारंभ में मौजूद नहीं होती; हेगेल इससे सहमत हैं। "स्वामी- दास" संबंध पारस्परिक नहीं है। लेकिन हेगेल पुष्टि करते हैं कि पारस्परिकता स्थापित होने में सक्षम होनी चाहिए। शुरुआत में ही वह एक भ्रम पैदा कर रहे हैं—इतना सहज कि यह स्वैच्छिक प्रतीत होता है—वस्तु होने और जीवन के बीच। वे कहते हैं कि दूसरा मुझे एक वस्तु के रूप में दिखाई देता है। अब वस्तु दूसरे में मैं स्वयं हूँ। जब हेगेल इस वस्तु-अवस्था को और अधिक सटीक रूप से परिभाषित करना चाहते हैं, तो वे इसमें तीन तत्वों को भेदते हैं: “दूसरे में स्वयं की यह अनुभूति है: (1) आत्म-पहचान का अमूर्त क्षण। (2) हालाँकि, प्रत्येक व्यक्ति में यह विशिष्टता भी होती है कि वह स्वयं को दूसरे के समक्ष एक बाह्य वस्तु के रूप में, एक तात्कालिक ठोस और बोधगम्य अस्तित्व के रूप में प्रकट करता है। (3) प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः अपने लिए है और दूसरे के विपरीत व्यक्तिगत है।”
हम देखते हैं कि आत्म-पहचान का अमूर्त क्षण दूसरे के ज्ञान में निहित है। यह संपूर्ण संरचना के दो अन्य क्षणों के साथ निहित है। लेकिन—संश्लेषण के दार्शनिक के लिए एक विचित्र बात—हेगेल ने यह प्रश्न नहीं किया कि क्या ये तीनों तत्व एक दूसरे पर इस प्रकार प्रतिक्रिया नहीं करते कि विश्लेषण से परे एक नया रूप निर्मित हो जाए। वे अपने दृष्टिकोण को 'मन की घटना विज्ञान' में परिभाषित करते हैं जब वे घोषणा करते हैं कि दूसरा सबसे पहले गैर-आवश्यक (यह ऊपर उद्धृत तीसरे क्षण का अर्थ है) और "जीवन के अस्तित्व में डूबी हुई चेतना" के रूप में प्रकट होता है। लेकिन यहाँ हम अमूर्त क्षण और जीवन के शुद्ध सह-अस्तित्व की बात कर रहे हैं। इसलिए यह पर्याप्त है कि मैं या दूसरा व्यक्ति अपने जीवन को जोखिम में डालें ताकि स्वयं को खतरे में डालने के कार्य में ही हम जीवन और चेतना के विश्लेषणात्मक पृथक्करण को महसूस कर सकें: “जो दूसरे व्यक्ति का प्रत्येक चेतना के लिए महत्व है, वही प्रत्येक चेतना दूसरे व्यक्ति के लिए है; प्रत्येक चेतना बदले में अपनी स्वयं की गतिविधि और दूसरे व्यक्ति की गतिविधि के माध्यम से अपने लिए

नहीं है, बल्कि इसलिए है क्योंकि वस्तुनिष्ठता एक स्पष्ट निषेध की मांग करती है: वस्तु वह है जो मैं स्वयं को न होने देता हूँ, जबकि मैं स्वयं वह हूँ जो मैं स्वयं को होने देता हूँ। मैं हर जगह स्वयं का पीछा करता हूँ, मैं स्वयं से बच नहीं सकता, मैं स्वयं को पीछे से पुनः पकड़ता हूँ। यदि मैं स्वयं को वस्तु बनाने का प्रयास भी करूँ, तो मैं उस वस्तु के केंद्र में ही स्वयं होऊंगा; और उस वस्तु के ठीक केंद्र में मुझे वह कर्ता होना होगा जो उसे देख रहा है। इसके अलावा, हेगेल ने इसी ओर इशारा किया था जब उन्होंने कहा था कि मेरे लिए स्वयं के लिए वस्तु होने के लिए दूसरे का अस्तित्व आवश्यक है। लेकिन आत्म-चेतना को "मैं मैं हूँ" के द्वारा व्यक्त मानकर— अर्थात् इसे आत्म-ज्ञान के साथ जोड़कर—वह अपने पहले कथनों के परिणामों को निकालने में विफल रहा; क्योंकि उसने चेतना में एक ऐसी वस्तु को समाहित कर दिया जो दूसरे द्वारा बिना किसी परिवर्तन के विलीन होने की क्षमता रखती है। परन्तु यदि वस्तु होना ही ठीक-ठीक 'मैं नहीं' होना है, तो किसी चेतना के लिए वस्तु होने का तथ्य चेतना को उसके स्वयं के स्वरूप में नहीं, बल्कि दूसरे के प्रति उसके स्वरूप में मौलिक रूप से परिवर्तित करता है। दूसरे की चेतना वह है जिसका मैं मात्र चिंतन कर सकता हूँ और जो इस तथ्य के कारण मुझे एक शुद्ध प्रदत्त के रूप में प्रकट होती है, न कि उस रूप में जो मुझे होना चाहिए। यह वह है जो मुझे सार्वभौमिक समय में (अर्थात् क्षणों के मूल विक्षेपण में) प्राप्त होती है, न कि अपने स्वयं के कालिक स्वरूप की एकता के भीतर प्रकट होती है। क्योंकि एकमात्र चेतना जो मुझे अपने कालिक स्वरूप में प्रकट हो सकती है, वह मेरी है, और वह ऐसा केवल सभी वस्तुनिष्ठता का त्याग करके ही कर सकती है। संक्षेप में, 'स्वयं के लिए' को 'स्वयं के लिए' के रूप में दूसरे द्वारा नहीं जाना जा सकता। जिस वस्तु को मैं 'अन्य' के नाम से समझता हूँ, वह मुझे एक बिल्कुल भिन्न रूप में दिखाई देती है। 'अन्य' अपने आप में वह नहीं है जो वह मुझे दिखाई देता है; मैं अपने आप में वह नहीं दिखाई देता जो मैं 'अन्य' के लिए हूँ। मैं अपने लिए उस 'स्व' को समझने में असमर्थ हूँ जो मैं 'अन्य' के लिए हूँ, ठीक उसी प्रकार जैसे मैं 'अन्य' को वस्तु मानकर यह समझने में असमर्थ हूँ कि 'अन्य' अपने लिए क्या है। तो फिर हम आत्म-चेतना के नाम से एक सार्वभौमिक अवधारणा कैसे स्थापित कर सकते हैं, जिसमें मेरे लिए और मेरे स्वयं के प्रति मेरी चेतना और 'अन्य' के बारे में मेरा ज्ञान समाहित हो? लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती।
हेगेल के अनुसार, दूसरा एक वस्तु है, और मैं स्वयं को दूसरे में एक वस्तु के रूप में अनुभव करता हूँ। परन्तु इनमें से एक कथन दूसरे को नष्ट कर देता है। दूसरे में स्वयं को एक वस्तु के रूप में अनुभव करने के लिए, मुझे दूसरे को विषय के रूप में अनुभव करना होगा; अर्थात्, उसे उसकी आंतरिकता में अनुभव करना होगा। परन्तु जब तक दूसरा मुझे वस्तु के रूप में दिखाई देता है, तब तक उसके प्रति मेरी वस्तुनिष्ठता मुझे दिखाई नहीं दे सकती। बेशक, मैं यह अनुभव करता हूँ कि वस्तु के रूप में दूसरा अपने इरादों और कार्यों के माध्यम से मुझे संदर्भित करता है, परन्तु वस्तु होने के कारण ही दर्पण के रूप में दूसरा धुंधला हो जाता है और कुछ भी प्रतिबिंबित नहीं करता। ये

इरादे और ये कार्य संसार में वस्तुएँ हैं और संसार के समय में अनुभव किए जाते हैं; वे स्थापित और चिंतन किए जाते हैं, उनका अर्थ मेरे लिए एक वस्तु है। इस प्रकार, मैं स्वयं को केवल एक पारलौकिक गुण के रूप में ही देख सकता हूँ, जिसे दूसरे के कार्य और इरादे संदर्भित करते हैं; लेकिन चूंकि दूसरे की वस्तुनिष्ठता उसके लिए मेरी वस्तुनिष्ठता को नष्ट कर देती है, इसलिए मैं स्वयं को एक आंतरिक विषय के रूप में उस रूप में समझता हूँ जिससे वे इरादे और वे कार्य संबंधित हैं। यह समझना आवश्यक है कि स्वयं द्वारा स्वयं की यह अनुभूति विशुद्ध चेतना के संदर्भ में है, ज्ञान के संदर्भ में नहीं; एक परमानंदमय आत्म-चेतना के रूप में स्वयं को धारण करने के कारण, मैं दूसरे को एक ऐसी वस्तु के रूप में समझता हूँ जो मेरी ओर इंगित करती है। इस प्रकार हेगेल का आशावाद विफल हो जाता है: दूसरे-वस्तु और मैं-विषय के बीच कोई सामान्य माप नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे आत्म-चेतना और दूसरे की चेतना के बीच नहीं है। मैं दूसरे में स्वयं को नहीं जान सकता यदि दूसरा मेरे लिए पहले एक वस्तु है; न ही मैं दूसरे को उसके वास्तविक स्वरूप में—अर्थात् उसकी व्यक्तिपरकता में—समझ सकता हूँ। चेतनाओं के संबंध से कोई सार्वभौमिक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसे ही हम उनका सत्तामीमांसीय पृथक्करण कहेंगे।
लेकिन हेगेल में आशावाद का एक और अधिक मौलिक रूप भी है। इसे सत्तामीमांसीय आशावाद कहा जा सकता है। हेगेल के लिए वास्तव में सत्य, संपूर्ण का सत्य है। और वे दूसरे की समस्या पर विचार करने के लिए स्वयं को सत्य के परिप्रेक्ष्य में रखते हैं—अर्थात, संपूर्ण के परिप्रेक्ष्य में। इस प्रकार जब हेगेलियन अद्वैतवाद चेतनाओं के संबंध पर विचार करता है, तो वह स्वयं को किसी विशेष चेतना में नहीं रखता। यद्यपि संपूर्ण को साकार किया जाना है, वह पहले से ही वहाँ मौजूद है, जो सभी सत्यों का सत्य है। इस प्रकार जब हेगेल लिखते हैं कि प्रत्येक चेतना, क्योंकि वह स्वयं के साथ एकरूप है, दूसरे से भिन्न है, तो उन्होंने स्वयं को संपूर्ण में, चेतनाओं से बाहर स्थापित किया है, और वे उन्हें परम सत्ता के दृष्टिकोण से देखते हैं। क्योंकि व्यक्तिगत चेतनाएँ संपूर्ण में क्षण हैं, ऐसे क्षण जो स्वयं में अविभाज्य हैं, और संपूर्ण चेतनाओं के बीच मध्यस्थ है। इस प्रकार ज्ञानमीमांसीय आशावाद के समानांतर एक सत्तामीमांसीय आशावाद व्युत्पन्न होता है: बहुलता को समग्रता की ओर पार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। लेकिन अगर हेगेल इस श्रेष्ठता की वास्तविकता को साबित कर पाते हैं, तो इसका कारण यह है कि उन्होंने इसे शुरुआत में ही स्वयं को दे दिया है। वास्तव में, वे अपनी चेतना को भूल चुके हैं; वे संपूर्ण हैं, और इसलिए यदि वे विशिष्ट चेतनाओं की समस्या को इतनी आसानी से हल कर लेते हैं, तो इसका कारण यह है कि उनके लिए इस संबंध में कभी कोई वास्तविक समस्या रही ही नहीं। वास्तव में, वे अपनी चेतना और दूसरे की चेतना के बीच संबंध का प्रश्न ही नहीं उठाते। अपनी चेतना को पूर्णतः अमूर्त करके, वे विशुद्ध रूप से दूसरों की चेतनाओं के बीच संबंध का अध्ययन करते हैं—अर्थात् उन चेतनाओं का संबंध जो उनके लिए पहले से ही वस्तुएँ हैं, जिनका स्वरूप उनके अनुसार, एक

विशेष प्रकार की वस्तु—विषय-वस्तु—होना है। उनके द्वारा अपनाए गए सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण से ये चेतनाएँ एक-दूसरे के पूर्णतः समतुल्य हैं, यद्यपि उनमें से प्रत्येक एक विशेष विशेषाधिकार द्वारा शेष से अलग है।
लेकिन अगर हेगेल खुद को भूल गए हैं, तो हम हेगेल को नहीं भूल सकते। इसका अर्थ है कि हम फिर से कॉगिटो (चेतना की आंतरिकता) की ओर लौट रहे हैं। वास्तव में, जैसा कि हमने स्थापित किया है, यदि मेरी चेतना का अस्तित्व ज्ञान तक सीमित नहीं किया जा सकता, तो मैं अपने अस्तित्व को एक ऐसे पारस्परिक और सार्वभौमिक संबंध की ओर नहीं ले जा सकता जिसमें मैं अपने और दूसरों के अस्तित्व को समतुल्य देख सकूँ। इसके विपरीत, मुझे अपने अस्तित्व में स्वयं को स्थापित करना होगा और दूसरे की समस्या को अपने अस्तित्व के संदर्भ में प्रस्तुत करना होगा। संक्षेप में, एकमात्र प्रारंभिक बिंदु कॉगिटो की आंतरिकता है। इससे हमें यह समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आंतरिकता से आरंभ करके, दूसरे के अस्तित्व को एक ऐसे पारगमन के रूप में पुनः खोजना चाहिए जो उस आंतरिकता के अस्तित्व को ही निर्धारित करता है। इसका अनिवार्य अर्थ यह है कि चेतनाओं की बहुलता सिद्धांत रूप में अतुलनीय है, क्योंकि मैं निस्संदेह स्वयं को एक समग्रता की ओर ले जा सकता हूँ, लेकिन मैं इस समग्रता में स्वयं को इस प्रकार स्थापित नहीं कर सकता कि मैं स्वयं का और दूसरे का चिंतन कर सकूँ। कोई भी तार्किक या ज्ञानमीमांसीय आशावाद चेतनाओं की बहुलता के रहस्य को छिपा नहीं सकता। यदि हेगेल का मानना था कि ऐसा संभव है, तो इसका कारण यह है कि वे अस्तित्व के उस विशेष आयाम की प्रकृति को कभी समझ ही नहीं पाए जो आत्मचेतना है। एक सत्तामीमांसा का कार्य इस रहस्य का वर्णन करना और इसे अस्तित्व की मूल प्रकृति में स्थापित करना हो सकता है, परन्तु सत्तामीमांसा इसे दूर करने में असमर्थ है। यह संभव है—जैसा कि हम आगे और बेहतर ढंग से समझेंगे—कि हम आत्मवाद का खंडन कर सकें और यह सिद्ध कर सकें कि दूसरे का अस्तित्व हमारे लिए स्पष्ट और निश्चित है। परन्तु यदि हम दूसरे के अस्तित्व को मेरे स्वयं के अस्तित्व की निश्चितता में भागीदार बनाने में सफल भी हो जाएँ, तो भी हम किसी अंतर-एकल समग्रता की ओर दूसरे को "पार" नहीं कर पाएँगे। जब तक चेतनाएँ विद्यमान रहेंगी, चेतनाओं का पृथक्करण और संघर्ष बना रहेगा; हम केवल उनके आधार और उनके वास्तविक क्षेत्र की खोज कर पाएँगे।
इस लंबी आलोचना से हमें क्या लाभ हुआ? बस इतना ही: यदि हमें आत्मवाद का खंडन करना है, तो दूसरे के साथ मेरा संबंध मूलतः अस्तित्व का अस्तित्व से संबंध है, न कि ज्ञान का ज्ञान से। हमने हुसर्ल की विफलता देखी है जब उन्होंने इस विशेष स्तर पर अस्तित्व को ज्ञान से मापा, और हेगेल की विफलता जब उन्होंने ज्ञान और अस्तित्व को एक समान माना। लेकिन हमने यह भी माना है कि हेगेल, यद्यपि उनकी दृष्टि पूर्ण आदर्शवाद की अवधारणा से धुंधली है, फिर भी इस चर्चा को उसके सही स्तर पर लाने में सफल रहे हैं।

colo, habito

Worum-willen के रूप में इंगित करते हैं। अवास्तविक अवस्था—जो मेरी सामान्य अवस्था है, क्योंकि मैंने अभी तक प्रामाणिकता में अपना रूपांतरण नहीं किया है—मुझे मेरे "साथ होने" को प्रकट करती है, न कि एक अद्वितीय व्यक्तित्व के अन्य समान रूप से अद्वितीय व्यक्तित्वों के साथ संबंध के रूप में, न ही "अति अपरिहार्य प्राणियों" के आपसी जुड़ाव के रूप में, बल्कि संबंध की शर्तों की पूर्ण विनिमयशीलता के रूप में। शर्तों का निर्धारण अभी भी अधूरा है; मैं दूसरे का विरोध नहीं करता, क्योंकि मैं "मैं" नहीं हूँ; इसके बजाय हमारे पास "वे" की सामाजिक एकता है। समस्या को व्यक्तिगत विषय की असंवादनीयता के स्तर पर रखना, दुनिया को उलट-पुलट करने जैसा था। प्रामाणिकता और व्यक्तित्व अर्जित करने पड़ते हैं: मैं अपनी प्रामाणिकता तभी प्राप्त करूँगा जब अंतरात्मा की पुकार (Ruf des Gewissens) के प्रभाव में आकर मैं दृढ़ निश्चय (Entschlossenheit) के साथ मृत्यु की ओर अग्रसर होऊँ, मानो अपनी सबसे विशिष्ट संभावना की ओर। इस क्षण मैं स्वयं को प्रामाणिकता में प्रकट करता हूँ, और मैं दूसरों को भी अपने साथ प्रामाणिकता की ओर ले जाता हूँ।
हाइडेगर की अंतर्दृष्टि को सबसे सटीक रूप से दर्शाने वाली अनुभवजन्य छवि किसी संघर्ष की नहीं, बल्कि एक दल की है। दूसरे और मेरी चेतना का मूल संबंध 'तुम' और 'मैं' नहीं, बल्कि 'हम' है। हाइडेगर का 'साथ होना' किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के सामने स्पष्ट और विशिष्ट स्थिति नहीं है; यह ज्ञान नहीं है। यह दल के एक सदस्य का अपने साथियों के साथ मौन अस्तित्व है, वह अस्तित्व जिसे चप्पू की लय या नाविक की नियमित गति नाविकों को बोध कराती है और जिसे प्राप्त किए जाने वाले सामान्य लक्ष्य, पीछे छोड़ी जाने वाली नाव या नौका और क्षितिज पर दिखाई देने वाली संपूर्ण दुनिया (दर्शक, प्रदर्शन आदि) द्वारा उनके सामने प्रकट किया जाता है। इसी सह-अस्तित्व के साझा आधार पर मेरे 'मृत्यु की ओर' अस्तित्व का अचानक प्रकटीकरण मुझे एक पूर्ण 'साझा एकांत' में खड़ा कर देता है, जबकि साथ ही यह दूसरों को भी उस एकांत में ले जाता है।
इस बार हमें सचमुच वही मिला है जो हमने माँगा था: एक ऐसा अस्तित्व जो अपने आप में दूसरे के अस्तित्व को समाहित करता है। फिर भी हम संतुष्ट नहीं हो सकते। सबसे पहले तो, हाइडेगर का सिद्धांत हमें समाधान का संकेत देता है, न कि स्वयं समाधान। भले ही हम बिना किसी संकोच के उनके "के लिए होने" के स्थान पर "साथ होने" के प्रतिस्थापन को स्वीकार कर लें, फिर भी यह हमारे लिए आधारहीन एक सरल कथन ही रहेगा। निःसंदेह हम अपने अस्तित्व की कुछ अनुभवजन्य अवस्थाओं का सामना करेंगे—विशेष रूप से वह जिसे जर्मन लोग अनुवाद न करने योग्य नाम Stimmung13 देते हैं—जो विरोध के संबंध के बजाय चेतनाओं के सह-अस्तित्व को प्रकट करती प्रतीत होती हैं। लेकिन ठीक इसी सह-अस्तित्व की व्याख्या करना आवश्यक है। यह हमारे अस्तित्व का एकमात्र आधार क्यों बन जाता है? यह दूसरों के साथ हमारे संबंधों का मूल प्रकार क्यों है? हाइडेगर ने ऐसा क्यों माना कि उन्हें 'साथ होने' की इस अनुभवजन्य और तात्विक स्थापना से उस स्थिति तक जाने का अधिकार है जिसमें सह-अस्तित्व को

मेरे 'विश्व में होने' की तात्विक संरचना के रूप में दावा किया गया है? और यह सह-अस्तित्व किस प्रकार का है? वह निषेध किस हद तक कायम रहता है जो दूसरे को 'अन्य' बनाता है और उसे गैर-जरूरी बनाता है? यदि हम इसे पूरी तरह से दबा देते हैं, तो क्या हम एकेश्वरवाद में नहीं पड़ जाएँगे? और यदि हम इसे दूसरे के साथ संबंध की एक आवश्यक संरचना के रूप में संरक्षित करना चाहते हैं, तो इसमें क्या परिवर्तन होना चाहिए ताकि यह 'दूसरों के लिए होने' में निहित विरोध के चरित्र को खो दे और एक ऐसे संबंध का चरित्र प्राप्त कर ले जो एकजुटता पैदा करता है और जो 'साथ होने' की संरचना ही है? और हम वहाँ से विश्व में दूसरे के ठोस अनुभव तक कैसे पहुँच पाएँगे, जैसे कि जब मैं अपनी खिड़की से सड़क पर चलते हुए किसी व्यक्ति को देखता हूँ? यह सोचना निश्चित रूप से लुभावना है कि मैं अपनी स्वतंत्रता की प्रेरणा और अपनी अनूठी संभावनाओं के चुनाव के बल पर मानव जाति के अविभेदित आधार पर विशिष्ट स्थान रखता हूँ—और शायद इस धारणा में सत्य का एक महत्वपूर्ण अंश निहित है। लेकिन कम से कम इस रूप में ऐसा दृष्टिकोण गंभीर आपत्तियों को जन्म देता है।
सबसे पहले, यहाँ सत्तामीमांसा का दृष्टिकोण कांट के विषय के अमूर्त दृष्टिकोण से जुड़ता है। यह कहना कि मानवीय वास्तविकता (भले ही वह मेरी मानवीय वास्तविकता हो) अपनी सत्तामीमांसा संरचना के माध्यम से "साथ है", इसका अर्थ है कि वह स्वभाव से ही साथ है—अर्थात, एक आवश्यक और सार्वभौमिक क्षमता में। यदि यह कथन सिद्ध भी हो जाए, तो भी हम किसी ठोस साथ होने की व्याख्या नहीं कर पाएंगे। दूसरे शब्दों में, सत्तामीमांसा संबंधी सह-अस्तित्व जो "संसार में होने" की संरचना के रूप में प्रकट होता है, किसी भी प्रकार से सत्तामीमांसा संबंधी साथ होने का आधार नहीं बन सकता, जैसे कि उदाहरण के लिए, पियरे के साथ मेरी मित्रता में या एनी और मेरे बीच के युगल में प्रकट होने वाला सह-अस्तित्व। वास्तव में, यह सिद्ध करना आवश्यक होगा कि "पियरे के साथ होना" या "एनी के साथ होना" मेरे ठोस अस्तित्व की एक संरचना है। लेकिन हाइडेगर द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से यह असंभव है। तात्विक स्तर पर लिए गए "साथ" संबंध में "अन्य" को वास्तव में उस प्रत्यक्ष मानवीय वास्तविकता से अधिक ठोस रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता जिसका वह प्रतिरूप है; यह एक अमूर्त शब्द है और इसलिए अविभाज्य है, और इसमें उस "अन्य"—पियरे या एनी—में विलीन होने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार, "साथ" का संबंध "अन्य" की पहचान की मनोवैज्ञानिक, ठोस समस्या को हल करने में हमारे लिए बिल्कुल भी उपयोगी नहीं हो सकता। यहाँ दो असंवाद योग्य स्तर और दो समस्याएँ हैं जिनके लिए अलग-अलग समाधानों की आवश्यकता है।
यह कहा जा सकता है कि यह उन कठिनाइयों में से एक है जिनका सामना हाइडेगर को सामान्यतः सत्तामीमांसा स्तर से सत्तामीमांसा स्तर तक जाने में, सामान्यतः "संसार में होने" से इस विशेष साधन के साथ मेरे संबंध तक जाने में, मेरे मृत्यु की ओर होने से, जो मेरी मृत्यु को मेरी सबसे आवश्यक संभावना बनाता है, उस "सत्तामीमांसा" मृत्यु तक जाने में करना पड़ता है जिसका अनुभव मैं इस या उस बाह्य अस्तित्व से सामना करने पर करूँगा। परन्तु

इस कठिनाई को, यदि आवश्यक हो, तो अन्य सभी मामलों में छिपाया जा सकता है क्योंकि, उदाहरण के लिए, यह मानवीय वास्तविकता ही है जो एक ऐसे संसार के अस्तित्व का कारण बनती है जिसमें मानवीय वास्तविकता के लिए मृत्यु का खतरा छिपा होता है। इससे भी बेहतर, यदि संसार है, तो इसलिए है क्योंकि यह उस अर्थ में "नश्वर" है जिस अर्थ में हम कहते हैं कि एक घाव नश्वर होता है। परन्तु एक स्तर से दूसरे स्तर तक जाने की असंभवता तब स्पष्ट हो जाती है जब हम दूसरे की समस्या का सामना करते हैं। वास्तव में, भले ही संसार में अपने परमानंदमय उत्कर्ष में मानवीय वास्तविकता एक संसार का निर्माण करती हो, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका साथ होना किसी अन्य मानवीय वास्तविकता को जन्म देता है। बेशक, मैं वह सत्ता हूँ जिसके द्वारा अस्तित्व है (es gibt)। लेकिन क्या हम यह कह सकते हैं कि मैं वह सत्ता हूँ जिसके द्वारा दूसरी मानवीय वास्तविकता है? यदि हम इससे यह समझते हैं कि मैं वह सत्ता हूँ जिसके लिए मेरे लिए एक और मानवीय वास्तविकता है, तो यह एक स्पष्ट सत्य है। यदि हमारा अर्थ यह है कि मैं वह सत्ता हूँ जिसके द्वारा सामान्यतः अन्य अस्तित्व हैं, तो हम आत्मवाद में पड़ जाते हैं। वास्तव में, यह मानवीय वास्तविकता जिसके साथ मैं हूँ, स्वयं मेरे साथ संसार में है; यह एक संसार का स्वतंत्र आधार है। (यह इसे मेरा संसार कैसे बनाता है? हम साथ होने से उन संसारों की पहचान नहीं निकाल सकते जिनमें मानवीय वास्तविकताएँ हैं।) मानवीय वास्तविकता अपनी स्वयं की संभावनाएँ हैं। तब यह स्वयं ही अस्तित्व में आ जाता है, मुझे इसके अस्तित्व को "वहाँ है" के रूप में प्रकट करने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार मैं एक संसार को "नश्वर" के रूप में स्थापित कर सकता हूँ, परन्तु मैं एक मानवीय वास्तविकता को एक ठोस अस्तित्व के रूप में स्थापित नहीं कर सकता जो स्वयं अपनी संभावनाओं का समूह हो। "मेरे" अस्तित्व के दृष्टिकोण से बोधित मेरा साथ होना, केवल मेरे अस्तित्व में निहित एक शुद्ध आवश्यकता के रूप में ही माना जा सकता है; यह दूसरे के अस्तित्व का जरा सा भी प्रमाण नहीं है, मेरे और दूसरे के बीच जरा सा भी सेतु नहीं है।
अधिक सटीक रूप से कहें तो, मेरे और एक अमूर्त 'अन्य' के बीच यह तात्विक संबंध, इस तथ्य के कारण कि यह सामान्य रूप से दूसरों के साथ मेरे संबंध को परिभाषित करता है, मेरे और पियरे के बीच एक विशिष्ट तात्विक संबंध को सुगम बनाने से बहुत दूर है; वास्तव में, यह मेरे अस्तित्व और मेरे अनुभव में दिए गए एक विशिष्ट 'अन्य' के बीच किसी भी ठोस संबंध को असंभव बना देता है। यदि 'अन्य' के साथ मेरा संबंध पूर्व-निर्धारित है, तो यह दूसरों के साथ संबंध की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देता है। अनुभवजन्य और आकस्मिक संबंध केवल इसके विशिष्टीकरण हो सकते हैं, विशिष्ट मामले नहीं। किसी नियम के विशिष्टीकरण केवल दो परिस्थितियों में हो सकते हैं: या तो नियम अनुभवजन्य, विशिष्ट तथ्यों से आगमनात्मक रूप से व्युत्पन्न होता है, और यहाँ ऐसा नहीं है; या फिर यह पूर्व-निर्धारित है और अनुभव को एकीकृत करता है, जैसा कि कांट के सिद्धांत करते हैं। वास्तव में, इस बाद वाले मामले में, इसका दायरा अनुभव की सीमाओं तक ही सीमित है: मैं वस्तुओं में केवल वही पाता हूँ जो

मैंने उनमें डाला है। अब दो ठोस "संसार में मौजूद प्राणियों" को जोड़ने का कार्य मेरे अनुभव का हिस्सा नहीं हो सकता; और इसलिए यह 'साथ होने' के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। लेकिन चूंकि नियम अपने आप में एक स्पष्ट क्षेत्र है, इसलिए यह उन सभी वास्तविक तथ्यों को पूर्व-निर्धारित रूप से बाहर कर देता है जिन्हें इसने स्वयं निर्मित नहीं किया है। समय का अस्तित्व, मेरी संवेदनशीलता के एक पूर्व-निर्धारित रूप के रूप में, मुझे एक ऐसे अलौकिक समय से सभी संबंधों से पूर्व-निर्धारित रूप से अलग कर देगा जिसमें एक सत्ता के लक्षण हों। इस प्रकार, एक सत्तामीमांसीय और अतः पूर्व-निर्धारित "साथ होने" का अस्तित्व, एक ठोस मानवीय वास्तविकता के साथ सभी सत्तामीमांसीय संबंधों को असंभव बना देता है जो स्वयं एक परम पारलौकिक के रूप में उत्पन्न होगी। "साथ होना," जिसे मेरे अस्तित्व की संरचना के रूप में समझा जाता है, मुझे उतना ही अलग-थलग कर देता है जितना कि आत्मवाद के तर्क।
इसका कारण यह है कि हाइडेगर का पारलौकिकता का सिद्धांत भ्रामक है: यह निश्चित रूप से आदर्शवाद को पार करने का लक्ष्य रखता है, और यह इस हद तक सफल भी होता है कि आदर्शवाद हमें एक ऐसी व्यक्तिपरकता प्रस्तुत करता है जो स्वयं में स्थिर है और अपनी ही छवियों का चिंतन करती है। लेकिन इस प्रकार पार किया गया आदर्शवाद केवल आदर्शवाद का एक विकृत रूप है, एक प्रकार का अनुभवजन्य-आलोचनात्मक मनोविज्ञान। निःसंदेह हाइडेगर की मानवीय वास्तविकता "स्वयं से बाहर विद्यमान है"। लेकिन स्वयं से बाहर का यह अस्तित्व ही हाइडेगर की स्वयं की परिभाषा है। यह न तो प्लेटोनिक [नव-प्लेटोनिक?] परमानंद से मिलता-जुलता है जहाँ अस्तित्व वास्तव में अलगाव है, किसी अन्य में अस्तित्व है, न ही मालेब्रांच के ईश्वर में दर्शन से, परमानंद और आंतरिक निषेध की हमारी अपनी अवधारणा से। हाइडेगर आदर्शवाद से बच नहीं पाते; स्वयं से परे उसकी उड़ान, उसके अस्तित्व की एक पूर्व-निर्धारित संरचना के रूप में, उसे उसी प्रकार अलग-थलग कर देती है जिस प्रकार हमारे अनुभव की पूर्व-निर्धारित स्थितियों पर कांट का चिंतन करता है। वास्तव में, इस उड़ान की दुर्गम सीमा पर मानवीय वास्तविकता जो पुनः खोजती है, वह अभी भी स्वयं ही है: स्वयं से परे की उड़ान स्वयं की ओर की उड़ान है, और दुनिया स्वयं और स्वयं के बीच की शुद्ध दूरी के रूप में प्रकट होती है।
इसलिए, 'सीन अंड ज़ाइट' में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों के एक साथ पूर्ण हो जाने की खोज करना व्यर्थ होगा। हाइडेगर का मानवीय वास्तविकता को उसके एकांत से बाहर लाने का प्रयास उन्हीं कठिनाइयों को जन्म देता है जिनका सामना आदर्शवाद को आम तौर पर तब करना पड़ता है जब वह हमारे समान ठोस प्राणियों के अस्तित्व को स्थापित करने का प्रयास करता है, जो हमारे अनुभव से परे होते हैं, और जो अपने निर्माण के दौरान भी हमारे पूर्वधारणाओं से उत्पन्न नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अलगाव से बच जाते हैं क्योंकि वे "स्वयं के बाहर" को कभी "स्वयं की ओर स्वयं के बाहर" और कभी "स्वयं के बाहर दूसरों में" के रूप में लेते हैं। लेकिन "स्वयं के बाहर" की

दूसरी व्याख्या, जिसे हाइडेगर अपने कुटिल तर्क के माध्यम से चुपके से शामिल करते हैं, पहली व्याख्या के साथ पूरी तरह असंगत है। मानवीय वास्तविकता अपने परमानंद के केंद्र में भी अकेली ही रहती है। हाइडेगर की शिक्षाओं के गहन विश्लेषण से हमें एक नया और सार्थक निष्कर्ष प्राप्त होता है: मानवीय वास्तविकता अकेली रहती है क्योंकि दूसरे का अस्तित्व एक आकस्मिक और अविभाज्य तथ्य के समान है। हम दूसरे से मिलते हैं; हम उसका निर्माण नहीं करते। और यदि यह तथ्य हमें एक आवश्यकता के रूप में भी दिखाई देता है, तो भी यह उन "हमारे अनुभव की संभावना की शर्तों" या - यदि आप चाहें तो - सत्तामीमांसीय आवश्यकता से संबंधित नहीं है। यदि दूसरे का अस्तित्व एक आवश्यकता है, तो यह एक "आकस्मिक आवश्यकता" है; अर्थात्, यह उस तथ्यात्मक आवश्यकता के समान है जो विचार पर थोपी जाती है। यदि दूसरे को हमें दिया जा सकता है, तो यह एक प्रत्यक्ष बोध के माध्यम से होता है जो मुठभेड़ को उसकी तथ्यात्मकता का चरित्र सौंप देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे विचार स्वयं अपनी सारी तथ्यात्मकता मेरे विचार पर छोड़ देता है, एक ऐसी तथ्यात्मकता जो फिर भी विचार की यथार्थता - अर्थात्, उसकी निर्विवादता - में भागीदार होती है।
सिद्धांत की यह लंबी व्याख्या व्यर्थ नहीं होगी यदि यह हमें उन आवश्यक और पर्याप्त शर्तों को तैयार करने में सक्षम बनाती है जिनके तहत दूसरों के अस्तित्व का सिद्धांत मान्य हो सकता है।
(1) ऐसा सिद्धांत दूसरों के अस्तित्व का कोई नया प्रमाण या आत्मवाद के विरुद्ध कोई बेहतर तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकता। वास्तव में, यदि आत्मवाद को अस्वीकार करना है, तो यह इसलिए नहीं हो सकता कि यह असंभव है या, यदि आप चाहें, तो इसलिए कि कोई भी वास्तव में आत्मवादी नहीं है। दूसरे का अस्तित्व हमेशा संदेह के अधीन रहेगा, कम से कम यदि कोई दूसरे पर केवल शब्दों में और अमूर्त रूप से संदेह करता है, उसी तरह जैसे वास्तव में उसकी कल्पना किए बिना, मैं लिख सकता हूँ, "मुझे अपने अस्तित्व पर संदेह है।" संक्षेप में, दूसरे का अस्तित्व एक संभावना नहीं हो सकता। संभावना केवल उन वस्तुओं से संबंधित हो सकती है जो हमारे अनुभव में प्रकट होती हैं और जिनसे हमारे अनुभव में नए प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं। संभावना तभी होती है जब हर क्षण उसकी पुष्टि या खंडन संभव हो। इस प्रकार, चूंकि दूसरा सिद्धांत रूप में और अपने "स्वयं के लिए" मेरे अनुभव से बाहर है, इसलिए दूसरे स्व के रूप में उसके अस्तित्व की संभावना को कभी भी न तो सत्यापित किया जा सकता है और न ही खंडन किया जा सकता है; इस पर न तो विश्वास किया जा सकता है और न ही अविश्वास किया जा सकता है, इसे मापा भी नहीं जा सकता; इसलिए यह संभाव्यता के रूप में अपना अस्तित्व ही खो देता है और एक विशुद्ध काल्पनिक अनुमान बन जाता है। इसी तरह एम. लालांडे ने प्रभावी रूप से यह दिखाया है कि मंगल ग्रह पर जीवित प्राणियों के अस्तित्व से संबंधित परिकल्पना विशुद्ध रूप से अनुमान ही रहेगी, जब तक हमारे पास ऐसे उपकरण या वैज्ञानिक सिद्धांत उपलब्ध नहीं हो जाते जो इस परिकल्पना को मान्य या अमान्य करने वाले तथ्य प्रस्तुत कर सकें। परन्तु दूसरे की संरचना

सिद्धांततः ऐसी है कि कोई नया प्रयोग कभी सोचा भी नहीं जा सकेगा, कोई नया सिद्धांत उसके अस्तित्व की परिकल्पना को मान्य या अमान्य नहीं कर सकेगा, कोई उपकरण नए तथ्य प्रकट नहीं कर सकेगा जो मुझे इस परिकल्पना की पुष्टि या अस्वीकृति के लिए प्रेरित करें। अतः यदि दूसरा मेरे समक्ष प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं है, और यदि उसका अस्तित्व मेरे अपने जितना निश्चित नहीं है, तो उसके बारे में सभी अनुमान अर्थहीन हैं। परन्तु यदि मैं दूसरे के बारे में अनुमान नहीं लगाता, तो ठीक यही है कि मैं उसकी पुष्टि करता हूँ। अतः दूसरे के अस्तित्व का सिद्धांत मेरे अस्तित्व में ही मुझसे प्रश्न करेगा, उस पुष्टि के अर्थ को स्पष्ट और सटीक बनाएगा; विशेष रूप से, प्रमाण गढ़ने के बजाय, इसे उस निश्चितता की नींव को ही स्पष्ट करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, डेसकार्टेस ने अपने अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया है। वास्तव में, मैं हमेशा से जानता हूँ कि मेरा अस्तित्व है, मैंने कभी भी कॉगिटो (कल्पना) का अभ्यास करना बंद नहीं किया है। इसी प्रकार, आत्मवाद के प्रति मेरा प्रतिरोध—जो कॉगिटो पर संदेह करने के किसी भी प्रयास के प्रति मेरे प्रतिरोध जितना ही सशक्त है—यह सिद्ध करता है कि मैं हमेशा से जानता हूँ कि दूसरे का अस्तित्व है, कि मुझे हमेशा से उसके अस्तित्व की पूर्ण, यद्यपि अप्रत्यक्ष, समझ रही है, कि यह "पूर्व-सत्तामीमांसा" समझ दूसरे के स्वरूप और उसके अस्तित्व के मेरे अस्तित्व से संबंध की उन सभी सिद्धांतों की तुलना में कहीं अधिक निश्चित और गहरी समझ प्रदान करती है जो इसके इर्द-गिर्द निर्मित हुए हैं। यदि दूसरे का अस्तित्व एक व्यर्थ अनुमान या कोरी कल्पना नहीं है, तो इसका कारण यह है कि इसके बारे में एक प्रकार का कॉगिटो मौजूद है। यह वही कॉगिटो है जिसे हमें इसकी संरचनाओं को निर्दिष्ट करके और इसके दायरे और इसके नियमों को निर्धारित करके प्रकाश में लाना होगा।
(2) दूसरी ओर, हेगेल की विफलता ने हमें दिखाया है कि प्रस्थान का एकमात्र संभव बिंदु कार्टेशियन कॉगिटो है। इसके अलावा, केवल कॉगिटो ही हमें उस तथ्यात्मक अनिवार्यता के आधार पर स्थापित करता है जो दूसरे के अस्तित्व की अनिवार्यता है। इस प्रकार, जिसे हमने बेहतर शब्द के अभाव में दूसरे के अस्तित्व का कॉगिटो कहा है, वह मेरे अपने कॉगिटो में विलीन हो जाता है। कॉगिटो का एक बार फिर विश्लेषण करने पर, वह मुझे अपने से बाहर और दूसरे की ओर धकेल देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे उसने मुझे स्वयं-में-की ओर धकेला था; और यह मुझे स्वयं की एक पूर्व-निर्धारित संरचना प्रकट करके नहीं किया जाना चाहिए जो समान रूप से पूर्व-निर्धारित दूसरे की ओर इंगित करे, बल्कि मुझे एक विशिष्ट, ठोस दूसरे की ठोस, निर्विवाद उपस्थिति प्रकट करके किया जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे उसने पहले ही मुझे मेरे अपने अतुलनीय, आकस्मिक लेकिन आवश्यक और ठोस अस्तित्व को प्रकट किया है। इस प्रकार हमें स्वयं-के- लिए से हमें दूसरों-के-लिए प्रदान करने के लिए कहना चाहिए; हमें पूर्ण अंतर्निहितता से हमें पूर्ण पारगमन में धकेलने के लिए कहना चाहिए। मुझे अपने अंतर्मन में यह मानने के कारण नहीं खोजने होंगे कि दूसरा व्यक्ति अस्तित्व में है, बल्कि यह मानना होगा कि दूसरा व्यक्ति मैं नहीं हूँ।

(3) जो विचार हमें प्रकट करता है, वह 'अन्य' को वस्तु के रूप में प्रकट करना नहीं है। यह बात लंबे समय से स्पष्ट रही होगी कि जिसे वस्तु कहा जाता है, वह संभाव्य भी होती है। यदि 'अन्य' मेरे लिए एक वस्तु है, तो वह मुझे संभाव्यता की ओर ले जाता है। परन्तु संभाव्यता केवल हमारे निरूपणों की अनंत समरूपता पर आधारित है। चूँकि 'अन्य' न तो निरूपण है, न निरूपणों की कोई प्रणाली है, और न ही हमारे निरूपणों की कोई आवश्यक एकता है, इसलिए वह संभाव्य नहीं हो सकता: वह सर्वप्रथम वस्तु हो ही नहीं सकता। अतः यदि वह हमारे लिए वस्तु है, तो वह न तो संसार के हमारे ज्ञान का एक मूलभूत कारक है, न ही स्वयं के हमारे ज्ञान का एक मूलभूत कारक, बल्कि वह है जो हमारे अस्तित्व को 'प्रभावित' करता है, और वह भी इस रूप में नहीं कि वह हमारे अस्तित्व के निर्माण में पूर्व-निर्धारित रूप से योगदान देता है, बल्कि इस रूप में कि वह हमारी वास्तविकता की अनुभवजन्य परिस्थितियों में इसे ठोस और 'सत्तामीमांसा' से प्रभावित करता है।
(4) यदि हम किसी प्रकार से दूसरे को उसी प्रकार समझने का प्रयास करें जैसा डेसकार्टेस ने ईश्वर के लिए उस असाधारण "पूर्णता के विचार द्वारा प्रमाण" के माध्यम से किया था, जो पूर्णतः पारलौकिकता की अंतर्ज्ञान से प्रेरित है, तो दूसरे को दूसरे के रूप में समझने के लिए हमें एक विशेष प्रकार के निषेध को अस्वीकार करना होगा जिसे हमने बाह्य निषेध कहा है। दूसरे को मेरे संज्ञान में ऐसा प्रतीत होना चाहिए जैसे वह मैं नहीं हूँ। इस निषेध को दो प्रकार से समझा जा सकता है: या तो यह एक शुद्ध, बाह्य निषेध है, और यह दूसरे को मुझसे एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की तरह अलग कर देगा—और इस स्थिति में दूसरे को समझना परिभाषा के अनुसार असंभव है; या फिर यह एक आंतरिक निषेध होगा, जिसका अर्थ है दो पदों का एक संश्लेषित, सक्रिय संबंध, जिनमें से प्रत्येक स्वयं को दूसरे होने से इनकार करके गठित करता है। अतः यह नकारात्मक संबंध पारस्परिक होगा और इसमें दोहरी आंतरिकता होगी: इसका पहला अर्थ यह है कि "अन्य" की बहुलता एक संग्रह नहीं बल्कि एक समग्रता होगी (इस अर्थ में हम स्वीकार करते हैं कि हेगेल सही हैं) क्योंकि प्रत्येक अन्य अपना अस्तित्व दूसरे में पाता है। इसका यह भी अर्थ है कि यह समग्रता ऐसी है कि सिद्धांत रूप से हमारे लिए "समग्र के दृष्टिकोण" को अपनाना असंभव है। वास्तव में हमने देखा है कि मेरे स्वयं के लिए अस्तित्व की तुलना दूसरे के लिए मेरी वस्तु-अवस्था से करने पर चेतना की कोई अमूर्त अवधारणा उत्पन्न नहीं हो सकती। इसके अलावा, यह समग्रता—स्वयं के लिए अस्तित्व की तरह—एक निरुत्सात समग्रता है; क्योंकि चूंकि दूसरों के लिए अस्तित्व दूसरे का एक मौलिक अस्वीकरण है, इसलिए "अन्य" का कोई सर्वाधिकारवादी और एकीकृत संश्लेषण संभव नहीं है।
इन्हीं कुछ टिप्पणियों के आलोक में अब हम 'अन्य' के प्रश्न पर विचार करेंगे।

IV. लुक
यह स्त्री जो मेरी ओर आती हुई दिखाई दे रही है, यह पुरुष जो सड़क से गुजर रहा है, यह भिखारी जिसकी पुकार मेरी खिड़की के सामने सुनाई दे रही है, ये सभी मेरे लिए वस्तुएँ हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है। इस प्रकार यह सत्य है कि दूसरे की उपस्थिति के कम से कम एक रूप में वह वस्तुत्व है। लेकिन हमने देखा है कि यदि वस्तुत्व का यह संबंध दूसरे और मेरे बीच का मूलभूत संबंध है, तो दूसरे का अस्तित्व विशुद्ध रूप से काल्पनिक ही रह जाता है। अब यह न केवल काल्पनिक है बल्कि संभव भी है कि जो आवाज मैं सुन रहा हूँ वह किसी पुरुष की है न कि किसी रिकॉर्डर की; यह असीम रूप से संभव है कि जो राहगीर मैं देख रहा हूँ वह एक पुरुष है न कि कोई परिष्कृत रोबोट। इसका अर्थ यह है कि संभाव्यता की सीमाओं से परे जाए बिना और वास्तव में इसी संभाव्यता के कारण, दूसरे को एक वस्तु के रूप में समझने की मेरी धारणा मुझे अनिवार्य रूप से दूसरे की एक मूलभूत धारणा की ओर ले जाती है जिसमें वह मुझे एक वस्तु के रूप में नहीं बल्कि एक "वास्तविक उपस्थिति" के रूप में प्रकट होगा। संक्षेप में, यदि 'अन्य' एक संभाव्य वस्तु है, न कि किसी वस्तु का स्वप्न, तो उसकी वस्तुता अनिवार्य रूप से मेरी पहुँच से परे किसी मूल एकांत को नहीं, बल्कि एक मूलभूत संबंध को संदर्भित करती है जिसमें 'अन्य' मेरे द्वारा उसके बारे में प्राप्त ज्ञान के अलावा किसी अन्य रूप में प्रकट होता है। शास्त्रीय सिद्धांत इस बात को मानने में सही हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष मानव जीव किसी न किसी चीज़ को संदर्भित करता है और वह चीज़ जिसे वह संदर्भित करता है, उसकी संभाव्यता का आधार और गारंटी है। उनकी त्रुटि इस धारणा में निहित है कि यह संदर्भ एक पृथक अस्तित्व, एक चेतना को इंगित करता है जो उसके प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियों के पीछे उसी प्रकार विद्यमान होगी जैसे कांट के 'एम्फिंडुंग' के पीछे 'नोमेनन' होता है। चाहे यह चेतना एक पृथक अवस्था में विद्यमान हो या न हो, जो चेहरा मैं देखता हूँ वह इसे संदर्भित नहीं करता; यह चेतना उस संभाव्य वस्तु का सत्य नहीं है जिसे मैं अनुभव करता हूँ। वास्तव में, उस दोहरे उभार का संदर्भ जिसमें 'अन्य' मेरे लिए उपस्थिति है, "अन्य के साथ युग्म में होने" को दर्शाता है, और यह उचित ज्ञान से परे दिया गया है, भले ही बाद वाले को अंतर्ज्ञान के क्रम में एक अस्पष्ट और अव्यक्त रूप के रूप में माना जाए। दूसरे शब्दों में, 'अन्य' की समस्या को आम तौर पर इस प्रकार माना गया है मानो वह प्राथमिक संबंध जिसके द्वारा 'अन्य' की खोज की जाती है, वस्तुत्व है; अर्थात्, मानो 'अन्य' को पहले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारी धारणा के समक्ष प्रकट किया गया हो। लेकिन चूंकि यह धारणा अपने स्वभाव से ही स्वयं से भिन्न किसी चीज़ को संदर्भित करती है और चूंकि यह न तो एक ही प्रकार की अनंत श्रृंखला को संदर्भित कर सकती है - जैसा कि आदर्शवाद में मेज या कुर्सी की धारणा करती है - और न ही किसी पृथक इकाई को जो सिद्धांत रूप से मेरी पहुँच से बाहर स्थित है, इसलिए इसका सार मेरी चेतना और 'अन्य' की चेतना के बीच एक प्राथमिक संबंध को संदर्भित करना है। यह संबंध, जिसमें 'अन्य' को मेरे साथ जुड़ाव में ही सही, एक विषय के रूप

में प्रत्यक्ष रूप से मुझे दिया जाना चाहिए, मौलिक संबंध है, 'अन्यों के लिए मेरे अस्तित्व का सार' है।
फिर भी, यहाँ संदर्भ किसी रहस्यमय या अवर्णनीय अनुभव से नहीं है। यह रोजमर्रा की जिंदगी की वास्तविकता में ही है कि 'अन्य' हमें प्रकट होता है, और उसकी संभावना रोजमर्रा की वास्तविकता से संबंधित है। समस्या ठीक यही है: रोजमर्रा की वास्तविकता में 'अन्य' के साथ एक मौलिक संबंध होता है जिसे लगातार इंगित किया जा सकता है और जो परिणामस्वरूप मुझे किसी धार्मिक या रहस्यमय अज्ञेय के संदर्भ से परे प्रकट हो सकता है। इसे समझने के लिए मुझे अपनी धारणा के क्षेत्र में 'अन्य' की इस सामान्य उपस्थिति पर अधिक सटीक रूप से प्रश्न करना होगा; चूंकि यह उपस्थिति उस मूलभूत संबंध को संदर्भित करती है, इसलिए उपस्थिति को कम से कम एक लक्षित वास्तविकता के रूप में, उस संबंध को प्रकट करने में सक्षम होना चाहिए जिसका वह संदर्भ देती है।
मैं एक सार्वजनिक पार्क में हूँ। थोड़ी दूर पर एक लॉन है और उस लॉन के किनारे बेंचें लगी हैं। एक आदमी उन बेंचों के पास से गुज़रता है। मैं उस आदमी को देखता हूँ; मैं उसे एक वस्तु के रूप में और साथ ही एक मनुष्य के रूप में समझता हूँ। इसका क्या अर्थ है? जब मैं कहता हूँ कि यह वस्तु एक मनुष्य है, तो मेरा क्या तात्पर्य है?
यदि मैं उसे केवल एक कठपुतली मानूँ, तो मैं उस पर उन श्रेणियों को लागू करूँगा जिनका उपयोग मैं सामान्यतः समय-स्थान संबंधी "वस्तुओं" को समूहित करने के लिए करता हूँ। अर्थात्, मैं उसे बेंचों के "बगल में", लॉन से दो गज बीस इंच की दूरी पर, ज़मीन पर एक निश्चित दबाव डालते हुए, आदि के रूप में समझूँगा। अन्य वस्तुओं के साथ उसका संबंध विशुद्ध रूप से योगात्मक प्रकार का होगा; इसका अर्थ है कि मैं उसे गायब कर सकता हूँ और उसके आसपास की अन्य वस्तुओं के संबंधों में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं होगा। संक्षेप में, मेरे ब्रह्मांड में उन वस्तुओं के बीच उसके माध्यम से कोई नया संबंध प्रकट नहीं होगा: मेरे दृष्टिकोण से साधनिक परिसरों में समूहीकृत और संश्लेषित, वे उसके द्वारा उदासीन संबंधों की अनेकता में विघटित हो जाएँगी। दूसरी ओर, उसे एक मनुष्य के रूप में देखना, कुर्सी और उसके बीच योगात्मक संबंध को समझना नहीं है; यह उस विशिष्ट वस्तु के चारों ओर मेरे ब्रह्मांड में वस्तुओं के बीच दूरी रहित संगठन को दर्ज करना है। यह सच है कि लॉन उससे दो गज और बीस इंच दूर है, लेकिन यह एक ऐसे लॉन के रूप में भी उससे जुड़ा हुआ है जो दूरी को पार भी करता है और उसे समाहित भी करता है। दूरी के दो पहलू उदासीन, विनिमयीय और पारस्परिक संबंध में होने के बजाय, दूरी उस व्यक्ति से शुरू होकर लॉन तक एक एकीकृत संबंध के संश्लेषणात्मक उभार के रूप में प्रकट होती है जिसे मैं देख रहा हूँ। हम एक ऐसे संबंध से निपट रहे हैं जो भागों से रहित है, एक ही झटके में दिया गया है, जिसके भीतर एक ऐसी स्थानिकता प्रकट होती है जो मेरी स्थानिकता नहीं है; क्योंकि वस्तुओं के मेरी ओर समूहबद्ध होने के बजाय, अब एक ऐसा अभिविन्यास है जो मुझसे दूर भागता है।

निःसंदेह, दूरी और भागों से रहित यह संबंध किसी भी तरह से मेरे साथ दूसरे के उस मूल संबंध से भिन्न है जिसकी मैं खोज कर रहा हूँ। सर्वप्रथम, यह केवल मनुष्य और संसार की वस्तुओं से संबंधित है। इसके अतिरिक्त, यह अभी भी ज्ञान का एक विषय है; उदाहरण के लिए, मैं इसे इस प्रकार व्यक्त करूँगा कि यह व्यक्ति लॉन को देख रहा है, या निषेध चिह्न के बावजूद वह घास पर चलने की तैयारी कर रहा है, इत्यादि। अंततः, यह अभी भी संभाव्यता का विशुद्ध स्वरूप बनाए रखता है: सर्वप्रथम, यह संभाव्य है कि यह वस्तु एक मनुष्य है। द्वितीय, यदि मान भी लें कि वह एक मनुष्य है, तो भी यह केवल संभाव्य ही रहता है कि जिस क्षण मैं उसे देखता हूँ, उस क्षण वह लॉन को देख रहा हो; संभव है कि वह अपने आस-पास की चीजों से पूरी तरह अवगत हुए बिना किसी परियोजना का सपना देख रहा हो, या वह अंधा हो, इत्यादि। फिर भी, वस्तु-मनुष्य और वस्तु-लॉन के इस नए संबंध का एक विशिष्ट स्वरूप है; यह मुझे एक साथ समग्र रूप से प्राप्त होता है, क्योंकि यह संसार में एक ऐसी वस्तु के रूप में विद्यमान है जिसे मैं जान सकता हूँ (वास्तव में, यह एक वस्तुनिष्ठ संबंध है जिसे मैं यह कहकर व्यक्त करता हूँ: पियरे ने इस घड़ी पर नज़र डाली है, जीन ने खिड़की से बाहर देखा है, आदि), और साथ ही यह मुझसे पूरी तरह से परे है। जिस हद तक मनुष्य-वस्तु इस संबंध का मूल तत्व है, जिस हद तक यह संबंध उसकी ओर अग्रसर होता है, उस हद तक यह मुझसे परे है। मैं स्वयं को इसके केंद्र में नहीं रख सकता। इस प्राथमिक संबंध के कृत्रिम उभार के पार लॉन और मनुष्य के बीच जो दूरी प्रकट होती है, वह उस दूरी का निषेध है जिसे मैं इन दो वस्तुओं के बीच एक शुद्ध बाह्य निषेध के रूप में स्थापित करता हूँ। यह दूरी मेरे ब्रह्मांड की वस्तुओं के बीच मेरे द्वारा बोधित संबंधों के शुद्ध विघटन के रूप में प्रकट होती है। यह विघटन मैं नहीं हूँ जो इसे साकार करता है; यह मुझे एक ऐसे संबंध के रूप में दिखाई देता है जिसे मैं वस्तुओं के बीच मूल रूप से स्थापित की गई दूरियों के पार शून्य रूप से लक्षित करता हूँ। यह वस्तुओं की पृष्ठभूमि के रूप में मौजूद है, एक ऐसी पृष्ठभूमि जो सिद्धांततः मेरी समझ से परे है और जो उन्हें बाहर से प्रदान की जाती है। इस प्रकार, मेरे ब्रह्मांड की वस्तुओं के बीच विघटन के एक तत्व की उपस्थिति ही मेरे ब्रह्मांड में मनुष्य की उपस्थिति का मेरा तात्पर्य है।
'अन्य' सर्वप्रथम वस्तुओं का एक लक्ष्य की ओर निरंतर पलायन है, जिसे मैं अपने से एक निश्चित दूरी पर स्थित वस्तु के रूप में देखता हूँ, परन्तु जो मुझसे इसलिए विमुख है क्योंकि वह अपने चारों ओर अपनी ही दूरियों को समेटे हुए है। इसके अतिरिक्त, यह विघटन धीरे-धीरे बढ़ता है; यदि लॉन और 'अन्य' के बीच एक ऐसा संबंध है जो दूरी रहित है और जो दूरी का सृजन करता है, तो अनिवार्यतः 'अन्य' और लॉन के मध्य में स्थित चबूतरे पर खड़ी मूर्ति के बीच एक संबंध है, और 'अन्य' और पगडंडी के किनारे लगे बड़े शाहबलूत के वृक्षों के बीच भी एक संबंध है; एक संपूर्ण स्थान है जो 'अन्य' के चारों ओर समूहीकृत है, और यह स्थान मेरे स्थान से निर्मित है; एक पुनर्समूहीकरण है जिसमें मैं भाग लेता हूँ, परन्तु जो मुझसे विमुख है, मेरे ब्रह्मांड में व्याप्त सभी वस्तुओं का पुनर्समूहीकरण। यह पुनर्समूहीकरण यहीं नहीं रुकता। घास एक

विशिष्ट तत्व है; यही हरी घास 'अन्य' के लिए विद्यमान है; इस अर्थ में वस्तु का गुण, उसका गहरा, कच्चा हरा रंग, इस मनुष्य से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। यह हरा रंग 'अन्य' की ओर एक ऐसा चेहरा मोड़ता है जो मुझसे विमुख है। मैं हरे रंग और दूसरे के बीच के संबंध को वस्तुनिष्ठ रूप से समझता हूँ, लेकिन मैं हरे रंग को उस रूप में नहीं समझ पाता जैसा वह दूसरे को दिखाई देता है। इस प्रकार अचानक एक ऐसी वस्तु प्रकट हुई है जिसने मुझसे संसार छीन लिया है। सब कुछ अपनी जगह पर है; सब कुछ मेरे लिए अब भी विद्यमान है; लेकिन सब कुछ एक अदृश्य गति से आगे बढ़ रहा है और एक नई वस्तु की ओर स्थिर हो गया है। इसलिए संसार में दूसरे का प्रकट होना पूरे ब्रह्मांड के एक स्थिर खिसकने, संसार के विकेंद्रीकरण के समान है, जो उस केंद्रीकरण को कमजोर करता है जिसे मैं साथ-साथ प्रभावी बना रहा हूँ।
लेकिन दूसरा मेरे लिए अब भी एक वस्तु है। वह मेरी दूरियों से संबंधित है; वह व्यक्ति वहाँ है, मुझसे बीस कदम दूर, उसने मेरी ओर पीठ कर रखी है। इस प्रकार वह फिर से लॉन से दो गज, बीस इंच और मूर्ति से छह गज दूर है; अतः मेरे ब्रह्मांड का विघटन इसी ब्रह्मांड की सीमाओं के भीतर समाहित है; हम यहाँ दुनिया के शून्यता की ओर या स्वयं से बाहर पलायन की बात नहीं कर रहे हैं। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि दुनिया के बीचोंबीच एक प्रकार का निकास द्वार है और यह निरंतर इस निकास द्वार से बहता रहता है। ब्रह्मांड, प्रवाह और निकास द्वार, सब एक बार फिर से पुनः प्राप्त, पुनः बोधित और एक वस्तु के रूप में स्थिर हो जाते हैं। यह सब मेरे लिए दुनिया की एक आंशिक संरचना के रूप में मौजूद है, भले ही इसमें ब्रह्मांड का पूर्ण विघटन शामिल हो। इसके अलावा, ये विघटन अक्सर अधिक संकीर्ण सीमाओं के भीतर समाहित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति है जो चलते-चलते पढ़ रहा है। जिस ब्रह्मांड के विघटन का वह प्रतिनिधित्व करता है, वह पूरी तरह से आभासी है; उसके कान नहीं सुनते, आँखें उसकी किताब के अलावा कुछ नहीं देखतीं। उनकी पुस्तक और उनके बीच मुझे एक अटूट, दूरी रहित संबंध दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार का संबंध जो पहले राहगीर को घास से जोड़ता था। लेकिन इस बार रूप स्वयं में सिमट गया है। मेरे लिए समझने के लिए एक पूर्ण वस्तु है। संसार के बीच में मैं "मनुष्य-पठन" कह सकता हूँ, जैसे मैं "ठंडा पत्थर" या "हल्की बारिश" कह सकता हूँ। मुझे एक बंद "गेस्टाल्ट" दिखाई देता है जिसमें पठन ही मूल गुण है; बाकी के लिए, यह अंधा और मूक रहता है, स्वयं को एक शुद्ध और सरल कालिक-स्थानिक वस्तु के रूप में प्रकट और अनुभव होने देता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुनिया के बाकी हिस्सों से एक विशुद्ध रूप से उदासीन बाह्यता द्वारा जुड़ा हुआ है। "मनुष्य-पठन" का गुण, मनुष्य और पुस्तक के बीच का संबंध, मेरे ब्रह्मांड में एक छोटी सी विशेष दरार मात्र है। इस ठोस, दृश्यमान रूप के केंद्र में वह स्वयं को एक विशेष खालीपन बना लेता है। रूप केवल दिखावे में विशाल है; इसका विशिष्ट अर्थ यह है कि यह मेरे ब्रह्मांड के बीचोंबीच, मुझसे दस कदम की दूरी पर, उस विशालता के केंद्र में, एक घनिष्ठ रूप से समेकित और स्थानीयकृत उड़ान है।

में बने रहते हैं जिसमें हुसर्ल द्वारा निर्धारित घटनात्मक सरलीकरण का अभ्यास करने वाली चेतना द्वारा संसार को रखा जाता है। जब आँखें आपको देख रही होती हैं, तभी आप उन्हें सुंदर या बदसूरत कह सकते हैं, न ही उनके रंग पर टिप्पणी कर सकते हैं। दूसरे की दृष्टि उसकी आँखों को छुपा लेती है; ऐसा लगता है मानो वह उनके सामने से गुजर रहा हो। यह भ्रम इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि मेरी धारणा की वस्तु के रूप में आँखें एक निश्चित दूरी पर बनी रहती हैं जो मुझसे उन तक प्रकट होती है (दूसरे शब्दों में, मैं आँखों के लिए बिना दूरी के उपस्थित हूँ, लेकिन वे उस स्थान से दूर हैं जहाँ मैं "स्वयं को पाता हूँ"), जबकि दृष्टि मुझ पर बिना दूरी के है, फिर भी साथ ही साथ वह मुझे दूरी पर रखती है—अर्थात्, मेरे लिए उसकी तात्कालिक उपस्थिति एक ऐसी दूरी को प्रकट करती है जो मुझे उससे दूर कर देती है। इसलिए मैं दृष्टि पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से मेरी धारणा विघटित होकर पृष्ठभूमि में चली जाती है। यहां कुछ ऐसा प्रस्तुत किया गया है जो मैंने कल्पना के विषय में कहीं और दिखाने का प्रयास किया था। मैंने तब कहा था कि हम एक साथ अनुभव और कल्पना नहीं कर सकते; या तो एक होगा या दूसरा। मैं यहां भी यही कहना चाहूंगा: हम दुनिया को अनुभव करते हुए साथ ही साथ अपने ऊपर टिकी किसी दृष्टि को नहीं समझ सकते; या तो एक होगा या दूसरा। ऐसा इसलिए है क्योंकि अनुभव करना देखना है, और किसी दृष्टि को समझना दुनिया में दृष्टि को वस्तु के रूप में समझना नहीं है (जब तक कि वह दृष्टि हम पर निर्देशित न हो); यह देखे जाने के प्रति सचेत होना है। आंखों की दृष्टि, चाहे वे किसी भी प्रकार की हों, मेरे प्रति एक शुद्ध संदर्भ है। जब मैं अपने पीछे शाखाओं के चटकने की आवाज सुनता हूं, तो मुझे तुरंत यह एहसास नहीं होता कि वहां कोई है; बल्कि यह एहसास होता है कि मैं असुरक्षित हूं, कि मेरा एक शरीर है जिसे चोट लग सकती है, कि मैं एक स्थान पर हूं और मैं किसी भी हालत में उस स्थान से नहीं बच सकता जहां मैं असुरक्षित हूं— संक्षेप में, कि मुझे देखा जा रहा है। इस प्रकार, दृष्टि सबसे पहले एक मध्यस्थ है जो मुझसे स्वयं को संदर्भित करती है। इस मध्यस्थ की प्रकृति क्या है? मेरे लिए देखे जाने का क्या अर्थ है?
मान लीजिए कि ईर्ष्या, जिज्ञासा या किसी दुर्गुण से प्रेरित होकर मैंने अपना कान दरवाजे पर चिपका लिया है और चाबी के छेद से झाँक रहा हूँ। मैं अकेला हूँ और एक निराकार आत्म-चेतना के स्तर पर हूँ। इसका अर्थ यह है कि सबसे पहले तो मेरी चेतना में कोई आत्म नहीं है, इसलिए ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे मैं अपने कार्यों को परिभाषित कर सकूँ। वे किसी भी तरह से ज्ञात नहीं हैं; मैं ही मेरे कार्य हूँ और इसलिए उनमें ही उनका पूरा औचित्य निहित है। मैं वस्तुओं की एक शुद्ध चेतना हूँ, और वस्तुएँ, मेरे आत्मत्व के चक्र में फँसी हुई, मुझे अपनी संभाव्यताएँ मेरी निराकार चेतना (मेरी स्वयं की संभावनाओं की) के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसका अर्थ यह है कि उस दरवाजे के पीछे एक दृश्य "देखने योग्य" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, एक बातचीत "सुनने योग्य" के रूप में। दरवाजा और चाबी का छेद एक ही समय में उपकरण और बाधा दोनों हैं; उन्हें "सावधानी से संभालने योग्य" के

रूप में प्रस्तुत किया जाता है; चाबी के छेद को "पास से और थोड़ा एक तरफ से देखने योग्य" के रूप में दिया जाता है, इत्यादि। इसलिए इस क्षण से "मैं वही करता हूँ जो मुझे करना है।" कोई भी पारलौकिक दृष्टिकोण मेरे कार्यों को ऐसी वास्तविकता का दर्जा नहीं देता जिस पर कोई निर्णय लिया जा सके। मेरी चेतना मेरे कार्यों से जुड़ी रहती है, वही मेरे कार्य हैं; और मेरे कार्य केवल लक्ष्य और उपयोग किए जाने वाले साधनों द्वारा निर्देशित होते हैं। उदाहरण के लिए, मेरा दृष्टिकोण किसी "बाहरी दुनिया" से जुड़ा नहीं है; यह साधन (ताली का छेद) को लक्ष्य (देखा जाने वाला दृश्य) से जोड़ने की एक शुद्ध प्रक्रिया है, संसार में स्वयं को विलीन करने का एक शुद्ध तरीका है, चीजों में इस प्रकार समाहित होने का तरीका है जैसे स्याही सोख्ता कागज में समा जाती है, ताकि लक्ष्य की ओर उन्मुख साधन-समूह को संसार के आधार पर संश्लेषित रूप से अलग किया जा सके। यह क्रम कारण-कार्य क्रम के विपरीत है। लक्ष्य ही उससे पहले के सभी क्षणों को व्यवस्थित करता है। लक्ष्य साधनों को उचित ठहराता है; साधन अपने आप में और लक्ष्य से बाहर अस्तित्व में नहीं होते।
इसके अलावा, यह समग्रता केवल मेरी संभावनाओं की एक स्वतंत्र परियोजना के संबंध में ही विद्यमान है। ईर्ष्या, जो कि मेरी स्वयं की संभावना है, इस साधनिक परिसर को स्वयं की ओर अग्रसर करके व्यवस्थित करती है। परन्तु मैं ही यह ईर्ष्या हूँ; मैं इसे नहीं जानता। यदि मैं इसे उत्पन्न करने के बजाय इस पर चिंतन करता, तो केवल साधनिकता का सांसारिक परिसर ही मुझे इसे सिखा सकता था। संसार में यह समग्रता, अपने दोहरे और वलनशील निर्धारण के साथ (दरवाजे के पीछे एक दृश्य केवल इसलिए दिखाई देता है क्योंकि मैं ईर्ष्यालु हूँ, परन्तु मेरी ईर्ष्या केवल एक साधारण वस्तुनिष्ठ तथ्य है कि दरवाजे के पीछे एक दृश्य दिखाई देता है)—इसे हम स्थिति कहेंगे। यह स्थिति मुझे एक साथ मेरी वास्तविकता और मेरी स्वतंत्रता दोनों को प्रतिबिंबित करती है; मेरे चारों ओर स्थित संसार की एक निश्चित वस्तुनिष्ठ संरचना के अवसर पर, यह मुझे स्वतंत्र रूप से किए जाने वाले कार्यों के रूप में मेरी स्वतंत्रता प्रदान करती है। यहाँ कोई बंधन नहीं है क्योंकि मेरी स्वतंत्रता मेरी संभावनाओं को कम करती है और क्योंकि सहसंबंधी रूप से संसार की संभाव्यताएँ केवल स्वयं को ही इंगित करती हैं और प्रस्तुत करती हैं। इसके अलावा, मैं वास्तव में स्वयं को किसी स्थिति में परिभाषित नहीं कर सकता: पहला कारण यह है कि मैं स्वयं की स्थितिजन्य चेतना नहीं हूँ; दूसरा कारण यह है कि मैं स्वयं ही शून्यता हूँ। इस अर्थ में—और चूंकि मैं वह हूँ जो मैं नहीं हूँ और चूंकि मैं वह नहीं हूँ जो मैं हूँ— मैं स्वयं को द्वार-द्वारों पर श्रवण करने की प्रक्रिया में भी परिभाषित नहीं कर सकता। मैं अपने सर्वोत्कृष्टत्व के माध्यम से स्वयं की इस अस्थायी परिभाषा से बच निकलता हूँ। जैसा कि हमने देखा है, यहीं से दुर्भावना का उद्गम होता है। इस प्रकार, मैं न केवल स्वयं को जानने में असमर्थ हूँ, बल्कि मेरा अस्तित्व ही पलायन कर जाता है—यद्यपि मैं स्वयं अपने अस्तित्व से पलायन हूँ—और मैं पूर्णतः कुछ भी नहीं हूँ। वहाँ एक

शुद्ध शून्यता के सिवा कुछ भी नहीं है जो एक निश्चित वस्तुनिष्ठ समूह को घेरे हुए है और उसे संसार पर रेखांकित करते हुए उभारता है, परन्तु यह समूह एक वास्तविक प्रणाली है, एक लक्ष्य की दृष्टि से साधनों का एक विन्यास है। लेकिन अचानक मुझे हॉल में कदमों की आहट सुनाई देती है। कोई मुझे देख रहा है! इसका क्या मतलब है? इसका मतलब है कि मेरे अस्तित्व पर अचानक असर पड़ा है और मेरी संरचना में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आ गए हैं—ऐसे बदलाव जिन्हें मैं चिंतनशील मन के माध्यम से समझ सकता हूँ और वैचारिक रूप से स्थापित कर सकता हूँ।
सबसे पहले, अब मैं अपनी अचिंतित चेतना के लिए स्वयं के रूप में विद्यमान हूँ। स्वयं का यह उद्भव ही सबसे अधिक वर्णित किया गया है: मैं स्वयं को देखता हूँ क्योंकि कोई मुझे देखता है—जैसा कि आमतौर पर व्यक्त किया जाता है। इसे कहने का यह तरीका पूरी तरह सटीक नहीं है। लेकिन आइए इसे और अधिक ध्यान से देखें। जब तक हमने स्वयं को उसके अलगाव में माना, तब तक हम यह बनाए रखने में सक्षम थे कि अचिंतित चेतना में स्वयं का निवास नहीं हो सकता; स्वयं को एक वस्तु के रूप में और केवल चिंतनशील चेतना के लिए दिया गया था। लेकिन यहाँ स्वयं अचिंतित चेतना को ग्रस्त करने लगता है। अब अचिंतित चेतना विश्व की चेतना है। इसलिए अचिंतित चेतना के लिए स्वयं विश्व में वस्तुओं के स्तर पर विद्यमान है; यह भूमिका जो केवल चिंतनशील चेतना को सौंपी गई थी—स्वयं को वर्तमान बनाना—अब अचिंतित चेतना की है। केवल चिंतनशील चेतना के लिए ही स्वयं प्रत्यक्ष रूप से एक वस्तु है। अचिंतित चेतना व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से या अपनी वस्तु के रूप में नहीं समझती; व्यक्ति चेतना के समक्ष तभी प्रकट होता है जब वह दूसरे के लिए एक वस्तु होता है। इसका अर्थ यह है कि अचानक मुझे स्वयं से पलायन करने का अहसास होता है, इस अर्थ में नहीं कि मैं अपने ही शून्यता का आधार हूँ, बल्कि इस अर्थ में कि मेरा आधार मेरे बाहर है। मैं अपने लिए तभी हूँ जब मैं दूसरे के लिए एक शुद्ध संदर्भ हूँ।
फिर भी, हमें यहाँ यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वस्तु ही 'अन्य' है और मेरी चेतना में उपस्थित 'अहं' एक गौण संरचना है या 'अन्य'-वस्तु का अर्थ है; 'अन्य' यहाँ वस्तु नहीं है और वस्तु हो भी नहीं सकता, जैसा कि हमने दिखाया है, जब तक कि उसी क्षण से मेरा 'स्व' 'अन्य' के लिए वस्तु होना बंद न कर दे और लुप्त न हो जाए। इस प्रकार, मैं 'अन्य' को वस्तु के रूप में या अपने 'अहं' को अपने लिए वस्तु के रूप में लक्षित नहीं करता; मैं उस 'अहं' की ओर एक खाली इरादा भी निर्देशित नहीं करता, मानो वह वस्तु अभी मेरी पहुँच से बाहर हो। वास्तव में, यह मुझसे एक शून्यता द्वारा अलग है जिसे मैं भर नहीं सकता क्योंकि मैं इसे अपने लिए नहीं मानता और सिद्धांत रूप से यह 'अन्य' के लिए विद्यमान है। इसलिए मैं इसे इस तरह लक्षित नहीं करता जैसे कि यह मुझे कभी दिया जा सकता है, बल्कि इसके विपरीत, क्योंकि यह सिद्धांत रूप से मुझसे दूर भागता है और कभी मेरा नहीं होगा। फिर भी, मैं वह 'अहं' हूँ; मैं इसे एक अजीब छवि के रूप में अस्वीकार नहीं करता, बल्कि यह मेरे लिए एक ऐसे 'स्व' के रूप में उपस्थित है जिसे मैं जाने बिना ही हूँ; क्योंकि मैं इसे शर्म में, और

कभी-कभी गर्व में पाता हूँ। शर्म या गर्व ही मुझे दूसरे की नज़र और उस नज़र के अंत में खुद को प्रकट करता है। शर्म या गर्व ही मुझे जीने के लिए प्रेरित करता है, न कि देखे जाने की स्थिति को जानने के लिए।
जैसा कि हमने इस अध्याय की शुरुआत में देखा था, शर्म स्वयं की शर्म है; यह इस तथ्य की पहचान है कि मैं वास्तव में वह वस्तु हूँ जिसे दूसरा देख रहा है और परख रहा है। मैं तभी शर्मिंदा हो सकता हूँ जब मेरी स्वतंत्रता मुझसे छिनकर एक दी गई वस्तु बन जाती है। इस प्रकार, मूल रूप से मेरी अचिंतित चेतना और मेरे अहंकार के बीच, जिसे देखा जा रहा है, का बंधन ज्ञान का नहीं, बल्कि अस्तित्व का है। मेरे पास जो भी ज्ञान हो सकता है, उससे परे, मैं वह स्व हूँ जिसे दूसरा जानता है। और यह स्व जो मैं हूँ—यह मैं उस संसार में हूँ जिसे दूसरे ने मेरे लिए पराया बना दिया है, क्योंकि दूसरे की दृष्टि मेरे अस्तित्व को और साथ ही दीवारों, दरवाजे, ताले के छेद को भी समाहित कर लेती है। ये सभी साधन-वस्तुएँ जिनके बीच मैं हूँ, अब दूसरे की ओर एक ऐसा चेहरा मोड़ देती हैं जो सिद्धांत रूप से मुझसे दूर है। इस प्रकार, मैं दूसरे के लिए अपना अहंकार हूँ, उस संसार के बीच जो दूसरे की ओर बहता है। पहले हम इस आंतरिक रक्तस्राव को दूसरे-वस्तु की ओर मेरे संसार का प्रवाह कह सकते थे। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि रक्त का प्रवाह इस तथ्य से अवरुद्ध और सीमित हो गया था कि मैंने अपने संसार में उस दूसरे को एक वस्तु के रूप में स्थिर कर लिया था जिसकी ओर यह संसार रक्तपात कर रहा था। इस प्रकार रक्त की एक बूँद भी व्यर्थ नहीं गई; सब कुछ पुनः प्राप्त हो गया, घिरा हुआ, सीमित, यद्यपि एक ऐसे अस्तित्व में जिसमें मैं प्रवेश नहीं कर सकता था। इसके विपरीत, यहाँ पलायन असीमित है; यह बाह्य रूप से लुप्त हो जाता है; संसार संसार से बाहर बहता है और मैं स्वयं से बाहर बहता हूँ। दूसरे की दृष्टि मुझे इस संसार में मेरे अस्तित्व से परे ले जाती है और मुझे उस संसार के मध्य में रखती है जो एक ही समय में यह संसार भी है और इस संसार से परे भी। मैं उस अस्तित्व के साथ किस प्रकार के संबंध स्थापित कर सकता हूँ जो मैं हूँ और जिसे लज्जा मेरे सामने प्रकट करती है?
सबसे पहले, अस्तित्व का एक संबंध है। मैं यह अस्तित्व हूँ। मैं एक पल के लिए भी इसे नकारने के बारे में नहीं सोचता; मेरी शर्म एक स्वीकारोक्ति है। मैं बाद में इसे स्वयं से छिपाने के लिए कपट का सहारा ले सकता हूँ, लेकिन कपट भी एक स्वीकारोक्ति है क्योंकि यह उस अस्तित्व से भागने का प्रयास है जो मैं हूँ। लेकिन मैं यह अस्तित्व न तो "होना ही है" के रूप में हूँ और न ही "था" के रूप में; मैं इसे इसके अस्तित्व में नहीं पाता; मैं इसे प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न नहीं कर सकता। लेकिन यह मेरे कार्यों का अप्रत्यक्ष, कठोर प्रभाव भी नहीं है, जैसे कि जब जमीन पर मेरी परछाई या दर्पण में मेरा प्रतिबिंब मेरे हाव-भाव के अनुरूप गति करता है। यह अस्तित्व जो मैं हूँ, एक निश्चित अनिश्चितता, एक निश्चित अप्रत्याशितता को बनाए रखता है। और ये नए लक्षण केवल इस तथ्य से नहीं आते कि मैं दूसरे को नहीं जान सकता; वे इस तथ्य से भी और विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं कि दूसरा स्वतंत्र है। या सटीक रूप से कहें और शब्दों को उलट दें, तो दूसरे की

होता जो दूसरा अपनी श्रेणियों के माध्यम से मेरी पारलौकिकता पर थोपता है, बल्कि उसके स्वयं के अस्तित्व से होता है। यदि कोई दूसरा है, चाहे वह कुछ भी हो या कोई भी हो, मेरे साथ उसके संबंध चाहे जो भी हों, और वह अपने अस्तित्व के शुद्ध उभार के अलावा किसी भी तरह से मुझ पर कोई प्रभाव नहीं डालता—तो मेरे पास एक बाह्यता है, मेरे पास एक प्रकृति है। मेरा मूल पतन दूसरे का अस्तित्व है। लज्जा—अभिमान की तरह—स्वयं को एक प्रकृति के रूप में बोध करना है, यद्यपि वह प्रकृति मुझसे परे है और उस रूप में अज्ञेय है। सच कहें तो, ऐसा नहीं है कि मैं खुद को एक वस्तु बनने के लिए अपनी स्वतंत्रता खोते हुए देखता हूँ, बल्कि मेरा स्वभाव—वहाँ, मेरी वास्तविक स्वतंत्रता से परे—उस अस्तित्व का एक प्रदत्त गुण है जो मैं दूसरे के लिए हूँ।
मैं अपने कार्य के केंद्र में दूसरे की दृष्टि को अपनी ही संभावनाओं के ठोसकरण और अलगाव के रूप में ग्रहण करता हूँ। भय में, या चिंतित या विवेकपूर्ण प्रत्याशा में, मैं यह अनुभव करता हूँ कि ये संभावनाएँ, जो मैं हूँ और जो मेरे पारगमन की शर्त हैं, दूसरे को भी दी गई हैं, इस रूप में कि वे भी अपनी संभावनाओं द्वारा पार की जाने वाली हैं। एक दृष्टि के रूप में दूसरा केवल वही है - मेरा पारगमन पार किया गया। बेशक, मैं अभी भी इन संभावनाओं की गैर-आध्यात्मिक चेतना के रूप में अपनी संभावनाएँ हूँ। लेकिन साथ ही, वह दृष्टि उन्हें मुझसे अलग कर देती है। अब तक मैंने इन संभावनाओं को संसार पर और संसार में साधन की संभाव्यता के रूप में आध्यात्मिक रूप से ग्रहण किया है: गलियारे का अँधेरा कोना मुझे छिपने की संभावना का संकेत देता है - उसकी छाया के एक सरल संभाव्य गुण के रूप में, उसके अँधेरे के निमंत्रण के रूप में। वस्तु का यह गुण या साधन केवल उसी का था और एक वस्तुनिष्ठ, आदर्श गुण के रूप में दिया गया था जो उस जटिलता से उसके वास्तविक संबंध को दर्शाता है जिसे हमने स्थिति कहा है। लेकिन दूसरे की नज़र से जटिलताओं का एक नया ढांचा पहले वाले पर हावी हो जाता है। खुद को देखे जाने के रूप में समझना, वास्तव में, खुद को दुनिया में और दुनिया के नज़रिए से देखे जाने के रूप में समझना है। नज़र मुझे ब्रह्मांड में अलग नहीं करती; यह मेरी स्थिति के केंद्र में मुझे खोजती है और मुझे केवल उपकरणों के साथ अनसुलझे संबंधों में ही पकड़ती है। अगर मुझे बैठे हुए देखा जाता है, तो मुझे "कुर्सी पर बैठा हुआ" ही देखा जाना चाहिए, अगर मुझे झुका हुआ समझा जाता है, तो यह "ताली के छेद पर झुका हुआ" ही होता है, इत्यादि। लेकिन अचानक, स्वयं का अलगाव, जो देखे जाने की क्रिया है, उस दुनिया के अलगाव को भी शामिल कर लेता है जिसे मैं व्यवस्थित करता हूँ। मुझे इस कुर्सी पर बैठे हुए देखा जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मैं इसे बिल्कुल भी नहीं देख पाता, मेरे लिए इसे देखना असंभव है, यह मुझसे इस तरह बच निकलता है कि यह स्वयं को एक नए और भिन्न रूप से उन्मुख परिसर में व्यवस्थित कर लेता है - अन्य वस्तुओं के बीच अन्य संबंधों और अन्य दूरियों के साथ, जिनका मेरे लिए एक रहस्यमय चेहरा है।

उलटफेर उसे मेरे लिए उसके वास्तविक स्वरूप से भिन्न बना देते हैं। निश्चित रूप से ऐसा हो सकता है कि पूर्ण एकांत में मैं कोई ऐसा कार्य करूँ जिसके परिणाम मेरी अपेक्षाओं और इच्छाओं के बिल्कुल विपरीत हों; उदाहरण के लिए, मैं इस नाज़ुक फूलदान को रखे एक छोटे से चबूतरे को धीरे से अपनी ओर खींचता हूँ, लेकिन इस हरकत के परिणामस्वरूप एक कांस्य प्रतिमा गिर जाती है और फूलदान हज़ार टुकड़ों में टूट जाता है। हालाँकि, यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मैं पहले से न देख पाता यदि मैं अधिक सावधान होता, यदि मैंने वस्तुओं की व्यवस्था आदि का ध्यान रखा होता—ऐसा कुछ भी नहीं है जो सिद्धांत रूप से मेरे हाथ से निकल जाए। इसके विपरीत, दूसरे की उपस्थिति से परिस्थिति में एक ऐसा पहलू प्रकट होता है जिसे मैं नहीं चाहता, जिस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, और जो सिद्धांततः मेरी पहुँच से बाहर है क्योंकि वह दूसरे के लिए है। इसी को गिडे ने उचित ही "शैतान का पक्ष" कहा है। यह अप्रत्याशित लेकिन फिर भी वास्तविक विपरीत पक्ष है।
काफ्का की कला 'द ट्रायल' और 'द कैसल' में इसी अनिश्चितता का वर्णन करने का प्रयास करती है। एक अर्थ में, के. और सर्वेक्षक जो कुछ भी कर रहे हैं, वह पूर्णतः उन्हीं का है, और जहाँ तक वे संसार पर प्रभाव डालते हैं, परिणाम पूर्वानुमानों के अनुरूप ही होते हैं; वे सफल कार्य हैं। परन्तु साथ ही, इन कार्यों का सत्य उनसे निरंतर दूर रहता है; इन कार्यों का सिद्धांततः एक अर्थ है जो उनका सच्चा अर्थ है और जिसे न तो के. और न ही सर्वेक्षक कभी जान पाएंगे। निःसंदेह, काफ्का यहाँ दैवीयता की पराकाष्ठा को व्यक्त करने का प्रयास कर रहे हैं; वास्तव में मानवीय कार्य दैवीयता के लिए ही निर्मित होता है। परन्तु यहाँ ईश्वर केवल 'अन्य' की अवधारणा का चरम रूप है। हम इस बिंदु पर फिर लौटेंगे। 'द ट्रायल' का वह अंधकारमय, क्षणभंगुर वातावरण, वह अज्ञान जो फिर भी अज्ञान के रूप में जिया जाता है, वह पूर्ण अस्पष्टता जिसे केवल पूर्ण पारदर्शिता के पार एक पूर्वसूचना के रूप में ही महसूस किया जा सकता है—यह सब कुछ और नहीं बल्कि 'दूसरों के लिए संसार के बीच में हमारे अस्तित्व का वर्णन है।
इस प्रकार, दूसरे के लिए इसके अतिक्रमण में और इसके माध्यम से स्थिति मेरे चारों ओर एक रूप में स्थिर और संगठित हो जाती है, उस अर्थ में जिसमें गेस्टाल्टवादी इस शब्द का प्रयोग करते हैं। एक निश्चित संश्लेषण मौजूद है जिसका मैं मूल ढांचा हूं, और यह संश्लेषण एक साथ परमानंदमय सामंजस्य और स्वयं-में-होने का चरित्र दोनों धारण करता है। बोलने वाले और जिन्हें मैं देख रहा हूं, उन लोगों के साथ मेरा बंधन अचानक मेरे बाहर एक अज्ञेय आधार के रूप में प्रकट होता है, उस बंधन का जिसे मैं स्वयं स्थापित करता हूं। विशेष रूप से, इन लोगों के साथ मेरा अपना दृष्टिकोण या दूरी रहित संबंध, इस तथ्य से ही अपनी पारलौकिकता खो देता है कि यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे देखा जा रहा है। मैं जिन लोगों को देखता हूं, उन्हें वस्तुओं में स्थिर कर रहा हूं; मेरा उनसे वही संबंध है जो दूसरे का मुझसे है। उन्हें देखकर मैं अपनी शक्ति का मापन करता हूं। लेकिन यदि दूसरा उन्हें और मुझे देखता है, तो मेरा दृष्टिकोण अपनी शक्ति खो देता है; यह उन लोगों को दूसरे के लिए वस्तुओं में

अलावा, यह विशिष्टीकरण केवल अस्पष्ट ज्ञान के टुकड़ों का एक वैचारिक निर्धारण मात्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव का संदर्भ ले सकता है। ऐसा कोई नहीं है जो कभी न कभी किसी दोषी या हास्यास्पद रवैये से आश्चर्यचकित न हुआ हो। उस समय अनुभव किया गया अचानक परिवर्तन किसी भी तरह से ज्ञान के उद्भव से प्रेरित नहीं था। यह अपने आप में मेरे स्वयं का एक ठोसकरण और अचानक स्तरीकरण है जो मेरी संभावनाओं और मेरे "स्वयं के लिए" संरचनाओं को बरकरार रखता है, लेकिन जो मुझे अचानक अस्तित्व के एक नए आयाम में धकेल देता है—अप्रकट का आयाम। इस प्रकार, दृष्टि का प्रकट होना मेरे द्वारा अस्तित्व के एक परमानंदमय संबंध के उभार के रूप में समझा जाता है, जिसका एक रूप "मैं" है जो स्वयं के लिए है, जो वह नहीं है जो वह है जो वह है, और जिसका दूसरा रूप अभी भी "मैं" है, लेकिन मेरी पहुँच से बाहर, मेरी क्रिया से बाहर, मेरे ज्ञान से बाहर। यह रूप, क्योंकि यह एक स्वतंत्र दूसरे की अनंत संभावनाओं से सीधे जुड़ा हुआ है, स्वयं अप्रकट गुणों का एक अनंत और अक्षय संश्लेषण है। दूसरे की दृष्टि के माध्यम से मैं स्वयं को दुनिया के बीच में स्थिर, खतरे में, असाध्य के रूप में जीता हूँ। लेकिन मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ, न ही दुनिया में मेरा स्थान क्या है, न ही यह दुनिया जिसमें मैं हूँ, दूसरे की ओर कौन सा चेहरा रखती है।
अब अंततः हम दूसरे के इस उभार के अर्थ को, उसकी दृष्टि में और उसके माध्यम से, स्पष्ट कर सकते हैं। दूसरा किसी भी तरह से हमें एक वस्तु के रूप में नहीं दिया गया है। दूसरे का वस्तुनिष्ठकरण उसकी दृष्टि के रूप में उसके अस्तित्व का पतन होगा। इसके अलावा, जैसा कि हमने देखा है, दूसरे की दृष्टि, दृष्टि को प्रकट करने वाली वस्तुओं के रूप में दूसरे की आँखों का लुप्त होना है। दूसरा मेरे अस्तित्व के क्षितिज पर दूसरे के लिए खालीपन से लक्षित वस्तु भी नहीं हो सकता। जैसा कि हम देखेंगे, दूसरे का वस्तुनिष्ठकरण मेरे अस्तित्व की ओर से एक बचाव है, जो दूसरे को मेरे लिए एक अस्तित्व प्रदान करके, मुझे दूसरे के लिए मेरे अस्तित्व से मुक्त करता है। दृष्टि की घटना में, दूसरा सिद्धांत रूप में वह है जो एक वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही हम देखते हैं कि वह मेरे स्वयं से मेरे उस संबंध का एक सीमित पद नहीं हो सकता जो मुझे मेरे लिए अप्रकट के रूप में उत्पन्न करता है। न ही दूसरा मेरे ध्यान का लक्ष्य हो सकता है; यदि दूसरे की दृष्टि के उभार में, मैंने उस दृष्टि या दूसरे पर ध्यान दिया, तो यह केवल वस्तुओं के संदर्भ में ही हो सकता है, क्योंकि ध्यान वस्तुओं की ओर एक सचेत दिशा है। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि दूसरा एक अमूर्त अवस्था है, परमानंदमय संबंध की एक वैचारिक संरचना है; वास्तव में यहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर विचार किया गया हो, जिसकी दूसरा एक सार्वभौमिक, औपचारिक संरचना हो सके। दूसरा निश्चित रूप से मेरे अप्रकट अस्तित्व की अवस्था है। लेकिन वह इसकी ठोस, विशिष्ट अवस्था है। वह दुनिया के बीच में मेरे अस्तित्व में इसके अभिन्न अंग के रूप में संलग्न नहीं है, क्योंकि वह ठीक वही है जो इस दुनिया से परे है जिसके बीच में मैं अप्रकट रूप में हूँ; इस प्रकार वह न तो कोई वस्तु हो सकता है और न ही किसी वस्तु का औपचारिक, घटक

तत्व। जैसा कि हमने देखा है, वह मेरे अनुभव की एक एकीकृत या नियामक श्रेणी के रूप में मेरे सामने प्रकट नहीं हो सकता, क्योंकि वह मेरे पास एक मुठभेड़ के माध्यम से आता है। तो फिर दूसरा क्या है?
सबसे पहले, वह वह सत्ता है जिसकी ओर मैं अपना ध्यान नहीं लगाता। वह वह है जो मुझे देखता है और जिसकी ओर मैं अभी तक नहीं देख रहा हूँ, वह जो मुझे मेरे सामने प्रकट किए बिना ही प्रकट करता है, वह जो मुझे निर्देशित करते हुए मेरे समक्ष उपस्थित है, लेकिन कभी भी मेरे निर्देशन का लक्ष्य नहीं है; वह मेरी उड़ान का, मेरी संभावनाओं के अलगाव का, और उस संसार के प्रवाह का ठोस आधार (यद्यपि पहुँच से बाहर) है जो एक दूसरे संसार की ओर बह रहा है, जो वही संसार है और फिर भी उससे किसी प्रकार का संवाद नहीं रखता। परन्तु वह इसी अलगाव और प्रवाह से भिन्न नहीं हो सकता; वह इनका अर्थ और दिशा है; वह इस प्रवाह को किसी वास्तविक या श्रेणीबद्ध तत्व के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी उपस्थिति के रूप में व्याप्त करता है जो स्थिर है और संसार का हिस्सा बन जाती है यदि मैं उसे "वर्तमान बनाने" का प्रयास करता हूँ, और जो तब सबसे अधिक उपस्थित और तात्कालिक होती है जब मैं उसके प्रति अचेतन होता हूँ। उदाहरण के लिए, यदि मैं पूरी तरह से अपनी शर्म में डूबा हुआ हूँ, तो दूसरा वह विशाल, अदृश्य उपस्थिति है जो इस शर्म को सहारा देती है और उसे हर तरफ से आलिंगन में रखती है; वह मेरे अप्रकट अस्तित्व का सहायक वातावरण है। आइए देखें कि मेरे अनुभव में अप्रकट के संदर्भ में दूसरा व्यक्ति किस प्रकार अप्रकट रूप में प्रकट होता है।
सबसे पहले, दूसरे की दृष्टि को मेरी वस्तुनिष्ठता की आवश्यक शर्त मानना मेरे लिए समस्त वस्तुनिष्ठता का नाश कर देता है। दूसरे की दृष्टि मुझे संसार भर में स्पर्श करती है और यह न केवल मेरा रूपांतरण है, बल्कि संसार का पूर्ण रूपांतरण भी है। मुझे एक ऐसे संसार में देखा जा रहा है जिसे देखा जा रहा है। विशेष रूप से दूसरे की दृष्टि, जो देखने की दृष्टि है न कि देखे जाने की दृष्टि, वस्तुओं से मेरी दूरियों को नकारती है और अपनी दूरियों को प्रकट करती है। दूसरे की यह दृष्टि तात्कालिक रूप से उस रूप में प्रस्तुत की जाती है जिससे दूरी रहित उपस्थिति के केंद्र में संसार में दूरी आती है। मैं पीछे हट जाता हूँ; मैं अपने संसार में अपनी दूरी रहित उपस्थिति से वंचित हो जाता हूँ, और मुझे दूसरे से दूरी प्रदान की जाती है। वहाँ मैं दरवाजे से पंद्रह कदम और खिड़की से छह गज की दूरी पर हूँ। लेकिन दूसरा मुझे ढूँढ़ता हुआ आता है ताकि मुझे उससे एक निश्चित दूरी पर स्थापित कर सके। जैसे ही दूसरा मुझे उससे छह गज की दूरी पर स्थापित करता है, यह आवश्यक है कि वह मेरे लिए दूरी रहित रूप से उपस्थित हो। इस प्रकार, वस्तुओं से और दूसरे से अपनी दूरी के अनुभव के भीतर ही, मैं अपने लिए दूसरे की दूरी रहित उपस्थिति का अनुभव करता हूँ।
इस अमूर्त वर्णन में कोई भी व्यक्ति दूसरे की दृष्टि की उस तात्कालिक और तीव्र उपस्थिति को पहचान सकता है जिसने उसे अक्सर शर्म से भर दिया है। दूसरे शब्दों में, जब तक मैं स्वयं को देखे जाने का अनुभव करता हूँ, तब तक मेरे लिए दूसरे की एक अलौकिक उपस्थिति का अहसास होता है। दूसरा मुझे इस

तरह नहीं देखता जैसे वह मेरे संसार के "बीच में" हो, बल्कि इस तरह देखता है जैसे वह अपने सर्वस्व से संसार और मेरी ओर आ रहा हो; जब वह मुझे देखता है, तो वह मुझसे किसी दूरी से, संसार की किसी वस्तु से—चाहे वह वास्तविक हो या आदर्श—संसार के किसी शरीर से अलग नहीं होता, बल्कि केवल उसके दूसरे होने के स्वरूप से ही अलग होता है। इस प्रकार दूसरे की दृष्टि का प्रकट होना संसार में प्रकट होना नहीं है—न तो "मेरे" संसार में और न ही "दूसरे के" संसार में—और जो संबंध मुझे दूसरे से जोड़ता है, वह संसार के भीतर का बाह्य संबंध नहीं हो सकता। दूसरे की दृष्टि से मैं इस बात का ठोस प्रमाण देता हूँ कि "संसार से परे" भी कुछ है। दूसरा मेरे समक्ष बिना किसी मध्यस्थ के एक ऐसे अलौकिक स्वरूप में उपस्थित होता है जो मेरा नहीं है। लेकिन यह उपस्थिति पारस्परिक नहीं है। संसार की संपूर्ण सघनता आवश्यक है ताकि मैं स्वयं दूसरे के समक्ष उपस्थित हो सकूँ। एक सर्वव्यापी और अगम्य पारलौकिकता, जो मुझ पर बिना किसी मध्यस्थ के स्थापित होती है, क्योंकि मैं स्वयं अपने अव्यक्त अस्तित्व में हूँ, एक ऐसी पारलौकिकता जो अस्तित्व की अनंतता से मुझसे विमुख है, क्योंकि इस दृष्टि से मैं उस संसार के हृदय में डूब जाता हूँ जो अपनी दूरियों और उपकरणों से परिपूर्ण है—यह है दूसरे की दृष्टि जब मैं पहली बार इसे एक दृष्टि के रूप में अनुभव करता हूँ।
इसके अलावा, मेरी संभावनाओं को निर्धारित करके, दूसरा मुझे यह दिखाता है कि किसी अन्य स्वतंत्रता के बिना मेरा एक वस्तु होना असंभव है। मैं स्वयं के लिए एक वस्तु नहीं हो सकता, क्योंकि मैं वही हूँ जो मैं हूँ; अपने ही संसाधनों पर निर्भर होकर, अलगाव का चिंतनशील प्रयास विफल हो जाता है; मैं हमेशा स्वयं द्वारा पुनः ग्रहण किया जाता हूँ। और जब मैं भोलेपन से यह मान लेता हूँ कि मेरे लिए इसके लिए उत्तरदायी हुए बिना एक वस्तुनिष्ठ प्राणी होना संभव है, तो मैं अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे के अस्तित्व को मान लेता हूँ; क्योंकि यदि मैं किसी कर्ता के लिए नहीं हूँ तो मैं वस्तु कैसे हो सकता हूँ? इस प्रकार मेरे लिए दूसरा सबसे पहले वह प्राणी है जिसके लिए मैं एक वस्तु हूँ; अर्थात्, वह प्राणी जिसके माध्यम से मुझे मेरा वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्राप्त होता है। यदि मैं अपने किसी एक गुण को भी वस्तुनिष्ठ रूप में समझ सकूँ, तो दूसरा पहले से ही दिया गया है। वह मेरे ब्रह्मांड के एक प्राणी के रूप में नहीं, बल्कि एक शुद्ध कर्ता के रूप में दिया गया है। इस प्रकार यह शुद्ध कर्ता जिसे परिभाषा के अनुसार मैं जान नहीं सकता— अर्थात, वस्तु के रूप में स्थापित नहीं कर सकता—हमेशा पहुँच से बाहर और दूरी से परे रहता है जब भी मैं स्वयं को वस्तु के रूप में समझने का प्रयास करता हूँ। उस दृष्टि का अनुभव करते हुए, स्वयं को एक अप्रकट वस्तु के रूप में अनुभव करते हुए, मैं दूसरे की अबोधगम्य व्यक्तिपरकता का प्रत्यक्ष रूप से और अपने अस्तित्व के साथ अनुभव करता हूँ।
साथ ही, मैं दूसरे की असीम स्वतंत्रता का अनुभव करता हूँ। केवल इसी स्वतंत्रता के कारण और इसी स्वतंत्रता के माध्यम से मेरी संभावनाएँ सीमित और स्थिर हो सकती हैं। कोई भौतिक बाधा मेरी संभावनाओं को स्थिर नहीं कर सकती; यह केवल मुझे अन्य संभावनाओं की ओर अग्रसर होने का अवसर देती है और

उन्हें कोई बाहरी रूप नहीं दे सकती। बारिश होने के कारण घर में रहना और बाहर जाने से मना किए जाने के कारण घर में रहना बिल्कुल एक ही बात नहीं है। पहले मामले में, मैं अपने कार्यों के परिणामों को ध्यान में रखते हुए स्वयं अंदर रहने का निर्णय लेता हूँ; मैं अपने ऊपर आने वाली बाधा "बारिश" को पार कर जाता हूँ और उसे एक साधन बना लेता हूँ। दूसरे मामले में, बाहर जाने या अंदर रहने की मेरी संभावनाएँ ही मेरे सामने सीमित और स्थिर रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, जिन्हें एक स्वतंत्रता एक साथ पूर्वाभास भी करती है और रोकती भी है। यह केवल मनमर्जी नहीं है जो हमें अक्सर बहुत स्वाभाविक रूप से और बिना किसी झुंझलाहट के वह करने के लिए प्रेरित करती है जो किसी दूसरे के आदेश पर हमें परेशान कर देता। ऐसा इसलिए है क्योंकि आदेश और निषेध हमें अपनी गुलामी के पार दूसरे की स्वतंत्रता का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार, मेरी संभावनाओं की मृत्यु मुझे दूसरे की स्वतंत्रता का अनुभव कराती है। यह मृत्यु केवल उस स्वतंत्रता के केंद्र में ही साकार होती है; मैं स्वयं से भी विमुख होकर भी स्वयं ही हूँ, दूसरे की स्वतंत्रता के केंद्र में फेंका हुआ, त्यागा हुआ। इस अनुभव के संदर्भ में, सार्वभौमिक समय से मेरा संबंध मुझे केवल एक स्वायत्त कालिकता द्वारा समाहित और साकार होते हुए ही दिखाई दे सकता है; केवल एक स्व-सम्भाव जो स्वयं को कालिक बनाता है, मुझे समय में धकेल सकता है।
इस प्रकार, दृष्टि के माध्यम से मैं दूसरे को एक स्वतंत्र, सचेत विषय के रूप में मूर्त रूप से अनुभव करता हूँ, जो स्वयं को अपनी संभावनाओं की ओर कालिक बनाकर संसार का निर्माण करता है। मध्यस्थ के बिना उस विषय की उपस्थिति ही मेरे द्वारा स्वयं के बारे में उत्पन्न होने वाले सभी विचारों की आवश्यक शर्त है। दूसरा वह "स्वयं" है जिससे मुझे कुछ भी अलग नहीं करता, उसकी शुद्ध और पूर्ण स्वतंत्रता के अलावा कुछ भी नहीं: अर्थात्, स्वयं की वह अनिश्चितता जो उसे स्वयं के लिए और स्वयं के माध्यम से अस्तित्व में रहना है।
वर्तमान में हमारे पास इतना ज्ञान है कि हम उस अटूट प्रतिरोध को समझाने का प्रयास कर सकें जिसका सामान्य ज्ञान हमेशा से आत्म-केंद्रित तर्क के विरुद्ध रहा है। यह प्रतिरोध वास्तव में इस तथ्य पर आधारित है कि 'अन्य' मुझे एक ठोस प्रत्यक्ष उपस्थिति के रूप में दिया गया है जिसे मैं किसी भी प्रकार से स्वयं से प्राप्त नहीं कर सकता और जिस पर किसी भी प्रकार से संदेह नहीं किया जा सकता है और न ही उसे किसी घटनात्मक सरलीकरण या किसी अन्य का विषय बनाया जा सकता है।
यदि कोई मुझे देखता है, तो मैं एक वस्तु होने के प्रति सचेत होता हूँ। परन्तु यह चेतना केवल दूसरे के अस्तित्व में और उसके माध्यम से ही उत्पन्न हो सकती है। इस संदर्भ में हेगेल सही थे। यद्यपि वह दूसरी चेतना और वह दूसरी स्वतंत्रता मुझे कभी दी नहीं जाती; क्योंकि यदि वे दी जातीं, तो वे ज्ञात होतीं और इसलिए एक वस्तु होतीं, जिससे मेरा वस्तु होना समाप्त हो जाता। न ही मैं अपने स्वयं के अनुभव से उनकी अवधारणा या निरूपण प्राप्त कर

मैं भली-भांति जानता हूँ कि मैं उसके अस्तित्व को छूना चाहता हूँ। फिर भी मैं इन्हें अपनी वास्तविकताओं के रूप में नहीं जी सकता। यदि दूसरा व्यक्ति मुझे ये गुण प्रदान करता है, तो मैं इन्हें अपने आप में स्वीकार करता हूँ; जब दूसरा व्यक्ति मेरे चरित्र का वर्णन करता है, तो मैं स्वयं को "पहचान" नहीं पाता, फिर भी मैं जानता हूँ कि "यह मैं ही हूँ।" मैं उस अजनबी के लिए ज़िम्मेदारी स्वीकार करता हूँ जो मेरे सामने प्रस्तुत किया गया है, लेकिन वह अजनबी होना बंद नहीं करता। ऐसा इसलिए है क्योंकि वह न तो मेरे व्यक्तिपरक निरूपणों का सरल एकीकरण है, न ही वह "मैं" है जो मैं 'मैं हूँ' के अर्थ में हूँ, और न ही वह खोखली छवि है जो दूसरा व्यक्ति अपने लिए बनाता है और जिसके लिए केवल वही ज़िम्मेदार है। यह "मैं", जिसकी तुलना उस "मैं" से नहीं की जा सकती जो मुझे होना चाहिए, फिर भी मैं ही हूँ, लेकिन एक नए परिवेश में रूपांतरित होकर उस परिवेश के अनुकूल हो गया हूँ; यह एक अस्तित्व है, मेरा अस्तित्व, लेकिन अस्तित्व के बिल्कुल नए आयामों और नई पद्धतियों के साथ। यह मैं हूँ जो एक अविचल शून्यता द्वारा मुझसे अलग किया गया है, क्योंकि मैं यह मैं हूँ, लेकिन मैं वह शून्यता नहीं हूँ जो मुझे स्वयं से अलग करती है। यह वह मैं हूँ जो मैं एक परम परमानंद से प्राप्त होता हूँ जो मेरे सभी परमानंदों से परे है, क्योंकि यह वह परमानंद नहीं है जो मुझे होना है। दूसरों के लिए मेरा अस्तित्व पूर्ण शून्यता से वस्तुनिष्ठता की ओर एक पतन है। और चूंकि यह पतन एक अलगाव है, मैं स्वयं को अपने लिए एक वस्तु के रूप में नहीं बना सकता; क्योंकि किसी भी स्थिति में मैं स्वयं को स्वयं से अलग नहीं कर सकता।
(2) इसके अलावा, दूसरा मुझे मेरे लिए नहीं, बल्कि अपने लिए एक वस्तु के रूप में स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में, वह मेरे स्वयं के बारे में मेरे ज्ञान के अंशों के लिए एक नियामक या रचनात्मक अवधारणा के रूप में कार्य नहीं करता है। इसलिए, दूसरे की उपस्थिति मुझे-वस्तु के रूप में "प्रकट" नहीं करती। मैं स्वयं से पलायन के अलावा कुछ भी नहीं समझता। यहाँ तक कि जब भाषा ने यह प्रकट कर दिया है कि दूसरा मुझे दुष्ट या ईर्ष्यालु मानता है, तब भी मुझे अपनी दुष्टता या ईर्ष्या का कोई ठोस अहसास नहीं होगा। ये क्षणिक धारणाओं से अधिक कुछ नहीं होंगे, जिनका मूल स्वभाव मुझसे दूर भागना होगा। मैं अपनी दुष्टता को नहीं समझूंगा, लेकिन इस या उस विशेष कार्य के संबंध में मैं स्वयं से पलायन करूंगा, मैं अपने अलगाव या उस … अस्तित्व की ओर अपने प्रवाह को महसूस करूंगा, जिसे मैं केवल शून्य रूप से दुष्ट के रूप में सोच पाऊंगा और फिर भी मैं महसूस करूंगा कि मैं वही हूं, जिससे मैं शर्म या भय के कारण दूरी बनाए रखूंगा।
इस प्रकार, स्वयं-वस्तु के रूप में न तो ज्ञान है और न ही ज्ञान की एकता, बल्कि एक बेचैनी है, स्वयं के लिए परमानंदमय एकता से एक जीवंत विरक्ति है, एक ऐसी सीमा है जहाँ मैं पहुँच नहीं सकता और फिर भी मैं वही हूँ। वह दूसरा जिसके माध्यम से यह मैं मुझ तक पहुँचता है, न तो ज्ञान है और न ही श्रेणी, बल्कि एक विचित्र स्वतंत्रता की उपस्थिति का तथ्य है। वास्तव में, स्वयं से मेरी विरक्ति और दूसरे की स्वतंत्रता का उभार एक ही हैं; मैं उन्हें

केवल एक साथ ही अनुभव कर सकता हूँ और जी सकता हूँ; मैं एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं कर सकता। दूसरे का तथ्य निर्विवाद है और मेरे हृदय को छूता है। मैं उसे बेचैनी के माध्यम से अनुभव करता हूँ; उसके माध्यम से मैं एक ऐसे संसार में निरंतर खतरे में हूँ जो यही संसार है और फिर भी जिसे मैं केवल एक झलक ही देख सकता हूँ। दूसरा मुझे ऐसे प्राणी के रूप में प्रकट नहीं होता जो पहले से ही मुझसे मिलने के लिए निर्मित हुआ हो; वह ऐसे प्राणी के रूप में प्रकट होता है जो मेरे साथ अस्तित्व के एक मौलिक संबंध में उत्पन्न होता है और जिसकी निर्विवादता और तथ्यात्मक आवश्यकता मेरी अपनी चेतना की ही है।
कई कठिनाइयाँ अभी भी बनी हुई हैं। विशेष रूप से यह तथ्य है कि शर्म के कारण हम दूसरे की उपस्थिति को निर्विवाद मान लेते हैं। जैसा कि हमने देखा है, यह केवल संभव है कि दूसरा मुझे देख रहा हो। पहाड़ी की चोटी पर स्थित वह खेत कमांडो को देखता हुआ प्रतीत होता है, और यह निश्चित है कि घर में दुश्मन का कब्जा है। लेकिन यह निश्चित नहीं है कि दुश्मन सैनिक इस समय खिड़कियों से देख रहे हैं। यह निश्चित नहीं है कि जिस व्यक्ति के कदमों की आहट मुझे पीछे सुनाई दे रही है, वह मुझे देख रहा है; उसका चेहरा कहीं और मुड़ा हो सकता है, उसकी नज़र ज़मीन पर या किसी किताब पर टिकी हो सकती है। अंततः, यह निश्चित नहीं है कि जो आँखें मुझ पर टिकी हैं, वे वास्तव में आँखें ही हैं; वे केवल असली आँखों जैसी दिखने वाली "कृत्रिम" आँखें हो सकती हैं। संक्षेप में, क्या हमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह दृष्टि इसलिए संभव हो जाती है क्योंकि मैं लगातार यह मान सकता हूँ कि मुझे देखा जा रहा है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं हो रहा है? परिणामस्वरूप, क्या दूसरे के अस्तित्व के प्रति हमारी निश्चितता विशुद्ध रूप से काल्पनिक नहीं हो जाती?
इस समस्या को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: जब संसार में कुछ ऐसी चीज़ें दिखाई देती हैं जो मुझे किसी के देखने का आभास कराती हैं, तो मैं अपने भीतर एक निश्चित "देखे जाने" की अनुभूति करता हूँ, जिसकी अपनी संरचनाएँ होती हैं जो मुझे दूसरे के वास्तविक अस्तित्व से जोड़ती हैं। लेकिन हो सकता है कि मैं गलत हूँ; शायद संसार की जिन वस्तुओं को मैंने आँखें समझा वे आँखें नहीं थीं; शायद मेरे पीछे झाड़ी को हिलाने वाली हवा मात्र थी; संक्षेप में, शायद ये ठोस वस्तुएँ वास्तव में किसी के देखने का आभास नहीं करा रही थीं। इस स्थिति में, मेरे इस विश्वास का क्या अर्थ निकलता है कि मुझे देखा जा रहा है? मेरी शर्म वास्तव में किसी के सामने शर्म थी। लेकिन वहाँ कोई नहीं है। क्या इससे यह किसी के सामने शर्म नहीं बन जाती? क्योंकि इसने किसी को वहाँ स्थापित कर दिया जहाँ कोई नहीं था, तो क्या यह झूठी शर्म नहीं बन जाती?
यह कठिनाई हमें लंबे समय तक विचलित नहीं करनी चाहिए, और हमें इसका उल्लेख भी नहीं करना चाहिए था, सिवाय इसके कि वास्तव में यह दूसरों के लिए हमारे अस्तित्व की प्रकृति को अधिक स्पष्टता से इंगित करके हमारी जांच में हमारी सहायता कर सकती है। वास्तव में, यहाँ ज्ञान के दो अलग-अलग क्रमों और अस्तित्व के दो प्रकारों के बीच भ्रम है जिनकी तुलना नहीं की जा सकती। हम

दौड़ती हैं। यह एक झूठा अलार्म था। मैं राहत की सांस लेती हूँ। क्या हम यहाँ एक ऐसे अनुभव का सामना नहीं कर रहे हैं जो आत्म-विनाशकारी है?
आइए और गौर से देखें। क्या वास्तव में दूसरे के लिए वस्तु के रूप में मेरा अस्तित्व ही एक त्रुटि साबित हुआ है? बिलकुल नहीं। दूसरे का अस्तित्व इतना संदेह के घेरे में है कि यह झूठा आभास मुझे अपना काम छोड़ने पर मजबूर कर सकता है। दूसरी ओर, यदि मैं इसमें लगा रहता हूँ, तो मेरा दिल तेजी से धड़केगा, और मुझे सीढ़ियों की हल्की सी भी आहट सुनाई देगी। पहले आभास के साथ ही दूसरा गायब नहीं हुआ है, बल्कि वह हर जगह मौजूद है, मेरे नीचे, मेरे ऊपर, आस-पास के कमरों में, और मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व को गहराई से महसूस करता रहता हूँ। यह भी संभव है कि मेरी शर्मिंदगी दूर न हो; चाबी के छेद पर झुकते हुए मेरा चेहरा लाल हो जाता है। मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व का अनुभव करना बंद नहीं करता; मेरी संभावनाएं "मरती" नहीं हैं, और न ही दूरियां मेरे सामने खुलती जाती हैं, उस सीढ़ी के संदर्भ में जहां कोई "हो सकता है", उस अंधेरे कोने के संदर्भ में जहां कोई इंसान "छिप सकता है"। इससे भी बेहतर, अगर मैं ज़रा सी भी आवाज़ पर कांप उठता हूँ, अगर हर चरमराहट मुझे किसी की नज़र का एहसास दिलाती है, तो ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं पहले से ही 'देखे जाने' की स्थिति में हूँ। तो फिर वह क्या है जो झूठा प्रकट हुआ और जिसने मुझे उस झूठे खतरे का एहसास होने पर आत्म-विनाशकारी साबित कर दिया? यह न तो 'अन्य' का कर्ता-रूप है, न ही उसकी मेरे प्रति उपस्थिति। यह 'अन्य' की वास्तविकता है; यानी, 'अन्य' और मेरे संसार में किसी वस्तु-सत्ता के बीच का आकस्मिक संबंध। इस प्रकार जो संदिग्ध है वह स्वयं 'अन्य' नहीं है। यह 'अन्य' की उपस्थिति है; अर्थात्, वह ठोस, ऐतिहासिक घटना जिसे हम इन शब्दों से व्यक्त कर सकते हैं, "इस कमरे में कोई है।"
ये अवलोकन हमें आगे बढ़ने में सहायक हो सकते हैं। दूसरे की विश्व में उपस्थिति को मेरे लिए दूसरे की विषय-रूप में उपस्थिति से विश्लेषणात्मक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मूल उपस्थिति पारलौकिक है— अर्थात, विश्व से परे है। मुझे लगा कि दूसरा कमरे में उपस्थित था, लेकिन मैं गलत था। वह वहाँ नहीं था। वह "अनुपस्थित" था। तो फिर अनुपस्थिति क्या है?
यदि हम “अनुपस्थिति” शब्द को उसके व्यावहारिक और रोजमर्रा के अर्थ में लें, तो यह स्पष्ट है कि मैं इसका प्रयोग केवल किसी भी प्रकार के “अस्तित्वहीनता” को दर्शाने के लिए नहीं करता। सर्वप्रथम, यदि मुझे तंबाकू का पैकेट अपनी सामान्य जगह पर नहीं मिलता, तो मैं यह नहीं कहता कि वह अनुपस्थित है, भले ही मैं यह कह सकता हूँ कि वह “वहाँ होना चाहिए”। ऐसा इसलिए है क्योंकि किसी भौतिक वस्तु या उपकरण का स्थान, भले ही कभी-कभी वह निश्चित रूप से निर्धारित हो, वस्तु या उपकरण की प्रकृति से नहीं निर्धारित होता। सटीक रूप से कहें तो, उसकी प्रकृति उसे मुश्किल से ही कोई स्थान प्रदान कर सकती है, बल्कि मेरे माध्यम से ही किसी उपकरण का स्थान सिद्ध होता है। मानवीय वास्तविकता ही वह सत्ता है जो वस्तुओं को स्थान प्रदान करती है। केवल मानवीय वास्तविकता ही, अपनी संभावनाओं के दायरे में,

दूरी इन मूलभूत संबंधों को बदल नहीं सकती। पियरे (वस्तु) और थेरेसे (विषय) के बीच, और थेरेसे (वस्तु) और पियरे (विषय) के बीच, दूरी चाहे कम हो या ज्यादा, एक अनंत संसार का घनत्व व्याप्त है। पियरे (विषय) और थेरेसे (वस्तु) के बीच, और फिर थेरेसे (विषय) और पियरे (वस्तु) के बीच कोई दूरी नहीं है। इस प्रकार, अनुपस्थिति और उपस्थिति की अनुभवजन्य अवधारणाएँ, थेरेसे के लिए पियरे की और पियरे के लिए थेरेसे की मूलभूत उपस्थिति की दो विशिष्टताएँ हैं। ये उपस्थिति को व्यक्त करने के अलग-अलग तरीके मात्र हैं और इनका अर्थ केवल उपस्थिति के माध्यम से ही है। लंदन में, पूर्वी इंडीज में, अमेरिका में, किसी रेगिस्तानी द्वीप पर, पियरे पेरिस में रहने वाली थेरेसे के लिए उपस्थित है; वह केवल अपनी मृत्यु पर ही उसके लिए अनुपस्थित होगा।
ऐसा इसलिए है क्योंकि किसी प्राणी की स्थिति देशांतर और अक्षांश के अंशों के आधार पर नहीं होती। वह मानवीय स्थान में स्थित होता है—"गुएरमांटेस मार्ग" और "स्वान के मार्ग" के बीच, और स्वान और डचेस डी गुएरमांटेस की प्रत्यक्ष उपस्थिति ही उस "होडोलॉजिकल" स्थान के विस्तार को संभव बनाती है जिसमें वह स्थित है। अब इस उपस्थिति का एक पारलौकिक स्थान है; मोरक्को में मेरे चचेरे भाई की पारलौकिक उपस्थिति ही मुझे उसके और मेरे बीच उस मार्ग को समाहित करने की अनुमति देती है जो मुझे संसार में स्थापित करता है और जिसे मोरक्को का मार्ग कहा जा सकता है। यह मार्ग वास्तव में, उस अन्य-वस्तु के बीच की दूरी के अलावा कुछ नहीं है जिसे मैं अपने "अस्तित्व-के-लिए" उस अन्य-विषय के संबंध में अनुभव कर सकता हूँ जो मेरे लिए बिना किसी दूरी के उपस्थित है। इस प्रकार, मैं उन अनंत विविधतापूर्ण मार्गों द्वारा स्थापित होता हूँ जो मुझे पारलौकिक विषयों की प्रत्यक्ष उपस्थिति के सहसंबंध में मेरे संसार की वस्तु तक ले जाते हैं। और चूंकि दुनिया मुझे अपने सभी प्राणियों के साथ एक ही बार में दी गई है, इसलिए ये रास्ते केवल उन साधनिक परिसरों के समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मुझे एक अन्य-वस्तु को दुनिया के आधार पर "यह" के रूप में प्रकट करने की अनुमति देते हैं, एक अन्य-वस्तु जो पहले से ही अंतर्निहित रूप से और वास्तव में वहां समाहित है।
लेकिन इन टिप्पणियों को सामान्यीकृत किया जा सकता है; केवल पियरे, रेने, लुसिएन ही नहीं हैं जो मूल उपस्थिति के आधार पर मेरे संबंध में अनुपस्थित या उपस्थित हैं, क्योंकि वे अकेले ही मुझे स्थिति देने में योगदान नहीं देते; मैं भी एक यूरोपीय के रूप में एशियाई या नीग्रो लोगों के संबंध में, एक बूढ़े के रूप में युवाओं के संबंध में, एक न्यायाधीश के रूप में अपराधियों के संबंध में, एक बुर्जुआ के रूप में श्रमिकों के संबंध में, आदि के संबंध में स्थित हूँ। संक्षेप में, प्रत्येक जीवित मनुष्य के संबंध में ही प्रत्येक मानवीय वास्तविकता मूल उपस्थिति के आधार पर उपस्थित या अनुपस्थित होती है। इस मूल उपस्थिति का अर्थ केवल देखे जाने या देखे जाने वाले के रूप में ही हो सकता है; अर्थात्, इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरा मेरे लिए एक वस्तु है या मैं स्वयं दूसरे के लिए एक वस्तु हूँ। दूसरों के

लिए होना मेरी मानवीय वास्तविकता का एक निरंतर तथ्य है, और मैं इसे अपने बारे में बनाए गए प्रत्येक विचार में, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, इसकी तथ्यात्मक आवश्यकता के साथ समझता हूँ। मैं जहाँ भी जाऊँ, जो भी करूँ, मैं केवल अपने और दूसरे (वस्तु के रूप में) के बीच की दूरी को बदल पाता हूँ, केवल दूसरे की ओर जाने वाले रास्तों का ही उपयोग कर पाता हूँ। पीछे हटना, पास आना, इस विशेष दूसरे (वस्तु के रूप में) को खोजना, मेरे 'दूसरों के लिए' अस्तित्व के मूल विषय में केवल अनुभवजन्य परिवर्तन लाना है। दूसरा मेरे लिए हर जगह मौजूद है, जिसके माध्यम से मैं एक वस्तु बन जाता हूँ। इसलिए, मैं अपने रास्ते में मिलने वाले दूसरे (वस्तु के रूप में) की अनुभवजन्य उपस्थिति के बारे में गलत हो सकता हूँ। मैं यह मान सकता हूँ कि एनी सड़क पर मेरी ओर आ रही है और पता चलता है कि वह एक अनजान व्यक्ति है; इससे मेरे लिए एनी की मूल उपस्थिति नहीं बदलती। मैं यह मान सकता हूँ कि मंद प्रकाश में कोई पुरुष मुझे देख रहा है और पता चलता है कि वह एक पेड़ का तना है जिसे मैंने मनुष्य समझ लिया था; इससे सभी मनुष्यों के लिए मेरी मूल उपस्थिति, मेरे लिए सभी मनुष्यों की उपस्थिति नहीं बदलती। क्योंकि मेरे अनुभव क्षेत्र में किसी मनुष्य का वस्तु के रूप में प्रकट होना मुझे यह नहीं बताता कि मनुष्य हैं। दूसरे के अस्तित्व के प्रति मेरा विश्वास इन अनुभवों से स्वतंत्र है और इसके विपरीत, यही वह चीज है जो इन्हें संभव बनाती है।
मुझे जो प्रतीत होता है, जिसके बारे में मैं गलत हो सकता हूँ, वह न तो 'अन्य' है और न ही 'अन्य' और मेरे बीच का वास्तविक, ठोस बंधन; यह एक ऐसी स्थिति है जो मनुष्य को वस्तु के रूप में दर्शा सकती है और नहीं भी दर्शा सकती है। केवल संभावित ही 'अन्य' की दूरी और वास्तविक निकटता है; अर्थात्, वस्तु के रूप में उसका स्वरूप और उस संसार से उसका संबंध जिसे मैं प्रकट करता हूँ, संदेहहीन नहीं है क्योंकि मैं अपने उद्गार से ही 'अन्य' को प्रकट करता हूँ। यद्यपि यह वस्तुनिष्ठता संसार में विलीन हो जाती है क्योंकि 'अन्य' संसार में कहीं 'अन्य' है। वस्तु के रूप में 'अन्य' मेरी व्यक्तिपरकता की पुनर्प्राप्ति के साथ सहसंबंधित एक उपस्थिति के रूप में निश्चित है, लेकिन यह कभी निश्चित नहीं है कि 'अन्य' वही वस्तु है। इसी प्रकार, किसी विषय के लिए वस्तु के रूप में मेरा अस्तित्व, परावर्तक साक्ष्य के समान ही साक्ष्य से युक्त है, परन्तु यह बात इस तथ्य के लिए समान नहीं है कि इस सटीक क्षण में और किसी विशेष 'अन्य' के लिए, मैं संसार के आधार पर 'यह' के रूप में पृथक हूँ, न कि आधार की अस्पष्टता में डूबा हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस समय मैं किसी न किसी जर्मन के लिए एक वस्तु के रूप में विद्यमान हूँ। लेकिन क्या मैं एक फ्रांसीसी के रूप में, इन सामूहिकताओं की अविभेदता में एक पेरिसवासी के रूप में विद्यमान हूँ, या उस पेरिसवासी के रूप में जिसके चारों ओर पेरिस की आबादी और फ्रांसीसी सामूहिकता अचानक उसके लिए आधार के रूप में संगठित हो जाती है? इस बिंदु पर मुझे केवल कुछ संभावित ज्ञान के अंश ही प्राप्त होंगे, भले ही वे अनंत रूप से संभावित हों।

वस्तुओं का एक समूह बनाने का प्रयास करते हैं। जब हम बोल रहे होते हैं, केवल उन विचारों पर ध्यान केंद्रित करते हैं जिन्हें हम विकसित करना चाहते हैं, तो दूसरे की उपस्थिति अविभेदित रहती है। इसे वर्ग, श्रोता आदि शीर्षकों के अंतर्गत एकीकृत करना गलत होगा। वास्तव में हम सामूहिक चेतना वाले एक ठोस और व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रति सचेत नहीं होते; ये वे छवियाँ हैं जो घटना के बाद हमारे अनुभव को व्यक्त करने में सहायक होंगी और जो इसे आधे से अधिक उजागर कर देंगी। लेकिन न ही हम एक बहुवचन दृष्टि को समझ पाते हैं। यह बल्कि एक अमूर्त वास्तविकता का मामला है, क्षणभंगुर और सर्वव्यापी, जो हमारे सामने प्रकट हुए 'मैं' को साकार करती है और जो हमसे परे इस 'मैं' के निर्माण में हमारे साथ सहयोग करती है। दूसरी ओर, यदि मैं यह सुनिश्चित करना चाहूँ कि मेरा विचार अच्छी तरह समझ लिया गया है और इसके लिए मैं श्रोताओं की ओर देखूँ, तो मुझे अचानक सिर और आँखें दिखाई देने लगेंगी। जब दूसरे की पूर्व-संख्यात्मक वास्तविकता को वस्तुनिष्ठ बनाया जाता है, तो वह विघटित और बहुवचन हो जाती है। लेकिन वह दृष्टि भी गायब हो जाती है। हमें "वे" शब्द का प्रयोग मानवीय वास्तविकता की अप्रामाणिकता की स्थिति के लिए नहीं, बल्कि इसी पूर्व-संख्यात्मक ठोस वास्तविकता के लिए करना चाहिए। मैं जहाँ भी हूँ, वे निरंतर मुझे देख रहे हैं। उन्हें कभी भी एक वस्तु के रूप में नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वह तुरंत विघटित हो जाती है।
इस प्रकार, इस अवलोकन ने हमें दूसरों के लिए हमारे अस्तित्व के मार्ग पर अग्रसर किया है और उस दूसरे के निर्विवाद अस्तित्व को प्रकट किया है जिसके लिए हम हैं। लेकिन यह हमें इससे आगे नहीं ले जा सकता। अब हमें जिस बात का अध्ययन करना है, वह है 'मैं' और दूसरे के बीच का वह मूलभूत संबंध, जैसा कि हमें प्रकट किया गया है। या यूँ कहें कि, हमें इस समय इस मूल संबंध की सीमाओं के भीतर समाहित हर चीज को स्पष्ट और विषयगत रूप से परिभाषित करना होगा और यह प्रश्न पूछना होगा कि दूसरों के लिए इस अस्तित्व का सार क्या है।
उपरोक्त टिप्पणियों से एक बात स्पष्ट होती है जो हमारे लिए सहायक होगी। वह यह है कि 'दूसरों के लिए होना' स्वयं के लिए होने की एक तात्विक संरचना नहीं है। हम 'दूसरों के लिए होना' को 'स्वयं के लिए होना' से इस प्रकार नहीं निकाल सकते जैसे किसी सिद्धांत से परिणाम निकाला जाता है, और न ही इसके विपरीत हम 'स्वयं के लिए होना' को 'दूसरों के लिए होना' से निकाल सकते हैं। बेशक, हमारी मानवीय वास्तविकता अनिवार्य रूप से एक साथ 'स्वयं के लिए' और 'दूसरों के लिए' दोनों होनी चाहिए, लेकिन हमारा वर्तमान अध्ययन मानवशास्त्र का निर्माण करने का लक्ष्य नहीं रखता है। शायद एक ऐसे 'स्वयं के लिए' की कल्पना करना असंभव न हो जो सभी 'दूसरों के लिए' से पूरी तरह मुक्त हो और जो किसी वस्तु होने की संभावना पर संदेह किए बिना भी विद्यमान हो। लेकिन यह 'स्वयं के लिए' सरलतः "मनुष्य" नहीं होगा। यहाँ जो बात हमें दिखाई देती है वह केवल तथ्यात्मक अनिवार्यता है: यह पाया गया है - और यह निर्विवाद है - कि हमारा अस्तित्व, अपने 'स्वयं के लिए' होने के साथ-साथ, दूसरों के लिए भी है;

जो अस्तित्व चिंतनशील चेतना के समक्ष प्रकट होता है, वह स्वयं के लिए और दूसरों के लिए होता है। कार्टेशियन कॉगिटो केवल एक तथ्य की परम सत्यता की पुष्टि करता है—मेरे अस्तित्व की सत्यता की। उसी प्रकार, कॉगिटो, जैसा कि हम यहाँ इसका थोड़ा विस्तार कर रहे हैं, हमें दूसरे के अस्तित्व और दूसरे के लिए मेरे अस्तित्व को एक तथ्य के रूप में प्रकट करता है। बस इतना ही हम कह सकते हैं। यह भी सत्य है कि दूसरों के लिए मेरा अस्तित्व, मेरी चेतना के उद्भव के रूप में, एक परम घटना का स्वरूप धारण करता है। चूंकि यह घटना एक साथ ऐतिहासिककरण है—क्योंकि मैं स्वयं को दूसरों के लिए उपस्थिति के रूप में कालिक बनाता हूँ—और समस्त इतिहास की एक शर्त है, इसलिए हम इसे प्रागैतिहासिक ऐतिहासिककरण कहेंगे। हम यहाँ इसे समकालिकता के प्रागैतिहासिक कालिककरण के रूप में देखेंगे। प्रागैतिहासिक से हमारा तात्पर्य इतिहास से पूर्व के समय से नहीं है—जो कि तर्कसंगत नहीं होगा— बल्कि यह उस मूल कालिककरण का एक भाग है जो इतिहास को संभव बनाते हुए स्वयं का ऐतिहासिककरण करता है। हमें 'दूसरों के लिए अस्तित्व' का अध्ययन एक तथ्य के रूप में - एक प्राथमिक और शाश्वत तथ्य के रूप में - न कि एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में करना चाहिए।
हमने पहले आंतरिक निषेध और बाह्य निषेध के बीच के अंतर को देखा है। विशेष रूप से हमने यह देखा है कि किसी निश्चित सत्ता के ज्ञान का आधार वह मूल संबंध है जिसके द्वारा स्वयं-स्वयं को इस सत्ता के न होने के रूप में विद्यमान होना पड़ता है। इस प्रकार स्वयं-स्वयं द्वारा अनुभव किया गया निषेध एक आंतरिक निषेध है; स्वयं-स्वयं इसे अपनी पूर्ण स्वतंत्रता में अनुभव करता है। इससे भी बेहतर, स्वयं-स्वयं यह निषेध है क्योंकि यह स्वयं को सीमितता के रूप में चुनता है। लेकिन निषेध स्वयं-स्वयं को उस सत्ता से अटूट रूप से बांधता है जो वह नहीं है, और हम यह कह पाए हैं कि स्वयं-स्वयं अपने अस्तित्व में उस वस्तु के अस्तित्व को समाहित करता है जो वह नहीं है, क्योंकि इस सत्ता के न होने के कारण उसका अस्तित्व प्रश्न में है।
ये अवलोकन स्वयं-स्वयं के दूसरे के साथ प्राथमिक संबंध में बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के लागू होते हैं। यदि सामान्यतः कोई दूसरा है, तो सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मैं वह हूँ जो दूसरा नहीं है; और मेरे द्वारा स्वयं पर किए गए इसी निषेध में मैं स्वयं को अस्तित्व में लाता हूँ और दूसरा, दूसरे के रूप में प्रकट होता है। यह निषेध, जो मेरे अस्तित्व का निर्माण करता है और जो, जैसा कि हेगेल ने कहा, मुझे दूसरे के समक्ष एक समान के रूप में प्रकट करता है, मुझे एक गैर-थेटिक आत्मत्व के आधार पर "स्वयं" के रूप में स्थापित करता है। हमें इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कोई आत्मा हमारी चेतना में निवास करती है, बल्कि यह कि आत्मत्व एक अन्य आत्मत्व के निषेध के रूप में उत्पन्न होकर सुदृढ़ होता है और इस सुदृढ़ीकरण को स्वयं द्वारा उसी आत्मत्व के रूप में और इसी आत्मत्व के रूप में निरंतर चुनाव के रूप में सकारात्मक रूप से समझा जाता है। एक स्वयं-स्वयं जो स्वयं हुए बिना एक आत्मा होगी, कल्पनीय होगी। वह स्वयं-स्वयं जो मैं हूँ, उसे दूसरे के अस्वीकरण के रूप में ही होना है; अर्थात्, स्वयं के रूप में। इस प्रकार,

सामान्यतः 'मैं नहीं' के ज्ञान पर लागू सूत्रों का उपयोग करके, हम कह सकते हैं कि 'स्वयं के लिए' स्वयं के रूप में 'अन्य' के अस्तित्व को अपने भीतर समाहित करता है, जहाँ तक उसके अस्तित्व पर 'अन्य' न होने का प्रश्न उठता है। दूसरे शब्दों में, किसी चेतना के लिए 'अन्य' न होने में सक्षम होने के लिए, और इसलिए, चेतना के 'स्व' की स्थिति, इस 'अस्तित्वहीनता' को, साक्षी के रूप में 'तीसरे व्यक्ति' की स्थापना का विशुद्ध और सरल विषय बनाए बिना, 'अन्य' का अस्तित्व संभव होने के लिए, दो बातें आवश्यक हैं: चेतना को स्वयं होना चाहिए और सहज रूप से इस 'अस्तित्वहीनता' का अस्तित्व होना चाहिए; चेतना को स्वतंत्र रूप से 'अन्य' से अलग होना चाहिए और स्वयं को एक ऐसी शून्यता के रूप में चुनकर स्वयं को उससे अलग करना चाहिए जो 'अन्य' से भिन्न है, और इस प्रकार 'स्वयं' में पुनः विलीन होना चाहिए। यही अलगाव, जो 'स्वयं के लिए' का अस्तित्व है, 'अन्य' के अस्तित्व का कारण बनता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह 'अन्य' को अस्तित्व प्रदान करता है, बल्कि यह केवल 'अन्य' को उसका 'अन्य' अस्तित्व या 'वहाँ है' की आवश्यक स्थिति प्रदान करता है। यह स्पष्ट है कि स्वयं के लिए, 'अन्य' न होने का भाव शून्यता से पूर्णतः पंगु हो जाता है; स्वयं वह है जो 'प्रतिबिंब-प्रतिबिंब' के शून्यीकरण के भाव में 'अन्य' नहीं है। 'अन्य' न होना कभी प्रदत्त नहीं होता, बल्कि निरंतर पुनरुत्थान में चुना जाता है: चेतना 'अन्य' तभी नहीं हो सकती जब वह स्वयं की चेतना हो, जो 'अन्य' नहीं है। इस प्रकार, आंतरिक निषेध, यहाँ भी, संसार में उपस्थिति की तरह, अस्तित्व का एकात्मक बंधन है। यह आवश्यक है कि 'अन्य' चेतना के प्रत्येक भाग में उपस्थित हो और यहाँ तक कि चेतना में पूर्णतः समाहित हो जाए, ताकि चेतना 'शून्य' होकर ही उस 'अन्य' से बच सके जो उसे फँसाने का खतरा पैदा करता है। यदि चेतना अचानक 'कुछ' हो जाए, तो स्वयं और 'अन्य' के बीच का भेद पूर्ण अविभेदन के केंद्र में लुप्त हो जाएगा।
हालाँकि, यह विवरण एक महत्वपूर्ण परिवर्धन की अनुमति देता है जो इसके निहितार्थों को मौलिक रूप से बदल देगा। जब चेतना ने स्वयं को संसार में एक विशिष्ट 'यह' के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं को चेतना न होने के रूप में अनुभव किया, तो नकारात्मक संबंध पारस्परिक नहीं था। सामना किए गए 'यह' ने स्वयं को चेतना न होने का रूप नहीं दिया; यह चेतना में और उसके माध्यम से चेतना न होने के लिए निर्धारित किया गया था; चेतना के साथ इसका संबंध शुद्ध उदासीन बाह्यता का ही रहा। ऐसा इसलिए है क्योंकि 'यह' ने अपने 'स्वयं में' स्वरूप को बनाए रखा, और यह 'स्वयं में' के रूप में ही चेतना के समक्ष प्रकट हुआ, उसी निषेध द्वारा जिसके द्वारा 'स्वयं के लिए' ने स्वयं को 'स्वयं में' होने से इनकार करके स्वयं को अस्तित्व में लाया। परन्तु दूसरे के संबंध में, इसके विपरीत, आंतरिक नकारात्मक संबंध पारस्परिकता का संबंध है। वह अस्तित्व जिसे चेतना को 'नहीं होना' है, उसे एक ऐसे अस्तित्व के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसे यह चेतना नहीं होना है। ऐसा इसलिए है क्योंकि संसार में 'यह' की अनुभूति के समय, चेतना 'यह' से न केवल अपनी विशिष्टता से, बल्कि अपने अस्तित्व के तरीके से भी भिन्न थी। यह 'स्वयं के लिए' थी जो 'स्वयं में' का सामना कर रही थी। दूसरे के उभार में, चेतना अपने अस्तित्व के

स्वरूप के संदर्भ में दूसरे से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। दूसरा ही चेतना है। दूसरा स्वयं के लिए और चेतना है, और वह उन संभावनाओं को संदर्भित करता है जो उसकी संभावनाएं हैं; वह दूसरे को छोड़कर स्वयं है। दूसरे के इस विरोध को विशुद्ध संख्यात्मक निर्धारण के रूप में देखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ हमारे पास दो या अनेक चेतनाएँ नहीं हैं; संख्यांकन एक बाह्य साक्षी की कल्पना करता है और बाह्यता की विशुद्ध और सरल स्थापना है। स्वयं के लिए दूसरे का अस्तित्व केवल एक सहज और पूर्व-संख्यात्मक निषेध में ही हो सकता है। चेतना के लिए दूसरा केवल एक अस्वीकृत स्व के रूप में विद्यमान है। लेकिन ठीक इसी कारण कि दूसरा एक स्व है, वह स्वयं मेरे लिए और मेरे माध्यम से केवल तभी अस्वीकृत हो सकता है जब उसका स्व ही मुझे अस्वीकृत करता है। मैं ऐसी चेतना को न तो समझ सकता हूँ और न ही उसकी कल्पना कर सकता हूँ जो मुझे न समझती हो। एकमात्र चेतना जो मुझे समझे बिना या मुझे अस्वीकृत किए बिना विद्यमान है और जिसकी मैं स्वयं कल्पना कर सकता हूँ, वह दुनिया से बाहर कहीं पृथक चेतना नहीं है; वह मेरी अपनी है। इस प्रकार, वह दूसरा व्यक्ति जिसे मैं स्वयं होने से इनकार करने के लिए पहचानता हूँ, सर्वप्रथम वह है जिसके लिए मेरा 'स्वयं' अस्तित्व है। न केवल मैं यह अस्वीकार करके स्वयं को उस दूसरे व्यक्ति से अलग कर लेता हूँ कि वह मैं हूँ, बल्कि मैं स्वयं को उस व्यक्ति से भी अलग कर लेता हूँ जो स्वयं को मुझसे अलग कर रहा है।
यह दोहरा निषेध, एक अर्थ में, आत्म-विनाशकारी है। दो में से एक बात होती है: या तो मैं स्वयं को एक निश्चित सत्ता न होने का बना लेता हूँ, और फिर वह मेरे लिए एक वस्तु बन जाता है और मैं उसके लिए अपनी वस्तुता खो देता हूँ; इस स्थिति में दूसरा, दूसरे-मैं का अस्तित्व समाप्त कर देता है—अर्थात्, वह कर्ता जो मुझे स्वयं होने से इनकार करके एक वस्तु बनाता है। या फिर यह सत्ता वास्तव में दूसरा है और स्वयं को न होने का बना लेती है, इस स्थिति में मैं उसके लिए एक वस्तु बन जाता हूँ और वह अपनी वस्तुता खो देता है। इस प्रकार मूलतः दूसरा, न-मैं-न-वस्तु है। दूसरे के द्वंद्ववाद में आगे के चरण चाहे जो भी हों, यदि दूसरे को प्रारंभ में ही दूसरा होना है, तो सिद्धांततः वह उसी उभार से प्रकट नहीं हो सकता जिससे मैं उसे होने से इनकार करता हूँ। इस अर्थ में मेरा मूल निषेध प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जिस पर इसे लागू किया जा सके। मैं जो होने से इनकार करता हूँ वह केवल उस 'मैं' होने से इनकार करना ही हो सकता है जिसके माध्यम से दूसरा मुझे एक वस्तु बना रहा है। या, यदि आप चाहें, तो मैं अपने अस्वीकृत 'मैं' को अस्वीकार करता हूँ; मैं अपने आप को 'स्वयं' के रूप में परिभाषित करता हूँ, उस 'स्वयं' के अस्वीकार के माध्यम से जिसे अस्वीकार कर दिया गया है; मैं इस अस्वीकार किए गए 'स्वयं' को एक पराभूत 'स्वयं' के रूप में उसी उफान में स्थापित करता हूँ जिसमें मैं स्वयं को 'अन्य' से अलग करता हूँ। लेकिन इस प्रकार मैं न केवल 'अन्य' को, बल्कि दूसरों के लिए अपने 'स्वयं' के अस्तित्व को भी पहचानता और पुष्ट करता हूँ। वास्तव में ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं 'अन्य' के लिए वस्तु के रूप में अपने अस्तित्व को

है। चेतना केवल मेरी चेतना से ही सीमित हो सकती है। अब हम अपने 'स्व' के स्वरूप को वस्तु के रूप में समझ सकते हैं: यह दो चेतनाओं के बीच की सीमा है, जो परिसीमित चेतना द्वारा उत्पन्न होती है और परिमित चेतना द्वारा ग्रहण की जाती है। और हमें इसे 'सीमा' शब्द के दो अर्थों में समझना होगा। परिसीमित पक्ष में, वास्तव में, सीमा को उस पात्र के रूप में समझा जाता है जो मुझे समाहित करता है और मुझे घेरे रहता है, शून्यता का वह आवरण जो मुझे एक समग्रता के रूप में प्रस्तुत करता है जबकि मुझे खेल से बाहर कर देता है; परिमित पक्ष में, यह पूरी तरह से आत्मत्व की घटना है और गणितीय सीमा के समान है जो उस श्रृंखला की ओर बढ़ती है जो कभी उस तक नहीं पहुँचती। प्रत्येक अस्तित्व जो मुझे होना है, अपनी सीमा पर है, जैसे एक सीधी रेखा के लिए एक स्पर्शोन्मुख वक्र। इस प्रकार मैं एक निराकार और अनिश्चित समग्रता हूँ, जो एक सीमित समग्रता के भीतर समाहित है जो मुझे दूर से घेरे हुए है और जिससे मैं स्वयं से बाहर हूँ, लेकिन न तो कभी इसे महसूस कर सकता हूँ और न ही इसे छू सकता हूँ।
स्वयं को समझने के मेरे प्रयासों और उनकी निरर्थकता की अच्छी तुलना पॉइनकेयर द्वारा वर्णित उस गोले से की जा सकती है, जिसमें केंद्र से सतह की ओर जाने पर तापमान घटता जाता है। सजीव प्राणी इस गोले की सतह तक पहुँचने के लिए केंद्र से प्रस्थान करते हैं, परन्तु तापमान में कमी के कारण उनमें निरंतर संकुचन होता रहता है। वे अपने लक्ष्य के निकट पहुँचने के अनुपात में अनंत रूप से चपटे होते जाते हैं, और इसी कारण वे सतह से अनंत दूरी पर विलीन हो जाते हैं। फिर भी, यह पहुँच से परे सीमा, स्वयं-वस्तु, आदर्श नहीं है; यह एक वास्तविक सत्ता है। यह सत्ता स्वयं में नहीं है, क्योंकि यह उदासीनता की शुद्ध बाह्यता में उत्पन्न नहीं होती। और न ही यह स्वयं के लिए है, क्योंकि यह वह सत्ता नहीं है जो मुझे स्वयं को नष्ट करके प्राप्त करनी है। यह ठीक वही है जो मेरा दूसरों के लिए अस्तित्व है, वह अस्तित्व जो विपरीत मूल और विपरीत अर्थों वाले दो निषेधों में विभाजित है। क्योंकि दूसरा वह 'मैं' नहीं है जिसका उसे अंतर्ज्ञान है और मुझे उस 'मैं' का अंतर्ज्ञान नहीं है जो मैं हूँ। फिर भी, यह 'मैं', जो एक द्वारा उत्पन्न और दूसरे द्वारा ग्रहण किया गया है, अपनी परम वास्तविकता इस तथ्य से प्राप्त करता है कि यह दो ऐसे प्राणियों के बीच एकमात्र संभव विभाजन है जो अपने अस्तित्व के तरीके के संबंध में मौलिक रूप से समान हैं और एक दूसरे के लिए तत्काल उपस्थित हैं; क्योंकि चेतना ही चेतना को सीमित कर सकती है, इसलिए उनके बीच कोई अन्य माध्यम कल्पना योग्य नहीं है।
मेरे कल्पित वस्तुत्व में और उसके माध्यम से दूसरे की मेरे विषय के रूप में उपस्थिति को देखते हुए, हम देख सकते हैं कि दूसरे को वस्तु बनाना ही उसके साथ मेरे संबंध का दूसरा चरण होना चाहिए। वास्तव में, मेरी अज्ञात सीमा से परे दूसरे की उपस्थिति मुझे एक स्वतंत्र आत्म के रूप में स्वयं को पुनः समझने के लिए प्रेरित कर सकती है। जिस हद तक मैं यह अस्वीकार करता हूँ कि मैं दूसरा हूँ और जिस रूप में दूसरा पहले प्रकट होता है, वह केवल दूसरे के रूप में ही प्रकट हो सकता है; अर्थात्, मेरी सीमा से परे एक विषय के रूप

में, उस रूप में जो मुझे सीमित करता है। वास्तव में, दूसरे के अलावा कोई भी मुझे सीमित नहीं कर सकता। इसलिए वह उस रूप में प्रकट होता है जो अपनी पूर्ण स्वतंत्रता में और अपनी संभावनाओं की ओर अपने मुक्त प्रक्षेपण में मुझे खेल से बाहर कर देता है और "शामिल होने" (जर्मन शब्द mit-machen के अर्थ में) से इनकार करके मुझे मेरे पारलौकिकों से वंचित कर देता है। इस प्रकार, सबसे पहले मुझे केवल उन दो निषेधों में से एक को समझना होगा जिसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ, वह जो मेरे माध्यम से मुझ तक नहीं पहुँचता। लेकिन इस निषेध की आशंका में ही स्वयं के रूप में मेरी चेतना उत्पन्न होती है; अर्थात्, मैं एक स्पष्ट आत्म-चेतना प्राप्त कर सकता हूँ क्योंकि मैं दूसरे के निषेध के लिए भी उत्तरदायी हूँ जो मेरी स्वयं की संभावना है। यह दूसरे निषेध को स्पष्ट करने की प्रक्रिया है, जो मुझसे दूसरे की ओर बढ़ता है। वास्तव में यह पहले से ही मौजूद था, लेकिन दूसरे निषेध के प्रकट होने के लिए पहले निषेध के लुप्त होने के कारण छिपा हुआ था। लेकिन दूसरा निषेध ही नए निषेध के प्रकट होने का कारण है; क्योंकि यदि कोई दूसरा है जो मेरे पारलौकिकता को विशुद्ध रूप से चिंतन के रूप में स्थापित करके मुझे खेल से बाहर कर देता है, तो ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं अपनी सीमा को मानकर स्वयं को दूसरे से अलग कर लेता हूँ। दूसरे के संबंध में एकरूपता की चेतना के इस अलगाव की चेतना ही मेरी मुक्त सहजता की चेतना है। इसी अलगाव से, जो दूसरे को मेरी सीमा का अधिकार देता है, मैं पहले ही दूसरे को खेल से बाहर कर रहा हूँ। इसलिए, जहाँ तक मैं स्वयं को अपनी स्वतंत्र संभावनाओं में से एक के रूप में सचेत करता हूँ और जहाँ तक मैं इस आत्मत्व को साकार करने के लिए स्वयं की ओर प्रक्षेपित करता हूँ, उस हद तक मैं दूसरे के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी हूँ। यह मैं ही हूँ जो अपनी स्वतंत्र सहजता की पुष्टि से ही दूसरे के अस्तित्व का कारण बनता हूँ, न कि केवल चेतना के स्वयं के अनंत संदर्भ का। तब दूसरा स्वयं को खेल से बाहर पाता है; वह अब वह है जो मेरे न होने पर निर्भर करता है, और इस प्रकार उसका पारगमन अब वह पारगमन नहीं है जो मुझे स्वयं की ओर पार करता है, बल्कि एक विशुद्ध चिंतनशील पारगमन है, मात्र आत्मत्व का एक निश्चित चक्र। चूंकि मैं दोनों निषेधों को एक साथ साकार नहीं कर सकता, इसलिए नया निषेध, यद्यपि दूसरे निषेध से प्रेरित है, उसे छिपा लेता है। दूसरा मुझे एक पतित उपस्थिति के रूप में दिखाई देता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वास्तव में मैं और दूसरा दूसरे के अस्तित्व के लिए सह-उत्तरदायी हैं, लेकिन यह दो निषेधों के कारण है कि मैं दूसरे को तुरंत छिपाए बिना पहले का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार, दूसरा अब वह बन जाता है जिसे मैं दूसरे न होने की अपनी ही परिकल्पना में सीमित कर देता हूँ। स्वाभाविक रूप से, यहाँ यह समझना आवश्यक है कि इस अंश की प्रेरणा भावात्मक है। उदाहरण के लिए, यदि मैं इस अप्रकट को भय, लज्जा या अभिमान के रूप में विशिष्ट रूप से अनुभव न करता, तो भी मैं इसके परे और इसके प्रति मोहित बना रहता। इन्हीं प्रेरणाओं का भावात्मक स्वरूप दृष्टिकोण में इन परिवर्तनों की अनुभवजन्य आकस्मिकता का कारण है। परन्तु ये भावनाएँ स्वयं हमारे अस्तित्व को दूसरों के लिए अनुभव करने का हमारा भावात्मक तरीका मात्र

पाप के बाद पतन का बाइबिल प्रतीक यह तथ्य है कि आदम और हव्वा "जानते हैं कि वे नग्न हैं।" शर्म की प्रतिक्रिया ठीक उसी तरह होगी जैसे उस व्यक्ति को वस्तु के रूप में समझना जिसने मेरी स्वयं की वस्तु-अवस्था को समझा। दरअसल, जिस क्षण से दूसरा व्यक्ति मुझे एक वस्तु के रूप में दिखाई देता है, उसकी व्यक्तिपरकता उस वस्तु का एक साधारण गुण बन जाती है। यह निम्न स्तर की हो जाती है और इसे "वस्तुनिष्ठ गुणों का एक समूह जो सिद्धांत रूप से मुझसे परे है" के रूप में परिभाषित किया जाता है। वस्तु के रूप में दूसरे व्यक्ति की एक व्यक्तिपरकता होती है, जैसे इस खोखले डिब्बे का "अंदर" होता है। इस तरह मैं स्वयं को पुनः प्राप्त करता हूँ, क्योंकि मैं किसी वस्तु के लिए वस्तु नहीं हो सकता। मैं निश्चित रूप से इस बात से इनकार नहीं करता कि दूसरा व्यक्ति "अपने भीतर" मुझसे जुड़ा रहता है, लेकिन मेरे प्रति उसकी चेतना, क्योंकि यह चेतना-एक-वस्तु के रूप में है, मुझे प्रभावहीन शुद्ध आंतरिकता के रूप में दिखाई देती है। यह उस "अंदर" के अन्य गुणों में से एक है, कुछ ऐसा जो कैमरे के बंद डिब्बे में रखी संवेदनशील प्लेट के समान है। जहाँ तक मैं दूसरे व्यक्ति को अस्तित्व में लाता हूँ, मैं स्वयं को उस ज्ञान के मुक्त स्रोत के रूप में समझता हूँ जो दूसरे व्यक्ति को मेरे बारे में है, और दूसरा व्यक्ति मुझे उस ज्ञान से प्रभावित दिखाई देता है जो उसे मेरे अस्तित्व के बारे में है, क्योंकि मैंने उसे दूसरे व्यक्ति का चरित्र प्रदान किया है। यह ज्ञान तब "सापेक्ष" के नए अर्थ में एक व्यक्तिपरक चरित्र ग्रहण कर लेता है; अर्थात्, यह विषय-वस्तु में उस दूसरे के सापेक्ष एक गुण के रूप में बना रहता है जिसके साथ मैंने उसे प्रभावित किया है। यह अब मुझे स्पर्श नहीं करता; यह उसमें मेरी एक छवि है। इस प्रकार व्यक्तिपरकता आंतरिकता में, मुक्त चेतना सिद्धांतों की शुद्ध अनुपस्थिति में, संभावनाएँ गुणों में, और वह ज्ञान जिसके द्वारा दूसरा मुझे मेरे अस्तित्व में स्पर्श करता है, दूसरे की "चेतना" में मेरी एक शुद्ध छवि में परिवर्तित हो जाता है। शर्म उस प्रतिक्रिया को प्रेरित करती है जो शर्म से परे जाकर उस पर विजय प्राप्त करती है, क्योंकि प्रतिक्रिया में उस विषय की ओर से, जिसके लिए मैं एक वस्तु हूँ, एक वस्तु होने में सक्षम होने की अंतर्निहित और गैर-विषयबद्ध समझ समाहित होती है। यह अंतर्निहित समझ मेरे "स्वयं होने" की चेतना के अलावा और कुछ नहीं है; अर्थात्, मेरे आत्मत्व का सुदृढ़ीकरण। दरअसल, "मुझे अपने आप पर शर्म आती है" की अनुभूति को व्यक्त करने वाली संरचना में, शर्म का अर्थ है दूसरे के लिए 'मैं' एक वस्तु के रूप में, लेकिन साथ ही एक ऐसी आत्म-भावना भी जो शर्मिंदा है और जिसे सूत्र के "मैं" द्वारा अपूर्ण रूप से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार, शर्म एक तीन आयामों वाली एकीकृत अनुभूति है: "मुझे दूसरे के सामने अपने आप पर शर्म आती है।"
यदि इनमें से कोई भी आयाम लुप्त हो जाए, तो लज्जा भी लुप्त हो जाती है। परन्तु यदि मैं “वे” को एक ऐसे विषय के रूप में देखता हूँ जिसके समक्ष मुझे लज्जा होती है, तो वह अनेक अन्यों में विलीन हुए बिना वस्तु नहीं बन सकता; और यदि मैं उसे उस विषय की परम एकता के रूप में मानता हूँ जो किसी भी

यदि मैं इसे एक वस्तुनिष्ठ रूप से बोधगम्य इशारे के कार्य के रूप में व्याख्या करता हूँ जो घटित नहीं होगा। संक्षेप में, वस्तुनिष्ठ रूप से बोधगम्य क्रोध एक अंतरा-सांसारिक उपस्थिति-अनुपस्थिति के आसपास की दुनिया का एक स्वभाव है।
क्या इसका अर्थ यह है कि हमें व्यवहारवादियों को सही मानना ही होगा? बिलकुल नहीं। क्योंकि यद्यपि व्यवहारवादी मनुष्य की व्याख्या उसकी परिस्थिति के संदर्भ में करते हैं, वे उसके विशिष्ट सिद्धांत, यानी पारलौकिकता-पारित होने को भूल गए हैं। वास्तव में, यदि 'अन्य' वह वस्तु है जिसे स्वयं तक सीमित नहीं किया जा सकता, तो वह वह वस्तु भी है जिसे केवल उसके उद्देश्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। बेशक, हथौड़ा और आरी को समझने में कोई अंतर नहीं है। दोनों को उनके कार्य के माध्यम से, अर्थात् उनके उद्देश्य के माध्यम से समझा जाता है। लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि वे पहले से ही मानवीय हैं। मैं उन्हें केवल तभी समझ सकता हूँ जब वे मुझे एक ऐसी साधन-संगठन से जोड़ते हैं जिसमें 'अन्य' केंद्र में है, केवल तभी जब वे एक ऐसे जटिल तंत्र का हिस्सा हैं जो पूरी तरह से उस उद्देश्य की ओर अग्रसर है जिसे मैं भी पार करता हूँ। यदि हम 'अन्य' की तुलना मशीन से कर सकते हैं, तो इसका कारण यह है कि मशीन एक मानवीय तथ्य के रूप में पहले से ही पारलौकिकता-पारित होने का संकेत प्रस्तुत करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे चक्की में करघों को केवल उनके द्वारा उत्पादित कपड़ों से ही समझाया जा सकता है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण को उलटना होगा, और यह उलटफेर दूसरे की वस्तुनिष्ठता को बरकरार रखेगा। क्योंकि जो सर्वप्रथम वस्तुनिष्ठ है— जिसे हम फ्रांसीसी और अंग्रेजी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अर्थ, घटना विज्ञानियों के अनुसार आशय, हाइडेगर के अनुसार पारगमन, या गेस्टाल्ट विचारधारा के अनुसार रूप कहेंगे—वह यह तथ्य है कि दूसरे को केवल विश्व के समग्र संगठन द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है और वह इस संगठन की कुंजी है। इसलिए यदि मैं दूसरे को परिभाषित करने के लिए विश्व से लौटता हूँ, तो यह इसलिए नहीं है कि विश्व मुझे दूसरे को समझने में मदद करेगा, बल्कि इसलिए कि वस्तु के रूप में दूसरा मेरे संसार में स्वायत्त और अंतरा-सांसारिक संदर्भ का केंद्र मात्र है।
इस प्रकार, जब हम दूसरे को वस्तु के रूप में देखते हैं, तो हम जिस वस्तुनिष्ठ भय को समझ पाते हैं, वह विकार की शारीरिक अभिव्यक्तियों का समूह नहीं है जिसे हम देखते हैं या जिसे हम स्फिग्मोग्राफ या स्टेथोस्कोप से मापते हैं। भय एक पलायन है; यह एक बेहोशी है। ये घटनाएँ हमें केवल गतिविधियों की एक श्रृंखला के रूप में नहीं, बल्कि पारलौकिक रूप में प्रकट होती हैं: पलायन या बेहोशी केवल झाड़ियों से होकर भागने की हताश कोशिश या सड़क के पत्थरों पर गिरने की भारी घटना नहीं है; यह उस साधन-संगठन का पूर्ण विघटन है जिसका केंद्र दूसरा था। यह सैनिक जो भाग रहा है, पहले उसकी बंदूक की नोक पर दूसरे को शत्रु के रूप में देखता था। उससे शत्रु की दूरी उसकी गोली के प्रक्षेप पथ से मापी जाती थी, और मैं भी उस दूरी को "सैनिक" को केंद्र मानकर संगठित दूरी के रूप में समझ और पार कर सकता था। लेकिन अब

देखो, वह अपनी बंदूक खाई में फेंक देता है और खुद को बचाने की कोशिश कर रहा है। तुरंत ही शत्रु की उपस्थिति उसे घेर लेती है और उस पर दबाव डालती है; गोलियों की दिशा के कारण दूर रुका हुआ शत्रु, गोली की दिशा के ढहते ही उस पर झपट पड़ता है; उसी समय पृष्ठभूमि में वह भूमि, जिसकी वह रक्षा कर रहा था और जिस पर वह दीवार की तरह टिका हुआ था, अचानक पंखे की तरह खुल जाती है और अग्रभूमि बन जाती है, वह स्वागत करने वाला क्षितिज जिसकी ओर वह शरण लेने के लिए भाग रहा है। यह सब मैं वस्तुनिष्ठ रूप से स्थापित करता हूँ, और ठीक यही वह है जिसे मैं भय के रूप में समझता हूँ। भय कुछ और नहीं बल्कि एक जादुई क्रिया है जो मंत्रों द्वारा उन भयावह वस्तुओं को दबाने का प्रयास करती है जिन्हें हम दूर रखने में असमर्थ हैं।

23 ठीक इसी के परिणामों के माध्यम से
हम भय को समझते हैं, क्योंकि यह हमें संसार में एक नए प्रकार के आंतरिक रक्तस्राव के रूप में दिया गया है—संसार से एक प्रकार के जादुई अस्तित्व में संक्रमण।
हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति मेरे लिए तभी एक योग्य वस्तु है जब मैं उसके लिए एक योग्य वस्तु हो सकता हूँ। इसलिए, उसे "वे" के एक गैर-व्यक्तिगत भाग के रूप में या उसके पत्रों और स्वयं के लिखित विवरणों द्वारा दर्शाए गए विशुद्ध रूप से "अनुपस्थित" के रूप में या वास्तव में उपस्थित इस व्यक्ति के रूप में वस्तुनिष्ठ बनाया जाएगा, इस बात पर निर्भर करते हुए कि मैं स्वयं उसके लिए "वे" का एक तत्व रहा हूँ, या एक "प्रिय अनुपस्थित व्यक्ति" या एक ठोस "यह व्यक्ति"। प्रत्येक मामले में, दूसरे व्यक्ति और उसके गुणों के वस्तुनिष्ठकरण का प्रकार मेरी और उसकी दोनों की स्थिति द्वारा निर्धारित होता है; अर्थात्, वे साधनिक परिसर जिन्हें हम प्रत्येक ने संगठित किया है और वे विभिन्न अवधारणाएँ जो हममें से प्रत्येक को दुनिया के आधार पर दिखाई देती हैं। यह सब स्वाभाविक रूप से हमें वास्तविकता की ओर ले जाता है। यह मेरी वास्तविकता और दूसरे व्यक्ति की वास्तविकता ही निर्धारित करती है कि क्या दूसरा व्यक्ति मुझे देख सकता है और क्या मैं इस विशेष दूसरे व्यक्ति को देख सकता हूँ। लेकिन वास्तविकता की समस्या इस सामान्य व्याख्या के दायरे से बाहर है। हम अगले अध्याय में इस पर विचार करेंगे।
इस प्रकार, दूसरों के लिए एक वस्तु होने के नाते, मैं विषयों की एक अर्ध-समग्रता के रूप में दूसरे की उपस्थिति का प्रमाण देता हूँ, और इस समग्रता के आधार पर मैं किसी विशिष्ट विषय की उपस्थिति का अधिक विशिष्ट अनुभव कर सकता हूँ, यद्यपि मैं उसे उस विशेष दूसरे के रूप में निर्दिष्ट करने में सक्षम नहीं हूँ। मेरी वस्तु-अवस्था के प्रति मेरी रक्षात्मक प्रतिक्रिया के कारण दूसरा मेरे समक्ष इस या उस वस्तु के रूप में प्रकट होगा। इस प्रकार वह मुझे "यह-एक" के रूप में दिखाई देगा; अर्थात्, उसकी व्यक्तिपरक अर्ध-समग्रता निम्न स्तर पर पहुँच जाती है और विश्व की समग्रता के साथ सह-विस्तारित एक समग्रता-वस्तु बन जाती है। यह समग्रता मुझे दूसरे की व्यक्तिपरकता के संदर्भ के बिना प्रकट होती है। दूसरे-विषय और दूसरे- वस्तु के बीच का संबंध किसी भी तरह से उस संबंध से तुलनीय नहीं है जो हम

रूप में एक ऐसी शून्यता हो जो वास्तव में मौजूद है। लेकिन साथ ही साथ चिंतन इस विदारकपन को पुनः प्राप्त करना चाहता है, जिसे वह एक शुद्ध तथ्य के रूप में समझने का प्रयास करता है, यह कहकर कि यही शून्यता है। यह एक घोर विरोधाभास है: अपनी पारलौकिकता को समझने के लिए, मुझे उससे परे जाना होगा। लेकिन मेरी अपनी पारलौकिकता केवल पारलौकिकता ही दे सकती है। मैं स्वयं अपनी पारलौकिकता हूँ; मैं इसका उपयोग इस प्रकार नहीं कर सकता कि इसे पारलौकिकता-पारित के रूप में स्थापित कर सकूँ। मैं सदा के लिए अपनी ही शून्यता में रहने के लिए अभिशप्त हूँ। संक्षेप में, चिंतन (प्रतिबिंब) वह है जिस पर चिंतन किया जाता है।
हालाँकि, चिंतनशील शून्यता को सरल आत्म-चेतना के रूप में शुद्ध आत्म-निरंतरता से कहीं आगे बढ़ाया जाता है। वास्तव में, आत्म-चेतना में, "प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबित" (रिफ्लेते-रिफ्लेटेंट) द्वैत के दो पद स्वयं को अलग-अलग प्रस्तुत करने में इतने असमर्थ थे कि द्वैत निरंतर क्षणभंगुर बना रहा और प्रत्येक पद दूसरे के लिए स्वयं को स्थापित करते हुए दूसरा बन गया। लेकिन परावर्तन के साथ मामला अलग है क्योंकि "प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबित" जिस पर परावर्तित किया जाता है, वह "प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबित" के लिए विद्यमान होता है जो परावर्तित होता है। इसलिए, परावर्तित और परावर्तित, दोनों ही स्वतंत्रता की ओर प्रवृत्त होते हैं, और जो शून्यता उन्हें अलग करती है, वह उन्हें उस शून्यता से कहीं अधिक गहराई से विभाजित करती है जो आत्म-निरंतरता को परावर्तन से अलग करती है। फिर भी, न तो चिंतनशील और न ही चिंतन-ग्रस्त इस पृथक्करणकारी शून्यता को प्रकट कर सकता है, क्योंकि उस स्थिति में चिंतन (प्रतिबिंब) एक स्वायत्त इकाई बन जाएगा जो चिंतन-ग्रस्त पर निर्देशित होने लगेगी, जिसका अर्थ होगा आंतरिक निषेध की पूर्व शर्त के रूप में बाह्य निषेध को मानना। चिंतन तब तक संभव नहीं है जब तक वह पूर्णतः एक अस्तित्व न हो, एक ऐसा अस्तित्व जिसे स्वयं की शून्यता होना आवश्यक है।
इस प्रकार, चिंतनशील परमानंद एक अधिक मौलिक परमानंद—दूसरों के लिए अस्तित्व—के मार्ग पर पाया जाता है। शून्यवाद का अंतिम चरण, आदर्श ध्रुव, वास्तव में बाह्य निषेध होना चाहिए—अर्थात्, स्वयं में एक विखंडनशीलता या उदासीनता की स्थानिक बाह्यता। इस बाह्य निषेध के संबंध में, तीनों परमानंदों को उसी क्रम में रखा गया है जो हमने अभी प्रस्तुत किया है, लेकिन लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं होता। यह सिद्धांत रूप में आदर्श ही रहता है; वास्तव में, स्वयं के लिए अस्तित्व—स्वयं के लिए अस्तित्व के समाप्त होने के जोखिम के बिना—किसी भी अस्तित्व के संबंध में स्वयं में एक निषेध को साकार नहीं कर सकता जो स्वयं में हो। इसलिए, दूसरों के लिए अस्तित्व की मूलभूत निषेध एक आंतरिक निषेध है; यह एक शून्यवाद है जो स्वयं के लिए अस्तित्व को होना ही है, ठीक चिंतनशील शून्यवाद की तरह। लेकिन यहाँ विखंडनशीलता स्वयं निषेध पर आक्रमण करती है; अब केवल निषेध ही अस्तित्व को प्रतिबिंबित और प्रतिबिंबित में विभाजित नहीं करता, और बदले में प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबित द्वैत को (प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबित)

2 यदि हम प्रकृति के कांटियन तत्वमीमांसा और कांट द्वारा तैयार किए गए सिद्धांतों की सूची को अपनाने पर भी सहमत हो जाते हैं, तो इन सिद्धांतों के आधार पर मौलिक रूप से भिन्न प्रकार की भौतिकी की कल्पना करना संभव होगा।
3 के लिए सुधार। Tr.
4 "ला ट्रान्सेंडेंस डे ल'एगो," रेचेर्चेस फिलॉसॉफिक्स, 1937।
5 फेनोमेनोलोजी डे ल'एस्प्रिट, पी. 148. संस्करण कोसन।
प्रोपेड्यूटिक, पृष्ठ 20, संपूर्ण कृतियों का पहला संस्करण।
प्रोपेड्यूटिक, पृष्ठ 20, संपूर्ण कृतियों का पहला संस्करण।
8 प्रोपेडेउटिक, पी. 18.
9 मन की घटना विज्ञान। वही।
10 वही।
11 मोटे तौर पर, Befindlichkceit का अर्थ है "परिमितता" और Verstand का अर्थ है "समझ"। Tr.
12 के लिए सुधार, स्पष्ट रूप से एक गलत मुद्रण। Tr.
13 शाब्दिक रूप से "पिच" या "ट्यूनिंग"। शायद इसका सबसे निकटतम अंग्रेजी पर्याय "सहानुभूति" है, जो इसके मूल ग्रीक अर्थ में किसी के साथ महसूस करना या अनुभव करना है। Tr.
14 इंडक्शन और एक्सपेरिमेंटेशन के सिद्धांत।
15 चेक ऑत्रुई को अपने बेटे की तलाश है।
16 शाब्दिक रूप से, "परिक्रमण से बाहर कर दिया गया" (mise hors circuit)। Tr.
17 एल’इमैजिनेयर. एन.आर.एफ., 1940. अंग्रेज़ी में, द साइकोलॉजी ऑफ़ द इमेजिनेशन. फिलोसोफिकल लाइब्रेरी, 1948.
फ़्रेंच में l’auteur है, जिसका अर्थ है “लेखक”, जो मुझे पूरा यकीन है कि l’autrui, जिसका अर्थ है “दूसरा”, की गलत छपाई है।
19 के लिए सुधार। Tr.
20 यह अभिव्यक्ति लेविन से ली गई है और सार्त्र ने इसे अपनी पुस्तक 'द इमोशंस' के पृष्ठ 57 और 6 पर समझाया है। यह हमारे कार्यों और आवश्यकताओं के संदर्भ में हमारे परिवेश के मानचित्र या स्थानिक संगठन को संदर्भित करती है। "द गुएरमांटेस वे" और "स्वान्स वे" प्रॉस्ट की पुस्तक 'रिमेंबरेंस ऑफ थिंग्स पास्ट' के संदर्भ हैं।
कुछ हद तक असंतुष्ट होकर मैंने सार्त्र के ‘engager’ और ‘engagement’ के लिए अंग्रेज़ी शब्द ‘engage’ और ‘engagement’ का प्रयोग करने का निर्णय लिया है, क्योंकि अंग्रेज़ी में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो फ्रांसीसी शब्दों के संपूर्ण अर्थ को व्यक्त कर सके। फ्रांसीसी में ‘engager’ में ‘commitment’, ‘involvement’, ‘immersion’ और यहाँ तक कि ‘entering’ के विचार भी शामिल हैं, साथ ही अंग्रेज़ी में ‘engagement’ का अर्थ भी।
भाग दो, अध्याय III, खंड III.
23 देखें. भावनाएँ.

अध्याय दो

शरीर
शरीर और चेतना के बीच संबंधों की समस्या अक्सर इस तथ्य से अस्पष्ट हो जाती है कि शरीर को प्रारंभ से ही एक निश्चित वस्तु के रूप में माना जाता है जिसके अपने नियम होते हैं और जिसे बाहर से परिभाषित किया जा सकता है, जबकि चेतना तक पहुँचने के लिए शरीर की विशिष्ट आंतरिक अंतर्ज्ञान शक्ति का उपयोग किया जाता है। वास्तव में, यदि मैं अपनी चेतना को उसकी पूर्ण आंतरिकता में समझने और चिंतनशील क्रियाओं की एक श्रृंखला के माध्यम से उसे एक ऐसे सजीव पदार्थ से जोड़ने का प्रयास करता हूँ जो तंत्रिका तंत्र, मस्तिष्क, ग्रंथियों, पाचन, श्वसन और परिसंचरण अंगों से बना है और जिसका मूल पदार्थ हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन, फास्फोरस आदि के परमाणुओं में रासायनिक रूप से विश्लेषित किया जा सकता है, तो मुझे अथाह कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। लेकिन ये सभी कठिनाइयाँ इस तथ्य से उत्पन्न होती हैं कि मैं अपनी चेतना को अपने शरीर से नहीं, बल्कि दूसरों के शरीर से जोड़ने का प्रयास करता हूँ। वास्तव में, जिस शरीर का मैंने अभी वर्णन किया है, वह मेरा शरीर नहीं है जैसा कि वह मेरे लिए है। मैंने कभी अपने मस्तिष्क या अंतःस्रावी ग्रंथियों को नहीं देखा है और न ही कभी देख पाऊँगा। लेकिन चूंकि मैंने मनुष्यों के शवों का विच्छेदन देखा है, मैंने शरीर क्रिया विज्ञान पर लेख पढ़े हैं, इसलिए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मेरा शरीर ठीक वैसे ही बना है जैसे उन सभी शरीरों का बना है जिन्हें मुझे विच्छेदन की मेज पर दिखाया गया है या जिनके रंगीन चित्र मैंने पुस्तकों में देखे हैं। बेशक, जिन चिकित्सकों ने मेरी देखभाल की है, जिन शल्य चिकित्सकों ने मेरा ऑपरेशन किया है, उन्हें उस शरीर का प्रत्यक्ष अनुभव रहा है जिसे मैं स्वयं नहीं जानता। मैं उनसे असहमत नहीं हूं, मैं यह दावा नहीं करता कि मुझमें मस्तिष्क, हृदय या आंत की कमी है। लेकिन हमारे ज्ञान के अंशों का क्रम चुनना सबसे महत्वपूर्ण है। जहां तक चिकित्सकों को मेरे शरीर का अनुभव है, वह मेरे शरीर का दुनिया के बीच में और दूसरों के लिए जैसा है वैसा ही अनुभव रहा है। मेरे लिए मेरा शरीर दुनिया के बीच में मुझे दिखाई नहीं देता। बेशक, रेडियोस्कोपी के दौरान मैं स्क्रीन पर अपनी रीढ़ की हड्डियों का चित्र देख सका, लेकिन मैं बाहर दुनिया के बीच में था। मैं एक पूर्णतः गठित वस्तु को अन्य वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में ग्रहण कर रहा था, और केवल तर्क प्रक्रिया के माध्यम से ही मैं इसे अपनी वस्तु के रूप में पहचान पाया; यह मेरे अस्तित्व से कहीं अधिक मेरी संपत्ति थी।
यह सच है कि मैं अपने पैरों और हाथों को देख और छू सकता हूँ। इसके अलावा, मुझे इंद्रियों की ऐसी व्यवस्था की कल्पना करने से कोई नहीं रोक सकता कि कोई प्राणी अपनी एक आँख को देख सके, जबकि वह आँख दुनिया पर अपनी दृष्टि डाल रही हो। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि इस स्थिति में भी मैं अपनी आँख के संबंध में 'अन्य' हूँ। मैं इसे दुनिया में एक विशेष रूप से निर्मित इंद्रिय अंग के रूप में समझता हूँ, लेकिन मैं "देखने की प्रक्रिया" को नहीं देख

सकता; यानी, मैं इसे दुनिया के किसी पहलू को मेरे सामने प्रकट करने की प्रक्रिया में नहीं समझ सकता। या तो यह अन्य वस्तुओं के बीच एक वस्तु है, या फिर यह वह है जिसके द्वारा वस्तुएँ मेरे सामने प्रकट होती हैं। लेकिन यह एक ही समय में दोनों नहीं हो सकती। इसी प्रकार मैं अपने हाथ को वस्तुओं को छूते हुए देखता हूँ, लेकिन उन्हें छूते समय उसे नहीं जानता। यही मूल कारण है कि मेन डी बिरान की प्रसिद्ध "प्रयास की अनुभूति" वास्तव में मौजूद नहीं है। क्योंकि मेरा हाथ मुझे वस्तुओं का प्रतिरोध, उनकी कठोरता या कोमलता दिखाता है, लेकिन स्वयं को नहीं। इस प्रकार मैं अपने हाथ को केवल उसी तरह देखता हूँ जिस तरह मैं इस स्याहीदान को देखता हूँ। मैं अपने और उसके बीच एक दूरी बनाता हूँ, और यह दूरी उन दूरियों में समाहित हो जाती है जो मैं दुनिया की सभी वस्तुओं के बीच स्थापित करता हूँ। जब एक डॉक्टर मेरे घायल पैर को देखता है और मैं, बिस्तर पर आधा उठा हुआ, उसे ऐसा करते हुए देखता हूँ, तो डॉक्टर के शरीर और मेरे अपने पैर के दृश्य बोध में कोई मूलभूत अंतर नहीं होता। बल्कि, वे केवल एक ही समग्र बोध की विभिन्न संरचनाओं के रूप में भिन्न होते हैं; डॉक्टर द्वारा मेरे पैर के बोध और मेरे वर्तमान बोध में कोई मूलभूत अंतर नहीं होता। बेशक, जब मैं अपनी उंगली से अपने पैर को छूता हूँ, तो मुझे एहसास होता है कि मेरे पैर को छुआ गया है। लेकिन दोहरी संवेदना की यह घटना अनिवार्य नहीं है: ठंड, मॉर्फिन का इंजेक्शन, इसे गायब कर सकते हैं। यह दर्शाता है कि हम वास्तविकता के दो मूल रूप से भिन्न स्तरों से निपट रहे हैं। छूना और छुआ जाना, छूने का एहसास होना और छुए जाने का एहसास होना—ये दो प्रकार की घटनाएँ हैं जिन्हें "दोहरी संवेदना" शब्द से जोड़ने का प्रयास व्यर्थ है। वास्तव में वे पूरी तरह से अलग हैं, और वे दो अविभाज्य स्तरों पर विद्यमान हैं। इसके अलावा, जब मैं अपने पैर को छूता हूँ या उसे देखता हूँ, तो मैं उसे अपनी क्षमताओं की ओर ले जाता हूँ। उदाहरण के लिए, अपनी पतलून पहनने या अपने घाव पर पट्टी बदलने के लिए। बेशक, मैं उसी समय अपने पैर को इस तरह से व्यवस्थित कर सकता हूँ कि मैं उस पर अधिक आसानी से "काम" कर सकूँ। लेकिन इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि मैं उसे "स्वयं को ठीक करने" की शुद्ध संभावना की ओर ले जाता हूँ और परिणामस्वरूप मैं उसके साथ उपस्थित होता हूँ, बिना उसके मैं हुए और बिना मेरे उसके। यहाँ मैं जिस चीज़ को अस्तित्व में लाता हूँ वह "पैर" है; यह वह पैर नहीं है जो मेरे चलने, दौड़ने या फुटबॉल खेलने की संभावना है। इस प्रकार, जिस हद तक मेरा शरीर संसार में मेरी संभावनाओं को इंगित करता है, मेरे शरीर को देखना या उसे छूना मेरी इन संभावनाओं को मृत संभावनाओं में परिवर्तित करना है। इस रूपांतरण में शरीर के प्रति पूर्ण यथार्थता अनिवार्य रूप से शामिल है, जो दौड़ने, नाचने आदि की एक सजीव संभावना है। निःसंदेह, एक वस्तु के रूप में मेरे शरीर की खोज वास्तव में उसके अस्तित्व का प्रकटीकरण है। लेकिन जो अस्तित्व इस प्रकार मेरे सामने प्रकट होता है, वह उसका दूसरों के लिए अस्तित्व है। यह भ्रम किस प्रकार निरर्थकता को जन्म दे सकता है, यह "उल्टे दृष्टि" की प्रसिद्ध समस्या के संदर्भ में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हम शरीर विज्ञानियों द्वारा पूछे गए प्रश्न को

जानते हैं: "हम उन वस्तुओं को सीधा कैसे कर सकते हैं जो हमारी रेटिना पर उल्टी चित्रित हैं?" हम दार्शनिकों के उत्तर को भी जानते हैं: "कोई समस्या नहीं है। कोई वस्तु शेष ब्रह्मांड के संबंध में सीधी या उल्टी होती है। पूरे ब्रह्मांड को उल्टा देखना व्यर्थ है, क्योंकि उसे किसी न किसी चीज़ के संबंध में उल्टा होना पड़ेगा।" लेकिन जो बात हमें विशेष रूप से रुचिकर लगती है, वह है इस भ्रामक समस्या का मूल। यह एक सच्चाई है कि लोग मेरी वस्तु-बोध की चेतना को दूसरे के शरीर से जोड़ना चाहते हैं। यहाँ मोमबत्ती, क्रिस्टलीय लेंस, रेटिना की स्क्रीन पर बनने वाली उल्टी छवि है। लेकिन सटीक रूप से कहें तो, रेटिना यहाँ एक भौतिक प्रणाली में प्रवेश करता है; यह एक स्क्रीन है और केवल वही; क्रिस्टलीय लेंस एक लेंस है और केवल एक लेंस; दोनों अपने अस्तित्व में मोमबत्ती के साथ समरूप हैं जो प्रणाली को पूरा करती है। इसलिए हमने दृष्टि की समस्या का अध्ययन करने के लिए जानबूझकर भौतिक दृष्टिकोण—अर्थात्, बाहरी, बाह्यता का दृष्टिकोण—चुना है; हमने इस दुनिया की दृश्यता को समझाने के लिए दृश्य जगत के बीच में एक मृत आँख पर विचार किया है। परिणामस्वरूप, हम बाद में आश्चर्यचकित क्यों हों जब चेतना, जो पूर्ण आंतरिकता है, स्वयं को इस वस्तु से बंधने से इनकार करती है? दूसरे के शरीर और बाहरी वस्तु के बीच जो संबंध मैं स्थापित करता हूँ, वे वास्तव में विद्यमान संबंध हैं, लेकिन उनका अस्तित्व 'दूसरों के लिए' के अस्तित्व पर आधारित है; वे एक ऐसे अंतर्सांसारिक प्रवाह के केंद्र की कल्पना करते हैं जिसमें ज्ञान अंतरिक्ष का एक जादुई गुण है, "दूर से क्रिया"। शुरुआत से ही उन्हें दूसरे को वस्तु के रूप में देखने के परिप्रेक्ष्य में रखा जाता है।
यदि हम शरीर के स्वरूप पर चिंतन करना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम अपने चिंतन का एक ऐसा क्रम स्थापित करें जो अस्तित्व के क्रम के अनुरूप हो: हम सत्तामीमांसा के स्तरों को भ्रमित नहीं कर सकते, और हमें क्रमिक रूप से शरीर का अध्ययन पहले स्वयं के लिए अस्तित्व के रूप में और फिर दूसरों के लिए अस्तित्व के रूप में करना चाहिए। और "उल्टे दृष्टिकोण" जैसी निरर्थकताओं से बचने के लिए, हमें निरंतर इस विचार को ध्यान में रखना चाहिए कि चूंकि शरीर के ये दो पहलू अस्तित्व के विभिन्न और अविभाज्य स्तरों पर हैं, इसलिए इन्हें एक दूसरे में समाहित नहीं किया जा सकता। स्वयं के लिए अस्तित्व पूर्णतः शरीर और पूर्णतः चेतना होना चाहिए; यह शरीर के साथ एकीकृत नहीं हो सकता। इसी प्रकार दूसरों के लिए अस्तित्व पूर्णतः शरीर है; शरीर के साथ एकीकृत होने के लिए वहां कोई "मनोवैज्ञानिक घटनाएँ" नहीं हैं। शरीर के पीछे कुछ भी नहीं है। लेकिन शरीर पूर्णतः "मनोवैज्ञानिक" है। अब हमें शरीर के लिए पाए जाने वाले अस्तित्व के इन दो रूपों का अध्ययन करना चाहिए।
I. शरीर स्वयं के लिए एक अस्तित्व के रूप में वास्तविकता पहली नज़र में ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त अवलोकन कार्टेशियन कॉगिटो के सिद्धांतों के विपरीत हैं। "शरीर की तुलना में आत्मा को जानना आसान है," डेसकार्टेस ने कहा था। इस प्रकार उनका उद्देश्य चिंतन के माध्यम से सुलभ

अस्तित्व ही नहीं होगा। इस प्रकार, ये आयाम हमारे द्वारा प्राप्त ज्ञान के सापेक्ष नहीं, बल्कि संसार के केंद्र में हमारी प्राथमिक सहभागिता के सापेक्ष हैं।
यह तथ्य सापेक्षता के सिद्धांत द्वारा पूर्णतया व्यक्त किया गया है: किसी प्रणाली के केंद्र में स्थित प्रेक्षक किसी भी प्रयोग द्वारा यह निर्धारित नहीं कर सकता कि प्रणाली स्थिर है या गतिमान। लेकिन यह सापेक्षता कोई "सापेक्षवाद" नहीं है; इसका ज्ञान से कोई संबंध नहीं है; बल्कि, यह उस सैद्धांतिक मान्यता को दर्शाती है जिसके अनुसार ज्ञान हमें यथार्थ से परिचित कराता है। आधुनिक विज्ञान की सापेक्षता का उद्देश्य अस्तित्व है। मनुष्य और संसार सापेक्षिक सत्ताएँ हैं, और उनके अस्तित्व का सिद्धांत संबंध है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पहला संबंध मानवीय वास्तविकता से संसार की ओर अग्रसर होता है। मेरे लिए अस्तित्व में आना, वस्तुओं से मेरी दूरियों को प्रकट करना है और इस प्रकार वस्तुओं को "वहाँ" का निर्माण करना है। लेकिन फलस्वरूप वस्तुएँ ठीक वही "वस्तुएँ हैं जो मुझसे दूरी पर विद्यमान हैं"। इस प्रकार संसार मुझे उस एकस्वर संबंध से संदर्भित करता है जो मेरा अस्तित्व है और जिसके द्वारा मैं इसे प्रकट करता हूँ।
शुद्ध ज्ञान का दृष्टिकोण विरोधाभासी है; केवल संलग्न ज्ञान का ही दृष्टिकोण है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान और क्रिया एक मूल, ठोस संबंध के दो अमूर्त पहलू मात्र हैं। संसार का वास्तविक स्थान वह स्थान है जिसे लेविन "होडोलॉजिकल" कहते हैं। वास्तव में, शुद्ध ज्ञान एक दृष्टिकोण रहित ज्ञान होगा; अतः संसार का ज्ञान, सिद्धांततः संसार से बाहर स्थित। परन्तु यह निरर्थक है; जानने वाला प्राणी केवल ज्ञान ही होगा क्योंकि वह अपने विषय द्वारा परिभाषित होगा और क्योंकि उसका विषय पारस्परिक संबंधों की पूर्ण अस्पष्टता में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार ज्ञान केवल एक निर्धारित दृष्टिकोण में संलग्न उभार हो सकता है जो व्यक्ति स्वयं है। मानवीय वास्तविकता के लिए, होना ही 'वहाँ होना' है; अर्थात्, "उस कुर्सी पर," "उस मेज पर," "उस पर्वत की चोटी पर, इन आयामों, इस अभिविन्यास आदि के साथ।" यह एक सत्तामीमांसीय आवश्यकता है।
इस बिंदु को भलीभांति समझना आवश्यक है। यह आवश्यकता दो आकस्मिकताओं के बीच प्रकट होती है; एक ओर, यद्यपि मेरा अस्तित्व होना आवश्यक है, फिर भी मेरा अस्तित्व पूर्णतः आकस्मिक है, क्योंकि मैं अपने अस्तित्व का आधार नहीं हूँ; दूसरी ओर, यद्यपि मेरा किसी विशेष दृष्टिकोण में संलग्न होना आवश्यक है, फिर भी यह आकस्मिक है कि मैं केवल इसी दृष्टिकोण में संलग्न रहूँ और अन्य सभी को त्याग दूँ। इस दोहरी आकस्मिकता को, जो एक आवश्यकता को समाहित करती है, हमने 'स्वयं के लिए' की वास्तविकता कहा है। हमने इसका वर्णन भाग दो में किया है। हमने वहाँ दिखाया है कि स्वयं में शून्य, जो स्वयं के लिए आधार की अभिव्यक्ति या उसके उत्थान की परम घटना में समाहित है, स्वयं के लिए के मूल में उसकी मूल आकस्मिकता के रूप में विद्यमान रहता है। इस प्रकार, स्वयं के लिए एक शाश्वत आकस्मिकता द्वारा समर्थित है जिसके

नहीं सिखाते, बल्कि ये संश्लेषित संरचनाओं से संबंधित हैं। मैं यहाँ केवल इस हद तक हस्तक्षेप कर रहा हूँ कि संसार में मेरा प्रवेश वस्तुओं को एक दूसरे से जोड़ने की इस प्रक्रिया को जन्म देता है। इस प्रकार वे रूपों के रूप में प्रकट होते हैं। वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता में संरचनाओं को समग्र से अलग करके उनका विवेचना शामिल है; अतः वे अन्य विशेषताओं के साथ प्रकट होती हैं। लेकिन किसी भी स्थिति में हम मौजूदा दुनिया से बाहर नहीं निकल पाते। इसी प्रकार हम यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि जिसे "संवेदना की सीमा" या इंद्रियों की विशिष्टता कहा जाता है, वह वस्तुओं के शुद्ध निर्धारण से ही संबंधित है।
फिर भी कुछ लोगों का दावा है कि संवेदी अंग के साथ उत्तेजक का यह वस्तुनिष्ठ संबंध स्वयं ही व्यक्तिपरक (शुद्ध संवेदना) के साथ वस्तुनिष्ठ (उत्तेजक-इंद्रिय अंग) के संबंध में परिवर्तित हो जाता है, और यह व्यक्तिपरक उत्तेजना द्वारा संवेदी अंग के माध्यम से हम पर किए गए प्रभाव से परिभाषित होता है। संवेदी अंग हमें उत्तेजक से प्रभावित प्रतीत होता है; संवेदी अंग में प्रकट होने वाले प्रोटोप्लाज्मिक और भौतिक-रासायनिक परिवर्तन वास्तव में उस अंग द्वारा उत्पन्न नहीं होते; वे उसे बाहर से प्राप्त होते हैं। कम से कम हम ऐसा इसलिए कहते हैं ताकि जड़त्व के सिद्धांत के प्रति निष्ठावान बने रहें, जो समस्त प्रकृति को बाह्यता के रूप में स्थापित करता है। इसलिए जब हम वर्तमान में अनुभव की जा रही वस्तुनिष्ठ प्रणाली (उत्तेजक-इंद्रिय अंग) और व्यक्तिपरक प्रणाली, जो हमारे लिए अन्य-वस्तु के आंतरिक गुणों का समूह है, के बीच सहसंबंध स्थापित करते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इंद्रिय उत्तेजना के संबंध में इस व्यक्तिपरकता में अभी-अभी प्रकट हुई नई पद्धति भी स्वयं से भिन्न किसी अन्य चीज द्वारा उत्पन्न होती है। यदि यह स्वतः उत्पन्न होती, तो वास्तव में, उत्तेजित अंग से इसका संबंध तुरंत टूट जाता, या दूसरे शब्दों में कहें तो, उनके बीच जो संबंध स्थापित हो सकता था, वह कुछ भी हो सकता था। इसलिए हम सूक्ष्मतम और अल्पकालिक प्रत्यक्ष उत्तेजनाओं के अनुरूप एक वस्तुनिष्ठ एकता की कल्पना करेंगे, और इसे संवेदना कहेंगे। हम इस एकता को जड़त्व प्रदान करेंगे; अर्थात्, यह विशुद्ध बाह्यता होगी क्योंकि "यह" के संदर्भ में परिकल्पित होने पर, यह स्वयं की बाह्यता में भाग लेगी। यह बाह्यता जो संवेदना के केंद्र में प्रक्षेपित होती है, लगभग उसके अस्तित्व में ही उसे स्पर्श करती है; उसके अस्तित्व का कारण और उसके अस्तित्व का अवसर उसके बाहर हैं। अतः यह स्वयं के लिए एक बाह्यता है। साथ ही, इसका मूल तत्व इसके समान प्रकृति के किसी "आंतरिक" तथ्य में नहीं, बल्कि एक वास्तविक वस्तु (उत्तेजक) और उस परिवर्तन में निहित है जो किसी अन्य वास्तविक वस्तु (इंद्रिय अंग) को प्रभावित करता है। फिर भी, यह अकल्पनीय है कि किसी विशेष स्तर पर विद्यमान और स्वयं के बल पर अस्तित्व में असमर्थ किसी अस्तित्व द्वारा किसी ऐसे अस्तित्व का निर्धारण किया जा सके जो उससे पूर्णतः भिन्न हो। इसलिए, संवेदना को सहारा देने और उसे अस्तित्व प्रदान करने के लिए, मुझे एक ऐसे वातावरण की कल्पना करनी होगी जो

उसके अनुरूप हो और बाह्य रूप से भी उसी प्रकार निर्मित हो। इस वातावरण को मैं मन या कभी-कभी चेतना कहता हूँ। परन्तु मैं इस चेतना को किसी अन्य की चेतना—अर्थात एक वस्तु—के रूप में देखता हूँ। अतः, क्योंकि मैं इंद्रिय और संवेदना के बीच जो संबंध स्थापित करना चाहता हूँ, वे सार्वभौमिक होने चाहिए, मैं मानता हूँ कि इस प्रकार परिकल्पित चेतना मेरी भी चेतना होनी चाहिए, न कि किसी अन्य के लिए, बल्कि स्वयं में। इस प्रकार मैंने एक प्रकार का आंतरिक स्थान निर्धारित किया है जिसमें बाह्य उत्तेजनाओं के अवसर पर संवेदनाएँ नामक कुछ आकृतियाँ निर्मित होती हैं। चूँकि यह स्थान पूर्णतः निष्क्रियता है, मैं कहता हूँ कि यह अपनी संवेदनाओं को भोगता है। परन्तु मेरा इससे केवल यही तात्पर्य नहीं है कि आंतरिक वातावरण ही उनके लिए आधार का कार्य करता है। वर्तमान में मैं विश्व के एक जैविक दृष्टिकोण से प्रेरित हूँ, जिसे मैं संवेदी अंग की वस्तुनिष्ठ अवधारणा के लिए उधार लेता हूँ, और मेरा दावा है कि यह आंतरिक स्थान अपनी संवेदना को जीवंत करता है। इस प्रकार जीवन एक जादुई संबंध है जिसे मैं एक निष्क्रिय वातावरण और इस वातावरण के निष्क्रिय स्वरूप के बीच स्थापित करता हूँ। मन अपनी संवेदनाओं का स्वयं उत्पादन नहीं करता है, इसलिए वे उससे बाह्य रहती हैं; परन्तु दूसरी ओर, वह उन्हें जीकर स्वयं में समाहित कर लेता है। "अनुभवित" और "जीवित" की एकता अब वास्तव में न तो स्थानिक निकटता है और न ही विषयवस्तु और पात्र का संबंध; यह एक जादुई अंतर्निहितता है। मन अपनी संवेदनाएँ स्वयं है, फिर भी उनसे भिन्न रहता है। इस प्रकार संवेदना एक विशेष प्रकार की वस्तु बन जाती है—जड़, निष्क्रिय और केवल अनुभवित। अब हमें इसे पूर्ण आत्मनिष्ठता प्रदान करनी होगी। परन्तु "आत्मनिष्ठता" शब्द को सही ढंग से समझना आवश्यक है। यहाँ इसका अर्थ किसी विषय से संबंधित होना नहीं है; अर्थात्, एक ऐसी आत्मत्वता जो स्वतः प्रेरित होती है। मनोवैज्ञानिक की आत्मनिष्ठा बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है; इसके विपरीत, यह जड़ता और सभी पारलौकिकता के अभाव को प्रकट करता है। जो स्वयं से बाहर नहीं निकल सकता, वह व्यक्तिपरक है। और ठीक उसी हद तक कि संवेदना, क्योंकि यह विशुद्ध बाह्यता है, मन में केवल एक छाप हो सकती है, ठीक उसी हद तक कि यह केवल स्वयं है, केवल यह आकृति जो मानसिक अंतरिक्ष में एक भंवर द्वारा निर्मित होती है, यह पारलौकिकता नहीं है; यह विशुद्ध रूप से वही है जो अनुभव किया जाता है, हमारी ग्रहणशीलता का सरल निर्धारण। यह व्यक्तिपरकता है क्योंकि यह न तो प्रस्तुत करने योग्य है और न ही प्रतिनिधिक। वस्तु के रूप में अन्य का व्यक्तिपरक गुण विशुद्ध रूप से एक बंद डिब्बा है। संवेदना डिब्बे के अंदर है।
संवेदना की धारणा कुछ इस प्रकार है। हम इसकी निरर्थकता को देख सकते हैं। सर्वप्रथम, यह विशुद्ध कल्पना है। यह मेरे स्वयं के अनुभव या दूसरे के संदर्भ में मेरे किसी भी अनुभव से मेल नहीं खाती। हमने केवल वस्तुनिष्ठ ब्रह्मांड को ही समझा है; हमारे सभी व्यक्तिगत निर्धारण संसार को मानते हैं और संसार के साथ संबंधों के रूप में उत्पन्न होते हैं। संवेदना यह मानती है कि मनुष्य पहले से ही संसार में है क्योंकि उसे इंद्रियाँ

प्राप्त हैं, और यह उसमें संसार के साथ उसके संबंधों की शुद्ध समाप्ति के रूप में प्रकट होती है। साथ ही, इस शुद्ध "आत्मनिष्ठा" को उस आवश्यक आधार के रूप में दिया जाता है जिस पर उन सभी पारलौकिक संबंधों का पुनर्निर्माण करना होगा जिन्हें इसके प्रकट होने से अभी-अभी लुप्त किया गया है। इस प्रकार हम विचार के इन तीन क्षणों से मिलते हैं:
(1) संवेदना स्थापित करने के लिए हमें एक निश्चित यथार्थवाद के आधार पर आगे बढ़ना होगा; इस प्रकार हम दूसरे की धारणा, दूसरे की इंद्रियों और आगमनात्मक उपकरणों को वैध मानते हैं।
(2) लेकिन संवेदना के स्तर पर यह सारा यथार्थवाद गायब हो जाता है; संवेदना, एक संशोधन जिसे हम सहते हैं, हमें केवल अपने बारे में जानकारी देती है; यह "जीने" से संबंधित है।
(3) फिर भी, मैं बाह्य जगत के अपने ज्ञान के आधार के रूप में संवेदना को ही प्रस्तुत करता हूँ। यह आधार वस्तुओं के साथ वास्तविक संपर्क का आधार नहीं हो सकता; यह हमें मन की सचेत संरचना की कल्पना करने की अनुमति नहीं देता। हमें वस्तुनिष्ठता शब्द का प्रयोग किसी प्रत्यक्ष अस्तित्व से जुड़ाव के लिए नहीं, बल्कि संवेदनाओं के कुछ ऐसे संयोजनों के लिए करना है जो अधिक स्थायित्व या नियमितता प्रस्तुत करते हों या जो हमारे समग्र निरूपणों के साथ बेहतर तालमेल बिठाते हों। विशेष रूप से, इसी प्रकार हमें दूसरे के प्रति अपनी धारणा, दूसरे के इंद्रिय अंगों और प्रेरक उपकरणों को परिभाषित करना होगा। हम एक विशेष सुसंगति के व्यक्तिपरक निर्माणों से निपट रहे हैं — बस इतना ही। इस स्तर पर, मेरे द्वारा दूसरे में या स्वयं में अनुभव किए गए इंद्रिय अंग द्वारा मेरी संवेदना की व्याख्या करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; बल्कि इसके विपरीत, यह इंद्रिय अंग ही है जिसकी व्याख्या मैं अपनी संवेदनाओं के एक निश्चित संयोजन के रूप में करता हूँ। हम अपरिहार्य चक्र को देख सकते हैं। दूसरे की इंद्रियों के प्रति मेरी धारणा मुझे संवेदनाओं और विशेष रूप से मेरी संवेदनाओं की व्याख्या के लिए एक आधार प्रदान करती है, लेकिन पारस्परिक रूप से इस प्रकार परिकल्पित मेरी संवेदनाएँ ही दूसरे की इंद्रियों के प्रति मेरी धारणा की एकमात्र वास्तविकता का निर्माण करती हैं। इस चक्र में, एक ही वस्तु—दूसरे का इंद्रिय अंग—अपने प्रत्येक प्रकटीकरण में न तो एक ही प्रकृति और न ही एक ही सत्य को बनाए रखती है। यह पहले वास्तविकता है, और फिर इसी वास्तविकता के कारण एक ऐसा सिद्धांत बनता है जो इसका खंडन करता है। देखने में, संवेदना के शास्त्रीय सिद्धांत की संरचना ठीक उसी तरह है जैसे सिनिक के झूठे के तर्क की, क्योंकि क्रेता का व्यक्ति सच बोलता है, इसीलिए उसे झूठा पाया जाता है। लेकिन इसके अलावा, जैसा कि हमने अभी देखा है, संवेदना विशुद्ध व्यक्तिपरकता है। हम व्यक्तिपरकता से वस्तु का निर्माण कैसे कर सकते हैं? कोई भी संश्लेषित समूह उस चीज़ को वस्तुनिष्ठ गुण प्रदान नहीं कर सकता जो मूल रूप से अनुभव की प्रकृति की है। यदि संसार में वस्तुओं की अनुभूति होनी है, तो यह आवश्यक है कि हमारे उद्भव के समय से ही हम संसार और वस्तुओं की उपस्थिति में हों। संवेदना, व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ के बीच एक संकर

अवधारणा है, जिसे वस्तु के दृष्टिकोण से समझा जाता है और बाद में विषय पर लागू किया जाता है, एक ऐसा मिश्रित अस्तित्व जिसके बारे में हम यह नहीं कह सकते कि यह वास्तव में मौजूद है या सिद्धांत में—संवेदना मनोवैज्ञानिक का एक कोरा दिवास्वप्न है। चेतना और संसार के बीच संबंधों से संबंधित किसी भी गंभीर सिद्धांत द्वारा इसे जानबूझकर अस्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन अगर संवेदना सिर्फ एक शब्द है, तो इंद्रियों का क्या होता है? निस्संदेह, यह बात समझ में आती है कि हम अपने भीतर उस काल्पनिक और विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक अनुभूति का सामना कभी नहीं करते जो संवेदना है। यह स्वीकार किया जाएगा कि मैं केवल इस नोटबुक के हरे रंग को, इस पत्तों के हरे रंग को ही समझ पाता हूँ, हरे रंग की अनुभूति को नहीं, यहाँ तक कि उस "अर्ध-हरे" रंग को भी नहीं जिसे हुसर्ल ने उस काल्पनिक पदार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे आशय हरे रंग को वस्तु के रूप में जीवंत करता है। यह कहा जाएगा कि इस तथ्य से आसानी से सहमत हो जाते हैं कि यदि यह मान लिया जाए कि घटनात्मक सरलीकरण संभव है—जो अभी सिद्ध होना बाकी है—तो यह हमें उन वस्तुओं से रूबरू कराएगा जिन्हें कोष्ठकों में रखा गया है, जो स्थितिजन्य क्रियाओं के शुद्ध सहसंबंधी हैं, न कि प्रभावात्मक अवशेषों के। फिर भी, यह सच है कि इंद्रियाँ बनी रहती हैं। मैं हरे रंग को देखता हूँ, इस ठंडे, चिकने संगमरमर को छूता हूँ। एक दुर्घटना मुझे किसी पूरी इंद्रिय से वंचित कर सकती है; मैं अपनी दृष्टि खो सकता हूँ, बहरा हो सकता हूँ, आदि। तो फिर वह इंद्रिय क्या है जो हमें संवेदना नहीं देती?
इसका उत्तर सरल है। सबसे पहले, आइए यह स्थापित करें कि इंद्रियाँ सर्वत्र विद्यमान हैं, फिर भी सर्वत्र अगम्य हैं। मेज पर रखी यह स्याही की दवात मुझे एक वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होती है, फिर भी यह मुझे दृष्टि के माध्यम से प्राप्त होती है। इसका अर्थ है कि इसकी उपस्थिति प्रत्यक्ष है और मैं सचेत हूँ कि यह मुझे दृश्य रूप में उपस्थित है— अर्थात्, मैं इसे देखने के प्रति सचेत हूँ। परन्तु साथ ही, दृष्टि स्याही की दवात का ज्ञान है, फिर भी दृष्टि सभी ज्ञान से विमुख हो जाती है; दृष्टि का कोई ज्ञान नहीं है। यहाँ तक कि चिंतन भी हमें यह ज्ञान नहीं दे सकता। मेरी चिंतनशील चेतना मुझे स्याही की दवात के प्रति मेरे चिंतनशील चेतना का ज्ञान तो देगी, परन्तु किसी संवेदी क्रिया का नहीं। इसी अर्थ में हमें ऑगस्टे कॉर्न्टे के प्रसिद्ध कथन को समझना चाहिए: "आँख स्वयं को नहीं देख सकती।" यह वास्तव में स्वीकार्य होगा कि कोई अन्य जैविक संरचना, हमारी दृश्य प्रणाली की एक आकस्मिक व्यवस्था, एक तीसरी आँख को हमारी दोनों आँखों को देखते हुए देखने में सक्षम बनाए। क्या मैं अपने हाथ को स्पर्श करते हुए देख और स्पर्श नहीं कर सकता? लेकिन तब मैं अपनी इंद्रियों के संबंध में दूसरे के दृष्टिकोण को अपना रहा हूँ। मैं आँखों को वस्तुओं के रूप में देख रहा हूँ; मैं आँख को देखते हुए नहीं देख सकता; मैं अपने हाथ को स्पर्श करते हुए नहीं देख सकता। इस प्रकार, मेरे लिए कोई भी इंद्रिय अगोचर है; यह मेरी संवेदनाओं का अनंत संग्रह नहीं है क्योंकि मैं संसार में वस्तुओं के अलावा किसी और चीज का सामना नहीं करता। दूसरी ओर, यदि मैं अपनी चेतना पर

चिंतनशील दृष्टिकोण अपनाता हूँ, तो मैं संसार में इस या उस वस्तु की अपनी चेतना का सामना करूँगा, न कि अपनी दृश्य या स्पर्श इंद्रिय का; अंततः, यदि मैं अपने इंद्रियों को देख या स्पर्श कर सकता हूँ, तो मुझे संसार में शुद्ध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, न कि किसी प्रकट करने वाली या रचनात्मक गतिविधि का। फिर भी, इंद्रियाँ मौजूद हैं। दृष्टि, स्पर्श, श्रवण।
दूसरी ओर, यदि मैं अपने सामने प्रकट होने वाली वस्तुओं की प्रणाली पर विचार करूं, तो मैं यह स्थापित करता हूं कि वे मुझे किसी भी क्रम में प्रस्तुत नहीं की जातीं; वे निर्देशित होती हैं। अतः, चूंकि किसी इंद्रिय को न तो किसी प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा और न ही अनुभवजन्य अवस्थाओं के क्रम द्वारा परिभाषित किया जा सकता है, इसलिए हमें इसे इसकी वस्तुओं द्वारा परिभाषित करने का प्रयास करना चाहिए। यदि दृष्टि दृश्य संवेदनाओं का योग नहीं है, तो क्या यह देखी गई वस्तुओं की प्रणाली नहीं हो सकती? इस स्थिति में, हमें उस दिशा-निर्देश के विचार पर लौटना आवश्यक है जिसका हमने पहले उल्लेख किया था और इसके महत्व को समझने का प्रयास करना चाहिए।
सर्वप्रथम, आइए ध्यान दें कि अभिविन्यास वस्तु की एक मूलभूत संरचना है। वस्तु संसार के आधार पर प्रकट होती है और अन्य प्रकट हो चुकी "वस्तुओं" के साथ बाह्य संबंध में स्वयं को प्रकट करती है। इस प्रकार, इसका प्रकटीकरण एक अविभेदित आधार की पूरक संरचना को दर्शाता है, जो संपूर्ण बोध क्षेत्र या संसार है। अतः आकृति और आधार के इस संबंध की औपचारिक संरचना आवश्यक है। संक्षेप में, दृश्य, स्पर्श या श्रव्य क्षेत्र का अस्तित्व अनिवार्य है; उदाहरण के लिए, मौन अविभेदित ध्वनियों का अनुनादी क्षेत्र है जिसमें वह विशेष ध्वनि विलीन हो जाती है जिस पर हमने ध्यान केंद्रित किया था। परन्तु किसी विशेष "वस्तु" का आधार से भौतिक संबंध चुना हुआ और प्रदत्त दोनों है। यह इसलिए चुना हुआ है क्योंकि स्वयं के लिए का उभार संसार के आधार पर किसी विशेष "वस्तु" का स्पष्ट और आंतरिक निषेध है: मैं प्याले या स्याहीदान को देखता हूँ। यह इस अर्थ में दिया गया है कि मेरी पसंद उन तत्वों के मूल वितरण के संदर्भ में काम करती है जो मेरे उत्थान की वास्तविकता को प्रकट करते हैं। यह आवश्यक है कि पुस्तक मुझे मेज के दाईं या बाईं ओर दिखाई दे। लेकिन यह आकस्मिक है कि पुस्तक मुझे विशेष रूप से बाईं ओर दिखाई दे, और अंततः मैं मेज पर रखी पुस्तक या पुस्तक को सहारा देने वाली मेज को देखने के लिए स्वतंत्र हूँ। मेरी पसंद की आवश्यकता और स्वतंत्रता के बीच इसी आकस्मिकता को हम इंद्रिय कहते हैं। इसका अर्थ है कि एक वस्तु मुझे हमेशा एक साथ दिखाई देनी चाहिए—यह घन, स्याही की दवात, प्याला है जिसे मैं देखता हूँ—लेकिन यह उपस्थिति हमेशा एक विशेष परिप्रेक्ष्य में होती है जो दुनिया के आधार और अन्य तत्वों के साथ इसके संबंधों को व्यक्त करती है। यह हमेशा वायलिन का स्वर होता है जिसे मैं सुनता हूँ। लेकिन यह आवश्यक है कि मैं इसे किसी दरवाजे से, खुली खिड़की से या किसी संगीत सभागार में सुनूँ। अन्यथा वस्तु अब दुनिया के बीच में नहीं रहेगी और दुनिया में विद्यमान-उदय के लिए प्रकट नहीं होगी।

दूसरी ओर, यह सत्य है कि सभी तत्व एक साथ संसार के तल पर प्रकट नहीं हो सकते और उनमें से कुछ के प्रकट होने से अन्य तत्व तल में विलीन हो जाते हैं। यह भी सत्य है कि प्रत्येक तत्व एक समय में केवल एक ही रूप में प्रकट हो सकता है, यद्यपि उसके प्रकट होने के अनंत तरीके मौजूद हैं। फिर भी, इन प्रकट होने के नियमों को व्यक्तिपरक और मनोवैज्ञानिक नहीं माना जाना चाहिए। ये विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ हैं और वस्तुओं की प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। यदि स्याही की दवात मेज के एक हिस्से को मुझसे छुपा देती है, तो यह मेरी इंद्रियों की प्रकृति के कारण नहीं, बल्कि स्याही की दवात और प्रकाश की प्रकृति के कारण होता है। यदि कोई वस्तु दूर जाने पर छोटी दिखाई देती है, तो हमें इसे प्रेक्षक के किसी भ्रम से नहीं, बल्कि परिप्रेक्ष्य के विशुद्ध रूप से बाह्य नियमों से समझाना चाहिए। इस प्रकार, इन वस्तुनिष्ठ नियमों द्वारा संदर्भ का एक विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ केंद्र परिभाषित किया जाता है।
उदाहरण के लिए, परिप्रेक्ष्य योजना में आँख वह बिंदु है जहाँ सभी वस्तुनिष्ठ रेखाएँ अभिसरित होती हैं। इस प्रकार, बोध क्षेत्र उस संदर्भ द्वारा वस्तुनिष्ठ रूप से परिभाषित एक केंद्र को संदर्भित करता है, जो उसी क्षेत्र में स्थित होता है जो उसके चारों ओर उन्मुख होता है। लेकिन हम इस केंद्र को बोध क्षेत्र की संरचना के रूप में नहीं देखते; हम स्वयं केंद्र हैं। इस प्रकार, संसार में वस्तुओं का क्रम हमें निरंतर एक ऐसी वस्तु की छवि का संदर्भ देता है जो सिद्धांत रूप से हमारे लिए वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि वह हमारा अस्तित्व है। संसार की संरचना यह मांग करती है कि हम दृश्यमान हुए बिना देख नहीं सकते। अंतर-सांसारिक संदर्भ केवल संसार में मौजूद वस्तुओं से ही किए जा सकते हैं, और देखी गई दुनिया निरंतर एक दृश्यमान वस्तु को परिभाषित करती है, जिसके परिप्रेक्ष्य और व्यवस्थाएँ संदर्भित होती हैं। यह वस्तु संसार के मध्य में और संसार के साथ ही प्रकट होती है। यह हमेशा वस्तुओं के किसी समूह में एक अतिरिक्त वस्तु के रूप में दी जाती है, क्योंकि यह इन वस्तुओं के अभिविन्यास द्वारा परिभाषित होती है; इसके बिना कोई अभिविन्यास नहीं होगा, क्योंकि सभी अभिविन्यास समतुल्य होंगे। यह संसार को दिशा देने की अनंत संभावनाओं में से एक दिशा का आकस्मिक उभार है; यह वही दिशा है जिसे पूर्णता तक पहुँचाया गया है। लेकिन इस स्तर पर यह वस्तु हमारे लिए केवल एक अमूर्त संकेत के रूप में विद्यमान है; यह वह है जो सब कुछ मुझे इंगित करता है और जिसे मैं सिद्धांततः समझ नहीं सकता क्योंकि यह मैं ही हूँ। वास्तव में, जो मैं हूँ वह सिद्धांततः मेरे लिए कोई वस्तु नहीं हो सकता क्योंकि मैं ही वह हूँ। संसार की वस्तुएँ जिस वस्तु को इंगित करती हैं और जिसे वे अपने दायरे में समाहित करती हैं, वह स्वयं के लिए और सिद्धांततः एक गैर-वस्तु है। लेकिन मेरे अस्तित्व का उभार, एक केंद्र के संदर्भ में दूरियों को प्रकट करके, इस प्रकट होने की क्रिया द्वारा ही एक ऐसी वस्तु को निर्धारित करता है जो स्वयं ही इस हद तक है कि वह स्वयं को संसार द्वारा इंगित किए जाने का कारण बनती है; और मैं इसे वस्तु के रूप में अंतर्ज्ञान नहीं कर सकता क्योंकि मैं ही वह हूँ, मैं

होता, बल्कि व्यावहारिक संदर्भ के अक्षों के संबंध में परिभाषित होता है। "ग्लास कॉफी टेबल पर है;" इसका अर्थ है कि यदि हम टेबल को हिलाते हैं तो हमें ग्लास को गिरने से बचाने के लिए सावधान रहना चाहिए। तंबाकू का पैकेट मेंटलपीस पर है; इसका अर्थ है कि यदि हम पाइप से तंबाकू तक जाना चाहते हैं तो हमें तीन गज की दूरी तय करनी होगी, साथ ही मेंटलपीस और टेबल के बीच रखी कुछ बाधाओं—जैसे कि साइड टेबल, फुटस्टूल आदि—से भी बचना होगा। इस अर्थ में, बोध को किसी भी तरह से अस्तित्वों के व्यावहारिक संगठन से अलग नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक उपकरण अन्य उपकरणों को संदर्भित करता है, उन उपकरणों को जो उसकी कुंजी हैं और उन उपकरणों को जिनके लिए वह कुंजी है। लेकिन इन संदर्भों को केवल चिंतनशील चेतना द्वारा नहीं समझा जा सकता। ऐसी चेतना के लिए हथौड़ा कीलों को संदर्भित नहीं करेगा, बल्कि उनके साथ ही होगा; इसके अलावा, "साथ-साथ" अभिव्यक्ति अपना अर्थ खो देती है यदि यह हथौड़े से कील तक जाने वाले और जिसे साफ़ किया जाना आवश्यक है, उस मार्ग को रेखांकित नहीं करती। जो स्थान मुझे मूल रूप से प्रकट होता है, वह होडोलॉजिकल स्थान है; यह रास्तों और राजमार्गों से भरा हुआ है; यह साधन है और यह औजारों का स्थान है। इस प्रकार, मेरे स्वयं के लिए के उत्थान के क्षण से ही संसार, किए जाने वाले कार्यों के संकेत के रूप में प्रकट होता है; ये कार्य अन्य कार्यों को संदर्भित करते हैं, और वे अन्य कार्यों को, और इसी प्रकार आगे बढ़ते हैं। हालाँकि, यह ध्यान देने योग्य है कि यदि इस दृष्टिकोण से बोध और क्रिया अविभाज्य हैं, तब भी क्रिया को एक भविष्य की प्रभावकारिता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो शुद्ध और सरल बोध से परे और उससे ऊपर है। चूंकि बोध वह है जिसमें मेरा स्वयं के लिए उपस्थिति है, यह मुझे सह-उपस्थिति के रूप में प्रकट होता है; यह तत्काल संपर्क है, वर्तमान जुड़ाव है, यह मुझ पर हल्के से स्पर्श करता है। लेकिन इस रूप में इसे मेरे द्वारा वर्तमान में समझने की क्षमता के बिना ही प्रस्तुत किया जाता है। बोध की गई वस्तु वादों से भरी है; यह मुझे हल्के से छूता हुआ गुजरता है, और इसके द्वारा मुझे प्रकट किए जाने वाले प्रत्येक गुण, मौन सहमति से स्वीकार किया गया प्रत्येक समर्पण, अन्य वस्तुओं के लिए प्रत्येक सार्थक संदर्भ भविष्य से जुड़ता है।
इस प्रकार मैं उन चीजों की उपस्थिति में हूँ जो एक अवर्णनीय उपस्थिति से परे मात्र वादे हैं, जिसे मैं प्राप्त नहीं कर सकता और जो चीजों का शुद्ध "अस्तित्व" है; अर्थात्, "मेरा", मेरी वास्तविकता, मेरा शरीर। प्याला तश्तरी पर रखा है; यह मुझे अभी दिया गया है, इसके तल के साथ, जो वहाँ मौजूद है, जिसे हर चीज इंगित करती है लेकिन जिसे मैं देख नहीं पाता। और यदि मैं तल को देखना चाहूँ—अर्थात्, इसे स्पष्ट करना चाहूँ, इसे "प्याले के तल पर प्रकट करना"—तो मेरे लिए प्याले को हैंडल से पकड़ना और उसे उल्टा करना आवश्यक है। प्याले का तल मेरी योजनाओं के अंत में है, और यह एक ही बात है चाहे मैं कहूँ कि प्याले की अन्य संरचनाएँ इसे प्याले के एक अनिवार्य तत्व के रूप में इंगित करती हैं या वे इसे मेरे लिए उस क्रिया के रूप में इंगित करती हैं जो मेरे लिए प्याले को उसके अर्थ के साथ सर्वोत्तम रूप से

संयोजन पर पहुँचूँ; क्योंकि मेरे परास्त होने के क्षण से प्रत्येक संयोजन अपने अस्तित्व में स्थिर हो जाता है और शरीर को अपनी स्थिर गतिहीनता के संदर्भ केंद्र के रूप में इंगित करता है। इस प्रकार, शरीर, क्योंकि यह परास्त है, अतीत है। यह स्वयं के लिए "संवेदी" वस्तुओं की तात्कालिक उपस्थिति है, इस हद तक कि यह उपस्थिति संदर्भ के केंद्र को इंगित करती है और पहले से ही या तो एक नए 'यह' के प्रकट होने की ओर या साधन-वस्तुओं के एक नए संयोजन की ओर अग्रसर है। स्वयं के लिए की प्रत्येक परियोजना में, प्रत्येक बोध में शरीर मौजूद होता है; यह तात्कालिक अतीत है, इस हद तक कि यह अभी भी वर्तमान को स्पर्श करता है जो इससे दूर भागता है। इसका अर्थ है कि यह एक ही समय में एक दृष्टिकोण और एक प्रस्थान बिंदु है - एक दृष्टिकोण, एक प्रस्थान बिंदु जो मैं हूं और जिसे मैं साथ ही साथ उस ओर अग्रसर करता हूं जो मुझे होना है।
यह दृष्टिकोण, जो निरंतर पार हो जाता है और जो निरंतर उस पार होने के केंद्र में पुनर्जन्म लेता है, यह प्रस्थान बिंदु जिसे मैं निरंतर छोड़ता रहता हूँ और जो स्वयं मेरे पीछे रह जाता है—यही मेरी आकस्मिकता की अनिवार्यता है। यह दोहरी अनिवार्यता है। पहली, यह इसलिए अनिवार्य है क्योंकि यह स्वयं के लिए का स्वयं में से अस्तित्व द्वारा निरंतर पुन: बोध है और यह तात्विक तथ्य है कि स्वयं के लिए का अस्तित्व केवल उस रूप में हो सकता है जो स्वयं का आधार नहीं है। शरीर का होना अपने शून्यता का आधार होना है, न कि अपने अस्तित्व का आधार; मैं अपने शरीर का उतना ही हिस्सा हूँ जितना मैं हूँ; मैं अपने शरीर का उतना ही हिस्सा नहीं हूँ जितना मैं वह नहीं हूँ जो मैं हूँ। मैं अपने शून्यीकरण के द्वारा इससे मुक्त होता हूँ। लेकिन मैं इसके द्वारा इसे वस्तु नहीं बनाता, क्योंकि मैं जो हूँ वही निरंतर है जिससे मैं मुक्त होता रहता हूँ। शरीर फिर से उस बाधा के रूप में आवश्यक है जिसे संसार में रहने के लिए पार करना आवश्यक है; अर्थात्, वह बाधा जो मैं स्वयं के लिए हूँ। इस अर्थ में यह संसार की परम व्यवस्था से भिन्न नहीं है, वह व्यवस्था जिसे मैं आने वाली व्यवस्था, अस्तित्व से परे की व्यवस्था की ओर अग्रसर होकर अस्तित्व में लाता हूँ। हम इन दो आवश्यकताओं की एकता को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं: स्वयं के लिए अस्तित्व का अर्थ है संसार को पार करना और उसे पार करके संसार का निर्माण करना। परन्तु संसार को पार करना उसका अवलोकन करना नहीं, बल्कि उसमें संलग्न होकर उससे उभरना है; यह आवश्यक है कि पार करने का एक विशेष परिप्रेक्ष्य साकार हो। इस अर्थ में परिमितता स्वयं के लिए की मूल परियोजना की आवश्यक शर्त है। मेरे लिए वह होना जो मैं नहीं हूँ और वह न होना जो मैं हूँ—उस संसार से परे जिसे मैं अस्तित्व में लाता हूँ—यह आवश्यक शर्त है कि मेरे अनंत अन्वेषण के केंद्र में एक अगोचर सत्य निरंतर विद्यमान रहे। यह प्रदत्त, जो मैं बिना अस्तित्व में आए ही हूँ—केवल गैर-अस्तित्व की अवस्था में—इसे मैं न तो समझ सकता हूँ और न ही जान सकता हूँ, क्योंकि यह सर्वत्र पुनः प्राप्त और पार हो जाता है, मेरे काल्पनिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर, सब कुछ मुझे इसकी ओर संकेत करता है, प्रत्येक पारलौकिक

तत्व अपनी पारलौकिकता से ही इसे एक खोखलेपन में रेखांकित करता है, और मैं कभी भी उस संकेत से पीछे नहीं हट सकता, क्योंकि मैं ही वह अस्तित्व हूँ जिसका संकेत दिया गया है। विशेष रूप से, हमें संकेतित-प्रदत्त को यंत्रवत वस्तुओं की एक स्थिर व्यवस्था के संदर्भ के शुद्ध केंद्र के रूप में नहीं समझना चाहिए। इसके विपरीत, उनकी गतिशील व्यवस्था, चाहे वह मेरी क्रिया पर निर्भर हो या न हो, नियमों के अनुसार इसका संदर्भ देती है, और इस प्रकार संदर्भ का केंद्र उसके परिवर्तन में, उसकी पहचान में परिभाषित होता है। मामला अन्यथा नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अपने अस्तित्व को नकार कर ही संसार को अस्तित्व में लाता हूँ, और क्योंकि मैं अपने अतीत के दृष्टिकोण से—अर्थात् स्वयं को अपने अस्तित्व से परे प्रक्षेपित करके—यह नकार सकता हूँ कि मैं यह या वह विशेष अस्तित्व हूँ। इस दृष्टिकोण से शरीर— अर्थात् यह अगोचर तथ्य—मेरे कर्म की एक आवश्यक शर्त है। वास्तव में, यदि मेरे लक्ष्य केवल एक मनमानी इच्छा से प्राप्त किए जा सकते, यदि प्राप्ति के लिए आशा करना ही पर्याप्त होता, और यदि उपकरणों के उपयोग को निश्चित नियम निर्धारित नहीं करते, तो मैं अपने भीतर इच्छा और संकल्प, स्वप्न और कर्म, और संभव और वास्तविकता में कभी भेद नहीं कर पाता। स्वयं की कोई भी परियोजना संभव नहीं होती क्योंकि उसे साकार करने के लिए उसकी कल्पना करना ही पर्याप्त होता। परिणामस्वरूप, वर्तमान और भविष्य के भेदहीनता में मेरा स्व-अस्तित्व विलीन हो जाता। वास्तव में, कर्म का घटना विज्ञान यह दर्शाता है कि कर्म सरल अवधारणा और प्राप्ति के बीच निरंतरता में एक विराम मानता है—अर्थात्, "कार्बोरेटर जाम नहीं होना चाहिए" जैसे सार्वभौमिक और अमूर्त विचार और इस विशेष कार्बोरेटर पर निर्देशित तकनीकी और ठोस विचार के बीच, जैसा कि यह मुझे अपने पूर्ण आयामों और पूर्ण स्थिति के साथ दिखाई देता है। इस तकनीकी विचार की स्थिति, जो उस क्रिया से भिन्न नहीं है जिसे यह निर्देशित करता है, मेरी सीमितता, मेरी आकस्मिकता और अंततः मेरी वास्तविकता है।
अब, सटीक रूप से कहें तो, मैं वास्तव में तभी अस्तित्व में हूँ जब मेरा अतीत है, और यह तात्कालिक अतीत उस प्राथमिक अस्तित्व को संदर्भित करता है जिसके शून्यीकरण से मेरा जन्म होता है। इस प्रकार, शरीर एक वास्तविकता के रूप में अतीत है क्योंकि यह मूल रूप से जन्म को संदर्भित करता है; अर्थात्, उस प्राथमिक शून्यीकरण को जो मुझे उस अस्तित्व से उत्पन्न करता है जो मैं वास्तव में हूँ, बिना उसके अस्तित्व में आए। जन्म, अतीत, आकस्मिकता, दृष्टिकोण की आवश्यकता, संसार पर सभी संभावित क्रियाओं के लिए तथ्यात्मक स्थिति—यही शरीर है, यही मेरे लिए है। इसलिए यह किसी भी प्रकार से मेरी आत्मा का आकस्मिक जुड़ाव नहीं है; इसके विपरीत, यह मेरे अस्तित्व की एक स्थायी संरचना है और संसार की चेतना के रूप में और मेरे भविष्य की ओर एक पारलौकिक परियोजना के रूप में मेरी चेतना के लिए संभावना की स्थायी स्थिति है। इस दृष्टिकोण से हमें यह समझना होगा कि मेरा अपंग होना, किसी सरकारी कर्मचारी या मजदूर का पुत्र होना, चिड़चिड़ा और आलसी होना पूरी तरह से आकस्मिक और बेतुका है, और फिर भी यह आवश्यक है कि मैं ऐसा ही रहूँ या कुछ

और, फ्रांसीसी या जर्मन या अंग्रेज, आदि, सर्वहारा या बुर्जुआ या अभिजात वर्ग, आदि, कमजोर और बीमार या चुस्त, चिड़चिड़ा या मिलनसार स्वभाव का—ठीक इसलिए क्योंकि मैं दुनिया को देखे बिना दुनिया को नहीं देख सकता। मेरा जन्म इस बात को प्रभावित करता है कि वस्तुएँ मेरे सामने कैसे प्रकट होती हैं (विलासिता या बुनियादी आवश्यकता की वस्तुएँ कमोबेश सुलभ होती हैं, कुछ सामाजिक वास्तविकताएँ मुझे वर्जित लगती हैं, मेरे अवलोकन क्षेत्र में बाधाएँ और रुकावटें हैं); मेरी जाति दूसरों के मेरे प्रति दृष्टिकोण से इंगित होती है (ये दृष्टिकोण तिरस्कारपूर्ण या प्रशंसनीय, विश्वासपूर्ण या अविश्वासपूर्ण के रूप में प्रकट होते हैं); मेरी सामाजिक स्थिति, जैसा कि उस सामाजिक समुदाय के प्रकटीकरण से पता चलता है जिससे मैं संबंधित हूँ, क्योंकि जिन स्थानों पर मैं अक्सर जाता हूँ वे इसका संकेत देते हैं; मेरी राष्ट्रीयता; मेरी शारीरिक संरचना, क्योंकि वे प्रतिरोधशील या विनम्र के रूप में प्रकट होती हैं और उनमें मौजूद प्रतिकूलता का गुणांक ही इसे दर्शाता है; मेरा चरित्र; मेरा अतीत, क्योंकि मेरे द्वारा अनुभव की गई हर चीज को स्वयं दुनिया द्वारा दुनिया के प्रति मेरे दृष्टिकोण के रूप में इंगित किया जाता है: यह सब, जहाँ तक मैं दुनिया में अपने अस्तित्व की संश्लेषित एकता में इसे पार करता हूँ, मेरा शरीर एक दुनिया के अस्तित्व की आवश्यक शर्त और इस स्थिति की आकस्मिक प्राप्ति है।
अब अंततः हम शरीर की उस परिभाषा को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं जो हमने पहले हमारे लिए उसके अस्तित्व के संदर्भ में दी थी: शरीर वह आकस्मिक रूप है जो मेरी आकस्मिकता की आवश्यकता द्वारा ग्रहण किया जाता है। हम इस आकस्मिकता को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हमारा शरीर हमारे लिए है; क्योंकि हम एक चुनाव हैं, और हमारे लिए, अस्तित्व स्वयं को चुनना है। यहाँ तक कि यह अक्षमता जिससे मैं पीड़ित हूँ, मैंने अपने जीवन के अस्तित्व के कारण ही ग्रहण की है; मैं इसे अपनी योजनाओं की ओर पार करता हूँ, मैं इसे अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक बाधा बनाता हूँ, और मैं स्वयं को अपंग चुने बिना अपंग नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि मैं अपनी अक्षमता को जिस प्रकार से परिभाषित करता हूँ, उसे मैं स्वयं चुनता हूँ (जैसे "असहनीय," "अपमानजनक," "छिपाने योग्य," "सभी के सामने प्रकट करने योग्य," "गर्व का विषय," "मेरी असफलताओं का औचित्य," आदि)। लेकिन यह अबोधगम्य शरीर ही वह आवश्यकता है कि एक चुनाव हो, कि मेरा अस्तित्व एक ही क्षण में न हो। इस अर्थ में मेरी परिमितता ही मेरी स्वतंत्रता की शर्त है, क्योंकि चुनाव के बिना स्वतंत्रता नहीं है; और जिस प्रकार शरीर चेतना को संसार की शुद्ध चेतना के रूप में परिचालित करता है, उसी प्रकार वह अपनी स्वतंत्रता में भी चेतना को संभव बनाता है।
अब हमें यह समझना बाकी है कि मेरे लिए शरीर क्या है; क्योंकि शरीर को बोधगम्य नहीं किया जा सकता, इसलिए यह संसार की वस्तुओं से संबंधित नहीं है — अर्थात, उन वस्तुओं से जिन्हें मैं जानता हूँ और जिनका मैं उपयोग करता हूँ। फिर भी दूसरी ओर, चूंकि मैं अपने अस्तित्व की चेतना के बिना कुछ भी नहीं हो सकता, इसलिए शरीर किसी न किसी रूप में मेरी चेतना से जुड़ा होना ही

चाहिए। एक अर्थ में, निश्चित रूप से, शरीर वह है जो मेरे द्वारा बोधित सभी उपकरणों द्वारा इंगित किया जाता है, और मैं उपकरणों पर दिखाई देने वाले संकेतों में ही शरीर को बिना जाने ही बोध करता हूँ। लेकिन यदि हम स्वयं को इसी अवलोकन तक सीमित रखें, तो हम, उदाहरण के लिए, शरीर और उस दूरबीन के बीच अंतर नहीं कर पाएंगे जिसके माध्यम से खगोलशास्त्री ग्रहों को देखता है। वास्तव में, यदि हम शरीर को संसार पर एक आकस्मिक दृष्टिकोण के रूप में परिभाषित करते हैं, तो हमें यह समझना होगा कि दृष्टिकोण की अवधारणा दोहरे संबंध को दर्शाती है: एक संबंध उन वस्तुओं के साथ जिन पर शरीर एक दृष्टिकोण है और एक संबंध उस प्रेक्षक के साथ जिसके लिए शरीर एक दृष्टिकोण है। जब हम शरीर को एक दृष्टिकोण के रूप में देखते हैं, तो यह दूसरा संबंध पहले से बिल्कुल अलग होता है; यह वास्तव में तब अलग नहीं होता जब हम दुनिया में किसी ऐसे दृष्टिकोण (चश्मा, अवलोकन बिंदु, आवर्धक लेंस आदि) की बात कर रहे होते हैं जो शरीर से अलग एक वस्तुनिष्ठ उपकरण है। एक यात्री किसी ऊंचे स्थान से परिदृश्य का अवलोकन करते हुए परिदृश्य के साथ-साथ उस स्थान को भी देखता है; वह उस स्थान के स्तंभों के बीच पेड़ों को देखता है, उस स्थान की छत आकाश को उससे छुपा लेती है, आदि। फिर भी, उसके और उस स्थान के बीच की "दूरी" उसकी आँखों और परिदृश्य के बीच की दूरी से स्वाभाविक रूप से कम होती है। दृष्टिकोण शरीर के इतना करीब आ सकता है कि लगभग उसमें विलीन हो जाए, जैसा कि हम उदाहरण के लिए चश्मे, पिंस-नेज़, मोनोकल आदि के मामले में देखते हैं, जो एक तरह से पूरक इंद्रिय अंग बन जाते हैं। अपनी चरम सीमा पर—यदि हम एक निरपेक्ष दृष्टिकोण की कल्पना करें—तो इसके और जिसके लिए यह दृष्टिकोण है, उसके बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ है कि "स्वयं को पर्याप्त स्थान देने" और दृष्टिकोण पर एक नया दृष्टिकोण स्थापित करने के लिए पीछे हटना असंभव हो जाएगा। जैसा कि हमने देखा है, यही तथ्य शरीर की विशेषता है। यह वह उपकरण है जिसका उपयोग मैं अन्य उपकरणों की तरह नहीं कर सकता, वह दृष्टिकोण जिस पर मैं अब कोई दृष्टिकोण नहीं बना सकता। यही कारण है कि उस पहाड़ी की चोटी पर जिसे मैं "अच्छा दृश्य बिंदु" कहता हूँ, मैं घाटी को देखते ही एक दृष्टिकोण अपनाता हूँ, और दृष्टिकोण पर यह दृष्टिकोण मेरा शरीर है। लेकिन मैं अनंतता के संदर्भ के बिना अपने शरीर पर कोई दृष्टिकोण नहीं बना सकता। इसलिए शरीर मेरे लिए पारलौकिक और ज्ञात नहीं हो सकता; सहज, अचिंतित चेतना अब शरीर की चेतना नहीं रह जाती। “अस्तित्व” शब्द का प्रयोग सकर्मक क्रिया के रूप में करते हुए यह कहना बेहतर होगा कि चेतना अपने शरीर में विद्यमान होती है। इस प्रकार, शरीर-दृष्टिकोण और वस्तुओं के बीच का संबंध वस्तुनिष्ठ संबंध है, और चेतना का शरीर से संबंध अस्तित्वगत संबंध है। अस्तित्वगत संबंध से हमारा क्या तात्पर्य है?
सबसे पहले, यह स्पष्ट है कि चेतना अपने शरीर में केवल चेतना के रूप में ही विद्यमान हो सकती है। इसलिए मेरा शरीर मेरी चेतना की एक सचेत संरचना है। लेकिन ठीक इसी कारण कि शरीर वह दृष्टिकोण है जिस पर कोई दृष्टिकोण हो ही नहीं सकता, अचिंतनशील चेतना के स्तर पर शरीर की कोई चेतना नहीं होती। शरीर तब गैर-आध्यात्मिक आत्म-चेतना की संरचनाओं से संबंधित होता है। फिर भी

क्या हम इसे विशुद्ध रूप से इस गैर-आध्यात्मिक चेतना के साथ एकरूप कर सकते हैं? यह भी संभव नहीं है, क्योंकि गैर-आध्यात्मिक चेतना आत्म-चेतना है जो एक ऐसी संभावना की ओर स्वतंत्र परियोजना है जो स्वयं उसकी है; अर्थात्, जहाँ तक वह अपने शून्यता का आधार है। गैर-स्थितीय चेतना शरीर की चेतना है, जो स्वयं को चेतना बनाकर उस पर विजय प्राप्त करती है और उसे शून्य कर देती है—अर्थात, वह कुछ ऐसा है जो चेतना बिना हुए भी है और जिसे वह अपने होने के लिए अनदेखा कर देती है। संक्षेप में, शरीर की चेतना पार्श्वीय और पूर्वव्यापी है; शरीर उपेक्षित है, "मौन में अनदेखा किया गया" है। और फिर भी शरीर ही वह चेतना है; यह शरीर के सिवा कुछ भी नहीं है। बाकी सब शून्यता और मौन है।
शरीर की चेतना की तुलना किसी संकेत की चेतना से की जा सकती है। संकेत शरीर के एक भाग में स्थित होता है; यह शरीर की आवश्यक संरचनाओं में से एक है। संकेत की चेतना का अस्तित्व होता है, अन्यथा हम उसका अर्थ नहीं समझ पाते। लेकिन संकेत वह है जो अर्थ की ओर अग्रसर होता है, वह जिसे अर्थ के लिए उपेक्षित किया जाता है, वह जिसे कभी स्वयं के लिए नहीं समझा जाता, वह जिसके परे दृष्टि निरंतर निर्देशित होती है। शरीर की चेतना, चेतना की एक पार्श्व और पूर्वव्यापी चेतना है, बिना स्वयं चेतना बने (अर्थात, इसकी अबोधगम्य आकस्मिकता की, उस चीज़ की जिसके संदर्भ में चेतना स्वयं को एक विकल्प बनाती है) और इसलिए यह उस तरीके की एक गैर-स्थलीय चेतना है जिससे यह प्रभावित होती है। शरीर की चेतना को अक्सर मूल भावात्मकता के साथ भ्रमित किया जाता है। फिर से, इस भावात्मकता के अर्थ को समझना बहुत महत्वपूर्ण है; और इसके लिए हमें एक और भेद करना होगा। भावात्मकता, जैसा कि आत्मनिरीक्षण हमें प्रकट करता है, वास्तव में पहले से ही एक गठित भावात्मकता है; यह विश्व की चेतना है। सभी प्रकार की घृणा किसी न किसी से घृणा होती है; सभी प्रकार का क्रोध किसी को घृणित, अन्यायपूर्ण या दोषपूर्ण समझने की आशंका होती है; किसी के प्रति सहानुभूति रखना उसे "सहानुभूतिपूर्ण समझना" है, इत्यादि। इन विभिन्न उदाहरणों में एक पारलौकिक "इच्छा" संसार की ओर निर्देशित होती है और उसे उसी रूप में समझती है। अतः पहले से ही एक अतिशयोक्ति, एक आंतरिक निषेध मौजूद है; हम पारलौकिकता और चुनाव के स्तर पर हैं। लेकिन शेलर ने प्रभावी ढंग से यह सिद्ध किया है कि इस "इच्छा" को विशुद्ध भावात्मक गुणों से भिन्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि मुझे "सिरदर्द" है, तो मैं अपने भीतर अपने दर्द के प्रति एक सचेत भावात्मकता पा सकता हूँ ताकि मैं उसे "सहन" कर सकूँ, उसे धैर्यपूर्वक स्वीकार कर सकूँ, या उसे अस्वीकार कर सकूँ, उसका मूल्यांकन कर सकूँ (अन्यायपूर्ण, उचित, शुद्ध करने वाला, अपमानजनक, इत्यादि) ताकि उससे बच सकूँ। यहाँ स्वयं इच्छा ही भाव है; यह शुद्ध क्रिया है और पहले से ही एक परियोजना है, किसी चीज़ की शुद्ध चेतना है। यह वह नहीं हो सकता जिसे हम शरीर की चेतना मानते हैं। वास्तव में, यह इरादा भावात्मकता का संपूर्ण रूप नहीं हो सकता। चूंकि भावात्मकता एक परिक्रमण है, इसलिए यह एक परिक्रमित की पूर्वधारणा रखती है। इसके अलावा, यह बाल्डविन द्वारा गलत तरीके से "भावनात्मक अमूर्त" कहे

रचनात्मक कार्य को दर्शाती है जिसका हमें वर्णन करना होगा। परन्तु इस तर्क के इस चरण में, अभी तक इस पर विचार करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि यह अभी तक निर्मित नहीं हुआ है। पीड़ा को चिंतनशील दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता; इसे किसी अन्य के लिए शरीर से नहीं जोड़ा जाता। यह आँखों में पीड़ा या दृष्टि में पीड़ा है; यह पारलौकिक शब्दों को समझने के मेरे तरीके से भिन्न नहीं है। हमने स्वयं इसे स्पष्टता के लिए आँखों में पीड़ा कहा है; परन्तु चेतना में इसका कोई नाम नहीं है, क्योंकि यह ज्ञात नहीं है। आँखों में पीड़ा अन्य संभावित पीड़ाओं से अवर्णनीय रूप से और अपने अस्तित्व मात्र से ही भिन्न है।
लेकिन यह पीड़ा ब्रह्मांड की वास्तविक वस्तुओं में कहीं भी विद्यमान नहीं है। यह न तो पुस्तक के दाईं ओर है, न ही बाईं ओर, न ही पुस्तक के माध्यम से प्रकट होने वाले सत्यों में, न ही मेरे शरीर-वस्तु में (वह शरीर जिसे दूसरा देखता है और जिसे मैं हमेशा आंशिक रूप से स्पर्श और आंशिक रूप से देख सकता हूँ), और न ही मेरे शरीर-दृष्टिकोण में, जैसा कि संसार द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया गया है। न ही हमें यह कहना चाहिए कि पीड़ा एक "अतिरिक्त छाप" है या यह मेरे द्वारा देखी जाने वाली वस्तुओं पर "अतिस्थापित" सामंजस्य की तरह है। वे ऐसी छवियाँ हैं जिनका कोई अर्थ नहीं है। इसलिए पीड़ा अंतरिक्ष में नहीं है। लेकिन न ही यह वस्तुनिष्ठ समय से संबंधित है; यह स्वयं को कालिक बनाती है, और इसी कालिकता में और इसी के माध्यम से संसार का समय प्रकट हो सकता है। तो फिर यह पीड़ा क्या है? बस चेतना का पारदर्शी पदार्थ, उसका वहाँ होना, संसार से उसका जुड़ाव, संक्षेप में, पढ़ने की क्रिया की विशिष्ट आकस्मिकता। यह पीड़ा सभी ध्यान और सभी ज्ञान से परे विद्यमान है, क्योंकि यह ध्यान और ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में समाहित हो जाती है, क्योंकि यह स्वयं यही क्रिया है, इस हद तक कि यह क्रिया इसके अस्तित्व का आधार नहीं है।
फिर भी, शुद्ध अस्तित्व के इस तल पर भी, संसार से जुड़े एक आकस्मिक लगाव के रूप में पीड़ा को चेतना द्वारा तभी गैर-भौतिक रूप से अनुभव किया जा सकता है जब उसे पार कर लिया जाए। पीड़ा-चेतना संसार का एक आंतरिक निषेध है; लेकिन साथ ही यह अपनी पीड़ा—अर्थात स्वयं—को स्वयं से विमुख होकर अनुभव करती है। सरल "अनुभव" के रूप में शुद्ध पीड़ा तक नहीं पहुँचा जा सकता; यह अपरिभाषित और अवर्णनीय की श्रेणी में आती है जो जैसी हैं वैसी ही हैं। लेकिन पीड़ा-चेतना एक ऐसी चेतना की ओर एक परियोजना है जो सभी पीड़ाओं से मुक्त होगी; अर्थात्, एक ऐसी चेतना जिसकी संरचना, जिसका अस्तित्व पीड़ादायक नहीं होगा। यह पार्श्व पलायन, स्वयं से विमुख होकर अनुभव करना जो पीड़ा-चेतना की विशेषता है, किसी भी तरह से पीड़ा को एक मानसिक वस्तु के रूप में स्थापित नहीं करता है। यह स्वयं के लिए की एक गैर-भौतिक परियोजना है; हम इसे केवल संसार के माध्यम से ही समझ पाते हैं। उदाहरण के लिए, यह उस तरीके से दिया गया है जिसमें पुस्तक "जल्दबाजी और अटपटे लय में पढ़ी जाने वाली" प्रतीत होती है, जहाँ शब्द एक-दूसरे से एक भयानक, स्थिर चक्र में टकराते हैं, जहाँ पूरा ब्रह्मांड चिंता से व्याकुल है। इसके अतिरिक्त—और

है, या यों कहें कि बीमारी ही मूल्यांकन के आवश्यक सहसंबंध के रूप में उभरती है। इसलिए बीमारी ज्ञात नहीं होती; उसका कष्ट सहा जाता है, और इसी प्रकार शरीर बीमारी से प्रकट होता है और चेतना द्वारा भी कष्ट सहा जाता है। चिंतन के लिए दिए गए शरीर में संज्ञानात्मक संरचनाएँ जोड़ने के लिए हमें दूसरे का सहारा लेना होगा। हम इस बिंदु पर अभी चर्चा नहीं कर सकते, क्योंकि पहले दूसरों के लिए शरीर की संरचनाओं को प्रकाश में लाना आवश्यक है।
वर्तमान में, हम यह देख सकते हैं कि यह मानसिक शरीर, क्योंकि यह चेतना के आंतरिक संदर्भ का स्व-तल पर प्रक्षेपण है, मन की सभी घटनाओं का अंतर्निहित पदार्थ प्रदान करता है। जिस प्रकार मूल शरीर प्रत्येक चेतना द्वारा अपनी आकस्मिकता के रूप में विद्यमान था, उसी प्रकार मानसिक शरीर घृणा या प्रेम, कर्मों और गुणों की आकस्मिकता के रूप में अनुभव किया जाता है, परन्तु इस आकस्मिकता का एक नया स्वरूप है। जहाँ तक यह चेतना द्वारा विद्यमान था, यह स्व-तत्काल द्वारा चेतना की पुनः प्राप्ति थी; जहाँ तक यह रोग, घृणा या उद्यम में प्रतिबिंब द्वारा अनुभव किया जाता है, यह स्व-तत्काल में प्रक्षेपित होता है। अतः यह प्रत्येक मानसिक वस्तु की उसके जादुई सामंजस्य से परे बाह्यता में विभाजित होने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है; यह उन जादुई संबंधों से परे, जो मानसिक वस्तुओं को एक दूसरे से जोड़ते हैं, उनमें से प्रत्येक की उदासीनता के अलगाव में पृथक होने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह एक प्रकार का अंतर्निहित स्थान है जो मन की मधुर अवधि का समर्थन करता है। शरीर हमारे सभी मानसिक अनुभवों का आकस्मिक और उदासीन पदार्थ है, इसलिए शरीर एक मानसिक स्थान निर्धारित करता है। इस स्थान में न तो ऊँचाई है, न नीचाई, न बाएँ, न दाएँ; यह भागों से रहित है क्योंकि मानसिक का जादुई सामंजस्य उदासीनता में विभाजन की प्रवृत्ति का मुकाबला करता है। फिर भी, यह मानस की एक वास्तविक विशेषता है—यह नहीं कि मानस शरीर से जुड़ा हुआ है, बल्कि यह कि इसके लयबद्ध संगठन के अंतर्गत शरीर इसका सार और इसकी शाश्वत संभावना की स्थिति है। यह वह है जो जैसे ही हम मनस का नामकरण करते हैं, प्रकट होता है। यह वह है जो यांत्रिक और रासायनिक रूपकों का आधार है जिनका उपयोग हम मनस की घटनाओं को वर्गीकृत करने और समझाने के लिए करते हैं। यह वह है जिसे हम छवियों (छवि- निर्माण चेतना) में ढालते हैं, जिन्हें हम अनुपस्थित भावनाओं को लक्षित करने और उन्हें उपस्थित करने के लिए उत्पन्न करते हैं। अंततः, यही वह है जो अचेतन जैसे मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों और स्मृतियों के संरक्षण जैसी समस्याओं को प्रेरित करता है और कुछ हद तक उन्हें उचित ठहराता है।
यह स्पष्ट है कि हमने शारीरिक पीड़ा को एक उदाहरण के रूप में चुना है और हमारी आकस्मिकता को महसूस करने के हजारों अन्य तरीके भी हैं, जो स्वयं आकस्मिक हैं। विशेष रूप से हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब चेतना द्वारा किसी पीड़ा, किसी विशिष्ट संतुष्टि या असंतुष्टि का अनुभव नहीं किया जाता है, तब भी स्वयं के लिए अस्तित्व स्वयं को एक ऐसी आकस्मिकता से परे प्रक्षेपित करना बंद नहीं करता जो शुद्ध और एक प्रकार से अयोग्य है। चेतना

का शरीर होना समाप्त नहीं होता। इसलिए, सहसंवेदी भावात्मकता एक रंगहीन आकस्मिकता की शुद्ध, गैर-स्थितिगत अनुभूति है, स्वयं की एक तथ्यात्मक अस्तित्व के रूप में शुद्ध अनुभूति है। मेरे स्वयं के लिए अस्तित्व द्वारा एक ऐसे नीरस स्वाद की निरंतर अनुभूति, जिसे मैं परिभाषित नहीं कर सकता, जो इससे दूर जाने के मेरे प्रयासों में भी मेरे साथ रहता है, और जो मेरा स्वाद है—इसी का वर्णन हमने कहीं और मतली के नाम से किया है। एक सुस्त और अपरिहार्य मतली निरंतर मेरे शरीर को मेरी चेतना के सामने प्रकट करती है। कभी-कभी हम इस मतली से मुक्ति पाने के लिए सुख या शारीरिक पीड़ा की तलाश करते हैं; लेकिन जैसे ही चेतना पीड़ा और सुख का अनुभव करती है, वे अपनी वास्तविकता और आकस्मिकता को प्रकट कर देते हैं; और इसी मतली के आधार पर वे प्रकट होते हैं। हमें मतली शब्द को शारीरिक घृणा से उत्पन्न रूपक के रूप में नहीं लेना चाहिए। इसके विपरीत, हमें यह समझना चाहिए कि इसी मतली के आधार पर सभी ठोस और अनुभवजन्य मतली (खराब मांस, ताजा रक्त, मल आदि से होने वाली मतली) उत्पन्न होती हैं और हमें उल्टी करवाती हैं।
II. दूसरों के लिए शरीर
हमने अभी-अभी अपने लिए मेरे शरीर के अस्तित्व का वर्णन किया है। इस तात्विक तल पर मेरा शरीर वैसा ही है जैसा हमने इसका वर्णन किया है, और यह केवल वही है। इसमें किसी शारीरिक अंग, किसी शारीरिक और स्थानिक संरचना के निशान खोजना व्यर्थ होगा। या तो यह संदर्भ का केंद्र है जिसे संसार की वस्तु-वस्तुओं द्वारा खाली रूप से इंगित किया गया है, या फिर यह वह आकस्मिकता है जिसके लिए 'स्वयं के लिए' अस्तित्व में है। अधिक सटीक रूप से, अस्तित्व के ये दोनों तरीके पूरक हैं। लेकिन शरीर 'स्वयं के लिए' के समान ही अवतारों को जानता है; इसके अस्तित्व के अन्य तल भी हैं। यह दूसरों के लिए भी विद्यमान है। अब हमें इसका अध्ययन इस नए तात्विक परिप्रेक्ष्य में करना होगा। मेरे शरीर का दूसरे को दिखाई देने का तरीका या दूसरे के शरीर का मुझे दिखाई देने का तरीका एक ही बात है। वास्तव में हमने यह स्थापित कर लिया है कि दूसरे के लिए मेरे अस्तित्व की संरचनाएं दूसरे के मेरे लिए अस्तित्व की संरचनाओं के समान हैं। सुविधा के लिए, हम दूसरे के 'मेरे लिए' होने के संदर्भ में ही, दूसरों के लिए शरीर (अर्थात, दूसरे के शरीर) की प्रकृति स्थापित करेंगे।
पिछले अध्याय में हमने दिखाया कि शरीर वह नहीं है जो सबसे पहले मुझे दूसरे का परिचय कराता है। वास्तव में, यदि मेरे अस्तित्व का दूसरे के साथ मूलभूत संबंध मेरे शरीर और दूसरे के शरीर के संबंध तक सीमित कर दिया जाए, तो यह विशुद्ध रूप से बाह्य संबंध होगा। परन्तु दूसरे के साथ मेरा जुड़ाव आंतरिक निषेध के बिना अकल्पनीय है। मुझे पहले दूसरे को उस रूप में समझना होगा जिसके लिए मैं एक वस्तु के रूप में विद्यमान हूँ; मेरे आत्मत्व की पुन: अनुभूति प्रागैतिहासिक इतिहास-निर्माण के दूसरे क्षण में दूसरे को एक वस्तु के रूप में प्रकट करती है। अतः दूसरे के शरीर का प्रकट होना प्राथमिक मुठभेड़ नहीं है; इसके विपरीत, यह दूसरे के साथ मेरे संबंधों का मात्र एक प्रसंग है, और विशेष रूप से जिसे हमने दूसरे को वस्तु बनाने के

रूप में वर्णित किया है। या आप चाहें तो कह सकते हैं कि दूसरा मेरे लिए पहले विद्यमान होता है और मैं उसे उसके शरीर में बाद में समझता हूँ। दूसरे का शरीर मेरे लिए एक गौण संरचना है।
दूसरे को वस्तु बनाने की मूलभूत प्रक्रिया में, वह मुझे एक पारलौकिक-पारित रूप में दिखाई देता है। अर्थात्, मात्र इस तथ्य से कि मैं स्वयं को अपनी संभावनाओं की ओर प्रक्षेपित करता हूँ, मैं दूसरे की पारलौकिकता को पार कर जाता हूँ और उससे परे चला जाता हूँ। वह अप्रासंगिक हो जाती है; वह एक वस्तु-रूप में पारलौकिकता बन जाती है। मैं इस पारलौकिकता को संसार में, और मूलतः, अपने संसार की साधन-वस्तुओं की एक निश्चित व्यवस्था के रूप में ग्रहण करता हूँ, क्योंकि वे एक द्वितीयक संदर्भ केंद्र को भी इंगित करती हैं जो संसार के मध्य में स्थित है और जो मैं नहीं हूँ। ये संकेत—मुझे इंगित करने वाले संकेतों के विपरीत—संकेत देने वाली वस्तु के घटक नहीं हैं; वे वस्तु के पार्श्व गुण हैं। जैसा कि हमने देखा है, दूसरा संसार की एक घटक अवधारणा नहीं हो सकता। अतः इन सभी संकेतों में एक मूल आकस्मिकता और एक घटना का चरित्र होता है। परन्तु जिस संदर्भ केंद्र को वे इंगित करते हैं, वह वास्तव में दूसरा है, एक ऐसी पारलौकिकता के रूप में जिसका मात्र चिंतन या पारलौकिकता की गई है। वस्तुओं की द्वितीयक व्यवस्था मुझे दूसरे के प्रति इस व्यवस्था के आयोजक या लाभार्थी के रूप में संदर्भित करती है, संक्षेप में कहें तो एक ऐसे साधन के रूप में जो स्वयं द्वारा उत्पन्न लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अन्य साधनों का उपयोग करता है। परन्तु बदले में मैं इस लक्ष्य से आगे बढ़कर इसका उपयोग करता हूँ; यह संसार के मध्य में है और मैं इसका उपयोग अपने उद्देश्यों के लिए कर सकता हूँ। इस प्रकार, वस्तुओं द्वारा दूसरे को सर्वप्रथम एक साधन के रूप में इंगित किया जाता है। वस्तुएँ मुझे भी एक साधन के रूप में इंगित करती हैं, और मैं ठीक उसी हद तक एक शरीर हूँ जिस हद तक मैं स्वयं को वस्तुओं द्वारा इंगित होने देता हूँ। अतः वस्तुएँ अपनी पार्श्व एवं द्वितीयक व्यवस्थाओं द्वारा दूसरे- शरीर को ही इंगित करती हैं। वास्तव में, मैं ऐसे किसी साधन को नहीं जानता जो द्वितीयक रूप से दूसरे के शरीर को संदर्भित न करता हो।
पहले हमने बताया था कि वस्तुओं द्वारा परिभाषित मेरे शरीर के बारे में मैं कोई दृष्टिकोण नहीं रख सकता। वास्तव में, शरीर वह दृष्टिकोण है जिस पर मैं कोई दृष्टिकोण नहीं रख सकता, वह उपकरण है जिसका उपयोग मैं अन्य उपकरणों की तरह नहीं कर सकता। जब मैंने सार्वभौमिक चिंतन के माध्यम से अपने शरीर को संसार के बीच एक शुद्ध उपकरण के रूप में खाली समझने का प्रयास किया, तो इसका तात्कालिक परिणाम संसार का ही पतन था। दूसरी ओर, इस तथ्य के कारण कि मैं 'अन्य' नहीं हूँ, उसका शरीर मुझे मूल रूप से एक दृष्टिकोण के रूप में दिखाई देता है जिस पर मैं दृष्टिकोण रख सकता हूँ, एक उपकरण जिसका उपयोग मैं अन्य उपकरणों के साथ कर सकता हूँ। 'अन्य' का शरीर उपकरण-वस्तुओं के चक्र द्वारा इंगित किया जाता है, लेकिन बदले में यह अन्य वस्तुओं को इंगित करता है; अंततः यह मेरे संसार के साथ एकीकृत हो जाता है, और यह मेरे शरीर को इंगित करता है। इस प्रकार 'अन्य' का शरीर मेरे शरीर से बिल्कुल भिन्न है; यह

नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह इंद्रिय अंगों का समूह है जो मेरे इंद्रिय ज्ञान के समक्ष प्रकट होता है; अर्थात्, वह एक ऐसी वास्तविकता है जो एक वास्तविकता के समक्ष प्रकट होती है। इस प्रकार, ज्ञान और अस्तित्व की व्यवस्था में, दूसरे के इंद्रिय अंगों का अध्ययन, जैसा कि मैं उन्हें अपनी इंद्रियों के माध्यम से जानता हूँ, अपने उचित स्थान पर हो सकता है। यह अध्ययन इन इंद्रिय अंगों के कार्य—यानी ज्ञान—को सर्वोपरि महत्व देगा। परन्तु यह ज्ञान मेरे लिए एक शुद्ध वस्तु होगा; उदाहरण के लिए, यहीं से “उलटी दृष्टि” की भ्रामक समस्या उत्पन्न होती है। वास्तव में, दूसरे का संवेदी अंग मूलतः उसके लिए ज्ञान का साधन नहीं है; यह केवल दूसरे का ज्ञान है, उसका शुद्ध ज्ञान है, उस हद तक जहाँ तक यह ज्ञान मेरे ब्रह्मांड में एक वस्तु के रूप में विद्यमान है।
फिर भी, हमने अभी तक दूसरे के शरीर को केवल उसी हद तक परिभाषित किया है जितना कि मेरे ब्रह्मांड की वस्तुओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से दर्शाया गया है। वास्तव में, इससे हमें उसका वास्तविक अस्तित्व बिल्कुल नहीं मिलता। निश्चित रूप से, दूसरे का शरीर उन वस्तुओं के संकेतों में सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि वे उसके द्वारा उपयोग किए जाने और उसके द्वारा ज्ञात होने के रूप में प्रकट होती हैं। यह कमरा जिसमें मैं घर के मालिक की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, मुझे अपने मालिक के शरीर को पूरी तरह से प्रकट करता है: यह आरामकुर्सी वह कुर्सी है जिस पर वह बैठता है, यह मेज वह मेज है जिस पर वह लिखता है, यह खिड़की वह खिड़की है जिससे प्रकाश प्रवेश करता है और उन वस्तुओं को प्रकाशित करता है जिन्हें वह देखता है। इस प्रकार यह अपने सभी भागों सहित एक पूर्ण रूपरेखा है, और यह रूपरेखा एक वस्तु की रूपरेखा है; कोई वस्तु किसी भी क्षण आकर इस रूपरेखा को सामग्री से भर सकती है। लेकिन फिर भी घर का मालिक "वहाँ नहीं है"। वह कहीं और है; वह अनुपस्थित है।
अब हमने देखा है कि अनुपस्थिति, 'होने' की संरचना है। अनुपस्थित होना मेरे संसार में 'कहीं और होना' है; यह मेरे लिए पहले से ही दिया हुआ है। जैसे ही मुझे अफ्रीका में रहने वाले मेरे चचेरे भाई का पत्र मिलता है, इस पत्र के संकेतों से ही उसका 'कहीं और होना' मुझे ठोस रूप से मिल जाता है, और यह 'कहीं और होना' एक 'कहीं होना' है; यह पहले से ही उसका शरीर है। हम इसके अलावा किसी और तरीके से यह नहीं समझा सकते कि एक प्रेमिका के मात्र पत्र से उसके प्रेमी पर इतना भावनात्मक प्रभाव क्यों पड़ता है; प्रेमिका का पूरा शरीर इन पंक्तियों में और इस कागज पर अनुपस्थिति के रूप में मौजूद है। लेकिन चूंकि 'कहीं और होना' एक ठोस स्थिति में ठोस साधन-वस्तुओं के एक समूह के संबंध में 'होना' है, इसलिए यह पहले से ही वास्तविकता और आकस्मिकता है। यह केवल कल पियरे के साथ हुई मेरी मुलाकात ही नहीं है जो उसकी और मेरी आकस्मिकता को परिभाषित करती है; कल उसकी अनुपस्थिति ने भी इसी तरह हमारी आकस्मिकताओं और हमारी वास्तविकताओं को परिभाषित किया। और अनुपस्थित की यह वास्तविकता उन साधन-वस्तुओं में अंतर्निहित रूप से दी गई है जो इसे इंगित करती हैं; उसका अचानक प्रकट होना कुछ भी नहीं जोड़ता। इस प्रकार, दूसरे का शरीर एक उपकरण के रूप में और इंद्रियों के संश्लेषण के रूप में

उसकी वास्तविकता है, जैसा कि यह मेरी वास्तविकता के समक्ष प्रकट होता है।
यह मुझे तब प्राप्त होता है जब दूसरा मेरे लिए संसार में अस्तित्व में आता है; दूसरे की उपस्थिति या अनुपस्थिति कुछ भी नहीं बदलती।
लेकिन देखो! अब पियरे प्रकट होता है। वह मेरे कमरे में प्रवेश कर रहा है।
इस उपस्थिति से उसके साथ मेरे मूलभूत संबंध में कोई परिवर्तन नहीं होता; यह एक आकस्मिक घटना है, लेकिन उसकी अनुपस्थिति भी तो आकस्मिक ही थी।
वस्तुएँ मुझे उसकी ओर संकेत करती हैं: जिस दरवाजे को वह धकेलता है, वह उसके सामने खुलने पर एक मानवीय उपस्थिति का संकेत देता है, कुर्सी पर बैठने पर भी यही बात लागू होती है, इत्यादि।
लेकिन उनकी अनुपस्थिति में भी वस्तुएँ उनका संकेत देना बंद नहीं करतीं। बेशक, मैं उनके लिए विद्यमान हूँ, वे मुझसे बात करते हैं। लेकिन मैं कल भी उतना ही विद्यमान था जब उन्होंने मुझे वह टेलीग्राम भेजा था, जो अब मेरी मेज पर है, जिसमें उन्होंने मुझे अपने आने की सूचना दी थी। फिर भी, कुछ नया है। यह तथ्य है कि वे वर्तमान में संसार के तल पर एक ऐसी वस्तु के रूप में प्रकट होते हैं जिसे मैं देख सकता हूँ, समझ सकता हूँ और प्रत्यक्ष रूप से उपयोग कर सकता हूँ। इसका क्या अर्थ है? सबसे पहले, दूसरे की वास्तविकता— अर्थात्, उसके अस्तित्व की आकस्मिकता—अब साधन-वस्तुओं के पार्श्व संकेतों में निहित होने के बजाय स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। यह वास्तविकता ही वह है जिसमें दूसरा विद्यमान है—अपने आप में और अपने माध्यम से; यह वह है जिसमें दूसरा निरंतर एक आकस्मिकता की गैर-स्थितीय समझ के रूप में, स्वयं की एक तथ्यात्मक अस्तित्व के रूप में शुद्ध समझ के रूप में, एक अचेतन अवस्था में जीता है। संक्षेप में, यह उसकी सहसंवेदना है। दूसरे की उपस्थिति उसके अस्तित्व के स्वाद का एक तात्कालिक अस्तित्व के रूप में प्रकटीकरण है। लेकिन मैं इस स्वाद को उस तरह नहीं समझ पाता जैसे वह समझता है। उसके लिए मतली ज्ञान नहीं है; यह उस आकस्मिकता की गैर-वास्तविक समझ है जो वह स्वयं है। यह इस आकस्मिकता का अपने आप में अद्वितीय संभावनाओं की ओर पारगमन है। यह एक विद्यमान आकस्मिकता है, एक ऐसी आकस्मिकता जिसके प्रति समर्पण किया जाता है और जिसे अस्वीकार भी किया जाता है। यही वह आकस्मिकता है, और कोई दूसरी नहीं, जिसे मैं वर्तमान में समझ पा रहा हूँ। लेकिन मैं यह आकस्मिकता नहीं हूँ। मैं इसे अपनी संभावनाओं की ओर पार करता हूँ, लेकिन यह पारगमन किसी दूसरे का अतिक्रमण है। यह मुझे पूर्णतः और बिना किसी अपील के दिया गया है; यह अपरिवर्तनीय है। दूसरे की अपने आप में उपस्थिति इस आकस्मिकता से खुद को अलग कर लेती है और निरंतर इसे पार करती रहती है। लेकिन जिस हद तक मैं दूसरे के अतिक्रमण को पार करता हूँ, मैं उसे स्थिर कर देता हूँ। यह अब वास्तविकता के विरुद्ध कोई साधन नहीं रह जाता; बल्कि इसके विपरीत, यह वास्तविकता में भाग लेता है, यह वास्तविकता से उत्पन्न होता है। इस प्रकार, दूसरे की स्वयं के प्रति रुचि के रूप में मौजूद शुद्ध आकस्मिकता और मेरी चेतना के बीच कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता। वास्तव में, मैं इस रुचि को उसके वास्तविक स्वरूप में ही ग्रहण करता हूँ। यद्यपि, मेरी भिन्नता के कारण ही, यह रुचि संसार के बीच एक ज्ञात और

में शरीर-आकृति के विपरीत है, क्योंकि इस शरीर-आधार को दूसरे के स्वतः के लिए और किसी अंतर्निहित और गैर-स्थितीय चीज़ के रूप में नहीं, बल्कि मेरे द्वारा सटीक, स्पष्ट और वस्तुनिष्ठ रूप से समझा जा सकता है। उसका शरीर तब ब्रह्मांड के आधार पर एक अर्थपूर्ण आकृति के रूप में प्रकट होता है, लेकिन दूसरे के लिए आधार बने रहने के साथ-साथ सटीक रूप से एक आधार भी बना रहता है। लेकिन यहाँ हमें एक महत्वपूर्ण अंतर करना चाहिए: दूसरे का शरीर वास्तव में "मेरे शरीर को" प्रकट होता है। इसका अर्थ है कि दूसरे के प्रति मेरे दृष्टिकोण में एक तथ्यात्मकता है। इस संदर्भ में, हमें शारीरिक समग्रता के आधार पर किसी अंग (बांह, हाथ) को समझने की मेरी संभावना और दूसरी ओर, दूसरे के शरीर या उसके कुछ हिस्सों को स्पष्ट रूप से समझने के बीच भ्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि दूसरे व्यक्ति द्वारा उन्हें शरीर-आधार के रूप में अनुभव किया जाता है। केवल दूसरे मामले में ही हम दूसरे को जीवन के रूप में समझते हैं। पहले मामले में ऐसा हो सकता है कि हम उसे आधार के रूप में समझें जो उसके लिए आकृति है। जब मैं उसके हाथ को देखता हूँ, तो उसके शरीर का शेष भाग आधार में समाहित हो जाता है। लेकिन शायद उसका माथा या उसका वक्ष उसके लिए एक ऐसे आधार पर आकृति के रूप में विद्यमान है जिसमें उसकी बाहें और हाथ विलीन हो जाते हैं।
इसका परिणाम यह होता है कि दूसरे के शरीर का अस्तित्व मेरे लिए एक संश्लेषित समग्रता है। इसका अर्थ है: (1) मैं दूसरे के शरीर को कभी भी उस समग्र स्थिति के संदर्भ में ही समझ सकता हूँ जो उसे इंगित करती है। (2) मैं दूसरे के शरीर के किसी भी अंग को पृथक रूप से नहीं देख सकता, और मैं हमेशा प्रत्येक अंग को मांस या जीवन की समग्रता के संदर्भ में ही देखता हूँ। इस प्रकार दूसरे के शरीर के प्रति मेरी धारणा वस्तुओं के प्रति मेरी धारणा से बिल्कुल भिन्न है।
(1) दूसरा व्यक्ति उन सीमाओं के भीतर गति करता है जो उसकी गतिविधियों के साथ सीधे तौर पर जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं और जिनके भीतर मैं इन गतिविधियों के अर्थ को स्वयं को समझाता हूँ। ये सीमाएँ स्थानिक और कालिक दोनों हैं। स्थानिक रूप से, पियरे से कुछ दूरी पर रखा गिलास ही उसके वास्तविक हावभाव का अर्थ है। इस प्रकार, "मेज-गिलास-बोतल, आदि" के समग्र अवलोकन में, मैं भुजा की गति पर ध्यान केंद्रित करता हूँ ताकि स्वयं को यह बता सकूँ कि वह क्या है। यदि भुजा दिखाई दे रही है और गिलास छिपा हुआ है, तो मैं पियरे की गति को स्थिति के शुद्ध विचार के संदर्भ में और उन वस्तुओं से परे लक्ष्य के संदर्भ में समझता हूँ जो गिलास को मुझसे छिपाती हैं, और यही हावभाव का अर्थ है।
पियरे का जो हावभाव मुझे वर्तमान में प्रकट होता है, मैं उसे हमेशा उसके भविष्य के लक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य से ही समझ पाता हूँ। इस प्रकार मैं शरीर के वर्तमान को उसके भविष्य के माध्यम से, और उससे भी व्यापक रूप से, संसार के भविष्य के माध्यम से स्वयं को ज्ञात करता हूँ। हम दूसरे के शरीर की अनुभूति की मनोवैज्ञानिक समस्या को तब तक नहीं समझ पाएंगे जब तक हम इस मूलभूत सत्य को नहीं समझ लेते—कि दूसरे के शरीर को अन्य शरीरों से

पूर्णतः भिन्न रूप से देखा जाता है: क्योंकि उसे समझने के लिए हम हमेशा उसके बाहर से, अंतरिक्ष और समय में, उसकी ओर बढ़ते हैं; हम उसके हावभाव को समय और स्थान के एक प्रकार के व्युत्क्रमण द्वारा "धारा के विपरीत" समझते हैं। दूसरे को समझना संसार के माध्यम से स्वयं को यह ज्ञात कराना है कि वह क्या है।
(2) मैं कभी भी किसी स्थिर शरीर के साथ उठी हुई भुजा को नहीं देखता। मैं केवल पियरे को अपना हाथ उठाते हुए देखता हूँ। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं किसी निर्णय के द्वारा हाथ की गति को उस "चेतना" से जोड़ता हूँ जिसने इसे प्रेरित किया; बल्कि मैं हाथ या भुजा की गति को केवल पूरे शरीर की एक लौकिक संरचना के रूप में ही समझ सकता हूँ। यहाँ संपूर्ण शरीर ही अपने भागों की व्यवस्था और गति निर्धारित करता है। यह सिद्ध करने के लिए कि हम यहाँ दूसरे के शरीर की एक मौलिक अनुभूति से निपट रहे हैं, हमें केवल उस भय को याद करने की आवश्यकता है जो हमें तब महसूस होता है जब हम एक ऐसी भुजा देखते हैं जो "मानो किसी शरीर की न हो", या हम उन तीव्र अनुभूतियों में से किसी एक को याद कर सकते हैं जिनमें हम देखते हैं, उदाहरण के लिए, एक हाथ (जिसकी भुजा छिपी हुई है) दरवाजे की लंबाई पर मकड़ी की तरह रेंगता हुआ। ऐसे मामलों में शरीर का विघटन होता है, और इस विघटन को असाधारण रूप से समझा जाता है। इसके अलावा, हम गेस्टाल्ट मनोविज्ञान द्वारा अक्सर प्रस्तुत किए गए सकारात्मक प्रमाणों को जानते हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक तस्वीर में पियरे के हाथ बहुत बड़े दिखाई देते हैं, जबकि वह उन्हें आगे की ओर फैलाए हुए है (क्योंकि कैमरा उन्हें उनके अपने आयाम में ही कैद करता है, न कि शरीर की समग्रता से कृत्रिम संबंध के साथ), जबकि हम देखते हैं कि ये ही हाथ नग्न आंखों से देखने पर बिना बड़े हुए दिखाई देते हैं। इस अर्थ में, शरीर स्थिति की सीमाओं के भीतर जीवन और क्रिया की एक कृत्रिम समग्रता के रूप में प्रकट होता है।
इन अवलोकनों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पियरे का शरीर किसी भी तरह से मेरे लिए पियरे से भिन्न नहीं है। दूसरे का शरीर, अपने विभिन्न अर्थों के साथ, केवल मेरे लिए ही विद्यमान है: दूसरों के लिए एक वस्तु होना या एक शरीर होना, दो तात्विक विधियाँ हैं जो स्वयं के लिए अस्तित्व के माध्यम से दूसरों के लिए अस्तित्व की पूर्णतः समतुल्य अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार, ये अर्थ किसी रहस्यमय मनोविकृति को संदर्भित नहीं करते; वे इस मनोविकृति का वह रूप हैं जो एक पारलौकिक-पारलौकिक अवस्था है। बेशक, एक मानसिक गूढ़ विद्या है; कुछ घटनाएँ "छिपी" हुई हैं। लेकिन इसका निश्चित रूप से यह अर्थ नहीं है कि ये अर्थ "शरीर से परे" किसी चीज़ को संदर्भित करते हैं। वे दुनिया और स्वयं को संदर्भित करते हैं। विशेष रूप से, ये भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ या, अधिक सामान्यतः, वे घटनाएँ जिन्हें त्रुटिपूर्ण रूप से अभिव्यक्ति की घटनाएँ कहा जाता है, किसी भी प्रकार से हमें किसी छिपी हुई भावना का संकेत नहीं देतीं जो किसी मनोविकृति द्वारा अनुभव की जाती है और जो मनोवैज्ञानिक के शोध का अमूर्त विषय होगी। ये भौंहें चढ़ाना, ये लालिमा, ये हकलाना, हाथों का ये हल्का कांपना, ये झुकी

हुई निगाहें जो एक साथ डरपोक और धमकी भरी लगती हैं—ये क्रोध को व्यक्त नहीं करतीं; ये स्वयं क्रोध हैं। लेकिन इस बात को स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। अपने आप में एक बंधी हुई मुट्ठी कुछ भी नहीं है और इसका कोई अर्थ नहीं है। लेकिन हम कभी भी बंधी हुई मुट्ठी को नहीं देखते। हम एक ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो किसी विशेष परिस्थिति में अपनी मुट्ठी बांधता है। अतीत और संभावनाओं के संदर्भ में देखा गया और "परिस्थिति में शरीर" की समग्रता के रूप में समझा गया यह सार्थक कार्य ही क्रोध है। यह संसार में होने वाली क्रियाओं (मारना, अपमान करना आदि) के अलावा किसी और चीज़ को संदर्भित नहीं करता; अर्थात्, शरीर की नई सार्थक मनोवृत्तियों को। हम इस तथ्य से बच नहीं सकते कि "मनोवैज्ञानिक वस्तु" पूरी तरह से बोध के लिए मुक्त है और शारीरिक संरचनाओं के बाहर अकल्पनीय है।
यदि इस तथ्य पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है या यदि व्यवहारवादियों जैसे इसके समर्थकों ने स्वयं यह अच्छी तरह से नहीं समझा है कि वे क्या कहना चाहते थे और अपने कथनों से दुनिया को चौंका दिया है, तो इसका कारण यह है कि लोग आसानी से मान लेते हैं कि सभी धारणाएँ एक ही प्रकार की होती हैं। वास्तव में, धारणा हमें तुरंत स्थानिक-सामयिक वस्तु प्रदान करती है। इसकी मूल संरचना आंतरिक निषेध है, और यह मुझे वस्तु को उसके वास्तविक रूप में प्रदान करती है, न कि किसी पहुँच से परे वास्तविकता की खाली छवि के रूप में। लेकिन ठीक इसी कारण से प्रत्येक प्रकार की वास्तविकता के लिए धारणा की एक नई संरचना होती है। शरीर सर्वोत्कृष्ट मानसिक वस्तु है—एकमात्र मानसिक वस्तु। लेकिन यदि हम यह मानते हैं कि शरीर एक पारलौकिक पारलौकिकता है, तो इसकी धारणा स्वाभाविक रूप से निर्जीव वस्तुओं की धारणा के समान नहीं हो सकती। हमें इससे यह नहीं समझना चाहिए कि धारणा उत्तरोत्तर समृद्ध होती है, बल्कि यह कि मूल रूप से इसकी संरचना भिन्न होती है। इस प्रकार, अभिव्यंजक व्यवहार को समझने के लिए हमें आदत या सादृश्य तर्क का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। यह व्यवहार मूल रूप से बोधगम्य रूप में धारणा के समक्ष प्रस्तुत होता है; इसका अर्थ इसके अस्तित्व का ही एक हिस्सा है, ठीक वैसे ही जैसे कागज का रंग कागज के अस्तित्व का एक हिस्सा है। इसलिए, किसी विशेष व्यवहार को समझने के लिए अन्य व्यवहार का उल्लेख करना उतना ही आवश्यक नहीं है जितना कि मेरे सामने रखे पन्ने के रंग को समझने के लिए मेज के रंग, या किसी अन्य कागज के रंग, या पत्तियों के रंग का उल्लेख करना आवश्यक है।
दूसरे का शरीर हमें तुरंत ही उसके स्वरूप के रूप में मिल जाता है। इस अर्थ में हम उसे उस रूप में समझते हैं जो प्रत्येक विशेष अर्थ द्वारा निरंतर किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उदाहरण के लिए, एक चलते हुए व्यक्ति को लें। शुरुआत से ही मैं उसके चलने को एक स्थानिक-कालिक समूह (गली-सड़क-फुटपाथ-दुकानें-गाड़ियाँ, आदि) के रूप में समझता हूँ, जिसमें कुछ संरचनाएँ चलने के भविष्य के अर्थ को दर्शाती हैं। मैं इस चलने को भविष्य से वर्तमान की ओर बढ़ते हुए देखता हूँ—हालाँकि जिस भविष्य में प्रश्न उठता है वह सार्वभौमिक समय से संबंधित है और एक शुद्ध "वर्तमान" है जो अभी

कि प्रोटोप्लाज्म के जीवन का अध्ययन, यहाँ तक कि भ्रूणविज्ञान या अंडे का अध्ययन भी जीवन को पुनः प्रकट नहीं कर सकता; जो अंग देखा जाता है वह जीवित है, लेकिन वह किसी विशेष जीवन की संश्लेषित एकता में स्थापित नहीं है; इसे शरीर रचना विज्ञान के संदर्भ में समझा जाता है—अर्थात, मृत्यु के संदर्भ में। इसलिए, यह मानना एक बहुत बड़ी त्रुटि है कि दूसरे का शरीर, जो मूल रूप से हमें प्रकट होता है, शरीर रचना विज्ञान-क्रिया विज्ञान का शरीर है। यहाँ गलती उतनी ही गंभीर है जितनी कि स्वयं के लिए हमारी इंद्रियों को दूसरों के लिए हमारी संवेदी अंगों के साथ भ्रमित करने की। दूसरे का शरीर उस पारलौकिक-पारलौकिक की वास्तविकता है क्योंकि यह वास्तविकता निरंतर एक जन्म है; यानी, यह निरंतर पार किए गए एक स्वतः-अंतर्निहित की उदासीन बाह्यता को संदर्भित करता है।
इन बातों से हमें चरित्र की व्याख्या करने में सहायता मिलती है। वास्तव में यह ध्यान देने योग्य है कि चरित्र का विशिष्ट अस्तित्व केवल दूसरे के लिए ज्ञान के विषय के रूप में ही होता है। चेतना अपने स्वयं के चरित्र को नहीं जानती—जब तक कि वह दूसरे के दृष्टिकोण से आत्मचिंतनशील रूप से स्वयं का निर्धारण न करे। यह अपने चरित्र को शुद्ध अविभेद में, विषयगत और आद्यतनहीन रूप से, अपनी आकस्मिकता के प्रमाण में और उस शून्यीकरण में विद्यमान करती है जिसके द्वारा वह अपनी वास्तविकता को पहचानती और उससे परे जाती है। यही कारण है कि विशुद्ध आत्मनिरीक्षणात्मक आत्म-वर्णन हमें चरित्र नहीं देता। प्रॉस्ट के नायक का प्रत्यक्ष रूप से बोधगम्य चरित्र नहीं है; उसे सर्वप्रथम स्वयं के प्रति सचेत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो सभी मनुष्यों में पाई जाने वाली सामान्य प्रतिक्रियाओं (जुनून, भावनाओं, स्मृतियों के एक निश्चित क्रम आदि के "तंत्र") का एक समूह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को पहचान सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये प्रतिक्रियाएँ मन की सामान्य "प्रकृति" से संबंधित हैं। यदि (जैसा कि अब्राहम ने प्रॉस्ट पर अपनी पुस्तक में प्रयास किया है) हम प्रॉस्ट के नायक के चरित्र को निर्धारित करने में सफल होते हैं (उदाहरण के लिए, उसकी कमजोरी, उसकी निष्क्रियता, प्रेम और धन को जोड़ने का उसका विशेष तरीका), तो इसका कारण यह है कि हम यथार्थ तथ्यों की व्याख्या कर रहे हैं। हम उनके प्रति एक बाह्य दृष्टिकोण अपनाते हैं; हम उनकी तुलना करते हैं और उनसे स्थायी, वस्तुनिष्ठ संबंधों को अलग करने का प्रयास करते हैं। लेकिन इसके लिए अलगाव आवश्यक है। जब तक पाठक पढ़ने की सामान्य दृष्टिगत प्रक्रिया का उपयोग करते हुए स्वयं को उपन्यास के नायक से जोड़ता है, तब तक "मार्सेल" का चरित्र उससे ओझल रहता है; बल्कि बेहतर यह है कि इस स्तर पर उसका अस्तित्व ही नहीं होता। यह तभी प्रकट होता है जब मैं लेखक के साथ अपने जुड़ाव को तोड़ता हूँ, जब मैं पुस्तक को अब एक विश्वासपात्र के रूप में नहीं बल्कि एक विश्वास के रूप में, और उससे भी बेहतर एक दस्तावेज़ के रूप में देखता हूँ। इसलिए यह चरित्र केवल दूसरों के लिए मौजूद होता है, और यही कारण है कि "मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियों" (अर्थात, वे फ्रांसीसी लेखक जिन्होंने एक वस्तुनिष्ठ, सामाजिक मनोविज्ञान को अपनाया है) की शिक्षाओं

परिस्थितियों को बदलने की अप्रतिबंधित शक्ति है। इस शक्ति को उस शक्ति से भिन्न नहीं किया जा सकता जो मूल रूप से दूसरे का निर्माण करती है और जो सामान्यतः किसी परिस्थिति को अस्तित्व में लाने की शक्ति है। वास्तव में, किसी परिस्थिति को बदलने में सक्षम होना ही उसे अस्तित्व में लाना है। दूसरे की वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रता केवल पारलौकिकता से परे है; जैसा कि हमने स्थापित किया है, यह वस्तु-रूप स्वतंत्रता है। इस अर्थ में, दूसरा उस व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है जिसे निरंतर बदलती हुई परिस्थिति के दृष्टिकोण से समझा जाना चाहिए। यही कारण है कि उसका शरीर हमेशा अतीत होता है। इस अर्थ में, दूसरे का चरित्र हमारे समक्ष उस रूप में प्रकट होता है जो पार हो चुका है। क्रोध के वादे के रूप में चिड़चिड़ापन भी हमेशा एक पार हो चुका वादा होता है। इस प्रकार चरित्र को दूसरे की वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जैसा कि यह मेरी अंतर्ज्ञान के लिए सुलभ है, लेकिन इस हद तक भी कि इसे केवल पार किया जा सकता है। इस अर्थ में, "क्रोधित होना" क्रोध को स्वीकार करने मात्र से ही क्रोध को पार करना है; यह क्रोध को एक अर्थ देना है। इसलिए क्रोध स्वतंत्रता-वस्तु के माध्यम से क्रोध की पुनर्प्राप्ति के रूप में प्रकट होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम यहाँ किसी व्यक्तिपरकता की ओर इशारा कर रहे हैं, बल्कि केवल यह कि हम यहाँ न केवल दूसरे की वास्तविकता को, बल्कि उसकी श्रेष्ठता को भी पार करते हैं; उसके अस्तित्व (अर्थात, उसके अतीत) को नहीं, बल्कि उसके वर्तमान और भविष्य को। यद्यपि दूसरे का क्रोध मुझे हमेशा एक मुक्त क्रोध के रूप में दिखाई देता है (जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि मैं उस पर निर्णय देता हूँ), मैं हमेशा इसे पार कर सकता हूँ—अर्थात, इसे भड़का सकता हूँ या शांत कर सकता हूँ; इससे भी बेहतर यह है कि इसे पार करके और केवल इसे पार करके ही मैं इसे समझ पाता हूँ। अत: चूंकि शरीर उस पारलौकिक अवस्था की वास्तविकता है जिसे पार किया जा चुका है, इसलिए यह हमेशा वह शरीर होता है जो स्वयं से परे इंगित करता है; यह एक ही समय में अंतरिक्ष (यह स्थिति है) और समय (यह वस्तु के रूप में स्वतंत्रता है) में विद्यमान होता है। दूसरों के लिए शरीर सर्वोत्कृष्ट जादुई वस्तु है। इस प्रकार दूसरे का शरीर हमेशा "शरीर से अधिक शरीर" होता है क्योंकि दूसरे को मुझे पूर्णतः और बिना किसी मध्यस्थ के उसकी वास्तविकता के निरंतर अतिक्रमण में दिया जाता है। लेकिन यह अतिक्रमण मुझे किसी व्यक्तिपरकता की ओर नहीं ले जाता; यह वस्तुनिष्ठ तथ्य है कि शरीर—चाहे वह जीव हो, चरित्र हो या उपकरण—मुझे कभी भी परिवेश के बिना प्रकट नहीं होता, और शरीर को इन परिवेशों के संदर्भ में ही निर्धारित किया जाना चाहिए। दूसरे के शरीर को उसकी वस्तुनिष्ठता के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे की वस्तुनिष्ठता उसका पारलौकिक अवस्था है जिसे पार किया जा चुका है। शरीर इस पारलौकिक अवस्था की वास्तविकता है। लेकिन दूसरे की शारीरिकता और वस्तुनिष्ठता पूरी तरह से अविभाज्य हैं।
III. शरीर का तीसरा तात्विक आयाम मैं अपने शरीर में विद्यमान हूँ: यह मेरे अस्तित्व का पहला आयाम है। मेरा शरीर दूसरे द्वारा उपयोग किया जाता है और जाना जाता है: यह इसका दूसरा आयाम

सकता)। अतः हमारे मानसिक शरीर की ज्ञात संरचनाएँ निरर्थक रूप से इसके निरंतर अलगाव को दर्शाती हैं। इस अलगाव को जीने के बजाय, हम इस मानसिक शरीर रूपी अर्ध-वस्तु की ओर जीवित वास्तविकता को पार करके और फिर इस पीड़ादायक अर्ध-वस्तु को उन अस्तित्व के स्वरूपों की ओर पार करके इसे निरर्थक रूप से निर्मित करते हैं जो सिद्धांततः मुझे दिए नहीं जा सकते और जो मात्र संकेतित हैं।
आइए, उदाहरण के तौर पर, "शारीरिक" पीड़ा के अपने वर्णन पर लौटें। हमने देखा है कि शारीरिक पीड़ा को "सहते हुए" चिंतन करने से यह एक बीमारी के रूप में परिभाषित हो जाती है। लेकिन हमें अपने वर्णन को बीच में ही रोकना पड़ा क्योंकि हमारे पास आगे बढ़ने के साधन नहीं थे। अब, हालांकि, हम इस बिंदु को आगे बढ़ा सकते हैं। जिस बीमारी से मैं पीड़ित हूँ, मैं उसे उसके आंतरिक स्वरूप में, यानी ठीक उसके दूसरों के लिए अस्तित्व में, लक्षित कर सकता हूँ। इस क्षण मैं इसे जानता हूँ; अर्थात्, मैं इसके उस आयाम में इसे लक्षित करता हूँ जो मेरी समझ से परे है, उस रूप में जो यह दूसरों की ओर उन्मुख करता है, और मेरा लक्ष्य उस ज्ञान से ओतप्रोत है जो भाषा ने मुझे दिया है; अर्थात्, मैं उन अवधारणाओं का उपयोग करता हूँ जो मुझे दूसरे से प्राप्त होती हैं, और जिन्हें मैं स्वयं किसी भी स्थिति में न तो बना सकता था और न ही अपने शरीर पर निर्देशित करने के बारे में सोच सकता था। दूसरे की अवधारणाओं के माध्यम से ही मैं अपने शरीर को जानता हूँ। लेकिन इसका तात्पर्य यह है कि चिंतन में भी मैं अपने शरीर पर दूसरे के दृष्टिकोण को अपनाता हूँ; मैं इसे इस प्रकार समझने का प्रयास करता हूँ मानो मैं इसके संबंध में दूसरा व्यक्ति हूँ। यह स्पष्ट है कि जिन श्रेणियों को मैं उस बीमारी पर लागू करता हूँ, वे उसे खालीपन से परिभाषित करती हैं; यानी, एक ऐसे आयाम में जो मेरी समझ से परे है। तो फिर अंतर्ज्ञान की बात क्यों करें? क्योंकि इन सबके बावजूद, पीड़ित शरीर एक केंद्रक के रूप में कार्य करता है, उन अलगावकारी साधनों के लिए पदार्थ के रूप में जो उससे परे हैं। शरीर ही वह बीमारी है जो मुझसे उन नई विशेषताओं की ओर पलायन करती है जिन्हें मैं सीमाओं और संगठन की खाली योजनाओं के रूप में स्थापित करता हूँ। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, मेरी मानसिक रूप से पीड़ित बीमारी मुझे चिंतनशील रूप से मेरे पेट में दर्द के रूप में दिखाई देगी। आइए, यह समझें कि "पेट में दर्द" स्वयं पेट का दर्द है जिसे पीड़ादायक रूप से अनुभव किया गया है। इस प्रकार, अलगावकारी, संज्ञानात्मक स्तर के हस्तक्षेप से पहले, दर्द न तो एक स्थानीय संकेत है और न ही पहचान। गैस्ट्रालजिया चेतना के समक्ष दर्द के शुद्ध गुण के रूप में उपस्थित पेट है। जैसा कि हमने देखा है, बीमारी अपने आप में अन्य सभी दर्दों और किसी भी अन्य बीमारी से अलग है—और स्वयं बिना किसी बौद्धिक पहचान या भेदभाव की प्रक्रिया के। हालाँकि, इस स्तर पर, "पेट" एक अवर्णनीय है; इसका न तो नामकरण किया जा सकता है और न ही इस पर विचार किया जा सकता है। यह केवल शरीर-अस्तित्व के आधार पर निर्मित एक पीड़ादायक आकृति है। वस्तुनिष्ठ अनुभवजन्य ज्ञान, जो वर्तमान में पेट की पीड़ा से परे है, पेट के एक निश्चित वस्तुनिष्ठ स्वरूप का ज्ञान है। मैं जानता हूँ कि इसका आकार

विनाशकारी रूप फैलता है। इस प्रकार, क्षतिग्रस्त पेट आंत्र पीड़ा के माध्यम से उस पदार्थ के रूप में मौजूद है जिससे यह आंत्र पीड़ा उत्पन्न होती है। पेट वहाँ है; यह अंतर्ज्ञान में मौजूद है और मैं इसे इसकी विशेषताओं के साथ पीड़ा के माध्यम से समझता हूँ। मैं इसे कुतरने जैसी किसी चीज के रूप में समझता हूँ, जैसे "बैगपाइप के आकार का थैला" आदि। मैं इसे देख तो नहीं पाता, पर यह जानता हूँ कि यह मेरा दर्द है। इसीलिए इस घटना को गलत तरीके से "एंडोस्कोपी" कहा जाता है। वास्तव में, दर्द मुझे मेरे पेट के बारे में कुछ नहीं बताता—सोलियर के दावे के विपरीत। लेकिन दर्द के माध्यम से, मेरा व्यावहारिक ज्ञान दूसरों के लिए एक पेट का निर्माण करता है, जो मुझे एक ठोस और निश्चित अनुपस्थिति के रूप में दिखाई देता है, जिसमें ठीक वही वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ हैं जिन्हें मैं इसमें जान पाया हूँ। लेकिन सिद्धांत रूप में, इस प्रकार परिभाषित वस्तु मेरे दर्द के अलगाव का ध्रुव है; सिद्धांत रूप में, यह वह है जो मैं हूँ, बिना उसे होने के और बिना उसे किसी और चीज की ओर पार करने में सक्षम हुए। इस प्रकार, जिस प्रकार दूसरों के लिए अस्तित्व मेरी वास्तविकता (जो कि गैर-धार्मिक रूप से जी जाती है) को व्याकुल करता है, उसी प्रकार दूसरों के लिए एक वस्तु होने का भाव—मेरे मानसिक शरीर से पलायन के एक आयाम के रूप में—सहायक प्रतिबिंब के लिए अर्ध-वस्तु के रूप में गठित वास्तविकता को व्याकुल करता है। उसी प्रकार, शुद्ध घृणा को अलगाव के आयाम की ओर ले जाया जा सकता है; तब यह मुझे दूसरों के लिए मेरे शरीर को उसके "आकार," उसके "भाव," उसकी शारीरिक बनावट में प्रस्तुत करेगी; तब यह मेरे चेहरे के प्रति घृणा, मेरे अत्यधिक सफेद मांस के प्रति घृणा, मेरे अत्यधिक गंभीर भाव आदि के प्रति घृणा के रूप में प्रस्तुत की जाएगी। परन्तु हमें शब्दों को उलटना होगा। मुझे इन सब से घृणा नहीं है। घृणा यह सब कुछ है जो गैर-धार्मिक रूप से विद्यमान है। मेरा ज्ञान मेरी घृणा को उस ओर विस्तारित करता है जो यह दूसरों के लिए है। क्योंकि यह दूसरा ही है जो मेरी घृणा को समझता है, ठीक मांस के रूप में और सभी मांस के घृणास्पद चरित्र के साथ।
इन अवलोकनों से मेरे शरीर की उपस्थिति का वर्णन समाप्त नहीं होता। अब एक असामान्य प्रकार की उपस्थिति का वर्णन करना बाकी है। वास्तव में, मैं अपने हाथों को देख सकता हूँ, अपनी पीठ को छू सकता हूँ, अपने पसीने की गंध को महसूस कर सकता हूँ। इस स्थिति में, उदाहरण के लिए, मेरा हाथ मुझे अन्य वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में दिखाई देता है। यह अब परिवेश द्वारा संदर्भ के केंद्र के रूप में इंगित नहीं किया जाता। यह परिवेश के साथ संगठित है, और जैसे यह मेरे शरीर को संदर्भ के केंद्र के रूप में इंगित करता है, वैसे ही यह भी परिवेश का एक हिस्सा है। यह दुनिया का एक हिस्सा है। इसी तरह, मेरा हाथ अब वह उपकरण नहीं है जिसे मैं अन्य उपकरणों के साथ उपयोग नहीं कर सकता; बल्कि, यह उन बर्तनों का एक हिस्सा है जिन्हें मैं दुनिया के बीच पाता हूँ; मैं इसे अपने दूसरे हाथ की सहायता से उपयोग कर सकता हूँ—उदाहरण के लिए, जब मैं बादाम या अखरोट को अपनी बाईं मुट्ठी में पकड़ता हूँ और फिर उसे अपने दाहिने हाथ से कूटता हूँ। मेरा हाथ तब उपयोग

किए जाने वाले बर्तनों की अनंत प्रणाली में एकीकृत हो जाता है। इस नए प्रकार की उपस्थिति में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें विचलित करे या हमें पिछले कथनों से पीछे हटने पर मजबूर करे। फिर भी, इस प्रकार की उपस्थिति का उल्लेख करना आवश्यक है। इसे आसानी से समझाया जा सकता है, बशर्ते हम इसे शरीर की उपस्थिति के क्रम में उसके उचित स्थान पर रखें; अर्थात्, बशर्ते हम इसकी जाँच अंत में और अपनी संरचना की एक "जिज्ञासा" के रूप में करें। मेरे हाथ की यह उपस्थिति केवल इतना दर्शाती है कि कुछ निश्चित परिस्थितियों में हम अपने शरीर के संबंध में दूसरे के दृष्टिकोण को अपना सकते हैं, या दूसरे शब्दों में कहें तो, हमारा अपना शरीर हमें दूसरे के शरीर के रूप में दिखाई दे सकता है। जिन विद्वानों ने इस उपस्थिति को शरीर के एक सामान्य सिद्धांत का आधार बनाया है, उन्होंने समस्या की शर्तों को पूरी तरह से उलट दिया है और यह प्रदर्शित किया है कि वे इस प्रश्न के बारे में कुछ भी नहीं समझते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि अपने शरीर को देखने की यह संभावना एक विशुद्ध तथ्यात्मक तथ्य है, जो पूर्णतः आकस्मिक है। इसे न तो स्वयं के लिए शरीर "होने" की आवश्यकता से और न ही दूसरों के लिए शरीर की तथ्यात्मक संरचनाओं से निकाला जा सकता है। कोई आसानी से ऐसे शरीरों की कल्पना कर सकता है जो स्वयं पर कोई दृष्टिकोण नहीं रख सकते; ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कीटों के मामले में भी यही स्थिति है, जिनमें भले ही एक विभेदित तंत्रिका तंत्र और संवेदी अंग मौजूद हों, फिर भी वे एक-दूसरे को जानने के लिए इस तंत्र और इन अंगों का उपयोग नहीं कर सकते। अतः हम संरचना की एक ऐसी विशिष्टता की बात कर रहे हैं जिसका उल्लेख हमें निष्कर्ष निकालने का प्रयास किए बिना ही करना होगा। हाथ होना, और ऐसे हाथ होना जो एक-दूसरे को स्पर्श कर सकें—ये दो तथ्य एक ही स्तर पर घटित होते हैं और इस प्रकार विशुद्ध शारीरिक रचना संबंधी वर्णन या तत्वमीमांसा के अंतर्गत आते हैं। हम इन्हें शारीरिकता के अध्ययन का आधार नहीं मान सकते।
हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शरीर का यह प्रकटीकरण हमें शरीर को उसके क्रियाशील और प्रत्यक्ष स्वरूप में नहीं दिखाता, बल्कि केवल उस स्वरूप में दिखाता है जिस स्वरूप उस पर क्रिया की जाती है और जिसे प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है। संक्षेप में, जैसा कि हमने इस अध्याय की शुरुआत में कहा था, ऐसी दृश्य इंद्रियों की प्रणाली की कल्पना करना संभव है जो एक आँख को दूसरी आँख को देखने की अनुमति दे। लेकिन देखी जाने वाली आँख को एक वस्तु के रूप में देखा जाएगा, न कि संदर्भ के एक अस्तित्व के रूप में। इसी प्रकार, जिस हाथ को मैं दूसरे हाथ से पकड़ता हूँ, उसे पकड़ने वाले हाथ के रूप में नहीं, बल्कि एक प्रत्यक्ष वस्तु के रूप में समझा जाता है। इस प्रकार, हमारे शरीर का स्वरूप हमारे लिए पूरी तरह से अस्पष्ट हो जाता है, उस हद तक जिस हद तक हम इसे दूसरे के दृष्टिकोण से देख सकते हैं। इसके अलावा, यह ध्यान रखना चाहिए कि भले ही इंद्रियों की व्यवस्था हमें शरीर को उस रूप में देखने की अनुमति देती है जैसा वह दूसरे को दिखाई देता है, शरीर का एक साधन-वस्तु के रूप में यह प्रकटीकरण बच्चे में बहुत बाद में होता है; यह किसी भी मामले में शरीर की उचित चेतना और संसार की एक जटिल इकाई के रूप में चेतना से बाद

में होता है; यह दूसरे के शरीर की अनुभूति से बाद में होता है। बच्चा अपना हाथ उठाना और उसे देखना सीखने से पहले ही बहुत समय से किसी चीज को पकड़ना, अपनी ओर खींचना, दूर धकेलना और थामे रखना जानता है। बार-बार किए गए अवलोकन से पता चला है कि दो महीने का बच्चा अपने हाथ को अपना हाथ नहीं समझता। वह उसे देखता है, और यदि वह उसकी दृष्टि सीमा से बाहर हो, तो वह अपना सिर घुमाकर अपनी आँखों से अपने हाथ को खोजता है, मानो हाथ को वापस अपनी दृष्टि में लाना उसकी ज़िम्मेदारी न हो। मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की एक श्रृंखला और पहचान एवं मान्यता के संश्लेषण के माध्यम से ही बच्चा वास्तविक शरीर और देखे गए शरीर के बीच संदर्भ स्थापित करने में सफल होता है। यह आवश्यक है कि बच्चा सीखने की प्रक्रिया दूसरे के शरीर से शुरू करे। इस प्रकार, मेरे शरीर की धारणा को दूसरे के शरीर की धारणा के बाद कालानुक्रमिक रूप से रखा जाता है।
अपने उचित स्थान, समय और मूल परिस्थिति में विचार करने पर, शरीर की यह उपस्थिति नई समस्याओं को जन्म देने में सक्षम प्रतीत नहीं होती। शरीर वह साधन है जो मैं हूँ। यह मेरे "संसार के मध्य में" होने की वास्तविकता है, जहाँ तक मैं इस वास्तविकता से परे जाकर संसार में अपने अस्तित्व की ओर अग्रसर होता हूँ। मेरे लिए इस वास्तविकता का व्यापक दृष्टिकोण अपनाना सर्वथा असंभव है, क्योंकि तब मैं इसका अस्तित्व ही खो दूँगा। लेकिन यह इतना आश्चर्यजनक क्यों है कि मेरे शरीर की कुछ संरचनाएँ, संसार की वस्तुओं के लिए संदर्भ केंद्र बने रहने के साथ-साथ, अन्य वस्तुओं की तुलना में एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण से इस प्रकार व्यवस्थित होती हैं कि वस्तुओं के साथ-साथ वे मेरे किसी एक इंद्रिय अंग की ओर आंशिक संदर्भ केंद्र के रूप में इंगित करती हैं, जो शरीर को आधार मानकर एक आकृति के रूप में उभरता है? मेरी आँख का स्वयं को देखना स्वभावतः असंभव है। लेकिन यह आश्चर्यजनक क्यों है कि मेरा हाथ मेरी आँखों को स्पर्श करता है? यदि यह हमें आश्चर्यजनक लगता है, तो इसका कारण यह है कि हमने स्वयं के अस्तित्व की आवश्यकता को विश्व के प्रति एक ठोस दृष्टिकोण के रूप में समझा है, मानो यह एक आदर्श दायित्व हो जिसे वस्तुओं के बीच ज्ञात संबंधों और मेरे अर्जित ज्ञान के विकास के सरल नियमों तक सीमित किया जा सकता है। लेकिन इसके बजाय हमें यहाँ विश्व के बीच एक ठोस और आकस्मिक अस्तित्व की आवश्यकता को देखना चाहिए।
1 “Creux toujours futur.” यहाँ एक सांचे को भरने का संकेत है, लेकिन निश्चित रूप से, एक निर्धारित भविष्य का कोई विचार नहीं है। Tr.
2 इंडिक्की एन क्रेक्स; शाब्दिक रूप से, "एक खोखले (या साँचे) में दर्शाया गया है।" ट्र.
3 बैचलार्ड, ल'एउ एट लेस रेव्स, 1942। संस्करण जोस कॉर्टी।
इस अंश में पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि सार्त्र ने 'माल' शब्द का प्रयोग किया है, जो किसी विशिष्ट बीमारी या सामान्य रूप से बुराई दोनों को संदर्भित कर सकता है। उनकी चर्चा में दोनों विचार शामिल हैं।
5 यदि सार्त्र का इरादा feuillage और feuille शब्दों पर व्यंग्य करने का नहीं था, तो मैं “foliage” और “folio” के साथ अपने कमजोर प्रयास के लिए क्षमा चाहता हूँ। Tr.
फ़्रेंच में, timidité, जिसमें कायरता का भाव भी निहित है।

□□ □□□ □□□ □□ □□□□ □□□□ □□ □□□□□□□ □□□ □□□ □□□□□□□ □□□ □□□□□ □□ □□□□□ □□ □□□ □□□—□□□□, □□□□□□ □□ □□□□ “□□□□” □□□□□□□ □□□□□□□ □□ □□□□ □□ □□□□□□□□ □□□□ □□, “□□□□□□” □□□□ □□□□□□ □□□□□□ □□□□□□ □□, □□ “□□□” □□ □□□□□□□ □□, □□□□□□ □□□□ □□ □□□□□□ □□ □□□-□□□ □□ □□□□□ □□ □□□□ □□ □□□□□ □□, □□ □□□□□ □□□□□ □□ □□□□□□ □□□□□□□□ □□□□□□ □□□□ □□ □□□□ □□□ □□□□□□□□□ □□□□ □□□ douleur, mal, □□ maladie□

अध्याय तीन

दूसरों के साथ ठोस संबंध अब तक हमने केवल दूसरे के साथ अपने मूलभूत संबंध का वर्णन किया है। इस संबंध ने हमें अपने शरीर के अस्तित्व के तीन आयामों को स्पष्ट करने में सक्षम बनाया है। और चूंकि दूसरे के साथ मूल बंधन सबसे पहले मेरे शरीर और दूसरे के शरीर के बीच संबंध से उत्पन्न होता है, इसलिए हमें यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि मेरे अस्तित्व और दूसरे के अस्तित्व के विशिष्ट संबंधों के किसी भी अध्ययन के लिए शरीर की प्रकृति का ज्ञान अपरिहार्य है। ये विशिष्ट संबंध, वास्तव में, दोनों पक्षों पर वास्तविकता को पूर्वकल्पित करते हैं; अर्थात्, दुनिया के बीच शरीर के रूप में हमारा अस्तित्व। ऐसा नहीं है कि शरीर दूसरों के साथ मेरे संबंधों का साधन और कारण है। बल्कि शरीर उनके अर्थ का निर्माण करता है और उनकी सीमाओं को निर्धारित करता है। शरीर-स्थिति के रूप में ही मैं दूसरे की पारलौकिक-पारलौकिक अवस्था को समझता हूँ, और शरीर-स्थिति के रूप में ही मैं दूसरे के लाभ के लिए अपने अलगाव में स्वयं का अनुभव करता हूँ। अब हम इन ठोस संबंधों की जांच कर सकते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि शरीर क्या है। ये मूलभूत संबंध के सरल विनिर्देश नहीं हैं। यद्यपि इनमें से प्रत्येक में दूसरे के साथ मूल संबंध ही इसकी मूलभूत संरचना और आधार है, फिर भी ये स्व-अस्तित्व के लिए पूर्णतः नए प्रकार हैं। वास्तव में, ये एक ऐसे संसार में स्व-अस्तित्व की विभिन्न मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जहाँ दूसरे भी उपस्थित हैं। अतः प्रत्येक संबंध अपने तरीके से द्विपक्षीय संबंध प्रस्तुत करता है: स्व-अस्तित्व-दूसरों के लिए, और स्व में। यदि हम संसार में उपस्थित दूसरे के साथ अपने सबसे आदिम संबंधों की संरचनाओं को स्पष्ट करने में सफल हो जाते हैं, तो हम अपना कार्य पूर्ण कर लेंगे। इस कार्य की शुरुआत में हमने पूछा था, “स्व-अस्तित्व का स्व में से क्या संबंध है?” अब हमें पता चला है कि हमारा कार्य अधिक जटिल है। दूसरे की उपस्थिति में स्व-अस्तित्व का स्व में से संबंध होता है। जब हम इस ठोस तथ्य का वर्णन कर लेंगे, तब हम अस्तित्व के तीनों रूपों के मूलभूत संबंधों के बारे में निष्कर्ष निकालने की स्थिति में होंगे, और संभवतः हम सामान्य रूप से अस्तित्व के एक आध्यात्मिक सिद्धांत का प्रयास करने में सक्षम होंगे।
स्वयं के लिए अस्तित्व, स्वयं में निहित अस्तित्व के विनाश के रूप में, स्वयं को एक पलायन के रूप में कालिक बना लेता है। वास्तव में, यह अपनी वास्तविकता (अर्थात, दिया गया, अतीत या शरीर होना) को उस स्वयं में निहित अस्तित्व की ओर पार कर जाता है जो यह तब होता जब यह स्वयं अपना आधार बनने में सक्षम होता। इसे मनोवैज्ञानिक शब्दों में—और इसलिए शायद अधिक स्पष्ट होते हुए भी, सटीक रूप से नहीं—इस प्रकार अनुवादित किया जा सकता है कि स्वयं के लिए अस्तित्व अपने तथ्यात्मक अस्तित्व (अर्थात, वहाँ होना, एक स्वयं में निहित अस्तित्व जिसके लिए यह किसी भी प्रकार से आधार नहीं है) से बचने का प्रयास करता है और यह पलायन एक असंभव भविष्य की ओर होता है

इससे भी बेहतर, उनमें से प्रत्येक दूसरे में समाहित है और दूसरे की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार हम कभी भी इस चक्र से बाहर नहीं निकल सकते। दूसरे के प्रति इन मूलभूत दृष्टिकोणों के अध्ययन की ओर बढ़ते हुए हमें इन तथ्यों को नहीं भूलना चाहिए। चूंकि ये दृष्टिकोण एक चक्र में उत्पन्न और नष्ट होते हैं, इसलिए एक से शुरू करना उतना ही मनमाना है जितना दूसरे से। फिर भी, चूंकि चुनाव करना आवश्यक है, इसलिए हम पहले उस आचरण पर विचार करेंगे जिसमें स्वयं-केंद्रित दृष्टिकोण दूसरे की स्वतंत्रता को आत्मसात करने का प्रयास करता है।
I. दूसरों के प्रति पहला दृष्टिकोण: प्रेम, भाषा, आत्म-पीड़ा दूसरे के साथ मेरे संबंधों के बारे में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह उस पर भी लागू होता है। जब मैं दूसरे के बंधन से खुद को मुक्त करने का प्रयास करता हूँ, तो दूसरा भी मेरे बंधन से खुद को मुक्त करने का प्रयास करता है; जब मैं दूसरे को गुलाम बनाने की कोशिश करता हूँ, तो दूसरा भी मुझे गुलाम बनाने की कोशिश करता है। हम किसी एकतरफा संबंध की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि पारस्परिक और गतिशील संबंधों की बात कर रहे हैं। इसलिए, ठोस व्यवहार के निम्नलिखित विवरणों को संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहिए। संघर्ष ही दूसरों के लिए अस्तित्व का मूल अर्थ है।
यदि हम दूसरे के पहले प्रकटीकरण से शुरुआत करें, जो एक दृष्टि के रूप में है, तो हमें यह समझना होगा कि हम दूसरों के लिए अपने अगोचर अस्तित्व को एक अधिकार के रूप में अनुभव करते हैं। मैं दूसरे के अधिकार में हूँ; दूसरे की दृष्टि मेरे शरीर को उसकी नग्नता में आकार देती है, उसे जन्म देती है, उसे गढ़ती है, उसे जैसा है वैसा ही उत्पन्न करती है, उसे उस रूप में देखती है जैसा मैं कभी नहीं देख पाऊँगा। दूसरे के पास एक रहस्य है—मेरे अस्तित्व का रहस्य। वह मुझे अस्तित्व में लाता है और इस प्रकार वह मुझ पर अधिकार जमाता है, और यह अधिकार मेरे अधिकार की चेतना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अपनी वस्तु-अवस्था की पहचान में मुझे इस बात का प्रमाण मिलता है कि उसके पास यह चेतना है। चेतना के बल पर, दूसरा मेरे लिए एक ही समय में वह है जिसने मेरा अस्तित्व मुझसे छीन लिया है और वह भी जो एक ऐसे अस्तित्व को "अस्तित्व में लाता है" जो मेरा अस्तित्व है। इस प्रकार मुझे इस सत्तात्मक संरचना की समझ है: मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व के लिए उत्तरदायी हूँ, लेकिन मैं इसका आधार नहीं हूँ। इसलिए यह मुझे एक आकस्मिक तथ्य के रूप में दिखाई देता है जिसके लिए मैं फिर भी उत्तरदायी हूँ; दूसरे का अस्तित्व मेरे अस्तित्व का आधार है, जहाँ तक यह अस्तित्व "वहाँ है" के रूप में है। परन्तु वह मेरे अस्तित्व के लिए उत्तरदायी नहीं है, यद्यपि वह पूर्ण स्वतंत्रता में—अपनी मुक्त पारलौकिकता के माध्यम से—इसका आधार है। इस प्रकार, जिस हद तक मैं स्वयं को अपने अस्तित्व के लिए उत्तरदायी मानता हूँ, मैं उस अस्तित्व पर अपना दावा करता हूँ जो मैं हूँ; अर्थात्, मैं इसे पुनः प्राप्त करना चाहता हूँ, या अधिक सटीक रूप से, मैं अपने अस्तित्व की पुनः प्राप्ति की परियोजना हूँ। मैं अपना हाथ बढ़ाकर उस अस्तित्व को थामना चाहता हूँ जो मुझे मेरे अस्तित्व के रूप में, परन्तु एक दूरी पर—टैंटलस

में दिया जाना चाहता है जिसे स्वतंत्रता को स्वतंत्र होने के लिए स्वीकार करना होगा। इसी तथ्य से वह दूसरे की स्वतंत्रता को सीमित करने, उसे अपने आप से बांधने की मांग करता है; संरचना की यह सीमा वास्तव में एक निश्चित तथ्य है, और स्वतंत्रता की सीमा के रूप में इस निश्चित तथ्य का प्रकट होना ही यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता स्वयं को इस निश्चित तथ्य के भीतर विद्यमान बनाती है, क्योंकि यह स्वयं ही इसे पार करने से रोकती है। प्रेमी इस निषेध को एक साथ अनुभव किए गए अनुभव (अर्थात्, एक वास्तविकता) और स्वेच्छा से स्वीकार किए गए अनुभव के रूप में देखता है। इसे स्वेच्छा से स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि यह केवल उस स्वतंत्रता के उभार से ही संभव है जो स्वयं को स्वतंत्रता के रूप में चुनती है। लेकिन यह केवल अनुभव किया गया तथ्य ही हो सकता है क्योंकि यह एक ऐसी असंभवता है जो हमेशा मौजूद रहती है, एक ऐसी वास्तविकता जो दूसरे की स्वतंत्रता के मूल में वापस लौट आती है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह इस मांग से व्यक्त होता है कि मुझे प्रेम करने का वह स्वतंत्र निर्णय, जो प्रिय ने पहले लिया था, उसके वर्तमान स्वतंत्र जुड़ाव में एक जादुई रूप से निर्णायक प्रेरणा के रूप में समाहित हो जाए। अब हम इस मांग का अर्थ समझ सकते हैं: प्रेम पाने की मेरी मांग में दूसरे के लिए जो वास्तविकता एक तथ्यात्मक सीमा है और जो उसकी स्वयं की वास्तविकता में परिणत होती है—वही मेरी वास्तविकता है। चूंकि मैं वह वस्तु हूं जिसे दूसरा अस्तित्व में लाता है, इसलिए मैं उसकी परम श्रेष्ठता की अंतर्निहित सीमा हूं। इस प्रकार, दूसरे द्वारा अपने उद्भव से मुझे अतुलनीय और निरपेक्ष बनाया जाता है, एक शून्यतावादी स्व-स्वयं के रूप में नहीं, बल्कि संसार के मध्य में दूसरों के लिए अस्तित्व के रूप में। अतः प्रेम पाने की इच्छा दूसरे को अपनी वास्तविकता से संक्रमित करना है; यह उसे आपको निरंतर एक ऐसी स्वतंत्रता की स्थिति के रूप में पुन: सृजित करने के लिए विवश करना है जो स्वयं को समर्पित करती है और संलग्न होती है; यह स्वतंत्रता को वास्तविकता में बदलने और वास्तविकता को स्वतंत्रता पर प्रधानता देने की इच्छा है। यदि यह लक्ष्य प्राप्त हो जाए, तो सर्वप्रथम परिणाम यह होगा कि मैं दूसरे की चेतना में सुरक्षित हो जाऊंगा। सबसे पहले तो मेरी बेचैनी और शर्म का मूल कारण यह है कि मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व में स्वयं को उस रूप में देखता और अनुभव करता हूँ जिसे हमेशा किसी और चीज़ से आगे बढ़ाया जा सकता है, जो मूल्य निर्णय का शुद्ध विषय है, एक शुद्ध साधन है, एक शुद्ध उपकरण है। मेरी बेचैनी इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि मैं अनिवार्य रूप से और स्वेच्छा से उस अस्तित्व को अपना लेता हूँ जो दूसरा मुझे पूर्ण स्वतंत्रता में देता है। “ईश्वर जानता है कि मैं उसके लिए क्या हूँ! ईश्वर जानता है कि वह मेरे बारे में क्या सोचता है!” इसका अर्थ है “ईश्वर जानता है कि वह मुझे क्या बनाता है।” मैं उस अस्तित्व से भयभीत हूँ जिससे मुझे डर लगता है कि किसी दिन जीवन के मोड़ पर मेरा सामना होगा, वह अस्तित्व जो मेरे लिए इतना अजनबी है और फिर भी मेरा ही अस्तित्व है और मैं जानता हूँ कि अपने सभी प्रयासों के बावजूद मैं उससे कभी नहीं मिल पाऊँगा। लेकिन यदि दूसरा मुझसे प्रेम करता है तो मैं अतुलनीय हो जाता हूँ, जिसका अर्थ है कि मैं परम

मैं सभी संभावनाओं का स्वामी हूँ। मैं संसार की सभी मृत संभावनाएँ हूँ; इसलिए मैं वह अस्तित्व नहीं रह जाता जिसे अन्य प्राणियों या उनके कार्यों के दृष्टिकोण से समझा जाता है। उस प्रेमपूर्ण अंतर्ज्ञान में जिसकी मैं अपेक्षा करता हूँ, मुझे एक पूर्ण समग्रता के रूप में दिया जाना है जिसके संदर्भ में इसके सभी विशिष्ट कार्यों और सभी प्राणियों को समझा जाना है। स्टोइक दर्शन के एक प्रसिद्ध कथन को थोड़ा संशोधित करते हुए कहा जा सकता है कि "प्रेमी तीन तरीकों से असफल हो सकता है।" ऋषि का आदर्श और प्रेम पाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति का आदर्श वास्तव में इस मायने में मेल खाते हैं कि दोनों ही एक समग्र वस्तु बनना चाहते हैं, जो एक ऐसी वैश्विक अंतर्ज्ञान के लिए सुलभ हो जो प्रेमिका या ऋषि के संसार में किए गए कार्यों को आंशिक संरचनाओं के रूप में समझे और उनकी व्याख्या समग्रता के संदर्भ में करे। जिस प्रकार ज्ञान को पूर्ण रूपांतरण द्वारा प्राप्त की जाने वाली अवस्था के रूप में प्रस्तावित किया गया है, उसी प्रकार दूसरे की स्वतंत्रता का पूर्ण रूपांतरण होना आवश्यक है ताकि मैं प्रेम पाने की अवस्था को प्राप्त कर सकूँ।
इस बिंदु तक हमारा वर्णन हेगेल के स्वामी-दास संबंध के प्रसिद्ध वर्णन से मेल खाता है। हेगेल के अनुसार स्वामी दास के लिए जो भूमिका निभाता है, प्रेमी प्रेमिका के लिए वही भूमिका निभाना चाहता है। लेकिन यह समानता यहीं समाप्त हो जाती है, क्योंकि हेगेल के अनुसार स्वामी दास की स्वतंत्रता की मांग केवल अप्रत्यक्ष रूप से और एक तरह से कहें तो परोक्ष रूप से करता है, जबकि प्रेमी प्रेमिका की स्वतंत्रता को सर्वोपरि चाहता है। इस अर्थ में, यदि मुझे दूसरे द्वारा प्रेम किया जाना है, तो इसका अर्थ है कि मुझे प्रेमिका के रूप में स्वतंत्र रूप से चुना जाना है। जैसा कि हम जानते हैं, प्रेम की वर्तमान शब्दावली में, प्रेमिका को अक्सर चुना हुआ कहा जाता है। लेकिन यह चुनाव सापेक्ष और आकस्मिक नहीं होना चाहिए। प्रेमी चिढ़ जाता है और खुद को तुच्छ महसूस करता है जब वह सोचता है कि प्रेमिका ने उसे दूसरों में से चुना है। "तो अगर मैं किसी शहर में नहीं आया होता, अगर मैं फलां व्यक्ति के घर नहीं गया होता, तो तुम मुझे कभी नहीं जानतीं, तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं?" यह विचार प्रेमी को दुखी करता है; उसका प्रेम अन्य प्रेमों में से एक बन जाता है और प्रेमिका की वास्तविकता, स्वयं की वास्तविकता और मुलाकातों की आकस्मिकता से सीमित हो जाता है। यह संसार में प्रेम बन जाता है, एक ऐसी वस्तु जो संसार को पूर्वकल्पित करती है और जो बदले में दूसरों के लिए विद्यमान हो सकती है। वह जो मांग रहा है उसे वह "भाग्यवाद" के अटपटे और विकृत वाक्यांशों से व्यक्त करता है। वह कहता है, "हम एक-दूसरे के लिए बने हैं," या फिर वह "आत्मीय साथी" अभिव्यक्ति का प्रयोग करता है। लेकिन हमें इन सबका अनुवाद करना होगा। प्रेमी भली-भांति जानता है कि "एक-दूसरे के लिए बने होना" एक मौलिक चुनाव को संदर्भित करता है। यह चुनाव ईश्वर का हो सकता है, क्योंकि वह परम चुनाव का स्वरूप है, लेकिन यहाँ ईश्वर केवल परम सत्ता की मांग की अधिकतम संभव सीमा का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में प्रेमी की मांग यह है कि प्रेमिका उसे

अस्तित्व की परिपूर्णता के समक्ष उसे शून्यता के रूप में स्वीकार करवाना होगा।
कुछ लोग कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति के ये विभिन्न प्रयास भाषा की पूर्वधारणा रखते हैं। हम इससे असहमत नहीं हैं। बल्कि हम कहेंगे कि ये स्वयं भाषा हैं, या आप चाहें तो भाषा का एक मूलभूत रूप हैं। क्योंकि यद्यपि किसी विशेष भाषा के अस्तित्व, अधिगम और उपयोग से संबंधित मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक समस्याएं मौजूद हैं, भाषा की खोज या आविष्कार से संबंधित कोई विशेष समस्या नहीं है। भाषा किसी अन्य के लिए अस्तित्व में जोड़ा गया कोई अतिरिक्त तत्व नहीं है। यह मूल रूप से ही अन्य के लिए अस्तित्व है; अर्थात्, यह वह तथ्य है कि एक व्यक्तिपरक स्वयं को दूसरे के लिए एक वस्तु के रूप में अनुभव करता है। विशुद्ध वस्तुओं के ब्रह्मांड में भाषा का किसी भी परिस्थिति में "आविष्कार" नहीं किया जा सकता था, क्योंकि यह किसी अन्य विषय के साथ एक मूल संबंध की पूर्वधारणा रखता है। अन्य के लिए अंतर-व्यक्तिपरकता में, भाषा का आविष्कार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह दूसरे की पहचान में पहले से ही निहित है। मैं ही भाषा हूँ। केवल इस तथ्य से कि मैं जो कुछ भी करता हूँ, मेरे स्वतंत्र रूप से सोचे और निष्पादित किए गए कार्य, मेरी संभावनाओं की ओर शुरू की गई मेरी परियोजनाएं, उनके बाहर एक ऐसा अर्थ रखती हैं जो मुझसे परे है और जिसे मैं अनुभव करता हूँ। इसी अर्थ में— और केवल इसी अर्थ में—हेइडेगर का यह कथन सही है कि मैं वही हूँ जो मैं कहता हूँ। भाषा न तो मानव अस्तित्व की सहज प्रवृत्ति है, न ही हमारी आत्मनिष्ठा का आविष्कार। लेकिन इसे डैसीन के शुद्ध "स्व-बाह्य अस्तित्व" से संदर्भित करने की भी आवश्यकता नहीं है। यह मानवीय स्थिति का एक हिस्सा है; यह मूल रूप से वह प्रमाण है जो एक स्व-अस्तित्व अपने दूसरों के लिए अस्तित्व का दे सकता है, और अंततः यह इस प्रमाण से आगे बढ़कर इसका उपयोग उन संभावनाओं की ओर करता है जो मेरी संभावनाएं हैं; अर्थात्, दूसरे के लिए यह या वह होने की मेरी संभावनाओं की ओर। इसलिए भाषा दूसरे के अस्तित्व की पहचान से भिन्न नहीं है। दूसरे का उभार एक दृष्टि के रूप में मेरे सामने आता है और भाषा को मेरे अस्तित्व की स्थिति के रूप में जन्म देता है। यह आदिम भाषा आवश्यक रूप से प्रलोभन नहीं है; हम इसके अन्य रूप देखेंगे। इसके अलावा हमने देखा है कि दूसरे के सामने एक और आदिम दृष्टिकोण है और ये दोनों एक चक्र में एक दूसरे का अनुसरण करते हैं, प्रत्येक दूसरे का संकेत देता है। लेकिन इसके विपरीत, प्रलोभन किसी पूर्व-निर्मित भाषा की आवश्यकता नहीं मानता; यह भाषा की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ है कि प्रलोभन द्वारा भाषा को अभिव्यक्ति के एक आदिम रूप में पूर्णतः और एक ही झटके में प्रकट किया जा सकता है। बेशक, भाषा से हमारा तात्पर्य अभिव्यक्ति की सभी घटनाओं से है, न कि उच्चारित शब्द से, जो एक व्युत्पन्न और द्वितीयक रूप है, जिसका प्रकटीकरण ऐतिहासिक अध्ययन का विषय बन सकता है। विशेष रूप से प्रलोभन में, भाषा का उद्देश्य किसी को ज्ञात कराना नहीं, बल्कि अनुभव कराना होता है।

लेकिन एक आकर्षक भाषा खोजने के इस पहले प्रयास में मैं अंधाधुंध आगे बढ़ रहा हूँ, क्योंकि मैं केवल दूसरे के प्रति अपनी वस्तुनिष्ठ स्थिति के अमूर्त और खोखले रूप से ही निर्देशित हूँ। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि मेरे हाव-भाव और मनोवृत्ति का क्या प्रभाव होगा, क्योंकि वे हमेशा एक ऐसी स्वतंत्रता से प्रेरित और स्थापित होंगे जो उनसे परे है, और क्योंकि उनका अर्थ तभी हो सकता है जब यह स्वतंत्रता उन्हें अर्थ प्रदान करे। इस प्रकार, मेरी अभिव्यक्तियों का "अर्थ" हमेशा मुझसे दूर रहता है। मुझे कभी ठीक से पता नहीं चलता कि मैं वही संकेत दे रहा हूँ जो मैं देना चाहता हूँ, या यहाँ तक कि क्या मैं कुछ संकेत दे भी रहा हूँ। यह आवश्यक होगा कि ठीक उसी क्षण मैं दूसरे में वह पढ़ूँ जो सिद्धांत रूप से अकल्पनीय है। दूसरे के लिए मैं वास्तव में क्या व्यक्त करता हूँ, यह न जानने के कारण, मैं अपनी भाषा को अपने से बाहर एक अपूर्ण पलायन की घटना के रूप में निर्मित करता हूँ। जैसे ही मैं स्वयं को व्यक्त करता हूँ, मैं केवल अपने द्वारा व्यक्त की गई बात के अर्थ का अनुमान लगा सकता हूँ—अर्थात, मैं क्या हूँ—क्योंकि इस परिप्रेक्ष्य में व्यक्त करना और होना एक ही हैं। दूसरा हमेशा मौजूद रहता है, उपस्थित रहता है और उस रूप में अनुभव किया जाता है जो भाषा को उसका अर्थ देता है। प्रत्येक अभिव्यक्ति, प्रत्येक हावभाव, प्रत्येक शब्द मेरे लिए दूसरे की अलगावकारी वास्तविकता का ठोस प्रमाण है। केवल मनोरोगी ही कह सकता है, "किसी ने मेरे विचार चुरा लिए हैं"—उदाहरण के लिए, प्रभाव के मनोविकारों के मामलों में। अभिव्यक्ति का तथ्य ही विचार की चोरी है, क्योंकि विचार को एक वस्तु के रूप में स्थापित होने के लिए अलगावकारी स्वतंत्रता के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसीलिए भाषा का यह पहला पहलू— जहाँ तक मैं इसका प्रयोग दूसरे के लिए करता हूँ—पवित्र है। पवित्र वस्तु वह वस्तु है जो संसार में विद्यमान है और जो संसार से परे एक पारलौकिक अवस्था की ओर इशारा करती है। भाषा मुझे उस व्यक्ति की स्वतंत्रता (पारलौकिक अवस्था) का प्रकटीकरण करती है जो मौन में मेरी बात सुनता है। लेकिन साथ ही, मैं दूसरे के लिए एक अर्थपूर्ण वस्तु बनी रहती हूँ—वही जो मैं हमेशा से रही हूँ। ऐसा कोई मार्ग नहीं है जो मेरी वस्तु-अवस्था से विमुख होकर दूसरे को मेरे पारलौकिक स्वरूप तक ले जा सके। मनोवृत्ति, भाव-भंगिमाएँ और शब्द केवल उसे अन्य मनोवृत्ति, अन्य भाव-भंगिमाएँ और अन्य शब्द ही संकेत दे सकते हैं। इस प्रकार भाषा उसके लिए एक जादुई वस्तु का साधारण गुण बनी रहती है—और स्वयं उस जादुई वस्तु का। यह एक दूरस्थ क्रिया है जिसका प्रभाव दूसरा ठीक-ठीक जानता है। इस प्रकार शब्द पवित्र होता है जब मैं उसका प्रयोग करती हूँ और जादू होता है जब दूसरा उसे सुनता है। इस प्रकार मैं अपनी भाषा को उतना ही नहीं जानती जितना मैं दूसरे के लिए अपने शरीर को नहीं जानती। मैं स्वयं को बोलते हुए नहीं सुन सकती और न ही स्वयं को मुस्कुराते हुए देख सकती हूँ। भाषा की समस्या ठीक शरीर की समस्या के समानांतर है, और जो वर्णन एक मामले में मान्य है, वही दूसरे में भी मान्य है।

लेकिन आकर्षण, भले ही वह दूसरे के प्रति आकर्षण की भावना उत्पन्न कर दे, अपने आप में प्रेम उत्पन्न नहीं कर सकता। हम किसी वक्ता, अभिनेता या रस्सी पर चलने वाले कलाकार से आकर्षित हो सकते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उससे प्रेम करते हैं। यह सच है कि हम उससे अपनी दृष्टि नहीं हटा सकते, लेकिन वह फिर भी संसार की धरती पर ही है, और आकर्षण किसी आकर्षक वस्तु को पारलौकिकता का अंतिम बिंदु नहीं बना देता। बल्कि इसके विपरीत, आकर्षण ही पारलौकिकता है। तो फिर प्रियतम कब प्रेमी बन जाएगा?
उत्तर सरल है: जब प्रिय व्यक्ति प्रेम किए जाने की अनुभूति करता है। दूसरे व्यक्ति (वस्तु के रूप में) में स्वयं प्रेम उत्पन्न करने की पर्याप्त शक्ति नहीं होती। यदि प्रेम का आदर्श दूसरे व्यक्ति (वस्तु के रूप में) का अधिग्रहण है, तो यह आदर्श केवल दूसरे व्यक्ति (वस्तु के रूप में) के साथ मेरे अनुभव के संदर्भ में ही प्रकट हो सकता है, न कि दूसरे व्यक्ति (वस्तु के रूप में) के साथ। यदि दूसरा व्यक्ति अपनी वस्तु-स्थिति के माध्यम से मुझे लुभाने का प्रयास करता है, तो यह आकर्षण दूसरे व्यक्ति को केवल एक अनमोल वस्तु का चरित्र प्रदान कर सकता है जिसे "प्राप्त किया जाना है"। आकर्षण शायद मुझे दूसरे व्यक्ति (वस्तु के रूप में) को जीतने के लिए बहुत जोखिम उठाने के लिए प्रेरित करेगा, लेकिन दुनिया के बीच में किसी वस्तु को प्राप्त करने की इस इच्छा को प्रेम के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए, प्रिय व्यक्ति में प्रेम का जन्म केवल उसके अलगाव और दूसरे व्यक्ति की ओर पलायन के प्रमाण से ही हो सकता है। फिर भी, यदि ऐसा है, तो प्रिय व्यक्ति तभी प्रेमी में परिवर्तित होगा जब वह प्रेम किए जाने की अनुभूति करेगा; अर्थात्, यदि वह जिस पर विजय प्राप्त करना चाहता है वह शरीर नहीं बल्कि दूसरे व्यक्ति की स्वयं की व्यक्तिपरकता है। वास्तव में, इस प्राप्ति को साकार करने का एकमात्र तरीका जो उसे सूझता है, वह है स्वयं को प्रेम का पात्र बनाना। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम करना सारतः स्वयं को प्रेम का पात्र बनाने की ही परियोजना है। अतः यह नया विरोधाभास और नया संघर्ष उत्पन्न होता है: प्रत्येक प्रेमी दूसरे का पूर्णतः बंदी है, क्योंकि प्रत्येक केवल स्वयं को दूसरे से प्रेम करवाना चाहता है; परन्तु साथ ही, प्रत्येक दूसरे से ऐसे प्रेम की अपेक्षा करता है जिसे केवल "प्रेम-प्राप्ति की परियोजना" तक सीमित न किया जा सके। वास्तव में, वह यह अपेक्षा करता है कि दूसरा, स्वयं को प्रेम का पात्र बनाने की इच्छा रखे बिना ही, अपने प्रिय को अपनी स्वतंत्रता की वस्तुनिष्ठ सीमा, अपने पारलौकिक उत्थान का अपरिहार्य और चुना हुआ आधार, अस्तित्व की समग्रता और सर्वोच्च मूल्य के रूप में चिंतनशील और भावात्मक अंतर्ज्ञान प्राप्त करे। इस प्रकार दूसरे से प्राप्त प्रेम किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं कर सकता; यह प्रतिदान के बिना एक शुद्ध प्रतिबद्धता है। फिर भी, यह प्रेम प्रेमी की ओर से एक माँग के रूप में ही विद्यमान हो सकता है।
प्रेमी एक बिल्कुल अलग तरीके से बंदी बना लिया जाता है। वह अपनी ही माँग का बंदी है, क्योंकि प्रेम, प्रेम पाने की माँग है; वह एक ऐसी स्वतंत्रता है जो स्वयं को एक शरीर देती है और एक बाह्य अस्तित्व की माँग करती है, अतः एक

ऐसी स्वतंत्रता जो दूसरे की ओर पलायन का अनुकरण करती है, एक ऐसी स्वतंत्रता जो स्वतंत्रता के रूप में अपने अलगाव का दावा करती है। प्रेमी की स्वतंत्रता, दूसरे द्वारा प्रेम किए जाने की वस्तु बनने के अपने प्रयास में ही, दूसरों के लिए शरीर में समा जाने के कारण पराक्रमित हो जाती है; अर्थात्, यह दूसरे की ओर पलायन के आयाम के साथ अस्तित्व में आती है। यह स्वयं को शुद्ध आत्मत्व के रूप में स्थापित करने से निरंतर इनकार है, क्योंकि स्वयं को स्वयं के रूप में स्वीकार करने से दूसरे का एक दृष्टि के रूप में पतन और दूसरे का वस्तु के रूप में उदय होगा—अतः एक ऐसी स्थिति जिसमें प्रेम किए जाने की संभावना ही लुप्त हो जाती है क्योंकि दूसरा वस्तुनिष्ठता के आयाम तक सीमित हो जाता है। इसलिए यह इनकार स्वतंत्रता को दूसरे पर निर्भर बनाता है; और दूसरे की व्यक्तिपरकता वास्तव में स्वयं- स्वयं की स्वतंत्रता की एक ऐसी सीमा बन जाती है जिसे पार नहीं किया जा सकता, स्वयं-स्वयं का लक्ष्य और सर्वोच्च उद्देश्य बन जाती है क्योंकि दूसरा ही उसके अस्तित्व की कुंजी है। वास्तव में यहीं हमें प्रेम के उद्यम का सच्चा आदर्श मिलता है: पराक्रमित स्वतंत्रता। लेकिन जो व्यक्ति प्रेम पाना चाहता है, वह मात्र किसी के प्रेम की चाहत से ही अपनी स्वतंत्रता को पराक्रमित कर लेता है।
दूसरे की शुद्ध आत्मनिष्ठा की उपस्थिति में मेरी स्वतंत्रता छिन्न-भिन्न हो जाती है, जो मेरी वस्तुनिष्ठता का आधार है। दूसरे को वस्तु मानकर उसके समक्ष मेरी स्वतंत्रता छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती। वास्तव में, इस रूप में प्रेमिका का वह छिन्न-भिन्न होना, जिसका प्रेमी स्वप्न देखता है, विरोधाभासी होगा, क्योंकि प्रेमिका ही प्रेमी के अस्तित्व को संसार की अन्य वस्तुओं की ओर सैद्धांतिक रूप से पार करके स्थापित कर सकती है; अतः यह पारगमन उस वस्तु का निर्माण कर सकता है जिसे वह पार करता है, एक पार की गई वस्तु के रूप में और समस्त पारगमन की एक वस्तु सीमा के रूप में। इस प्रकार, प्रत्येक प्रेमी एक मूल अंतर्ज्ञान में वह वस्तु बनना चाहता है जिसके लिए दूसरे की स्वतंत्रता छिन्न-भिन्न हो जाती है; परन्तु यह अंतर्ज्ञान, जो सच्चे अर्थों में प्रेम होगा, केवल स्वयं के लिए एक विरोधाभासी आदर्श है। प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी हद तक छिन्न-भिन्न होता है जिस हद तक वह दूसरे के छिन्न-भिन्न होने की मांग करता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि दूसरा उससे प्रेम करे, परन्तु इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखता कि प्रेम करना प्रेम पाना है और इस प्रकार दूसरे से प्रेम पाने की चाहत से वह केवल यही चाहता है कि दूसरा भी बदले में प्रेम पाना चाहे। इस प्रकार प्रेम संबंध अनिश्चित संदर्भ की एक प्रणाली है—चेतना के शुद्ध “प्रतिबिंब-प्रतिबिंबित” के अनुरूप—“प्रेम” के आदर्श मानक के अंतर्गत; अर्थात् चेतनाओं के एक ऐसे विलय में जिसमें प्रत्येक चेतना दूसरे को स्थापित करने के लिए अपनी भिन्नता को संरक्षित रखती है। यह स्थिति इस तथ्य के कारण है कि चेतनाएँ एक अभेद्य शून्यता द्वारा अलग होती हैं, एक ऐसी शून्यता जो एक का दूसरे द्वारा आंतरिक निषेध है और दो आंतरिक निषेधों के बीच एक तथ्यात्मक शून्यता भी है। प्रेम तथ्यात्मक निषेध को पार करने और आंतरिक निषेध को

के गहन संकेत के रूप में स्वीकार करता हूँ और उससे प्रेम करता हूँ। जब दूसरा मुझे वास्तविक इच्छा के माध्यम से एक वस्तु के रूप में ग्रहण करता है, तो मैं चाहा जाना चाहता हूँ, मैं लज्जा में स्वयं को इच्छा की वस्तु बनाता हूँ।
यह मनोवृत्ति प्रेम के समान होती यदि मैं दूसरे के लिए उसकी पारलौकिकता की सीमा-वस्तु के रूप में विद्यमान होने की बजाय, स्वयं को अन्य वस्तुओं में से एक वस्तु के रूप में, एक प्रयुक्त उपकरण के रूप में माने जाने पर ज़ोर न देता। अब मेरी पारलौकिकता का खंडन किया जाना है, उसकी नहीं। इस बार मुझे उसकी स्वतंत्रता पर कब्ज़ा करने की कल्पना नहीं करनी है; इसके विपरीत, मुझे आशा है कि यह स्वतंत्रता स्वयं मौलिक रूप से स्वतंत्र होगी और होगी। इस प्रकार, जितना अधिक मैं स्वयं को अन्य उद्देश्यों की ओर पराक्रमित महसूस करूँगा, उतना ही अधिक मैं अपनी पारलौकिकता के त्याग का आनंद लूँगा। अंततः, मैं स्वयं को एक वस्तु मात्र होने की कल्पना करता हूँ; अर्थात्, मौलिक रूप से एक स्व-स्वयं। परन्तु चूंकि एक स्वतंत्रता जो मेरी स्वतंत्रता को आत्मसात कर लेगी, इस स्व-स्वयं का आधार होगी, मेरा अस्तित्व पुनः स्वयं का आधार बन जाएगा। आत्मपीड़ा, दुखवाद की तरह, अपराधबोध की स्वीकृति है। मैं इस तथ्य के कारण दोषी हूँ कि मैं एक वस्तु हूँ, मैं स्वयं के प्रति दोषी हूँ क्योंकि मैं अपने पूर्ण अलगाव को स्वीकार करता हूँ। मैं दूसरे के प्रति दोषी हूँ, क्योंकि मैं उसे दोषी होने का अवसर प्रदान करता हूँ—अर्थात्, अपनी स्वतंत्रता को पूरी तरह से खो देने का। आत्मपीड़न दूसरे को अपनी वस्तुनिष्ठता के माध्यम से मोहित करने का प्रयास नहीं है, बल्कि स्वयं को दूसरों के प्रति अपनी वस्तुनिष्ठता से मोहित करने का प्रयास है; अर्थात्, स्वयं को दूसरे द्वारा इस प्रकार एक वस्तु के रूप में निर्मित करने का प्रयास है कि मैं गैर-धार्मिक रूप से अपनी व्यक्तिपरकता को उस स्व-रूप की उपस्थिति में शून्य के रूप में समझ सकूँ जिसका मैं दूसरे की दृष्टि में प्रतिनिधित्व करता हूँ। आत्मपीड़न को एक प्रकार के चक्कर के रूप में वर्णित किया जाता है, यह चक्कर चट्टान और मिट्टी की खाई के सामने नहीं, बल्कि दूसरे की व्यक्तिपरकता की अथाह गहराई के सामने आता है। लेकिन आत्म-पीड़ा स्वयं में एक विफलता है और होनी ही चाहिए। अपने आप को एक वस्तु के रूप में देखने के प्रति आकर्षित होने के लिए, मुझे अनिवार्य रूप से उस वस्तु की सहज अनुभूति प्राप्त करने में सक्षम होना चाहिए, जैसी वह दूसरे के लिए होती है, जो सिद्धांत रूप से असंभव है। इस प्रकार मैं इस पृथक 'मैं' के प्रति आकर्षित होने से बहुत दूर हूँ, जो सिद्धांत रूप से अपठनीय बना रहता है। आत्म-पीड़ावादी के लिए घुटनों के बल बैठना, खुद को हास्यास्पद स्थितियों में दिखाना, खुद को एक निर्जीव उपकरण के रूप में इस्तेमाल होने देना व्यर्थ है। वह दूसरे के लिए अश्लील या केवल निष्क्रिय होगा, दूसरे के लिए ही वह इन मुद्राओं को अपनाएगा; स्वयं के लिए वह हमेशा के लिए इन्हें स्वयं को देने के लिए अभिशप्त है। अपने पारलौकिकता में और उसके माध्यम से ही वह स्वयं को एक पारलौकिक प्राणी के रूप में प्रस्तुत करता है। जितना अधिक वह अपनी वस्तुनिष्ठता का स्वाद चखने का प्रयास करता

है, उतना ही वह अपनी व्यक्तिपरकता की चेतना में डूबता चला जाता है—इसीलिए उसका दुख भोगता है। यहां तक कि वह आत्मपीड़क भी जो किसी महिला को कोड़े मारने के लिए पैसे देता है, वह उसे एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल कर रहा है और इसी तथ्य से वह उसके संबंध में स्वयं को श्रेष्ठता की स्थिति में स्थापित करता है।
इस प्रकार, आत्मपीड़क अंततः दूसरे को एक वस्तु के रूप में देखता है और उसे अपनी वस्तुनिष्ठता की ओर ले जाता है। उदाहरण के लिए, सैचर मासोच की पीड़ाओं को याद करें, जिसने स्वयं को तिरस्कृत, अपमानित और नीचा दिखाने के लिए महिलाओं के उसके प्रति अपार प्रेम का सहारा लिया; अर्थात्, उन पर इस हद तक प्रभाव डाला कि वे स्वयं को उसके लिए एक वस्तु के रूप में अनुभव करती थीं। इस प्रकार, हर तरह से आत्मपीड़क की वस्तुनिष्ठता उससे दूर हो जाती है, और ऐसा भी हो सकता है—वास्तव में अक्सर होता है—कि अपनी वस्तुनिष्ठता को समझने की कोशिश में वह दूसरे की वस्तुनिष्ठता को पा लेता है, जो अनजाने में ही उसकी अपनी व्यक्तिपरकता को मुक्त कर देती है। इसलिए, आत्मपीड़कता सिद्धांत रूप में एक विफलता है। यदि हम यह समझें कि आत्मपीड़कता एक "अवगुण" है और अवगुण सिद्धांत रूप में विफलता से प्रेम है, तो हमें इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। लेकिन यह अवगुण की विशिष्ट संरचनाओं का वर्णन करने का स्थान नहीं है। यहां यह बताना पर्याप्त होगा कि आत्मपीड़ा, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा को दूसरे में समाहित करके उसे नष्ट करने का एक निरंतर प्रयास है; यह प्रयास विफलता की थका देने वाली और आनंददायक चेतना के साथ होता है, जिससे अंततः विफलता ही वह चीज बन जाती है जिसे व्यक्ति अपना मुख्य लक्ष्य मानता है।
II. दूसरों के प्रति दूसरा दृष्टिकोण: उदासीनता, वासना, घृणा, क्रूरता दूसरे के प्रति पहले दृष्टिकोण की विफलता मेरे दूसरे दृष्टिकोण को अपनाने का कारण बन सकती है। लेकिन निश्चित रूप से, इन दोनों में से कोई भी वास्तव में पहला नहीं है; इनमें से प्रत्येक, एक मौलिक स्थिति के रूप में, दूसरों के लिए अस्तित्व की मूलभूत प्रतिक्रिया है। इसलिए, ऐसा हो सकता है कि दूसरे के लिए मेरी वस्तुता की मध्यस्थता के माध्यम से स्वयं को उसकी चेतना से एकात्म करने की असंभवता के कारण, मैं जानबूझकर दूसरे की ओर मुड़ता हूँ और उसे देखता हूँ। इस स्थिति में, दूसरे की दृष्टि को देखना स्वयं को अपनी स्वतंत्रता में स्थापित करना और इस स्वतंत्रता के आधार पर दूसरे की स्वतंत्रता का सामना करने का प्रयास करना है। इस प्रकार खोजे गए संघर्ष का अर्थ दो स्वतंत्रताओं के बीच के संघर्ष को उजागर करना होगा। लेकिन यह इरादा तुरंत विफल हो जाता है, क्योंकि केवल इस तथ्य से कि मैं दूसरे का सामना करते हुए अपनी स्वतंत्रता पर जोर देता हूँ, मैं दूसरे को एक पारलौकिक-पारलौकिक बना देता हूँ—अर्थात, एक वस्तु। यही वह विफलता है जिसकी हम जाँच करने वाले हैं। हम इसके सामान्य स्वरूप को समझ सकते हैं। मैं अपनी दृष्टि उस दूसरे पर केंद्रित करता हूँ जो मुझे देख रहा है। लेकिन किसी दृष्टि को देखा नहीं जा सकता। जैसे ही मैं उस दृष्टि की दिशा में देखता हूँ, वह गायब हो जाती है, और मुझे आँखों के सिवा कुछ भी दिखाई नहीं

कुछ जानकारी है, लेकिन यह जानकारी मुझे प्रभावित नहीं करती। यह उनके अस्तित्व के शुद्ध रूपांतरणों का प्रश्न है जो उनसे मुझ तक नहीं पहुँचते और जो उस चीज़ से दूषित हैं जिसे हम "पीड़ित-विषयपरकता" या "विषयपरकता- वस्तु" कहते हैं; अर्थात्, वे वही व्यक्त करते हैं जो वे हैं, न कि जो मैं हूँ, और वे उन पर मेरी क्रिया का प्रभाव हैं। वे "लोग" कार्य हैं: टिकट-संग्रहकर्ता केवल टिकट एकत्र करने का कार्य है; कैफे का वेटर ग्राहकों की सेवा करने के कार्य के अलावा कुछ नहीं है। इस क्षमता में वे सबसे उपयोगी होंगे यदि मैं उनकी चाबियाँ और वे "मास्टर-शब्द" जानता हूँ जो उनके तंत्र को सक्रिय कर सकते हैं। इस प्रकार वह "यथार्थवादी" मनोविज्ञान व्युत्पन्न होता है जो सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस ने हमें दिया है; इसलिए अठारहवीं शताब्दी की वे रचनाएँ, जैसे बेरोआल्डे डी वर्विले की "सफलता कैसे प्राप्त करें" (मोयेन डे परवेनिर), लैक्लोस की "खतरनाक संबंध" (लियाइसन्स डेंजरस), हेरॉल्ट डी सेशेल्स की "महत्वाकांक्षा पर ग्रंथ" (ट्रेटे डे ल'एम्बिशन), हमें दूसरे व्यक्ति का व्यावहारिक ज्ञान और उस पर प्रभाव डालने की कला प्रदान करती हैं। इस अज्ञानता की अवस्था में, मैं साथ ही साथ दूसरे व्यक्ति की पूर्ण व्यक्तिपरकता को अनदेखा करता हूँ, जो मेरे स्वयं में होने और दूसरों के लिए होने, विशेष रूप से मेरे "दूसरों के लिए शरीर" होने का आधार है। एक अर्थ में, मैं आश्वस्त हूँ, मैं आत्मविश्वासी हूँ; अर्थात्, मैं इस तथ्य से बिल्कुल भी अवगत नहीं हूँ कि दूसरे व्यक्ति की दृष्टि मेरी संभावनाओं और मेरे शरीर को निर्धारित कर सकती है। मैं उस अवस्था में हूँ जो शर्म या संकोच के बिल्कुल विपरीत है। मैं सहज हूँ; मुझे स्वयं से शर्मिंदगी नहीं है, क्योंकि मैं बाहरी नहीं हूँ; मैं स्वयं को पराया महसूस नहीं करता। यह अंधत्व की स्थिति लंबे समय तक बनी रह सकती है, जब तक मेरी मूलभूत दुर्भावना चाहे; यह कई वर्षों तक, पूरे जीवन भर, बार-बार होने वाले दुष्परिणामों के साथ, विस्तारित हो सकती है; ऐसे लोग भी हैं जो संक्षिप्त और भयावह ज्ञानोदय के क्षणों को छोड़कर, कभी भी यह जाने बिना मर जाते हैं कि दूसरा व्यक्ति वास्तव में क्या है।
लेकिन भले ही कोई इस अवस्था में पूरी तरह डूबा हुआ हो, फिर भी इसकी अपर्याप्तता का अनुभव होना बंद नहीं होता। और सभी दुर्भावनाओं की तरह, यह अवस्था ही हमें इससे बाहर निकलने के लिए प्रेरित करती है; क्योंकि दूसरे के प्रति अंधापन मेरी वस्तुनिष्ठता की हर अनुभूति को लुप्त कर देता है। फिर भी, स्वतंत्रता के रूप में दूसरा और मेरे पृथक-स्व के रूप में मेरी वस्तुनिष्ठता, दोनों ही अदृश्य रूप से मौजूद हैं, विषयवस्तु के रूप में नहीं, बल्कि संसार और संसार में मेरे अस्तित्व की मेरी समझ में निहित हैं। संचालक, भले ही उसे एक शुद्ध क्रिया माना जाए, अपने कार्य के द्वारा ही मुझे एक बाह्य अस्तित्व की ओर ले जाता है—भले ही यह बाह्य अस्तित्व न तो अनुभव किया जा सके और न ही अनुभव करने योग्य हो। अतः अभाव और बेचैनी की निरंतर अनुभूति बनी रहती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि दूसरे के प्रति मेरी मूलभूत परियोजना—चाहे मैं कोई भी दृष्टिकोण अपनाऊं—दोहरी है: पहली समस्या है स्वयं को उस खतरे से बचाना जो दूसरे की स्वतंत्रता में मेरे

नहीं हो सकती। दूसरे व्यक्ति के यौन स्वरूप के बारे में मेरी पहली धारणा तब नहीं बनती जब मैं उसके बालों की बनावट, हाथों की खुरदरी बनावट, उसकी आवाज़ या उसकी ताकत से यह निष्कर्ष निकालती हूँ कि वह पुरुष है। यहाँ हम व्युत्पन्न निष्कर्षों की बात कर रहे हैं जो मूल स्थिति को संदर्भित करते हैं। दूसरे व्यक्ति की कामुकता की पहली धारणा, जहाँ तक इसे अनुभव किया जाता है और सहा जाता है, केवल इच्छा ही हो सकती है; दूसरे व्यक्ति की इच्छा करने (या स्वयं को उसकी इच्छा करने में असमर्थ पाने) या उसके मेरे प्रति इच्छा को समझने से ही मैं उसके यौन स्वरूप को जान पाती हूँ। इच्छा मुझे एक साथ मेरे और उसके यौन स्वरूप, मेरे शरीर को यौन रूप में और उसके शरीर को भी प्रकट करती है। अतः यहाँ यौन स्वरूप की प्रकृति और तात्विक स्थिति का निर्धारण करने के लिए हमें इच्छा के अध्ययन की ओर निर्देशित किया जाता है। तो फिर इच्छा क्या है?
और सबसे पहले, किस चीज की इच्छा?
हमें इस विचार को सिरे से त्याग देना चाहिए कि इच्छा केवल सुख की इच्छा है या किसी पीड़ा के निवारण की इच्छा। क्योंकि हम यह नहीं समझ सकते कि कर्ता इस अंतर्निहित अवस्था से कैसे बाहर निकल सकता है ताकि वह अपनी इच्छा को किसी वस्तु से "जोड़" सके। प्रत्येक व्यक्तिपरक और अंतर्निहित सिद्धांत यह समझाने में विफल रहेगा कि हम किसी विशेष स्त्री की इच्छा क्यों करते हैं, न कि केवल अपनी यौन संतुष्टि की। इसलिए इच्छा को उसके पारलौकिक वस्तु द्वारा परिभाषित करना ही सर्वोत्तम है। फिर भी, यह कहना पूरी तरह से गलत होगा कि इच्छा वांछित वस्तु के "भौतिक अधिकार" की इच्छा है—यदि "अधिकार" से हमारा तात्पर्य यहाँ "प्रेम करना" है। बेशक, यौन क्रिया क्षण भर के लिए हमें इच्छा से मुक्त कर देती है, और कुछ मामलों में इसे स्पष्ट रूप से इच्छा के अपेक्षित परिणाम के रूप में माना जा सकता है—उदाहरण के लिए, जब इच्छा पीड़ादायक और थका देने वाली हो। लेकिन इस मामले में यह आवश्यक है कि इच्छा स्वयं वह वस्तु हो जिसे "पराजित किया जाना है" के रूप में माना जाए, और यह केवल चिंतनशील चेतना के माध्यम से ही संभव है। लेकिन इच्छा स्वयं में चिंतनशील नहीं है; इसलिए यह कभी भी खुद को एक ऐसी वस्तु के रूप में स्थापित नहीं कर सकता जिसे जीता जा सके। केवल एक अय्याश ही अपनी इच्छा को स्वयं के सामने प्रस्तुत करता है, उसे एक वस्तु की तरह मानता है, उसे उत्तेजित करता है, उसे शांत करता है, उसे संतुष्ट करने के विभिन्न तरीके अपनाता है, आदि। लेकिन इस मामले में, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इच्छा ही वांछनीय बन जाती है। यहाँ त्रुटि इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि हमने यह सीख लिया है कि यौन क्रिया इच्छा को दबा देती है। इसलिए हमने इच्छा में थोड़ा ज्ञान जोड़ दिया है और बाहर से आनंद को इच्छा की सामान्य संतुष्टि के रूप में जोड़ दिया है - इच्छा के सार से बाहरी कारणों से (जैसे, संतानोत्पत्ति, मातृत्व का पवित्र स्वरूप, स्खलन से उत्पन्न आनंद की असाधारण शक्ति, यौन क्रिया से जुड़ा प्रतीकात्मक मूल्य)। इस प्रकार औसत व्यक्ति मानसिक सुस्ती और अनुरूपता की इच्छा के कारण अपनी इच्छा के लिए स्खलन के अलावा कोई अन्य लक्ष्य नहीं सोच सकता। इसी कारण से लोग इच्छा को

एक ऐसी सहज प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं जिसका उद्गम और अंत विशुद्ध रूप से शारीरिक होता है, क्योंकि उदाहरण के लिए, मनुष्य में इसका कारण इरेक्शन होता है और अंतिम सीमा स्खलन। लेकिन इच्छा स्वयं में यौन क्रिया को नहीं दर्शाती; इच्छा इसे विषयगत रूप से स्थापित नहीं करती, यहाँ तक कि इसका संकेत भी नहीं देती, जैसा कि बहुत छोटे बच्चों या उन वयस्कों की इच्छा के संदर्भ में देखा जाता है जो प्रेम की "तकनीक" से अनभिज्ञ हैं। इसी प्रकार इच्छा किसी विशेष प्रेम क्रिया की इच्छा नहीं है; यह विभिन्न सामाजिक समूहों में भिन्न-भिन्न यौन क्रियाओं की विविधता से पर्याप्त रूप से सिद्ध होता है। सामान्य तौर पर इच्छा किसी क्रिया की इच्छा नहीं है। "क्रिया" घटना के बाद होती है, इच्छा में बाहर से जुड़ती है और इसके लिए एक प्रशिक्षण अवधि की आवश्यकता होती है; एक प्रेम क्रिया की तकनीक होती है जिसके अपने लक्ष्य और साधन होते हैं। इसलिए, चूंकि इच्छा अपने दमन को अपना सर्वोच्च लक्ष्य नहीं मान सकती और न ही किसी विशेष क्रिया को अपना अंतिम लक्ष्य चुन सकती है, यह विशुद्ध रूप से एक पारलौकिक वस्तु की इच्छा है। यहां हमें एक बार फिर वही भावात्मक इरादा देखने को मिलता है जिसके बारे में हमने पिछले अध्यायों में बात की थी और जिसका वर्णन शेलर और हुसरल ने किया है।
लेकिन इच्छा का विषय क्या है? क्या हम कह सकते हैं कि इच्छा शरीर की इच्छा है? एक अर्थ में इसे नकारा नहीं जा सकता। लेकिन हमें इसे सही ढंग से समझना होगा। निश्चित रूप से शरीर ही हमें विचलित करता है: एक भुजा, आधा खुला स्तन या शायद एक टांग। लेकिन हमें शुरुआत में ही यह समझना होगा कि हम भुजा या खुले स्तन की इच्छा केवल संपूर्ण शरीर की उपस्थिति के आधार पर ही करते हैं, जो एक जैविक समग्रता है। संपूर्ण शरीर स्वयं छिपा हो सकता है। हो सकता है मुझे केवल एक नंगी भुजा दिखाई दे। लेकिन शरीर तो है ही। शरीर के दृष्टिकोण से ही मैं भुजा को भुजा के रूप में समझता हूँ। शरीर उस भुजा से उतना ही जुड़ा हुआ है, जितना कि मेज के पैरों से छिपे हुए कालीन के डिज़ाइन उन डिज़ाइनों से जुड़े हुए हैं जिन्हें मैं देखता हूँ। और मेरी इच्छा गलत नहीं है; यह शारीरिक तत्वों के योग से नहीं, बल्कि एक संपूर्ण रूप से – या बेहतर कहें तो, स्थिति में एक रूप से – संबंधित है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, एक विशेष दृष्टिकोण इच्छा को जगाने में बहुत भूमिका निभाता है। अब परिवेश के प्रति दृष्टिकोण के साथ-साथ अंततः संसार भी शामिल हो जाता है। लेकिन यहाँ अचानक हम एक साधारण शारीरिक खुजली से बिल्कुल विपरीत ध्रुव पर पहुँच जाते हैं; इच्छा संसार को स्थापित करती है और शरीर को संसार के संदर्भ में तथा सुंदर हाथ को शरीर के संदर्भ में अभिलाषा करती है। ठीक वही प्रक्रिया यहाँ भी दोहराई जाती है जिसका वर्णन हमने पिछले अध्याय में किया था, जिसके द्वारा हमने दूसरे के शरीर को संसार में उसकी स्थिति के परिप्रेक्ष्य से समझा था। इसके अलावा, इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि इच्छा दूसरे के शरीर के प्रकटीकरण द्वारा ग्रहण किए जा सकने वाले महान रूपों में से एक है। फिर भी, ठीक इसी कारण से हम शरीर को विशुद्ध रूप से भौतिक वस्तु के रूप में अभिलाषा नहीं करते; विशुद्ध रूप से भौतिक वस्तु किसी स्थिति

में नहीं होती। इस प्रकार, यह जैविक समग्रता जो इच्छा के लिए तत्काल उपस्थित होती है, केवल तभी वांछनीय है जब यह न केवल जीवन बल्कि एक उपयुक्त चेतना को भी प्रकट करती है। फिर भी, जैसा कि हम देखेंगे, इच्छा द्वारा प्रकट की गई दूसरे की स्थिति-में-होने की प्रक्रिया पूरी तरह से मौलिक प्रकार की है। इसके अलावा, यहाँ मानी गई चेतना अभी भी अभिलाषा वस्तु का केवल एक गुण है; यानी, यह संसार में वस्तुओं के प्रवाह की अनुभूति मात्र है, ठीक उसी हद तक जब यह प्रवाह अवरुद्ध, स्थानीयकृत और मेरे संसार का हिस्सा बन जाता है। बेशक, कोई सोई हुई स्त्री की इच्छा कर सकता है, लेकिन वह उसकी इच्छा तभी करता है जब यह नींद चेतना के स्तर पर प्रकट होती है। इसलिए चेतना हमेशा वांछित शरीर के क्षितिज पर बनी रहती है; यह शरीर का अर्थ और एकता बनाती है। चेतना के क्षितिज पर स्थित एक सजीव समग्रता के रूप में एक जीवित शरीर: यही वह वस्तु है जिसकी ओर इच्छा निर्देशित होती है। इच्छा इस वस्तु से क्या चाहती है? हम इसका निर्धारण तब तक नहीं कर सकते जब तक हम एक प्रारंभिक प्रश्न का उत्तर नहीं दे देते: इच्छा करने वाला कौन है? उत्तर स्पष्ट है। मैं ही वह हूँ जो इच्छा करता है, और इच्छा मेरी आत्मनिष्ठा का एक विशिष्ट रूप है। इच्छा चेतना है क्योंकि यह केवल स्वयं की गैर-स्थितीय चेतना के रूप में ही विद्यमान हो सकती है। फिर भी, यह मानना आवश्यक नहीं है कि इच्छा करने वाली चेतना, संज्ञानात्मक चेतना से, उदाहरण के लिए, केवल अपने विषय की प्रकृति में ही भिन्न होती है। स्वयं के लिए, स्वयं को इच्छा के रूप में चुनना, उदासीन और अपरिवर्तित रहते हुए इच्छा उत्पन्न करना नहीं है—जैसा कि स्टोइक दर्शन में कारण अपने प्रभाव को उत्पन्न करता है। स्वयं के लिए स्वयं को अस्तित्व के एक निश्चित तल पर रखता है जो, उदाहरण के लिए, उस स्वयं के लिए के तल से भिन्न होता है जो स्वयं को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में चुनता है। जैसा कि हमने देखा है, प्रत्येक चेतना अपने स्वयं के यथार्थवाद के साथ एक निश्चित संबंध रखती है। लेकिन यह संबंध चेतना के एक रूप से दूसरे रूप में भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए, पीड़ा-चेतना का यथार्थवाद एक निरंतर पलायन में खोजा गया यथार्थवाद है। इच्छा के यथार्थवाद के लिए स्थिति समान नहीं है। इच्छा करने वाला व्यक्ति अपने शरीर को एक विशिष्ट रूप में विद्यमान रखता है और इस प्रकार स्वयं को अस्तित्व के एक विशिष्ट स्तर पर रखता है। वास्तव में, सभी इस बात से सहमत होंगे कि इच्छा केवल एक स्पष्ट और पारदर्शी लालसा नहीं है, जो हमारे शरीर के माध्यम से किसी निश्चित वस्तु की ओर निर्देशित होती है। इच्छा को परेशानी के रूप में परिभाषित किया जाता है। "परेशानी" की अवधारणा हमें इच्छा के स्वरूप को बेहतर ढंग से समझने में मदद कर सकती है। हम अशांत जल की तुलना पारदर्शी जल से करते हैं, एक परेशान नज़र की तुलना एक स्पष्ट नज़र से करते हैं। अशांत जल, जल ही रहता है; यह जल के तरल और मूलभूत गुणों को बनाए रखता है; लेकिन इसकी पारदर्शिता एक ऐसी अगोचर उपस्थिति से "अशांत" हो जाती है जो इसके साथ एक हो जाती है, जो हर जगह है और कहीं नहीं है, और जो स्वयं जल के अवरोध के रूप में मौजूद है। निश्चित रूप से, हम तरल में निलंबित सूक्ष्म ठोस कणों की उपस्थिति से अशांत गुण की व्याख्या कर

सकते हैं, लेकिन यह व्याख्या वैज्ञानिक की है। अशांत जल के बारे में हमारी मूल धारणा एक अदृश्य चीज़ की उपस्थिति से परिवर्तित हो जाती है, जो स्वयं विशिष्ट नहीं है और जो एक शुद्ध तथ्यात्मक प्रतिरोध के रूप में प्रकट होती है। यदि इच्छाशील चेतना अशांत है, तो इसका कारण यह है कि यह अशांत जल के समान है।
इस उपमा को स्पष्ट करने के लिए, हमें यौन इच्छा की तुलना इच्छा के एक अन्य रूप से करनी चाहिए—उदाहरण के लिए, भूख से। भूख, यौन इच्छा की तरह, शरीर की एक निश्चित अवस्था को दर्शाती है, जिसे यहाँ रक्त की कमी, अत्यधिक लार स्राव, त्वचा की सिकुड़न आदि के रूप में परिभाषित किया गया है। इन विभिन्न घटनाओं का वर्णन और वर्गीकरण 'अन्य' के दृष्टिकोण से किया गया है। 'स्वयं के लिए' ये शुद्ध वास्तविकता के रूप में प्रकट होती हैं। लेकिन यह वास्तविकता 'स्वयं के लिए' के स्वभाव को प्रभावित नहीं करती, क्योंकि 'स्वयं के लिए' तुरंत इससे बचकर अपनी संभावनाओं की ओर अग्रसर होता है; अर्थात्, संतुष्ट भूख की एक निश्चित अवस्था की ओर, जो, जैसा कि हमने भाग दो में बताया है, भूख का 'स्वयं के लिए' रूप है। इस प्रकार भूख शारीरिक वास्तविकता का शुद्ध अतिक्रमण है; और जिस हद तक 'स्वयं के लिए' इस वास्तविकता के प्रति गैर-शारीरिक रूप से सचेत होता है, 'स्वयं के लिए' इसे एक परित्यक्त वास्तविकता के रूप में सचेत करता है। यहाँ शरीर वास्तव में अतीत है, बीता हुआ अतीत है। यौन इच्छा में, निश्चित रूप से, हम सभी इच्छाओं में पाई जाने वाली एक सामान्य संरचना पा सकते हैं—शरीर की एक अवस्था। दूसरा व्यक्ति विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों को देख सकता है (लिंग का खड़ा होना, स्तनों के निप्पल्स का फूलना, परिसंचरण तंत्र में परिवर्तन, तापमान में वृद्धि, आदि)। इच्छा करने वाली चेतना इस वास्तविकता को अनुभव करती है; इसी वास्तविकता के संदर्भ में—हम यह भी कह सकते हैं कि इसके माध्यम से— वांछित शरीर आकर्षक प्रतीत होता है। फिर भी, यदि हम स्वयं को इस वर्णन तक सीमित रखें, तो यौन इच्छा एक विशिष्ट और स्पष्ट इच्छा के रूप में प्रकट होगी, जो खाने-पीने की इच्छा के समान होगी। यह वास्तविकता से अन्य संभावनाओं की ओर एक शुद्ध पलायन होगा। अब सभी जानते हैं कि यौन इच्छा और अन्य इच्छाओं के बीच एक गहरी खाई है। हम सभी प्रसिद्ध कहावत जानते हैं, "जब आप किसी सुंदर स्त्री को चाहें, तो उससे प्रेम करें, ठीक वैसे ही जैसे प्यास लगने पर ठंडा पानी पीते हैं।" हम यह भी जानते हैं कि यह कथन मन को कितना असंतोषजनक और यहाँ तक कि चौंका देने वाला है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब हम किसी स्त्री को चाहते हैं, तो हम स्वयं को पूरी तरह से इच्छा से बाहर नहीं रखते; यह इच्छा मुझे वश में कर लेती है; मैं अपनी इच्छा का साथी बन जाता हूँ। या यूँ कहें कि इच्छा पूरी तरह शरीर के साथ मिल गई है। कोई भी व्यक्ति अपने अनुभव से सीख ले; वह जानता है कि किस प्रकार चेतना, मानो, यौन इच्छा से अवरुद्ध हो जाती है; ऐसा लगता है मानो वास्तविकता ने हमें घेर लिया हो, हम उससे भागना बंद कर देते हैं और इच्छा के प्रति निष्क्रिय सहमति की ओर बढ़ जाते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि वास्तविकता चेतना के भागने के

दौरान ही उस पर हावी हो जाती है और चेतना को स्वयं के प्रति ही अपारदर्शी बना देती है। यह तथ्यों के खमीरयुक्त उभार के समान है।
इच्छा को व्यक्त करने के लिए हम जिन अभिव्यक्तियों का उपयोग करते हैं, वे इसकी विशिष्टता को पर्याप्त रूप से दर्शाती हैं। हम कहते हैं कि यह आपको जकड़ लेती है, यह आपको अभिभूत कर देती है, यह आपको पंगु बना देती है। क्या कोई भूख को व्यक्त करने के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग करने की कल्पना कर सकता है? क्या कोई ऐसी भूख के बारे में सोच सकता है जो किसी को "अभिभूत" कर दे? कड़ाई से कहें तो, यह केवल खालीपन की अनुभूति पर लागू होने पर ही सार्थक होगा। लेकिन, इसके विपरीत, सबसे कमजोर इच्छा भी पहले से ही अभिभूत कर देने वाली होती है। कोई इसे भूख की तरह दूर नहीं रख सकता और इच्छा को एक अविभेदित, गैर-शारीरिक चेतना की स्वर-शैली के रूप में रखते हुए "किसी और चीज़ के बारे में नहीं सोच सकता", जो इच्छा ही होगी और जो शरीर-आधार के संकेत के रूप में कार्य करेगी। लेकिन इच्छा, इच्छा के प्रति सहमति है। भारी, बेहोश चेतना नींद के समान सुस्ती की ओर बढ़ती है। हर कोई दूसरे में इच्छा के प्रकट होने का अवलोकन कर चुका है। अचानक इच्छा करने वाला व्यक्ति एक भारी शांति में डूब जाता है जो भयावह होती है; उसकी आँखें स्थिर और आधी बंद प्रतीत होती हैं, उसके आंदोलनों पर एक भारी और चिपचिपी मिठास की छाप होती है; बहुत से लोग सो रहे होते प्रतीत होते हैं। और जब कोई "इच्छा से संघर्ष" करता है, तो वह ठीक इसी सुस्ती का प्रतिरोध करता है। यदि कोई इसका प्रतिरोध करने में सफल हो जाता है, तो इच्छा लुप्त होने से पहले भूख की तरह पूरी तरह से स्पष्ट और निर्मल हो जाएगी। और फिर "जागृति" होगी। व्यक्ति को लगेगा कि वह सजग है, लेकिन उसका सिर भारी है और हृदय धड़क रहा है। स्वाभाविक रूप से ये सभी वर्णन सटीक नहीं हैं; वे बल्कि उस तरीके को दर्शाते हैं जिससे हम इच्छा की व्याख्या करते हैं। हालाँकि, वे इच्छा के मूल तथ्य को इंगित करते हैं: इच्छा में चेतना अपनी वास्तविकता को एक अलग स्तर पर विद्यमान करना चुनती है। वह अब इससे भागती नहीं है; वह स्वयं को अपनी आकस्मिकता के अधीन करने का प्रयास करती है—जैसे कि वह दूसरे शरीर— अर्थात, दूसरी आकस्मिकता—को वांछनीय मानती है। इस अर्थ में इच्छा न केवल दूसरे के शरीर का प्रकटीकरण है, बल्कि मेरे अपने शरीर का भी प्रकटीकरण है। और यह इस अर्थ में नहीं है कि यह शरीर एक साधन या दृष्टिकोण है, बल्कि इस अर्थ में है कि यह शुद्ध वास्तविकता है; अर्थात्, मेरी आकस्मिकता की आवश्यकता का एक सरल आकस्मिक रूप। मैं अपनी त्वचा, अपनी मांसपेशियों और अपनी साँस को महसूस करता हूँ, और मैं उन्हें किसी भावना या भूख की तरह किसी चीज़ से परे ले जाने के लिए नहीं, बल्कि एक जीवित और निष्क्रिय तथ्य के रूप में महसूस करता हूँ। मैं उन्हें केवल संसार पर अपनी क्रिया के लचीले और अलग साधन के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे जुनून के रूप में महसूस करता हूँ जिससे मैं संसार में संलग्न हूँ और संसार में खतरे में हूँ। 'स्वयं के लिए' यह आकस्मिकता नहीं है; यह विद्यमान तो रहता है, लेकिन अपने ही शरीर के चक्कर का अनुभव करता है। या, यदि आप चाहें, तो यह चक्कर ही उसके शरीर में विद्यमान होने का उसका तरीका है। गैर-स्थलीय चेतना स्वयं को शरीर में

समाहित होने देती है, शरीर बनना चाहती है और केवल शरीर ही रहना चाहती है। इच्छा में, शरीर केवल वह आकस्मिकता होने के बजाय, जिससे 'स्वयं के लिए' अपने लिए विशिष्ट संभावनाओं की ओर भागता है, एक ही समय में 'स्वयं के लिए' की सबसे तात्कालिक संभावना बन जाता है। इच्छा केवल दूसरे के शरीर की इच्छा नहीं है; यह—एक ही क्रिया की एकता के भीतर—शरीर में समा जाने की गैर-स्थलीय रूप से जी गई परियोजना है। इस प्रकार, यौन इच्छा की अंतिम अवस्था शरीर के प्रति सहमति की अंतिम अवस्था के रूप में बेहोशी हो सकती है। इसी अर्थ में इच्छा को एक शरीर की दूसरे शरीर के प्रति इच्छा कहा जा सकता है। वास्तव में, यह दूसरे के शरीर के प्रति निर्देशित एक भूख है, और इसे स्वयं के शरीर के समक्ष स्वयं के लिए की गई बेचैनी के रूप में अनुभव किया जाता है। इच्छा करने वाला अस्तित्व चेतना है जो स्वयं को शरीर में परिवर्तित करती है।
लेकिन मान लें कि इच्छा एक चेतना है जो दूसरे के शरीर को एक जैविक समग्रता के रूप में समझने के लिए स्वयं को शरीर का रूप देती है, जब चेतना क्षितिज पर मौजूद होती है—तो इच्छा का अर्थ क्या है? अर्थात्, चेतना स्वयं को शरीर का रूप क्यों देती है—या व्यर्थ ही ऐसा करने का प्रयास क्यों करती है—और वह अपनी इच्छा के लक्ष्य से क्या अपेक्षा रखती है? इसका उत्तर सरल है यदि हम यह समझें कि इच्छा में मैं दूसरे की उपस्थिति में स्वयं को शरीर का रूप देता हूँ ताकि दूसरे के शरीर को अपना सकूँ। इसका अर्थ यह है कि यह केवल दूसरे के कंधों या जांघों को पकड़ने या शरीर को अपने ऊपर खींचने का प्रश्न नहीं है: मेरे लिए उन्हें उस विशेष उपकरण, शरीर, के माध्यम से समझना भी आवश्यक है जो चेतना को अवरुद्ध करता है। इस अर्थ में, जब मैं इन कंधों को पकड़ता हूँ, तो यह कहा जा सकता है कि मेरा शरीर न केवल कंधों को छूने का साधन है, बल्कि दूसरे के कंधे मेरे शरीर को वास्तविकता के आकर्षक प्रकटीकरण—अर्थात, शरीर—के रूप में खोजने का साधन हैं। इस प्रकार, इच्छा शरीर को अपना बनाने की इच्छा है, क्योंकि यह अपनाना मुझे मेरे शरीर को शरीर के रूप में प्रकट करता है। लेकिन जिस शरीर को मैं अपना बनाना चाहता हूँ, उसे मैं मांस के रूप में अपनाना चाहता हूँ। अब, शुरुआत में दूसरे का शरीर मेरे लिए मांस नहीं है; यह क्रियाशील कृत्रिम रूप में प्रकट होता है। जैसा कि हमने देखा है, हम दूसरे के शरीर को शुद्ध मांस के रूप में नहीं देख सकते; यानी, एक पृथक वस्तु के रूप में जो अन्य चीजों के साथ बाहरी संबंध बनाए रखती है। दूसरे का शरीर मूल रूप से एक स्थिति में शरीर है; इसके विपरीत, मांस उपस्थिति की शुद्ध आकस्मिकता के रूप में प्रकट होता है। आमतौर पर यह सौंदर्य प्रसाधनों, कपड़ों आदि से ढका रहता है; विशेष रूप से यह गतियों से ढका रहता है। एक नर्तकी से कम "मांस में" कुछ भी नहीं है, भले ही वह नग्न हो। इच्छा शरीर को उसकी गतियों और वस्त्रों से मुक्त करने और उसे शुद्ध मांस के रूप में अस्तित्व में लाने का प्रयास है; यह दूसरे के शरीर को साकार करने का प्रयास है।
इसी अर्थ में स्पर्श दूसरे के शरीर का एक अभिग्रहण है। यह स्पष्ट है कि यदि स्पर्श केवल सतही स्पर्श या छुअन होता, तो उसका उस प्रबल इच्छा से कोई

संबंध नहीं हो सकता जिसे वह पूरा करने का दावा करता है; वह सतही दृष्टि की तरह ही रह जाता और मेरे लिए दूसरे को अभिग्रहण नहीं कर पाता। हम उस प्रसिद्ध कहावत, "दो चमड़ियों का संपर्क," के छल को भलीभांति जानते हैं। स्पर्श केवल संपर्क नहीं चाहता; ऐसा लगता है कि केवल मनुष्य ही स्पर्श को संपर्क तक सीमित कर सकता है, और फिर वह उसका अनूठा अर्थ खो देता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्पर्श केवल एक साधारण स्पर्श नहीं है; यह एक आकार देना है। दूसरे को स्पर्श करते हुए मैं उसके शरीर को अपने स्पर्श के नीचे, अपनी उंगलियों के नीचे जन्म देता हूँ। स्पर्श उन सभी अनुष्ठानों का समूह है जो दूसरे को साकार करते हैं। लेकिन, कोई आपत्ति करेगा, क्या दूसरा पहले से ही साकार नहीं था? स्पष्ट रूप से कहें तो, नहीं। दूसरे व्यक्ति का शरीर मेरे लिए स्पष्ट रूप से अस्तित्व में नहीं था क्योंकि मैंने दूसरे व्यक्ति के शरीर को उसकी वर्तमान स्थिति में ग्रहण किया था; न ही उसके लिए, क्योंकि वह अपनी संभावनाओं और वस्तु की ओर अग्रसर हो रही थी। स्पर्श से दूसरा व्यक्ति मेरे लिए और उसके स्वयं के लिए शरीर के रूप में प्रकट होता है। और शरीर से हमारा तात्पर्य त्वचा, संयोजी ऊतकों या विशेष रूप से ऊपरी त्वचा जैसे शरीर के किसी भाग से नहीं है; न ही हमें यह मान लेना चाहिए कि शरीर "विश्राम" की स्थिति में होगा या ऊंघ रहा होगा, हालांकि अक्सर इसी स्थिति में उसका शरीर सबसे अच्छी तरह प्रकट होता है। लेकिन स्पर्श शरीर को उसकी क्रिया से मुक्त करके, उसे उसके चारों ओर मौजूद संभावनाओं से अलग करके शरीर को प्रकट करता है; स्पर्श क्रिया के नीचे छिपी जड़ता के जाल—अर्थात, शुद्ध "अस्तित्व"— को उजागर करने के लिए बनाया गया है, जो उसे बनाए रखता है। उदाहरण के लिए, दूसरे व्यक्ति का हाथ थामकर और उसे सहलाकर, मैं हाथ थामने की क्रिया के नीचे, जो कि यह हाथ पहले है, मांस और हड्डी का एक विस्तार पाता हूँ जिसे पकड़ा जा सकता है; और इसी प्रकार मेरी दृष्टि भी स्नेह से भर उठती है जब वह इस उछलते हुए शरीर के नीचे, जो पहले नर्तकी के पैर प्रतीत होते हैं, जांघों के घुमावदार विस्तार को खोजती है। इस प्रकार स्नेह किसी भी प्रकार इच्छा से भिन्न नहीं है: आँखों से स्नेह करना और इच्छा करना एक ही बात है। इच्छा स्नेह द्वारा उसी प्रकार व्यक्त होती है जैसे विचार भाषा द्वारा। स्नेह दूसरे के शरीर को मेरे और दूसरे के लिए शरीर के रूप में प्रकट करता है। लेकिन यह इस शरीर को एक बहुत ही विशेष तरीके से प्रकट करता है। दूसरे को थामना उसे उसकी जड़ता और उसकी निष्क्रियता को एक पारलौकिक-पारलौकिक रूप में प्रकट करता है; लेकिन यह उसे स्नेह से भर देना नहीं है। स्नेह में यह मेरा शरीर एक कृत्रिम रूप से क्रियाशील होकर दूसरे को स्नेह से नहीं भरता; यह मेरा शरीर है जो दूसरे के शरीर को जन्म देता है। स्नेह का उद्देश्य दूसरे के शरीर को आनंद के माध्यम से, दूसरे के लिए—और मेरे लिए—एक स्पर्शित निष्क्रियता के रूप में जन्म देना है, इस प्रकार कि मेरा शरीर शरीर बन जाता है ताकि वह दूसरे के शरीर को अपनी निष्क्रियता से स्पर्श कर सके; यानी, दूसरे के शरीर को सहलाने के बजाय, उसके शरीर से खुद को सहलाकर। यही कारण है कि प्रेमपूर्ण भावों की एक भाषा होती है जिसे लगभग अध्ययन किया जा सकता है; यह दूसरे के शरीर के किसी अंग को पकड़ने का प्रश्न नहीं

यहाँ तक कि सभी दूसरों की अनुपस्थिति में भी इस रूप में प्रकट हो सकता है। लेकिन हम पहले ही देख चुके हैं कि अनुपस्थिति दूसरे और मेरे बीच एक ठोस अस्तित्वगत संबंध है, जो 'दूसरों के लिए अस्तित्व' के मूल आधार पर प्रकट होता है। मैं, निःसंदेह, एकांत में अपने शरीर की खोज करके, अचानक स्वयं को मांस के रूप में महसूस कर सकता हूँ, इच्छा से "घुट" सकता हूँ और संसार को "घुटन भरा" अनुभव कर सकता हूँ। लेकिन यह एकांत इच्छा या तो किसी विशिष्ट दूसरे से या अविभेदित दूसरे की उपस्थिति से अपील है। मैं दूसरे मांस के माध्यम से और उसके लिए मांस के रूप में प्रकट होना चाहता हूँ। मैं दूसरे पर जादू करने और उसे प्रकट करने का प्रयास करता हूँ; और इच्छा का संसार एक प्रकार के तैयार स्थान द्वारा उस दूसरे को इंगित करता है जिसे मैं पुकार रहा हूँ। अत: इच्छा किसी भी प्रकार से एक शारीरिक संयोग नहीं है, न ही यह हमारी देह की एक खुजली है जो संयोगवश हमें दूसरे की देह की ओर ले जाती है। बल्कि इसके विपरीत, मेरी देह और दूसरे की देह के अस्तित्व के लिए, चेतना का प्रारंभिक रूप से इच्छा के सांचे में ढलना आवश्यक है। यह इच्छा दूसरे के साथ हमारे संबंधों का एक आदिम रूप है जो दूसरे को इच्छा की दुनिया में वांछनीय देह के रूप में स्थापित करता है।
अब हम इच्छा के गहन अर्थ को स्पष्ट करने की स्थिति में हैं। दूसरे की दृष्टि के प्रति आदिम प्रतिक्रिया में मैं स्वयं को एक दृष्टि के रूप में स्थापित करता हूँ। परन्तु यदि मैं दूसरे की स्वतंत्रता से स्वयं का बचाव करने और स्वतंत्रता के रूप में उससे परे जाने के लिए उसकी दृष्टि को देखता हूँ, तो दूसरे की स्वतंत्रता और दृष्टि दोनों ही नष्ट हो जाती हैं। मुझे आँखें दिखाई देती हैं; मुझे संसार के मध्य में एक अस्तित्व दिखाई देता है। इसके बाद दूसरा मुझसे विमुख हो जाता है। मैं उसकी स्वतंत्रता पर कार्य करना चाहता हूँ, उसे अपना बनाना चाहता हूँ, या कम से कम, दूसरे की स्वतंत्रता को अपनी स्वतंत्रता को पहचानने के लिए विवश करना चाहता हूँ। परन्तु यह स्वतंत्रता मृत्यु है; यह उस संसार में पूर्णतः विद्यमान नहीं रह जाती जिसमें मैं दूसरे को वस्तु के रूप में देखता हूँ, क्योंकि उसका गुण संसार से परे होना है। निश्चित रूप से, मैं दूसरे को पकड़ सकता हूँ, उसे थाम सकता हूँ, उसे गिरा सकता हूँ। यदि मुझमें शक्ति हो, तो मैं उसे यह या वह कार्य करने, कुछ शब्द कहने के लिए विवश कर सकता हूँ। परन्तु सब कुछ ऐसा होता है मानो मैं किसी ऐसे व्यक्ति को पकड़ना चाहता हूँ जो भाग जाता है और मेरे हाथों में केवल अपना कोट छोड़ जाता है। यह मेरा आवरण है, यह मेरा बाहरी कवच है। मैं इस संसार के बीच एक शरीर, एक मानसिक वस्तु से अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। और यद्यपि इस शरीर के सभी कार्यों की व्याख्या स्वतंत्रता के संदर्भ में की जा सकती है, मैंने इस व्याख्या की कुंजी पूरी तरह खो दी है; मैं केवल वास्तविकता पर ही कार्य कर सकता हूँ। यदि मैंने दूसरे में निहित अलौकिक स्वतंत्रता के प्रति अपनी जागरूकता को बनाए रखा है, तो यह जागरूकता मुझे व्यर्थ ही प्रेरित करती है, क्योंकि यह एक ऐसी वास्तविकता की ओर इशारा करती है जो सिद्धांततः मेरी पहुँच से परे है और मुझे हर क्षण यह एहसास दिलाती है कि मैं इसे खो रहा हूँ, कि मैं जो कुछ भी

पुस्तक" हैं। यही कारण है कि अस्तित्वों का अस्तित्व आमतौर पर उनके कार्य से ढका रहता है। यही बात दूसरे के अस्तित्व के लिए भी सच है। यदि दूसरा व्यक्ति मुझे एक सेवक, एक कर्मचारी, एक सरकारी कर्मचारी, या केवल एक राहगीर के रूप में दिखाई देता है जिससे मुझे बचना चाहिए, या उस आवाज़ के रूप में जो बगल के कमरे में बोल रही है और जिसे मैं समझने की कोशिश करता हूँ (या दूसरी ओर, जिसे मैं भूलना चाहता हूँ क्योंकि यह मुझे सोने नहीं देती), तो न केवल दूसरे व्यक्ति का अलौकिक भेद्य स्वरूप मुझसे दूर हो जाता है, बल्कि संसार के बीच एक शुद्ध आकस्मिक अस्तित्व के रूप में उसकी उपस्थिति भी मुझसे छूट जाती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जब मैं उसे एक सेवक या एक कार्यालय क्लर्क के रूप में मानता हूँ, तभी मैं उसकी संभावनाओं (भेद्य स्वरूप से परे, मृत संभावनाओं) को उस परियोजना से पार कर जाता हूँ जिसके द्वारा मैं अपनी स्वयं की वास्तविकता को पार और नष्ट कर देता हूँ। यदि मैं उसकी साधारण उपस्थिति में लौटना चाहता हूँ और उसे उपस्थिति के रूप में अनुभव करना चाहता हूँ, तो मेरे लिए स्वयं को अपनी उपस्थिति तक सीमित करना आवश्यक है। मेरी उपस्थिति का प्रत्येक अतिक्रमण वास्तव में दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति का अतिक्रमण है। और यदि मेरे चारों ओर की दुनिया एक ऐसी स्थिति के रूप में है जिसे मैं स्वयं की ओर पार करता हूँ, तो मैं दूसरे को उसकी स्थिति के संदर्भ में समझता हूँ; अर्थात्, पहले से ही एक संदर्भ केंद्र के रूप में।
निःसंदेह वांछित दूसरे को भी स्थिति में ही समझना आवश्यक है: मैं संसार में एक स्त्री की कामना करता हूँ, जो मेज के पास खड़ी हो, बिस्तर पर नग्न लेटी हो, या मेरे बगल में बैठी हो। परन्तु यदि कामना स्थिति से वापस उस व्यक्ति पर प्रवाहित होती है जो उस स्थिति में है, तो यह स्थिति को भंग करने और संसार में दूसरे के संबंधों को नष्ट करने के लिए होती है। आस-पास के "वातावरण" से वांछित व्यक्ति की ओर जाने वाली कामना की गति एक पृथककारी गति है जो वातावरण को नष्ट कर देती है और संबंधित व्यक्ति को अलग कर देती है ताकि उसकी शुद्ध वास्तविकता का उद्भव हो सके। परन्तु यह तभी संभव है जब प्रत्येक वस्तु जो मुझे उस व्यक्ति से जोड़ती है, अपनी शुद्ध आकस्मिकता में स्थिर हो, उसी समय जब वह मुझे उस व्यक्ति का संकेत देती है; परिणामस्वरूप दूसरे के अस्तित्व की ओर यह वापसी गति स्वयं की ओर शुद्ध अस्तित्व के रूप में वापसी की गति है। मैं संसार की संभावनाओं को नष्ट करने और संसार को "इच्छाओं के संसार" के रूप में स्थापित करने के लिए अपनी संभावनाओं को नष्ट करता हूँ। यानी, एक ऐसी अव्यवस्थित दुनिया के रूप में जिसने अपना अर्थ खो दिया है, एक ऐसी दुनिया जिसमें चीजें शुद्ध पदार्थ के टुकड़ों की तरह, क्रूर गुणों की तरह उभरी हुई हैं। चूंकि 'स्वयं के लिए' एक चुनाव है, यह तभी संभव है जब मैं स्वयं को एक नई संभावना की ओर प्रक्षेपित करूं: "जैसे स्याही सोख्ता कागज में समा जाती है, वैसे ही अपने शरीर में समाहित हो जाना", अपने शुद्ध अस्तित्व में सिमट जाना। यह परियोजना, क्योंकि यह केवल कल्पना और विषयगत रूप से स्थापित नहीं है बल्कि जी जाती है—अर्थात्, क्योंकि इसकी प्राप्ति इसकी कल्पना से भिन्न नहीं है

विशेष कमी जो स्थिति को ठीक उसी क्षण नष्ट कर देती है जब मैं इसे समझता हूँ और जो मुझे मांस के निष्क्रिय विस्तार को गति के पतले आवरण के नीचे एक अचानक उपस्थिति के रूप में प्रकट करती है (जब मैं इस मांस के लिए इच्छा की अवस्था में नहीं होता): इसे ही मैं अश्लील कहूँगा।
अब हम उस क्रूर व्यक्ति की मांग का अर्थ समझ सकते हैं: अनुग्रह, स्वतंत्रता को दूसरे-वस्तु के गुण के रूप में प्रकट करता है और अस्पष्ट रूप से—ठीक वैसे ही जैसे प्लेटो के स्मरण में इंद्रिय जगत के विरोधाभास करते हैं—एक पारलौकिक परलोक की ओर इशारा करता है जिसकी केवल एक धुंधली स्मृति ही हमारे पास सुरक्षित है और जिस तक हम केवल अपने अस्तित्व में आमूल परिवर्तन करके ही पहुँच सकते हैं; अर्थात्, दूसरों के लिए अपने अस्तित्व को दृढ़ता से अपनाकर। अनुग्रह दूसरे के शरीर को प्रकट भी करता है और छुपाता भी है, या यूँ कहें कि यह शरीर को प्रकट करता है ताकि तुरंत उसे छुपा सके; अनुग्रह में शरीर ही वह अगम्य दूसरा है। क्रूर व्यक्ति अनुग्रह को नष्ट करके वास्तव में दूसरे का एक नया संश्लेषण करना चाहता है। वह दूसरे के शरीर को प्रकट करना चाहता है; और अपने प्रकट होने मात्र से ही शरीर अनुग्रह को नष्ट कर देगा, और वास्तविकता दूसरे की स्वतंत्रता-वस्तु को पुनः आत्मसात कर लेगी। यह पुनः आत्मसात करना विनाश नहीं है; क्रूर व्यक्ति के लिए, यह दूसरा-स्वतंत्र है जो शरीर के रूप में प्रकट होता है। इन अवतारों के माध्यम से दूसरे की वस्तु-रूप पहचान नष्ट नहीं होती, बल्कि शरीर और स्वतंत्रता के बीच संबंध उलट जाते हैं। अनुग्रह में स्वतंत्रता वास्तविकता को समाहित और छिपाती है; नए संश्लेषण में वास्तविकता ही स्वतंत्रता को समाहित और छिपाती है। इसलिए, क्रूर व्यक्ति का उद्देश्य शरीर को अचानक और विवशता से प्रकट करना होता है; अर्थात्, अपने शरीर के बल पर नहीं, बल्कि अपने शरीर को एक उपकरण के रूप में उपयोग करके। उसका उद्देश्य दूसरे को ऐसी मुद्राएँ और स्थितियाँ अपनाने के लिए मजबूर करना होता है जिससे उसका शरीर अश्लील रूप में प्रकट हो; इस प्रकार क्रूर व्यक्ति स्वयं एक उपकरण के रूप में ही कार्य करता है क्योंकि वह दूसरे पर बल प्रयोग करके शरीर को उत्पन्न करता है, और दूसरा व्यक्ति उसके हाथों में एक उपकरण बन जाता है। क्रूर व्यक्ति दूसरे के शरीर को छूता है, उसके कंधों पर झुकता है ताकि उसे धरती की ओर झुका सके और उसके कूल्हे ऊपर उठा सके, आदि। दूसरी ओर, इस उपकरणिक उपयोग का लक्ष्य स्वयं उपयोग में ही निहित है; क्रूर व्यक्ति दूसरे के शरीर को प्रकट करने के लिए उसे एक उपकरण के रूप में उपयोग करता है। क्रूर व्यक्ति वह प्राणी है जो दूसरे को एक उपकरण के रूप में देखता है, जिसका कार्य स्वयं का साकार रूप धारण करना है। इसलिए क्रूर व्यक्ति का आदर्श वह क्षण प्राप्त करना होगा जब दूसरा व्यक्ति एक उपकरण बने रहते हुए भी मांस का रूप धारण कर ले, मांस जो मांस को जन्म देता है, वह क्षण जब जांघें, उदाहरण के लिए, एक अश्लील रूप से फैलती हुई निष्क्रियता में स्वयं को प्रस्तुत करती हैं, और फिर भी वे ऐसे उपकरण हैं जिन्हें नियंत्रित किया जाता है, जिन्हें एक तरफ धकेला जाता है, जिन्हें मोड़ा जाता है ताकि नितंब उभर आएं और बदले में उन्हें साकार रूप दिया जा सके।

दीवार पर कीलें और ठोकने के लिए रखी गई तस्वीर हथौड़े के अस्तित्व को उचित ठहराती हैं। अचानक, मांस के रूप में शरीर का चरित्र—अर्थात्, उसकी अनुपयोगी वास्तविकता—एक साधन के रूप में बदल जाता है। क्रूरतावादी द्वारा निर्मित जटिल "मांस-उपकरण" विघटित हो जाता है। यह गहरा विघटन तब तक छिपा रह सकता है जब तक मांस, मांस को प्रकट करने का साधन है, क्योंकि इस तरह मैं एक अंतर्निहित लक्ष्य के साथ एक उपकरण का निर्माण करता हूँ। लेकिन जब अवतार प्राप्त हो जाता है, जब वास्तव में मेरे सामने एक कांपता हुआ शरीर होता है, तब मुझे यह नहीं पता होता कि इस मांस का उपयोग कैसे किया जाए। इसका कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि मैंने इसकी पूर्ण आकस्मिकता का आभास कराया है। यह मौजूद है, और इसका कोई औचित्य नहीं है। इस रूप में मैं इसे शरीर के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता; मैं इसे शरीर के रूप में इसकी भौतिकता, इसकी "शारीरिकता" के बिना किसी जटिल क्रियाविधि में एकीकृत नहीं कर सकता, क्योंकि यह मुझसे तुरंत दूर हो जाती है। मैं केवल इसके सामने चिंतनशील विस्मय की अवस्था में विचलित रह सकता हूँ, या फिर स्वयं को शरीर में ढालकर फिर से विचलित होने दे सकता हूँ, ताकि मैं कम से कम उस स्तर पर पहुँच सकूँ जहाँ शरीर अपनी संपूर्ण "शारीरिकता" में शरीर के सामने प्रकट होता है। इस प्रकार, जिस क्षण इसका लक्ष्य प्राप्त होने वाला होता है, उसी क्षण दुखवाद इच्छा के आगे झुक जाता है। दुखवाद इच्छा की विफलता है, और इच्छा दुखवाद की विफलता है। इस चक्र से केवल तृप्ति और तथाकथित "शारीरिक अधिकार" के माध्यम से ही बाहर निकला जा सकता है। इसमें दुखवाद और इच्छा का एक नया संश्लेषण निहित है। यौन उत्तेजना साकार रूप धारण करती है, "प्रवेश करना" या "प्रवेशित होना" प्रतीकात्मक रूप से उस क्रूर और आत्मपीड़ित प्रयास को साकार करता है जो किसी चीज़ पर अधिकार जमाने का प्रयास करता है। लेकिन अगर आनंद हमें इस चक्र से बाहर निकलने में सक्षम बनाता है, तो इसका कारण यह है कि यह इच्छा और क्रूर जुनून दोनों को संतुष्ट किए बिना ही समाप्त कर देता है।
साथ ही, एक बिल्कुल अलग स्तर पर, क्रूरता असफलता का एक नया कारण छिपाती है। क्रूरतावादी वास्तव में पीड़ित की अलौकिक स्वतंत्रता को हथियाना चाहता है। लेकिन यह स्वतंत्रता सैद्धांतिक रूप से उसकी पहुँच से बाहर रहती है। और क्रूरतावादी जितना अधिक दूसरे को एक उपकरण की तरह इस्तेमाल करता है, यह स्वतंत्रता उससे उतनी ही दूर होती जाती है। वह इस स्वतंत्रता पर तभी कार्य कर सकता है जब वह इसे दूसरे-वस्तु का एक वस्तुनिष्ठ गुण बना दे; यानी, इस दुनिया के बीच, जहाँ संभावनाएं निष्फल हैं, स्वतंत्रता पर। लेकिन चूंकि क्रूरतावादी का लक्ष्य दूसरों के लिए अपने अस्तित्व को पुनः प्राप्त करना है, इसलिए वह सैद्धांतिक रूप से इसमें असफल रहता है, क्योंकि एकमात्र दूसरा व्यक्ति जिससे उसका संबंध है, वह दुनिया में मौजूद दूसरा व्यक्ति है जिसके मन में क्रूरतावादी द्वारा उस पर किए गए हमले की केवल "छवियां" हैं। जब पीड़ित व्यक्ति उसे देखता है, तब क्रूर व्यक्ति को अपनी गलती का एहसास होता है; यानी, जब वह दूसरे की स्वतंत्रता में अपने अस्तित्व के पूर्ण अलगाव का अनुभव करता है; तब उसे न केवल यह अहसास होता है कि उसने अपना

बाहरी अस्तित्व वापस नहीं पाया है, बल्कि यह भी कि जिस क्रिया से वह इसे वापस पाने की कोशिश करता है, वह स्वयं "क्रूरता" में एक आदत और गुण के रूप में समाहित और स्थिर हो गई है, जिसमें मृत संभावनाओं का एक समूह शामिल है, और यह परिवर्तन उस दूसरे व्यक्ति के माध्यम से और उसके लिए होता है जिसे वह गुलाम बनाना चाहता है। तब उसे पता चलता है कि वह दूसरे की स्वतंत्रता पर तब भी कार्य नहीं कर सकता, जब वह उसे अपमानित होने और दया की भीख मांगने के लिए मजबूर करता है, क्योंकि ठीक उसी पूर्ण स्वतंत्रता में और उसी के माध्यम से एक ऐसी दुनिया विद्यमान है जिसमें क्रूरता, यातना के उपकरण और अपमानित होने और स्वयं को त्यागने के सौ बहाने मौजूद हैं। पीड़ित की अपने यातनादाताओं को देखने की शक्ति को फॉल्कनर ने 'लाइट इन अगस्त' के अंतिम पृष्ठों में जिस तरह चित्रित किया है, उससे बेहतर किसी ने नहीं किया है। “नेक नागरिकों” ने अभी-अभी नीग्रो, क्रिसमस का पीछा किया है और उसे नपुंसक बना दिया है। क्रिसमस मौत के कगार पर है:
लेकिन ज़मीन पर पड़ा वह आदमी हिला तक नहीं। वह बस वहीं पड़ा रहा, आँखें खुली और चेतना के सिवा कुछ भी नहीं, और उसके मुँह के आसपास कुछ, एक परछाई, मंडरा रही थी। कुछ देर तक उसने शांत, अथाह और असहनीय आँखों से उनकी ओर देखा। फिर उसका चेहरा, शरीर, सब कुछ ढह गया, मानो अपने आप में सिमट गया हो, और उसकी कमर और कूल्हों के आसपास फटे हुए कपड़ों से जमा हुआ काला खून मानो एक साँस की तरह बह निकला। ऐसा लगा जैसे उसके पीले शरीर से चिंगारियों की तरह खून निकल रहा हो, जैसे किसी रॉकेट से चिंगारियाँ निकल रही हों; उस काले विस्फोट के साथ वह आदमी हमेशा के लिए उनकी यादों में बस गया। वे उसे खो नहीं सकते, चाहे कितनी भी शांत घाटियों में हों, बुढ़ापे की कितनी ही शांत और आश्वस्त करने वाली धाराओं के किनारे हों, चाहे बच्चों के चेहरे में वे पुरानी आपदाओं और नई आशाओं पर विचार करें। वह वहाँ रहेगा, चिंतन करता हुआ, शांत, अटल, न फीका पड़ता हुआ और न ही विशेष रूप से खतरनाक, बल्कि अपने आप में शांत, अपने आप में विजयी। फिर से शहर से, दीवारों से थोड़ा शांत, सायरन की चीख अविश्वसनीय रूप से चरम सीमा तक पहुँच गई, और श्रवण शक्ति की सीमा से बाहर निकल गई।
इस प्रकार, क्रूर व्यक्ति की दुनिया में दूसरे के दृष्टिकोण के इस विस्फोट से क्रूरता का अर्थ और लक्ष्य ध्वस्त हो जाता है। क्रूर व्यक्ति को पता चलता है कि वह उसी स्वतंत्रता को गुलाम बनाना चाहता था, और साथ ही उसे अपने प्रयासों की निरर्थकता का भी एहसास होता है। यहाँ एक बार फिर हम देखने की क्रिया में होने से देखे जाने की क्रिया में लौट आते हैं; हम इस चक्र से बाहर नहीं निकल पाते।
इन कुछ टिप्पणियों से हमने यौन समस्या का पूर्ण समाधान नहीं किया है, और न ही दूसरे के प्रति संभावित दृष्टिकोणों का। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि यौन दृष्टिकोण दूसरे के प्रति एक प्राथमिक व्यवहार है। यह स्पष्ट है कि इस व्यवहार में अनिवार्य रूप से दूसरों के लिए अस्तित्व और हमारी स्वयं की वास्तविकता की मूल आकस्मिकता शामिल है। लेकिन हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि यह व्यवहार प्रारंभ से ही शारीरिक और अनुभवजन्य

जिसे यौन घृणा कहा जाता है। और यौन परियोजना की इस निरंतरता को इस तरह समझना आवश्यक नहीं है जैसे कि यह अचेतन अवस्था में "हमारे भीतर" निवास करती हो। स्व-हित की परियोजना केवल चेतन रूप में ही विद्यमान हो सकती है। यह एक विशेष संरचना के साथ एकीकृत रूप में विद्यमान होती है जिसमें यह विलीन हो जाती है। मनोविश्लेषकों के मन में यही बात रही है जब उन्होंने यौन भावात्मकता को एक "कोरा कागज" माना है जो अपने सभी निर्धारणों को व्यक्तिगत इतिहास से प्राप्त करता है। लेकिन यह मानना आवश्यक नहीं है कि कामुकता अपने मूल में अनिश्चित है; वास्तव में इसमें स्व-हित के उदय के क्षण से ही इसके सभी निर्धारण शामिल हैं, उस दुनिया में जहां "अन्य" मौजूद हैं। जो अनिश्चित है और जिसे प्रत्येक व्यक्ति के इतिहास द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए, वह दूसरे के साथ संबंध का विशेष प्रकार है जिसमें यौन दृष्टिकोण (इच्छा-प्रेम, आत्मपीड़ा-दुखवाद) अपनी स्पष्ट शुद्धता में प्रकट होगा।
ये दृष्टिकोण मौलिक हैं, इसीलिए हमने इन्हें दूसरे के साथ संबंधों के चक्र को प्रदर्शित करने के लिए चुना है। चूंकि ये दृष्टिकोण वास्तव में दूसरों के प्रति सभी दृष्टिकोणों में समाहित हैं, इसलिए इनका चक्र दूसरे के प्रति सभी आचरण की समग्रता को समाहित करता है। जिस प्रकार प्रेम स्वयं में ही अपनी विफलता पाता है और जिस प्रकार इच्छा प्रेम की मृत्यु से उत्पन्न होकर अंततः प्रेम को ही अपना स्थान देती है, उसी प्रकार दूसरे को वस्तु मानकर किए जाने वाले सभी आचरणों में दूसरे को विषय मानकर किए जाने वाले आचरण का एक अंतर्निहित और पराक्रमिक संदर्भ निहित होता है, और यही संदर्भ उनकी मृत्यु है। दूसरे को वस्तु मानकर किए जाने वाले किसी विशेष आचरण की मृत्यु पर एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न होता है जिसका उद्देश्य दूसरे को विषय मानकर उस पर अधिकार प्राप्त करना होता है, और यह बदले में अपनी अस्थिरता प्रकट करता है और विपरीत आचरण को अपना स्थान देने के लिए ध्वस्त हो जाता है। इस प्रकार हम अनिश्चित काल तक दूसरे को वस्तु मानकर किए जाने वाले आचरण से दूसरे को विषय मानकर किए जाने वाले आचरण से जुड़े रहते हैं। यह गति कभी रुकती नहीं है, और दिशा में अचानक होने वाले ये परिवर्तन ही दूसरे के साथ हमारे संबंध का निर्माण करते हैं। किसी भी क्षण जब किसी व्यक्ति पर विचार किया जाता है, वह इन दोनों में से किसी एक मनोवृत्ति में होता है—वह न तो एक से संतुष्ट होता है और न ही दूसरी से। हम अपनी नियति या अपने इतिहास की विशेष परिस्थितियों के आधार पर अपनाई गई मनोवृत्ति में कम या ज्यादा समय तक बने रह सकते हैं। लेकिन कोई भी मनोवृत्ति अपने आप में पर्याप्त नहीं होती; वह हमेशा अस्पष्ट रूप से अपने विपरीत की ओर इशारा करती है। इसका अर्थ यह है कि हम दूसरे के प्रति कभी भी एक सुसंगत मनोवृत्ति नहीं रख सकते जब तक कि वह हमें एक ही समय में विषय और वस्तु, पारलौकिकता को पार करने वाले और पारलौकिकता को पार करने वाले के रूप में प्रकट न हो—जो सिद्धांत रूप से असंभव है। इस प्रकार निरंतर दृष्टि से दृष्टिगत होने की स्थिति में, बारी- बारी से एक से दूसरे में बदलते हुए, हम हमेशा, चाहे कोई भी मनोवृत्ति अपनाई जाए, दूसरे के संबंध में अस्थिरता की स्थिति में रहते हैं। हम उसकी

हालांकि, इसका यह मतलब नहीं है कि "मुक्त व्यापार" और सहिष्णुता की नैतिकता दूसरे की स्वतंत्रता का बेहतर सम्मान करेगी। मेरे अस्तित्व के क्षण से ही मैं दूसरे की स्वतंत्रता की एक वास्तविक सीमा निर्धारित कर देता हूँ। मैं ही यह सीमा हूँ, और मेरी प्रत्येक परियोजना दूसरे के चारों ओर इस सीमा की रूपरेखा तैयार करती है। दान, मुक्त व्यापार, सहिष्णुता— यहाँ तक कि संयम का रवैया भी—ये सभी मेरी ही परियोजनाएँ हैं जो मुझे और दूसरे को उसकी सहमति में बांधे रखती हैं। दूसरे के प्रति सहिष्णुता का साकार होना, दूसरे को जबरदस्ती एक सहिष्णु दुनिया में धकेलना है। इसका अर्थ है सिद्धांत रूप से उससे साहसी प्रतिरोध, दृढ़ता और आत्म-अभिव्यक्ति की उन स्वतंत्र संभावनाओं को छीन लेना जिन्हें वह असहिष्णुता की दुनिया में विकसित कर सकता था। शिक्षा की समस्या पर विचार करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है: कठोर शिक्षा बच्चे को एक उपकरण की तरह इस्तेमाल करती है, क्योंकि यह उसे उन मूल्यों को जबरदस्ती अपनाने के लिए विवश करने का प्रयास करती है जिन्हें उसने स्वीकार नहीं किया है, जबकि उदार शिक्षा अन्य विधियों का उपयोग करने के बावजूद भी पूर्व-निर्धारित सिद्धांतों और मूल्यों को चुनती है जिनके नाम पर बच्चे को प्रशिक्षित किया जाएगा। बच्चे को समझा-बुझाकर और कोमलता से प्रशिक्षित करना भी उसे विवश करने के समान ही है। इस प्रकार, दूसरे की स्वतंत्रता का सम्मान करना एक खोखला शब्द है; भले ही हम इस स्वतंत्रता का सम्मान करने का संकल्प लें, दूसरे के प्रति हमारा प्रत्येक दृष्टिकोण उस स्वतंत्रता का उल्लंघन होगा जिसका हम सम्मान करने का दावा करते हैं। दूसरे के प्रति पूर्ण उदासीनता का चरम दृष्टिकोण भी कोई समाधान नहीं है। हम पहले से ही इस दुनिया में दूसरे के सामने खड़े हैं; हमारा उग्र व्यवहार उसकी स्वतंत्रता का एक अनियंत्रित अवरोध है और कुछ भी — यहां तक कि आत्महत्या भी—इस मूल स्थिति को नहीं बदल सकता। हमारे कार्य चाहे जो भी हों, वास्तव में, हमें उन्हें ऐसी दुनिया में अंजाम देना होगा जहां पहले से ही दूसरे मौजूद हैं और जहां मैं दूसरों के संबंध में अनावश्यक हूं।
ऐसा प्रतीत होता है कि इसी विलक्षण परिस्थिति से दोष और पाप की धारणा उत्पन्न होती है। मैं दूसरे के समक्ष दोषी हूँ। मैं सबसे पहले तब दोषी होता हूँ जब दूसरे की दृष्टि में मैं अपने अलगाव और नग्नता को एक ऐसे पतन के रूप में अनुभव करता हूँ जिसे मुझे स्वीकार करना ही होगा। यही धर्मग्रंथ की प्रसिद्ध पंक्ति का अर्थ है: "वे जानते थे कि वे नग्न हैं।" मैं फिर से दोषी होता हूँ जब मैं बदले में दूसरे को देखता हूँ, क्योंकि अपने आत्म-अभिव्यक्ति के कारण ही मैं उसे एक वस्तु और एक साधन बना देता हूँ, और उसे उसी अलगाव का अनुभव कराता हूँ जिसे अब उसे स्वीकार करना होगा। इस प्रकार, मूल पाप उस संसार में मेरा उभार है जहाँ दूसरे भी हैं; और दूसरों के साथ मेरे आगे के संबंध चाहे जैसे भी हों, ये संबंध मेरे मूल दोष के ही विभिन्न रूप होंगे।
लेकिन इस अपराधबोध के साथ-साथ लाचारी भी है, और यह लाचारी कभी भी मुझे मेरे अपराधबोध से मुक्त नहीं कर पाती। जैसा कि हमने देखा है, दूसरे की

स्वतंत्रता के लिए मैं चाहे जो भी करूँ, मेरे प्रयास केवल दूसरे को एक साधन के रूप में मानने और उसकी स्वतंत्रता को एक पारलौकिक-पर-परिभाषित वस्तु के रूप में स्थापित करने तक ही सीमित रह जाते हैं। लेकिन दूसरी ओर, मैं चाहे कितनी भी प्रबल शक्ति का प्रयोग करूँ, मैं दूसरे को उसके वस्तु स्वरूप के अलावा कभी स्पर्श नहीं कर सकता। मैं उसकी स्वतंत्रता को प्रकट होने के अवसर प्रदान करने के अलावा कुछ भी हासिल नहीं कर सकता, और न ही उसे बढ़ाने या घटाने, निर्देशित करने या उस पर नियंत्रण पाने में कभी सफल हो सकता हूँ। इस प्रकार मैं अपने अस्तित्व में ही दूसरे के प्रति दोषी हूँ क्योंकि मेरे अस्तित्व का उफान, अनजाने में ही, दूसरे को अस्तित्व का एक नया आयाम प्रदान करता है; और दूसरी ओर, मैं न तो अपनी गलती से लाभ उठा सकता हूँ और न ही उसे सुधार सकता हूँ।
एक स्व-हितकारी चेतना, जिसने स्वयं को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर इन विभिन्न रूपों का अनुभव किया है, दूसरे की मृत्यु का पीछा करने के अपने पूर्व प्रयासों की निरर्थकता के पूर्ण ज्ञान के साथ यह निर्धारित कर सकती है। इस स्वतंत्र निर्धारण को घृणा कहा जाता है। इसमें एक मूलभूत त्याग निहित है; स्व-हितकारी चेतना दूसरे के साथ किसी भी प्रकार के मिलन की प्राप्ति के अपने दावे को त्याग देती है; यह दूसरे को अपने भीतर के अस्तित्व को पुनः प्राप्त करने के साधन के रूप में उपयोग करना छोड़ देती है। यह केवल तथ्यात्मक सीमाओं से परे एक स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करना चाहती है; अर्थात्, दूसरे के लिए वस्तु के रूप में अपने अगोचर अस्तित्व से छुटकारा पाना और अपने अलगाव के आयाम को समाप्त करना चाहती है। यह एक ऐसे संसार की कल्पना करने के समर्थ है जिसमें दूसरा अस्तित्वहीन है। घृणा करने वाली स्व-हितकारी चेतना केवल स्वयं के लिए ही अस्तित्व में रहने के लिए सहमत होती है; दूसरों के लिए अपने अस्तित्व का उपयोग करने की असंभवता के अपने विभिन्न अनुभवों से निर्देशित होकर, यह फिर से केवल अपने अस्तित्व का एक स्वतंत्र शून्यीकरण, एक निरर्थक समग्रता, एक ऐसा लक्ष्य बनना पसंद करती है जो स्वयं को अपने लक्ष्य निर्धारित करता है। घृणा करने वाला व्यक्ति स्वयं को वस्तु के रूप में प्रकट नहीं करता; घृणा स्वयं को दूसरे के समक्ष स्वतः-स्वतंत्रता की पूर्ण स्थापना के रूप में प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि घृणा घृणा की वस्तु को नीचा नहीं दिखाती, क्योंकि यह विवाद को उसके वास्तविक स्तर पर रखती है। मैं दूसरे में जिस बात से घृणा करता हूँ, वह उसका रूप, उसकी त्रुटि या उसका विशेष कार्य नहीं है। मैं उससे घृणा करता हूँ, जो एक पारलौकिक-पारित प्राणी के रूप में उसके सामान्य अस्तित्व से करता है। यही कारण है कि घृणा दूसरे की स्वतंत्रता की पहचान को दर्शाती है। परन्तु यह पहचान अमूर्त और नकारात्मक है; घृणा केवल दूसरे को वस्तु के रूप में जानती है और स्वयं को इसी वस्तु से जोड़ लेती है। वह इस वस्तु को नष्ट करना चाहती है ताकि उसी प्रहार से उस पारलौकिकता पर विजय प्राप्त कर सके जो उसे व्याकुल रखती है। इस पारलौकिकता को केवल एक दुर्गम परलोक के रूप में, घृणा करने वाले स्वतः-स्वतंत्रता के शाश्वत अलगाव की संभावना के रूप में ही मंद रूप से अनुभव किया जाता है। इसलिए इसे कभी भी

III. “साथ होना” (मित्सीन) और “हम” निस्संदेह कोई न कोई हमें यह बताना चाहेगा कि हमारा वर्णन अधूरा है क्योंकि इसमें उन ठोस अनुभवों के लिए कोई जगह नहीं है जिनमें हम स्वयं को दूसरे के साथ संघर्ष में नहीं बल्कि उसके साथ समुदाय में पाते हैं। और यह सच है कि हम अक्सर "हम" शब्द का प्रयोग करते हैं। इस व्याकरणिक रूप का अस्तित्व और प्रयोग हमें अनिवार्य रूप से मितसेन के वास्तविक अनुभव की ओर ले जाता है। "हम" कर्ता हो सकता है और इस रूप में यह "मैं" के बहुवचन के समान है। निश्चित रूप से, व्याकरण और विचार के बीच समानता कई मामलों में संदेहजनक है; वास्तव में, प्रश्न पर पूरी तरह से पुनर्विचार किया जाना चाहिए और भाषा और विचार के संबंध का अध्ययन एक बिल्कुल नए दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। फिर भी यह सच है कि "हम" कर्ता तब तक कल्पनीय प्रतीत नहीं होता जब तक कि यह कम से कम कई कर्ताओं के विचार को संदर्भित न करे जो एक साथ एक दूसरे को व्यक्तिपरकता के रूप में समझते हैं, अर्थात् पारलौकिक-पारलौकिक के रूप में न कि पारलौकिक-पारलौकिक के रूप में। यदि “हम” शब्द मात्र एक निरर्थक अभिव्यक्ति नहीं है, तो यह एक ऐसी अवधारणा को दर्शाता है जिसमें अनंत प्रकार के अनुभव समाहित हैं। और ये अनुभव स्वयं ही दूसरे के लिए मेरे अस्तित्व के अनुभव और मेरे लिए दूसरे के अस्तित्व के अनुभव के विपरीत प्रतीत होते हैं। “हम” में कोई भी वस्तु नहीं है। “हम” में अनेक व्यक्तिपरक तत्व समाहित हैं जो एक दूसरे को व्यक्तिपरक के रूप में पहचानते हैं। फिर भी, यह पहचान किसी स्पष्ट सिद्धांत का विषय नहीं है; जो स्पष्ट रूप से स्थापित है वह एक सामान्य क्रिया या एक सामान्य बोध का विषय है। “हम” प्रतिरोध करते हैं, “हम” आक्रमण के लिए आगे बढ़ते हैं, “हम” दोषियों की निंदा करते हैं, “हम” इस या उस दृश्य को देखते हैं। इस प्रकार, व्यक्तिपरक तत्वों की पहचान गैर-आध्यात्मिक चेतना की आत्म-पहचान के समान है। अधिक सटीक रूप से, यह एक गैर-आध्यात्मिक चेतना द्वारा पार्श्व रूप से किया जाना चाहिए जिसका आध्यात्मिक विषय संसार में यह या वह दृश्य है। “हम” का सबसे अच्छा उदाहरण हमें नाट्य प्रदर्शन देखने वाले दर्शक से मिल सकता है, जिसकी चेतना काल्पनिक दृश्य को समझने, घटनाओं का पूर्वानुमान लगाने और काल्पनिक पात्रों को नायक, गद्दार, कैदी आदि के रूप में स्थापित करने में लीन हो जाती है। हालांकि, दृश्य के प्रति उसकी चेतना के उफान में ही वह गैर-नाटकीय रूप से दृश्य के सह-दर्शक होने की चेतना के रूप में गठित हो जाता है। वास्तव में, हर कोई उस अनकही झिझक को जानता है जो हमें आधे खाली सभागार में जकड़ लेती है और दूसरी ओर, उस उत्साह को जो भरे हुए और उत्साहपूर्ण हॉल में उमड़ता है और मजबूत हो जाता है। इसके अलावा, यह निश्चित है कि हम-विषय के अनुभव को किसी भी परिस्थिति में प्रकट किया जा सकता है। मैं एक कैफे के सामने फुटपाथ पर खड़ा हूँ, मैं अन्य ग्राहकों को देख रहा हूँ और मुझे पता है कि मुझे भी देखा जा रहा है। हम यहाँ दूसरों के साथ संघर्ष की सबसे सामान्य स्थिति में हैं (दूसरे का मेरे लिए वस्तु के रूप में अस्तित्व, दूसरे के लिए मेरा वस्तु के रूप में अस्तित्व)। लेकिन अचानक सड़क पर कोई घटना घटित होती है; उदाहरण के लिए, एक जीप और एक टैक्सी

के बीच मामूली टक्कर। ठीक उसी क्षण जब मैं घटना का दर्शक बनता हूँ, मैं स्वयं को गैर-धार्मिक रूप से "हम" में संलग्न अनुभव करता हूँ। पहले की प्रतिद्वंद्विताएँ, मामूली संघर्ष गायब हो गए हैं, और "हम" का आधार बनने वाली चेतनाएँ ठीक उन सभी लोगों की हैं जो घटना को देख रहे हैं: "हम" घटना को देखते हैं, "हम" उसमें भाग लेते हैं। यही वह एकमतता है जिसका वर्णन रोमन्स ने वी यूनानिमे या विन ब्लैंक डे ला विलेट में करना चाहा था। यहाँ हम फिर से हाइडेगर के मित्सीन की ओर लौटते हैं। तो क्या पहले इसकी आलोचना करना सार्थक था?
हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि हमारा इरादा "हम" की अनुभूति पर संदेह पैदा करने का नहीं था। हमने केवल यह दर्शाने का प्रयास किया कि यह अनुभूति दूसरे के प्रति हमारी चेतना का आधार नहीं हो सकती। वास्तव में, यह स्पष्ट है कि यह मानवीय वास्तविकता की एक तात्विक संरचना नहीं बन सकती; हमने सिद्ध किया है कि दूसरों के बीच स्वयं के अस्तित्व की उत्पत्ति मूल रूप से एक आध्यात्मिक और आकस्मिक तथ्य थी। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि "हम" न तो एक अंतर्वैयक्तिक चेतना है और न ही कोई नया अस्तित्व जो समाजशास्त्रियों की सामूहिक चेतना की तरह अपने भागों को एक संश्लेषित संपूर्ण के रूप में पार कर जाता है और घेर लेता है। "हम" का अनुभव एक विशेष चेतना द्वारा किया जाता है; यह आवश्यक नहीं है कि कैफे में बैठे सभी ग्राहक "हम" होने के प्रति सचेत हों ताकि मैं स्वयं को उनके साथ "हम" में संलग्न महसूस कर सकूँ। हर कोई इस तरह के रोजमर्रा के संवाद से परिचित है: "हम बहुत असंतुष्ट हैं।" "लेकिन नहीं, प्रिय, अपने बारे में बोलो।" इसका तात्पर्य यह है कि “हम” की कुछ असामान्य चेतनाएँ भी मौजूद हैं—जो अपने आप में पूर्णतः सामान्य चेतनाएँ ही हैं। यदि ऐसा है, तो किसी चेतना को “हम” में संलग्न होने की चेतना प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उससे ग्रसित होने वाली अन्य चेतनाएँ पहले किसी अन्य रूप में प्रदत्त हों; अर्थात्, या तो पारलौकिक-पार करने वाले के रूप में या पारलौकिक-पार किए जाने वाले के रूप में। “हम” एक विशिष्ट अनुभव है जो सामान्यतः “दूसरों के लिए” होने की भावना के आधार पर विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न होता है। “दूसरों के लिए” होना “दूसरों के साथ” होने से पहले आता है और उसकी नींव रखता है। इसके अलावा, जो दार्शनिक “हम” का अध्ययन करना चाहता है, उसे सावधानी बरतनी चाहिए और यह जानना चाहिए कि वह क्या कह रहा है। केवल “हम” कर्ता के रूप में ही नहीं होता; व्याकरण हमें सिखाता है कि “हम” पूरक के रूप में भी होता है— अर्थात, “हम” कर्म के रूप में भी होता है। अब तक कही गई सभी बातों से यह समझना आसान है कि “हम उन्हें देख रहे हैं” में “हम” और “वे हमें देख रहे हैं” में “हम” एक ही तात्विक तल पर नहीं हो सकते। यहाँ व्यक्तिपरकता का कोई प्रश्न नहीं है। “वे मुझे देख रहे हैं” वाक्य में, मैं यह इंगित करना चाहता हूँ कि मैं स्वयं को दूसरों के लिए एक वस्तु के रूप में, एक पृथक “मैं” के रूप में, एक पारलौकिक-पारित के रूप में अनुभव करता हूँ। यदि “वे हमें देख रहे हैं” वाक्य एक वास्तविक अनुभव को इंगित करता है, तो यह आवश्यक है कि इस अनुभव में मैं इस तथ्य का प्रमाण दूँ कि मैं पारलौकिक-पारित, पृथक “मैं” के

एक समुदाय में दूसरों के साथ जुड़ा हुआ हूँ। यहां "हम" शब्द साझा वस्तु होने के अनुभव को संदर्भित करता है। इस प्रकार, "हम" के अनुभव के दो बिल्कुल भिन्न रूप हैं, और ये दोनों रूप ठीक उसी प्रकार देखने की क्रिया में होने और देखे जाने की क्रिया से मेल खाते हैं जो स्वयं के और दूसरे के बीच मूलभूत संबंधों का निर्माण करते हैं। "हम" के इन्हीं दो रूपों का आगे अध्ययन किया जाना चाहिए।
ए. अमेरिकी वस्तु
हम इन अनुभवों में से दूसरे का विश्लेषण करके शुरुआत करेंगे; इसका अर्थ आसानी से समझा जा सकता है और शायद यह 'अन्य' के अध्ययन के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में काम आएगा। सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि 'हम' की अवधारणा हमें संसार में धकेलती है; हम इसे समुदाय से अलगाव के रूप में शर्मिंदगी के साथ अनुभव करते हैं। यह उस महत्वपूर्ण दृश्य से स्पष्ट होता है जिसमें कैदी क्रोध और शर्म से घुट जाते हैं जब एक सुंदर, सुरुचिपूर्ण ढंग से सजी महिला उनके जहाज पर आती है, उनके फटे-पुराने कपड़े, उनकी मेहनत और उनकी दयनीय स्थिति को देखती है। यहाँ हम एक साझा शर्मिंदगी और एक साझा अलगाव का अनुभव करते हैं। तो फिर, वस्तुओं के समुदाय में स्वयं को एक वस्तु के रूप में अनुभव करना कैसे संभव है? इसका उत्तर देने के लिए हमें 'अन्यों के लिए' होने की मूलभूत विशेषताओं पर लौटना होगा।
अब तक हमने उस सरल स्थिति पर विचार किया है जिसमें मैं अकेला हूँ और दूसरे का सामना कर रहा हूँ, जो भी अकेला है। इस स्थिति में मैं उसे देखता हूँ या वह मुझे देखता है। मैं उसकी श्रेष्ठता को पार करने का प्रयास करता हूँ या अपनी श्रेष्ठता को पार कर चुका अनुभव करता हूँ; और मैं अपनी संभावनाओं को मृत संभावनाओं के रूप में महसूस करता हूँ। हम एक जोड़ी बनाते हैं और हम दोनों एक-दूसरे के संबंध में एक स्थिति में हैं। लेकिन इस स्थिति का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व केवल एक या दूसरे के लिए ही है। हमारे पारस्परिक संबंध का कोई विपरीत पक्ष नहीं है। अपने वर्णन में हमने अभी तक इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा है कि दूसरे के साथ मेरा संबंध, मेरे और उसके सभी अन्यों के साथ संबंधों के अनंत आधार पर प्रकट होता है; अर्थात्, चेतनाओं की लगभग समग्रता पर। परिणामस्वरूप, इस दूसरे के साथ मेरा संबंध, जिसे मैंने पहले अपने 'दूसरों के लिए अस्तित्व' के आधार के रूप में अनुभव किया था, या दूसरे का मेरे साथ संबंध, प्रत्येक क्षण और हस्तक्षेप करने वाले उद्देश्यों के अनुसार, दूसरों के लिए वस्तुओं के रूप में अनुभव किया जा सकता है। यह किसी तीसरे व्यक्ति के प्रकट होने की स्थिति में स्पष्ट रूप से प्रकट होगा। मान लीजिए, उदाहरण के लिए, कि दूसरा मुझे देख रहा है। इस क्षण मैं स्वयं को पूर्णतः पराया महसूस करता हूँ, और स्वयं को ऐसा ही मान लेता हूँ। अब तीसरा तत्व सामने आता है। यदि वह मुझे देखता है, तो मैं उन्हें एक समुदाय के रूप में, अपने पराक्रम के माध्यम से "वे" (वे-विषय) के रूप में अनुभव करता हूँ। यह "वे" जैसा कि हम जानते हैं, निराकार "कोई" या "एक" (पर) की ओर प्रवृत्त होता है। यह इस तथ्य को नहीं बदलता कि मुझे देखा जा रहा है; यह मेरे मूल पराक्रम को मजबूत नहीं करता (या बहुत कम मजबूत करता

है)। लेकिन यदि तीसरा तत्व उस दूसरे को देखता है जो मुझे देख रहा है, तो समस्या अधिक जटिल हो जाती है। मैं वास्तव में तीसरे तत्व को प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि दूसरे पर, जो (तीसरे द्वारा) देखा जाने वाला दूसरा बन जाता है, अनुभव कर सकता हूँ। इस प्रकार तीसरा पराक्रम उस पराक्रम को पार कर जाता है जो मुझे पार करता है और इस प्रकार उसे निष्क्रिय करने में योगदान देता है। यहां एक अस्थाई अवस्था का निर्माण होता है जो शीघ्र ही विघटित हो जाएगी, इस बात पर निर्भर करते हुए कि मैं तीसरे से संबद्ध होकर दूसरे को देखता हूँ, जो तब हमारा विषय बन जाता है—और यहाँ मैं उस 'हम-विषय' का अनुभव करता हूँ जिसके बारे में हम बाद में बात करेंगे—या मैं तीसरे को देखता हूँ और इस प्रकार उस तीसरे पारगमन को पार करता हूँ जो दूसरे को पार करता है। बाद वाले मामले में, तीसरा मेरे ब्रह्मांड में एक वस्तु बन जाता है, उसकी संभावनाएं मृत संभावनाएं हैं, वह मुझे दूसरे से मुक्त नहीं कर सकता। फिर भी वह दूसरे को देखता है जो मुझे देख रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसे हम अनिश्चित और अनिर्णायक कहेंगे क्योंकि मैं दूसरे के लिए एक वस्तु हूँ, जो तीसरे के लिए एक वस्तु है, जो मेरे लिए एक वस्तु है। केवल स्वतंत्रता ही इन संबंधों में से किसी एक पर निर्भर होकर इस स्थिति को संरचना प्रदान कर सकती है।
लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि तीसरा उस दूसरे को देखे जिसे मैं देख रहा हूँ। इस स्थिति में मैं उन दोनों को देख सकता हूँ और इस प्रकार तीसरे की दृष्टि को निष्क्रिय कर सकता हूँ। तब तीसरा और दूसरा मुझे वस्तु-रूप में या "उन" के रूप में दिखाई देंगे। मैं तीसरे की दृष्टि को दूसरे पर भी इस प्रकार धारण कर सकता हूँ कि तीसरे को देखे बिना ही मैं दूसरे के व्यवहार से यह समझ सकूँ कि वह जानता है कि उसे देखा जा रहा है। इस स्थिति में मैं दूसरे पर और दूसरे के संदर्भ में तीसरे की पारलौकिकता का अनुभव करता हूँ। तीसरा इसे दूसरे के एक मौलिक और पूर्ण अलगाव के रूप में अनुभव करता है। दूसरा मेरे संसार से दूर भाग जाता है; वह अब मेरा नहीं रहता; वह किसी अन्य पारलौकिकता का विषय बन जाता है। इसलिए वह वस्तु के रूप में अपना स्वरूप नहीं खोता, बल्कि वह अस्पष्ट हो जाता है; वह अपनी पारलौकिकता के माध्यम से नहीं, बल्कि तीसरे की पारलौकिकता के माध्यम से मुझसे बच निकलता है। वर्तमान में मैं उसके बारे में जो कुछ भी समझ पा रहा हूँ, वह हमेशा 'अन्य' ही रहता है, उतनी ही बार 'अन्य' जितनी बार उसे देखने और उसके बारे में सोचने वाले 'अन्य' होते हैं। 'अन्य' को अपने लिए पुनः प्राप्त करने के लिए, मुझे तीसरे को देखना और उसे एक वस्तु-अवस्था प्रदान करना आवश्यक है। लेकिन सबसे पहले, यह हमेशा संभव नहीं होता; इसके अलावा, तीसरे को स्वयं अन्य तीसरे देख सकते हैं; अर्थात्, वह अनिश्चित काल तक वह 'अन्य' हो सकता है जिसे मैं नहीं देख पाता। इससे 'अन्य'-वस्तु में एक मौलिक अस्थिरता उत्पन्न होती है और 'स्वयं के लिए' की एक अनंत खोज शुरू हो जाती है जो इस वस्तु-अवस्था को पुनः प्राप्त करना चाहती है। यही कारण है, जैसा कि हमने देखा है, कि प्रेमी एकांत की तलाश करते हैं।

मेरे लिए यह भी संभव है कि जब मैं दूसरे को देख रहा होता हूँ, तो मैं स्वयं को तीसरे द्वारा देखे जाने का अनुभव करूँ। इस स्थिति में, मैं अपने अलगाव का अनुभव गैर-स्थितीय रूप से करता हूँ, ठीक उसी समय जब मैं दूसरे के अलगाव को स्थापित करता हूँ। दूसरे को एक साधन के रूप में उपयोग करने की मेरी संभावनाएँ मुझे मृत संभावनाओं के रूप में अनुभव होती हैं, और मेरा पारगमन, जो दूसरे को अपने उद्देश्यों की ओर पार करने के लिए तैयार होता है, पारगमन-पारित अवस्था में वापस आ जाता है। मैं अपनी पकड़ छोड़ देता हूँ। इससे दूसरा विषय नहीं बनता, लेकिन मैं अब स्वयं को उसे वस्तु-अवस्था में रखने के योग्य नहीं समझता। वह तटस्थ हो जाता है; कुछ ऐसा जो विशुद्ध रूप से वहाँ है और जिससे मेरा कोई लेना-देना नहीं है। ऐसा तब होगा, उदाहरण के लिए, यदि मैं किसी असहाय व्यक्ति को पीटते और अपमानित करते समय आश्चर्यचकित हो जाऊँ। तीसरे की उपस्थिति मुझे "विच्छेदित" कर देती है। असहाय व्यक्ति अब न तो "पीटे जाने योग्य" है और न ही "अपमानित किए जाने योग्य"; वह एक शुद्ध अस्तित्व से अधिक कुछ नहीं है। वह इससे अधिक कुछ नहीं है, वह अब "एक असहाय व्यक्ति" भी नहीं है। या यदि वह फिर से वैसा हो जाता है, तो यह तीसरे के माध्यम से होगा जो दुभाषिया का काम करेगा; मैं तीसरे से जानूंगा कि दूसरा व्यक्ति असहाय था ("क्या तुम्हें शर्म नहीं आती? तुमने एक असहाय व्यक्ति पर हमला किया है," आदि)। मेरी दृष्टि में असहायता का गुण तीसरे द्वारा दूसरे व्यक्ति को प्रदान किया जाएगा; यह अब मेरे संसार का हिस्सा नहीं रहेगा बल्कि एक ऐसे ब्रह्मांड का हिस्सा होगा जिसमें मैं तीसरे के लिए उस असहाय व्यक्ति के साथ हूं।
अंततः हम उस मुद्दे पर आते हैं जिससे हमारा मुख्य सरोकार है: मैं दूसरे के साथ संघर्ष में उलझा हुआ हूँ। तीसरा व्यक्ति प्रकट होता है और अपनी दृष्टि से हम दोनों को आलिंगन में ले लेता है। इसके साथ ही मैं अपने अलगाव और वस्तुत्व का प्रमाण देता हूँ। दूसरे के लिए मैं एक ऐसी दुनिया के बीच एक वस्तु के रूप में बाहरी हूँ जो "मेरी" नहीं है। लेकिन जिस दूसरे को मैं देख रहा था या जो मुझे देख रहा था, उसमें भी वही परिवर्तन होता है, और मैं दूसरे के इस परिवर्तन को अपने अनुभव के साथ ही खोज लेता हूँ। दूसरा व्यक्ति तीसरे की दुनिया के बीच एक वस्तु है। इसके अलावा, यह वस्तु-अवस्था उसके अस्तित्व का एक साधारण परिवर्तन नहीं है जो मेरे अनुभव के समानांतर हो, बल्कि ये दोनों वस्तु-अवस्थाएँ मुझ तक और दूसरे तक उस स्थिति के एक व्यापक परिवर्तन के रूप में पहुँचती हैं जिसमें मैं हूँ और जिसमें दूसरा व्यक्ति स्वयं को पाता है। तीसरे की दृष्टि प्रकट होने से पहले दो स्थितियाँ थीं, एक जो दूसरे की संभावनाओं से घिरी हुई थी जिसमें मैं एक साधन के रूप में था, और दूसरी विपरीत स्थिति जो मेरी अपनी संभावनाओं से घिरी हुई थी और जिसमें दूसरा व्यक्ति भी शामिल था। इनमें से प्रत्येक स्थिति दूसरे की मृत्यु थी और हम एक को केवल दूसरे को वस्तुनिष्ठ बनाकर ही समझ सकते थे। अब तीसरे के प्रकट होने पर मुझे अचानक अपनी संभावनाओं का अलगाव महसूस होता है, और उसी प्रकार मुझे यह भी पता चलता है कि दूसरे की संभावनाएं मृत संभावनाएं हैं। स्थिति इससे लुप्त नहीं होती, बल्कि यह मेरे और दूसरे के

इसलिए हमने स्वयं को एक भौतिक वस्तु के संदर्भ में 'हम' के रूप में बोधित महसूस किया है जिसे 'बनाया जाना है'। भौतिकता हमारे ठोस समुदाय पर अपनी मुहर लगाती है, और हम स्वयं को एक साधन और तकनीक के रूप में देखते हैं, जिनमें से प्रत्येक को एक लक्ष्य द्वारा निर्धारित एक विशेष स्थान प्राप्त होता है।
लेकिन अगर कुछ परिस्थितियाँ अनुभवजन्य रूप से "हम" की भावना के उभार के लिए अधिक अनुकूल प्रतीत होती हैं, तो हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक मानवीय स्थिति, क्योंकि यह दूसरों के बीच एक जुड़ाव है, तीसरे के प्रकट होते ही "हम" के रूप में अनुभव की जाती है। यदि मैं इस व्यक्ति के पीछे सड़क पर चल रहा हूँ और केवल उसकी पीठ देख रहा हूँ, तो मेरा उससे न्यूनतम तकनीकी और व्यावहारिक संबंध है जिसकी कल्पना की जा सकती है। फिर भी, जैसे ही तीसरा व्यक्ति मुझे देखता है, सड़क को देखता है, दूसरे को देखता है, मैं "हम" की एकजुटता से दूसरे से बंध जाता हूँ: हम जुलाई की एक सुबह ला रुए ब्लोमेट पर एक दूसरे के पीछे चल रहे हैं। हमेशा एक ऐसा दृष्टिकोण होता है जिससे विभिन्न अस्तित्व एक नज़र के माध्यम से "हम" में एकजुट हो सकते हैं। इसके विपरीत, जिस प्रकार दृष्टि दूसरों के लिए मेरे अस्तित्व के मूल तथ्य की केवल मूर्त अभिव्यक्ति है, जिस प्रकार मैं स्वयं को किसी भी व्यक्तिगत दृष्टि से परे, दूसरे के लिए विद्यमान अनुभव करता हूँ, उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि कोई मूर्त दृष्टि हमें भेदकर स्थिर कर दे ताकि हम स्वयं को एक एकीकृत "हम" के रूप में अनुभव कर सकें। जब तक निराकार-समग्रता "मानवता" विद्यमान है, तब तक व्यक्तियों के किसी न किसी समूह के लिए स्वयं को शेष मनुष्यों के सभी या कुछ हिस्सों के संबंध में "हम" के रूप में अनुभव करना संभव है, चाहे ये मनुष्य "शरीर और रक्त" में उपस्थित हों या वास्तविक हों लेकिन अनुपस्थित हों। इस प्रकार, तीसरे की उपस्थिति या अनुपस्थिति में, मैं हमेशा स्वयं को या तो शुद्ध आत्म के रूप में या एक एकीकृत "हम" के रूप में समझ सकता हूँ। यह हमें "हम" के कुछ विशेष रूपों की ओर ले जाता है, विशेष रूप से जिसे हम "वर्ग चेतना" कहते हैं। वर्ग चेतना स्पष्ट रूप से एक विशिष्ट "हम" की अवधारणा है जो सामान्य से अधिक स्पष्ट रूप से संरचित सामूहिक परिस्थिति में उत्पन्न होती है। यहाँ यह मायने नहीं रखता कि हम इस परिस्थिति को कैसे परिभाषित करते हैं; हमारे लिए केवल उस "हम" की प्रकृति ही मायने रखती है जिसे हम अपनाते हैं। यदि कोई समाज, जहाँ तक उसकी आर्थिक या राजनीतिक संरचना का संबंध है, शोषित वर्गों और शोषक वर्गों में विभाजित है, तो शोषक वर्गों की स्थिति शोषित वर्गों के सामने एक शाश्वत तृतीय की छवि प्रस्तुत करती है जो उन्हें मानता है और अपनी स्वतंत्रता के बल पर उनसे ऊपर उठ जाता है। यह कड़ी मेहनत, निम्न जीवन स्तर या सहन की गई कठिनाइयाँ नहीं हैं जो शोषित समुदाय को एक वर्ग के रूप में स्थापित करती हैं। वास्तव में, काम की एकजुटता (जैसा कि हम अगले भाग में देखेंगे) श्रमशील समुदाय को एक "हम-विषय" के रूप में स्थापित कर सकती है, क्योंकि यह समुदाय - चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हों
- अपने लक्ष्यों की ओर सांसारिक वस्तुओं से ऊपर उठकर स्वयं को सिद्ध करता

है। जीवन स्तर पूरी तरह से सापेक्ष है, और इसकी सराहना परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है (इसे केवल सहन किया जा सकता है, स्वीकार किया जा सकता है या किसी साझा आदर्श के नाम पर इसकी मांग की जा सकती है)। अभावों को अपने आप में देखें तो वे पीड़ित व्यक्तियों को एकजुट करने के बजाय उन्हें अलग-थलग कर देते हैं और सामान्यतः संघर्ष का स्रोत बनते हैं। अंततः, शोषित वर्ग के सदस्यों द्वारा अपनी कठोर परिस्थितियों और शोषक वर्गों द्वारा प्राप्त विशेषाधिकारों के बीच की गई सीधी-सादी तुलना किसी भी स्थिति में वर्ग चेतना का निर्माण करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती; अधिक से अधिक यह व्यक्तिगत ईर्ष्या या विशेष निराशा को ही जन्म देगी; इसमें एकता लाने और प्रत्येक व्यक्ति को एकता की जिम्मेदारी लेने के लिए प्रेरित करने की क्षमता नहीं है। लेकिन इन विशेषताओं का समूह, जो शोषित वर्ग की स्थिति का निर्माण करता है, उसे केवल सहन या स्वीकार नहीं किया जा सकता। हालांकि, यह कहना भी उतना ही गलत होगा कि शोषित वर्ग इसे शुरू से ही शोषक वर्ग द्वारा थोपा हुआ मानता है। इसके विपरीत, उत्पीड़न का सिद्धांत बनाने और फैलाने में लंबा समय लगता है। और इस सिद्धांत का महत्व केवल व्याख्यात्मक ही होगा। मूल तथ्य यह है कि शोषित समुदाय का सदस्य, जो एक साधारण व्यक्ति के रूप में इस समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ मूलभूत संघर्षों (प्रेम, घृणा, हितों की प्रतिद्वंद्विता आदि) में संलग्न होता है, अपनी और इस समुदाय के अन्य सदस्यों की स्थिति को उन चेतनाओं द्वारा देखा और समझा हुआ पाता है जो उससे परे हैं।
“स्वामी,” “सामंती स्वामी,” “बुर्जुआ,” “पूंजीपति” - ये सभी न केवल शक्तिशाली और आदेश देने वाले लोगों के रूप में प्रकट होते हैं, बल्कि इसके अतिरिक्त और सबसे बढ़कर तीसरे के रूप में भी; अर्थात्, वे लोग जो शोषित समुदाय से बाहर हैं और जिनके लिए यह समुदाय अस्तित्व में है। इसलिए, उन्हीं के लिए और उन्हीं की स्वतंत्रता में शोषित वर्ग की वास्तविकता अस्तित्व में आने वाली है। वे अपनी दृष्टि से इसे जन्म देते हैं। उन्हीं के लिए और उन्हीं के माध्यम से मेरी और अन्य शोषितों की स्थिति की पहचान प्रकट होती है; उन्हीं के लिए मैं दूसरों के साथ संगठित स्थिति में विद्यमान हूं और मेरी संभावनाएं, मृत संभावनाओं के रूप में, दूसरों की संभावनाओं के बिल्कुल समतुल्य हैं; उन्हीं के लिए मैं एक श्रमिक हूं और उनके द्वारा दूसरे के रूप में प्रकट होने के माध्यम से और उन्हीं में मैं स्वयं को दूसरों में से एक के रूप में अनुभव करता हूं। इसका अर्थ है कि मैं उस “हम” को, जिसमें मैं एकीकृत हूं या “वर्ग” को, तीसरे की दृष्टि में, बाहर खोजता हूं, और यही सामूहिक अलगाव है जिसे मैं “हम” कहते समय अपनाता हूं। इस दृष्टिकोण से, तीसरे के विशेषाधिकार और "हमारे" बोझ, "हमारी" पीड़ाएँ प्रारंभ में केवल एक संकेत के रूप में ही महत्व रखती हैं; वे "हम" के संबंध में तीसरे की स्वतंत्रता को दर्शाती हैं; वे हमारे अलगाव को हमारे सामने और अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती हैं। फिर भी, यद्यपि इन्हें सहना कम नहीं होता, विशेष रूप से हमारा काम, हमारी थकान कम नहीं होती, इसी सहन की गई पीड़ा के माध्यम से मैं स्वयं को एक वस्तु के रूप में, वस्तुओं की समग्रता

में संलग्न, देखे जाने का अनुभव करता हूँ। मेरी पीड़ा, मेरे दुख के संदर्भ में ही तीसरे द्वारा मुझे दूसरों के साथ सामूहिक रूप से समझा जाता है; अर्थात्, संसार की प्रतिकूलता के संदर्भ में, मेरी स्थिति की वास्तविकता के संदर्भ में। तीसरे के बिना, संसार की प्रतिकूलता चाहे जो भी हो, मैं स्वयं को एक विजयी पारलौकिक के रूप में समझूँगा; तीसरे के प्रकट होने पर, "मैं" "हम" को वस्तुओं के संदर्भ में और संसार द्वारा पराजित वस्तुओं के रूप में अनुभव करता हूँ।
इस प्रकार, शोषित वर्ग अपनी वर्गीय एकता उस ज्ञान में पाता है जो शोषक वर्ग को उसके बारे में होता है, और शोषितों में वर्ग चेतना का उदय एक 'हम' वस्तु के प्रति शर्मिंदगी के भाव से प्रेरित होता है। हम अगले भाग में देखेंगे कि शोषक वर्ग के किसी सदस्य के लिए "वर्ग चेतना" क्या हो सकती है। हमारे लिए यहाँ जो बात महत्वपूर्ण है और जिसे हमने अभी चुने गए उदाहरण से पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है, वह यह है कि 'हम' वस्तु का अनुभव 'दूसरों के लिए अस्तित्व' के अनुभव को पूर्वकल्पित करता है, जिसका यह केवल एक अधिक जटिल रूप है। इसलिए, एक विशिष्ट मामला होने के कारण, यह हमारे पूर्वोक्त विवरणों के दायरे में आता है। इसके अलावा, इसमें विघटन की शक्ति समाहित है क्योंकि इसका अनुभव शर्मिंदगी के माध्यम से होता है और क्योंकि 'हम' का पतन तब होता है जब स्वयं के लिए अस्तित्व तीसरे के समक्ष अपनी आत्म-पहचान को पुनः प्राप्त करता है और बदले में उसे देखता है। आत्म-पहचान का यह व्यक्तिगत दावा 'हम' वस्तु को दबाने के संभावित तरीकों में से केवल एक है। कुछ विशिष्ट संरचित मामलों में, जैसे कि वर्ग चेतना में, "हम" की धारणा का अर्थ अब स्वयं को "हम" से मुक्त करने के लिए आत्म-पहचान की व्यक्तिगत पुनर्प्राप्ति की परियोजना नहीं है, बल्कि संपूर्ण "हम" को वस्तु-अवस्था से मुक्त करने के लिए उसे "हम" विषय में परिवर्तित करने की परियोजना है। मूलतः हम उस परियोजना के एक रूपांतर से निपट रहे हैं जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है, जिसमें देखने वाले को देखे जाने वाले में परिवर्तित किया जाता है; यह दूसरों के लिए दो मूलभूत दृष्टिकोणों में से एक से दूसरे में संक्रमण की सामान्य प्रक्रिया है। वास्तव में, शोषित वर्ग स्वयं को 'हम' विषय के रूप में तभी स्थापित कर सकता है जब वह शोषक वर्ग के संबंध में हो और उसके बलिदान पर हो; अर्थात्, उसे 'वे-वस्तु' या 'उन' में परिवर्तित करके। जो व्यक्ति वस्तुनिष्ठ रूप से वर्ग से जुड़ा हुआ है, उसका उद्देश्य अपने इस परिवर्तनकारी परियोजना के माध्यम से पूरे वर्ग को इसमें शामिल करना है। इस अर्थ में, 'हम' वस्तु का अनुभव 'हम' विषय के अनुभव को संदर्भित करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे 'दूसरों के लिए वस्तु' होने का मेरा अनुभव 'दूसरों के लिए वस्तु' होने के अनुभव को संदर्भित करता है। इसी प्रकार, जिसे 'भीड़ मनोविज्ञान' कहा जाता है, उसमें हमें सामूहिक उन्माद (बौलंगवाद आदि) मिलेंगे, जो प्रेम का एक विशेष रूप हैं। जो व्यक्ति "हम" कहता है, वह भीड़ के हृदय में प्रेम की मूल परियोजना को पुनः ग्रहण करता है, परन्तु यह अब उसके अपने लिए नहीं है; वह किसी तीसरे से प्रार्थना करता है कि वह संपूर्ण समूह को उसकी वस्तु-अवस्था में ही बचाए ताकि वह अपनी स्वतंत्रता का बलिदान

कर सके। यहाँ भी, जैसा कि ऊपर बताया गया है, निराश प्रेम आत्म-पीड़ा की ओर ले जाता है। यह उस स्थिति में देखा जा सकता है जब समूह दासता में विलीन हो जाता है और वस्तु के समान व्यवहार किए जाने की विनती करता है। समस्या यहाँ भी भीड़ में मौजूद व्यक्तियों की अनेक व्यक्तिगत परियोजनाओं से जुड़ी है; भीड़ का गठन नेता या वक्ता के हावभाव से हुआ है; इसकी एकता एक वस्तु-एकता है जिसे इसका प्रत्येक सदस्य उस पर हावी तीसरे के हावभाव में देखता है, और फिर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को इस वस्तु-रूप में विलीन करने, अपने स्व को पूरी तरह से त्यागने की परियोजना बनाता है ताकि वह नेता के हाथों में केवल एक उपकरण बनकर रह जाए। परन्तु जिस उपकरण में वह विलीन होना चाहता है, वह अब उसका शुद्ध और सरल व्यक्तिगत 'दूसरों के लिए' नहीं है; यह समग्रता, वस्तुनिष्ठ-भीड़ है। भीड़ की विशाल भौतिकता और उसकी गहन वास्तविकता (यद्यपि केवल अनुभव की गई) उसके प्रत्येक सदस्य के लिए आकर्षक है; प्रत्येक सदस्य नेता की निगाहों से प्रेरित होकर भीड़ के उपकरण में समाहित होने की मांग करता है।
इन विभिन्न उदाहरणों में हमने देखा है कि 'हम' की अवधारणा हमेशा एक ठोस परिस्थिति के संदर्भ में निर्मित होती है, जिसमें विच्छेदित समग्रता "मानवता" का एक भाग दूसरे भाग को छोड़कर उसमें समाहित हो जाता है। हम केवल दूसरों की दृष्टि में ही "हम" हैं, और दूसरों की दृष्टि के आधार पर ही हम स्वयं को "हम" मानते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं के लिए एक अमूर्त, अवास्तविक परियोजना हो सकती है जो स्वयं और सभी दूसरों के पूर्ण एकीकरण की ओर अग्रसर हो। मानव समग्रता को पुनः प्राप्त करने का यह प्रयास एक तृतीय के अस्तित्व को माने बिना संभव नहीं है, जो सिद्धांततः मानवता से भिन्न है और जिसकी दृष्टि में मानवता पूर्णतः एक वस्तु है। यह अवास्तविक तृतीय, अन्यता की सीमित अवधारणा का ही विषय है। वह सभी संभावित समूहों के संबंध में तृतीय है, वह जो किसी भी स्थिति में किसी भी मानव समूह के साथ समुदाय में प्रवेश नहीं कर सकता, वह तृतीय जिसके संबंध में कोई अन्य स्वयं को तृतीय के रूप में स्थापित नहीं कर सकता। यह अवधारणा उस सत्ता के समान है जो देखती है और जिसे कभी देखा नहीं जा सकता; अर्थात्, यह ईश्वर के विचार के साथ एकरूप है। लेकिन यदि ईश्वर को पूर्ण अनुपस्थिति के रूप में चित्रित किया जाए, तो मानवता को अपना मानने का प्रयास निरंतर नवगठित होता रहता है और हमेशा विफलता में परिणत होता है। इस प्रकार, मानवतावादी "हम"—हम-वस्तु — को प्रत्येक व्यक्ति की चेतना के समक्ष एक ऐसे आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसे प्राप्त करना असंभव है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपने समुदाय के दायरे को उत्तरोत्तर बढ़ाकर इसमें सफल होने का भ्रम बनाए रखता है। यह मानवतावादी "हम" एक खोखली अवधारणा बनी रहती है, "हम" के सामान्य उपयोग के संभावित विस्तार का एक मात्र संकेत। हर बार जब हम इस अर्थ में "हम" का उपयोग करते हैं (पीड़ित मानवता, पापी मानवता को दर्शाने के लिए, मनुष्य को अपनी क्षमताओं का विकास करने वाली वस्तु मानकर एक वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक अर्थ निर्धारित करने के लिए), तो हम स्वयं को परम तृतीय, अर्थात् ईश्वर की उपस्थिति में अनुभव किए जाने वाले एक निश्चित ठोस

अनुभव को इंगित करने तक सीमित कर लेते हैं। इस प्रकार, मानवता की सीमित अवधारणा (हम-वस्तु की समग्रता के रूप में) और ईश्वर की सीमित अवधारणा एक दूसरे को इंगित करती हैं और सहसंबंधित हैं।
बी. हम-विषय
यह वह दुनिया है जो हमें एक विषय-समुदाय से संबंधित होने का एहसास कराती है, विशेष रूप से निर्मित वस्तुओं की दुनिया में हमारे अस्तित्व का। इन वस्तुओं पर मनुष्यों द्वारा उनके लिए काम किया गया है; अर्थात्, एक गैर-व्यक्तिगत और असंख्य पारलौकिकता के लिए जो उस अविभेदित दृष्टि के साथ मेल खाती है जिसे हमने पहले "वे" कहा था। श्रमिक—चाहे वह दास हो या नहीं—एक अविभेदित और अनुपस्थित पारलौकिकता की उपस्थिति में काम करता है और वह जिस वस्तु पर काम कर रहा है, उस पर इस पारलौकिकता की मुक्त संभावनाओं की रूपरेखा—एक तरह से कहें तो—एक शून्य में ही बना सकता है। इस अर्थ में श्रमिक, चाहे वह कोई भी हो, काम में दूसरों के लिए एक उपकरण होने का अनुभव करता है। काम, जब वह सख्ती से स्वयं श्रमिक के उद्देश्यों के लिए निर्धारित नहीं होता है, तो अलगाव का एक माध्यम होता है। यहाँ अलगाव पैदा करने वाली पारलौकिकता उपभोक्ता है; अर्थात्, वे "वे" जिनकी परियोजनाओं का श्रमिक केवल पूर्वानुमान लगाने तक सीमित है। जैसे ही मैं किसी निर्मित वस्तु का उपयोग करता हूँ, मुझे उस पर अपनी स्वयं की पारलौकिकता की रूपरेखा दिखाई देती है; यह मुझे किए जाने वाले कार्य का संकेत देता है; मुझे मुड़ना है, धक्का देना है, खींचना है या झुकना है। इसके अलावा, हम यहाँ एक काल्पनिक अनिवार्यता से निपट रहे हैं; यह मुझे एक ऐसे लक्ष्य की ओर ले जाता है जो समान रूप से दुनिया में मौजूद है: यदि मैं बैठना चाहता हूँ, यदि मैं डिब्बा खोलना चाहता हूँ, आदि। और यह लक्ष्य स्वयं वस्तु के निर्माण में किसी पारलौकिकता द्वारा स्थापित लक्ष्य के रूप में प्रत्याशित किया गया है। यह वर्तमान में वस्तु की सबसे विशिष्ट संभाव्यता के रूप में उससे संबंधित है। इस प्रकार यह सत्य है कि निर्मित वस्तु मुझे स्वयं को "वे" के रूप में जानने देती है; अर्थात्, यह मुझे मेरी पारलौकिकता की छवि को किसी भी पारलौकिकता के रूप में संदर्भित करती है। और यदि मैं अपनी संभावनाओं को इस प्रकार निर्मित उपकरण द्वारा निर्देशित होने देता हूँ, तो मैं स्वयं को किसी भी पारलौकिकता के रूप में अनुभव करता हूँ: "ट्रोकाडेरो" मेट्रो स्टेशन से "सेवरेस-बेबिलोन" तक जाने पर, "वे" "ला मोट्टे-पिकेट" पर बदल जाते हैं। यह परिवर्तन पूर्वनिर्धारित है, मानचित्रों आदि पर दर्शाया गया है; अगर मैं ला मोट्टे-पिकेट पर अपना रास्ता बदलता हूँ, तो मैं ही वो "वे" हूँ जो बदलते हैं। बेशक, मेट्रो के हर इस्तेमाल से मैं खुद को अलग करता हूँ, उतना ही जितना मेरे अस्तित्व के व्यक्तिगत उत्थान से, उतना ही जितना उन दूरगामी लक्ष्यों से जिन्हें मैं हासिल करना चाहता हूँ। लेकिन ये अंतिम लक्ष्य केवल मेरे कार्य के क्षितिज पर हैं। मेरे तात्कालिक लक्ष्य ही "उन" के लक्ष्य हैं, और मैं खुद को अपने किसी भी पड़ोसी के साथ विनिमेय समझता हूँ। इस अर्थ में हम अपनी वास्तविक वैयक्तिकता खो देते हैं, क्योंकि जिस परियोजना का हम हिस्सा हैं, वही परियोजना दूसरों की भी है। इस मेट्रो

गलियारे में केवल एक ही परियोजना है, जो बहुत पहले पदार्थ में अंकित हुई थी, जहाँ एक जीवंत और अविभेदित पारलौकिकता समाहित हो जाती है। जिस हद तक मैं एकांत में खुद को किसी भी पारलौकिकता के रूप में अनुभव करता हूँ, मुझे केवल अविभेदित-अस्तित्व का अनुभव होता है (उदाहरण के लिए, अगर मैं अपने कमरे में अकेला हूँ और उचित बोतल खोलने वाले से जैम की बोतल खोलता हूँ)। लेकिन यदि यह अविभेदित पारलौकिकता अपनी परियोजनाओं को, चाहे वे कुछ भी हों, अन्य पारलौकिकताओं के साथ जोड़ती है जिन्हें वास्तविक उपस्थिति के रूप में अनुभव किया जाता है और जो मेरी परियोजनाओं के समान ही परियोजनाओं में लीन हैं, तो मैं अपनी परियोजना को एक ही अविभेदित पारलौकिकता द्वारा प्रक्षेपित हजारों समान परियोजनाओं में से एक के रूप में अनुभव करता हूँ। तब मुझे एक सामान्य पारलौकिकता का अनुभव होता है जो एक अद्वितीय लक्ष्य की ओर निर्देशित है, जिसमें मैं केवल एक क्षणिक विशिष्टता हूँ; मैं स्वयं को उस महान मानवीय धारा में समाहित कर लेता हूँ जो मेट्रो के अस्तित्व में आने के समय से ही "ला मोट्टे-पिकेट-ग्रेनेल" स्टेशन के गलियारों में निरंतर बहती रही है। लेकिन हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए:
(1) यह अनुभव मनोवैज्ञानिक स्तर का है, न कि तात्विक स्तर का। यह किसी भी प्रकार से विचाराधीन 'स्वयं' के वास्तविक एकीकरण से मेल नहीं खाता। न ही यह उनके प्रत्यक्ष पारगमन के अनुभव से उत्पन्न होता है (जैसे कि 'देखे जाने' के संदर्भ में), बल्कि यह सामान्य रूप से पार किए गए वस्तु और मेरे चारों ओर मौजूद शरीरों की दोहरी वस्तुनिष्ठ समझ से प्रेरित है। विशेष रूप से, यह तथ्य कि मैं दूसरों के साथ एक सामान्य लय में संलग्न हूँ, जिसे बनाने में मैं योगदान देता हूँ, मुझे स्वयं को 'हम' विषय में संलग्न समझने की ओर ले जाता है। सैनिकों के लयबद्ध मार्च का यही अर्थ है; दल के लयबद्ध कार्य का भी यही अर्थ है। हालाँकि, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि इस मामले में लय मुझसे स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होती है; यह एक ऐसी परियोजना है जिसे मैं अपने पारगमन के माध्यम से साकार करता हूँ; यह नियमित पुनरावृत्ति के परिप्रेक्ष्य में भविष्य, वर्तमान और अतीत का संश्लेषण करती है; यह मैं ही हूँ जो इस लय का सृजन करता हूँ। लेकिन साथ ही यह कार्य की सामान्य लय या मेरे चारों ओर मौजूद ठोस समुदाय की प्रगति में विलीन हो जाती है। इसे अपना अर्थ केवल इसी सामान्य लय से मिलता है; उदाहरण के लिए, जब मैं विपरीत लय अपनाता हूँ तो मुझे यही अनुभव होता है। फिर भी, दूसरे की लय द्वारा मेरी लय का आवरण "पार्श्विक" रूप से समझा जाता है। मैं सामूहिक लय का उपयोग एक उपकरण के रूप में नहीं करता; न ही मैं उस पर चिंतन करता हूँ—उदाहरण के लिए, जिस अर्थ में मैं मंच पर नर्तकों पर चिंतन कर सकता हूँ। यह मुझे घेर लेती है और मुझे अपने भीतर समाहित कर लेती है, लेकिन मेरे लिए कोई वस्तु नहीं बनती। मैं इसे अपनी संभावनाओं की ओर पार नहीं करता; बल्कि मैं अपनी उत्कृष्टता को इसकी उत्कृष्टता में समाहित कर लेता हूँ, और मेरा अपना लक्ष्य—किसी विशेष कार्य को पूरा करना, किसी विशेष स्थान पर पहुँचना—उस "वे" का लक्ष्य है जो सामूहिकता के विशिष्ट लक्ष्य से भिन्न नहीं है। इस प्रकार, जो लय मैं उत्पन्न करता हूँ, वह मेरे साथ और पार्श्व रूप से

है जो इस घटना को अस्तित्व में लाती है - एक बाहरी इकाई के रूप में। इसी प्रकार, जिस नाट्य प्रस्तुति में मैं भाग ले रहा हूँ या जिस चित्रकला प्रदर्शनी में मैं जा रहा हूँ, उससे दर्शक की गुमनामी का ही संकेत मिलता है। और निश्चित रूप से, जब मैं जूते पहनता हूँ, बोतल का ढक्कन खोलता हूँ, लिफ्ट में जाता हूँ या थिएटर में हँसता हूँ, तो मैं स्वयं को किसी भी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कर लेता हूँ। लेकिन इस अविभेदित पारलौकिकता का अनुभव एक आंतरिक और आकस्मिक घटना है जो केवल मुझसे संबंधित है। दुनिया से उत्पन्न कुछ विशेष परिस्थितियाँ "हम" का हिस्सा होने की मेरी अनुभूति को बढ़ा सकती हैं। लेकिन हर स्थिति में हम केवल एक विशुद्ध व्यक्तिपरक अनुभूति से निपट रहे हैं जो केवल मुझे ही प्रभावित करती है।
(2) हम-विषय का अनुभव प्राथमिक नहीं हो सकता; यह दूसरों के प्रति मौलिक दृष्टिकोण नहीं बना सकता, क्योंकि इसके विपरीत, इसे साकार होने के लिए दूसरों के अस्तित्व की दोहरी प्रारंभिक मान्यता की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम, निर्मित वस्तु तभी निर्मित वस्तु कहलाती है जब वह उसे बनाने वाले उत्पादकों और दूसरों द्वारा निर्धारित उसके उपयोग के नियमों का संदर्भ देती है। किसी निर्जीव वस्तु का सामना करते हुए, जिस पर कोई कार्य नहीं किया गया है, जिसके उपयोग का तरीका मैं स्वयं निर्धारित करता हूँ और जिसे मैं स्वयं एक नया उपयोग प्रदान करता हूँ (उदाहरण के लिए, यदि मैं पत्थर को हथौड़े के रूप में उपयोग करता हूँ), तो मुझे एक व्यक्ति के रूप में स्वयं की गैर-स्थलीय चेतना प्राप्त होती है; अर्थात्, मेरे आत्मत्व, मेरे उद्देश्यों और मेरी स्वतंत्र आविष्कारशीलता की। निर्मित वस्तुओं के उपयोग के नियम, "उपयोग के तरीके", वर्जनाओं की तरह कठोर और आदर्श दोनों हैं और अपनी मूल संरचना से मुझे दूसरे की उपस्थिति में रखते हैं; यह इसलिए है क्योंकि दूसरा मुझे एक अविभेदित पारलौकिकता के रूप में मानता है, इसलिए मैं स्वयं को इस रूप में अनुभव कर सकता हूँ।
एक आसान उदाहरण के तौर पर, स्टेशन के प्रवेश द्वार या प्रतीक्षालय के ऊपर लगे उन बड़े-बड़े साइनबोर्डों को लें जिन पर "निकास" या "प्रवेश" लिखा होता है; या फिर उन दिशासूचक चिह्नों को लें जो किसी इमारत या दिशा को दर्शाते हैं। यहाँ हम एक बार फिर काल्पनिक आदेशों की बात कर रहे हैं। लेकिन यहाँ आदेश की संरचना स्पष्ट रूप से दूसरे को प्रकट होने देती है, वह दूसरा जो मुझसे सीधे बात कर रहा है और मुझे संबोधित कर रहा है। वास्तव में मुद्रित वाक्य मुझे ही संबोधित है; यह दूसरे से मेरे लिए एक सीधा संवाद है: मुझे लक्षित किया गया है। लेकिन यदि दूसरा मुझे लक्षित करता है, तो यह इस हद तक है कि मैं एक अविभेदित पारलौकिकता हूँ। जैसे ही मैं "निकास" चिह्नित द्वार का उपयोग करके बाहर निकलता हूँ, मैं इसका उपयोग अपनी व्यक्तिगत योजनाओं की पूर्ण स्वतंत्रता में नहीं कर रहा हूँ। मैं आविष्कार के माध्यम से एक उपकरण का निर्माण नहीं कर रहा हूँ; मैं वस्तु की शुद्ध भौतिकता को अपनी संभावनाओं की ओर पार नहीं कर रहा हूँ। बल्कि वस्तु और मेरे बीच एक मानवीय पारलौकिकता समाहित हो चुकी है जो मेरी पारलौकिकता का मार्गदर्शन करती है। वस्तु पहले से ही मानवीय रूप धारण कर चुकी है; यह “मानवीय नियंत्रण” का

"मित्सीन" स्वयं में "अन्य" क्या है, इसकी प्रारंभिक पहचान के बिना असंभव होगा: "मैं —— के साथ हूँ।" ठीक है। लेकिन किसके साथ? इसके अलावा, भले ही यह अनुभव तात्विक रूप से प्राथमिक हो, यह समझना मुश्किल है कि इस अनुभव में आमूल परिवर्तन कैसे हो सकता है—एक पूर्णतः अविभेदित पारलौकिकता से विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव की ओर जाना। यदि "अन्य" कहीं और नहीं दिया गया होता, तो "हम" का अनुभव जब विखंडित होता, तो केवल मेरी पारलौकिकता द्वारा परिबद्ध संसार में शुद्ध वस्तु-साधनों की समझ को जन्म देता।
ये संक्षिप्त टिप्पणियाँ "हम" के प्रश्न को पूरी तरह से स्पष्ट करने का दावा नहीं करतीं। इनका उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि "हम" विषय के अनुभव का आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन के रूप में कोई मूल्य नहीं है; यह पूरी तरह से "दूसरों के लिए" के विभिन्न रूपों पर निर्भर करता है और केवल इन्हीं रूपों का अनुभवजन्य संवर्धन है। स्पष्ट रूप से इसी तथ्य के कारण हमें इस अनुभव की अत्यधिक अस्थिरता का कारण समझना चाहिए। यह मनमाने ढंग से आता और चला जाता है, हमें "दूसरों" के सामने छोड़ देता है जो वस्तु के रूप में हैं या फिर "वे" जो हमें देख रहे हैं। यह संघर्ष के केंद्र में निर्मित एक अस्थायी शांति के रूप में प्रकट होता है, न कि इस संघर्ष के एक निश्चित समाधान के रूप में। हमें एक ऐसे मानवीय "हम" की व्यर्थ आशा करनी चाहिए जिसमें अंतर्विषयक समग्रता स्वयं को एक एकीकृत व्यक्तिपरकता के रूप में सचेत कर ले। ऐसा आदर्श केवल खंडित, विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक अनुभवों के आधार पर सीमा और निरपेक्षता की यात्रा से उत्पन्न एक स्वप्न हो सकता है। इसके अलावा, यह आदर्श स्वयं "दूसरों के लिए" होने की मूल अवस्था के रूप में पारगमन के संघर्ष की पहचान को दर्शाता है।
यह तथ्य एक स्पष्ट विरोधाभास को स्पष्ट करता है: चूंकि शोषित वर्ग की एकता इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि उसे एक अविभेदित "वे" (जो तीसरा वर्ग या शोषक वर्ग है) के समक्ष एक "हम" के रूप में अनुभव किया जाता है, इसलिए यह मानना स्वाभाविक है कि एक प्रकार की समरूपता के कारण शोषक वर्ग स्वयं को शोषित वर्ग के समक्ष एक "हम" के रूप में देखता है। परन्तु शोषक वर्ग की कमजोरी इस तथ्य में निहित है कि यद्यपि उसके पास बल प्रयोग के सटीक और कठोर साधन उपलब्ध हैं, फिर भी वह अपने भीतर गहराई से अराजकतावादी है। "बुर्जुआ" को केवल एक विशिष्ट प्रकार के समाज के केंद्र में एक विशिष्ट शक्ति और विशेषाधिकार रखने वाले एक आर्थिक व्यक्ति के रूप में ही परिभाषित नहीं किया जाता; उसे आंतरिक रूप से एक ऐसी चेतना के रूप में वर्णित किया जाता है जो किसी वर्ग से संबंधित होने को नहीं पहचानती। वास्तव में, उसकी स्थिति उसे स्वयं को बुर्जुआ वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ एक "हम" के रूप में समझने की अनुमति नहीं देती। लेकिन दूसरी ओर, 'हम' विषय की प्रकृति ही यह दर्शाती है कि यह केवल क्षणभंगुर अनुभवों से बना है, जिसका कोई आध्यात्मिक आधार नहीं है। 'बुर्जुआ' आमतौर पर वर्गों के अस्तित्व को नकारता है; वह सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व का श्रेय आंदोलनकारियों की गतिविधियों, अप्रिय घटनाओं और उन अन्यायों को देता है जिन्हें विशेष उपायों से सुधारा जा सकता है; वह पूंजी और श्रम के बीच हितों की एकजुटता का दावा करता है; वह

वर्ग एकजुटता के स्थान पर एक व्यापक एकजुटता, प्राकृतिक एकजुटता प्रस्तुत करता है, जिसमें श्रमिक और नियोक्ता एक ऐसे 'मित्सीन' में एकीकृत होते हैं जो संघर्ष को दबा देता है। यहाँ प्रश्न, जैसा कि अक्सर कहा जाता है, छल-कपट या स्थिति को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने से मूर्खतापूर्ण इनकार का नहीं है; बल्कि शोषक वर्ग का सदस्य अपने सामने मौजूद शोषित वर्ग की समग्रता को 'वे' विषयों के एक वस्तुनिष्ठ समूह के रूप में देखता है, जबकि वह शोषक वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ अपने अस्तित्व की समानता को सहसंबंधी रूप से महसूस नहीं कर पाता है। ये दोनों अनुभव किसी भी प्रकार से पूरक नहीं हैं; वास्तव में, एक व्यक्ति शोषित समुदाय के सामने अकेला होते हुए भी उसे एक वस्तु-उपकरण के रूप में समझ सकता है और स्वयं को उस समुदाय के आंतरिक निषेध के रूप में, अर्थात् एक निष्पक्ष तीसरे के रूप में देख सकता है। शोषित वर्ग जब क्रांति द्वारा या अपनी शक्ति में अचानक वृद्धि करके उत्पीड़क वर्ग के सदस्यों के सामने स्वयं को "देखने वाले" के रूप में स्थापित करता है, तभी उत्पीड़क स्वयं को "हम" के रूप में अनुभव करते हैं। लेकिन यह अनुभव भय, शर्म और "हम" के रूप में होगा।
इस प्रकार, 'हम' विषय के प्रमाण निर्माण और 'हम' विषय के अनुभव के बीच कोई समरूपता नहीं है। पहला वास्तविक अस्तित्व के एक आयाम का प्रकटीकरण है और 'दूसरों के लिए' के मूल प्रमाण का सरल संवर्धन है। दूसरा एक मनोवैज्ञानिक अनुभव है जो एक कार्यशील ब्रह्मांड और एक निश्चित आर्थिक प्रकार के समाज में डूबे हुए एक ऐतिहासिक व्यक्ति द्वारा बोधित किया जाता है। यह कुछ भी विशिष्ट प्रकट नहीं करता; यह विशुद्ध रूप से व्यक्तिपरक अनुभव है।
अतः ऐसा प्रतीत होता है कि "हम" और "हमें" का अनुभव, यद्यपि वास्तविक है, हमारे पूर्व के अन्वेषणों के परिणामों को बदलने की प्रकृति का नहीं है। जहाँ तक "हम"-वस्तु की बात है, यह प्रत्यक्ष रूप से तीसरे पर निर्भर है— अर्थात्, दूसरों के लिए मेरे अस्तित्व पर—और यह दूसरों के लिए मेरे बाह्य अस्तित्व की नींव पर निर्मित है। और जहाँ तक "हम"-विषय की बात है, यह एक मनोवैज्ञानिक अनुभव है जो किसी न किसी रूप में यह मानता है कि दूसरे का अस्तित्व हमारे समक्ष पहले ही प्रकट हो चुका है। अतः मानवीय वास्तविकता के लिए इस दुविधा से बाहर निकलने का प्रयास व्यर्थ है: व्यक्ति को या तो दूसरे से परे जाना होगा या स्वयं को उसके द्वारा परे जाने देना होगा। चेतनाओं के बीच संबंधों का सार मितसेन नहीं है; यह संघर्ष है। स्वयं-केंद्रित सत्ता के दूसरों के साथ संबंधों के इस लंबे वर्णन के अंत में, हम इस निश्चितता तक पहुँचते हैं: स्वयं-केंद्रित सत्ता केवल एक ऐसी सत्ता नहीं है जो अपने भीतर के अस्तित्व के शून्यीकरण और अपने भीतर के अस्तित्व के निषेध के रूप में उत्पन्न होती है। यह शून्यीकरणकारी पलायन, दूसरे के प्रकट होते ही, स्वयं-केंद्रित सत्ता द्वारा पूर्णतः पुनः ग्रहण कर लिया जाता है और स्वयं-केंद्रित सत्ता में स्थिर हो जाता है। जब स्वयं- केंद्रित सत्ता अकेली होती है, तो वह संसार से परे हो जाती है; वह वह शून्यता है जिसके द्वारा वस्तुएँ अस्तित्व में आती हैं। दूसरा, अपने उदय से, स्वयं-केंद्रित सत्ता को संसार के मध्य में, वस्तुओं के बीच एक वस्तु

के रूप में, स्वयं-केंद्रित सत्ता का दर्जा प्रदान करता है। दूसरे की दृष्टि से स्वयं-केंद्रित सत्ता का यह स्थिरीकरण ही मेडुसा की पौराणिक कथा का गहरा अर्थ है।
अतः हमने अपने लक्ष्य की खोज में प्रगति की है: हम स्वयं-संबंध और स्वयं- परमसंबंध के मूल संबंध को निर्धारित करना चाहते थे। हमने सर्वप्रथम यह जाना कि स्वयं-संबंध, स्वयं-परम का शून्यकरण और पूर्णतः निषेध है; वर्तमान में हम यह स्थापित कर रहे हैं कि यह—अन्य से मिलन के मात्र तथ्य से और बिना किसी विरोधाभास के—पूर्णतः स्वयं-संबंध में विद्यमान है, स्वयं- परमसंबंध के मध्य में विद्यमान है। परन्तु स्वयं-संबंध का यह दूसरा पहलू इसके बाह्य स्वरूप को दर्शाता है; स्वयं-संबंध स्वभावतः वह अस्तित्व है जो अपने स्वयं-परम अस्तित्व के साथ समरूप नहीं हो सकता।
ये टिप्पणियाँ अस्तित्व के एक सामान्य सिद्धांत का आधार बन सकती हैं, जो हमारा लक्ष्य है। फिर भी, इस सिद्धांत को अभी स्थापित करने का प्रयास करना जल्दबाजी होगी। वास्तव में, 'स्वयं-के-लिए' को केवल 'स्वयं-में-अस्तित्व' से परे अपनी संभावनाओं का प्रक्षेपण करने के रूप में वर्णित करना पर्याप्त नहीं है। संभावनाओं का यह प्रक्षेपण विश्व के विन्यास को स्थिर रूप से निर्धारित नहीं करता; यह हर क्षण विश्व को बदलता है। उदाहरण के लिए, यदि हम हाइडेगर को पढ़ें, तो इस दृष्टिकोण से हम उनके व्याख्यात्मक विवरणों की अपर्याप्तता से चकित रह जाते हैं। उनकी शब्दावली को अपनाते हुए, हम कहेंगे कि उन्होंने 'डेसिन' को उस अस्तित्व के रूप में वर्णित किया है जो अस्तित्वों से परे जाकर उनके अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है। और यहाँ 'अस्तित्व' से तात्पर्य अस्तित्व के अर्थ या उसके अस्तित्व के तरीके से है। यह सत्य है कि 'स्वयं-के-लिए' वह अस्तित्व है जिसके द्वारा अस्तित्व अपने अस्तित्व के तरीके को प्रकट करते हैं। लेकिन हाइडेगर इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं कि 'स्वयं के लिए' न केवल वह सत्ता है जो अस्तित्वों की सत्तामीमांसा का निर्माण करती है, बल्कि वह सत्ता भी है जिसके द्वारा अस्तित्व में सत्तात्मक परिवर्तन घटित होते हैं। क्रिया करने की यह निरंतर संभावना—अर्थात्, अपने सत्तात्मक भौतिक स्वरूप में, अपने "शरीर" में 'स्वयं के लिए' को संशोधित करने की संभावना—स्पष्ट रूप से 'स्वयं के लिए' की एक आवश्यक विशेषता मानी जानी चाहिए। इस प्रकार, इस संभावना का आधार 'स्वयं के लिए' और 'स्वयं के लिए' के मूल संबंध में निहित होना चाहिए, एक ऐसा संबंध जिसे हमने अभी तक उजागर नहीं किया है। क्रिया करने का क्या अर्थ है? 'स्वयं के लिए' क्रिया क्यों करता है? यह क्रिया कैसे कर सकता है? ये वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें वर्तमान में देना है। हमारे पास उत्तर के लिए सभी तत्व मौजूद हैं: शून्यता, वास्तविकता और शरीर, दूसरों के लिए अस्तित्व, 'स्वयं के लिए' की विशिष्ट प्रकृति। हमें इन पर एक बार फिर विचार करना होगा।
1 शाब्दिक रूप से, "तीन बार लुढ़क सकता है।" Tr.
2 हेइडेगर की स्थिति का यह सूत्रीकरण ए. डी वेहलेंस का है। मार्टिन हाइडेगर के दार्शनिक. लौवेन, 1942, पृ. 99. सी.एफ. हेइडेगर का पाठ भी, जिसे उन्होंने उद्धृत किया है: "डिसे बेजुगंग मीन्ट निच्ट

हियर एइनेन नचट्राग्लिचेन अंड बी हर लॉफेंडेन ऑसड्रक डेस मेन्शसेन्स, सोंडर सी माचट दास डेसेन डेस मेन्सचेन मिट यूएसडब्ल्यू। (होल्डरलिन अंड दास वेसेन डेर डिचटुंग, पृष्ठ 6.)
(“यहाँ इस कथन का तात्पर्य मानव अस्तित्व की अतिरिक्त और पूरक अभिव्यक्ति से नहीं है, बल्कि यह प्रक्रिया में मनुष्य के अस्तित्व को स्पष्ट करता है।” डगलस स्कॉट का अनुवाद। अस्तित्व और सत्ता, शिकागो: हेनरी रेगनेरी। 1949, पृष्ठ 297।)
इसके अलावा, अधिकांश मनोविकारों की तरह, प्रभाव का मनोविकार भी एक विशेष अनुभव है जिसे मिथकों द्वारा व्यक्त किया जाता है, एक महान आध्यात्मिक तथ्य का - यहाँ अलगाव का तथ्य। यहाँ तक कि एक पागल भी अपने तरीके से मानवीय स्थिति को समझ लेता है।
5 निम्नलिखित अनुभाग देखें।
6 निम्नलिखित अनुभाग देखें।
इस विवरण के अनुरूप, प्रदर्शनवाद का कम से कम एक रूप ऐसा है जिसे आत्मपीड़नकारी मनोवृत्तियों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, जब रूसो धोबिनों के सामने "अश्लील वस्तु नहीं बल्कि हास्यास्पद वस्तु" प्रदर्शित करता है। देखें, कन्फेशंस, अध्याय III।
फ़्रेंच में सर्वनाम पुल्लिंग होते हैं क्योंकि वे autrui (अन्य) को संदर्भित करते हैं, जो पुरुष या स्त्री दोनों के लिए हो सकता है, लेकिन व्याकरणिक रूप से पुल्लिंग होता है। अंग्रेज़ी में स्त्रीलिंग अधिक स्वाभाविक लगता है।
9 देखें. भावनाएँ.
स्वाभाविक रूप से, यहाँ भी हर जगह की तरह, चीजों में मौजूद प्रतिकूलता के गुणांक को ध्यान में रखना आवश्यक है। ये वस्तुएँ केवल "स्वादिष्ट" ही नहीं हैं। बल्कि स्नेह के सामान्य परिप्रेक्ष्य में, वे "अप्रिय स्नेह" के रूप में भी प्रकट हो सकती हैं; अर्थात्, एक अशिष्टता, कर्कशता, एक कठोरता के साथ जो - ठीक इसलिए क्योंकि हम इच्छा की अवस्था में हैं - हमें इस तरह से आहत करती है जो असहनीय है। 11 डोना प्राउहेज़ (सोलियर डी सैटिन, 116 पत्रिका): "इल ने कन्नैत्रा पस ले गोट क्यू जाई।" (उसे पता नहीं चलेगा कि मुझे कौन सा स्वाद आता है।)
इटैलिक में लिखे गए अंश सार्त्र के हैं। मैंने फाल्कनर से सीधे उद्धृत किया है, न कि सार्त्र द्वारा उपयोग किए गए फ्रांसीसी अनुवाद से वापस अंग्रेजी में अनुवाद किया है। अनुवादक: विलियम फाल्कनर, लाइट इन अगस्त। न्यूयॉर्क: मॉडर्न लाइब्रेरी, पृष्ठ 407।
साथ ही मातृ प्रेम, दया, करुणा आदि।
इन विचारों से मुक्ति और उद्धार की नैतिकता की संभावना का खंडन नहीं होता। लेकिन यह केवल एक मौलिक परिवर्तन के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते।
भाग III, अध्याय I.
यहां अंग्रेजी और फ्रेंच के बीच का अंतर अनुवादक के लिए एक निश्चित कठिनाई प्रस्तुत करता है क्योंकि फ्रेंच में nous का प्रयोग कर्ता और कर्म दोनों के लिए किया जाता है—अर्थात, “हम” और “हमें।”
17 स्वयं के अस्वीकरण के अनेक मामलों की तुलना करें। स्वयं के लिए की भावना "हम" के बाहर पीड़ा में प्रकट होने से इनकार करती है।

भाग चार
पाना, करना और होना “होना,” “करना,” और “अस्तित्व” मानवीय वास्तविकता की प्रमुख श्रेणियाँ हैं। इनके अंतर्गत सभी प्रकार के मानवीय आचरण समाहित हैं। उदाहरण के लिए, जानना, होने का एक रूप है। ये श्रेणियाँ आपस में जुड़ी हुई हैं, और कई लेखकों ने इन संबंधों पर ज़ोर दिया है। डेनिस डी रूजमॉन्ट डॉन जुआन पर अपने लेख में इस प्रकार के संबंध पर प्रकाश डालते हैं, “वह होने में सक्षम नहीं था।” एक बार फिर, इसी तरह का संबंध तब इंगित होता है जब एक नैतिक कर्ता को “स्वयं को करने” के लिए और “स्वयं को करने” के लिए अस्तित्व में होने के रूप में दर्शाया जाता है।
हालाँकि आधुनिक दर्शन में पदार्थ के सिद्धांत के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रबल हो गई है, इसलिए अधिकांश विचारकों ने मानव आचरण के आधार पर वही करने का प्रयास किया है जो उनके पूर्ववर्तियों ने भौतिकी में किया था—पदार्थ को सरल गति से प्रतिस्थापित करना। लंबे समय तक नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य को जीने का एक तरीका प्रदान करना था। यही स्टोइक नैतिकता या स्पिनोज़ा के नीतिशास्त्र का अर्थ था। लेकिन यदि मनुष्य का अस्तित्व उसके कर्मों की श्रृंखला में पुनः समाहित हो जाता है, तो नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य को उच्चतर आलंकारिक गरिमा तक उठाना नहीं रह जाएगा। इस अर्थ में, कांट की नैतिकता पहली महान नैतिक प्रणाली है जो कर्म के सर्वोच्च मूल्य के रूप में अस्तित्व के स्थान पर कर्म को स्थापित करती है। 'एल'एस्पोइर' के नायक अधिकतर कर्म के स्तर पर हैं, और मालरो हमें पुराने स्पेनिश लोकतंत्रवादियों, जो अभी भी अस्तित्व में रहने का प्रयास करते हैं, और साम्यवादियों के बीच संघर्ष दिखाते हैं, जिनकी नैतिकता सटीक, विस्तृत दायित्वों की एक श्रृंखला में परिणत होती है, जिनमें से प्रत्येक दायित्व एक विशेष कर्म को लक्षित करता है। कौन सही है? क्या मानवीय गतिविधि का सर्वोच्च मूल्य कर्म है या अस्तित्व? और हम चाहे जो भी समाधान अपनाएँ, 'होने' का क्या होगा? सत्तामीमांसा हमें इस समस्या के बारे में जानकारी दे सकती है; इसके अलावा, यह सत्तामीमांसा के आवश्यक कार्यों में से एक है यदि 'स्वयं के लिए' वह अस्तित्व है जो क्रिया द्वारा परिभाषित होता है। इसलिए, क्रिया के अध्ययन और 'करने', 'होने' और 'होने' के आवश्यक संबंधों की एक व्यापक रूपरेखा दिए बिना हमें इस कार्य को समाप्त नहीं करना चाहिए।
1 Avoir, faire, être. 'faire' का अनुवाद कैसे किया जाए, यह जानना कठिन है क्योंकि सार्त्र इसे फ्रेंच में निहित 'करना' और 'बनाना' के दोहरे अर्थ में लेते हैं। कुल मिलाकर, 'करना' अधिक उपयुक्त लगता है, खासकर इसलिए कि 'किताब लिखना' या 'नाटक करना' जैसे भावों में भी वही दोहरा अर्थ होता है और अंग्रेजी में वे अर्थपूर्ण लगते हैं, भले ही वे थोड़े अटपटे हों। Tr.

अध्याय एक

होना और करना: स्वतंत्रता I. स्वतंत्रता: कर्म की पहली शर्त यह विचित्र है कि दार्शनिक नियतिवाद और स्वतंत्र इच्छा पर अंतहीन बहस करते रहे हैं, एक या दूसरे सिद्धांत के पक्ष में उदाहरण देते रहे हैं, लेकिन उन्होंने कभी भी क्रिया की अवधारणा में निहित संरचनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया। वास्तव में, क्रिया की अवधारणा में अनेक अधीनस्थ धारणाएँ समाहित हैं जिन्हें हमें एक क्रम में व्यवस्थित करना होगा: क्रिया करना संसार के स्वरूप को बदलना है; यह किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनों को व्यवस्थित करना है; यह एक संगठित साधनिक तंत्र का निर्माण करना है जिससे कड़ियों की एक श्रृंखला के माध्यम से किसी एक कड़ी में किया गया परिवर्तन पूरी श्रृंखला में परिवर्तन उत्पन्न करता है और अंततः अपेक्षित परिणाम देता है। लेकिन यहाँ हमारे लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है। हमें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि क्रिया मूलतः सचेतन होती है। लापरवाही से बारूद के गोदाम में विस्फोट करने वाले लापरवाह धूम्रपान करने वाले ने क्रिया नहीं की है। दूसरी ओर, खदान में डायनामाइट से विस्फोट करने का काम सौंपे गए और दिए गए आदेशों का पालन करने वाले मजदूर ने अपेक्षित विस्फोट करके क्रिया की है; वह जानता था कि वह क्या कर रहा है या, दूसरे शब्दों में, उसने जानबूझकर एक सचेतन योजना को साकार किया।
इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति को अपने कार्य के सभी परिणामों का पूर्वाभास अवश्य हो। सम्राट कॉन्स्टेंटाइन ने जब बाइजेंटियम में अपना राज्य स्थापित किया, तब उन्होंने यह अनुमान नहीं लगाया था कि वे ग्रीक संस्कृति और भाषा का एक केंद्र स्थापित करेंगे, जिसके उदय से अंततः ईसाई चर्च में विभाजन उत्पन्न होगा और जो रोमन साम्राज्य को कमजोर करने में योगदान देगा। फिर भी, उन्होंने एक ऐसा कार्य किया जो न्यायसंगत था क्योंकि उन्होंने पूर्व में सम्राटों के लिए एक नया निवास स्थान बनाने की अपनी परियोजना को साकार किया। यहाँ परिणाम को इरादे के समतुल्य मानना ही हमें क्रिया की बात करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि ऐसा है, तो हम यह स्थापित करते हैं कि क्रिया अनिवार्य रूप से अपनी शर्त के रूप में एक "वांछनीयता" की पहचान को निहित करती है; अर्थात्, एक वस्तुनिष्ठ अभाव या फिर एक नकारात्मकता की पहचान। रोम के लिए एक प्रतिद्वंद्वी प्रदान करने का इरादा कॉन्स्टेंटाइन के मन में केवल एक वस्तुनिष्ठ अभाव की अनुभूति से ही आ सकता है: रोम में एक प्रतिसंतुलन का अभाव है; इस अभी भी गहन रूप से मूर्तिपूजक शहर के विपरीत एक ईसाई शहर होना चाहिए जो इस समय मौजूद नहीं है। कॉन्स्टेंटिनोपल का निर्माण तभी एक क्रिया के रूप में समझा जा सकता है जब पहले एक नए शहर की परिकल्पना की गई हो, या कम से कम यह परिकल्पना बाद के सभी चरणों के लिए एक मार्गदर्शक विषय के रूप में कार्य करती हो। लेकिन यह परिकल्पना शहर की संभावित छवि का सटीक प्रतिनिधित्व नहीं हो सकती। यह शहर

को उसकी मूल विशेषता के साथ समझती है, जो कि एक वांछनीय और अभी तक अवास्तविक संभावना है।
इसका अर्थ यह है कि क्रिया की पहली अनुभूति के क्षण से ही, चेतना स्वयं को उस संपूर्ण जगत से अलग करने में सक्षम रही है जिसकी वह चेतना है और अस्तित्व के स्तर को छोड़कर स्पष्ट रूप से गैर-अस्तित्व के स्तर तक पहुँचने में सक्षम रही है। चेतना, जहाँ तक उसे केवल उसके अस्तित्व में ही देखा जाता है, निरंतर अस्तित्व से अस्तित्व की ओर निर्देशित होती है और अस्तित्व में गैर-अस्तित्व को प्रकट करने का कोई कारण नहीं पा सकती। रोम को राजधानी बनाकर स्थापित साम्राज्यवादी व्यवस्था सकारात्मक रूप से और एक निश्चित वास्तविक तरीके से कार्य करती है जिसे आसानी से खोजा जा सकता है। क्या कोई कहेगा कि करों की वसूली ठीक से नहीं होती, रोम आक्रमणों से सुरक्षित नहीं है, इसकी भौगोलिक स्थिति भूमध्यसागरीय साम्राज्य की राजधानी के लिए उपयुक्त नहीं है जो बर्बरों से खतरे में है, और इसके भ्रष्ट नैतिक मूल्यों के कारण ईसाई धर्म का प्रसार कठिन है? भला कोई कैसे यह देखने में विफल हो सकता है कि ये सभी विचार नकारात्मक हैं; अर्थात्, इनका उद्देश्य उस पर है जो नहीं है, न कि उस पर जो है। यदि आवश्यक हो तो, स्थिति का सकारात्मक आकलन करने के लिए यह कहना उचित हो सकता है कि अपेक्षित करों का साठ प्रतिशत वसूल कर लिया गया है। यह कहना कि उनका एकत्रीकरण ठीक से नहीं हुआ है, उस स्थिति को एक ऐसे परिप्रेक्ष्य में देखना है जिसे एक पूर्ण लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि वास्तव में वह ऐसा नहीं है। यह कहना कि रोम में भ्रष्ट नैतिकता ईसाई धर्म के प्रसार में बाधा डालती है, इस प्रसार को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं देखना है; अर्थात्, उस दर पर प्रसार को नहीं देखना है जिसे हम पादरियों की रिपोर्टों के आधार पर निर्धारित कर सकते हैं। यह प्रसार को अपने आप में अपर्याप्त मानना है; अर्थात्, उसे एक गुप्त शून्यता से ग्रस्त मानना है। लेकिन यह तभी ऐसा प्रतीत होता है जब इसे एक पूर्व-निर्धारित मूल्य (उदाहरण के लिए, धार्मिक रूपांतरणों की एक निश्चित दर, एक निश्चित सामूहिक नैतिकता) की ओर ले जाया जाता है। इस सीमित स्थिति की कल्पना केवल वास्तविक स्थिति के सरल विचार के आधार पर नहीं की जा सकती; क्योंकि दुनिया की सबसे खूबसूरत लड़की भी वही दे सकती है जो उसके पास है, और उसी प्रकार सबसे दयनीय स्थिति को भी बिना किसी आदर्श शून्यता के संदर्भ के केवल उसी रूप में वर्णित किया जा सकता है जैसी वह है।
जब तक मनुष्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में डूबा रहता है, तब तक वह विफलताओं की कल्पना भी नहीं कर पाता और राजनीतिक संगठन या सुनियोजित अर्थव्यवस्था की कमी को समझ पाता है; ऐसा मूर्खतापूर्ण ढंग से नहीं कहा जाता कि वह "इसका आदी हो चुका है", बल्कि इसलिए कि वह इसे अपने पूर्ण स्वरूप में समझता है और यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह इसके अलावा किसी और रूप में रह सकता है। यहाँ आम राय को पलटना और जो सच नहीं है, उसके आधार पर स्थिति की कठोरता और उससे होने वाले कष्टों को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि ये दोनों ही ऐसी स्थिति की कल्पना करने के लिए प्रेरक हैं जिसमें सभी के लिए चीजें

बेहतर होंगी। जिस दिन हम एक अलग स्थिति की कल्पना कर पाते हैं, उसी दिन हमारी परेशानियों और कष्टों पर एक नया प्रकाश पड़ता है और हम यह निर्णय लेते हैं कि ये असहनीय हैं। 1830 में एक मजदूर अपने वेतन में कटौती होने पर विद्रोह करने में सक्षम था, क्योंकि वह आसानी से ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकता था जिसमें उसका दयनीय जीवन स्तर उतना निम्न न होता जितना कि उस पर थोपा जाने वाला है। लेकिन वह अपने कष्टों को असहनीय नहीं मानता; वह उन्हें त्याग के कारण नहीं, बल्कि इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि उसमें उस सामाजिक स्थिति की कल्पना करने के लिए आवश्यक शिक्षा और चिंतन का अभाव है जिसमें ये कष्ट न हों। परिणामस्वरूप वह कोई कार्रवाई नहीं करता। लियोन के स्वामी दंगे के बाद, क्रोक्स-रूस के मजदूर अपनी जीत का क्या करें, यह नहीं जानते; वे व्याकुल होकर घर लौटते हैं, और नियमित सेना को उन्हें हराने में कोई कठिनाई नहीं होती। उनकी विपत्तियाँ उन्हें "आदतन" नहीं, बल्कि स्वाभाविक लगती हैं; वे बस हैं, और वे मजदूर की स्थिति का निर्माण करती हैं। वे अलग-थलग नहीं हैं; वे दिन के उजाले में स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देतीं, और इसलिए मजदूर उन्हें अपने अस्तित्व का अभिन्न अंग मान लेता है। वह अपने कष्टों पर विचार किए बिना और उन्हें कोई मूल्य दिए बिना उन्हें सहता है। उसके लिए सहना और होना एक ही है। उसका कष्ट उसकी गैर-स्थितीय चेतना का शुद्ध भावात्मक स्वरूप है, लेकिन वह उस पर चिंतन नहीं करता। इसलिए यह पीड़ा स्वयं में उसके कार्यों का प्रेरक नहीं हो सकती। इसके विपरीत, जब वह स्थिति को बदलने की योजना बना लेता है, तभी वह उसे असहनीय लगने लगती है। इसका अर्थ है कि उसे स्वयं को स्थान देना होगा, उससे अलग होना होगा, और दोहरा शून्यकरण करना होगा: एक ओर, उसे आदर्श स्थिति को शुद्ध वर्तमान शून्यता के रूप में स्थापित करना होगा; दूसरी ओर, उसे वास्तविक स्थिति को इस स्थिति के संबंध में शून्यता के रूप में स्थापित करना होगा। उसे अपने वर्ग से जुड़ी खुशी को एक शुद्ध संभावना के रूप में—अर्थात्, वर्तमान में एक निश्चित शून्यता के रूप में—कल्पना करनी होगी, और दूसरी ओर, वह वर्तमान स्थिति में लौटकर उसे इस शून्यता के प्रकाश में प्रकाशित करेगा और फिर यह घोषणा करके उसे नष्ट कर देगा: "मैं खुश नहीं हूँ।"
इसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। (1) कोई भी तथ्यात्मक स्थिति, चाहे वह कैसी भी हो (समाज की राजनीतिक और आर्थिक संरचना, मनोवैज्ञानिक "स्थिति," आदि), स्वयं किसी भी क्रिया को प्रेरित करने में सक्षम नहीं है। क्योंकि क्रिया स्वयं का उस ओर प्रक्षेपण है जो अस्तित्व में नहीं है, और जो अस्तित्व में है वह स्वयं किसी भी प्रकार से यह निर्धारित नहीं कर सकता कि क्या अस्तित्व में नहीं है। (2) कोई भी तथ्यात्मक स्थिति चेतना को नकारात्मकता या अभाव के रूप में समझने के लिए निर्धारित नहीं कर सकती। इससे भी बेहतर, कोई भी तथ्यात्मक स्थिति चेतना को परिभाषित करने और उसे सीमित करने के लिए निर्धारित नहीं कर सकती, क्योंकि जैसा कि हमने देखा है, स्पिनोज़ा का कथन, "सर्वशक्तिमान निर्धारण ही नकारात्मकता है," अत्यंत सत्य बना हुआ है। अब प्रत्येक क्रिया की स्पष्ट शर्त न केवल किसी स्थिति को "अभाव से रहित" के रूप में खोजना है, अर्थात् नकारात्मकता के रूप में,

बल्कि सबसे पहले, विचाराधीन स्थिति को एक पृथक प्रणाली में गठित करना भी है। एक वास्तविक अवस्था—संतोषजनक हो या न हो—केवल स्वयं के लिए की विनाशकारी शक्ति के माध्यम से ही संभव है। परन्तु यह विनाशकारी शक्ति संसार से संबंध में साधारण अलगाव तक सीमित नहीं रह सकती। वास्तव में, जहाँ तक चेतना अस्तित्व से "परिचित" है, जहाँ तक वह केवल यथार्थ का भोग करती है, तब तक उसे अस्तित्व में समाहित होना ही चाहिए। यह संगठित रूप—श्रमिक द्वारा अपने कष्ट को स्वाभाविक समझना—है, जिस पर विजय प्राप्त करना और उसे नकारना आवश्यक है ताकि वह एक रहस्योद्घाटनकारी चिंतन का विषय बन सके। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वयं से और संसार से पूर्णतः विमुख होकर ही श्रमिक अपने कष्ट को असहनीय कष्ट के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और फलस्वरूप उसे अपने क्रांतिकारी कार्यों का प्रेरक बना सकता है। इसका तात्पर्य चेतना के लिए अपने अतीत से विच्छेद करने, अपने अतीत से स्वयं को अलग करने की स्थायी संभावना है, ताकि वह उसे अस्तित्वहीनता के प्रकाश में देख सके और उसे वह अर्थ प्रदान कर सके जो उसके पास है, उस अर्थ की परियोजना के संदर्भ में जो उसके पास नहीं है। किसी भी परिस्थिति में अतीत स्वयं किसी भी प्रकार से कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता; अर्थात्, एक ऐसे लक्ष्य की स्थापना जो स्वयं पर ही पलटकर उसे प्रकाशित करे। हेगेल ने इसी बात को तब समझा था जब उन्होंने लिखा था कि "मन नकारात्मक है," हालाँकि ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे क्रिया और स्वतंत्रता के अपने सिद्धांत को प्रस्तुत करने आए तो वे इसे भूल गए। वास्तव में, जैसे ही हम चेतना को संसार और स्वयं के संबंध में यह नकारात्मक शक्ति प्रदान करते हैं, जैसे ही शून्यीकरण एक लक्ष्य की स्थापना का अभिन्न अंग बन जाता है, हमें यह स्वीकार करना होगा कि सभी क्रियाओं की अपरिहार्य और मूलभूत शर्त क्रियाशील प्राणी की स्वतंत्रता है।
इस प्रकार, शुरुआत में ही हम देख सकते हैं कि नियतिवादियों और स्वतंत्र इच्छा के समर्थकों के बीच होने वाली उन उबाऊ चर्चाओं में क्या कमी है। स्वतंत्र इच्छा के समर्थक ऐसे निर्णयों के उदाहरण खोजने में लगे रहते हैं जिनके लिए कोई पूर्व कारण मौजूद न हो, या दो विरोधी कार्यों पर विचार-विमर्श करने में लगे रहते हैं जो समान रूप से संभव हों और जिनके कारण (और प्रेरणाएँ) बिल्कुल समान महत्व के हों। इस पर नियतिवादी आसानी से उत्तर दे सकते हैं कि बिना कारण के कोई क्रिया नहीं होती और सबसे तुच्छ हावभाव (बाएँ हाथ की बजाय दाएँ हाथ को उठाना, आदि) भी उन कारणों और प्रेरणाओं को संदर्भित करता है जो उसे अर्थ प्रदान करते हैं। वास्तव में, मामला अन्यथा नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक क्रिया जानबूझकर की जानी चाहिए; प्रत्येक क्रिया का वास्तव में एक लक्ष्य होना चाहिए, और लक्ष्य बदले में एक कारण से संबंधित होता है। वास्तव में, यही तीन लौकिक भावों की एकता है; मेरे भविष्य का लक्ष्य या लौकिकीकरण एक कारण (या प्रेरणा) को दर्शाता है; अर्थात्, यह मेरे अतीत की ओर इशारा करता है, और वर्तमान उस क्रिया का उद्भव है। बिना कारण के किसी क्रिया की बात करना एक ऐसी क्रिया की बात करना है जिसमें प्रत्येक क्रिया की जानबूझकर संरचना का अभाव होगा; स्वतंत्र इच्छा के

समर्थक, क्रिया के घटित होने की प्रक्रिया में ही उसकी खोज करके अंततः उस क्रिया को निरर्थक बना देते हैं। वहीं, नियतिवादी कारण और प्रेरणा को मात्र निर्धारित करके ही अपनी जाँच रोक देते हैं, जिससे वे संतुलन खो बैठते हैं। वास्तव में मूल प्रश्न "कारण-इच्छा-क्रिया-परिणाम" की जटिल संरचना से परे है; बल्कि हमें यह पूछना चाहिए कि किसी कारण (या प्रेरणा) को इस रूप में कैसे स्थापित किया जा सकता है।
अब हमने देखा है कि यदि बिना कारण के कोई क्रिया नहीं होती, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि बिना कारण के कोई घटना नहीं होती। कारण होने के लिए, कारण का अनुभव होना आवश्यक है। बेशक, इसका यह अर्थ नहीं है कि इसे विचार-विमर्श की तरह विषयगत रूप से समझा जाए और स्पष्ट किया जाए। लेकिन कम से कम इसका अर्थ यह है कि 'स्वयं' को इसे कारण या प्रेरक के रूप में इसका मूल्य प्रदान करना चाहिए। और, जैसा कि हमने देखा है, कारण का यह स्वरूप किसी अन्य वास्तविक और सकारात्मक अस्तित्व, अर्थात् किसी पूर्व कारण का संदर्भ नहीं दे सकता। अन्यथा, जानबूझकर अस्तित्वहीनता में संलग्न क्रिया का मूल स्वरूप ही लुप्त हो जाएगा। प्रेरक को केवल लक्ष्य से ही समझा जा सकता है; अर्थात् अस्तित्वहीनता से। इसलिए यह अपने आप में एक नकारात्मकता है। यदि मैं कम वेतन स्वीकार करता हूँ, तो निस्संदेह यह भय के कारण है; और भय एक प्रेरक है। लेकिन यह भुखमरी से मरने का भय है; यानी, इस भय का अर्थ केवल स्वयं से बाहर, एक आदर्श रूप से स्थापित लक्ष्य में ही निहित है, जो उस जीवन का संरक्षण है जिसे मैं "खतरे में" समझता हूँ। और इस भय को बदले में केवल उस मूल्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है जो मैं इस जीवन को अप्रत्यक्ष रूप से देता हूँ; अर्थात्, यह आदर्श वस्तुओं की उस पदानुक्रमित प्रणाली से संबंधित है जो मूल्य हैं। इस प्रकार, प्रेरणा स्वयं को उन प्राणियों के समूह के माध्यम से समझाती है जो "अस्तित्वहीन" हैं, आदर्श अस्तित्वों के माध्यम से, और भविष्य के माध्यम से। जिस प्रकार भविष्य वर्तमान और अतीत को स्पष्ट करने के लिए उन पर वापस लौटता है, उसी प्रकार मेरी परियोजनाओं का समूह प्रेरणा को एक प्रेरणा के रूप में उसकी संरचना प्रदान करने के लिए वापस लौटता है। यह केवल इसलिए है क्योंकि मैं स्वयं को अपनी संभावनाओं की ओर शून्य करके स्वयं से बच निकलता हूँ, तभी यह स्वयं कारण या प्रेरणा के रूप में मूल्य ग्रहण कर सकता है। कारणों और प्रेरणाओं का अर्थ केवल एक प्रक्षेपित समूह के भीतर ही होता है जो वास्तव में अस्तित्वहीन का समूह है। और यह समूह अंततः मैं स्वयं ही पारलौकिकता के रूप में हूँ; यह मैं ही हूँ, इस हद तक कि मुझे स्वयं से बाहर स्वयं होना पड़ता है।
यदि हम उस सिद्धांत को याद करें जिसे हमने पहले स्थापित किया था—अर्थात् क्रांति की संभावना का आभास ही श्रमिक के कष्ट को एक प्रेरणा के रूप में मूल्य प्रदान करता है—तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी परिस्थिति से दूर भागकर उसे बदलने की संभावना की ओर बढ़ने से ही हम उस परिस्थिति को कारणों और प्रेरणाओं के जटिल जाल में संगठित करते हैं। जिस शून्यता के द्वारा हम परिस्थिति से विमुख हो जाते हैं, वही परमानंद है

स्व-स्वयं अपने सार के रूप में अपने अस्तित्व से मुक्त हो जाता है; इसी के माध्यम से 'स्वयं के लिए' हमेशा उस चीज़ से भिन्न होता है जो उसके बारे में कही जा सकती है। अंततः, 'स्वयं के लिए' वह है जो इस नामकरण से ही परे है, वह जो पहले से ही उस नाम से परे है जो उसे दिया गया है, उस गुण से परे है जिसे उसमें पहचाना जाता है। यह कहना कि 'स्वयं के लिए' को वही होना चाहिए जो वह है, यह कहना कि वह वह है जो वह नहीं है जबकि वह वह नहीं है जो वह है, यह कहना कि उसमें अस्तित्व सार से पहले आता है और उसे निर्धारित करता है या इसके विपरीत, हेगेल के अनुसार, कि उसके लिए "वेसेन इस्ट वास गेवेसेन इस्ट"—इन सबका अर्थ एक ही है: यह जानना कि मनुष्य स्वतंत्र है। वास्तव में, केवल इस तथ्य से कि मैं उन कारणों के प्रति सचेत हूँ जो मेरे कर्म को प्रेरित करते हैं, ये कारण मेरी चेतना के लिए पहले से ही पारलौकिक वस्तुएँ हैं; वे बाहर हैं। व्यर्थ ही मैं उन्हें पकड़ने का प्रयास करूँगा; मैं अपने अस्तित्व से ही उनसे बच निकलता हूँ। मैं अपने सार से परे, अपने कर्म के कारणों और प्रेरणाओं से परे, हमेशा के लिए विद्यमान रहने के लिए अभिशप्त हूँ। मैं स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त हूँ। इसका अर्थ यह है कि मेरी स्वतंत्रता की कोई सीमा नहीं है सिवाय स्वयं स्वतंत्रता के, या दूसरे शब्दों में कहें तो, हम स्वतंत्र होने का त्याग करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। जिस हद तक 'स्वयं के लिए' अपनी शून्यता को स्वयं से छिपाना चाहता है और 'स्वयं में' को अपने वास्तविक स्वरूप के रूप में समाहित करना चाहता है, उस हद तक वह अपनी स्वतंत्रता को भी स्वयं से छिपाने का प्रयास कर रहा है।
नियतिवाद का अंतिम अर्थ हमारे भीतर अस्तित्व की एक अटूट निरंतरता स्थापित करना है। नियतिवादी दृष्टिकोण में, प्रेरणा को एक मानसिक तथ्य के रूप में — अर्थात् एक पूर्ण और प्रदत्त वास्तविकता के रूप में—निर्णय और क्रिया के साथ बिना किसी विच्छेद के अभिव्यक्त किया जाता है, और इन दोनों को ही समान रूप से मानसिक प्रदत्त माना जाता है। स्वयं में इन सभी "आंकड़ों" का समावेश है; प्रेरणा क्रिया को भौतिक कारण के रूप में प्रेरित करती है; सब कुछ वास्तविक है, सब कुछ पूर्ण है। इस प्रकार स्वतंत्रता से इनकार को केवल स्वयं को स्वयं में अस्तित्व के रूप में समझने के प्रयास के रूप में ही समझा जा सकता है; यह एक ही बात है। मानवीय वास्तविकता को एक ऐसे अस्तित्व के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें उसकी स्वतंत्रता दांव पर लगी होती है क्योंकि मानवीय वास्तविकता निरंतर अपनी स्वतंत्रता को पहचानने से इनकार करने का प्रयास करती है। मनोवैज्ञानिक रूप से हममें से प्रत्येक में इसका अर्थ है कारणों और प्रेरणाओं को वस्तुओं के रूप में लेने का प्रयास करना। हम उन्हें स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास करते हैं। हम स्वयं से यह छिपाने का प्रयास करते हैं कि उनका स्वरूप और उनका महत्व प्रत्येक क्षण उस अर्थ पर निर्भर करता है जो मैं उन्हें देता हूँ; हम उन्हें स्थिर मान लेते हैं। इसका अर्थ है उस अर्थ पर विचार करना जो मैंने अभी या कल उन्हें दिया था—जो कि अपरिवर्तनीय है क्योंकि वह अतीत है—और उससे वर्तमान में स्थिर एक चरित्र का अनुमान लगाना। मैं स्वयं को यह समझाने का प्रयास करता हूँ कि कारण वही है जो पहले था। इस प्रकार वह मेरी

भूतकाल की चेतना से मेरी वर्तमान चेतना में पूर्ण और अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो जाएगा। वह मेरी चेतना में निवास करेगा। इसका अर्थ है स्वयं के लिए सार देने का प्रयास करना। इसी प्रकार लोग लक्ष्यों को पारलौकिकता के रूप में स्थापित करते हैं, जो कोई त्रुटि नहीं है। लेकिन यह देखने के बजाय कि वहाँ स्थापित पारलौकिकताएँ मेरी स्वयं की पारलौकिकता द्वारा अपने अस्तित्व में बनी रहती हैं, लोग यह मान लेते हैं कि मैं संसार में अपने उद्भव के साथ ही उनसे रूबरू होता हूँ; वे ईश्वर से, प्रकृति से, "मेरी" प्रकृति से, समाज से आती हैं। इसलिए ये पूर्वनिर्मित और मानव-पूर्व लक्ष्य मेरे कर्म के अर्थ को मेरे द्वारा उसकी कल्पना करने से पहले ही परिभाषित कर देंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे शुद्ध मानसिक प्रदत्त के रूप में कारण मेरे बिना जाने ही उसे उत्पन्न कर देंगे।
कारण, क्रिया और अंत एक निरंतरता, एक पूर्णता का निर्माण करते हैं। अस्तित्व के भार के नीचे स्वतंत्रता को दबाने के ये असफल प्रयास (स्वतंत्रता के समक्ष पीड़ा के अचानक उभार के साथ ये धराशायी हो जाते हैं) पर्याप्त रूप से यह दर्शाते हैं कि स्वतंत्रता अपने मूल में उस शून्यता के साथ मेल खाती है जो मनुष्य के हृदय में विद्यमान है। मानवीय वास्तविकता स्वतंत्र है क्योंकि वह पर्याप्त नहीं है। यह स्वतंत्र है क्योंकि यह निरंतर स्वयं से विमुख होती रहती है और क्योंकि यह शून्यता द्वारा अपने वर्तमान स्वरूप और भविष्य के स्वरूप से अलग हो गई है। अंततः, यह स्वतंत्र है क्योंकि इसका वर्तमान अस्तित्व स्वयं "प्रतिबिंब-प्रतिबिंब" के रूप में एक शून्यता है। मनुष्य स्वतंत्र है क्योंकि वह स्वयं नहीं बल्कि स्वयं की उपस्थिति है। जो अस्तित्व अपने आप में है, वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। स्वतंत्रता ठीक वही शून्यता है जो मनुष्य के हृदय में निर्मित होती है और जो मानवीय वास्तविकता को अस्तित्व में रहने के बजाय स्वयं को निर्मित करने के लिए विवश करती है। जैसा कि हमने देखा है, मानवीय वास्तविकता के लिए, अस्तित्व का अर्थ है स्वयं को चुनना; बाहर से या भीतर से कुछ भी ऐसा प्राप्त या स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसे वह ग्रहण कर सके। बिना किसी सहायता के, यह स्वयं को अस्तित्व में लाने की असहनीय आवश्यकता के आगे पूरी तरह से समर्पित हो जाता है—यहाँ तक कि सूक्ष्मतम विवरण तक। इस प्रकार स्वतंत्रता कोई अस्तित्व नहीं है; यह मनुष्य का अस्तित्व है— अर्थात, उसका अस्तित्वहीन होना। यदि हम मनुष्य को एक परिपूर्ण इकाई के रूप में देखना शुरू करें, तो बाद में उसमें ऐसे क्षण या मानसिक क्षेत्र खोजना निरर्थक है जिनमें वह स्वतंत्र हो सके। यह वैसा ही है जैसे किसी भरे हुए पात्र में खालीपन खोजना! मनुष्य कभी दास तो कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता; वह या तो पूर्णतः और सदा के लिए स्वतंत्र होता है या बिलकुल भी स्वतंत्र नहीं होता।
यदि हम इन अवलोकनों का सही उपयोग करना जानते हैं, तो ये हमें नई खोजों की ओर ले जा सकते हैं। इनसे हमें सबसे पहले स्वतंत्रता और जिसे हम "इच्छाशक्ति" कहते हैं, के बीच संबंधों को उजागर करने में मदद मिलेगी। स्वतंत्र कार्यों को स्वैच्छिक कार्यों के साथ जोड़ने और नियतिवादी

— के प्रकाश में विचार करके उसे शून्य करने के लिए विवश नहीं होता? और क्या जुनून के अपने लक्ष्य नहीं होते जिन्हें ठीक उसी क्षण पहचाना जाता है जब वह उन्हें अस्तित्वहीन मानता है? और यदि शून्यता ही स्वतंत्रता का सार है, तो हम इच्छाशक्ति को स्वायत्तता प्रदान करने के लिए जुनून को स्वायत्तता देने से कैसे इनकार कर सकते हैं?
लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती: इच्छाशक्ति, स्वतंत्रता की एकमात्र या कम से कम विशेषाधिकार प्राप्त अभिव्यक्ति होने के बजाय, वास्तव में—स्वयं के लिए होने वाली हर घटना की तरह—इच्छाशक्ति के रूप में स्वयं को स्थापित करने के लिए एक मौलिक स्वतंत्रता की नींव को पूर्वकल्पित करती है। इच्छाशक्ति वास्तव में कुछ लक्ष्यों के संबंध में एक चिंतनशील निर्णय के रूप में स्थापित होती है। लेकिन यह इन लक्ष्यों का सृजन नहीं करती। बल्कि यह उनके संबंध में अस्तित्व का एक तरीका है: यह निर्धारित करती है कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति चिंतनशील और विचारपूर्वक होगी। भावनाएँ भी इन्हीं लक्ष्यों को स्थापित कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, यदि मुझे खतरा महसूस होता है, तो मैं मृत्यु के भय से पूरी गति से भाग सकता हूँ। यह भावनात्मक तथ्य फिर भी जीवन के मूल्य को एक सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित करता है। इसके विपरीत, उसी स्थिति में कोई अन्य व्यक्ति यह समझेगा कि उसे अपने स्थान पर बने रहना चाहिए, भले ही प्रतिरोध शुरू में भागने से अधिक खतरनाक प्रतीत हो; वह "दृढ़ रहेगा"। लेकिन उसका लक्ष्य, यद्यपि बेहतर ढंग से समझा गया है और स्पष्ट रूप से स्थापित किया गया है, भावनात्मक प्रतिक्रिया के मामले के समान ही रहता है। बात बस इतनी सी है कि इसे प्राप्त करने के तरीके अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित हैं; कुछ को संदिग्ध या अप्रभावी मानकर अस्वीकार कर दिया जाता है, जबकि अन्य को अधिक सुदृढ़ता से व्यवस्थित किया जाता है। यहाँ अंतर साधनों के चुनाव और चिंतन तथा स्पष्टता की मात्रा पर निर्भर करता है, न कि लक्ष्य पर। फिर भी, जो भागता है उसे "भावुक" कहा जाता है, और हम "स्वैच्छिक" शब्द का प्रयोग प्रतिरोध करने वाले के लिए करते हैं। इसलिए प्रश्न एक पारलौकिक लक्ष्य के संबंध में व्यक्तिपरक दृष्टिकोण के अंतर का है। लेकिन यदि हम उस त्रुटि से बचना चाहते हैं जिसकी हमने पहले निंदा की थी और इन पारलौकिक लक्ष्यों को पूर्व-मानवीय और हमारी पारलौकिकता की पूर्व-निर्धारित सीमा नहीं मानना चाहते, तो हमें वास्तव में यह स्वीकार करना होगा कि वे हमारी स्वतंत्रता का लौकिक प्रक्षेपण हैं। जैसा कि हमने देखा है, मानवीय वास्तविकता अपने लक्ष्यों को न तो बाहर से और न ही तथाकथित आंतरिक "प्रकृति" से प्राप्त कर सकती है। वह उन्हें चुनती है और इसी चुनाव द्वारा उन्हें अपनी परियोजनाओं की बाहरी सीमा के रूप में एक पारलौकिक अस्तित्व प्रदान करती है। इस दृष्टिकोण से—और यदि यह समझा जाए कि डेसिन का अस्तित्व उसके सार से पहले आता है और उसे नियंत्रित करता है—मानव वास्तविकता अपने उत्थान में ही अपने अस्तित्व को अपने उद्देश्यों से परिभाषित करती है। अतः मेरे परम उद्देश्यों की स्थापना ही मेरे अस्तित्व की विशेषता है और यही उस स्वतंत्रता के अचानक प्रवाह के समान है जो मुझे प्राप्त है। और यह प्रवाह

ही एक अस्तित्व है; इसका किसी सार या किसी ऐसे अस्तित्व के गुण से कोई संबंध नहीं है जो किसी विचार के साथ मिलकर उत्पन्न होता हो।
अत: चूंकि स्वतंत्रता मेरे अस्तित्व के समान है, इसलिए यह उन लक्ष्यों का आधार है जिन्हें मैं इच्छाशक्ति या भावुक प्रयासों द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करूंगा। अतः इसे स्वैच्छिक कार्यों तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, इच्छाशक्ति, भावनाओं की तरह ही, कुछ व्यक्तिपरक मनोवृत्तियाँ हैं जिनके द्वारा हम मूल स्वतंत्रता द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। मूल स्वतंत्रता से हमारा तात्पर्य उस स्वतंत्रता से नहीं है जो स्वैच्छिक या भावुक कार्य से पूर्व हो, बल्कि एक ऐसे आधार से है जो इच्छाशक्ति या भावना के साथ समकालिक है और जिसे ये दोनों अपने-अपने तरीके से प्रकट करते हैं। न ही हमें स्वतंत्रता को इच्छाशक्ति या भावना के विपरीत रखना चाहिए, जैसे बर्गसन का "गहन स्व" सतही स्व के विपरीत है; स्व-स्वयं पूर्णतः आत्मत्व है और उसका कोई "गहन स्व" नहीं हो सकता, जब तक कि इससे हमारा तात्पर्य मानस की कुछ पारलौकिक संरचनाओं से न हो। स्वतंत्रता हमारी इच्छाशक्ति या हमारी भावनाओं का अस्तित्व मात्र है, क्योंकि यह अस्तित्व वास्तविकता का निरसन है; अर्थात्, एक ऐसे अस्तित्व का अस्तित्व जो अपने होने के भाव में ही विद्यमान है। हम इस बिंदु पर फिर लौटेंगे। बहरहाल, हमें यह याद रखना चाहिए कि इच्छाशक्ति स्वयं द्वारा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों के दायरे में ही निर्धारित होती है, जो स्वयं के एक पारलौकिक प्रक्षेपण के माध्यम से उसकी संभावनाओं की ओर अग्रसर होती है। यदि ऐसा न होता, तो हम विचार-विमर्श को कैसे समझ पाते, जो कि पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों के संबंध में साधनों का मूल्यांकन है?
यदि ये लक्ष्य पहले से ही निर्धारित हैं, तो प्रत्येक क्षण जो निर्णय लेना शेष रहता है, वह यह है कि मैं उनके प्रति कैसा आचरण करूँ; दूसरे शब्दों में, मैं कौन सा दृष्टिकोण अपनाऊँ। क्या मैं इच्छाशक्ति से कार्य करूँ या आवेश से? मेरे सिवा कौन निर्णय ले सकता है? वास्तव में, यदि हम यह मान लें कि परिस्थितियाँ मेरे लिए निर्णय लेती हैं (उदाहरण के लिए, मैं मामूली खतरे का सामना करते समय इच्छाशक्ति से कार्य कर सकता हूँ, लेकिन यदि खतरा बढ़ जाता है, तो मैं आवेश में आ जाता हूँ), तो हम इस प्रकार सारी स्वतंत्रता का दमन कर देते हैं। यह कहना वास्तव में हास्यास्पद होगा कि इच्छाशक्ति प्रकट होने पर स्वायत्त होती है, लेकिन बाहरी परिस्थितियाँ ही उसके प्रकट होने के क्षण को निर्धारित करती हैं। लेकिन, दूसरी ओर, यह कैसे माना जा सकता है कि एक ऐसी इच्छाशक्ति जो अभी अस्तित्व में नहीं है, अचानक आवेशों की श्रृंखला को तोड़कर इन श्रृंखलाओं के टुकड़ों पर प्रकट हो सकती है? ऐसी अवधारणा हमें इच्छाशक्ति को एक ऐसी शक्ति के रूप में देखने के लिए प्रेरित करेगी जो कभी चेतना में प्रकट होती है और कभी छिपी रहती है, लेकिन जो किसी भी स्थिति में स्थायित्व और एक गुण के रूप में अस्तित्व रखती है। यही बात अस्वीकार्य है। हालांकि, यह निश्चित है कि आम राय नैतिक जीवन को इच्छा-

हमने वास्तव में यह नहीं कहा था कि जुनून ही क्रिया की प्रेरणा है—या फिर यह कि जुनून से प्रेरित क्रिया वह है जिसका प्रेरणा स्रोत जुनून है? और क्या इच्छाशक्ति कारणों और प्रेरणाओं पर विचार-विमर्श के बाद लिया गया निर्णय नहीं है? तो फिर कारण क्या है? प्रेरणा क्या है?
सामान्यतः कारण से हमारा तात्पर्य कार्य के औचित्य से है; अर्थात्, वे सभी तर्कसंगत विचार जो इसे उचित ठहराते हैं। यदि सरकार सरकारी बांडों को परिवर्तित करने का निर्णय लेती है, तो वह अपने कार्य के कारण बताएगी: राष्ट्रीय ऋण में कमी, राजकोष का पुनर्वास। इसी प्रकार, इतिहासकार मंत्रियों या राजाओं के कार्यों की व्याख्या कारणों के आधार पर करते हैं; वे युद्ध की घोषणा के कारणों की खोज करेंगे: अवसर अनुकूल है, आक्रमण किया गया देश आंतरिक समस्याओं के कारण अव्यवस्थित है; यह एक ऐसे आर्थिक संघर्ष को समाप्त करने का समय है जो अनिश्चित काल तक चलने के खतरे में है। यदि क्लोविस कैथोलिक धर्म अपना लेता है, तो चूंकि कई बर्बर राजा आर्यन थे, इसका कारण यह है कि क्लोविस को गॉल में सर्वशक्तिमान बिशप वर्ग की कृपा प्राप्त करने का अवसर दिखाई देता है। और इसी प्रकार। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कारण को स्थिति के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के रूप में वर्णित किया गया है। क्लोविस के धर्म परिवर्तन का कारण गॉल की राजनीतिक और धार्मिक स्थिति है; यह बिशप वर्ग, बड़े जमींदारों और आम जनता की सापेक्षिक शक्ति है। ऋण के बंधनों के रूपांतरण का मुख्य कारण राष्ट्रीय ऋण की स्थिति है। फिर भी, यह वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन केवल एक पूर्वकल्पित लक्ष्य के प्रकाश में और इस लक्ष्य की ओर स्वयं-केंद्रित परियोजना की सीमाओं के भीतर ही किया जा सकता है। क्लोविस के रूपांतरण के कारण के रूप में बिशप वर्ग की शक्ति को प्रकट करने के लिए (अर्थात्, उसके लिए इस रूपांतरण के संभावित वस्तुनिष्ठ परिणामों की कल्पना करने में सक्षम होने के लिए) यह आवश्यक है कि वह पहले गॉल की विजय को एक लक्ष्य के रूप में माने। यदि हम यह मान लें कि क्लोविस के अन्य लक्ष्य हैं, तो वह चर्च की स्थिति में अपने आर्यवादी बनने या मूर्तिपूजक बने रहने के कारण पा सकता है। यह भी संभव है कि चर्च के विचार में उसे किसी भी तरह से कार्य करने का कोई कारण ही न मिले; तब उसे इस विषय से संबंधित कुछ भी पता नहीं चलेगा; वह बिशप वर्ग की स्थिति को "अपुष्ट" अवस्था में, पूर्ण अस्पष्टता में छोड़ देगा। अत: हम किसी निश्चित स्थिति की वस्तुनिष्ठ समझ के लिए 'कारण' शब्द का प्रयोग करेंगे, क्योंकि यह स्थिति किसी निश्चित लक्ष्य के प्रकाश में प्रकट होती है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन के रूप में कार्य कर सकती है।
इसके विपरीत, प्रेरणा को आम तौर पर एक व्यक्तिपरक तथ्य माना जाता है। यह उन इच्छाओं, भावनाओं और जुनूनों का समूह है जो मुझे कोई विशेष कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इतिहासकार प्रेरणाओं की खोज करता है और उन्हें केवल अंतिम उपाय के रूप में ही ध्यान में रखता है जब कारण विचाराधीन कार्य की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, फर्डिनेंड लॉट, यह दिखाने के बाद कि कॉन्स्टेंटाइन के धर्मांतरण के लिए आमतौर पर दिए जाने वाले कारण अपर्याप्त या त्रुटिपूर्ण हैं, लिखते हैं:

"चूंकि यह स्थापित है कि कॉन्स्टेंटाइन को ईसाई धर्म अपनाने से सब कुछ खोना था और जाहिर तौर पर कुछ भी हासिल नहीं करना था, इसलिए केवल एक ही निष्कर्ष संभव है - कि वह एक अचानक आवेग के आगे झुक गया, चाहे वह रोग संबंधी हो या दैवीय, जैसा आप चाहें।" लॉट यहां कारणों द्वारा व्याख्या को छोड़ रहे हैं, जो उन्हें निरर्थक प्रतीत होती है, और इसके बजाय प्रेरणाओं द्वारा व्याख्या को प्राथमिकता देते हैं। इसलिए व्याख्या को ऐतिहासिक कर्ता की मानसिक स्थिति - यहां तक कि "मानसिक" स्थिति - में खोजना होगा। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि घटना पूरी तरह से आकस्मिक हो जाती है, क्योंकि अलग-अलग भावनाओं और इच्छाओं वाला कोई दूसरा व्यक्ति अलग तरह से व्यवहार करता। इतिहासकार के विपरीत, मनोवैज्ञानिक मुख्य रूप से प्रेरणाओं की खोज करता है; वास्तव में, वह आमतौर पर यह मानता है कि प्रेरणाएँ उस चेतना की अवस्था में निहित होती हैं जिसने क्रिया को प्रेरित किया है। इसलिए आदर्श तर्कसंगत कार्य वह होगा जिसके लिए प्रेरणाएँ लगभग नगण्य हों और जो स्थिति के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन से प्रेरित हो। अतार्किक या भावुक कार्य में इसके विपरीत अनुपात होगा।
अब हमें रोजमर्रा की जिंदगी में कारणों और प्रेरणाओं के बीच के संबंध को स्पष्ट करना है, जहाँ वे साथ-साथ मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए, मैं समाजवादी दल में इसलिए शामिल हो सकता हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि यह दल न्याय और मानवता के हितों की सेवा करता है, या इसलिए कि मुझे विश्वास है कि मेरे शामिल होने के बाद आने वाले वर्षों में यह प्रमुख ऐतिहासिक शक्ति बन जाएगा: ये कारण हैं। और साथ ही, मेरे कुछ प्रेरणाएँ भी हो सकती हैं: शोषित वर्गों के प्रति दया या करुणा की भावना, जैसा कि गिडे कहते हैं, "सही पक्ष में होने" की शर्म, या फिर हीन भावना, अपने रिश्तेदारों को चौंकाना, आदि। इन कारणों और प्रेरणाओं के लिए समाजवादी दल में शामिल होने के कथन का क्या अर्थ हो सकता है? स्पष्ट रूप से हम अर्थ के दो बिल्कुल अलग-अलग स्तरों से निपट रहे हैं। हम उनकी तुलना कैसे करें? विचाराधीन निर्णय में उनमें से प्रत्येक की क्या भूमिका है, यह हम कैसे निर्धारित करें? यह कठिनाई, जो निश्चित रूप से कारणों और प्रेरणाओं के बीच वर्तमान अंतर से उत्पन्न होने वाली सबसे बड़ी कठिनाई है, कभी हल नहीं हुई है; वास्तव में, कुछ ही लोगों ने इस पर गौर किया है। वास्तव में, दूसरे नाम से कहें तो, यह इच्छा और भावनाओं के बीच संघर्ष के अस्तित्व को स्थापित करने के समान है। लेकिन यदि यह पाया जाता है कि शास्त्रीय सिद्धांत उस सरल स्थिति में कारण और प्रेरणा को उनका उचित प्रभाव देने में असमर्थ है जब वे मिलकर एक ही निर्णय उत्पन्न करते हैं, तो इसके लिए कारणों और प्रेरणाओं के बीच संघर्ष की व्याख्या करना या उसकी कल्पना करना भी पूरी तरह से असंभव हो जाएगा, एक ऐसा संघर्ष जिसमें प्रत्येक समूह अपना व्यक्तिगत निर्णय थोपेगा। इसलिए हमें फिर से शुरुआत से शुरू करना होगा।
निस्संदेह, कारण वस्तुनिष्ठ है; यह समकालीन परिस्थितियों की वह स्थिति है जो चेतना के समक्ष प्रकट होती है। यह वस्तुनिष्ठ है कि कॉन्स्टेंटाइन के समय तक रोमन आम लोग और अभिजात वर्ग भ्रष्ट हो चुके थे या कैथोलिक चर्च

के कारण कारण के संबंध में का अभ्यास करता है; यह कारण को अनिश्चित अवस्था में रखता है, उसे कोष्ठकों के भीतर रखता है। इस प्रकार, यह इस तथ्य से प्रशंसात्मक विचार-विमर्श का आभास करा सकता है कि एक गहन शून्यता चिंतनशील चेतना को चिंतनशील चेतना या प्रेरक से अलग करती है, और इस तथ्य से कि कारण अनिश्चितता है। फिर भी, जैसा कि हम जानते हैं, यद्यपि चिंतन का परिणाम स्वयं से स्वयं को अलग करने वाले अंतर को बढ़ाना है, यह इसका लक्ष्य नहीं है। चिंतनशील विभाजन का लक्ष्य, जैसा कि हमने देखा है, चिंतनशील चेतना को पुनः प्राप्त करना है ताकि उस अवास्तविक समग्रता "स्वयं में- स्वयं के लिए" का निर्माण हो सके, जो स्वयं के लिए चेतना द्वारा अपने अस्तित्व के उत्थान में स्थापित मूलभूत मूल्य है। इसलिए, यदि इच्छा सार रूप में चिंतनशील है, तो इसका लक्ष्य यह तय करना नहीं है कि किस लक्ष्य को प्राप्त किया जाना है, क्योंकि किसी भी स्थिति में परिणाम स्पष्ट हैं; इच्छा का गहन आशय पहले से ही निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि से संबंधित है। स्वैच्छिक अवस्था में विद्यमान स्वयं के लिए चेतना स्वयं को पुनः प्राप्त करना चाहती है, जहाँ तक वह निर्णय लेती है और कार्य करती है। यह मात्र किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होना या स्वयं को किसी विशेष लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का विकल्प चुनना नहीं चाहता; यह स्वयं को किसी विशेष लक्ष्य की ओर एक सहज परियोजना के रूप में पुनः प्राप्त करना चाहता है। इच्छा का आदर्श एक निश्चित लक्ष्य की ओर एक परियोजना के रूप में "स्वयं में, स्वयं के लिए" होना है।
यह स्पष्ट रूप से एक चिंतनशील आदर्श है और यह उस संतुष्टि का अर्थ है जो "मैंने वह किया जो मैं करना चाहता था" जैसे निर्णय के साथ आती है। लेकिन यह स्पष्ट है कि सामान्यतः चिंतनशील विभाजन की नींव स्वयं से कहीं अधिक गहन परियोजना पर टिकी होती है, एक ऐसी परियोजना जिसे हमने भाग दो, अध्याय III में "प्रेरणा" कहा था। अब जब हमने कारण और प्रेरणा को परिभाषित कर दिया है, तो चिंतन के मूल में निहित इस परियोजना को आशय का नाम देना आवश्यक है। अतः, जिस हद तक इच्छाशक्ति चिंतन का एक उदाहरण है, स्वैच्छिक स्तर पर कार्य करने की इसकी स्थिति इसके आधार के लिए एक अधिक गहन आशय की मांग करती है। किसी विशेष विषय को स्वैच्छिक चिंतन के माध्यम से अपनी परियोजना को साकार करते हुए वर्णित करना मनोवैज्ञानिक के लिए पर्याप्त नहीं है; मनोवैज्ञानिक को उस गहन आशय को भी हमारे सामने प्रकट करने में सक्षम होना चाहिए जो विषय को किसी अन्य पूर्णतः भिन्न तरीके के बजाय इस इच्छाशक्ति के माध्यम से अपनी परियोजना को साकार करने के लिए प्रेरित करता है। इसके अलावा, यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिए कि एक मूल परियोजना द्वारा लक्ष्यों को निर्धारित किए जाने के बाद चेतना का कोई भी रूप समान प्राप्ति उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार हमने इच्छाशक्ति से भी अधिक गहन स्वतंत्रता को छुआ है, केवल यह दिखाकर कि हम मनोवैज्ञानिकों की तुलना में अधिक सटीक हैं; अर्थात्, "क्यों?" प्रश्न उठाकर, जबकि वे स्वयं को चेतना के तरीके को स्वैच्छिक के रूप में स्थापित करने तक सीमित रखते हैं।

देखेंगे कि क्या वास्तविक स्थिति अधिक जटिल नहीं है और क्या यह हमारे सैद्धांतिक शोध के परिणामों का खंडन किए बिना, उन्हें समृद्ध और अधिक लचीला बनाने में सहायक नहीं होगी।
सबसे पहले, यह ध्यान दें कि थकान स्वयं मेरे निर्णय का कारण नहीं बन सकती थी। जैसा कि हमने शारीरिक पीड़ा के संदर्भ में देखा, थकान केवल वह तरीका है जिससे मैं अपने शरीर को अनुभव करता हूँ। यह प्रारंभ में किसी स्थितिजन्य चेतना का विषय नहीं है, बल्कि यह मेरी चेतना की वास्तविकता है। यदि मैं देश भर में पैदल यात्रा करता हूँ, तो मेरे सामने आसपास का संसार प्रकट होता है; यही मेरी चेतना का विषय है, और इसी से मैं उन संभावनाओं की ओर अग्रसर होता हूँ जो मेरी अपनी हैं—उदाहरण के लिए, आज शाम उस स्थान पर पहुँचना जो मैंने पहले से ही अपने लिए निर्धारित किया है। फिर भी, जिस हद तक मैं इस ग्रामीण क्षेत्र को अपनी आँखों से, जो दूरियों को खोलती हैं, अपने पैरों से, जो पहाड़ियों पर चढ़ते हैं और परिणामस्वरूप नए दृश्य और नई बाधाएँ प्रकट और लुप्त करते हैं, और अपनी पीठ से, जिस पर मैं अपना थैला ढोता हूँ, अनुभव करता हूँ—उस हद तक मेरे पास इस शरीर की एक गैर-स्थितिजन्य चेतना होती है जो दुनिया के साथ मेरे संबंधों को नियंत्रित करती है और जो थकान के रूप में दुनिया में मेरी भागीदारी को दर्शाती है। वस्तुनिष्ठ रूप से और इस गैर-आध्यात्मिक चेतना के सहसंबंध में, सड़कें अंतहीन, ढलानें और भी खड़ी, सूर्य और भी चिलचिलाता हुआ प्रतीत होती हैं। परन्तु मैं अभी अपनी थकान के बारे में नहीं सोचता; मैं इसे अपने चिंतन के अर्ध-विषय के रूप में समझता हूँ। फिर भी एक क्षण आता है जब मैं अपनी थकान पर विचार करने और उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयास करता हूँ। हमें वास्तव में इसी आशय की व्याख्या करनी चाहिए; परन्तु इसे जैसा है वैसा ही स्वीकार करते हैं। यह मेरी थकान की चिंतनशील अनुभूति बिल्कुल नहीं है; बल्कि, जैसा कि हमने पीड़ा के संबंध में देखा, मैं अपनी थकान को सहता हूँ। अर्थात्, एक चिंतनशील चेतना मेरी थकान पर केंद्रित होती है ताकि उसे जी सकूँ और उसे एक मूल्य तथा स्वयं से एक व्यावहारिक संबंध प्रदान कर सकूँ। केवल इसी स्तर पर थकान मुझे सहनीय या असहनीय प्रतीत होगी। यह अपने आप में कभी कुछ नहीं होगी, परन्तु यह चिंतनशील 'स्वयं के लिए' है जो उठकर थकान को असहनीय रूप में सहता है।
यहां मूल प्रश्न उठता है: मेरे साथी स्वस्थ हैं—मेरी ही तरह; उन्हें लगभग वही प्रशिक्षण मिला है जो मुझे मिला है, इसलिए यद्यपि विभिन्न व्यक्तिपरकताओं में घटित होने वाली मानसिक घटनाओं की तुलना करना संभव नहीं है, मैं आमतौर पर इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ—और अन्य लोगों के लिए हमारे शरीरों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने के बाद साक्षी भी यही निष्कर्ष निकालते हैं—कि वे व्यावहारिक रूप से "मेरी ही तरह थके हुए" हैं। तो फिर ऐसा क्यों होता है कि वे अपनी थकान को अलग तरह से महसूस करते हैं? कोई कहेगा कि यह अंतर इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि मैं "कमजोर" हूँ और अन्य नहीं। लेकिन यद्यपि यह मूल्यांकन निस्संदेह इस मामले पर व्यावहारिक प्रभाव डालता है और यद्यपि मुझे किसी अन्य अभियान पर ले जाना उचित होगा या नहीं, यह तय करते समय इसे ध्यान में रखा जा सकता है, ऐसा मूल्यांकन यहां

हमें संतुष्ट नहीं कर सकता। हमने देखा है कि महत्वाकांक्षी होना सिंहासन या सम्मान प्राप्त करने की कल्पना करना है; यह कोई ऐसी स्थिति नहीं है जो किसी को विजय के लिए प्रेरित करती है; यह स्वयं विजय है। इसी प्रकार, "कमजोर" होना कोई तथ्यात्मक सत्य नहीं है, बल्कि यह केवल मेरी थकान को सहने के तरीके का नाम है। इसलिए, यदि मैं यह समझना चाहूँ कि किन परिस्थितियों में मैं असहनीय थकान का अनुभव कर सकता हूँ, तो तथाकथित तथ्यात्मक सत्यों पर ध्यान देना उपयोगी नहीं होगा, जो कि केवल एक चुनाव मात्र हैं; इसके लिए आवश्यक है कि इस चुनाव की स्वयं जाँच की जाए और यह देखा जाए कि क्या यह किसी व्यापक चुनाव के परिप्रेक्ष्य में निहित नहीं है, जिसमें यह एक गौण संरचना के रूप में समाहित हो। यदि मैं अपने किसी साथी से इस बारे में पूछूँ, तो वह मुझे समझाएगा कि वह थका हुआ तो है ही, लेकिन उसे अपनी थकान से प्रेम है; वह स्वयं को इसके हवाले कर देता है जैसे स्नान करता है; यह उसके लिए किसी प्रकार से अपने आस-पास की दुनिया को जानने, पथों की पथरीली खुरदराहट के अनुकूल ढलने और ढलानों की "पहाड़ी" प्रकृति को खोजने का एक विशेष साधन प्रतीत होता है। ठीक उसी प्रकार, उसकी गर्दन के पिछले हिस्से पर हल्की धूप से झुलसी त्वचा और कानों में हल्की झनझनाहट ही उसे सूर्य के साथ सीधा संपर्क स्थापित करने में सक्षम बनाती है। अंततः, उनके लिए प्रयास का बोध थकान पर विजय पाने जैसा है। परन्तु उनकी थकान एक ऐसी आसक्ति मात्र है जिसे वे सहते हैं ताकि राजमार्गों की धूल, सूर्य की चिलचिलाती गर्मी और सड़कों की खुरदराहट को वे पूर्णतः अनुभव कर सकें। उनका प्रयास (अर्थात्, उस थकान से यह मधुर आत्मीयता जिसे वे प्रेम करते हैं, जिसमें वे स्वयं को समर्पित करते हैं और जिसे वे स्वयं निर्देशित भी करते हैं) पर्वत को अपना बनाने, उसे अंत तक सहने और उस पर विजय प्राप्त करने का एक तरीका बन जाता है। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि 'प्राप्त करना' शब्द का क्या अर्थ है और किस हद तक करना, किसी चीज़ को अपना बनाने का एक तरीका है। इस प्रकार, मेरे साथी की थकान प्रकृति के प्रति अटूट विश्वास और समर्पण की एक व्यापक परियोजना में समाहित है, एक ऐसी आसक्ति जिसे उन्होंने पूर्ण शक्ति से जीने के लिए स्वीकार किया है, और साथ ही साथ मधुर प्रभुत्व और उसे अपना बनाने की परियोजना में भी। केवल इसी परियोजना के माध्यम से थकान को समझा जा सकेगा और उसके लिए इसका अर्थ होगा।
लेकिन यह अर्थ और यह व्यापक, अधिक गहन परियोजना अपने आप में अभी भी स्वतंत्र नहीं हैं। वे पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि वे मेरे साथी के अपने शरीर के साथ, एक ओर, और वस्तुओं के साथ, दूसरी ओर, एक विशेष संबंध को पूर्वकल्पित करते हैं। वास्तव में, यह देखना आसान है कि शरीर के अस्तित्व के उतने ही तरीके हैं जितने स्वयं के लिए हैं, यद्यपि स्वाभाविक रूप से कुछ मूल संरचनाएं अपरिवर्तनीय हैं और प्रत्येक स्वयं के लिए में मानवीय वास्तविकता का निर्माण करती हैं। हम कहीं और उस पर विचार करेंगे जिसे गलत तरीके से व्यक्ति का स्थान और सार्वभौमिक सत्य की स्थितियों के साथ संबंध कहा जाता है। फिलहाल हम हजारों सार्थक घटनाओं के संबंध में यह कल्पना कर सकते हैं कि, उदाहरण के लिए, वास्तविकता से पहले एक विशेष प्रकार की उड़ान

आवश्यक तत्व उपलब्ध नहीं हैं। किसी भी स्थिति में, हमारे विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार से मेरा साथी अपनी थकान से पीड़ित है, उसे समझने के लिए हमें एक प्रतिगामी विश्लेषण करना होगा जो हमें प्रारंभिक परियोजना की ओर वापस ले जाएगा। क्या यह परियोजना, जिसकी हमने रूपरेखा तैयार की है, अंततः स्वयं-हितकारी है? निश्चित रूप से—और इसे आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव में, और पीछे जाते हुए हम उस मूल संबंध तक पहुँच गए हैं जिसे स्वयं-हित अपनी वास्तविकता और संसार के साथ चुनता है। लेकिन यह मूल संबंध स्वयं-हित के संसार में होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह संसार में होना एक चुनाव है—अर्थात, हम उस मूल प्रकार के शून्यवाद तक पहुँच गए हैं जिसके द्वारा स्वयं-हित को अपना शून्य होना पड़ता है। इसकी कोई व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे स्वयं के लिए संसार में अस्तित्व की अंतर्निहित धारणा उत्पन्न होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे यूक्लिड के अभिधारणा द्वारा किए गए सभी प्रमाण अंतर्निहित रूप से इस अभिधारणा को अपनाने की धारणा रखते हैं।
इसलिए यदि मैं अपनी थकान को सहने के तरीके की व्याख्या करने के लिए इसी पद्धति का प्रयोग करूँ, तो सबसे पहले मुझे अपने शरीर के प्रति अविश्वास का भाव महसूस होगा—उदाहरण के लिए, इससे "कोई वास्ता न रखने" की इच्छा, इसे ध्यान में न रखने की चाहत, जो मेरे शरीर के अस्तित्व के कई संभावित तरीकों में से एक है। मैं आसानी से स्वयं के प्रति भी इसी प्रकार का अविश्वास पाऊँगा और, उदाहरण के लिए, स्वयं को पुनः प्राप्त करने की एक मूल परियोजना, जिसे मैं दूसरों के माध्यम से नष्ट कर देता हूँ, जो परियोजना मुझे उन प्रारंभिक परियोजनाओं में से एक की ओर ले जाती है जिनका हमने अपनी पिछली चर्चा में उल्लेख किया था। इसलिए मेरी थकान को "लचीलेपन" से सहने के बजाय, एक ज़बरदस्ती की घटना के रूप में "कठोरता" से समझा जाएगा जिससे मैं छुटकारा पाना चाहता हूँ—और ऐसा इसलिए है क्योंकि यह मेरे शरीर और मेरी देहगत आकस्मिकता को दुनिया के बीच में उस समय मूर्त रूप देती है जब मेरी परियोजना दूसरों की नज़रों के माध्यम से अपने शरीर और दुनिया में अपनी उपस्थिति को बनाए रखना है। मैं स्वयं के साथ-साथ अपनी मूल परियोजना की ओर भी संदर्भित होता हूँ; अर्थात्, दुनिया में मेरे अस्तित्व के संदर्भ में, जहाँ तक यह अस्तित्व एक विकल्प है।
हम यह छुपाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं कि विश्लेषण की यह पद्धति कितनी अपूर्ण है। इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। असल समस्या यह है कि किसी भी क्रिया—हर क्रिया—के अंतर्निहित अर्थों को अलग करना और वहाँ से अधिक समृद्ध और गहन अर्थों की ओर बढ़ना, जब तक कि हम उस अर्थ तक न पहुँच जाएँ जो किसी अन्य अर्थ को निहित नहीं करता और जो केवल स्वयं को संदर्भित करता है। यह आरोही द्वंद्वात्मकता अधिकांश लोगों द्वारा सहज रूप से अपनाई जाती है; यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि स्वयं या दूसरे के ज्ञान में व्याख्याओं के इस पदानुक्रम की सहज समझ निहित होती है। एक हावभाव एक विश्वदृष्टि को संदर्भित करता है और हम इसे महसूस करते हैं। लेकिन किसी ने भी किसी क्रिया के अंतर्निहित अर्थों को

सत्तामीमांसीय समझ प्रदान नहीं की जाती है। और यह न्यायसंगत है, क्योंकि अंततः उसके कार्य केवल अतीत का परिणाम हैं, जो सिद्धांत रूप से पहुँच से बाहर है, भविष्य में अपना लक्ष्य अंकित करने के बजाय।
अतः हमें मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को ही अपनी प्रेरणा का स्रोत बनाना चाहिए; अर्थात्, हमें इस सिद्धांत के आधार पर किसी क्रिया के अर्थों को समझने का प्रयास करना चाहिए कि प्रत्येक क्रिया, चाहे वह कितनी भी तुच्छ क्यों न हो, पूर्व की मानसिक अवस्था का मात्र परिणाम नहीं है और न ही यह किसी रेखीय नियतिवाद से उत्पन्न होती है, बल्कि यह वैश्विक संरचनाओं में एक द्वितीयक संरचना के रूप में और अंततः उस समग्रता में एकीकृत होती है जो मैं हूँ। अन्यथा, वास्तव में, मुझे स्वयं को या तो घटनाओं के एक क्षैतिज प्रवाह के रूप में समझना होगा, जिनमें से प्रत्येक घटना पिछली घटना से बाह्य रूप से प्रभावित होती है—या फिर एक प्रवाह के लिए सहायक पदार्थ के रूप में, एक ऐसा पदार्थ जो अपने स्वरूपों के अर्थ से वंचित है। ये दोनों ही अवधारणाएँ हमें 'स्वयं के लिए' और 'स्वयं में' के बीच भ्रमित कर देंगी। लेकिन अगर हम मनोविश्लेषण की पद्धति को स्वीकार करते हैं—और हम अगले अध्याय में इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे—तो हमें इसे विपरीत अर्थ में लागू करना होगा। वास्तव में, हम प्रत्येक क्रिया को एक बोधगम्य घटना के रूप में देखते हैं, और हम फ्रायड की तरह किसी नियतिवादी "संयोग" को स्वीकार नहीं करते। लेकिन अतीत के संदर्भ में विचाराधीन घटना को समझने के बजाय, हम समग्र क्रिया को भविष्य का वर्तमान की ओर मुड़ना मानते हैं। जिस तरह से मैं अपनी थकान का अनुभव करता हूँ, वह किसी भी तरह से उस ढलान की आकस्मिक कठिनाई पर निर्भर नहीं करता जिस पर मैं चढ़ रहा हूँ या उस बेचैन रात पर जो मैंने बिताई है; ये कारक मेरी थकान को उत्पन्न करने में योगदान दे सकते हैं, लेकिन जिस तरह से मैं इसका अनुभव करता हूँ, उसमें नहीं। लेकिन हम इसे एडलर के शिष्यों की तरह देखने से इनकार करते हैं, उदाहरण के लिए, हीनता बोध की अभिव्यक्ति के रूप में, इस अर्थ में कि यह बोध एक पूर्व-निर्मित संरचना होगी। हम इस बात से इनकार नहीं करेंगे कि थकान से जूझने का एक निश्चित भावुक और तनावपूर्ण तरीका हीनता बोध को व्यक्त कर सकता है। लेकिन हीन भावना स्वयं ही संसार में, दूसरों की उपस्थिति में, मेरे द्वारा स्वयं के लिए बनाई गई एक परियोजना है। इस रूप में यह हमेशा ही पारगमन है, इस रूप में यह स्वयं को चुनने का एक तरीका है। यह हीनता जिससे मैं संघर्ष करता हूँ और जिसे मैं फिर भी पहचानता हूँ, इसे मैंने शुरू से ही चुना है। निस्संदेह यह मेरे विभिन्न "असफल व्यवहार के पैटर्न" से इंगित होता है; लेकिन सटीक रूप से कहें तो यह मेरे असफल व्यवहार की संगठित समग्रता के अलावा कुछ नहीं है, एक नियोजित योजना के रूप में, मेरे अस्तित्व के एक सामान्य उपकरण के रूप में, और असफलता का प्रत्येक दृष्टिकोण स्वयं ही पारगमन है क्योंकि हर बार मैं वास्तविकता को पार करते हुए अपनी संभावनाओं की ओर बढ़ता हूँ। उदाहरण के लिए, थकान के आगे हार मान लेना, मार्ग को पार करना है, क्योंकि यह स्वयं में "एक ऐसा मार्ग जिसे पार करना बहुत कठिन है" का अर्थ समाहित कर लेता है। हीनता की भावना पर गंभीरता से विचार करना तब तक असंभव है जब तक इसे भविष्य

और मेरी संभावनाओं के संदर्भ में निर्धारित न किया जाए। यहाँ तक कि "मैं बदसूरत हूँ," "मैं मूर्ख हूँ," आदि जैसे कथन भी स्वभावतः पूर्वानुमति हैं। हम यहाँ मेरी कुरूपता की मात्र स्थापना की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि उस प्रतिकूलता के गुणांक की आशंका की बात कर रहे हैं जो महिलाओं या समाज द्वारा मेरे प्रयासों के प्रति उत्पन्न होती है। और इसे केवल इन प्रयासों के चुनाव के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इस प्रकार, हीनता बोध स्वयं को दूसरों से हीन समझने की एक स्वतंत्र और व्यापक प्रक्रिया है; यह वह तरीका है जिससे मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व को स्वीकार करता हूँ, दूसरों के अस्तित्व को दिया गया वह स्वतंत्र समाधान, वह असहनीय कलंक। इसलिए, मेरी हीनता की प्रतिक्रियाओं और मेरे असफल व्यवहार को दुनिया में स्वयं के चुनाव के रूप में मेरी हीनता की स्वतंत्र रूपरेखा के संदर्भ में समझना आवश्यक है।
हम मनोविश्लेषकों को यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मानवीय प्रतिक्रिया पूर्व-निर्धारित रूप से बोधगम्य है। लेकिन हम उनकी इस प्रारंभिक "बोधगम्यता" को गलत समझने के लिए उनकी आलोचना करते हैं, जैसा कि उनके द्वारा विचाराधीन प्रतिक्रिया को एक पूर्व-प्रतिक्रिया के माध्यम से समझाने के प्रयास से स्पष्ट होता है, जो कारण तंत्र को पुनः स्थापित करेगा; बोधगम्यता को अन्यथा परिभाषित किया जाना चाहिए। प्रत्येक परियोजना स्वयं एक संभावित की ओर एक परियोजना के रूप में बोधगम्य है। यह सबसे पहले इस हद तक बोधगम्य है कि यह एक तर्कसंगत विषयवस्तु प्रस्तुत करती है जो तत्काल बोधगम्य है—मैं एक क्षण आराम करने के लिए अपना थैला जमीन पर रखता हूँ। इसका अर्थ है कि हम तत्काल उस संभावित को बोधगम्य कर लेते हैं जिसे यह प्रक्षेपित करता है और उस लक्ष्य को भी जिसे यह लक्षित करता है। दूसरे स्थान पर यह इस मायने में बोधगम्य है कि विचाराधीन संभावित अन्य संभावितों को संदर्भित करता है, ये अन्य को, और इसी प्रकार उस परम संभावित तक जो मैं हूँ। बोधगम्यता दो विपरीत अर्थों में होती है: प्रतिगामी मनोविश्लेषण द्वारा व्यक्ति विचाराधीन क्रिया से वापस अपने परम संभावित तक पहुँचता है; और एक संश्लेषित प्रगति के माध्यम से व्यक्ति इस परम संभावना से विचाराधीन क्रिया तक पुनः अवतरित होता है और संपूर्ण रूप में इसके एकीकरण को समझता है।
यह रूप जिसे हम अपनी परम संभावना कहते हैं, अन्य संभावनाओं में से मात्र एक नहीं है—भले ही यह, जैसा कि हाइडेगर दावा करते हैं, मृत्यु की संभावना हो या "संसार में किसी भी उपस्थिति का अहसास न होने" की संभावना हो। वास्तव में, प्रत्येक विशेष संभावना एक समग्र रूप में व्यक्त होती है। इस परम संभावना को हमारी सभी वास्तविक संभावनाओं के एकीकृत संश्लेषण के रूप में समझना आवश्यक है; इनमें से प्रत्येक संभावना परम संभावना में एक अविभेदित अवस्था में विद्यमान रहती है जब तक कि कोई विशेष परिस्थिति इसे उजागर नहीं कर देती, लेकिन ऐसा करने से समग्रता से संबंधित होने का उसका गुण दब नहीं जाता। दरअसल, हमने भाग दो में यह बताया था कि किसी भी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति विश्व के आधार पर ही होती है। इससे हमारा तात्पर्य यह था कि जिसे

मूलभूत योजनाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, और इस बार यह ज्ञान स्थितिजन्य है। फिर भी, ठीक इसी कारण कि यह स्थितिजन्य है, यह मुझे मेरे अस्तित्व की अलौकिक छवि प्रदान करती है। वस्तुओं का मूल्य, उनकी उपयोगिता, उनकी निकटता और वास्तविक दूरी (जिनका उनकी स्थानिक निकटता और दूरी से कोई संबंध नहीं है) केवल मेरी छवि—अर्थात, मेरी पसंद—को रेखांकित करती हैं। मेरे वस्त्र (वर्दी हो या आरामदायक सूट, मुलायम हो या कड़क कमीज़), चाहे उपेक्षित हों या सँवारे हुए, सावधानीपूर्वक चुने गए हों या साधारण, मेरा फर्नीचर, जिस गली में मैं रहता हूँ, जिस शहर में मैं निवास करता हूँ, जिन पुस्तकों से मैं घिरा रहता हूँ, जिस मनोरंजन का मैं आनंद लेता हूँ, सब कुछ जो मेरा है (अर्थात, अंततः, वह संसार जिसके प्रति मैं निरंतर सचेत रहता हूँ, कम से कम उस वस्तु के अर्थ के माध्यम से जिसे मैं देखता हूँ या उपयोग करता हूँ): यह सब मुझे मेरी पसंद—अर्थात, मेरे अस्तित्व—के बारे में सूचित करता है। लेकिन स्थितिजन्य चेतना की संरचना ऐसी है कि मैं इस ज्ञान को स्वयं की व्यक्तिपरक समझ से जोड़ सकता हूँ, और यह मुझे उन अन्य वस्तुओं की ओर ले जाता है जिन्हें मैं पिछली व्यवस्था के संबंध में उत्पन्न करता हूँ या जिनका निपटान करता हूँ, बिना यह समझे कि मैं इस प्रकार संसार में अपनी आकृति को अधिकाधिक गढ़ रहा हूँ। इस प्रकार हम अपने चुनाव के प्रति पूर्णतः सचेत हैं। और यदि कोई आपत्ति करे कि इन अवलोकनों के अनुसार, यह आवश्यक होगा कि हम अपने चुने जाने के प्रति नहीं, बल्कि स्वयं को चुनने के प्रति सचेत हों, तो हम उत्तर देंगे कि यह चेतना पीड़ा और उत्तरदायित्व की दोहरी "भावना" द्वारा व्यक्त होती है। पीड़ा, परित्याग, उत्तरदायित्व, चाहे दबी हुई हों या पूर्ण शक्ति से, हमारी चेतना के गुण का निर्माण करते हैं, जहाँ तक यह शुद्ध और सरल स्वतंत्रता है।
पहले हमने एक प्रश्न पूछा था: मैंने थकान के आगे हार मान ली है, हमने कहा था, और निस्संदेह मैं कुछ और कर सकता था, लेकिन किस कीमत पर? अब हम इसका उत्तर देने की स्थिति में हैं। वास्तव में, हमारे विश्लेषण ने हमें दिखाया है कि यह कार्य निःस्वार्थ नहीं था। निश्चित रूप से, इसे किसी पूर्व-चेतना अवस्था के उद्देश्य या कारण से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे एक मूल परियोजना के संदर्भ में समझा जाना चाहिए जिसका यह एक अभिन्न अंग था। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि हम यह नहीं मान सकते कि इस कार्य को मेरे स्वयं के मूल चुनाव में मौलिक परिवर्तन के बिना संशोधित किया जा सकता था। थकान के आगे हार मानने और सड़क के किनारे गिर जाने का यह तरीका मेरे शरीर और निर्जीव के प्रति एक निश्चित प्रारंभिक कठोरता को व्यक्त करता है। यह दुनिया के एक निश्चित दृष्टिकोण के दायरे में आता है जिसमें कठिनाइयाँ "सहन करने लायक नहीं" प्रतीत हो सकती हैं; या, सटीक रूप से कहें तो, चूंकि प्रेरणा एक शुद्ध गैर-धार्मिक चेतना है और फलस्वरूप एक निरपेक्ष लक्ष्य (स्वयं-के-लिए-स्वयं का एक निश्चित पहलू) की ओर स्वयं की एक प्रारंभिक परियोजना है, इसलिए यह दुनिया की एक समझ (गर्मी, शहर से दूरी, प्रयास की निरर्थकता आदि) है जो मेरे चलने को रोकने का कारण है। इस प्रकार यह संभव— रुकना—सैद्धांतिक रूप से अपना अर्थ केवल उन संभावनाओं के पदानुक्रम में

इसलिए है क्योंकि कोई क्षण नहीं होता। पुनर्प्राप्ति प्रक्रिया के समग्र स्वरूप से इतनी गहराई से जुड़ी होती है कि इसका कोई तात्कालिक अर्थ नहीं होता और न ही हो सकता है। लेकिन ठीक इसी कारण कि यह स्वतंत्र है और स्वतंत्रता द्वारा निरंतर पुनर्प्राप्त होती है, मेरा चुनाव स्वयं स्वतंत्रता द्वारा सीमित है; अर्थात्, यह क्षण के भूत से ग्रस्त है। जहाँ तक मैं अपने चुनाव को पुनः ग्रहण करूँगा, प्रक्रिया का अतीत निर्माण वर्तमान के साथ पूर्ण तात्विक निरंतरता में संपन्न होगा। जो प्रक्रिया अतीत निर्मित होती है, वह एक व्यावहारिक ज्ञान के रूप में वर्तमान शून्यीकरण के साथ संगठित रहती है; यानी, वह अर्थ जिसे जिया और आत्मसात किया जाता है, बिना कभी उस चेतना के लिए वस्तु बने जो स्वयं को अपने लक्ष्यों की ओर प्रक्षेपित करती है। लेकिन ठीक इसी कारण कि मैं स्वतंत्र हूँ, मेरे पास हमेशा अपने तात्कालिक अतीत को एक वस्तु के रूप में स्थापित करने की संभावना रहती है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि मेरी पूर्व चेतना अतीत की एक शुद्ध गैर-स्थितीय चेतना थी, जबकि इसने स्वयं को सह-वर्तमान वास्तविकता के आंतरिक निषेध के रूप में गठित किया और अपने लक्ष्यों को "पुनः ग्रहण" करके स्वयं को अपना अर्थ ज्ञात कराया, अब नए चुनाव के समय, चेतना अपने अतीत को एक वस्तु के रूप में स्थापित करती है; अर्थात्, यह अपने अतीत का मूल्यांकन करती है और उसके संबंध में अपनी दिशा निर्धारित करती है। तात्कालिक अतीत को वस्तुनिष्ठ बनाने का यह कार्य अन्य लक्ष्यों के नए चुनाव के समान है; यह क्षण को कालिकता के शून्यीकरणकारी विखंडन के रूप में उत्पन्न करने में योगदान देता है।
इस विश्लेषण से प्राप्त परिणामों को समझना पाठक के लिए तब आसान होगा जब हम इनकी तुलना स्वतंत्रता के किसी अन्य सिद्धांत से करें—उदाहरण के लिए, लाइबनिज़ के सिद्धांत से। लाइबनिज़ के लिए, और हमारे लिए भी, जब आदम ने सेब लिया, तो उसके लिए सेब न लेना भी संभव था। लेकिन लाइबनिज़ के लिए, और हमारे लिए भी, इस क्रिया के निहितार्थ इतने व्यापक और इतने विस्तृत हैं कि अंततः यह कहना कि आदम के लिए सेब न लेना भी संभव था, इसका अर्थ है कि एक और आदम का अस्तित्व संभव था। इस प्रकार, आदम की आकस्मिकता ही उसकी स्वतंत्रता है, क्योंकि इस आकस्मिकता का अर्थ है कि यह वास्तविक आदम अनगिनत संभावित आदमों से घिरा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक की तुलना वास्तविक आदम से करने पर उसके सभी गुणों में थोड़ा या गहरा परिवर्तन होता है; यानी, अंततः, उसके सार में। लाइबनिज़ के अनुसार, मानवीय वास्तविकता द्वारा दावा की गई स्वतंत्रता तीन अलग-अलग धारणाओं का संगठन है: वह मनुष्य स्वतंत्र है जो (1) किसी कार्य को करने के लिए स्वयं को तर्कसंगत रूप से निर्धारित करता है;
(2) ऐसा है कि यह कार्य इसे करने वाले के स्वभाव द्वारा पूरी तरह से समझा जाता है; (3) आकस्मिक है—अर्थात्, इस प्रकार विद्यमान है कि उसी परिस्थिति से संबंधित अन्य व्यक्तियों द्वारा अन्य कार्य करना संभव होता। लेकिन संभावनाओं के अनिवार्य संबंध के कारण, आदम का दूसरा कार्य केवल दूसरे आदम के लिए और उसके द्वारा ही संभव होता, और दूसरे आदम का अस्तित्व दूसरे संसार के अस्तित्व को दर्शाता है। हम लाइबनिज़ के साथ यह मानते हैं कि आदम का

प्राथमिक संभावनाओं के संदर्भ में द्वितीयक संभावनाओं की सार्वभौमिक समझ की प्रणाली स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता: प्रत्येक स्थिति में विषय को स्वयं ही अपना मापदंड और अपने व्यक्तिगत मानदंड प्रदान करने होंगे।
अंततः, स्व-हितकारी चेतना स्वैच्छिक निर्णय ले सकती है जो उसके द्वारा चुने गए मूलभूत लक्ष्यों के विपरीत हों। ये निर्णय केवल स्वैच्छिक ही हो सकते हैं—अर्थात, चिंतनशील। वास्तव में, ये केवल सद्भावनापूर्वक या दुर्भावनापूर्वक किए गए उस त्रुटि से उत्पन्न हो सकते हैं जो मेरे द्वारा अपनाए जा रहे लक्ष्यों के विरुद्ध की गई हो, और यह त्रुटि तभी हो सकती है जब चिंतनशील चेतना द्वारा मेरे उद्देश्यों के समूह को एक वस्तु के रूप में खोजा जाए। चूंकि अचिंतनशील चेतना अपनी संभावनाओं की ओर एक सहज आत्म-प्रक्षेपण है, इसलिए यह कभी भी स्वयं के बारे में भ्रमित नहीं हो सकती; हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब त्रुटि वास्तव में वस्तुनिष्ठ स्थिति का गलत मूल्यांकन हो—एक ऐसी त्रुटि जो अचिंतनशील चेतना द्वारा इच्छित परिणामों के बिल्कुल विपरीत परिणाम ला सकती है, भले ही उसके प्रस्तावित लक्ष्यों के बारे में कोई गलतफहमी न हुई हो—तो उसे स्वयं के बारे में हुई त्रुटि के लिए जिम्मेदार न ठहराया जाए। इसके विपरीत, चिंतनशील दृष्टिकोण में त्रुटियों की हज़ारों संभावनाएँ होती हैं, न कि इसलिए कि यह शुद्ध प्रेरणा—अर्थात चिंतनशील चेतना—को एक अर्ध-वस्तु के रूप में समझता है, बल्कि इसलिए कि इसका उद्देश्य उस चिंतनशील चेतना के पार वास्तविक मानसिक वस्तुओं का निर्माण करना है जो केवल संभावित वस्तुएँ हैं, जैसा कि हमने भाग II, अध्याय III में देखा है, और जो झूठी वस्तुएँ भी हो सकती हैं। इसलिए, मेरे लिए स्वयं से संबंधित त्रुटियों के संदर्भ में, चिंतनशील रूप से—अर्थात स्वैच्छिक स्तर पर—ऐसी परियोजनाएँ स्वयं पर थोपना संभव है जो मेरी प्रारंभिक परियोजना के विपरीत हों, यद्यपि इससे प्रारंभिक परियोजना में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि मेरी प्रारंभिक परियोजना स्वयं को दूसरों के बीच हीन समझना है (जिसे हीनता बोध कहा जाता है), और यदि हकलाना, उदाहरण के लिए, एक ऐसा व्यवहार है जिसे प्राथमिक परियोजना के संदर्भ में समझा और व्याख्यायित किया जाता है, तो मैं सामाजिक कारणों से और अपनी हीनता की गलत धारणा के कारण हकलाने का इलाज करने का निर्णय ले सकता हूँ। मैं इसमें सफल भी हो सकता हूँ, लेकिन इसके लिए मुझे स्वयं को हीन महसूस करना और स्वयं को हीन मानना छोड़ना नहीं पड़ेगा। वास्तव में, मैं केवल तकनीकी विधियों का उपयोग करके भी परिणाम प्राप्त कर सकता हूँ। इसे ही हम आमतौर पर स्वैच्छिक आत्म-सुधार कहते हैं। लेकिन ये परिणाम केवल उस दुर्बलता को विस्थापित करेंगे जिससे मैं पीड़ित हूँ; इसके स्थान पर एक और दुर्बलता उत्पन्न होगी और वह अपने तरीके से उस संपूर्ण लक्ष्य को व्यक्त करेगी जिसका मैं पीछा कर रहा हूँ। स्वयं पर निर्देशित एक स्वैच्छिक कार्य की यह गहन अप्रभाविता हमें आश्चर्यचकित कर सकती है, इसलिए हम चुने हुए उदाहरण का अधिक गहन विश्लेषण करने जा रहे हैं।

सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि सर्वांगीण लक्ष्यों का चुनाव, यद्यपि पूर्णतः स्वतंत्र है, आवश्यकतः या अक्सर आनंद में ही नहीं किया जाता। हमें चुनाव करने की अपनी अनिवार्यता को सत्ता की लालसा से भ्रमित नहीं करना चाहिए। चुनाव त्याग या बेचैनी में भी किया जा सकता है; यह पलायन हो सकता है; यह कुकर्म में भी किया जा सकता है। हम स्वयं को पलायनशील, अपठनीय, अनिर्णायक आदि के रूप में चुन सकते हैं। हम स्वयं को न चुनने का विकल्प भी चुन सकते हैं। इन विभिन्न स्थितियों में, लक्ष्य वास्तविक परिस्थिति से परे स्थापित होते हैं, और इन लक्ष्यों की जिम्मेदारी हम पर आ पड़ती है। हमारा अस्तित्व चाहे जैसा भी हो, यह एक चुनाव है; और यह हम पर निर्भर करता है कि हम स्वयं को "महान", "महान" या "नीच" और "अपमानित" के रूप में चुनें। यदि हमने अपमान को अपने अस्तित्व का मूल तत्व चुन लिया है, तो हम स्वयं को अपमानित, कड़वे, हीन आदि के रूप में ही अनुभव करेंगे। हम यहाँ निरर्थक तथ्यों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को अपमानित महसूस करता है, वह स्वयं को कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन बना लेता है: उदाहरण के लिए, चुना गया अपमान आत्म-पीड़ा की तरह एक ऐसे उपकरण के रूप में देखा जा सकता है जो हमें स्व-स्वयं अस्तित्व से मुक्त करने के लिए बनाया गया है; यह दूसरों के लाभ के लिए हमारी पीड़ादायक स्वतंत्रता से छुटकारा पाने की एक योजना हो सकती है; हमारी योजना अपने स्व-स्वयं अस्तित्व को पूरी तरह से दूसरों के लिए अस्तित्व में समाहित करने की हो सकती है। किसी भी स्थिति में, "हीनता बोध" तभी उत्पन्न हो सकता है जब यह दूसरों के लिए हमारे अस्तित्व की स्वतंत्र समझ पर आधारित हो। दूसरों के लिए यह अस्तित्व एक स्थिति के रूप में एक कारण के रूप में कार्य करेगा, लेकिन फिर भी इसे एक ऐसे प्रेरक द्वारा खोजा जाना चाहिए जो हमारी स्वतंत्र योजना के अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार, जो हीनता महसूस की जाती है और जी जाती है, वह हमें किसी वस्तु के समान बनाने का चुना हुआ साधन है; अर्थात्, हमें दुनिया के बीच में एक शुद्ध बाहरी इकाई के रूप में अस्तित्व में लाने का साधन है। लेकिन यह स्पष्ट है कि इसे उसी स्वभाव के अनुसार जीना होगा जो हम इस चुनाव द्वारा इसे प्रदान करते हैं—अर्थात शर्म, क्रोध और कड़वाहट में। इस प्रकार हीनता का चुनाव करना साधारण व्यक्तित्व से संतुष्ट होना नहीं है; बल्कि यह उस विद्रोह और निराशा को उत्पन्न करना और अपनाना है जो इस हीनता का प्रकटीकरण है। उदाहरण के लिए, मैं किसी विशेष प्रकार के रोजगार में इसलिए लगा रहता हूँ क्योंकि मैं उसमें हीन हूँ, जबकि किसी अन्य क्षेत्र में मैं आसानी से औसत के बराबर प्रदर्शन कर सकता हूँ। मैंने इस निष्फल प्रयास को चुना है, केवल इसलिए कि यह निष्फल है—या तो इसलिए कि मैं भीड़ में खो जाने के बजाय अंतिम रहना पसंद करता हूँ या इसलिए कि मैंने अस्तित्व प्राप्त करने के सर्वोत्तम साधन के रूप में निराशा और शर्म को चुना है।
यह स्पष्ट है कि मैं अपने कार्यक्षेत्र के रूप में उस क्षेत्र को तभी चुन सकता हूँ जिसमें मैं हीन हूँ, जब यह चुनाव उस क्षेत्र में श्रेष्ठ होने की चिंतनशील इच्छा को दर्शाता हो। एक हीन कलाकार बनना अनिवार्य रूप से एक

महान कलाकार बनने की इच्छा है; अन्यथा हीनता न तो सहन की जाएगी और न ही पहचानी जाएगी। एक साधारण कारीगर बनना किसी भी प्रकार से हीनता की खोज नहीं है; यह परिमितता के चुनाव का एक सरल उदाहरण है। इसके विपरीत, हीनता का चुनाव इच्छा द्वारा पीछा किए गए लक्ष्य और प्राप्त लक्ष्य के बीच एक अंतर की निरंतर अनुभूति को दर्शाता है। महान बनने की इच्छा रखने वाला और जानबूझकर हीन बनना चुनने वाला कलाकार इस अंतर को बनाए रखता है; वह पेनेलोप की तरह है जो दिन में जो बनाता है उसे रात में नष्ट कर देता है। इस प्रकार अपनी कलात्मक उपलब्धियों के साथ वह स्वयं को निरंतर स्वैच्छिक स्तर पर बनाए रखता है और इसलिए एक हताश ऊर्जा प्रदर्शित करता है। लेकिन उसकी इच्छा ही कुटिल है; अर्थात्, यह सहज चेतना द्वारा चुने गए सच्चे लक्ष्यों की पहचान से दूर भागता है, और इन लक्ष्यों पर विचार करने और स्वयं को इनके आधार पर निर्धारित करने के लिए झूठे मानसिक उद्देश्यों को प्रेरणा के रूप में स्थापित करता है (गौरव की लालसा; सौंदर्य की लालसा, आदि)। यहाँ इच्छा किसी भी प्रकार से मूलभूत चुनाव के विपरीत नहीं है; बल्कि इसके विपरीत, इसके लक्ष्यों और इसकी मूलभूत दुर्भावना को केवल हीनता के मूलभूत चुनाव के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाता है। जबकि चिंतनशील चेतना के रूप में इच्छा दुर्भावना से झूठे मानसिक उद्देश्यों को प्रेरणा के रूप में स्थापित करती है, वहीं दूसरी ओर एक गैर-चिंतनशील और गैर-आध्यात्मिक आत्म-चेतना के रूप में, यह दुर्भावना में होने की चेतना है और फलस्वरूप स्वयं के लिए अपनाई गई मूलभूत परियोजना की चेतना है। इस प्रकार सहज और इच्छित चेतना के बीच का अलगाव विशुद्ध रूप से स्थापित तथ्यात्मक तथ्य नहीं है। इसके विपरीत, यह द्वैत हमारी मूलभूत स्वतंत्रता द्वारा प्रक्षेपित और प्रारंभ में साकार होता है; इसकी कल्पना केवल हमारी मूलभूत परियोजना की गहन एकता में और उसके माध्यम से ही की जाती है, जो स्वयं को हीन के रूप में चुनना है। लेकिन वास्तव में, यह अलगाव इस बात का संकेत देता है कि स्वैच्छिक विचार-विमर्श दुर्भावना से हमारी हीनता को उन कार्यों के माध्यम से दूर करने या छिपाने का निर्णय लेता है जिनका आंतरिक लक्ष्य वास्तव में इसके विपरीत हमें इस हीनता को मापने में सक्षम बनाना है।
इस प्रकार, जैसा कि देखा जा सकता है, हमारा विश्लेषण हमें उन दो स्तरों को स्वीकार करने में सक्षम बनाता है जिन पर एडलर हीनता बोध को रखता है: उसकी तरह हम भी इस हीनता की मूलभूत पहचान को स्वीकार करते हैं, और उसकी तरह हम भी इस गहरी भावना को संतुलित करने या छिपाने के लिए किए गए कार्यों, रचनाओं और कथनों के भारी और असंतुलित विकास को स्वीकार करते हैं। लेकिन कुछ अंतर हैं: (1) हम मूलभूत पहचान को अचेतन नहीं मानते; यह अचेतन होने से इतना दूर है कि यह इच्छाशक्ति की दुर्भावना का भी प्रतीक है। इस तथ्य के कारण हम विचार किए गए दो स्तरों के बीच अचेतन और चेतन के बीच का अंतर स्थापित नहीं करते, बल्कि उस अंतर को स्थापित करते हैं जो मूलभूत अचिंतित चेतना और उसकी सहायक चेतना, यानी परावर्तित चेतना को अलग करता है। (2) हमें लगता है कि दुर्भावना की अवधारणा—जैसा कि हमने भाग एक में स्थापित किया है—एडलर द्वारा उपयोग किए गए संवेदन, दमन और अचेतन की अवधारणाओं का स्थान ले लेगी।

(3) चेतना की वह एकता, जैसा कि वह कॉगिटो को प्रकट होती है, इतनी गहरी है कि हम उसे दो स्तरों में विभाजित करना स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक कि एक अधिक गहन संश्लेषित इरादे से, जो एक स्तर से दूसरे स्तर तक ले जाकर उन्हें एकीकृत करता है, उस एकता को पुनः प्राप्त न कर लिया जाए। परिणामस्वरूप, हम महसूस करते हैं कि हीनता बोध से भी कहीं अधिक गहरा महत्व है; न केवल हीनता बोध को पहचाना जाता है, बल्कि यह पहचान एक चुनाव है। इच्छाशक्ति न केवल अस्थिर और कमजोर कथनों के माध्यम से इस हीनता को छिपाने का प्रयास करती है, बल्कि एक अधिक गहन इरादा इसे पार करता है और इन कथनों की कमजोरी और अस्थिरता को ही चुनता है, ताकि उस हीनता को और अधिक स्पष्ट किया जा सके जिससे हम भागने का दावा करते हैं और जिसे हम शर्म और असफलता की भावना में अनुभव करेंगे। इस प्रकार, जो व्यक्ति हीनता बोध से पीड़ित है, उसने स्वयं को अपना उत्पीड़क चुना है। उसने शर्म और पीड़ा को चुना है, हालांकि इसका यह अर्थ नहीं है कि जब ये सबसे अधिक बलपूर्वक अनुभव किए जाते हैं तो उसे कोई आनंद प्राप्त होगा।
लेकिन यदि इन नई संभावनाओं को हमारी प्रारंभिक योजना की सीमाओं के भीतर उत्पन्न इच्छाशक्ति द्वारा दुर्भावनापूर्वक चुना जाता है, तो भी वे कुछ हद तक प्रारंभिक योजना के विरुद्ध ही साकार होंगी। जिस हद तक हम अपनी हीनता को स्वयं से छिपाना चाहते हैं, ठीक उसी हद तक हम उस झिझक और हकलाहट पर काबू पाना चाह सकते हैं जो सहज स्तर पर हमारी हीनता की प्रारंभिक योजना को प्रकट करती है। तब हम इन अभिव्यक्तियों को लुप्त करने के लिए एक व्यवस्थित और चिंतनशील प्रयास करेंगे। हम यह प्रयास मनोविश्लेषक से परामर्श लेने आए रोगियों की मानसिकता में करते हैं। अर्थात्, एक ओर हम एक ऐसी उपलब्धि के लिए काम करते हैं जिसे दूसरी ओर हम अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार रोगी स्वेच्छा से मनोविश्लेषक से परामर्श लेने आता है ताकि उन समस्याओं से छुटकारा पा सके जिन्हें वह अब स्वयं से छिपा नहीं सकता; और केवल चिकित्सक के हाथों में स्वयं को सौंपने मात्र से ही वह ठीक होने का जोखिम उठाता है। लेकिन दूसरी ओर, यदि वह यह जोखिम उठाता है, तो वह खुद को यह समझाने के लिए ऐसा करता है कि उसने ठीक होने के लिए हर संभव प्रयास व्यर्थ किया है और इसलिए वह लाइलाज है। अतः वह मनोविश्लेषणात्मक उपचार के प्रति दुर्भावना और दुर्भावना से प्रतिबद्ध होता है। उसके सभी प्रयासों का उद्देश्य इस प्रयास को विफल करना होगा, भले ही वह स्वेच्छा से इस प्रक्रिया में लगा रहे। इसी प्रकार, जेनेट द्वारा अध्ययन किए गए मनोविकारियों को एक जुनून होता है जिसमें वे जानबूझकर प्रवेश करते हैं और उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। लेकिन, सटीक रूप से कहें तो, उनके ठीक होने की इच्छा का उद्देश्य इन जुनूनों को पीड़ा के रूप में पुष्ट करना और परिणामस्वरूप उन्हें उनकी पूरी शक्ति में अनुभव करना है। हम परिणाम जानते हैं; रोगी अपने जुनूनों को स्वीकार नहीं कर पाता; वह फर्श पर पड़ा रोता रहता है, लेकिन वह आवश्यक स्वीकारोक्ति करने का निश्चय नहीं करता। यहाँ इच्छा और रोग के बीच संघर्ष की बात करना व्यर्थ होगा; ये प्रक्रियाएँ दुर्भावना की परमानंदमय एकता के भीतर एक ऐसे व्यक्ति में घटित होती हैं जो

बनाया है, उसी प्रकार हमें बोधात्मक आचरण के प्रकारों पर भी विचार करना चाहिए, क्योंकि बोध को कभी भी दुनिया के प्रति दृष्टिकोण के बिना नहीं समझा जा सकता। जैसा कि हाइडेगर ने दिखाया है, वैज्ञानिक का निस्वार्थ दृष्टिकोण भी किसी वस्तु के प्रति निस्वार्थ स्थिति को अपनाना है और परिणामस्वरूप अन्य आचरणों के प्रति भी निस्वार्थ होना है। इस प्रकार, मानवीय वास्तविकता पहले अस्तित्व में नहीं आती ताकि बाद में कार्य कर सके; बल्कि मानवीय वास्तविकता के लिए, अस्तित्व ही कार्य करना है, और कार्य करना बंद करना ही अस्तित्व का अंत है।
(2) परन्तु यदि मानवीय वास्तविकता क्रिया है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि क्रिया के लिए उसका निर्धारण स्वयं क्रिया है। यदि हम इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं, और यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि मानवीय वास्तविकता को संसार या स्वयं की पूर्व स्थिति द्वारा क्रिया के लिए निर्धारित किया जा सकता है, तो यह किसी दी गई स्थिति को क्रम के आरंभ में रखने के समान है। तब ये क्रियाएँ क्रियाओं के रूप में लुप्त हो जाती हैं और उनकी जगह गतियों की एक श्रृंखला ले लेती है। इस प्रकार, जेनेट और व्यवहारवादियों के साथ आचरण की अवधारणा ही नष्ट हो जाती है। क्रिया का अस्तित्व उसकी स्वायत्तता को दर्शाता है।
(3) इसके अतिरिक्त, यदि क्रिया केवल गति नहीं है, तो उसे किसी आशय द्वारा परिभाषित किया जाना चाहिए। इस आशय को चाहे जिस प्रकार से भी देखा जाए, यह केवल किसी प्राप्त होने वाले परिणाम की ओर दिए गए से परे जाना ही हो सकता है। यह दिया गया, वास्तव में, क्योंकि यह शुद्ध उपस्थिति है, स्वयं से बाहर नहीं निकल सकता। ठीक इसी कारण से कि यह है, यह पूरी तरह और केवल वही है जो यह है। इसलिए यह उस घटना का कारण नहीं बन सकता जो अपना सारा अर्थ किसी प्राप्त होने वाले परिणाम से प्राप्त करती है; अर्थात्, एक गैर-मौजूद चीज़ से। उदाहरण के लिए, जब मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को एक तथ्यात्मक अवस्था के रूप में देखते हैं, तो वे यह नहीं देखते कि वे इससे भूख (ad-peritio) के रूप में इसके सभी चरित्र को हटा रहे हैं। वास्तव में, यदि यौन प्रवृत्ति को नींद की इच्छा से अलग किया जा सकता है, उदाहरण के लिए, तो यह केवल इसके लक्ष्य के माध्यम से ही संभव है, और यह लक्ष्य अस्तित्व में नहीं है। मनोवैज्ञानिकों को यह पूछना चाहिए था कि किसी घटना की तात्विक संरचना क्या हो सकती है जो स्वयं को उस चीज़ के माध्यम से प्रकट करती है जो अभी तक अस्तित्व में नहीं है। इरादा, जो मानवीय वास्तविकता की मूलभूत संरचना है, किसी भी स्थिति में किसी दी गई चीज़ से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, भले ही उसे किसी दी गई चीज़ से उत्पन्न होने के रूप में प्रस्तुत किया जाए। लेकिन यदि कोई इरादे की व्याख्या उसके लक्ष्य के आधार पर करना चाहता है, तो इस लक्ष्य को एक दी गई चीज़ के रूप में अस्तित्व प्रदान न करने का ध्यान रखना चाहिए। वास्तव में, यदि हम यह मान लें कि लक्ष्य, प्राप्त होने वाले परिणाम से पहले ही दिया गया है, तो इस लक्ष्य को उसकी शून्यता के केंद्र में एक प्रकार का स्व-अस्तित्व और एक जादुई प्रकार का आकर्षक गुण प्रदान करना आवश्यक होगा। इसके अलावा, हम किसी दी गई मानवीय वास्तविकता और किसी दिए गए

लक्ष्य के बीच संबंध को समझने में उतनी ही सफलता प्राप्त नहीं कर पाएंगे जितनी कि यथार्थवादियों के तर्कों में चेतना-पदार्थ और वास्तविकता- पदार्थ के बीच संबंध को समझने में। यदि प्रेरणा या क्रिया की व्याख्या उसके लक्ष्य के आधार पर की जानी है, तो इसका कारण यह है कि इरादे की संरचना में अपने लक्ष्य को अपने से बाहर स्थापित करना शामिल है। इस प्रकार, इरादा उस लक्ष्य को चुनकर स्वयं को अस्तित्व में लाता है जो उसे प्रकट करता है।
(4) चूंकि इरादा लक्ष्य का चुनाव है और चूंकि दुनिया हमारे आचरण के माध्यम से स्वयं को प्रकट करती है, इसलिए लक्ष्य का जानबूझकर किया गया चुनाव ही दुनिया को प्रकट करता है, और दुनिया चुने गए लक्ष्य के अनुसार इस या उस रूप में (इस या उस क्रम में) प्रकट होती है। लक्ष्य, जो दुनिया को प्रकाशित करता है, दुनिया की एक ऐसी अवस्था है जिसे प्राप्त किया जाना है और जो अभी अस्तित्व में नहीं है। इरादा लक्ष्य की एक विषयगत चेतना है। लेकिन यह तभी संभव है जब यह स्वयं को अपनी संभावना की एक गैर-विषयगत चेतना बना ले। इस प्रकार, यदि मुझे भूख लगी है तो मेरा लक्ष्य एक अच्छा भोजन हो सकता है। लेकिन यह भोजन, जो उस धूल भरी सड़क से परे, जिस पर मैं यात्रा कर रहा हूँ, इस सड़क के अर्थ के रूप में प्रक्षेपित होता है (यह एक होटल की ओर जाता है जहाँ मेज सजी है, जहाँ व्यंजन तैयार हैं, जहाँ मेरा इंतजार है, आदि), केवल इस भोजन को खाने की मेरी अपनी संभावना की ओर मेरे गैर-विषयगत प्रक्षेपण के साथ सहसंबंधित रूप से ही समझा जा सकता है। इस प्रकार, एक दोहरे लेकिन एकात्मक उभार द्वारा, इरादा अभी तक अस्तित्व में न आए लक्ष्य के संदर्भ में दुनिया को प्रकाशित करता है और स्वयं अपनी संभावना के चुनाव द्वारा परिभाषित होता है। मेरा लक्ष्य दुनिया की एक निश्चित वस्तुनिष्ठ अवस्था है, मेरी संभावना मेरी व्यक्तिपरकता की एक निश्चित संरचना है; एक थीटिक चेतना के समक्ष प्रकट होती है, दूसरी गैर-थीटिक चेतना पर वापस प्रवाहित होती है ताकि उसे चित्रित किया जा सके।
(5) यदि दी गई स्थिति इरादे की व्याख्या नहीं कर सकती, तो यह आवश्यक है कि इरादा अपने उद्भव से ही दी गई स्थिति से एक विच्छेद स्थापित करे, चाहे वह विच्छेद कुछ भी हो। ऐसा होना ही चाहिए, अन्यथा हमारे पास एक वर्तमान परिपूर्णता होगी जो निरंतरता में एक वर्तमान परिपूर्णता का अनुसरण करेगी, और हम भविष्य का पूर्वाभास नहीं कर सकेंगे। इसके अलावा, दी गई स्थिति के मूल्यांकन के लिए यह विच्छेद आवश्यक है। वास्तव में, दी गई स्थिति का मूल्यांकन किए बिना वह कभी भी किसी क्रिया का कारण नहीं बन सकती। लेकिन यह मूल्यांकन केवल दी गई स्थिति के संबंध में एक अलगाव द्वारा, दी गई स्थिति को कोष्ठक में रखने द्वारा ही साकार किया जा सकता है, जो ठीक निरंतरता में एक विराम को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त, यदि मूल्यांकन नि:शुल्क नहीं होना है, तो उसे किसी चीज़ के प्रकाश में किया जाना चाहिए। और वह चीज़ जो दी गई स्थिति के मूल्यांकन में सहायक होती है, वह केवल लक्ष्य ही हो सकती है। इस प्रकार, इरादा एक एकल एकात्मक उद्भव द्वारा लक्ष्य को स्थापित करता है, स्वयं को चुनता है, और लक्ष्य के संदर्भ में दी गई स्थिति का मूल्यांकन करता है। इन परिस्थितियों में दी गई स्थिति का मूल्यांकन किसी ऐसी चीज़ के

संदर्भ में किया जाता है जो अभी अस्तित्व में नहीं है; अस्तित्वहीनता के प्रकाश में ही स्वयं-अस्तित्व प्रकाशित होता है। इससे दिए गए स्वरूप का दोहरा विलोपन होता है; एक ओर, यह इस अर्थ में विलोपित होता है कि विखंडन के कारण यह आशय पर अपना प्रभाव खो देता है; दूसरी ओर, शून्यता की अनुभूति के रूप में प्रभाव पुनः प्राप्त होने के कारण यह एक नए विलोपन से गुजरता है। चूँकि मानवीय वास्तविकता क्रिया है, इसलिए इसे मूलतः दिए गए स्वरूप से विखंडन के रूप में ही समझा जा सकता है। यह वह अस्तित्व है जो दिए गए स्वरूप से विखंडन करके और उसे अभी तक अस्तित्व में न आए स्वरूप के प्रकाश में प्रकाशित करके उसे अस्तित्व में लाता है।
(6) प्रदत्त का केवल उस शून्यता के दायरे में प्रकट होना अनिवार्य है जो उसे प्रकट करती है, वास्तव में यह वही आंतरिक निषेध है जिसका वर्णन हमने भाग दो में किया था। यह कल्पना करना व्यर्थ होगा कि चेतना किसी प्रदत्त के बिना विद्यमान हो सकती है; उस स्थिति में यह स्वयं की चेतना होगी, जो शून्यता की चेतना है—अर्थात पूर्ण शून्यता। लेकिन यदि चेतना प्रदत्त के संदर्भ में विद्यमान है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रदत्त चेतना को निर्धारित करता है; चेतना प्रदत्त का एक शुद्ध और सरल निषेध है, और यह एक निश्चित विद्यमान प्रदत्त से वियोग और एक निश्चित अभी तक विद्यमान न हुए लक्ष्य की ओर अभियोग के रूप में विद्यमान है। लेकिन इसके अतिरिक्त यह आंतरिक निषेध केवल एक ऐसे अस्तित्व का तथ्य हो सकता है जो स्वयं के संबंध में निरंतर पीछे हटता रहता है। यदि यह अस्तित्व स्वयं का निषेध न होता, तो यह वही होता जो यह है—अर्थात एक शुद्ध और सरल प्रदत्त। इस तथ्य के कारण इसका किसी अन्य तथ्य से कोई संबंध नहीं होता क्योंकि प्रदत्त स्वभाव से केवल वही है जो वह है। इस प्रकार किसी भी संसार के प्रकट होने की संभावना समाप्त हो जाती। स्वयं-संबंधी अस्तित्व को यथार्थ न बने रहने के लिए, स्वयं-स्वयं को अपने संबंध में निरंतर एक अलगाव की स्थिति में रहना चाहिए; अर्थात्, उसे स्वयं को एक ऐसे तथ्य के रूप में पीछे छोड़ना होगा जो अब वह नहीं है। स्वयं-स्वयं की यह विशेषता दर्शाती है कि यह वह अस्तित्व है जिसे अपने अतीत में कोई सहारा या समर्थन नहीं मिलता। परन्तु दूसरी ओर, स्वयं- स्वयं स्वतंत्र है और संसार का निर्माण कर सकता है क्योंकि स्वयं-स्वयं वह अस्तित्व है जिसे भविष्य के प्रकाश में वही होना है जो वह था। अतः स्वयं- स्वयं की स्वतंत्रता उसके अस्तित्व के रूप में प्रकट होती है। परन्तु चूंकि यह स्वतंत्रता न तो यथार्थ है और न ही गुण, यह केवल स्वयं को चुनकर ही प्राप्त हो सकती है। स्वयं-स्वयं की स्वतंत्रता सदा सक्रिय रहती है; यहाँ ऐसी स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही नहीं है जो अनिर्धारित हो और जो उसके चुनाव से पूर्व विद्यमान हो। हम स्वयं को केवल एक निरंतर चुनाव के रूप में ही समझ सकते हैं। परन्तु स्वतंत्रता का सार यह है कि यह चुनाव सदा अप्रतिबंधित होता है।
(7) बिना किसी आधार के और स्वयं अपने कारणों को निर्धारित करते हुए किया गया ऐसा चुनाव अत्यंत हास्यास्पद प्रतीत हो सकता है, और वास्तव में यह हास्यास्पद है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्वतंत्रता अपने अस्तित्व का चुनाव

है, न कि उसका आधार। हम इस अध्याय में स्वतंत्रता और वास्तविकता के बीच इस संबंध पर फिर से विचार करेंगे। फिलहाल इतना कहना पर्याप्त होगा कि मानवीय वास्तविकता स्वयं को अपनी इच्छानुसार चुन सकती है, लेकिन स्वयं को न चुनने में असमर्थ नहीं है। यह अस्तित्व से इनकार भी नहीं कर सकती; वास्तव में, आत्महत्या अस्तित्व का एक चुनाव और पुष्टि है। अपने प्रदत्त इस अस्तित्व के द्वारा, मानवीय वास्तविकता अस्तित्व की सार्वभौमिक आकस्मिकता में और इस प्रकार जिसे हम हास्यास्पदता कह सकते हैं, उसमें भाग लेती है। यह चुनाव हास्यास्पद इसलिए नहीं है क्योंकि यह तर्कहीन है, बल्कि इसलिए है क्योंकि स्वयं को न चुनने की कोई संभावना कभी रही ही नहीं। चुनाव चाहे जो भी हो, वह अस्तित्व द्वारा स्थापित और पुन: परिभाषित होता है, क्योंकि यह चुनाव ही है जो अस्तित्व में है। लेकिन यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह चुनाव उस अर्थ में हास्यास्पद नहीं है जिसमें एक तर्कसंगत ब्रह्मांड में ऐसी घटना उत्पन्न हो सकती है जो किसी भी कारण से दूसरों से बंधी न हो। इस अर्थ में यह बेतुका है कि चुनाव ही वह कारक है जिससे समस्त आधार और समस्त तर्क उत्पन्न होते हैं, जिससे बेतुकेपन की अवधारणा को अर्थ मिलता है। यह सभी तर्कों से परे होने के कारण बेतुका है। इस प्रकार स्वतंत्रता केवल संयोगवश नहीं है, क्योंकि यह अपने अस्तित्व को अपने लक्ष्य के प्रकाश में प्रकाशित करने के लिए अपने मूल स्वरूप की ओर लौटती है। यह संयोगवशता से निरंतर पलायन है; यह संयोगवशता का आंतरिककरण, उसका शून्यीकरण और उसका व्यक्तिपरककरण है, जो इस प्रकार संशोधित होकर पूर्णतः चुनाव की नितांतता में विलीन हो जाता है।
(8) स्वतंत्र परियोजना मौलिक है, क्योंकि यही मेरा अस्तित्व है। न तो महत्वाकांक्षा, न ही प्रेम पाने की लालसा, और न ही हीन भावना को मौलिक परियोजना माना जा सकता है। इसके विपरीत, इन्हें अनिवार्य रूप से एक प्राथमिक परियोजना के संदर्भ में समझा जाना चाहिए, जिसे ऐसी परियोजना के रूप में पहचाना जाता है जिसे अब किसी अन्य के संदर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता और जो पूर्ण है। इस प्रारंभिक परियोजना को स्पष्ट करने के लिए एक विशेष घटनात्मक पद्धति आवश्यक होगी। इसे हम अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण कहेंगे। हम अगले अध्याय में इस पर चर्चा करेंगे। फिलहाल हम कह सकते हैं कि वह मौलिक परियोजना जो मैं हूँ, वह संसार में किसी विशेष वस्तु के साथ मेरे संबंधों से संबंधित नहीं है, बल्कि संसार में मेरे संपूर्ण अस्तित्व से संबंधित है; चूंकि संसार स्वयं केवल एक लक्ष्य के प्रकाश में प्रकट होता है, इसलिए यह परियोजना अपने लक्ष्य के लिए अस्तित्व के साथ एक निश्चित प्रकार के संबंध को स्थापित करती है जिसे स्वयं के लिए इच्छा अपनाना चाहती है। यह परियोजना तात्कालिक नहीं है, क्योंकि यह समय में नहीं हो सकती। न ही यह गैर-कालिक है ताकि बाद में "स्वयं को समय दे सके"। इसीलिए हम कांट के “बोधगम्य चरित्र के चुनाव” को अस्वीकार करते हैं। चुनाव की संरचना अनिवार्य रूप से यह दर्शाती है कि यह संसार में एक चुनाव है। एक ऐसा चुनाव जो शून्यता के संदर्भ में हो, शून्यता के विरुद्ध हो, वह शून्यता का चुनाव होगा और चुनाव के रूप में ही नष्ट हो जाएगा। केवल

निश्चित गुंजाइश होती है, यद्यपि प्रत्येक परियोजना, जैसा कि वह प्रस्तुत की जाती है, उस स्थिति के विशिष्ट तत्वों के अवसर पर वैश्विक परियोजना का विशिष्टीकरण है और इसलिए इसे हमेशा मेरे संसार में समग्र अस्तित्व के संदर्भ में समझा जाता है।
इन कुछ अवलोकनों के आधार पर, हमारा मानना है कि हमने स्वयं के लिए की स्वतंत्रता को उसके मूल स्वरूप में वर्णित किया है। लेकिन यह देखा गया होगा कि इस स्वतंत्रता के लिए एक निश्चित तत्व की आवश्यकता होती है, न कि इसकी शर्त के रूप में, बल्कि अन्य ठोस कारणों से। सर्वप्रथम, स्वतंत्रता को केवल एक निश्चित तत्व के शून्यीकरण के रूप में ही समझा जाता है (5); और जिस हद तक यह एक आंतरिक निषेध और चेतना है, यह उस आवश्यकता में भाग लेती है
(6) जो यह निर्धारित करती है कि चेतना किसी न किसी चीज़ की चेतना हो। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता चुनने की स्वतंत्रता है, न कि न चुनने की स्वतंत्रता। न चुनना वास्तव में न चुनने का चुनाव करना है। परिणाम यह है कि चुनाव चुने जाने का आधार है, न कि चुनने का आधार। अतः स्वतंत्रता की निरर्थकता (7) है। यहाँ फिर से हमारा संदर्भ एक निश्चित तत्व से है जो स्वयं के लिए की वास्तविकता के अलावा और कुछ नहीं है। अंत में, वैश्विक परियोजना, विश्व को उसकी समग्रता में प्रकाशित करते हुए, स्थिति के इस या उस तत्व और फलस्वरूप विश्व की आकस्मिकता के अवसर पर विशिष्ट बनाई जा सकती है। ये सभी टिप्पणियाँ हमें एक कठिन समस्या की ओर ले जाती हैं: स्वतंत्रता और वास्तविकता के बीच संबंध। इसके अलावा, हमें अनिवार्य रूप से अन्य ठोस आपत्तियों का भी सामना करना पड़ेगा। क्या मैं छोटा होने पर लंबा होना चुन सकता हूँ? क्या मैं एक हाथ होने पर दो हाथ रखना चुन सकता हूँ? इत्यादि। ये इस बात पर निर्भर करते हैं कि मेरी वास्तविक स्थिति मेरे स्वतंत्र चुनाव पर क्या "सीमाएँ" लगाती है। इसलिए स्वतंत्रता के दूसरे पहलू, उसके "विपरीत पक्ष" यानी वास्तविकता के साथ उसके संबंध की जाँच करना उचित होगा।

II. स्वतंत्रता और वास्तविकता: स्थिति स्वतंत्रता के विरुद्ध आम समझ द्वारा दिया जाने वाला निर्णायक तर्क हमें हमारी लाचारी का स्मरण दिलाता है। अपनी इच्छा से अपनी परिस्थितियों को बदलने में तो हम असमर्थ हैं ही, साथ ही स्वयं को भी बदलने में असमर्थ प्रतीत होते हैं। मैं न तो अपने वर्ग, अपने राष्ट्र, अपने परिवार की नियति से मुक्त हो सकता हूँ, न ही अपनी शक्ति या धन का निर्माण कर सकता हूँ, और न ही अपनी तुच्छ इच्छाओं या आदतों पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ। मैं एक श्रमिक, एक फ्रांसीसी, वंशानुगत सिफिलिस रोगी या तपेदिक रोगी के रूप में जन्म लेता हूँ। जीवन का इतिहास, चाहे वह कैसा भी हो, असफलता का इतिहास है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता इतनी अधिक है कि सबसे कमज़ोर परिणाम प्राप्त करने के लिए वर्षों के धैर्य की आवश्यकता होती है। फिर वही बात, "प्रकृति को नियंत्रित करने के लिए उसका पालन करना" आवश्यक है; अर्थात्, अपने कार्यों को नियतिवाद के जाल में पिरोना। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य स्वयं को "बनाने" से कहीं अधिक जलवायु और पृथ्वी, नस्ल और वर्ग, भाषा, उस सामूहिक इतिहास जिसका वह एक हिस्सा है, वंशानुक्रम, उसके बचपन की व्यक्तिगत परिस्थितियाँ, अर्जित आदतें, उसके जीवन की बड़ी और छोटी घटनाओं से "निर्मित" होता है।
यह तर्क मानव स्वतंत्रता के समर्थकों को कभी ज्यादा परेशान नहीं करता। डेसकार्टेस ने सबसे पहले यह माना कि इच्छाशक्ति अनंत है और यह आवश्यक है कि "भाग्य पर विजय पाने की बजाय स्वयं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाए।" यहाँ कुछ भेद करना आवश्यक है। नियतिवादियों द्वारा बताए गए कई तथ्य वास्तव में हमारे विचार-विमर्श के योग्य नहीं हैं। विशेष रूप से, चीजों में प्रतिकूलता का गुणांक हमारी स्वतंत्रता के विरुद्ध तर्क नहीं हो सकता, क्योंकि यह हमारे द्वारा—अर्थात, किसी लक्ष्य की प्रारंभिक परिकल्पना द्वारा—उत्पन्न होता है। एक चट्टान, जो उसे हटाने की इच्छा करने पर गहरा प्रतिरोध दिखाती है, इसके विपरीत मेरे लिए एक मूल्यवान सहायता होगी यदि मैं उस पर चढ़कर आसपास के क्षेत्र को देखना चाहूँ। अपने आप में—यदि कोई कल्पना भी कर सके कि चट्टान अपने आप में क्या हो सकती है— वह तटस्थ है; अर्थात्, वह किसी लक्ष्य द्वारा प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करती है ताकि वह प्रतिकूल या सहायक के रूप में प्रकट हो सके। फिर भी, वह स्वयं को केवल एक पूर्व-स्थापित साधन-समूह के भीतर ही किसी एक रूप में प्रकट कर सकती है। बिना औजारों, पहले से बने रास्तों और चढ़ाई की तकनीक के, चट्टान पर चढ़ना न तो आसान होगा और न ही मुश्किल; यह सवाल ही नहीं उठेगा, पर्वतारोहण की तकनीक से इसका कोई संबंध नहीं होगा। इस प्रकार, यद्यपि भौतिक चीजें (जिन्हें हाइडेगर "भौतिक अस्तित्व" कहते हैं) शुरू से ही हमारी कार्य करने की स्वतंत्रता को सीमित कर सकती हैं, लेकिन हमारी स्वतंत्रता ही वह आधारशिला, तकनीक और लक्ष्य निर्धारित करती है जिनके संदर्भ में वे सीमाओं के रूप में प्रकट होंगी। भले ही चट्टान "चढ़ने के लिए बहुत कठिन" साबित हो, और हमें चढ़ाई छोड़नी पड़े, फिर भी ध्यान दें कि चट्टान ऐसी इसलिए साबित होती है क्योंकि इसे शुरू में "चढ़ने योग्य" समझा

गया प्रतिरोध, स्वतंत्रता के लिए खतरा होने के बजाय, उसे स्वतंत्रता के रूप में उत्पन्न होने में सक्षम बनाता है। एक स्वतंत्र स्व-हित तभी हो सकता है जब वह एक प्रतिरोधी संसार में संलग्न हो। इस संलग्नता के बाहर स्वतंत्रता, नियतिवाद और अनिवार्यता की अवधारणाएँ अर्थहीन हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, सामान्य ज्ञान को यह समझाना आवश्यक है कि "स्वतंत्र होना" सूत्र का अर्थ "अपनी इच्छा को प्राप्त करना" नहीं है, बल्कि "स्वयं अपनी इच्छा निर्धारित करना" (चुनने के व्यापक अर्थ में) है। दूसरे शब्दों में, सफलता स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। दार्शनिकों के विपरीत सामान्य ज्ञान की चर्चा यहाँ एक गलतफहमी से उत्पन्न होती है: ऐतिहासिक, राजनीतिक और नैतिक परिस्थितियों द्वारा निर्मित "स्वतंत्रता" की अनुभवजन्य और लोकप्रिय अवधारणा "चुने हुए लक्ष्यों को प्राप्त करने की क्षमता" के समतुल्य है। स्वतंत्रता की तकनीकी और दार्शनिक अवधारणा, जिस पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, का अर्थ केवल चुनाव की स्वायत्तता है। हालाँकि, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि चुनाव, क्रिया के समान होने के कारण, प्राप्ति की शुरुआत को दर्शाता है ताकि चुनाव को सपने और इच्छा से अलग किया जा सके। इस प्रकार हम यह नहीं कहेंगे कि एक कैदी हमेशा जेल से बाहर जाने के लिए स्वतंत्र है, जो कि हास्यास्पद होगा, न ही यह कि वह हमेशा रिहाई की कामना करने के लिए स्वतंत्र है, जो कि एक अप्रासंगिक सत्य होगा, बल्कि यह कि वह हमेशा भागने (या स्वयं को मुक्त कराने) का प्रयास करने के लिए स्वतंत्र है; यानी, उसकी स्थिति चाहे जो भी हो, वह अपने बचाव की योजना बना सकता है और कोई कार्य करके अपनी योजना का महत्व समझ सकता है। स्वतंत्रता की हमारी परिभाषा, क्योंकि यह चुनाव और कर्म के बीच अंतर नहीं करती, हमें इरादे और कर्म के बीच के अंतर को तुरंत त्यागने के लिए बाध्य करती है। इरादे को कर्म से उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार विचार को उसे व्यक्त करने वाली भाषा से अलग नहीं किया जा सकता; और जिस प्रकार हमारा वचन हमारे विचार को प्रकट करता है, उसी प्रकार हमारे कर्म हमारे इरादों को प्रकट करेंगे—अर्थात्, यह हमें अपने इरादों को अलग करने, उन्हें योजनाबद्ध करने और उन्हें जीने तक सीमित रखने के बजाय उन्हें वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम बनाएगा—अर्थात्, उनके प्रति एक गैर-आध्यात्मिक चेतना को ग्रहण करने में सक्षम बनाएगा। चुनाव की स्वतंत्रता और प्राप्ति की स्वतंत्रता के बीच इस मूलभूत अंतर को निश्चित रूप से डेसकार्टेस ने स्टोइसिज़्म का अनुसरण करते हुए समझा था। यह "इच्छा" और "सक्षम होने" के बीच के अंतर पर आधारित सभी तर्कों का अंत करता है, जो आज भी स्वतंत्रता के समर्थकों और विरोधियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। यह सत्य है कि स्वतंत्रता उन सीमाओं का सामना करती है या करती प्रतीत होती है जो उस अस्तित्व के कारण उत्पन्न होती हैं जिसे वह पार करती है या नष्ट कर देती है। यह दर्शाना कि किसी वस्तु की प्रतिकूलता का गुणांक और एक बाधा के रूप में उसका चरित्र (एक साधन के रूप में उसके चरित्र से जुड़ा हुआ) स्वतंत्रता के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है, एक ऐसा तर्क है जिसके दो पहलू हैं; क्योंकि एक ओर यह हमें यह स्थापित करने में सक्षम बनाता है कि

छोड़ती है। कोई यह भी कह सकता है कि यह स्थिति इस अर्थ में मेरी स्वतंत्रता को सीमित करती है, कि यह स्थिति मुझे बाध्य न करने के लिए ही मौजूद है। कर्फ्यू के बाद सड़कों पर घूमने पर लगे प्रतिबंध को हटा दें, तो मेरे लिए रात में टहलने की स्वतंत्रता (जो उदाहरण के लिए, मुझे पास द्वारा प्रदान की गई है) का क्या अर्थ रह जाता है?
इस प्रकार स्वतंत्रता एक निम्नतर अस्तित्व है जो अस्तित्व से बचने के लिए उसका आडंबर धारण करती है। यह अस्तित्वहीन होने या स्वतंत्र न होने के लिए स्वतंत्र नहीं है। हम इन दोनों संरचनाओं के संबंध को तुरंत समझ लेंगे। वास्तव में, चूंकि स्वतंत्रता अस्तित्व से मुक्ति है, इसलिए यह अस्तित्व के साथ-साथ और "सर्वेक्षण" की किसी परियोजना में स्वयं को उत्पन्न नहीं कर सकती; कोई उस जेल से नहीं बच सकता जिसमें वह कैद नहीं है। अस्तित्व के हाशिये पर स्वयं का प्रक्षेपण किसी भी तरह से इस अस्तित्व के शून्यीकरण के रूप में स्वयं को स्थापित नहीं कर सकता। स्वतंत्रता अस्तित्व में संलग्नता से मुक्ति है; यह उस अस्तित्व का शून्यीकरण है जो वह स्वयं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय वास्तविकता पहले अस्तित्व में आती है, और फिर स्वतंत्र होती है। "बाद में" और "पहले" शब्द स्वयं स्वतंत्रता द्वारा निर्मित हैं। स्वतंत्रता का उभार उस अस्तित्व के दोहरे शून्यीकरण से होता है जो वह स्वयं है और उस अस्तित्व के जिसके मध्य में वह है। स्वाभाविक रूप से स्वतंत्रता स्वयं में अस्तित्व के अर्थ में यह अस्तित्व नहीं है। लेकिन चुने हुए लक्ष्य के प्रकाश में स्वतंत्रता की अपर्याप्तताओं को उजागर करते हुए, एक ऐसा अस्तित्व है जो स्वयं स्वतंत्रता का है। स्वतंत्रता को अपने पीछे उस अस्तित्व को धारण करना पड़ता है जिसे उसने नहीं चुना है; और ठीक उसी हद तक जिस हद तक वह उसे प्रकाशित करने के लिए उस पर वापस मुड़ती है, स्वतंत्रता अपने स्वयं के अस्तित्व को अस्तित्व की पूर्णता के साथ प्रकट करती है—अर्थात्, संसार के मध्य में विद्यमान करती है। हमने कहा कि स्वतंत्रता, स्वतंत्र न होने के लिए स्वतंत्र नहीं है और न ही अस्तित्वहीन होने के लिए स्वतंत्र है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्वतंत्र न होने में असमर्थ होना ही स्वतंत्रता की वास्तविकता है, और अस्तित्वहीन होने में असमर्थ होना ही उसकी आकस्मिकता है। आकस्मिकता और वास्तविकता वास्तव में एक ही हैं; एक ऐसा अस्तित्व है जिसमें स्वतंत्रता को अस्तित्वहीनता (अर्थात्, शून्यता) के रूप में होना पड़ता है। स्वतंत्रता की वास्तविकता के रूप में विद्यमान होना या संसार के मध्य में एक अस्तित्व होना एक ही बात है, और इसका अर्थ है कि स्वतंत्रता मूल रूप से दिए गए से एक संबंध है।
लेकिन दिए गए से यह संबंध क्या है? क्या इससे हमारा यह अर्थ है कि दिया गया (स्वयं में) स्वतंत्रता को निर्धारित करता है? आइए इसे और गहराई से देखें। दिया गया स्वतंत्रता का कारण नहीं है (क्योंकि यह केवल दिए गए को ही उत्पन्न कर सकता है) और न ही यह स्वतंत्रता का कारण है (क्योंकि सभी "कारण" स्वतंत्रता के माध्यम से ही संसार में आते हैं)। न ही यह स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है क्योंकि हम विशुद्ध आकस्मिकता के स्तर पर हैं। न ही यह कोई

है। यह तथ्य एक ही प्रकाश की पूर्ण एकता के भीतर अनेक रूपों में प्रकट होता है। यह मेरा स्थान, मेरा शरीर, मेरा अतीत, मेरी स्थिति है जहाँ तक यह दूसरों के संकेतों द्वारा पहले से ही निर्धारित है, और अंत में दूसरे के साथ मेरा मूलभूत संबंध है। हम क्रमिक रूप से और विशिष्ट उदाहरणों के साथ परिस्थिति की इन विभिन्न संरचनाओं की जाँच करेंगे। लेकिन हमें इस तथ्य को कभी नहीं भूलना चाहिए कि इनमें से कोई भी चीज अकेले नहीं दी गई है और जब हम इनमें से किसी एक पर अलग से विचार करते हैं, तो हम उसे दूसरों के कृत्रिम आधार पर ही प्रस्तुत करने तक सीमित रह जाते हैं।
ए. मेरा स्थान
मेरा स्थान स्थानिक व्यवस्था और उन विशिष्ट "वस्तुओं" की प्रकृति द्वारा परिभाषित होता है जो मुझे संसार के आधार पर प्रकट होती हैं। स्वाभाविक रूप से, यह वह स्थान है जहाँ मैं "रहता" हूँ (मेरा "देश" अपने सूर्य, जलवायु, संसाधनों, जल-आकृति और पर्वतीय संरचना के साथ)। यह सरल शब्दों में, उन वस्तुओं की व्यवस्था और क्रम भी है जो वर्तमान में मुझे दिखाई देती हैं (एक मेज, मेज के पीछे एक खिड़की, खिड़की के बाईं ओर एक अलमारी, दाईं ओर एक कुर्सी, और खिड़की के पीछे सड़क और समुद्र), जो मुझे उनके क्रम का कारण दर्शाती हैं। मेरे लिए स्थान का न होना संभव नहीं है; अन्यथा संसार से मेरा संबंध केवल अवलोकन की अवस्था में रह जाएगा, और संसार मेरे सामने किसी भी रूप में प्रकट नहीं होगा—जैसा कि हमने पहले देखा है। इसके अलावा, यद्यपि यह वास्तविक स्थान मुझे मेरी स्वतंत्रता द्वारा सौंपा गया है (मैं यहाँ "आया" हूँ), मैं इसे केवल उस स्थान के साथ संबंध स्थापित करके ही ग्रहण कर पाया हूँ जिसे मैंने पहले ग्रहण किया था और स्वयं वस्तुओं द्वारा चिह्नित मार्गों का अनुसरण करके। यह पिछला स्थान मुझे किसी दूसरे स्थान की ओर ले जाता है, यह किसी दूसरे स्थान की ओर, और इसी तरह मेरे स्थान की विशुद्ध आकस्मिकता की ओर; अर्थात्, मेरे उस स्थान की ओर जो अब मेरे अनुभव के किसी अन्य भाग को संदर्भित नहीं करता है: वह स्थान जो मुझे मेरे जन्म द्वारा सौंपा गया है।
मेरी माँ ने जब मुझे जन्म दिया था, तब जिस स्थान पर वे थीं, उससे इस अंतिम स्थान की व्याख्या करना व्यर्थ होगा। यह संबंध टूट चुका है, मेरे माता- पिता द्वारा स्वेच्छा से चुने गए स्थान मेरे जीवन के स्थानों की व्याख्या के रूप में मान्य नहीं होंगे। यदि कोई इनमें से किसी एक स्थान को मेरे मूल स्थान के संदर्भ में देखे—जैसे कि उदाहरण के लिए, “मेरा जन्म बोर्डो में हुआ क्योंकि मेरे पिता को वहाँ एक सरकारी कर्मचारी के रूप में पद मिला था,” या “मेरा जन्म टूर्स में हुआ क्योंकि मेरे दादा-दादी की वहाँ संपत्ति थी और मेरी माँ ने गर्भावस्था के दौरान मेरे पिता की मृत्यु की खबर मिलने पर उनके पास शरण ली थी”—तो यह केवल इस बात को और अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि मेरे लिए जन्म और वह स्थान जो मुझे यह प्रदान करता है, आकस्मिक हैं। इस प्रकार जन्म लेना, अन्य विशेषताओं के साथ-साथ, अपना स्थान ग्रहण करना है, या जैसा कि हमने अभी कहा है, उसे प्राप्त करना है। और चूंकि यह मूल स्थान वह होगा जिसके आधार पर मैं निर्धारित नियमों के अनुसार नए स्थानों

कहीं और नहीं हो सकता; मैं उस वस्तु की धुंधली समझ भी नहीं रख सकता जिसके संबंध में मेरा स्थान परिभाषित है। मैं केवल उन आंतरिक निर्धारणों में विद्यमान हो सकता हूँ जो मेरे चारों ओर मौजूद अगोचर और अकल्पनीय वस्तुएँ, जिनके बारे में मुझे पता भी नहीं है, मुझमें उत्पन्न कर सकती हैं। इसी प्रकार, पूर्ण विस्तार की वास्तविकता ही लुप्त हो जाती है, और मैं उस हर चीज़ से अलग हो जाता हूँ जो किसी स्थान से मिलती-जुलती है। इसके अलावा, मैं न तो स्वतंत्र हूँ और न ही अस्वतंत्र; मैं बिना किसी बंधन के एक शुद्ध अस्तित्व हूँ, लेकिन बंधन को नकारने का भी कोई तरीका नहीं है। ताकि मेरे स्थान के रूप में परिभाषित विस्तार जैसी कोई चीज़ दुनिया में आ सके और उसी तरह मुझे भी सटीक रूप से परिभाषित कर सके, इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि मैं अपने स्थान पर विद्यमान रहूँ—अर्थात, कि मुझे वहाँ होना ही होगा। यह भी आवश्यक है कि मैं पूरी तरह से यहाँ न रहूँ ताकि मैं वहाँ, उस वस्तु के निकट रह सकूँ जिसे मैं अपने से दस फीट की दूरी पर पाता हूँ और जिसके परिप्रेक्ष्य से मैं अपने स्थान का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। वह एकस्वर संबंध जो मेरे स्थान को परिभाषित करता है, वास्तव में उस चीज़ के बीच एक संबंध के रूप में कार्य करता है जो मैं हूँ और जो मैं नहीं हूँ। इस संबंध को प्रकट होने के लिए स्थापित किया जाना आवश्यक है। इसलिए यह मानता है कि मैं निम्नलिखित क्रियाओं को करने की स्थिति में हूँ:
(1) मुझे अपने अस्तित्व से मुक्त होने और उसे इस प्रकार मिटाने में सक्षम होना चाहिए कि मेरा अस्तित्व, भले ही वह विद्यमान हो, फिर भी एक संबंध के रूप में प्रकट हो सके। यह संबंध प्रत्यक्ष रूप से दिया गया है। हालाँकि, यह वस्तुओं के साधारण चिंतन से नहीं दिया गया है (यदि हम केवल चिंतन से स्थान व्युत्पन्न करने का प्रयास करें, तो इस पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि वस्तुओं को निरपेक्ष आयामों के साथ दिया जाता है, न कि निरपेक्ष दूरियों के साथ)। यह बल्कि हमारी तात्कालिक क्रिया के चिंतन में दिया गया है ("वह हमारी ओर आ रहा है," "चलो उससे बचें," "मैं उसके पीछे भाग रहा हूँ," आदि)। इस प्रकार यह मेरे अस्तित्व को वहाँ होने के रूप में समझने का संकेत देता है। लेकिन साथ ही, अन्य "वास्तविकताओं" के वहाँ होने के दृष्टिकोण से मैं क्या हूँ, इसे परिभाषित करना अत्यंत आवश्यक है। मैं एक ऐसी सत्ता हूँ जिसकी ओर कोई दौड़ता हुआ आता है, एक ऐसी सत्ता जिसे पहाड़ की चोटी पर पहुँचने से पहले अभी एक घंटा चढ़ना बाकी है, इत्यादि। इसलिए, उदाहरण के लिए, जब मैं पहाड़ की चोटी को देखता हूँ, तो हम स्वयं से पलायन कर रहे होते हैं, जिसके साथ एक प्रतिक्षेप भी होता है जिसे मैं स्वयं को स्थापित करने के लिए पहाड़ की चोटी के संदर्भ में अपनी सत्ता की ओर प्रेरित करता हूँ। इस प्रकार, मुझे इससे पलायन करने के कारण ही "वही होना चाहिए जो मुझे होना है"। मेरे स्थान द्वारा परिभाषित होने के लिए, यह आवश्यक है कि मैं पहले स्वयं से पलायन करूँ ताकि मैं उन निर्देशांकों को स्थापित कर सकूँ जिनके आधार पर मैं स्वयं को विश्व के केंद्र के रूप में अधिक संकीर्ण रूप से परिभाषित कर सकूँ। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि मेरी सत्ता किसी भी तरह से उस परिपार को निर्धारित नहीं कर सकती जो चीजों को स्थिर और स्थान प्रदान

करने वाला है, क्योंकि मेरी सत्ता एक शुद्ध प्रदत्त है, प्रक्षेपण में असमर्थ है, और इसके अलावा, किसी सत्ता के रूप में सख्ती से परिभाषित होने के लिए, यह आवश्यक है कि यह परिपार और उसके बाद होने वाले प्रतिक्षेप द्वारा निर्धारित हो।
(2) मुझे आंतरिक निषेध द्वारा उन “इस” से मुक्ति प्राप्त करनी होगी—जो उस संसार के मध्य में स्थित हैं जो मैं नहीं हूँ और जिसके द्वारा मैं स्वयं को यह ज्ञात कराता हूँ कि मैं क्या हूँ। जैसा कि हमने देखा है, उन्हें खोजना और उनसे मुक्ति पाना एक ही निषेध का परिणाम है। यहाँ भी, खोजी गई तथ्य के संबंध में आंतरिक निषेध सर्वप्रथम और सहज है। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि तथ्य हमारी आशंका को उत्पन्न करता है; इसके विपरीत, ताकि एक ऐसा “यह” अस्तित्व में आ सके जो उस “अस्तित्व” से अपनी दूरी को प्रकट करे जो मैं हूँ, मेरे लिए शुद्ध निषेध द्वारा इससे मुक्ति पाना आवश्यक है। शून्यीकरण, आंतरिक निषेध, उस “अस्तित्व” की ओर एक निर्णायक वापसी जो मैं हूँ—ये तीनों क्रियाएँ वास्तव में एक ही हैं। ये केवल एक मूल पारलौकिकता के क्षण हैं जो मुझे शून्य करके एक अंत की ओर अग्रसर होते हैं ताकि मैं भविष्य के माध्यम से स्वयं को यह ज्ञात करा सकूँ कि मैं क्या हूँ। इस प्रकार, यह मेरी स्वतंत्रता ही है जो मुझे स्थान प्रदान करती है और मुझे स्थापित करके उसे परिभाषित करती है। मैं जिस स्थिति में हूं, उसी तक सीमित रहने का एकमात्र कारण यह है कि मेरी तात्विक संरचना न तो वह है जो मैं हूं और न ही वह है जो मैं नहीं हूं।
इसके अलावा, स्थान निर्धारण का यह विचार, जो सर्वोत्कृष्टता को पूर्वकल्पित करता है, केवल एक लक्ष्य के संदर्भ में ही संभव है। एक लक्ष्य के प्रकाश में ही मेरा स्थान अपना अर्थ ग्रहण करता है। क्योंकि मैं कभी भी केवल वहाँ मौजूद नहीं हो सकता। मेरे स्थान को एक निर्वासन के रूप में या इसके विपरीत, उस स्वाभाविक, आश्वस्त करने वाले और पसंदीदा स्थान के रूप में समझा जाता है जिसे मौरियाक ने क्वेरेनसी कहा था, जिसकी तुलना उन्होंने उस स्थान से की थी जहाँ घायल बैल अखाड़े में हमेशा लौटता है। मैं जो करने की योजना बना रहा हूँ, उसके संदर्भ में, समग्र रूप से संसार के संदर्भ में और इसलिए संसार में मेरे अस्तित्व के संदर्भ में, मेरा स्थान मुझे एक सहायता या एक बाधा के रूप में दिखाई देता है। स्थान में होना —— से दूर या —— के निकट होना है; अर्थात्, स्थान को एक ऐसे अस्तित्व के संदर्भ में अर्थ प्रदान किया जाता है जो अभी अस्तित्व में नहीं है और जिसे व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इस लक्ष्य की सुलभता या अपगम्यता ही स्थान को परिभाषित करती है। इसलिए, अस्तित्वहीनता और भविष्य के प्रकाश में ही मेरी स्थिति को वास्तव में समझा जा सकता है। “वहाँ होना” का अर्थ है चायदानी तक पहुँचने के लिए बस एक कदम चलना, अपनी बांह फैलाकर कलम को स्याही में डुबोना, आँखों को थकाए बिना पढ़ने के लिए खिड़की की ओर पीठ करना, अपने मित्र पियरे से मिलने के लिए दो घंटे साइकिल चलाना और दोपहर की तेज़ गर्मी की थकान सहन करना, और ऐनी से मिलने के लिए ट्रेन लेना और एक रात जागकर गुजारना। एक उपनिवेशवासी के लिए, “वहाँ होना” का अर्थ है फ्रांस से बीस

दिन दूर होना; और भी बेहतर, यदि वह एक सरकारी कर्मचारी है और सरकारी खर्च पर यात्रा की प्रतीक्षा कर रहा है, तो यह बोर्डो या एटैपल्स से छह महीने और सात दिन दूर होना है। एक सैनिक के लिए, “वहाँ होना” का अर्थ है उसकी छुट्टी से एक सौ दस, एक सौ बीस दिन दूर होना। भविष्य—एक परिकल्पित भविष्य—हर जगह हस्तक्षेप करता है; बोर्डो में मेरा भविष्य का जीवन, एटैपल्स में मेरा भविष्य का जीवन, सैनिक की भावी मुक्ति, स्याही से भीगी कलम से लिखे जाने वाले मेरे भावी शब्द—यही सब मेरे लिए मेरे स्थान का अर्थ है और यही मुझे घबराहट, अधीरता या उदासी से भर देता है। दूसरी ओर, यदि मैं पुरुषों के किसी समूह या जनमत से भाग रहा हूँ, तो मेरा स्थान उस समय से निर्धारित होता है जो इन लोगों को मुझे गाँव के उस छोर पर खोजने में लगेगा जहाँ मैं ठहरा हूँ, उनके इस गाँव तक पहुँचने में, इत्यादि। इस स्थिति में, एकांत ही मेरे स्थान को मेरे लिए अनुकूल बनाता है। यहाँ किसी स्थान पर होना ही आश्रय पाना है। मेरे लक्ष्य का यह चुनाव विशुद्ध स्थानिक संबंधों (ऊंचाई और नीचाई, दाएँ और बाएँ, आदि) में भी समा जाता है, जिससे उन्हें एक अस्तित्वगत अर्थ मिलता है। यदि मैं पर्वत की तलहटी में रहता हूँ, तो वह मुझे "विशाल" लगता है; वहीं दूसरी ओर, यदि मैं उसकी चोटी पर हूँ, तो पर्वत मेरे अभिमान से ही पुनः प्राप्त हो जाता है और उस श्रेष्ठता का प्रतीक बन जाता है जो मैं स्वयं को अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ मानता हूँ। नदियों का स्थान, समुद्र से दूरी, आदि भी इसमें शामिल हो जाते हैं और उन्हें प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान किया जाता है; मेरे लक्ष्य के प्रकाश में निर्मित, मेरा स्थान मुझे प्रतीकात्मक रूप से इस लक्ष्य की याद दिलाता है, इसके सभी विवरणों और इसके समग्र संबंधों के साथ। हम इस बिंदु पर तब लौटेंगे जब हम अस्तित्वगत मनोविश्लेषण के उद्देश्य और विधि को अधिक सटीक रूप से परिभाषित करना चाहेंगे। वस्तुओं से दूरी के इस निरर्थक संबंध को कभी भी बाहर से अर्थ और प्रतीक प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जा सकती, क्योंकि यही इसे निर्मित करने का हमारा तरीका है। इससे भी अधिक, इस निरर्थक संबंध का अर्थ केवल उन तकनीकों के चुनाव के संदर्भ में ही है जो दूरियों को मापने और पार करने की अनुमति देती हैं। मेरे गाँव से बीस मील दूर स्थित एक शहर, जो एक रेलगाड़ी से जुड़ा हुआ है, मेरे लिए उस चट्टानी चोटी की तुलना में कहीं अधिक निकट है जो चार मील दूर है लेकिन 2800 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। हाइडेगर ने दिखाया है कि कैसे दैनिक कार्य-प्रणालियाँ उपकरणों को एक ऐसा स्थान प्रदान करती हैं जिसका शुद्ध ज्यामितीय दूरी से कोई संबंध नहीं है: वे कहते हैं कि मेरे चश्मे, एक बार जब वे मेरी नाक पर लग जाते हैं, तो उस वस्तु की तुलना में मुझसे कहीं अधिक दूर हो जाते हैं जिसे मैं उनके माध्यम से देखता हूँ।
अतः यह कहना उचित होगा कि मेरे स्थान की वास्तविकता मुझे केवल मेरे द्वारा चुने गए लक्ष्य के स्वतंत्र चुनाव के माध्यम से ही प्रकट होती है। मेरी वास्तविकता की खोज के लिए स्वतंत्रता अपरिहार्य है। मैं इस वास्तविकता को भविष्य के उन सभी पहलुओं से सीखता हूँ जिनकी मैं कल्पना करता हूँ; इसी चुने हुए भविष्य के परिप्रेक्ष्य से वास्तविकता मुझे अपनी शक्तिहीनता, अनिश्चितता, दुर्बलता और बेतुकेपन के साथ प्रकट होती है। न्यूयॉर्क देखने

उद्देश्यों के अनुसार जिनसे मैं इन अतीत की घटनाओं को प्रकाशमान करता हूँ।
इस प्रकार मेरा सारा अतीत मेरे सामने मौजूद है, जो दबाव डालता है, अत्यावश्यक है, और अनिवार्य है, लेकिन इसके अर्थ और इससे मिलने वाले आदेश मैं अपने अंतिम लक्ष्य के अनुसार ही चुनता हूँ। बेशक, मैंने जो प्रतिबद्धताएँ निभाई हैं, वे मुझ पर बोझ हैं। बेशक, मैंने जो पहले विवाह किया था, और जो घर मैंने पिछले साल खरीदा और सजाया था, वे मेरी संभावनाओं को सीमित करते हैं और मेरे आचरण को निर्देशित करते हैं; लेकिन ठीक इसी कारण से कि मेरी योजनाएँ ऐसी हैं, मैं विवाह अनुबंध को पुनः ग्रहण करता हूँ। दूसरे शब्दों में, ठीक इसी कारण से कि मैं इसे "बीता हुआ, समाप्त हो चुका, मृत विवाह अनुबंध" नहीं मानता, और इसके विपरीत, मेरी योजनाएँ निभाई गई प्रतिबद्धताओं के प्रति निष्ठा या पति और पिता के रूप में "सम्मानजनक जीवन" जीने के निर्णय आदि को दर्शाती हैं, ये योजनाएँ अनिवार्य रूप से अतीत के विवाह वचन को प्रकाशित करती हैं और उसे उसका सर्वकालिक वास्तविक मूल्य प्रदान करती हैं। इस प्रकार, अतीत की तात्कालिकता भविष्य से आती है। मान लीजिए कि श्लमबर्गर के नायक की तरह मैं अपनी मूल योजना में आमूल-चूल परिवर्तन कर दूं, उदाहरण के लिए, मैं निरंतर सुख की अवस्था से मुक्ति पाना चाहूं, और मेरे पूर्व के संकल्प अपना महत्व खो देंगे। वे अब यहाँ केवल मध्य युग के मीनारों और प्राचीरों की तरह ही रहेंगे, ऐसी संरचनाएँ जिन्हें नकारा नहीं जा सकता, लेकिन जिनका अर्थ केवल बीते हुए चरण, एक सभ्यता और राजनीतिक एवं आर्थिक अस्तित्व के काल की याद दिलाना है, जो आज परास्त हो चुके हैं और पूर्णतः मृत हैं। भविष्य ही तय करता है कि अतीत जीवित है या मृत। वास्तव में, अतीत मूल रूप से एक योजना है, मेरे अस्तित्व का वास्तविक उभार। और जिस हद तक यह एक योजना है, उसी हद तक यह एक प्रत्याशा भी है; इसका अर्थ उस भविष्य से आता है जिसकी यह रूपरेखा प्रस्तुत करता है। जब अतीत पूरी तरह से अतीत में विलीन हो जाता है, तो इसका पूर्ण मूल्य उन प्रत्याशाओं की पुष्टि या खंडन पर निर्भर करता है जो यह थीं। लेकिन यह मेरी वास्तविक स्वतंत्रता पर निर्भर करता है कि मैं इन अपेक्षाओं के अर्थ की पुष्टि उनके लिए पुनः जिम्मेदारी स्वीकार करके करूं—अर्थात् उस भविष्य की अपेक्षा करके जिसकी उन्होंने अपेक्षा की थी—या केवल एक नए भविष्य की अपेक्षा करके उन्हें अमान्य कर दूं। इस स्थिति में अतीत एक निहत्थी और भ्रमित अपेक्षा बनकर रह जाता है; यह "बलहीन" हो जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि अतीत का एकमात्र बल भविष्य से ही आता है; मैं अपने अतीत को चाहे जैसे भी जीऊं या उसका मूल्यांकन करूं, मैं ऐसा केवल भविष्य के प्रति अपनी स्वयं की योजना के प्रकाश में ही कर सकता हूं।
इस प्रकार, भविष्य के लिए मेरे विकल्पों का क्रम मेरे अतीत के क्रम को निर्धारित करेगा, और इस क्रम में कालानुक्रमिकता का कोई स्थान नहीं होगा। सबसे पहले वह अतीत होगा जो हमेशा जीवंत और स्थिर है: प्रेम का मेरा वादा, कुछ व्यावसायिक अनुबंध, स्वयं की एक निश्चित छवि जिसके प्रति मैं वफादार हूँ। फिर वह अस्पष्ट अतीत है जो अब मुझे प्रसन्न नहीं करता, लेकिन जिससे

मैं अब भी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ हूँ: उदाहरण के लिए, यह सूट जो मैंने पहना है, और जिसे मैंने उस समय खरीदा था जब मैं फैशनेबल दिखना चाहता था, वर्तमान में मुझे अत्यंत अप्रिय लगता है; अतः वह अतीत जिसमें मैंने सूट "चुना" था, वास्तव में मृत है। लेकिन दूसरी ओर, मेरी मितव्ययिता की वर्तमान योजना ऐसी है कि मुझे दूसरा खरीदने के बजाय यही सूट पहनना होगा। अतः यह एक ऐसे अतीत से संबंधित है जो मृत और जीवंत दोनों है, ठीक उन सामाजिक संस्थाओं की तरह जो एक निश्चित उद्देश्य के लिए बनाई गई थीं, लेकिन अब उस शासन से आगे निकल चुकी हैं जिसने उन्हें स्थापित किया था और पूरी तरह से अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग की जा रही हैं, कभी-कभी तो एक-दूसरे के विपरीत उद्देश्यों की भी। एक जीवंत अतीत, एक अर्ध-मृत अतीत, अवशेष, अस्पष्टताएँ, विसंगतियाँ: अतीत की इन परतों का समूह मेरी परियोजना की एकता द्वारा व्यवस्थित किया गया है। इसी परियोजना के माध्यम से संदर्भों की एक जटिल प्रणाली स्थापित होती है, जिसके कारण मेरे अतीत का प्रत्येक अंश एक पदानुक्रमित, बहुआयामी संगठन में प्रवेश करता है, जिसमें, कलाकृति की तरह, प्रत्येक आंशिक संरचना विभिन्न तरीकों से, कई अन्य आंशिक संरचनाओं और संपूर्ण संरचना को इंगित करती है।
इसके अलावा, हमारे अतीत के मूल्य, क्रम और स्वरूप के संबंध में यह निर्णय सामान्य रूप से ऐतिहासिक चुनाव ही है। यदि मानव समाज ऐतिहासिक हैं, तो यह केवल इस तथ्य से नहीं कि उनका अतीत है, बल्कि इस तथ्य से कि वे अतीत को एक स्मारक बनाकर उसे पुनर्जीवित करते हैं। जब अमेरिकी पूंजीवाद 1914-1918 के यूरोपीय युद्ध में इसलिए प्रवेश करता है क्योंकि उसे वहां लाभप्रद लेन-देन का अवसर दिखाई देता है, तो यह ऐतिहासिक नहीं है; यह केवल उपयोगितावादी है। लेकिन जब वह अपनी उपयोगितावादी परियोजनाओं के प्रकाश में, संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्रांस के साथ पूर्व संबंधों को पुनर्जीवित करता है और उन्हें अमेरिकियों द्वारा फ्रांस के प्रति सम्मान का ऋण चुकाने का अर्थ देता है, तब यह ऐतिहासिक बन जाता है। विशेष रूप से, यह प्रसिद्ध वाक्य: "लाफायेट, हम यहां हैं!" द्वारा स्वयं को ऐतिहासिक बनाता है। यह स्पष्ट है कि यदि अपने वास्तविक हितों के एक अलग दृष्टिकोण ने संयुक्त राज्य अमेरिका को जर्मनी के पक्ष में खड़ा कर दिया होता, तो उसके पास स्मारक स्तर पर पुनर्जीवित करने के लिए अतीत के तत्वों की कमी नहीं होती। उदाहरण के लिए, "रक्त संबंध" पर आधारित प्रचार की कल्पना की जा सकती है, जिसमें मुख्य रूप से उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका में हुए प्रवास में जर्मनों के अनुपात को ध्यान में रखा गया होगा। अतीत के इन संदर्भों को केवल प्रचार के प्रयास के रूप में देखना व्यर्थ होगा; वास्तव में, मूल तथ्य यह है कि ये जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं और इसलिए जनता एक ऐसी राजनीतिक परियोजना की मांग करती है जो उनके अतीत को स्पष्ट और न्यायसंगत ठहराए। इसके अलावा, यह स्पष्ट है कि अतीत का निर्माण इसी प्रकार किया जाता है। इस प्रकार एक साझा फ्रांसीसी-अमेरिकी अतीत का निर्माण हुआ है, जो एक ओर अमेरिकियों के महान आर्थिक हितों को दर्शाता है और दूसरी ओर दो लोकतांत्रिक पूंजीवादों की वास्तविक समानताओं को। इसी प्रकार, लगभग 1938

में हमने देखा कि कैसे एक नई पीढ़ी, जो उस समय की अंतरराष्ट्रीय घटनाओं से चिंतित थी, ने अचानक 1918-1938 की अवधि को "युद्धों के बीच की अवधि" कहकर एक नए दृष्टिकोण से प्रकाशित किया, जबकि वास्तव में 1939 में युद्ध शुरू भी नहीं हुआ था। अचानक विचाराधीन अवधि (1918-1938) को एक सीमित, अप्रचलित और अस्वीकृत रूप में प्रस्तुत किया गया, जबकि जिन लोगों ने इसे जिया था, उन्होंने अपने वर्तमान और निकट अतीत के साथ निरंतरता में भविष्य की ओर अग्रसर होकर इसे निरंतर और असीमित प्रगति की शुरुआत के रूप में अनुभव किया था। इसलिए, वास्तविक परियोजना ही यह निर्धारित करती है कि अतीत की एक परिभाषित अवधि वर्तमान के साथ निरंतरता में है या यह एक असंतुलित खंड है जिससे कोई उभर रहा है और जिसे दूर रखा गया है।
इस प्रकार, किसी विशेष घटना, उदाहरण के लिए बैस्टिल पर कब्ज़ा, को अंतिम अर्थ देने से पहले मानव इतिहास का समापन होना आवश्यक है। बेशक, कोई भी इस बात से इनकार नहीं करता कि 1789 में बैस्टिल पर कब्ज़ा कर लिया गया था; यह एक अटल तथ्य है। लेकिन क्या हमें इस घटना को एक निरर्थक विद्रोह, एक अधविखंडित किले के विरुद्ध जनता का आक्रोश, या एक ऐसी घटना के रूप में देखना चाहिए जिसे कन्वेंशन ने, अपने लिए एक गौरवशाली इतिहास रचने की उत्सुकता में, एक महिमामय कार्य में बदल दिया? या क्या हमें इसे जनशक्ति की पहली अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिए जिसके द्वारा जनता ने स्वयं को सशक्त बनाया, आत्मविश्वास प्राप्त किया और उन "अक्टूबर के अंतिम दिनों" में वर्साय पर चढ़ाई करने की स्थिति में आ गई? जो आज इस प्रश्न का उत्तर देना चाहता है, वह यह भूल जाता है कि इतिहासकार स्वयं ऐतिहासिक होता है; अर्थात्, वह अपने और अपने समाज की योजनाओं के प्रकाश में "इतिहास" को प्रकाशित करके स्वयं का इतिहासीकरण करता है। इसलिए यह कहना आवश्यक है कि सामाजिक अतीत का अर्थ निरंतर "अस्पष्ट" बना रहता है।
ठीक समाजों की तरह, मनुष्य का भी एक अनिश्चित अतीत होता है। अतीत पर लगातार सवाल उठते रहने की इसी प्रवृत्ति को विद्वानों ने बहुत पहले ही समझ लिया था और यूनानी नाटककारों ने इसे अपने नाटकों में बार-बार आने वाली इस कहावत से व्यक्त किया है: "मृत्यु से पहले किसी को सुखी नहीं कहा जा सकता।" स्वयं के लिए अस्तित्व का निरंतर इतिहास-निर्माण ही उसकी स्वतंत्रता की निरंतर पुष्टि है।
एक बार यह तथ्य स्थापित हो जाने पर, यह मानना आवश्यक नहीं है कि अतीत का "अस्थिर" स्वरूप स्वयं के लिए उसके पूर्व इतिहास के अस्पष्ट या अपूर्ण पहलू के रूप में प्रकट होता है। इसके विपरीत, स्वयं के चुनाव की तरह ही, जिसे वह अपने तरीके से व्यक्त करता है, अतीत को स्वयं द्वारा प्रत्येक क्षण स्पष्ट रूप से परिभाषित रूप में समझा जाता है। इसी प्रकार, टाइटस का मेहराब या ट्रोजन का स्तंभ, चाहे अन्यत्र उनके अर्थ का ऐतिहासिक विकास कुछ भी हो, उन्हें देखने वाले रोमन या पर्यटक को पूर्णतः वैयक्तिक वास्तविकताओं के रूप में दिखाई देते हैं। इसे प्रकाशित करने वाली परियोजना के प्रकाश में, अतीत पूर्णतः सम्मोहक रूप में प्रकट होता है। अतीत का अस्थिर स्वरूप किसी भी प्रकार से चमत्कारिक नहीं है; यह केवल अतीत

के निर्माण और स्वयं के स्तर पर उस प्रक्षेपी और प्रत्याशात्मक पहलू को व्यक्त करने का कार्य करता है जो मानव वास्तविकता में अतीत की ओर मुड़ने से पहले था। यह मानवीय वास्तविकता एक स्वतंत्र परियोजना थी जो अनिश्चित स्वतंत्रता से क्षीण होती चली गई, इसीलिए यह "अतीत में" स्वयं के लिए की आगे की परियोजनाओं की एक सहायक धारा बन जाती है। मानवीय वास्तविकता स्वयं को अतीत बनाने के लिए अभिशप्त है और इसलिए भविष्य से अपेक्षित पुष्टि की अनंत प्रतीक्षा में रहती है। इस प्रकार अतीत अनिश्चित काल तक अधर में लटका रहता है क्योंकि मानवीय वास्तविकता निरंतर अपेक्षा करती रही है और करती रहेगी। अपेक्षा और अधर केवल इस बात को और भी स्पष्ट रूप से पुष्ट करते हैं कि स्वतंत्रता ही उनका मूल तत्व है। यह कहना कि स्वयं के लिए का अतीत अधर में है, यह कहना कि उसका वर्तमान एक अपेक्षा है, यह कहना कि उसका भविष्य एक स्वतंत्र परियोजना है, या यह कहना कि वह कुछ भी नहीं हो सकता बिना कुछ हुए, या यह कहना कि वह समग्रता-विहीन है—ये सभी एक ही बात हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मेरे अतीत में कोई अनिश्चितता है जैसा कि वह मुझे वर्तमान में प्रकट होता है; इसका अर्थ केवल यह है कि मेरे अतीत के वास्तविक प्रकटीकरण के निर्णायक होने के अधिकार पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। लेकिन जिस प्रकार मेरा वर्तमान किसी पुष्टि या अस्वीकृति की अपेक्षा है, जिसे मैं पहले से नहीं देख सकता, उसी प्रकार अतीत, जो इस अपेक्षा से जुड़ा है, उतना ही सटीक है जितना कि यह अपेक्षा सटीक है। लेकिन अतीत का अर्थ, यद्यपि विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत है, पूरी तरह से इस अपेक्षा पर निर्भर करता है, जो स्वयं एक पूर्ण शून्यता पर निर्भर है; अर्थात्, एक स्वतंत्र परियोजना पर जो अभी अस्तित्व में नहीं है। इसलिए मेरा अतीत एक ठोस और सटीक प्रस्ताव है जो पुष्टि की प्रतीक्षा कर रहा है। यह निश्चित रूप से उन अर्थों में से एक है जिन्हें काफ्का की रचना 'द ट्रायल' उजागर करने का प्रयास करती है, यानी मानवीय वास्तविकता की वह विशेषता जो निरंतर अदालत में होने का संकेत देती है। स्वतंत्र होना ही अपनी स्वतंत्रता को निरंतर परीक्षण पर रखना है। परिणाम यह है कि अतीत, यद्यपि मेरी वास्तविक स्वतंत्र पसंद के दायरे में सीमित है, एक बार जब यह पसंद इसे निर्धारित कर लेती है, तो मेरी परियोजना की एक अभिन्न और आवश्यक शर्त बन जाता है।
एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो सकती है। पुनर्स्थापना काल के दौरान सेवानिवृत्त हुए एक सैनिक का अतीत रूस से वापसी के नायक के रूप में बीता है। और जो हमने अभी समझाया है, उससे हम यह समझ सकते हैं कि यह अतीत स्वयं भविष्य का एक स्वतंत्र चुनाव है। नेपोलियन के इस पुराने सैनिक ने लुई 18 वीं की सरकार और नई परंपराओं में शामिल न होकर, अंत तक सम्राट की विजयी वापसी की आशा रखकर, यहाँ तक कि इस वापसी को शीघ्र करने की साजिश रचकर और सक्रिय सैनिक के बजाय सेवानिवृत्त सैनिक बनना चुनकर, बेरेसीना के नायक के रूप में अपना अतीत चुना। कोई दूसरा सैनिक जिसने नई सरकार में शामिल होने की योजना बनाई होती, वह निश्चित रूप से ऐसा अतीत नहीं चुनता। लेकिन इसके विपरीत, यदि हम केवल एक सेवानिवृत्त सैनिक पर विचार करें, यदि वह लगभग अशोभनीय गरीबी में रहता है, यदि वह कड़वी सच्चाई से ग्रस्त है, और यदि वह

प्रतिकूलता और उपयोगिता के गुणांक भी शामिल हैं। निःसंदेह, अपने स्थान पर रहते हुए, मैं अपने पर्यावरण के प्रकटीकरण के लिए आधार तैयार करता हूँ, और स्थान बदलकर—एक ऐसी क्रिया जिसे, जैसा कि हम देख चुके हैं, मैं स्वतंत्र रूप से करता हूँ—मैं एक नए पर्यावरण के प्रकट होने का आधार प्रदान करता हूँ। लेकिन दूसरी ओर, पर्यावरण बदल सकता है या दूसरों द्वारा बदला जा सकता है, बिना मेरे किसी हस्तक्षेप के। निश्चित रूप से, बर्गसन ने 'मैटर एंड मेमोरी' में दिखाया है कि मेरे स्थान में एक छोटा सा परिवर्तन मेरे पर्यावरण में पूर्ण परिवर्तन लाता है, जबकि मेरे स्थान में परिवर्तन की बात करने के लिए मेरे पूरे पर्यावरण में एक साथ पूर्ण परिवर्तन की कल्पना करना आवश्यक होगा। अब पर्यावरण का यह व्यापक परिवर्तन अकल्पनीय है, लेकिन तथ्य यह है कि मेरे कार्यक्षेत्र में लगातार ऐसी वस्तुओं का प्रकट होना और गायब होना चलता रहता है जिनसे मेरा कोई संबंध नहीं है। सामान्य तौर पर, प्रतिकूलता और जटिलता के गुणधर्मों का गुणांक केवल मेरे स्थान पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि साधनों की विशिष्ट क्षमता पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार, जैसे ही मेरा अस्तित्व बनता है, मैं अपने से भिन्न अस्तित्वों के बीच आ जाता हूँ, जो मेरे चारों ओर, मेरे पक्ष में और मेरे विरुद्ध, अपनी क्षमताओं का विकास करते हैं। उदाहरण के लिए, मैं अपनी साइकिल से यथासंभव शीघ्र अगले शहर पहुँचना चाहता हूँ। इस योजना में मेरे व्यक्तिगत लक्ष्य, मेरे स्थान और शहर से मेरे स्थान की दूरी का महत्व, और लक्ष्य के अनुरूप साधनों (प्रयासों) का स्वतंत्र अनुकूलन शामिल है। लेकिन मेरी साइकिल का टायर पंचर हो जाता है, धूप बहुत तेज होती है, हवा मेरे विपरीत दिशा से बह रही होती है, आदि - ये सभी ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी मैंने पहले से कल्पना नहीं की थी: ये सब परिवेश का हिस्सा हैं। निश्चित रूप से, ये सब मेरी मुख्य योजना में और उसके माध्यम से प्रकट होते हैं; इसी योजना के माध्यम से हवा अनुकूल या प्रतिकूल प्रतीत हो सकती है, इसी योजना के माध्यम से सूर्य की गर्मी शुभ या प्रतिकूल साबित हो सकती है। इन निरंतर "घटनाओं" का संश्लेषित संगठन उस एकता का निर्माण करता है जिसे जर्मन लोग मेरा उमवेल्ट कहते हैं, और यह उमवेल्ट केवल एक स्वतंत्र परियोजना की सीमाओं के भीतर ही प्रकट हो सकता है - अर्थात्, उन लक्ष्यों के चुनाव के भीतर जो मैं हूं।
यदि हमारा वर्णन यहीं समाप्त हो जाता, तो यह बहुत सरल होता। यदि यह सत्य है कि मेरे परिवेश की प्रत्येक वस्तु किसी पूर्व-प्रकट स्थिति में प्रकट होती है और इन वस्तुओं का योग अपने आप में एक स्थिति का निर्माण नहीं कर सकता, यदि यह सत्य है कि प्रत्येक उपकरण संसार की किसी स्थिति के आधार पर विकसित होता है, तब भी यह तथ्य बना रहता है कि किसी अन्य उपकरण का अचानक परिवर्तन या उसका अचानक प्रकट होना स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन ला सकता है। मान लीजिए कि मेरे टायर में पंचर हो जाता है, और अगले शहर से मेरी दूरी अचानक बदल जाती है; अब यह दूरी कदमों में गिनी जाएगी, पहियों के चक्करों में नहीं। इस तथ्य से मुझे यह निश्चितता प्राप्त हो सकती है कि जिस व्यक्ति से मैं मिलना चाहता हूँ, वह मेरे उसके घर पहुँचने तक ट्रेन पकड़ चुका होगा, और यह निश्चितता मेरे अन्य निर्णयों को प्रभावित कर सकती है

(अपने प्रस्थान बिंदु पर लौटना, टेलीग्राम भेजना आदि)। उदाहरण के लिए, यह भी संभव है कि इस व्यक्ति के साथ प्रस्तावित सौदा पूरा न कर पाने के कारण, मैं किसी और के पास लौट जाऊँ और दूसरा अनुबंध कर लूँ। शायद मैं पूरा प्रयास ही छोड़ दूँ। क्या मैं अपने प्रोजेक्ट को पूरी तरह असफल मान लूँ? इस स्थिति में मैं कहूँगा कि मैं पियरे को समय पर सूचित नहीं कर पाया, उससे समझौता नहीं कर पाया, इत्यादि। क्या मेरी इस लाचारी की स्पष्ट स्वीकृति मेरी स्वतंत्रता की सीमाओं की सबसे बड़ी स्वीकारोक्ति नहीं है? बेशक, जैसा कि हमने देखा है, चुनने की मेरी स्वतंत्रता को प्राप्त करने की मेरी स्वतंत्रता के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन क्या यहाँ मेरा चुनाव ही मायने नहीं रखता, क्योंकि पर्यावरण की प्रतिकूलता ही कई मामलों में मेरे प्रोजेक्ट में बदलाव का कारण बनती है?
यहां विचाराधीन मूल प्रश्न पर विचार करने से पहले, हमारे लिए प्रश्न को स्पष्ट करना और उसकी सीमा निर्धारित करना उचित होगा। यदि मेरे परिवेश में होने वाले परिवर्तन मेरी योजनाओं में बदलाव ला सकते हैं, तो उन्हें दो शर्तों के अधीन होना चाहिए। पहला, वे स्वयं मेरे मुख्य उद्देश्य को छोड़ने का कारण नहीं बन सकते, जो इसके विपरीत, उनके महत्व को निर्धारित करता है। वास्तव में, यदि उन्हें किसी परियोजना को छोड़ने का कारण माना जाता है, तो यह केवल एक अधिक मूलभूत परियोजना के संदर्भ में ही संभव है; अन्यथा वे कारण नहीं हो सकते, क्योंकि कारण को प्रेरक चेतना द्वारा समझा जाता है, जो स्वयं एक लक्ष्य का स्वतंत्र चुनाव है। यदि आकाश को ढकने वाले बादल मुझे सैर की योजना छोड़ने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, तो ऐसा इसलिए है क्योंकि उन्हें एक स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है जिसमें सैर का मूल्य आकाश की एक निश्चित स्थिति से जुड़ा होता है, जो चरण दर चरण सामान्य रूप से सैर के मूल्य, प्रकृति के साथ मेरे संबंध और दुनिया के साथ मेरे संबंधों के समूह में इस संबंध के स्थान को संदर्भित करता है। दूसरे, किसी भी परिस्थिति में प्रकट या लुप्त हुई वस्तु किसी परियोजना के आंशिक त्याग का कारण नहीं बन सकती। इस वस्तु को मूल स्थिति में एक कमी के रूप में समझना आवश्यक है; इसलिए यह आवश्यक है कि इसके प्रकट या लुप्त होने की वास्तविकता को समाप्त कर दिया जाए, कि मैं "इसके संबंध में" एक अलगाव का अनुभव करूं, और फलस्वरूप मैं स्वयं इसकी उपस्थिति में स्वयं को निर्धारित करूं। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि यातना देने वाले के लाल गर्म चिमटे भी हमें स्वतंत्र होने से मुक्त नहीं करते। इसका अर्थ यह नहीं है कि कठिनाई से हमेशा बचा जा सकता है, नुकसान की भरपाई की जा सकती है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि किसी निश्चित दिशा में आगे बढ़ने की असंभवता को स्वयं ही स्थापित किया जाना चाहिए। यह असंभवता हमारे स्वतंत्र त्याग के माध्यम से उत्पन्न होती है; हमारा त्याग व्यवहार को बनाए रखने की असंभवता से प्रेरित नहीं होता।
एक बार जब यह तथ्य स्थापित हो जाता है, तो हमें यह समझना होगा कि यहाँ दी गई सत्ता की उपस्थिति, हमारी स्वतंत्रता में बाधा बनने के बजाय, स्वतंत्रता के अस्तित्व की ही आवश्यकता है। यह स्वतंत्रता एक ऐसी स्वतंत्रता है जो मैं हूँ। लेकिन मैं क्या हूँ, यदि स्वयं-स्वयं का एक निश्चित आंतरिक निषेध

नहीं? इस स्वयं-स्वयं के बिना, जिसका मैं खंडन करता हूँ, मैं शून्यता में विलीन हो जाऊँगा। अपने परिचय में हमने बताया था कि चेतना स्वयं-स्वयं के अस्तित्व का “सत्तामीमांसीय प्रमाण” हो सकती है। वास्तव में, यदि किसी चीज़ की चेतना है, तो शुरुआत में यह आवश्यक है कि उस “चीज़” का एक वास्तविक अस्तित्व हो—अर्थात्, एक ऐसा अस्तित्व जो चेतना के सापेक्ष न हो। लेकिन हम अभी देखते हैं कि इस प्रमाण का व्यापक अर्थ है: यदि मुझे कुछ भी करने में सक्षम होना है—कुछ भी—तो यह आवश्यक है कि मैं अपना कार्य उन सत्ताओं पर करूँ जिनका अस्तित्व सामान्यतः मेरे अस्तित्व से स्वतंत्र है और विशेषतः मेरे कार्य से स्वतंत्र है। मेरा कार्य मुझे इस दूसरे अस्तित्व को प्रकट कर सकता है, लेकिन इसे नियंत्रित नहीं करता। स्वतंत्र होना परिवर्तन के लिए स्वतंत्र होना है। इसलिए स्वतंत्रता का तात्पर्य परिवर्तन योग्य वातावरण के अस्तित्व से है: बाधाओं को दूर करना, उपकरणों का उपयोग करना। निःसंदेह, स्वतंत्रता ही उन्हें बाधाओं के रूप में प्रकट करती है, परन्तु अपनी स्वतंत्र इच्छा से वह केवल उनके अस्तित्व के अर्थ की व्याख्या कर सकती है। स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि वे बस मौजूद हों, पूर्णतः निर्जीव हों। स्वतंत्र होना, करने के लिए स्वतंत्र होना है, और संसार में स्वतंत्र होना है। परन्तु यदि ऐसा है, तो स्वतंत्रता, स्वयं को परिवर्तन की स्वतंत्रता के रूप में पहचान कर, अपने मूल उद्देश्य में उस दिए गए अस्तित्व को पहचानती है और परोक्ष रूप से पूर्वानुमेय बनाती है जिस पर वह प्रयोग की जाती है। आंतरिक निषेध स्वयं को स्वतंत्र के रूप में प्रकट करता है, और यही स्वतंत्रता स्वयं में एक वस्तु के रूप में उसका चरित्र निर्मित करती है। परन्तु परिणामस्वरूप, स्वतंत्रता अपने अस्तित्व के सरल उभार से यह तथ्य स्थापित करती है कि उसका संबंध स्वयं से भिन्न किसी अन्य वस्तु से है। करना ठीक उसी को बदलना है जिसे अस्तित्व में रहने के लिए स्वयं से भिन्न किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है; इसका अर्थ है उस पर क्रिया करना जो सिद्धांततः क्रिया से उदासीन है, जो क्रिया के बिना भी अपना अस्तित्व या विकास जारी रख सकता है। यदि स्वयं में निहित इस उदासीनता के बिना, कर्म की अवधारणा ही अर्थहीन हो जाएगी (जैसा कि हमने इच्छा और निर्णय के संदर्भ में पहले दिखाया है), और परिणामस्वरूप स्वतंत्रता स्वयं ही ध्वस्त हो जाएगी। इस प्रकार, सामान्य रूप से स्वतंत्रता की मूल अवधारणा एक ऐसा चुनाव है जिसमें किसी न किसी प्रकार के प्रतिरोध की प्रत्याशा और स्वीकृति निहित है। स्वतंत्रता न केवल वह दायरा है जिसके भीतर अन्यथा उदासीन निहित अवधारणाएँ प्रतिरोधों के रूप में प्रकट होंगी, बल्कि स्वतंत्रता की मूल अवधारणा ही एक प्रतिरोधक संसार में संसार के प्रतिरोधों पर विजय प्राप्त करके कर्म करना है।
प्रत्येक स्वतंत्र परियोजना स्वयं को प्रस्तुत करते समय अनिश्चितता की गुंजाइश रखती है, क्योंकि चीजों की स्वतंत्रता ही वह आधार है जिस पर स्वतंत्रता का निर्माण होता है। जैसे ही मैं पास के गाँव में पियरे को खोजने जाने की कल्पना करता हूँ, टायर पंचर, तेज़ हवा, और हज़ारो संभावित और अप्रत्याशित दुर्घटनाएँ मेरी योजना में ही समाहित हो जाती हैं और उसका

के रूप में प्रकाशित करती है। स्वतंत्रता स्वयं को प्रतिकूलता प्रदान करती है (अर्थात्, यह उन्हें एक ऐसा अर्थ प्रदान करती है जो उन्हें वस्तु बनाता है), परन्तु यह दिए गए को मानकर ही सार्थक हो सकता है; अर्थात्, स्वतंत्रता इस निर्वासन को पार करने के लिए स्वयं में निहित उदासीनता के बीच अपने निर्वासन को स्वीकार करती है। इसके विपरीत, जो आकस्मिक दिया गया है, वह इस प्राथमिक अर्थ का भी समर्थन कर सकता है, जो अन्य सभी का आधार है, यह "उदासीनता के बीच निर्वासन", केवल स्वयं के लिए स्वतंत्र रूप से स्वीकार करने के माध्यम से ही संभव है।
वास्तव में, यही स्थिति की मूल संरचना है; यह यहाँ अपनी पूरी स्पष्टता के साथ प्रकट होती है। स्वतंत्रता अपने उद्देश्यों की ओर दिए गए को पार करके ही दिए गए को यहाँ इस रूप में अस्तित्व में लाती है (पहले न तो यह था, न वह था, न ही यहाँ था) और इस प्रकार नामित दिया गया दिया किसी भी प्रकार से निर्मित नहीं होता; यह एक स्थूल अस्तित्व है, जिसे पार करने के लिए ग्रहण किया गया है। लेकिन साथ ही, स्वतंत्रता इस दिए गए को पार करते हुए स्वयं को दिए गए के इस पार के रूप में चुनती है। स्वतंत्रता किसी भी प्रकार के दिए गए को पार करने का मात्र एक रूप नहीं है। स्थूल दिए गए को ग्रहण करके और उसे अर्थ प्रदान करके, स्वतंत्रता ने अचानक स्वयं को चुन लिया है; इसका उद्देश्य ठीक इसी दिए गए को बदलना है, ठीक उसी प्रकार जैसे दिया गया चुने गए उद्देश्य के प्रकाश में इस रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार स्वतंत्रता का उभार दिए गए के पार एक उद्देश्य का क्रिस्टलीकरण और एक उद्देश्य के प्रकाश में दिए गए का प्रकटीकरण है; ये दोनों संरचनाएँ समवर्ती और अविभाज्य हैं। हम बाद में देखेंगे कि वास्तव में चुने गए उद्देश्यों के सार्वभौमिक मूल्यों को केवल विश्लेषण द्वारा ही अलग किया जा सकता है; प्रत्येक विकल्प किसी ठोस स्थिति में होने वाले ठोस परिवर्तन का विकल्प है। प्रत्येक परिस्थिति ठोस है।
इस प्रकार, चुनी गई नियति से चीजों की विपत्ति और उनकी संभावनाओं का सामान्यतः प्रकाश उठता है। परन्तु नियति केवल उसी के लिए होती है जो स्वयं को उदासीनता के बीच परित्यक्त मान लेती है। इस धारणा से वह इस आकस्मिक, निर्मम परित्याग में अर्थ के सिवा कुछ भी नया नहीं जोड़ती। वह इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि आगे परित्याग होता है, और यह परित्याग एक परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है।
हमने भाग II, अध्याय IV में देखा है कि स्व-उत्थान द्वारा 'स्वयं के लिए' का उद्भव 'स्वयं के भीतर' को संसार में लाता है; और अधिक व्यापक रूप से, शून्यता के माध्यम से ही 'स्वयं का अस्तित्व' होता है—अर्थात वस्तुएँ। हमने यह भी देखा है कि 'स्वयं के भीतर' वास्तविकता अपने गुणों के साथ, बिना किसी विकृति या जोड़ के, हमारे निकट ही विद्यमान है। हम इससे केवल उन विभिन्न प्रकार के शून्यीकरणों द्वारा विमुख हैं जिन्हें हम अपने उद्भव द्वारा ही स्थापित करते हैं: संसार, स्थान और समय, संभाव्यताएँ। हमने विशेष रूप से देखा है कि यद्यपि हम उपस्थितियों से घिरे हुए हैं (यह गिलास, यह स्याहीदानी, यह मेज, आदि), ये उपस्थितियाँ अपने आप में अबोधगम्य हैं,

क्योंकि वे अपने अंश को केवल हमारे द्वारा प्रक्षेपित किसी संकेत या क्रिया के बाद ही प्रकट करती हैं—अर्थात भविष्य में। वर्तमान में हम इस स्थिति का अर्थ समझ सकते हैं: हम वस्तुओं से केवल अपनी स्वतंत्रता द्वारा ही विमुख हैं; हमारी स्वतंत्रता ही इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि वस्तुएँ अपनी समस्त उदासीनता, अनिश्चितता और प्रतिकूलता के साथ विद्यमान हैं, और इस तथ्य के लिए भी कि हम अनिवार्य रूप से उनसे विमुख हैं; क्योंकि शून्यता के आधार पर ही वे प्रकट होती हैं और एक दूसरे से बंधी हुई दिखाई देती हैं। इस प्रकार मेरी स्वतंत्रता की परियोजना वस्तुओं में कुछ भी नहीं जोड़ती: यह वस्तुओं के अस्तित्व का कारण बनती है; अर्थात्, ठीक उसी प्रकार की वास्तविकताएँ जो प्रतिकूलता के गुणांक और उपयोगी साधन से युक्त हैं। स्वतंत्रता इन वस्तुओं को अनुभव में स्वयं को प्रकट करने का कारण बनती है—अर्थात्, समयबद्धता की प्रक्रिया के दौरान उन्हें क्रमिक रूप से संसार के आधार पर ऊपर उठाती है। अंततः हमारी स्वतंत्रता इन वस्तुओं को पहुँच से परे, स्वतंत्र, मुझसे उस शून्यता द्वारा विमुख होकर अलग होने का कारण बनती है जिसे मैं गुप्त रखता हूँ और जो मैं स्वयं हूँ। क्योंकि स्वतंत्रता स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है—अर्थात्, स्वयं को स्वतंत्रता के रूप में नहीं चुन सकती—इसलिए वस्तुएँ विद्यमान हैं; अर्थात्, आकस्मिकता की एक परिपूर्णता जिसके केंद्र में वह स्वयं आकस्मिकता है। इसी आकस्मिकता को मानकर और उससे आगे बढ़कर ही परिस्थिति में चुनाव और व्यवस्था संभव हो पाती है; और स्वतंत्रता की आकस्मिकता और स्वयं की आकस्मिकता ही परिस्थिति में वातावरण की अनिश्चितता और प्रतिकूलता के द्वारा व्यक्त होती है। इस प्रकार मैं अपनी परिस्थिति के लिए पूर्णतः स्वतंत्र और पूर्णतः उत्तरदायी हूँ। परन्तु मैं परिस्थिति के बिना कभी स्वतंत्र नहीं होता।
डी. मेरे साथी
अपने साथी मनुष्यों से घिरे संसार में जीना केवल हर मोड़ पर दूसरे से सामना करना ही नहीं है; बल्कि स्वयं को एक ऐसे संसार में संलग्न पाना भी है जहाँ साधन-संबंधी जटिलताओं का एक ऐसा अर्थ हो सकता है जो मेरे स्वतंत्र दृष्टिकोण ने उन्हें पहले नहीं दिया है। इसका अर्थ यह भी है कि अर्थ से परिपूर्ण इस संसार के बीच में मुझे एक ऐसा अर्थ मिलता है जो मेरा अपना है और जिसे मैंने स्वयं को नहीं दिया है, जिसे मैं पाता हूँ कि मैं "पहले से ही धारण करता हूँ"। इस प्रकार, जब हम यह प्रश्न पूछते हैं कि एक ऐसे संसार में विद्यमान होने का मूल और आकस्मिक तथ्य, जिसमें "अन्य" भी मौजूद हैं, हमारी स्थिति के लिए क्या अर्थ रखता है, तो इस प्रकार निरूपित समस्या यह माँग करती है कि हम वास्तविकता की तीन परतों का क्रमिक रूप से अध्ययन करें जो मेरी ठोस स्थिति का निर्माण करती हैं: वे साधन जो पहले से ही अर्थपूर्ण हैं (एक स्टेशन, एक रेलवे चिह्न, एक कलाकृति, एक लामबंदी सूचना), वह अर्थ जिसे मैं पहले से ही अपना पाता हूँ (मेरी राष्ट्रीयता, मेरी जाति, मेरा शारीरिक स्वरूप), और अंत में दूसरा, एक संदर्भ केंद्र के रूप में, जिससे ये अर्थ संबंधित हैं।

यदि मैं एक ऐसे संसार का हिस्सा होता जिसके अर्थ मेरे अपने उद्देश्यों के प्रकाश में ही प्रकट होते, तो सब कुछ बहुत सरल होता। इस स्थिति में, मैं अपने स्वयं के चयन की सीमाओं के भीतर वस्तुओं को उपकरण या उपकरणिक समूहों के रूप में उपयोग करता; यही चयन पर्वत को एक ऐसी बाधा बनाता जिसे पार करना कठिन होता या एक ऐसा स्थान जहाँ से परिदृश्य का अच्छा दृश्य प्राप्त होता, इत्यादि; यह प्रश्न ही नहीं उठता कि इस पर्वत का स्वयं में क्या अर्थ हो सकता है, क्योंकि मैं ही वह होता जिसके द्वारा अर्थ स्वयं में वास्तविकता को जन्म देते। यदि मैं बिना दरवाजों या खिड़कियों वाला एक एकात्मक इकाई होता और केवल किसी न किसी रूप में यह जानता कि अन्य एकात्मक इकाइयाँ विद्यमान हैं या संभव हैं, और उनमें से प्रत्येक मेरे द्वारा देखी जाने वाली वस्तुओं को नए अर्थ प्रदान करती है, तो समस्या और भी सरल हो जाती। इस स्थिति में, जिस पर दार्शनिकों ने अक्सर अपनी खोज को सीमित कर लिया है, मेरे लिए अन्य अर्थों को संभव मानना ही पर्याप्त होता, और अंततः चेतनाओं की बहुलता के अनुरूप अर्थों की बहुलता मेरे लिए स्वयं के लिए एक और विकल्प चुनने की हमेशा खुली संभावना के साथ बहुत सरलता से मेल खाती। लेकिन हमने देखा है कि यह एकात्मक अवधारणा एक छिपे हुए आत्मवाद को छुपाती है, क्योंकि यह उन अनेक अर्थों को भ्रमित कर देती है जिन्हें मैं वास्तविकता से जोड़ सकता हूँ और उन अनेक अर्थपूर्ण प्रणालियों को भी, जिनमें से प्रत्येक एक ऐसी चेतना को संदर्भित करती है जो मैं नहीं हूँ। इसके अलावा, मूर्त अनुभव के स्तर पर यह एकात्मक वर्णन अपर्याप्त सिद्ध होता है। वास्तव में, "मेरी" दुनिया में अनेक संभावित अर्थों के अलावा भी कुछ है; वहाँ वस्तुनिष्ठ अर्थ मौजूद हैं जो मुझे इस प्रकार दिए गए हैं जैसे कि मैंने उन्हें प्रकट नहीं किया हो। मैं, जिसके द्वारा वस्तुओं को अर्थ दिए जाते हैं, स्वयं को एक पूर्व-अर्थपूर्ण दुनिया में संलग्न पाता हूँ जो मुझे ऐसे अर्थों को प्रतिबिंबित करती है जिन्हें मैंने उसमें नहीं डाला है।
उदाहरण के लिए, शहर में रहने पर मुझे अनगिनत अर्थ मिलते हैं जो मेरी पसंद से परे होते हैं: सड़कें, घर, दुकानें, रेलगाड़ियाँ और बसें, दिशासूचक, चेतावनी ध्वनियाँ, रेडियो पर संगीत आदि। एकांत में, निश्चित रूप से, मुझे एक निर्जीव और अप्रत्याशित अस्तित्व का अनुभव होता है—उदाहरण के लिए, यह चट्टान—और संक्षेप में, मैं केवल एक चट्टान के अस्तित्व तक ही सीमित रहता हूँ; यानी, यहाँ केवल एक अस्तित्व होना चाहिए और इसके बाहर कुछ भी नहीं। फिर भी, मैं इसे "चढ़ने योग्य", "बचने योग्य", "चिंतन योग्य" आदि अर्थ देता हूँ। जब सड़क के मोड़ पर मुझे कोई इमारत दिखाई देती है, तो यह केवल एक निर्जीव अस्तित्व नहीं है जिसे मैं दुनिया में प्रकट करता हूँ; मैं केवल किसी विशेष अर्थ से "यह" को अस्तित्व में नहीं लाता; बल्कि उस वस्तु का अर्थ जो प्रकट होता है, वह मेरा विरोध करता है और मुझसे स्वतंत्र रहता है। मुझे पता चलता है कि वह संपत्ति एक अपार्टमेंट है, या गैस कंपनी के कार्यालयों का समूह है, या एक जेल है, आदि। यहाँ अर्थ आकस्मिक है, मेरी पसंद से स्वतंत्र; इसे उसी उदासीनता के साथ प्रस्तुत किया जाता है जैसे वास्तविकता स्वयं में होती है; इसे एक वस्तु बना दिया जाता है और इसे स्वयं

में मौजूद गुण से अलग नहीं किया जाता। इसी प्रकार, चीजों में प्रतिकूलता का गुणांक मेरे द्वारा अनुभव किए जाने से पहले ही मुझे प्रकट हो जाता है। कई नोटिस मुझे सतर्क कर देते हैं: "गति कम करें। खतरनाक मोड़," "धीरे चलें। स्कूल," "खतरा," "100 फीट आगे संकरा पुल," आदि। लेकिन ये अर्थ, यद्यपि वस्तुओं पर गहराई से अंकित हैं और उनकी उदासीन बाह्यता में भागीदार हैं— कम से कम दिखने में—फिर भी अपनाए जाने वाले आचरण के संकेत हैं, और वे सीधे मुझसे संबंधित हैं। मैं बताए गए रास्तों से सड़क पार करूँगा। मैं इस विशेष दुकान में इस विशेष उपकरण को खरीदने जाऊँगा, और खरीदारों को इसके उपयोग के निर्देशों वाला एक पृष्ठ दिया जाता है। बाद में मैं इस उपकरण, उदाहरण के लिए एक कलम का उपयोग, निर्धारित परिस्थितियों में इस या उस मुद्रित प्रपत्र को भरने के लिए करूंगा।
क्या मुझे इन सबमें अपनी स्वतंत्रता पर कड़ी पाबंदियाँ नहीं मिलेंगी? यदि मैं दूसरों द्वारा दिए गए निर्देशों का अक्षरशः पालन नहीं करता, तो मैं भटक जाऊँगा, गलत गली में चला जाऊँगा, मेरी ट्रेन छूट जाएगी, इत्यादि। इसके अलावा, ये सूचनाएँ अक्सर आदेशात्मक होती हैं: "यहाँ से प्रवेश करें," "यहाँ से बाहर निकलें।" दरवाजों पर लिखे "प्रवेश" और "निकास" शब्दों का यही अर्थ है। मैं आज्ञा मानता हूँ। ये मेरे द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिकूलताओं को और बढ़ा देते हैं, एक विशुद्ध मानवीय प्रतिकूलता। इसके अलावा, यदि मैं इस व्यवस्था के अधीन हो जाता हूँ, तो मैं इस पर निर्भर हो जाता हूँ। इससे मिलने वाले लाभ समाप्त हो सकते हैं; चाहे गृहयुद्ध हो, युद्ध, और हमेशा सबसे आवश्यक वस्तुएँ ही दुर्लभ हो जाती हैं, बिना मेरी किसी भूमिका के। मैं बेदखल हो जाता हूँ, मेरी योजनाएँ रुक जाती हैं, मुझे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक चीज़ों से वंचित कर दिया जाता है। विशेष रूप से हमने देखा है कि निर्देश, आदेश, निषेध, बिलबोर्ड मुझे संबोधित किए जाते हैं, मानो मैं कोई आम इंसान हूँ; जिस हद तक मैं उनका पालन करता हूँ, जिस हद तक मैं उनके अनुरूप चलता हूँ, मैं उस मानवीय वास्तविकता के लक्ष्यों के आगे झुक जाता हूँ जो कोई भी हो सकता है और मैं उन्हें किसी भी तकनीक से प्राप्त करता हूँ। इसलिए मेरा अस्तित्व ही बदल जाता है क्योंकि मैं अपने चुने हुए लक्ष्य और उन्हें प्राप्त करने वाली तकनीकें हूँ—चाहे कोई भी लक्ष्य हो, कोई भी तकनीक हो, कोई भी मानवीय वास्तविकता हो। साथ ही, चूंकि दुनिया केवल मेरे द्वारा उपयोग की जाने वाली तकनीकों के माध्यम से ही प्रकट होती है, इसलिए दुनिया भी बदल जाती है। यह दुनिया, जिसे मैं साइकिल, कार, ट्रेन के उपयोग के माध्यम से देखता हूँ ताकि मैं दुनिया का भ्रमण कर सकूँ, मुझे एक ऐसा चेहरा दिखाती है जो मेरे द्वारा उपयोग किए जाने वाले साधनों से पूरी तरह संबंधित है; इसलिए यह वह चेहरा है जो दुनिया हर किसी को दिखाती है। जाहिर है, कोई कहेगा, कि मेरी स्वतंत्रता हर तरफ से मुझसे दूर होती जा रही है; अब मेरे सहज चुनाव के इर्द-गिर्द एक सार्थक दुनिया के संगठन जैसी कोई स्थिति नहीं है; एक ऐसी स्थिति है जो मुझ पर थोपी गई है। अब हमें इसी समस्या का विश्लेषण करना होगा।

आदि से हमारा जुड़ाव है, इस अर्थ में कि वाणी का अर्थ भाषा है और भाषा का अर्थ बोली, बोलचाल की भाषा, तकनीकी शब्दावली आदि है। और इसके विपरीत, बोली का सत्य ही भाषा है, भाषा का सत्य ही वाणी है। इसका अर्थ यह है कि वे ठोस तकनीकें जिनके द्वारा हम परिवार और स्थानीयता से अपने जुड़ाव को प्रकट करते हैं, हमें अधिक अमूर्त और अधिक सामान्य संरचनाओं की ओर ले जाती हैं जो इसके अर्थ और सार का निर्माण करती हैं; ये और भी अधिक सामान्य संरचनाओं की ओर ले जाती हैं जब तक कि हम किसी भी तकनीक के सार्वभौमिक और पूर्णतः सरल सार तक नहीं पहुँच जाते जिसके द्वारा कोई भी प्राणी संसार को अपनाता है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी होने का अर्थ केवल सैवॉयर्ड होना है। लेकिन सैवॉयर्ड होने का मतलब केवल सैवॉय की ऊँची घाटियों में निवास करना ही नहीं है; बल्कि, अन्य हजारों चीजों के साथ-साथ, सर्दियों में स्कीइंग करना और स्की को परिवहन के साधन के रूप में उपयोग करना भी है। और वास्तव में, इसका अर्थ है फ्रांसीसी पद्धति के अनुसार स्कीइंग करना, न कि अर्लबर्ग या नॉर्वे की पद्धति के अनुसार। लेकिन चूंकि पहाड़ और बर्फीली ढलानों को केवल एक तकनीक के माध्यम से ही समझा जा सकता है, इसलिए स्की ढलानों के फ्रांसीसी अर्थ को खोजना ही महत्वपूर्ण है। वास्तव में, चाहे कोई नॉर्वेजियन पद्धति का उपयोग करे, जो कोमल ढलानों के लिए बेहतर है, या फ्रांसीसी पद्धति का, जो खड़ी ढलानों के लिए बेहतर है, वही ढलान खड़ी या कम खड़ी दिखाई देगी, ठीक उसी तरह जैसे साइकिल चालक को चढ़ाई कम या ज्यादा खड़ी दिखाई देती है, इस बात पर निर्भर करता है कि वह "न्यूट्रल या लो गियर" में है या नहीं। इस प्रकार, फ्रांसीसी स्कीयर स्की मैदानों से नीचे उतरने के लिए एक फ्रांसीसी "गियर" का उपयोग करता है, और यह "गियर" उसे हर जगह एक विशेष प्रकार की ढलान का एहसास कराता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्विस या बवेरियन आल्प्स, टेलीमार्क या जुरा पर्वतमालाएँ उसे हमेशा एक अर्थ, कठिनाइयाँ, एक साधनिक जटिलता या विपत्ति की एक ऐसी जटिलता प्रदान करेंगी जो विशुद्ध रूप से फ्रांसीसी हैं। इसी प्रकार यह दिखाना आसान होगा कि श्रमिक वर्ग को परिभाषित करने के अधिकांश प्रयास उत्पादन, उपभोग या हीनता की भावना से उत्पन्न एक निश्चित प्रकार के विश्वदृष्टिकोण (मार्क्स-हाल्बवाक्स-डी मैन) को मानदंड के रूप में लेने के बराबर हैं; अर्थात्, सभी मामलों में दुनिया के विस्तार या विनियोग के लिए कुछ तकनीकें हैं जिनके माध्यम से हमें वह मिलता है जिसे हम "सर्वहारा चेहरा" कह सकते हैं, जिसमें उसके हिंसक विरोध, उसकी विशाल एकसमान और निर्जन भीड़, उसके छाया क्षेत्र और उसके प्रकाश के किनारे, और उसे प्रकाशित करने वाले सरल और तात्कालिक लक्ष्य शामिल हैं।
अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि किसी विशेष वर्ग या राष्ट्र से मेरा संबंध मेरे स्वयं के अस्तित्व की एक मौलिक संरचना के रूप में मेरी वास्तविकता से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी मेरा वास्तविक अस्तित्व—अर्थात् मेरा जन्म और मेरा स्थान—कुछ तकनीकों के माध्यम से संसार और स्वयं के प्रति मेरी समझ को समाहित करता है। अब ये तकनीकें, जिन्हें मैंने नहीं चुना है, संसार को उसके अर्थ प्रदान करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अब यह मैं नहीं हूँ जो

दृष्टिकोण से देखा जाए जिसने अभिव्यक्त की जाने वाली वस्तु को देखा और जिसने इस क्रिया के तत्वों पर विचार किए बिना ही, पदनाम या पुनर्निर्माण की क्रिया करके सबसे महत्वपूर्ण बातों पर पहले ध्यान दिया, तो वे अपना सामान्य और पारंपरिक स्वरूप खो देते हैं। यदि यह सत्य है, तो न तो शब्द, न ही वाक्य रचना, और न ही "तैयार वाक्य" उनके उपयोग से पहले अस्तित्व में होते हैं। चूंकि शाब्दिक एकता ही सार्थक वाक्य है, इसलिए वाक्य रचना एक रचनात्मक क्रिया है जिसकी कल्पना केवल एक ऐसी पारलौकिकता द्वारा की जाती है जो दिए गए को पार कर जाती है और उसे समाप्त कर देती है। किसी शब्द को वाक्य के संदर्भ में समझना, किसी भी दी गई बात को परिस्थिति के संदर्भ में समझना और परिस्थिति को उसके मूल उद्देश्य के संदर्भ में समझना है।
मेरे साथी द्वारा बोले गए वाक्य को समझना वास्तव में उसके "कथन" को समझना है—अर्थात, उसकी दिव्य दृष्टि का समर्थन करना, उसके साथ संभावनाओं और लक्ष्यों की ओर अग्रसर होना, और फिर संगठित साधनों के समूह में लौटकर उन्हें उनके कार्य और उद्देश्य के अनुसार समझना। इसके अलावा, बोली जाने वाली भाषा की व्याख्या हमेशा परिस्थिति के संदर्भ में की जाती है। मौसम, समय, स्थान, वातावरण, शहर, प्रांत या देश की स्थिति का उल्लेख शब्द से पहले ही कर दिया जाता है। मेरे लिए अखबार पढ़ना और पियरे का स्वस्थ चेहरा और चिंतित भाव देखना ही काफी है, ताकि मैं उस "हालात इतने अच्छे नहीं हैं" का अर्थ समझ सकूँ, जिसके साथ उसने आज सुबह मेरा अभिवादन किया। यह उसका स्वास्थ्य नहीं है जो "इतना अच्छा नहीं है" क्योंकि उसका चेहरा गुलाबी है, न ही उसका व्यवसाय या उसका घर; यह हमारे शहर या हमारे देश की स्थिति है। मैं यह पहले से ही जानता था। उनसे "कैसा चल रहा है?" पूछते ही, मैं उनके जवाब की व्याख्या की रूपरेखा तैयार कर रहा था; मैं पहले से ही क्षितिज के चारों कोनों में पहुँच गया था, और वहाँ से पियरे के पास लौटकर उन्हें समझने के लिए तैयार था। बातचीत सुनना "बातचीत करने" जैसा है, न केवल इसलिए कि हम व्याख्या करने के लिए नकल करते हैं, बल्कि इसलिए भी कि हम मूल रूप से संभावनाओं की ओर अग्रसर होते हैं और हमें दुनिया के संदर्भ में समझना होता है।
लेकिन यदि वाक्य शब्द से पहले से मौजूद है, तो हम वक्ता को उसके भाषण का ठोस आधार मानते हैं। विभिन्न युगों के वाक्यों में पाए जाने पर एक शब्द वास्तव में अपना "जीवन" पाता है। यह उधार लिया हुआ जीवन किसी फिल्मी कल्पना में किसी वस्तु के जीवन जैसा होता है; उदाहरण के लिए, एक चाकू जो अपने आप नाशपाती काटने लगता है। यह तात्कालिकताओं के संयोजन से उत्पन्न होता है; यह सिनेमाई है और सार्वभौमिक समय में निर्मित होता है। लेकिन यदि कोई अर्थपरक या रूपात्मक फिल्म प्रस्तुत करता है तो शब्द जीवित प्रतीत होते हैं, तो वे पूरे वाक्य नहीं बनाते; वे केवल वाक्यों के प्रवाह के निशान होते हैं, जैसे राजमार्ग केवल तीर्थयात्रियों या कारवां के प्रवाह के निशान होते हैं। वाक्य एक ऐसी परियोजना है जिसकी व्याख्या केवल किसी दिए गए (वह जिसे नामित करना चाहते हैं) के निरसन के संदर्भ में की जा सकती है, एक स्थापित लक्ष्य (जिसका पदनाम स्वयं अन्य लक्ष्यों को मानता है

को दबा दें तो "भाषण" कहलाने वाला खंड बिखर जाता है; प्रत्येक शब्द अपने एकांत में लौट जाता है और साथ ही अपनी एकता खो देता है, अनेक अव्यक्त अर्थों में बँट जाता है। इस प्रकार, वाक्य की स्वतंत्र परियोजना के भीतर ही भाष्य के नियम संगठित होते हैं; बोलने के द्वारा ही मैं व्याकरण का निर्माण करता हूँ। स्वतंत्रता ही भाषा के नियमों का एकमात्र संभव आधार है।
इसके अलावा, भाषा के नियम किसके लिए मौजूद हैं? पॉलहान ने इसका सारगर्भित उत्तर दिया है: वे बोलने वाले के लिए नहीं, बल्कि सुनने वाले के लिए हैं। बोलने वाला व्यक्ति केवल अर्थ का चुनाव करता है और शब्दों के क्रम को केवल उसी हद तक समझता है जितना वह स्वयं बनाता है। इस संगठित जटिलता के भीतर वह केवल उन्हीं संबंधों को समझ पाएगा जिन्हें उसने स्वयं स्थापित किया है। परिणामस्वरूप, यदि हम पाते हैं कि दो (या अनेक) शब्दों के बीच एक नहीं बल्कि अनेक परिभाषित संबंध हैं और इससे अनेक अर्थ उत्पन्न होते हैं जो एक पदानुक्रम में व्यवस्थित हैं या एक दूसरे के विपरीत हैं—यह सब एक ही वाक्य के लिए है—संक्षेप में, यदि हम "शैतान का हिस्सा" खोजते हैं, तो यह केवल निम्नलिखित दो स्थितियों में ही संभव है: (1) शब्दों को एक सार्थक सामंजस्य द्वारा एकत्रित और प्रस्तुत किया जाना चाहिए; (2) इस संश्लेषण को बाहर से देखा जाना चाहिए—अर्थात, दूसरे द्वारा और इस सामंजस्य के संभावित अर्थों के काल्पनिक विश्लेषण के दौरान। दरअसल, इस मामले में, अर्थ के एक वर्ग के रूप में पहले समझे गए प्रत्येक शब्द का संबंध उसी प्रकार समझे गए दूसरे शब्द से होता है। और यह जुड़ाव बहुआयामी होगा। सच्चे अर्थ (अर्थात वक्ता द्वारा स्पष्ट रूप से व्यक्त किए गए अर्थ) की समझ अन्य अर्थों को कमतर या गौण बना सकती है, लेकिन उन्हें दबा नहीं सकती। इस प्रकार, मेरे लिए जो वाणी एक स्वतंत्र प्रक्रिया है, दूसरों के लिए उसके विशिष्ट नियम होते हैं। और ये नियम स्वयं केवल एक मौलिक संश्लेषण के भीतर ही लागू हो सकते हैं।
इस प्रकार हम “वाक्य” और प्राकृतिक घटना के बीच स्पष्ट अंतर समझ सकते हैं। प्राकृतिक तथ्य एक नियम के अनुरूप उत्पन्न होता है जिसे वह प्रकट करता है, लेकिन यह विशुद्ध रूप से बाह्य उत्पादन नियम है जिसका विचाराधीन तथ्य मात्र एक उदाहरण है। एक घटना के रूप में “वाक्य” में उसके संगठन का नियम समाहित होता है, और यह नामकरण की स्वतंत्र प्रक्रिया के भीतर ही होता है कि शब्दों के बीच कानूनी (अर्थात, व्याकरणिक) संबंध उत्पन्न हो सकते हैं। वास्तव में, बोलने से पहले बोलने के कोई नियम नहीं हो सकते। और प्रत्येक कथन एक स्वतंत्र नामकरण प्रक्रिया है जो स्वयं के लिए व्यक्तिगत चुनाव से उत्पन्न होती है और इस स्वयं के लिए वैश्विक स्थिति के संदर्भ में व्याख्यायित होने के लिए नियत होती है। प्राथमिक वह स्थिति है जिसके संदर्भ में मैं वाक्य का अर्थ समझता हूँ; इस अर्थ को स्वयं में एक दी गई वस्तु के रूप में नहीं बल्कि साधनों के स्वतंत्र अतिक्रमण में चुने गए एक लक्ष्य के रूप में माना जाना चाहिए। यही एकमात्र वास्तविकता है जिसका सामना एक कार्यरत भाषाविज्ञानी कर सकता है। इस वास्तविकता के

प्रकट होता है। इससे हमें व्यक्ति और जाति के संबंधों के लिए एक संभावित समाधान की रूपरेखा तैयार करने में मदद मिलती है। मानव जाति, मानव जाति के बिना कोई सत्य नहीं है; यह निश्चित है। केवल व्यक्तिगत विकल्पों का एक तर्कहीन और आकस्मिक समूह ही शेष रह जाएगा, जिस पर कोई नियम लागू नहीं किया जा सकता। यदि कोई ऐसा सत्य मौजूद है जो व्यक्तिगत विकल्पों को एकजुट करने में सक्षम है, तो यह मानव जाति ही है जो हमें यह सत्य प्रदान कर सकती है। लेकिन यदि जाति ही व्यक्ति का सत्य है, तो यह गहन विरोधाभास के बिना व्यक्ति में एक निश्चित तथ्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार वाणी के नियम वाक्य की ठोस स्वतंत्र परियोजना द्वारा पोषित और उसमें समाहित होते हैं, उसी प्रकार मानव जाति (मनुष्यों की गतिविधि को परिभाषित करने वाली विशिष्ट तकनीकों के समूह के रूप में) किसी ऐसे व्यक्ति के पूर्व-अस्तित्व से बहुत दूर है जो इसे उस तरह से प्रकट करे जिस तरह से यह विशेष पतन गिरने वाले पिंडों के नियम का उदाहरण प्रस्तुत करता है, बल्कि यह स्वतंत्र व्यक्तिगत चुनाव द्वारा पोषित अमूर्त संबंधों का समूह है। स्वयं के लिए स्वयं को एक व्यक्ति के रूप में चुनने के लिए एक आंतरिक संगठन के अस्तित्व को प्रभावित करता है जिसे स्वयं के लिए स्वयं की ओर अग्रसर किया जाता है, और यह आंतरिक तकनीकी संगठन ही इसमें राष्ट्रीय या मानवीय है।
कोई कहेगा, ठीक है। लेकिन आपने सवाल को टाल दिया है। क्योंकि ये भाषाई संगठन या तकनीकें स्वयं से नहीं बनी हैं, बल्कि दूसरों से सीखी हैं। मैं मानता हूँ कि कृदंतों के सामंजस्य का नियम, किसी विशेष अर्थ के लिए ठोस कृदंतों के मुक्त सामंजस्य के अलावा कहीं और मौजूद नहीं है। लेकिन जब मैं इस नियम का प्रयोग करता हूँ, तो मैंने इसे दूसरों से सीखा है; क्योंकि दूसरे अपनी निजी परियोजनाओं में इसे लागू करते हैं, इसलिए मैं भी इसका प्रयोग करता हूँ। इस प्रकार मेरा भाषण दूसरों के भाषण और अंततः राष्ट्रीय भाषण के अधीन हो जाता है।
हमें इस तथ्य को नकारने के बारे में नहीं सोचना चाहिए। वास्तव में, हमारी समस्या यह सिद्ध करना नहीं है कि 'स्वयं के लिए' का अस्तित्व स्वतंत्र है; 'स्वयं के लिए' स्वतंत्र तो है, लेकिन एक शर्त के अधीन है, और इस शर्त और स्वतंत्रता के बीच के संबंध को ही हम स्थिति के अर्थ को स्पष्ट करके परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, हमने जो स्थापित किया है, वह वास्तविकता का केवल एक अंश है। हमने यह सिद्ध किया है कि 'स्वयं के लिए' से उत्पन्न न होने वाले अर्थों का अस्तित्व उसकी स्वतंत्रता की बाह्य सीमा नहीं बन सकता। 'स्वयं के लिए' के रूप में, कोई व्यक्ति पहले मनुष्य नहीं होता ताकि बाद में स्वयं बन सके, और न ही वह स्वयं को किसी पूर्व-निर्धारित मानवीय सार के आधार पर स्वयं के रूप में स्थापित करता है। इसके विपरीत, स्वयं को एक व्यक्तिगत स्व के रूप में चुनने के अपने प्रयास में ही 'स्वयं के लिए' कुछ सामाजिक और अमूर्त विशेषताओं को अस्तित्व में बनाए रखता है जो उसे मनुष्य (या स्त्री) बनाती हैं; और मनुष्य के आवश्यक तत्वों के साथ आने वाले आवश्यक संबंध केवल एक स्वतंत्र चुनाव के आधार पर ही प्रकट होते हैं; इस अर्थ में, प्रत्येक 'स्वयं के लिए' अपने अस्तित्व में मानव

जाति के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। लेकिन हमारे लिए इस अकाट्य तथ्य पर फिर से ज़ोर देना आवश्यक है कि 'स्वयं के लिए' स्वयं को केवल कुछ निश्चित अर्थों से परे ही चुन सकता है, जिनका वह मूल नहीं है। वास्तव में, प्रत्येक 'स्वयं के लिए' तभी 'स्वयं के लिए' होता है जब वह राष्ट्रीयता और नस्ल से परे स्वयं को चुनता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह वाक्य रचना और रूपरूपों से परे पदनाम चुनकर ही बोलता है। यह "परे" उन संरचनाओं के संबंध में उसकी पूर्ण स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त है जिन्हें वह पार करता है; लेकिन तथ्य यह है कि वह इन विशिष्ट संरचनाओं के संबंध में स्वयं को 'परे' के रूप में स्थापित करता है। इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि 'स्वयं के लिए' एक ऐसे संसार में उत्पन्न होता है जो अन्य 'स्वयं के लिए' का संसार है। यही सत्य है। और इस प्रकार, जैसा कि हमने देखा है, संसार का अर्थ 'स्वयं के लिए' से पराया है। इसका सीधा सा अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को ऐसे अर्थों की उपस्थिति में पाता है जो उसके माध्यम से संसार में नहीं आते। वह एक ऐसे संसार में उत्पन्न होता है जो उसे पहले से ही देखा-परखा, परखा-परखा, खोजा-परखा, अपने सभी अर्थों में विकसित किया हुआ दिया गया है, और जिसकी मूल संरचना इन अन्वेषणों द्वारा पहले से ही परिभाषित है। जिस क्रिया द्वारा वह अपने समय को प्रकट करता है, उसी क्रिया में वह स्वयं को एक ऐसे संसार में कालिक बना लेता है जिसका कालिक अर्थ पहले से ही अन्य कालिकताओं द्वारा परिभाषित है: यही समकालिकता का तथ्य है। हम यहाँ स्वतंत्रता की सीमा की बात नहीं कर रहे हैं; बल्कि इसी संसार में 'स्वयं के लिए' को स्वतंत्र होना चाहिए; अर्थात्, उसे इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए स्वयं को चुनना चाहिए, न कि अपनी इच्छा से। लेकिन दूसरी ओर, 'स्वयं के लिए'—अर्थात मनुष्य—उठते समय केवल दूसरे के अस्तित्व को सहन नहीं करता; वह दूसरे के अस्तित्व को अपने लिए एक चुनाव के रूप में प्रकट करने के लिए विवश होता है। क्योंकि एक चुनाव के द्वारा ही वह दूसरे को 'विषय' के रूप में या 'वस्तु' के रूप में समझेगा। चूंकि दूसरा उसके लिए 'दृष्टि' के रूप में है, इसलिए तकनीकों या पराये अर्थों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; 'स्वयं के लिए' स्वयं को दूसरे की दृष्टि के नीचे ब्रह्मांड में एक वस्तु के रूप में अनुभव करता है। लेकिन जैसे ही स्व-हितकारी सत्ता दूसरे को अपने उद्देश्यों की ओर पार करते हुए उसे एक पारलौकिक-पारलौकिक बना देती है, तब दिए गए का स्वतंत्र रूप से पारलौकिक होना उसे संसार में एक सार्थक, निश्चित आचरण (स्वयं में स्थिर) के रूप में दिखाई देता है। वस्तु के रूप में दूसरा उद्देश्य का सूचक बन जाता है और अपनी स्वतंत्र परियोजना द्वारा, स्व-हितकारी सत्ता स्वयं को एक ऐसे संसार में प्रविष्ट कर देती है जिसमें वस्तु के रूप में आचरण उद्देश्य निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, एक पारलौकिक सत्ता के रूप में दूसरे की उपस्थिति साधनों से उद्देश्यों के निश्चित परिसरों को प्रकट करती है। और जैसे ही वस्तु के रूप में दूसरे के समक्ष अपने उभार से उद्देश्य साधनों का और साधन उद्देश्य का निर्धारण करते हैं, स्व-हितकारी सत्ता संसार में उद्देश्यों को स्वयं के लिए इंगित करती है; वह उद्देश्यों से आबाद संसार में प्रवेश करती है। लेकिन यदि फलस्वरूप स्व-हितकारी सत्ता

की दृष्टि में तकनीकें और उनके उद्देश्य उत्पन्न होते हैं, तो हमें यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि स्व-हितकारी सत्ता द्वारा दूसरे का सामना करते हुए एक स्थिति के स्वतंत्र रूप से ग्रहण करने के माध्यम से ही वे तकनीकें बन जाती हैं। दूसरा स्वयं इन परियोजनाओं को स्वयं के लिए तकनीकों के रूप में प्रकट नहीं कर सकता; और इसी कारण, जब दूसरा स्वयं को अपनी संभावनाओं की ओर अग्रसर करता है, तो उसके लिए कोई तकनीक नहीं बल्कि एक ठोस क्रिया होती है जो उसके व्यक्तिगत लक्ष्य के संदर्भ में परिभाषित होती है। जूता मरम्मत करने वाला जो जूते पर नया तला लगाता है, वह स्वयं को "किसी तकनीक को लागू करने की प्रक्रिया में" अनुभव नहीं करता; वह स्थिति को इस या उस क्रिया, चमड़े के उस विशेष टुकड़े, हथौड़े आदि की आवश्यकता के रूप में समझता है। स्वयं जैसे ही दूसरे के संबंध में एक स्थिति ग्रहण करता है, वह दुनिया में तकनीकों को उत्पन्न करता है, जो दूसरे के आचरण के रूप में एक पारलौकिक-पारित अवस्था में प्रकट होती हैं। यह इसी क्षण और केवल इसी क्षण होता है कि दुनिया में बुर्जुआ और मजदूर, फ्रांसीसी और जर्मन, संक्षेप में, मनुष्य प्रकट होते हैं।
इस प्रकार, 'स्वयं-हितैषी' इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि दूसरे का आचरण संसार में तकनीकों के रूप में प्रकट होता है। 'स्वयं-हितैषी' उस संसार को, जिसमें वह उत्पन्न होता है, किसी विशेष तकनीक से प्रभावित नहीं कर सकता (वह स्वयं को किसी "पूंजीवादी" या "प्राकृतिक अर्थव्यवस्था द्वारा शासित" या "परजीवी सभ्यता" वाले संसार में प्रकट नहीं कर सकता), परन्तु वह उस चीज़ को, जिसे दूसरे एक स्वतंत्र परियोजना के रूप में जी रहा है, तकनीक के रूप में बाहरी अस्तित्व में लाता है; 'स्वयं-हितैषी' ठीक इसी प्रकार इसे प्राप्त करता है कि वह स्वयं को वह माध्यम बनाता है जिसके द्वारा बाहरी तत्व दूसरे तक पहुँचता है। इस प्रकार, स्वयं को चुनकर और संसार में स्वयं को ऐतिहासिक रूप देकर ही 'स्वयं-हितैषी' संसार को ऐतिहासिक रूप देता है और उसे अपनी तकनीकों द्वारा दिनांकित करवाता है। अतः, ठीक इसी कारण कि तकनीकें वस्तुओं के रूप में प्रकट होती हैं, 'स्वयं-हितैषी' उन्हें अपना बनाने का चुनाव कर सकता है। पियरे और पॉल जिस संसार में एक विशेष तरीके से बोलते हैं, साइकिल या कार चलाते समय दाईं ओर चलते हैं, आदि, उसमें उत्पन्न होकर और आचरण के इन स्वतंत्र स्वरूपों को सार्थक वस्तुओं में ढालकर, 'स्वयं के लिए' इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि एक ऐसा संसार है जिसमें वे दाईं ओर चलते हैं, जिसमें वे फ्रेंच बोलते हैं, आदि। यह 'अन्य' के कार्य के आंतरिक नियमों को, जो मूल रूप से एक परियोजना में संलग्न स्वतंत्रता द्वारा स्थापित और पोषित थे, अब आचरण-वस्तु के वस्तुनिष्ठ नियमों में परिवर्तित कर देता है; और ये नियम सभी समान आचरणों के लिए सार्वभौमिक रूप से मान्य हो जाते हैं, जबकि आचरण का समर्थक या कर्ता-वस्तु मात्र कोई भी बन जाता है। यह ऐतिहासिककरण, जो 'स्वयं के लिए' की स्वतंत्र पसंद का परिणाम है, किसी भी प्रकार से इसकी स्वतंत्रता को प्रतिबंधित नहीं करता; बल्कि इसके विपरीत, इसकी स्वतंत्रता इसी संसार में और किसी अन्य संसार में नहीं, काम आती है; इसी संसार में अपने अस्तित्व के संबंध में यह स्वयं को प्रश्न में

केवल ग्रहण करती है बल्कि प्रकाशित भी करती है। डेसकार्टेस एक निश्चित समय पर एक पूर्ण उभार हैं और किसी अन्य समय पर पूरी तरह से अकल्पनीय हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं को बनाकर अपनी तारीख बनाई है। यह वे ही हैं, कोई और नहीं, जिन्होंने अपने सामने मौजूद गणितीय ज्ञान की सटीक स्थिति निर्धारित की है, किसी खाली सूची के द्वारा नहीं जो किसी दृष्टिकोण से नहीं बनाई जाएगी और किसी समन्वय अक्ष से संबंधित नहीं होगी, बल्कि विश्लेषणात्मक ज्यामिति के सिद्धांतों को स्थापित करके—अर्थात्, सटीक रूप से उस निर्देशांक अक्ष का आविष्कार करके जो हमें इस ज्ञान की स्थिति को परिभाषित करने की अनुमति देता है। यहाँ फिर से यह स्वतंत्र आविष्कार और भविष्य ही हैं जो हमें वर्तमान को प्रकाशित करने में सक्षम बनाते हैं; यह किसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए तकनीक को परिपूर्ण करना ही है जो हमें तकनीक की स्थिति का मूल्यांकन करने में सक्षम बनाता है।
इस प्रकार जब 'स्वयं के लिए' दूसरे को वस्तु मानकर स्वयं को अभिस्थापित करता है, तो उसी क्षण वह तकनीकों को प्रकट करता है। फलस्वरूप वह उन्हें अपना सकता है—अर्थात, उन्हें आत्मसात कर सकता है। परन्तु अचानक इसके निम्नलिखित परिणाम होते हैं: (1) किसी तकनीक का प्रयोग करके, 'स्वयं के लिए' अपने लक्ष्य की ओर उस तकनीक से आगे निकल जाता है; वह जिस तकनीक का प्रयोग करता है, उससे वह हमेशा परे रहता है। (2) वह तकनीक जो मूलतः किसी 'स्वयं के लिए' वस्तु में स्थिर एक शुद्ध, अर्थपूर्ण आचरण थी, अब आत्मसात होने के कारण एक तकनीक के रूप में अपना चरित्र खो देती है और लक्ष्यों की ओर दिए गए से मुक्त होकर आगे बढ़ने में विशुद्ध रूप से एकीकृत हो जाती है; यह उस स्वतंत्रता द्वारा पुनः प्राप्त और पोषित होती है जो इसे स्थापित करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे बोली या भाषण वाक्य की मुक्त परियोजना द्वारा पोषित होता है। मनुष्य और मनुष्य के बीच एक तकनीकी संबंध के रूप में सामंतवाद का अस्तित्व नहीं है; यह केवल एक शुद्ध अमूर्त अवधारणा है, जो एक विशिष्ट व्यक्ति की हजारों व्यक्तिगत परियोजनाओं द्वारा पोषित और उससे आगे निकल जाती है, जो अपने स्वामी के संबंध में एक जागीरदार है। इससे हमारा किसी भी प्रकार के ऐतिहासिक नामवाद तक पहुँचने का इरादा नहीं है। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सामंतवाद जागीरदारों और अधिपति के संबंधों का सार है। इसके विपरीत, हमारा मानना है कि यह इन संबंधों की अमूर्त संरचना है; इस समय के प्रत्येक व्यक्ति की परियोजना को इस अमूर्त क्षण के मूर्त स्वरूप की ओर अग्रसर होना चाहिए। अतः सामंती तकनीक के सिद्धांतों को स्थापित करने के लिए अनेक विस्तृत अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण करना आवश्यक नहीं है; यह तकनीक प्रत्येक व्यक्ति के आचरण में आवश्यक और पूर्ण रूप से विद्यमान है, और इसे प्रत्येक मामले में उजागर किया जा सकता है। परन्तु यह वहाँ केवल अग्रसर होने के लिए है। उसी प्रकार, 'स्वयं के लिए' एक व्यक्ति नहीं हो सकता — अर्थात्, अपने उद्देश्यों का चुनाव नहीं कर सकता—जब तक कि वह पुरुष या स्त्री, राष्ट्रीय समूह, वर्ग, परिवार आदि का सदस्य न हो। परन्तु ये अमूर्त संरचनाएँ हैं जिन्हें 'स्वयं के लिए' अपनी परियोजना द्वारा धारण करता है और अग्रसर होता है। यह स्वयं को फ्रांसीसी, दक्षिणी प्रांत का व्यक्ति, एक

श्रमिक बनाता है ताकि वह इन निर्धारणों के क्षितिज पर स्वयं को स्थापित कर सके। इसी प्रकार, जो संसार स्वयं-केंद्रित सत्ता के समक्ष प्रकट होता है, वह अपनाई गई तकनीकों के अनुरूप कुछ विशेष अर्थों से युक्त प्रतीत होता है। यह एक फ्रांसीसी-सृष्टि, एक श्रमिक-सृष्टि आदि के रूप में प्रकट होता है, जिसमें वे सभी विशेषताएँ होती हैं जिनकी अपेक्षा की जाती है। परन्तु इन विशेषताओं में स्व-निर्भरता (Selbständigkeit) नहीं होती। वह संसार जो स्वयं को फ्रांसीसी, सर्वहारा आदि के रूप में प्रकट होने देता है, सर्वोपरि वह संसार है जो स्वयं-केंद्रित सत्ता के अपने उद्देश्यों, उसकी अपनी दुनिया से प्रकाशित होता है।
फिर भी, दूसरे का अस्तित्व मेरी स्वतंत्रता पर एक वास्तविक सीमा लगाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि दूसरे के उभार के माध्यम से कुछ ऐसे निर्धारण प्रकट होते हैं जिन्हें मैंने स्वयं नहीं चुना है। मैं यहाँ हूँ—यहूदी या आर्य, सुंदर या बदसूरत, एक भुजा वाला, आदि। मैं दूसरे के लिए ये सब हूँ, इस अर्थ को समझने की कोई आशा नहीं है जो मेरे बाहर है और, इससे भी महत्वपूर्ण बात, इसे बदलने की कोई आशा नहीं है। केवल वाणी ही मुझे बता सकती है कि मैं क्या हूँ; फिर भी यह कभी भी एक खोखले इरादे के अलावा कुछ नहीं होगा; इसकी कोई भी अंतर्ज्ञान मुझे हमेशा के लिए नकार दी जाती है। यदि मेरी जाति या मेरा शारीरिक रूप केवल दूसरे की छवि या मेरे बारे में दूसरे की राय होती, तो हम जल्द ही इससे निपट लेते; लेकिन हमने देखा है कि हम उन वस्तुनिष्ठ विशेषताओं से निपट रहे हैं जो दूसरों के लिए मेरे अस्तित्व में मुझे परिभाषित करती हैं। जैसे ही मेरे अलावा कोई अन्य स्वतंत्रता मेरे सामने आती है, मैं अस्तित्व के एक नए आयाम में विद्यमान होने लगता हूँ; और इस बार यह सवाल मेरे द्वारा निर्जीव अस्तित्वों को अर्थ देने या दूसरों द्वारा कुछ वस्तुओं को दिए गए अर्थ के लिए स्वयं उत्तरदायित्व स्वीकार करने का नहीं है। यह मैं स्वयं हूँ जो अपने ऊपर दिए गए अर्थ को देखता हूँ, और मेरे पास इस अर्थ के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार करने का कोई विकल्प नहीं है क्योंकि यह मुझे केवल एक खोखले संकेत के रूप में ही दिया जा सकता है। इस प्रकार, इस नए आयाम के अनुसार, मेरा कुछ अंश दिए गए स्वरूप में विद्यमान है; कम से कम मेरे लिए, क्योंकि यह अस्तित्व जिसे मैं सहता हूँ, वह अस्तित्वहीन है। मैं इसे दूसरों के साथ अपने संबंधों में, उनके मेरे प्रति व्यवहार में सीखता हूँ और सहता हूँ। मैं इस अस्तित्व का सामना हजारों निषेधों और हजारों प्रतिरोधों के मूल में करता हूँ जिनसे मैं हर पल टकराता हूँ: क्योंकि मैं नाबालिग हूँ, मुझे यह या वह विशेषाधिकार नहीं मिलेगा। क्योंकि मैं यहूदी हूँ, मुझे कुछ समाजों में कुछ संभावनाओं से वंचित किया जाएगा, इत्यादि। फिर भी मैं किसी भी तरह से स्वयं को यहूदी, नाबालिग या अछूत के रूप में महसूस करने में असमर्थ हूँ। यहीं पर मैं इन प्रतिबंधों के विरुद्ध यह घोषणा करके प्रतिक्रिया दे सकता हूँ कि नस्ल, उदाहरण के लिए, विशुद्ध रूप से एक सामूहिक कल्पना है, कि केवल व्यक्ति ही अस्तित्व में हैं। इस प्रकार यहाँ मुझे अचानक अपने व्यक्तित्व के पूर्ण अलगाव का सामना

करना पड़ता है: मैं कुछ ऐसा हूँ जिसे मैंने बनना नहीं चुना है। इस स्थिति पर इसका क्या परिणाम होगा?
हमें यह समझना होगा कि हम अपनी स्वतंत्रता की एक वास्तविक सीमा से रूबरू हो चुके हैं—अर्थात्, एक ऐसा जीवन-मार्ग जो हम पर थोपा गया है, जबकि हमारी स्वतंत्रता इसका आधार नहीं है। फिर भी यह समझना आवश्यक है: यह थोपी गई सीमा दूसरों के कार्यों से नहीं आती। पिछले अध्याय में हमने देखा कि यातना भी हमारी स्वतंत्रता को छीन नहीं सकती; जब हम हार मान लेते हैं, तो स्वेच्छा से ऐसा करते हैं। अधिक सामान्य रूप से, मेरे मार्ग में किसी निषेध का सामना करना (“यहाँ यहूदियों का प्रवेश वर्जित है,” या “यहूदी रेस्तरां। आर्यों का प्रवेश वर्जित है,” आदि) हमें पहले विचार किए गए मामले (सामूहिक तकनीकें) की याद दिलाता है, और इस निषेध का अर्थ केवल मेरी स्वतंत्र इच्छा के आधार पर ही हो सकता है। वास्तव में, मेरे द्वारा चुने गए स्वतंत्र विकल्पों के अनुसार, मैं निषेध का उल्लंघन कर सकता हूँ, उस पर ध्यान नहीं दे सकता, या इसके विपरीत, उसे एक बाध्यकारी मूल्य प्रदान कर सकता हूँ जो केवल मेरे द्वारा उसे दिए गए महत्व के कारण ही संभव है। बेशक, निषेध पूरी तरह से “एक बाहरी इच्छा से उत्पन्न” होने का अपना स्वरूप बरकरार रखता है; निःसंदेह, इसकी विशिष्ट संरचना में मुझे एक वस्तु के रूप में ग्रहण करने का तथ्य निहित है, जिससे एक ऐसी पारलौकिकता प्रकट होती है जो मुझसे परे है। फिर भी, यह तथ्य बना रहता है कि यह मेरे ब्रह्मांड में अवतरित नहीं है, और इसकी विशिष्ट बाध्यकारी शक्ति केवल मेरी अपनी पसंद की सीमाओं के भीतर ही खो जाती है, और इस बात पर निर्भर करती है कि क्या मैं किसी भी परिस्थिति में जीवन को मृत्यु से श्रेष्ठ मानता हूँ या इसके विपरीत, क्या मैं यह निर्णय लेता हूँ कि कुछ विशेष मामलों में मृत्यु कुछ प्रकार के जीवन से श्रेष्ठ है, इत्यादि। मेरी स्वतंत्रता की वास्तविक सीमा विशुद्ध रूप से इस तथ्य में निहित है कि एक अन्य मुझे वस्तु के रूप में देखता है, और उस दूसरे परिणामी तथ्य में कि मेरी स्थिति उस अन्य के लिए एक स्थिति नहीं रह जाती, बल्कि एक वस्तुनिष्ठ रूप बन जाती है जिसमें मैं एक वस्तुनिष्ठ संरचना के रूप में विद्यमान होता हूँ। मेरी स्थिति को वस्तु बनाने की यह अलगावकारी प्रक्रिया ही मेरी स्थिति की स्थिर और विशिष्ट सीमा है, ठीक उसी प्रकार जैसे दूसरों के लिए अस्तित्व में रहते हुए स्वयं के लिए अपने अस्तित्व को वस्तु बनाना मेरे अस्तित्व की सीमा है। और ठीक यही दो विशिष्ट सीमाएँ मेरी स्वतंत्रता की सीमाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।
संक्षेप में, दूसरे के अस्तित्व के कारण, मैं एक ऐसी स्थिति में विद्यमान हूँ जिसका एक बाह्य स्वरूप है और इसी कारण उसमें अलगाव का एक आयाम निहित है जिसे मैं किसी भी प्रकार से स्थिति से अलग नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे मैं उस पर प्रत्यक्ष रूप से कोई क्रिया नहीं कर सकता। जैसा कि हम देखते हैं, मेरी स्वतंत्रता की यह सीमा दूसरे के शुद्ध और सरल अस्तित्व द्वारा निर्धारित है—अर्थात्, इस तथ्य द्वारा कि मेरा पारलौकिक अस्तित्व एक पारलौकिक अस्तित्व के लिए विद्यमान है। इस प्रकार हम एक अत्यंत महत्वपूर्ण सत्य को ग्रहण करते हैं: हमने पहले स्वयं को अस्तित्व-स्वयं के

है। दूसरों का सामना करने वाली स्वतंत्रता के रूप में संसार में आना, संसार में विभाज्य के रूप में आना है। यदि स्वयं को स्वतंत्र मानना, दूसरों का सामना करते हुए इस संसार में रहने का चुनाव करना है, तो ऐसा चाहने वाले को अपनी स्वतंत्रता के जुनून को भी धारण करना होगा।
दूसरी ओर, मैं वस्तुनिष्ठ रूप से परावर्तित स्थिति और अपने स्वयं के परावर्तित होने को प्रकट और स्थापित नहीं करता। वास्तव में, हमने अभी देखा है कि सिद्धांत रूप में जो कुछ भी परावर्तित है, वह केवल दूसरे के लिए ही विद्यमान है। लेकिन इसके अतिरिक्त, एक शुद्ध स्थापना, भले ही वह संभव हो, अपर्याप्त होगी। वास्तव में, मैं दूसरे को एक पारलौकिकता के रूप में मान्यता दिए बिना इस परावर्तितता का प्रमाण नहीं दे सकता। और यह मान्यता, जैसा कि हमने देखा है, अर्थहीन होगी यदि यह दूसरे की स्वतंत्रता की स्वतंत्र मान्यता न हो। अपने परावर्तित होने के प्रमाण के माध्यम से दूसरे की इस स्वतंत्र मान्यता द्वारा, मैं अपने 'दूसरों के लिए' होने को, चाहे वह कुछ भी हो, ग्रहण करता हूँ, और मैं इसे ठीक इसलिए ग्रहण करता हूँ क्योंकि यह दूसरे के साथ मेरा संबंध है। इस प्रकार, मैं दूसरे को एक स्वतंत्रता के रूप में केवल उसे इस रूप में समझने की स्वतंत्र परियोजना के भीतर ही समझ सकता हूँ (वास्तव में, मेरे लिए दूसरे को एक वस्तु के रूप में स्वतंत्र रूप से समझना हमेशा संभव रहता है); और दूसरे की मान्यता की स्वतंत्र परियोजना मेरे 'दूसरों के लिए' होने की स्वतंत्र मान्यता से भिन्न नहीं है।
अब हम देख सकते हैं कि किस प्रकार मेरी स्वतंत्रता एक तरह से अपनी सीमाओं को पुनः प्राप्त कर लेती है, क्योंकि मैं स्वयं को दूसरे द्वारा सीमित तभी समझ सकता हूँ जब दूसरा मेरे लिए विद्यमान हो, और मैं दूसरे को अपने लिए तभी विद्यमान बना सकता हूँ जब मैं दूसरों के लिए अपने अस्तित्व को ग्रहण करके एक व्यक्तिपरकता को पहचानता हूँ। यहाँ कोई चक्र नहीं है। इस परायेपन के स्वतंत्र ग्रहण से, जिसका मैं अनुभव करता हूँ, मैं अचानक दूसरे की पारलौकिकता को अपने लिए विद्यमान बना देता हूँ। यह केवल यहूदियों से विमुख लोगों की स्वतंत्रता को पहचानने (चाहे वे इसका जो भी उपयोग करें) और इस यहूदी होने को ग्रहण करने से ही है कि मैं उनके लिए एक यहूदी हूँ; केवल इसी प्रकार यहूदी होना स्थिति की बाहरी वस्तुनिष्ठ सीमा के रूप में प्रकट होगा। इसके विपरीत, यदि मुझे यहूदियों से विमुख लोगों को शुद्ध वस्तु के रूप में देखना अच्छा लगता है, तो मेरा यहूदी होना तुरंत गायब हो जाता है और उसकी जगह एक स्वतंत्र, अपरिभाषित पारलौकिकता की सरल चेतना ले लेती है। दूसरों को पहचानना और, यदि मैं यहूदी हूँ, तो अपने यहूदी होने को स्वीकार करना एक ही बात है। इस प्रकार, दूसरे की स्वतंत्रता मेरी स्थिति पर सीमाएँ लगाती है, लेकिन मैं इन सीमाओं का अनुभव तभी कर सकता हूँ जब मैं अपने उस अस्तित्व को पुनः प्राप्त कर लूँ जो दूसरों के लिए है और जब मैं इसे अपने चुने हुए लक्ष्यों के प्रकाश में अर्थ दूँ। बेशक, यह स्वीकृति ही अलगावपूर्ण है; इसका अपना एक बाहरी स्वरूप है, लेकिन इसी स्वीकृति के माध्यम से मैं अपने बाहरी अस्तित्व को बाहरी रूप में अनुभव कर सकता हूँ।

तो फिर मैं अपने अस्तित्व की वस्तुनिष्ठ सीमाओं का अनुभव कैसे करूँ: यहूदी, आर्य, बदसूरत, सुंदर, दयालु, सरकारी कर्मचारी, अछूत, आदि—कब वाणी मुझे यह बता पाएगी कि इनमें से कौन सी मेरी सीमाएँ हैं? यह उस तरीके से नहीं हो सकता जिस तरह मैं सहज रूप से दूसरे की सुंदरता, कुरूपता, जाति को समझता हूँ, न ही उस तरीके से जिस तरह मैं किसी संभावना की ओर स्वयं को प्रक्षेपित करने की गैर-स्थलीय चेतना रखता हूँ। ऐसा नहीं है कि ये वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ अनिवार्य रूप से अमूर्त हों; कुछ अमूर्त हैं, कुछ नहीं। मेरी सुंदरता या मेरी कुरूपता या मेरे चेहरे की तुच्छता को दूसरा व्यक्ति उनकी पूर्ण ठोसता में समझता है, और यही ठोसता दूसरे की वाणी मुझे इंगित करेगी; इसी की ओर मैं स्वयं को खालीपन से निर्देशित करूँगा। इसलिए हम किसी अमूर्तता से नहीं, बल्कि संरचनाओं के एक समूह से निपट रहे हैं, जिनमें से कुछ अमूर्त हैं, लेकिन जिनकी समग्रता एक पूर्ण ठोस है, एक ऐसा समूह जो सिद्धांत रूप से मुझसे परे प्रतीत होता है। वास्तव में यही समूह मैं हूँ। हमने भाग दो की शुरुआत में देखा कि 'स्वयं के लिए' कुछ भी नहीं हो सकता। मैं स्वयं के लिए न तो प्रोफेसर हूँ, न ही कैफे में वेटर, न ही सुंदर हूँ, न बदसूरत, न यहूदी हूँ, न आर्य, न आध्यात्मिक हूँ, न अशिष्ट हूँ, न विशिष्ट। हम इन विशेषताओं को अवास्तविक कहेंगे। हमें इन्हें काल्पनिक से भ्रमित न करने का ध्यान रखना चाहिए। हमारा संबंध पूर्णतः वास्तविक अस्तित्वों से है; लेकिन जिनके लिए ये विशेषताएँ वास्तव में दी गई हैं, वे ये विशेषताएँ नहीं हैं, और मैं, जो कि वह हूँ, उन्हें साकार नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, यदि मुझे कहा जाता है कि मैं अशिष्ट हूँ, तो मैंने अक्सर दूसरों के संबंध में अशिष्टता की प्रकृति को अंतर्ज्ञान से समझा है; इस प्रकार मैं "अशिष्ट" शब्द को अपने ऊपर लागू कर सकता हूँ। लेकिन मैं इस शब्द के अर्थ को अपने व्यक्तित्व से नहीं जोड़ सकता। यहाँ ठीक उसी तरह एक संबंध स्थापित करने का संकेत है, लेकिन वह संबंध केवल अशिष्टता के आंतरिककरण और व्यक्तिपरककरण या व्यक्ति के वस्तुनिष्ठकरण द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है—ये दो क्रियाएँ प्रश्नगत वास्तविकता के तत्काल पतन को जन्म देती हैं।
इस प्रकार हम अनगिनत अवास्तविकताओं से घिरे हुए हैं। इनमें से कुछ अवास्तविकताओं की अनुपस्थिति हमें स्पष्ट रूप से परेशान करती है। लंबे निर्वासन से लौटने के बाद यह महसूस न कर पाने पर कि वह "पेरिस में है" किसे गहरी निराशा नहीं हुई है? वस्तुएँ वहाँ मौजूद हैं और परिचित रूप से स्वयं को प्रस्तुत करती हैं, लेकिन मैं केवल एक अनुपस्थिति हूँ, केवल वह शुद्ध शून्यता जो पेरिस के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। मेरे मित्र, मेरे रिश्तेदार मुझे यह कहकर एक वादे की भूमि की छवि प्रस्तुत करते हैं: "आखिरकार तुम यहाँ हो! तुम लौट आए! तुम पेरिस में हो!" लेकिन इस वादे की भूमि तक मेरी पहुँच पूरी तरह से नकारी गई है। और यदि अधिकांश लोग दूसरों या स्वयं के संदर्भ में "दोहरा मापदंड अपनाने" के आरोप के पात्र हैं, यदि जब वे यह महसूस करते हैं कि वे किसी ऐसे दोष के दोषी हैं जिसके लिए उन्होंने एक दिन पहले किसी और को दोषी ठहराया था, तो उनमें यह कहने की प्रवृत्ति

होती है, "यह एक ही बात नहीं है," तो ऐसा इसलिए है क्योंकि वास्तव में "यह एक ही बात नहीं है।" एक क्रिया नैतिक मूल्यांकन का एक निश्चित विषय है; दूसरा एक शुद्ध पारलौकिकता है जो अपने अस्तित्व में ही अपना औचित्य समेटे हुए है, क्योंकि उसका अस्तित्व एक चुनाव है। हम परिणामों की तुलना करके इसके कर्ता को यह विश्वास दिला सकते हैं कि दोनों कार्यों का "बाहरी स्वरूप" बिल्कुल एक जैसा है, लेकिन दुनिया की सबसे अच्छी इच्छाशक्ति भी उसे इस समानता को स्वीकार करने नहीं देगी। नैतिक चेतना की अधिकांश समस्याओं का स्रोत यहीं है, विशेष रूप से स्वयं को वास्तव में घृणा न कर पाने की निराशा, स्वयं को दोषी न मान पाने की निराशा, और "मैं दोषी हूँ, मैंने पाप किया है" आदि शब्दों के व्यक्त अर्थ और स्थिति की वास्तविक समझ के बीच निरंतर अंतर महसूस करने की निराशा। संक्षेप में, यही "दुष्ट अंतरात्मा" की सारी पीड़ा का मूल है, अर्थात् दुर्भावना की चेतना जिसका आदर्श आत्म-निर्णय है—अर्थात, स्वयं के प्रति दूसरे के दृष्टिकोण को अपनाना।
लेकिन अगर कुछ खास तरह की अवास्तविकताओं ने हमें दूसरों की तुलना में अधिक प्रभावित किया है, अगर वे मनोवैज्ञानिक वर्णनों का विषय बन गई हैं, तो उन्हें हमें इस तथ्य से अंधा नहीं करना चाहिए कि अवास्तविकताएं अनंत संख्या में हैं क्योंकि वे स्थिति के विपरीत पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं।
ये अवास्तविकताएँ हमें केवल अवास्तविकता के रूप में ही नहीं दिखाई जातीं; वास्तव में, अवास्तविकता का स्वरूप धारण करने के लिए, इन्हें साकार करने के उद्देश्य से बनाई गई किसी परियोजना के प्रकाश में प्रकट किया जाना आवश्यक है। यही वह बात है जिसे हमने पहले भी देखा था जब हम यह दर्शा रहे थे कि कैसे 'स्वयं के लिए' अस्तित्व दूसरों के अस्तित्व को स्वीकार करने की क्रिया के द्वारा ही 'दूसरों के लिए' अस्तित्व को ग्रहण कर लेता है। अतः, इस ग्रहण करने की परियोजना के साथ ही, अवास्तविकताएँ साकार होने के रूप में प्रकट होती हैं। वास्तव में, प्रारंभ में, यह ग्रहण मेरी मूलभूत परियोजना के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। मैं स्वयं को 'कुरूपता', 'कमजोरी', 'नस्ल' आदि के अर्थ को निष्क्रिय रूप से ग्रहण करने तक सीमित नहीं रखता, बल्कि इसके विपरीत, मैं इन विशेषताओं को—एक अर्थ के सरल रूप में—केवल अपने स्वयं के उद्देश्यों के प्रकाश में ही समझ सकता हूँ। यही वह बात है जिसे— शब्दों को पूरी तरह उलट कर—व्यक्त किया जाता है जब यह कहा जाता है कि किसी विशेष नस्ल का होना गर्व या हीनता की भावना को जन्म दे सकता है। वास्तव में, नस्ल, दुर्बलता और कुरूपता केवल मेरी हीनता या अभिमान की स्वयं की पसंद की सीमाओं के भीतर ही प्रकट हो सकती है; दूसरे शब्दों में, वे केवल उसी अर्थ के साथ प्रकट हो सकती हैं जो मेरी स्वतंत्रता उन्हें प्रदान करती है। इसका अर्थ एक बार फिर यही है कि वे दूसरों के लिए हैं, लेकिन वे मेरे लिए तभी हो सकती हैं जब मैं उन्हें चुनूं। मेरी स्वतंत्रता का वह नियम जो मुझे स्वयं को चुने बिना अस्तित्व में रहने में असमर्थ बनाता है, यहाँ भी लागू होता है: मैं दूसरों के लिए वह बनना नहीं चुनता जो मैं हूँ, लेकिन मैं स्वयं के लिए वह बनने का प्रयास कर सकता हूँ जो मैं दूसरों के लिए हूँ,

ई. मेरी मृत्यु
मृत्यु हमें सर्वथा अमानवीय प्रतीत होती थी क्योंकि यह "दीवार" के उस पार मौजूद थी, लेकिन अचानक हमने इसे एक बिल्कुल अलग दृष्टिकोण से देखने का निर्णय लिया—अर्थात, मानव जीवन की एक घटना के रूप में। इस परिवर्तन को आसानी से समझाया जा सकता है: मृत्यु एक सीमा है, और प्रत्येक सीमा (चाहे वह अंतिम हो या प्रारंभिक) एक दोहरी प्रकृति की होती है। चाहे इसे अस्तित्व की शून्यता से जुड़ा हुआ माना जाए जो विचाराधीन प्रक्रिया को सीमित करती है या इसके विपरीत, इसे उस श्रृंखला से जुड़ा हुआ माना जाए जिसे यह समाप्त करती है, दोनों ही मामलों में यह एक अस्तित्व है जो एक विद्यमान प्रक्रिया से संबंधित है और जो एक निश्चित तरीके से प्रक्रिया के अर्थ का निर्माण करती है। इस प्रकार, किसी धुन का अंतिम स्वर हमेशा एक ओर मौन की ओर देखता है—अर्थात, उस ध्वनि की शून्यता की ओर जो धुन के बाद आएगी; एक अर्थ में यह मौन के साथ निर्मित होती है क्योंकि आने वाला मौन पहले से ही सुलझी हुई स्वर में उसके अर्थ के रूप में मौजूद होता है। लेकिन दूसरी ओर, यह अस्तित्व की उस पूर्णता से जुड़ा होता है जो इच्छित धुन है; बिना कॉर्ड के यह धुन हवा में ही रह जाएगी, और यह अंतिम अनिश्चितता एक स्वर से दूसरे स्वर तक प्रवाहित होती रहेगी, जिससे उनमें से प्रत्येक को अपूर्णता का गुण प्राप्त हो जाएगा।
मृत्यु को हमेशा से—सही या गलत, यह अभी तक तय नहीं किया जा सकता—मानव जीवन की अंतिम सीमा माना गया है। ऐसे में यह स्वाभाविक था कि वह दर्शन, जिसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य की स्थिति को उसके चारों ओर मौजूद अमानवीयता के संदर्भ में स्पष्ट करना था, मृत्यु को मानव वास्तविकता के शून्यता की ओर खुलने वाले द्वार के रूप में देखे, और यह शून्यता अस्तित्व का पूर्ण अंत हो, या फिर अमानवीय रूप में अस्तित्व का अंत हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महान यथार्थवादी सिद्धांतों के अनुरूप, मृत्यु की एक यथार्थवादी अवधारणा रही है, जिसमें मृत्यु अमानवीयता के साथ सीधा संपर्क प्रतीत होती है। इस प्रकार मृत्यु मनुष्य से उसी समय मुक्त हो जाती है जब वह उसे अमानवीयता के साथ पूर्ण रूप से जोड़ देती है। बेशक, वास्तविकता की एक आदर्शवादी और मानवतावादी अवधारणा के लिए यह विचार स्वीकार्य नहीं था कि मनुष्य अपनी सीमा के रूप में भी अमानवीयता का सामना करेगा। दरअसल, इस सीमा के दृष्टिकोण को अपनाना ही मनुष्य को एक अमानवीय प्रकाश से प्रकाशित करने के लिए पर्याप्त होता।

22 मृत्यु को पुनः प्राप्त करने का आदर्शवादी प्रयास
मूल रूप से दार्शनिकों का नहीं, बल्कि रिल्के जैसे कवियों या मालरो जैसे उपन्यासकारों का था। मृत्यु को श्रृंखला का अंतिम पद मान लेना ही पर्याप्त था। यदि श्रृंखला इस प्रकार अपने अंतिम बिंदु को पुनः प्राप्त कर लेती है, तो ठीक इसी 'अंत' के कारण, जो इसकी आंतरिकता को इंगित करता है, जीवन के अंत के रूप में मृत्यु का आंतरिककरण और मानवीकरण हो जाता है। मनुष्य अब केवल मानव से ही सामना कर सकता है; जीवन का कोई दूसरा पहलू नहीं रह जाता, और मृत्यु एक मानवीय घटना है; यह जीवन की अंतिम घटना है और फिर भी जीवन ही है। इस प्रकार यह विपरीत प्रवाह द्वारा संपूर्ण जीवन को प्रभावित

स्वयं को ही प्रकट करती है, और वह भी मानवीय दृष्टिकोण से। क्या इसका अर्थ यह है कि मृत्यु मानवीय वास्तविकता का अभिन्न अंग है?
सबसे पहले जिस बात पर ध्यान देना आवश्यक है, वह है मृत्यु का निरर्थक स्वरूप। इस अर्थ में, इसे किसी धुन के अंत में एक स्थिर स्वर के रूप में देखने का हर प्रयास पूरी तरह से अस्वीकार किया जाना चाहिए। अक्सर कहा जाता है कि हम अन्य दोषियों के बीच एक ऐसे दोषी की स्थिति में हैं, जिसे अपनी फांसी का दिन तो पता नहीं है, लेकिन वह हर दिन अपने साथी कैदियों को फांसी पर चढ़ते हुए देखता है। यह पूरी तरह से सटीक नहीं है। बल्कि हमें अपनी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से करनी चाहिए जिसे मृत्युदंड दिया गया है, जो अंतिम दंड के लिए बहादुरी से खुद को तैयार कर रहा है, जो फांसी के तख्ते पर अच्छा प्रदर्शन करने के लिए हर संभव प्रयास कर रहा है, और जो इसी बीच फ्लू की महामारी की चपेट में आ जाता है। ईसाई ज्ञान इसी बात को दर्शाता है जब वह मृत्यु के लिए खुद को इस तरह तैयार करने की सलाह देता है जैसे कि वह किसी भी क्षण आ सकती है। इस प्रकार, व्यक्ति इसे एक अपेक्षित मृत्यु में परिवर्तित करके इसे पुनः प्राप्त करने की आशा रखता है। यदि हमारे जीवन का अर्थ मृत्यु की अपेक्षा बन जाता है, तो जब मृत्यु आती है, तो वह केवल जीवन पर अपनी मुहर लगा सकती है। यही मूल रूप से हाइडेगर के "दृढ़ निर्णय" (एंटश्लोसेनहाइट) का सबसे सकारात्मक सार है।
दुर्भाग्य से, यह सलाह देना तो आसान है, लेकिन इस पर अमल करना मुश्किल है। ऐसा मानवीय वास्तविकता की स्वाभाविक कमजोरी या अवास्तविकता की मौलिक अवधारणा के कारण नहीं, बल्कि स्वयं मृत्यु के कारण है। वास्तव में, कोई एक विशेष मृत्यु की उम्मीद तो कर सकता है, लेकिन मृत्यु की नहीं। हाइडेगर द्वारा प्रस्तुत छल को आसानी से पहचाना जा सकता है। वे हममें से प्रत्येक की मृत्यु को व्यक्तिगत रूप देकर शुरुआत करते हैं, यह बताते हुए कि यह एक व्यक्ति की मृत्यु है, एक इंसान की मृत्यु है, "एकमात्र ऐसी चीज जो कोई मेरे लिए नहीं कर सकता।" फिर, मृत्यु को उन्होंने 'डेसिन' के संदर्भ में जो अतुलनीय व्यक्तित्व प्रदान किया है, उसका उपयोग वे 'डेसिन' को ही व्यक्तिगत रूप देने के लिए करते हैं; 'डेसिन' अपनी अंतिम संभावना की ओर स्वतंत्र रूप से प्रक्षेपित होकर ही प्रामाणिक अस्तित्व प्राप्त करेगा और रोजमर्रा की तुच्छता से खुद को अलग करके व्यक्ति की अपूरणीय विशिष्टता को प्राप्त करेगा। लेकिन यहाँ एक चक्र है। वास्तव में, कोई यह कैसे सिद्ध कर सकता है कि मृत्यु में यह व्यक्तित्व और इसे प्रदान करने की शक्ति है? बेशक, अगर मृत्यु को मेरी मृत्यु के रूप में वर्णित किया जाता है, तो मैं इसकी प्रतीक्षा कर सकता हूँ; यह एक ऐसी संभावना है जो विशिष्ट और अलग है। लेकिन क्या वह मृत्यु जो मुझे आड़े आएगी, मेरी मृत्यु है? सबसे पहले तो यह कहना बिल्कुल निराधार है कि "मरना ही एकमात्र ऐसी चीज है जो कोई मेरे लिए नहीं कर सकता।" या यूँ कहें कि इस तर्क में स्पष्ट रूप से दुर्भावना झलकती है; यदि मृत्यु को परम व्यक्तिपरक संभावना, वह घटना जो केवल स्वयं से संबंधित है, माना जाए, तो यह स्पष्ट है कि कोई मेरे लिए नहीं मर सकता। लेकिन फिर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दृष्टिकोण से ली गई मेरी कोई भी

इसके अलावा, मृत्यु की प्रतीक्षा तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि इसे मेरी मृत्यु की सजा के रूप में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट न किया जाए (आठ दिनों में होने वाली फांसी, मेरी बीमारी का परिणाम, जिसके बारे में मैं जानता हूं कि यह आसन्न और निर्मम है, आदि), क्योंकि यह मृत्यु की ही अपेक्षा होने पर भी हर उम्मीद की निरर्थकता का प्रकटीकरण मात्र है। सबसे पहले, हमें क्रिया "अपेक्षा" के दो अर्थों के बीच सावधानीपूर्वक अंतर करना चाहिए जो लगातार भ्रमित होते रहते हैं: मृत्यु की अपेक्षा करना मृत्यु की प्रतीक्षा करना नहीं है। हम केवल एक निश्चित घटना की "प्रतीक्षा" कर सकते हैं जिसे समान रूप से निश्चित प्रक्रियाएं साकार करने की प्रक्रिया में हैं। मैं चार्ट्रेस से आने वाली ट्रेन की प्रतीक्षा कर सकता हूं क्योंकि मैं जानता हूं कि यह चार्ट्रेस स्टेशन से निकल चुकी है और पहियों का प्रत्येक चक्कर इसे पेरिस स्टेशन के करीब लाता है। बेशक ट्रेन देर हो सकती है; कोई दुर्घटना भी हो सकती है। लेकिन तथ्य यह है कि वह प्रक्रिया जिसके द्वारा स्टेशन में प्रवेश साकार होगा, "चल रही है;" और वे घटनाएँ जो स्टेशन में प्रवेश में देरी कर सकती हैं या रोक सकती हैं, यहाँ केवल इतना ही दर्शाती हैं कि यह प्रक्रिया एक अपेक्षाकृत बंद, अपेक्षाकृत पृथक प्रणाली है और वास्तव में यह एक ऐसे ब्रह्मांड में डूबी हुई है जिसकी संरचना "रेशेदार" है, जैसा कि मेयर्सन ने कहा था। इस प्रकार मैं कह सकता हूँ कि मैं पियरे का इंतज़ार कर रहा हूँ और "मुझे उम्मीद है कि उसकी ट्रेन लेट है।" लेकिन उसी तरह मेरी मृत्यु की संभावना का अर्थ केवल इतना है कि मैं जैविक रूप से केवल एक अपेक्षाकृत बंद, अपेक्षाकृत पृथक प्रणाली हूँ; यह केवल इस तथ्य को इंगित करता है कि मेरा शरीर अस्तित्वों की समग्रता का हिस्सा है। यह ट्रेनों की संभावित देरी के समान है, पियरे के आगमन के समान नहीं। यह उस अनपेक्षित, अप्रत्याशित बाधा के साथ है जिसे हमें हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, भले ही वह अप्रत्याशित के रूप में अपना विशिष्ट चरित्र बनाए रखे, वह बाधा जिसका इंतज़ार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह स्वयं अनिश्चितता में खो जाती है। वास्तव में, भले ही हम यह मान लें कि कारक सख्ती से वातानुकूलित हैं, जो सिद्ध भी नहीं हुआ है और जिसके लिए एक आध्यात्मिक विकल्प की आवश्यकता है, फिर भी उनकी संख्या अनंत है और उनके निहितार्थ अनंत हैं; उनका समूह एक प्रणाली का निर्माण नहीं करता है। कम से कम इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो, परिकल्पित परिणाम—मेरी मृत्यु—किसी भी तिथि के लिए निश्चित नहीं है, और इसलिए इसकी प्रतीक्षा भी नहीं की जा सकती। शायद जब मैं इस कमरे में शांतिपूर्वक लिख रहा हूँ, ब्रह्मांड की स्थिति ऐसी है कि मेरी मृत्यु काफी करीब आ गई है; लेकिन शायद, इसके विपरीत, यह काफी दूर हो गई है। उदाहरण के लिए, यदि मैं किसी सैन्य तैनाती आदेश की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, तो मैं यह मान सकता हूँ कि मेरी मृत्यु निकट है—अर्थात्, निकट मृत्यु की संभावना काफी बढ़ गई है; लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि उसी क्षण गुप्त रूप से एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन हो रहा हो और उसने शांति को लंबे समय तक बनाए रखने का कोई तरीका खोज लिया हो।

स्वयं धुन से ही उत्पन्न होना चाहिए। सोफोक्लीज जैसी मृत्यु एक सुलझी हुई धुन जैसी प्रतीत होगी, लेकिन वह धुन नहीं होगी, ठीक वैसे ही जैसे वर्णमाला के टुकड़ों के गिरने से बने अक्षरों का समूह शायद एक शब्द जैसा प्रतीत हो, लेकिन वह शब्द नहीं होगा। इस प्रकार, मेरी परियोजनाओं के केंद्र में संयोग की यह निरंतर उपस्थिति मेरी संभावना के रूप में नहीं, बल्कि इसके विपरीत, मेरी सभी संभावनाओं के विनाश के रूप में समझी जा सकती है, एक ऐसा विनाश जो स्वयं मेरी संभावनाओं का हिस्सा नहीं है। इस प्रकार, मृत्यु संसार में मेरी उपस्थिति को न महसूस करने की मेरी संभावना नहीं है, बल्कि मेरी संभावनाओं का एक ऐसा विनाश है जो हमेशा संभव है और मेरी संभावनाओं से परे है।
यदि हम इस समस्या को अर्थों के परिप्रेक्ष्य से देखें तो इसे थोड़ा अलग ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। जैसा कि हम जानते हैं, मानवीय वास्तविकता अर्थपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि मानवीय वास्तविकता स्वयं को उस चीज़ के माध्यम से प्रकट करती है जो अस्तित्व में नहीं है, या दूसरे शब्दों में कहें तो, वह स्वयं को प्रकट करने की प्रक्रिया में है। अतः यदि वह निरंतर अपने भविष्य में लीन रहती है, तो यह हमें यह कहने के लिए विवश करता है कि वह इस भविष्य की पुष्टि की प्रतीक्षा करती है। वास्तव में, भविष्य के रूप में, जो कुछ आने वाला है, वह उस वर्तमान द्वारा पूर्वनिर्धारित होता है जो अस्तित्व में होगा; व्यक्ति स्वयं को इस वर्तमान के हाथों में सौंप देता है, जो केवल अपने अस्तित्व के कारण ही उस पूर्वनिर्धारित अर्थ की पुष्टि या खंडन करने में सक्षम है जो मैं हूँ। चूंकि यह वर्तमान स्वयं एक नए भविष्य के प्रकाश में अतीत की एक स्वतंत्र पुनर्प्राप्ति होगी, इसलिए हम इसे निर्धारित नहीं कर पाएंगे, बल्कि केवल इसका अनुमान लगा पाएंगे और इसकी प्रतीक्षा कर पाएंगे। मेरे वास्तविक आचरण का अर्थ वह फटकार है जो मैं उस विशेष व्यक्ति को देना चाहता हूँ जिसने मुझे गंभीर रूप से आहत किया है। लेकिन मुझे कैसे पता चलेगा कि यह फटकार चिड़चिड़े और डरपोक हकलाहट में न बदल जाए और मेरे वर्तमान आचरण का अर्थ अतीत में न बदल जाए? स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता को सीमित करती है; अतीत का अर्थ वर्तमान से निकलता है। जैसा कि हमने दिखाया है, यही इस विरोधाभास की व्याख्या करता है कि हमारा वास्तविक आचरण पूरी तरह से पारदर्शी (पूर्व-चिंतनशील विचार) है और साथ ही साथ एक स्वतंत्र निर्धारण द्वारा पूरी तरह से छिपा हुआ है, जिसकी हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए। किशोर अपने आचरण के रहस्यमय अर्थ से पूरी तरह अवगत होता है, और साथ ही उसे अपने भविष्य को पूरी तरह से सौंपना पड़ता है ताकि यह निर्धारित कर सके कि वह "किशोरावस्था के संकट से गुजर रहा है" या भक्ति के मार्ग पर गंभीरता से चल रहा है।
इस प्रकार हमारी आगे की स्वतंत्रता, क्योंकि यह हमारी वास्तविक संभावना नहीं बल्कि उन संभावनाओं की नींव है जो हम अभी तक नहीं हैं, पूर्ण पारदर्शिता में एक प्रकार की अस्पष्टता का निर्माण करती है, कुछ ऐसा जैसा बैरेस ने "दिन के उजाले में रहस्य" कहा था। इसलिए हमारे लिए स्वयं की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। हमारा जीवन केवल एक लंबी प्रतीक्षा है: पहले

अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की प्रतीक्षा (किसी कार्य में संलग्न होना उसके परिणाम की प्रतीक्षा करना है) और विशेष रूप से स्वयं की प्रतीक्षा (भले ही यह कार्य पूरा हो जाए, भले ही मैं स्वयं को प्रेम का पात्र बना सकूँ, यह विशिष्टता, यह कृपा प्राप्त कर सकूँ, फिर भी मेरे जीवन में इस उद्यम का स्थान, अर्थ और मूल्य निर्धारित करना मेरा ही कार्य है)। यह मानवीय "प्रकृति" में किसी आकस्मिक कमी से उत्पन्न नहीं होता है, उस घबराहट से नहीं जो हमें वर्तमान तक सीमित रहने से रोकती है और जिसे अभ्यास से सुधारा जा सकता है, बल्कि स्वयं के लिए की उस प्रकृति से उत्पन्न होता है जो उस हद तक "है" जिस हद तक वह स्वयं को कालिक बनाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन को केवल प्रतीक्षाओं से ही नहीं, बल्कि उन प्रतीक्षाओं से भी निर्मित मानें जो स्वयं प्रतीक्षाओं की प्रतीक्षा करती हैं। यहीं हमें आत्मत्व की संरचना मिलती है: स्वयं होना ही स्वयं तक पहुँचना है। ये सभी प्रतीक्षाएँ स्पष्ट रूप से एक अंतिम लक्ष्य की ओर संकेत करती हैं, जिसकी प्रतीक्षा बिना किसी और चीज़ की प्रतीक्षा किए की जाएगी। एक ऐसा विश्राम जो अस्तित्व होगा, न कि अस्तित्व की प्रतीक्षा। संपूर्ण श्रृंखला इस अंतिम लक्ष्य से जुड़ी हुई है, जो सिद्धांत रूप से कभी प्राप्त नहीं होता और जो हमारे अस्तित्व का मूल्य है—अर्थात्, स्पष्ट रूप से, "स्वयं में स्वयं के लिए" प्रकार की परिपूर्णता। इस अंतिम लक्ष्य के माध्यम से हम अपने अतीत को एक बार और हमेशा के लिए पुनः प्राप्त कर सकेंगे। हम हमेशा के लिए जान सकेंगे कि कोई विशेष युवावस्था का अनुभव फलदायी था या दुर्भाग्यपूर्ण, किशोरावस्था का कोई विशेष संकट एक संयोग था या मेरे बाद के दायित्वों का वास्तविक पूर्व-निर्माण; हमारे जीवन का वक्र हमेशा के लिए निर्धारित हो जाएगा। संक्षेप में, हिसाब-किताब समाप्त हो जाएगा। ईसाइयों ने मृत्यु को इस अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया है। रेवरेंड फादर बोइसेलॉट ने मुझसे एक निजी बातचीत में मुझे समझाया कि "अंतिम न्याय" ठीक यही हिसाब-किताब का समापन है जो किसी व्यक्ति को अपने आघात से उबरने में असमर्थ बना देता है और जो उसे अंततः वही बना देता है जो वह रहा है - अपरिवर्तनीय रूप से।
लेकिन यहाँ एक त्रुटि है जो लाइबनिज़ के संदर्भ में हमने पहले बताई थी, हालाँकि इसे अस्तित्व के दूसरे छोर पर रखा गया है। लाइबनिज़ के अनुसार, हम स्वतंत्र हैं क्योंकि हमारे कर्म हमारे सार से उत्पन्न होते हैं। फिर भी, यह तथ्य कि हमारा सार हमारे द्वारा नहीं चुना गया है, यह दर्शाता है कि यह सारी स्वतंत्रता वास्तव में पूर्ण दासता को छुपाती है। ईश्वर ने आदम के सार को चुना। इसके विपरीत, यदि हिसाब-किताब का समापन ही हमारे जीवन को अर्थ और मूल्य प्रदान करता है, तो यह कम महत्व रखता है कि हमारे जीवन के ताने- बाने को बनाने वाले सभी कर्म स्वतंत्र रहे हों; यदि हम स्वयं उस क्षण को नहीं चुनते जब हिसाब-किताब समाप्त होगा, तो उनका अर्थ ही हमसे छूट जाता है। इस बात को स्वतंत्र विचारक लेखक ने स्पष्ट रूप से समझा है, जिन्होंने एक उपाख्यान लिखा है जिसकी प्रतिध्वनि डिडेरोट की रचना में मिलती है। न्याय के दिन दो भाई ईश्वर के समक्ष उपस्थित हुए। पहले ने ईश्वर से कहा, “आपने

मुझे इतनी कम उम्र में क्यों मरने दिया?” और ईश्वर ने कहा, “तुम्हें बचाने के लिए। यदि तुम अधिक समय तक जीवित रहते, तो तुम भी अपने भाई की तरह अपराध करते।” तब भाई ने पूछा, “आपने मुझे इतनी वृद्धावस्था में क्यों मरने दिया?” यदि मृत्यु हमारे अस्तित्व का स्वतंत्र निर्धारण नहीं है, तो यह हमारे जीवन को पूर्ण नहीं कर सकती। यदि एक मिनट कम या ज्यादा होने से सब कुछ बदल सकता है, और यदि यह मिनट मेरे खाते में जुड़ जाए या घट जाए, तो यह मानते हुए भी कि मैं अपने जीवन का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र हूँ, मेरे जीवन का अर्थ मुझसे ओझल हो जाता है। अब ईसाई मृत्यु ईश्वर की ओर से आती है। वह हमारा समय चुनता है, और सामान्य तौर पर मैं स्पष्ट रूप से जानता हूँ कि भले ही मैं स्वयं को क्षणिक बनाकर मिनटों और घंटों का कारण बनता हूँ, फिर भी मेरी मृत्यु का समय मेरे द्वारा निर्धारित नहीं होता; ब्रह्मांड के नियम ही इसे निर्धारित करते हैं।
यदि ऐसा है, तो हम यह भी नहीं कह सकते कि मृत्यु जीवन को बाहरी अर्थ प्रदान करती है; अर्थ केवल व्यक्तिपरकता से ही आ सकता है। चूंकि मृत्यु हमारी स्वतंत्रता की नींव पर प्रकट नहीं होती, इसलिए यह जीवन से सभी अर्थ छीन सकती है। यदि मैं प्रतीक्षा की प्रतीक्षा में हूँ और अचानक मेरी अंतिम प्रतीक्षा का उद्देश्य और प्रतीक्षा करने वाला दोनों ही समाप्त हो जाते हैं, तो प्रतीक्षा पूर्वव्यापी रूप से निरर्थक लगने लगती है। उदाहरण के लिए, यह युवक तीस वर्षों से एक महान लेखक बनने की आशा में जी रहा है, लेकिन यह प्रतीक्षा ही पर्याप्त नहीं है; यह एक व्यर्थ और अर्थहीन हठधर्मिता बन जाती है या फिर उसके द्वारा लिखी गई पुस्तकों के अनुसार उसके मूल्य की गहरी समझ। उसकी पहली पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, लेकिन अपने आप में इसका क्या अर्थ है? यह एक नौसिखिए की पुस्तक है। मान लेते हैं कि यह अच्छी है; फिर भी इसका अर्थ भविष्य से ही मिलता है। यदि यह अद्वितीय है, तो यह एक साथ आरंभ और वसीयत दोनों है। उसे केवल एक ही पुस्तक लिखनी थी; वह अपने काम से सीमित और विवश है; वह "एक महान लेखक" नहीं बनेगा। अगर यह उपन्यास किसी साधारण सी श्रृंखला का हिस्सा है, तो यह महज एक "संयोग" है। अगर इसके बाद और भी बेहतर उपन्यास आते हैं, तो इसके लेखक को प्रथम श्रेणी में रखा जा सकता है। लेकिन ठीक इसी मोड़ पर लेखक की मृत्यु हो जाती है—ठीक उसी क्षण जब वह यह जानने के लिए उत्सुकता से खुद को परख रहा था कि क्या उसमें कोई और रचना लिखने की क्षमता है, ठीक उसी क्षण जब वह एक महान लेखक बनने की आशा रखता था। यही सब कुछ अनिश्चितता में डाल देता है: मैं यह नहीं कह सकता कि मृत लेखक ने केवल एक ही पुस्तक लिखी है (इस अर्थ में कि उसे केवल एक ही पुस्तक लिखनी थी) और न ही यह कि उसने कई पुस्तकें लिखी होंगी (क्योंकि वास्तव में केवल एक ही प्रकाशित हुई है)। मैं कुछ नहीं कह सकता। मान लीजिए कि बाल्ज़ाक की मृत्यु 'लेस चौआन्स' से पहले हो गई होती; तो वह कुछ बेहद घटिया षड्यंत्रकारी उपन्यासों के लेखक ही रह जाते। लेकिन अचानक इस नौजवान की वह आशा, एक महान व्यक्ति बनने की वह आशा, अपना अर्थ खो देती है; यह न तो हठ और अहंकार से भरी अंधता है और न ही अपने मूल्य का सच्चा बोध, क्योंकि इसे कोई भी कभी तय नहीं कर सकता। कला के प्रति उनके बलिदानों, उनके द्वारा

भोगे गए गुमनाम और कठिन जीवन के आधार पर इसका निर्णय करना व्यर्थ होगा; ठीक वैसे ही जैसे कई साधारण व्यक्तियों ने भी ऐसे ही बलिदान करने का साहस दिखाया है। इसके विपरीत, इस आचरण का अंतिम मूल्य हमेशा अनिश्चित बना रहता है; या यूँ कहें कि संपूर्ण (विशेष प्रकार के आचरण, अपेक्षाएँ, मूल्य) अचानक बेतुका हो जाता है। इस प्रकार मृत्यु कभी भी जीवन को अर्थ नहीं देती; बल्कि इसके विपरीत, यह सिद्धांत रूप से जीवन से सभी अर्थ छीन लेती है। यदि हमें मरना ही है, तो हमारे जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता क्योंकि उसकी समस्याओं का कोई समाधान नहीं निकलता और क्योंकि समस्याओं का मूल अर्थ ही अनिश्चित बना रहता है।
इस मजबूरी से बचने के लिए आत्महत्या का सहारा लेना व्यर्थ होगा। आत्महत्या को जीवन का अंत नहीं माना जा सकता, जिसके लिए मैं ही एकमात्र आधार बनूँ। चूंकि यह मेरे जीवन का एक कार्य है, इसलिए इसे एक अर्थ की आवश्यकता है जो केवल भविष्य ही दे सकता है; लेकिन चूंकि यह मेरे जीवन का अंतिम कार्य है, इसलिए इसे यह भविष्य नहीं मिल पाता। इस प्रकार यह पूरी तरह अनिश्चित रहता है। यदि मैं मृत्यु से बच जाऊँ, या यदि मेरा प्रयास विफल हो जाए, तो क्या मैं बाद में यह निर्णय नहीं लूँगा कि मेरी आत्महत्या कायरता थी? क्या परिणाम मुझे यह नहीं दिखाएगा कि अन्य समाधान भी संभव थे? लेकिन चूंकि ये समाधान केवल मेरी अपनी योजनाएँ हो सकते हैं, इसलिए वे तभी सामने आ सकते हैं जब मैं जीवित रहूँ। आत्महत्या एक निरर्थक बात है जो मेरे जीवन को निरर्थकता में डुबो देती है।
ध्यान दें कि ये टिप्पणियाँ मृत्यु के विचार से नहीं, बल्कि जीवन के विचार से उत्पन्न हुई हैं; ऐसा इसलिए है क्योंकि स्व-अस्तित्व वह है जिसमें अस्तित्व का प्रश्न उठता है; चूंकि स्व-अस्तित्व वह है जो हमेशा एक "परलोक" का दावा करता है, इसलिए स्व-अस्तित्व में मृत्यु के लिए कोई स्थान नहीं है। तो फिर मृत्यु की प्रतीक्षा का क्या अर्थ हो सकता है यदि यह किसी अनिश्चित घटना की प्रतीक्षा नहीं है जो सभी प्रतीक्षा को निरर्थक बना देती है, यहाँ तक कि स्वयं मृत्यु की प्रतीक्षा को भी। मृत्यु की प्रतीक्षा आत्म-विनाशकारी होगी, क्योंकि यह सभी प्रतीक्षा का खंडन होगी। किसी विशेष मृत्यु की ओर मेरी योजना बोधगम्य है (आत्महत्या, शहादत, वीरता) लेकिन मेरी मृत्यु की ओर मेरी योजना, जो संसार में उपस्थिति का अहसास न होने की अनिश्चित संभावना है, बोधगम्य नहीं है, क्योंकि यह योजना सभी योजनाओं का विनाश होगी। इस प्रकार मृत्यु मेरी विशिष्ट संभावना नहीं हो सकती; यह मेरी संभावनाओं में से एक भी नहीं हो सकती।
इसके अलावा, मृत्यु, जहाँ तक मुझे इसका प्रकटीकरण हो सकता है, न केवल मेरी संभावनाओं का सर्वप्रथम संभावित विनाश है, बल्कि मेरी संभावनाओं से परे का एक विनाश भी है। यह केवल वह परियोजना नहीं है जो सभी परियोजनाओं को नष्ट कर देती है और स्वयं को भी नष्ट कर देती है, मेरी अपेक्षाओं का असंभव विनाश है। यह उस दृष्टिकोण पर दूसरे के दृष्टिकोण की विजय भी है जो मेरा स्वयं के प्रति है। निस्संदेह यही वह बात है जो मालरोक्स का l’Espoir में मृत्यु के बारे में यह कहते हुए तात्पर्य है कि यह "जीवन को नियति में बदल देती है।"

वास्तव में, मृत्यु केवल अपने नकारात्मक पक्ष में मेरी संभावनाओं का विनाश है; क्योंकि वास्तव में मैं अपनी संभावनाएँ केवल उस स्वयं-अस्तित्व के विनाश के माध्यम से ही हूँ जो मुझे होना है, मृत्यु एक विनाश के विनाश के रूप में मेरे अस्तित्व को स्वयं में स्थापित करती है, उस अर्थ में जिसमें हेगेल के लिए निषेध का निषेध एक पुष्टि है। जब तक स्वयं-संबंधी अस्तित्व “जीवित” रहता है, तब तक वह अपने अतीत को पार करते हुए भविष्य की ओर अग्रसर होता है, और अतीत वही है जो स्वयं-संबंधी अस्तित्व का मूल है। जब स्वयं-संबंधी अस्तित्व “जीना बंद कर देता है,” तो यह अतीत उसका अंत नहीं होता। शून्यीकरण करने वाले अस्तित्व का लुप्त होना उसके उस भाग को प्रभावित नहीं करता जो स्वयं-संबंधी प्रकार का है; वह स्वयं-संबंधी में समाहित हो जाता है। मेरा संपूर्ण जीवन ऐसा ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह एक सामंजस्यपूर्ण समग्रता है, बल्कि यह है कि इसने अपना स्वयं का अस्तित्व खो दिया है और यह अब स्वयं के प्रति अपनी साधारण चेतना से स्वयं को परिवर्तित नहीं कर सकता। इसके ठीक विपरीत, उस जीवन में किसी भी घटना का अर्थ अब स्वयं से नहीं, बल्कि इस खुली समग्रता से निर्धारित होता है जो रुका हुआ जीवन है। जैसा कि हमने देखा है, प्राथमिक और मूलभूत अर्थ में यह अर्थ, अर्थ का अभाव है। परन्तु द्वितीयक और व्युत्पन्न अर्थ में, हजारों झिलमिलाते, इंद्रधनुषी सापेक्ष अर्थ इस “मृत” जीवन की मूलभूत निरर्थकता पर प्रभाव डाल सकते हैं।
उदाहरण के लिए, सोफोक्लीज का जीवन चाहे जितना भी घमंडपूर्ण रहा हो, यह सच है कि उनका जीवन सुखमय था, बाल्ज़ाक का जीवन अत्यंत कर्मठ था, इत्यादि। स्वाभाविक रूप से इन सामान्य विशेषताओं को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है; हम इस जीवन का वर्णन और विश्लेषण कर सकते हैं। हमें और अधिक विशिष्ट विशेषताएं प्राप्त होंगी; उदाहरण के लिए, हम किसी मृत महिला के बारे में उसी प्रकार बात कर सकेंगे जैसे मॉरियाक अपनी नायिकाओं में से एक के बारे में कहते हैं कि वह "विवेकपूर्ण हताशा" में जी रही थी। हम पास्कल की "आत्मा" (अर्थात उनके आंतरिक "जीवन") के अर्थ को "शानदार और कड़वा" के रूप में समझ सकेंगे, जैसा कि नीत्शे ने इसका वर्णन किया है। हम किसी विशेष घटना को "कायरतापूर्ण" या "असंवेदनशील" कह सकते हैं, लेकिन इस तथ्य को कभी नहीं भूल सकते कि "निरंतर अनिश्चितता में रहने" की इस क्षणिक समाप्ति से ही, जो स्वयं के लिए जीने का अर्थ है, हम एक मौलिक बेतुकेपन के आधार पर उस घटना को एक सापेक्ष अर्थ दे सकते हैं, और यह अर्थ अनिवार्य रूप से अस्थायी है, जिसका अस्थायी गुण संयोगवश निश्चित में परिवर्तित हो गया है। लेकिन पियरे के जीवन के अर्थ की ये विभिन्न व्याख्याएँ—जब पियरे ने स्वयं अपने जीवन में इन्हें लागू किया—अर्थ और दिशा को बदल देती हैं; क्योंकि स्वयं के लिए किए गए किसी भी वर्णन में स्वयं का वर्णन इस जीवन से परे स्वयं की एक परियोजना होती है। और जैसे-जैसे परिवर्तनकारी परियोजना उस जीवन से बंधी होती है जिसे वह बदलती है, पियरे का अपना जीवन ही है जो निरंतर समयबद्ध होकर अपने अर्थ को रूपांतरित करता है। अब जबकि उसका जीवन समाप्त हो चुका

है, केवल दूसरे की स्मृति ही पियरे के जीवन को वर्तमान से उसके सभी बंधनों को काटकर, उसकी परिपूर्णता में ही मुरझाने से रोक सकती है।
मृत जीवन की अनूठी विशेषता यह है कि यह एक ऐसा जीवन है जिसका दूसरा व्यक्ति स्वयं को संरक्षक बना लेता है। इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि दूसरा व्यक्ति "मृत" के जीवन का स्पष्ट, संज्ञानात्मक पुनर्निर्माण करके उसे संरक्षित करता है। इसके विपरीत, ऐसा पुनर्निर्माण मृत जीवन के प्रति दूसरे व्यक्ति के संभावित दृष्टिकोणों में से एक है; परिणामस्वरूप, "पुनर्निर्मित जीवन" (परिवार के भीतर रिश्तेदारों की यादों के माध्यम से, ऐतिहासिक परिवेश में) का चरित्र एक विशिष्ट नियति है जो कुछ जीवन को दूसरों से अलग करके चिह्नित करने वाली है। इसका आवश्यक परिणाम यह है कि विपरीत गुण "विस्मृति में खोया हुआ जीवन"—भी एक विशिष्ट नियति का प्रतिनिधित्व करता है जिसका वर्णन किया जा सकता है, एक ऐसी नियति जो दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में कुछ जीवन में फिर से प्रकट होती है। भुला दिया जाना दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण का विषय बनना है, और दूसरे व्यक्ति की ओर से एक अंतर्निहित निर्णय का परिणाम है। वास्तव में, भुला दिया जाना एक ऐसे तत्व के रूप में दृढ़तापूर्वक हमेशा के लिए समाहित हो जाना है जो एक समूह में विलीन हो जाता है (तेरहवीं शताब्दी के "महान सामंती स्वामी", अठारहवीं शताब्दी के "बुर्जुआ व्हिग्स", सोवियत अधिकारी, आदि); इसका अर्थ किसी भी प्रकार से नष्ट होना नहीं है, बल्कि यह एक सामूहिक अस्तित्व में दूसरों के साथ गठित होने के लिए अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को खो देना है।
इससे हमें स्पष्ट रूप से वह सिद्ध हो जाता है जो हम सिद्ध करना चाहते थे: कि मृतकों के साथ किसी भी संपर्क के बिना 'अन्य' का अस्तित्व प्रथम नहीं हो सकता, ताकि वह बाद में (या परिस्थितियाँ) यह तय कर सके कि उसका किसी विशेष मृत व्यक्ति (जिन्हें वह उनके जीवित रहते जानता था, 'प्रसिद्ध मृत' आदि) के साथ यह या वह संबंध होगा। वास्तव में, मृतकों के साथ - सभी मृतकों के साथ - संबंध उस मूलभूत संबंध की एक आवश्यक संरचना है जिसे हमने 'दूसरों के लिए अस्तित्व' कहा है। अपने अस्तित्व में आने पर, 'स्वयं के लिए' को मृतकों के संबंध में एक स्थिति ग्रहण करनी पड़ती है; उसकी प्रारंभिक परियोजना उन्हें बड़े अनाम समूहों या विशिष्ट व्यक्तियों के रूप में व्यवस्थित करती है। और इन सामूहिक समूहों के लिए, साथ ही इन व्यक्तियों के लिए, वह उनके अलगाव या उनकी पूर्ण निकटता को निर्धारित करता है; वह स्वयं को कालिक बनाकर उनके और स्वयं के बीच की कालिक दूरियों को प्रकट करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह अपने परिवेश के संदर्भ में स्थानिक दूरियों को प्रकट करता है। अपने अंत के माध्यम से स्वयं को ज्ञात कराते हुए, वह विलुप्त समूहों या व्यक्तियों के विशिष्ट महत्व का निर्धारण करता है। एक विशेष समूह जो पियरे के लिए पूरी तरह से अनाम और आकारहीन होगा, मेरे लिए विशिष्ट और संरचित होगा; एक और, जो मेरे लिए पूरी तरह से एकसमान है, जीन के लिए इसके घटक व्यक्तियों की उपस्थिति को प्रभावित करेगी। बीजान्टियम, रोम, एथेंस, दूसरा धर्मयुद्ध, सम्मेलन, और जितने भी विशाल कब्रिस्तान मैं पास या दूर से देख सकता हूँ, आकस्मिक अवलोकन या सावधानीपूर्वक जाँच से, मेरी स्थिति

के अनुसार, जो मैं "हूँ"। यह असंभव नहीं है (बशर्ते कि कोई इसे ठीक से समझे) किसी "व्यक्ति" को उसके मृतकों से परिभाषित करना - अर्थात्, उन वैयक्तिकरण या सामूहिकरण के क्षेत्रों से जिन्हें उसने कब्रिस्तान में निर्धारित किया है, उन सड़कों और रास्तों से जिन्हें उसने खोजा है, उस जानकारी से जिसे उसने स्वयं प्राप्त करने का निर्णय लिया है, और उन "जड़ों" से जिन्हें उसने वहाँ स्थापित किया है।
बेशक, मृत हमें चुनते हैं, लेकिन यह आवश्यक है कि पहले हम उन्हें चुनें। यहाँ हमें फिर से वह मूल संबंध मिलता है जो वास्तविकता को स्वतंत्रता से जोड़ता है: हम मृतकों के प्रति अपना दृष्टिकोण स्वयं चुनते हैं, लेकिन हमारे लिए दृष्टिकोण न चुनना संभव नहीं है। मृतकों के प्रति उदासीनता एक पूर्णतः संभव दृष्टिकोण है (इसके उदाहरण हीमाटलोस, कुछ क्रांतिकारियों या व्यक्तिवादियों में मिलेंगे)। लेकिन यह उदासीनता—जिसमें मृतकों को "पुनः मृत्यु" देना शामिल है—उनके प्रति अन्य आचरणों में से एक है। इस प्रकार, अपनी वास्तविकता के कारण ही, स्वयं-स्वयं मृतकों के प्रति पूर्ण "जिम्मेदारी" में आ जाता है; यह मृतकों के भाग्य का स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने के लिए बाध्य है। विशेष रूप से, जब हमारे चारों ओर मौजूद मृतकों का प्रश्न होता है, तो हमारे लिए—स्पष्ट रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से—उनके कार्यों के भाग्य का निर्णय न लेना संभव नहीं है; यह तब स्पष्ट होता है जब बात उस पुत्र की हो जो अपने पिता का व्यवसाय संभालता है या उस शिष्य की जो अपने गुरु के विद्यालय और शिक्षाओं को आगे बढ़ाता है। लेकिन यद्यपि अनेक परिस्थितियों में यह बंधन स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता, फिर भी यह उन सभी मामलों में मौजूद है जिनमें मृत और जीवित एक ही ऐतिहासिक और मूर्त समूह से संबंधित हैं। यह मैं ही हूँ, यह मेरी पीढ़ी के लोग ही हैं जो पिछली पीढ़ी के प्रयासों और उपक्रमों का अर्थ तय करते हैं - क्या हम उनके सामाजिक और राजनीतिक प्रयासों को पुनः आरंभ करके जारी रखेंगे, या फिर हम एक निर्णायक विच्छेद करके मृतकों को निरर्थक बना देंगे। जैसा कि हमने देखा है, 1917 का अमेरिका ही ला फेयेट के कार्यों का मूल्य और अर्थ निर्धारित करता है।
इस दृष्टिकोण से हम जीवन और मृत्यु के बीच का अंतर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं: जीवन अपना अर्थ स्वयं निर्धारित करता है क्योंकि यह हमेशा अनिश्चितता की स्थिति में रहता है; इसमें आत्म-आलोचना और आत्म-रूपांतरण की ऐसी शक्ति होती है जो इसे स्वयं को "अभी तक नहीं" के रूप में परिभाषित करने के लिए प्रेरित करती है, या दूसरे शब्दों में, इसे अपने वर्तमान स्वरूप के परिवर्तन के रूप में प्रस्तुत करती है। मृत जीवन का परिवर्तन रुकता नहीं है, फिर भी उसका सब कुछ समाप्त हो चुका होता है। इसका अर्थ यह है कि उसके लिए सब कुछ समाप्त हो चुका है और अब से वह अपने परिवर्तनों से बिना किसी प्रकार से उत्तरदायी हुए गुजरेगा। इस जीवन के लिए यह केवल एक मनमानी और निश्चित पूर्णता का प्रश्न नहीं है। इसके अतिरिक्त एक मौलिक परिवर्तन होता है: आंतरिक रूप से इसमें और कुछ नहीं हो सकता; यह पूरी तरह से बंद हो चुका है; इसमें और कुछ प्रवेश नहीं किया जा सकता; लेकिन इसका अर्थ बाहरी रूप से संशोधित होता रहता है। शांति के इस दूत की मृत्यु तक उनके कार्यों

का अर्थ (चाहे वह मूर्खता हो या चीजों की सच्चाई का गहरा बोध, सफलता हो या विफलता) उनके अपने हाथों में था। “जब तक मैं यहाँ हूँ, कोई युद्ध नहीं होगा।” लेकिन जिस हद तक यह अर्थ एक साधारण व्यक्तिवाद की सीमाओं को पार कर जाता है, जिस हद तक व्यक्ति स्वयं को एक साकार होने वाली वस्तुनिष्ठ स्थिति (यूरोप में शांति) के माध्यम से स्वयं से परिचित कराता है, मृत्यु एक पूर्ण वंचन का प्रतिनिधित्व करती है; यह दूसरा ही है जो शांति के दूत को उसके प्रयासों के अर्थ और इसलिए उसके अस्तित्व से वंचित कर देता है, क्योंकि दूसरा, अपनी इच्छा के विरुद्ध और अपने ही उभार से, उस उद्यम को विफलता या सफलता में, मूर्खता या प्रतिभा की अंतर्दृष्टि में परिवर्तित करने का प्रयास करता है जिसके द्वारा व्यक्ति ने स्वयं को स्वयं से परिचित कराया और जो वह अपने अस्तित्व में था।
इस प्रकार, मृत्यु का अस्तित्व ही हमें अपने जीवन में पूर्णतः परास्त कर देता है, जिससे दूसरे को लाभ होता है। मृत होना जीवितों का शिकार बनना है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अपनी भावी मृत्यु का अर्थ समझने का प्रयास करता है, उसे स्वयं को दूसरों के भावी शिकार के रूप में खोजना पड़ता है। अतः यहाँ हमारे सामने अलगाव का एक ऐसा मामला है जिस पर हमने इस कृति के उस भाग में विचार नहीं किया जो हमने 'दूसरों के लिए' को समर्पित किया था। वास्तव में, वहाँ हमने जिन अलगावों का अध्ययन किया था, वे ऐसे अलगाव थे जिन्हें हम दूसरे को पारलौकिक रूप में परिवर्तित करके समाप्त कर सकते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे हम अपनी स्वतंत्रता की निरपेक्ष और व्यक्तिपरक स्थापना द्वारा अपने बाह्य को समाप्त कर सकते थे। जब तक मैं जीवित हूँ, मैं अपने स्वतंत्र रूप से स्थापित लक्ष्यों द्वारा स्वयं को यह प्रकट करके कि मैं कुछ भी नहीं हूँ और मैं स्वयं को वह बनाता हूँ जो मैं हूँ, दूसरों के लिए मैं जो हूँ उससे बच सकता हूँ; जब तक मैं जीवित हूँ, मैं दूसरों द्वारा मुझमें खोजी गई बातों को झूठा साबित कर सकता हूँ, स्वयं को अन्य उद्देश्यों की ओर प्रक्षेपित करके और हर बार यह प्रकट करके कि मेरा स्व-हित का आयाम मेरे दूसरों के लिए अस्तित्व के आयाम से अतुलनीय है। इस प्रकार मैं निरंतर अपने बाह्य स्वरूप से बच निकलता हूँ और निरंतर दूसरे द्वारा पुनः ग्रहण किया जाता हूँ; और इस “संदिग्ध संघर्ष” में अंतिम विजय इन दोनों अस्तित्व रूपों में से किसी एक की नहीं होती। परन्तु इस संघर्ष में किसी भी प्रतिद्वंद्वी से सीधे संबद्ध हुए बिना मृत्यु का तथ्य, संघर्ष और पुरस्कार को दूसरे स्तर पर स्थानांतरित करके—अर्थात्, अचानक एक पक्ष को दबाकर—दूसरे के दृष्टिकोण को अंतिम विजय दिला देता है। इस अर्थ में, मृत्यु का अर्थ है निंदा, चाहे दूसरे पर कितनी भी क्षणिक विजय प्राप्त की हो; भले ही किसी ने दूसरे का उपयोग करके “अपनी स्वयं की प्रतिमा गढ़ी हो”, मृत्यु का अर्थ है केवल दूसरे के माध्यम से अस्तित्व में आना, और अपने अर्थ और अपनी विजय के अर्थ का ऋणी होना।
यदि हम तीसरे भाग में प्रस्तुत यथार्थवादी विचारों से सहमत हैं, तो हमें यह समझना होगा कि मृत्यु के बाद मेरा अस्तित्व केवल मेरे बारे में बनी सरल धारणाओं (छवियों, स्मृतियों आदि) का "दूसरे की चेतना में" मात्र एक प्रेत

के रूप में अस्तित्व नहीं है। दूसरों के लिए मेरा अस्तित्व एक वास्तविक अस्तित्व है। यदि यह दूसरे के हाथों में उस आवरण की तरह बना रहता है जिसे मैं अपने चले जाने के बाद उसके लिए छोड़ जाता हूँ, तो यह मेरे अस्तित्व के एक वास्तविक आयाम के कारण है—एक ऐसा आयाम जो मेरा अद्वितीय आयाम बन गया है—न कि किसी सारहीन प्रेत के रूप में। रिचेल्यू, लुई XV, मेरे दादाजी किसी भी तरह से मेरी स्मृतियों का मात्र योग नहीं हैं, न ही उन सभी लोगों की स्मृतियों या ज्ञान का योग हैं जिन्होंने उनके बारे में सुना है; वे वस्तुनिष्ठ और अस्पष्ट अस्तित्व हैं जो बाह्यता के एकल आयाम तक सीमित हैं। इस रूप में वे मानव जगत में अपना इतिहास रचेंगे, लेकिन वे कभी भी पारलौकिक से अधिक नहीं होंगे—संसार के बीच में पारलौकिक। इस प्रकार, मृत्यु न केवल मेरी प्रतीक्षा को निश्चित रूप से समाप्त करके और मुझे यह बताने वाले लक्ष्यों की अनिश्चितता में त्यागकर मेरी प्रतीक्षा को निरस्त्र कर देती है कि मैं क्या हूँ, बल्कि यह मेरे द्वारा अनुभव की जाने वाली हर चीज़ को बाहर से एक अर्थ प्रदान करती है। मृत्यु उस सभी व्यक्तिपरकता को पुनः प्राप्त कर लेती है जिसने "जीवित" रहते हुए स्वयं को बाह्यीकरण से बचाया था, और मृत्यु इसे सभी व्यक्तिपरक अर्थों से वंचित कर देती है ताकि इसे किसी भी वस्तुनिष्ठ अर्थ को सौंप सके जो दूसरा इसे देना चाहे। फिर भी, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि मेरे जीवन को इस प्रकार प्रदान की गई यह "नियति" भी अधर में लटकी रहती है, राहत में रहती है। प्रश्न, "रोबेस्पियर की निश्चित ऐतिहासिक नियति क्या होगी?" का उत्तर इस प्रारंभिक प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है: "क्या इतिहास का कोई अर्थ है?" अर्थात्, "क्या इतिहास पूर्ण हो गया है या केवल समाप्त हो गया है?" यह प्रश्न अनसुलझा है। शायद यह अनसुलझा है क्योंकि इसके सभी संभावित उत्तर (आदर्शवाद के उत्तर सहित: "मिस्र का इतिहास मिस्र विज्ञान का इतिहास है") स्वयं ऐतिहासिक हैं।
इस प्रकार, यह स्वीकार करते हुए कि मेरी मृत्यु मेरे जीवन में प्रकट हो सकती है, हम देखते हैं कि यह मेरी आत्मनिष्ठा का विशुद्ध अवरोध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा अवरोध, जो इस आत्मनिष्ठा की एक आंतरिक घटना है, अंततः केवल आत्मनिष्ठा से ही संबंधित हो सकता है। यदि यह सत्य है कि मृत्यु को मृत्यु की अवस्था के रूप में—अर्थात् जीवन से परे—देखने में हठधर्मी यथार्थवाद गलत था, तो भी यह तथ्य बना रहता है कि जिस मृत्यु को मैं अपनी मृत्यु के रूप में खोज सकता हूँ, वह अनिवार्य रूप से मुझसे भिन्न किसी अन्य चीज़ से जुड़ती है। वास्तव में, जहाँ तक यह मेरी संभावनाओं का सर्वप्रथम संभव शून्यीकरण है, यह मेरी संभावनाओं से परे है और इसलिए मैं इसकी प्रतीक्षा नहीं कर सकता; अर्थात्, मैं स्वयं को अपनी संभावनाओं में से एक के रूप में इसकी ओर प्रलोभित नहीं कर सकता। इसलिए मृत्यु स्वयं के लिए की सत्तामीमांसा संरचना से संबंधित नहीं हो सकती। जहाँ तक यह मुझ पर दूसरे की विजय है, यह एक तथ्य को संदर्भित करती है, जो निश्चित रूप से मौलिक है, लेकिन जैसा कि हमने देखा है, पूरी तरह से आकस्मिक है, एक ऐसा तथ्य जो दूसरे का अस्तित्व है। यदि दूसरा अस्तित्व में न होता तो हम इस मृत्यु को नहीं

जान पाते; इसे हमारे सामने प्रकट नहीं किया जा सकता, न ही इसे हमारे अस्तित्व के नियति में रूपांतरण के रूप में स्थापित किया जा सकता है; वास्तव में यह स्वयं-संबंधी और संसार, व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ, अर्थपूर्ण और सभी अर्थों का एक साथ लुप्त होना होगा। यदि मृत्यु को कुछ हद तक हमारे सामने इन विशिष्ट अर्थों के रूपांतरण के रूप में प्रकट किया जा सकता है, जो मेरे अर्थ हैं, तो यह एक अर्थपूर्ण 'अन्य' के अस्तित्व के कारण है जो अर्थों और संकेतों के स्थान की गारंटी देता है। 'अन्य' के कारण ही मेरी मृत्यु वह तथ्य है कि एक व्यक्तिपरकता के रूप में मैं संसार से विमुख हो जाता हूँ, और यह चेतना और संसार दोनों का विनाश नहीं है। तब मृत्यु में, और 'अन्य' के अस्तित्व में, एक निर्विवाद और मौलिक तथ्यात्मकता—अर्थात् एक मूलभूत आकस्मिकता—मौजूद है। यह आकस्मिकता मृत्यु को सभी सत्तामीमांसा संबंधी अनुमानों की पहुँच से बाहर कर देती है। और मृत्यु के संदर्भ में अपने जीवन का चिंतन करना, दूसरे के दृष्टिकोण को अपनाकर अपनी आत्मनिष्ठा का चिंतन करने के समान होगा। हम देख चुके हैं कि यह संभव नहीं है।
अत: हमें हाइडेगर के विपरीत यह निष्कर्ष निकालना होगा कि मृत्यु, मेरी विशिष्ट संभावना होने के बजाय, एक आकस्मिक तथ्य है जो सिद्धांत रूप से मुझसे परे है और मूलतः मेरी वास्तविकता का हिस्सा है। मैं न तो अपनी मृत्यु का पता लगा सकता हूँ, न ही उसकी प्रतीक्षा कर सकता हूँ, और न ही उसके प्रति कोई दृष्टिकोण अपना सकता हूँ, क्योंकि यह वह है जो अप्राप्य के रूप में प्रकट होता है, जो सभी प्रतीक्षाओं को निष्प्रभावी कर देता है, जो सभी दृष्टिकोणों (विशेषकर मृत्यु के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोणों) में समाहित हो जाता है और उन्हें बाह्य और स्थिर आचरणों में परिवर्तित कर देता है, जिनका अर्थ सदा दूसरों को सौंपा जाता है, स्वयं को नहीं। मृत्यु जन्म की तरह ही एक शुद्ध तथ्य है; यह बाहर से हमारे पास आती है और हमें बाहर में परिवर्तित कर देती है। मूलतः यह जन्म से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं है, और जन्म और मृत्यु की यही समानता है जिसे हम वास्तविकता कहते हैं।
क्या इसका अर्थ यह है कि मृत्यु हमारी स्वतंत्रता की सीमा निर्धारित करती है? क्या हाइडेगर के मृत्यु-अस्तित्व के सिद्धांत को त्यागकर हमने अपने अस्तित्व को स्वतंत्र रूप से अर्थ देने की उस संभावना को हमेशा के लिए छोड़ दिया है जिसके लिए हम जिम्मेदार हैं?
इसके बिलकुल विपरीत। जैसा कि हमें प्रतीत होता है, मृत्यु अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर हमें उसके तथाकथित बंधन से पूर्णतः मुक्त कर देती है। यदि हम इस विषय पर चिंतन करें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।
सबसे पहले, मृत्यु और परिमितता के दो आम तौर पर संयुक्त विचारों को पूरी तरह से अलग करना उचित होगा। आमतौर पर यह माना जाता है कि मृत्यु ही हमारी परिमितता का निर्माण करती है और उसे हमारे सामने प्रकट करती है। इस संयोजन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मृत्यु एक तात्विक अनिवार्यता का रूप ले लेती है और परिमितता, दूसरी ओर, मृत्यु से अपना आकस्मिक चरित्र प्राप्त करती है। विशेष रूप से हाइडेगर ने अपने संपूर्ण 'सीन-ज़ुम-टोडे' सिद्धांत को

नहीं। यह बेतुका है कि हम जन्म लेते हैं; यह बेतुका है कि हम मरते हैं। दूसरी ओर, इस बेतुकेपन को मेरे अस्तित्व-संभावना के स्थायी अलगाव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो अब मेरी संभावना नहीं बल्कि दूसरे की संभावना है। इसलिए यह मेरी व्यक्तिपरकता की एक बाहरी और तथ्यात्मक सीमा है!
लेकिन क्या हम इस बिंदु पर उस वर्णन को नहीं पहचानते जिसका हमने पिछले भाग में प्रयास किया था? यह तथ्यात्मक सीमा जिसे एक ओर तो हमें स्वीकार करना ही होगा क्योंकि बाहर से कुछ भी हम तक नहीं पहुँचता और क्योंकि एक अर्थ में मृत्यु का अनुभव करना अत्यंत आवश्यक है यदि हम उसे नाम भी दे सकें, यह तथ्यात्मक सीमा जो दूसरी ओर स्वयं-स्वयं के द्वारा कभी अनुभव नहीं की जाती क्योंकि यह स्वयं-स्वयं में केवल दूसरों के लिए उसके अस्तित्व की अनिश्चित स्थायित्व के रूप में ही प्रवेश करती है—यह सीमा क्या है यदि ठीक उसी प्रकार की अवास्तविकताओं में से एक नहीं है? यह क्या है यदि हमारे विपरीत पक्ष का एक संश्लेषित पहलू नहीं है? नश्वर उस वर्तमान अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है जो मैं दूसरे के लिए हूँ; मृत दूसरे के लिए मेरे वास्तविक स्वयं-स्वयं के भविष्य के अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए हम अपनी परियोजनाओं की एक स्थायी सीमा से निपट रहे हैं; और इस प्रकार इस सीमा को मान लेना होगा। इसलिए यह एक बाह्यता है जो स्वयं-स्वयं द्वारा इसे साकार करने के प्रयास में भी बाह्यता बनी रहती है। यह वही है जिसे हमने ऊपर साकार किए जाने वाले अवास्तविक के रूप में परिभाषित किया है। मूलतः, उस चुनाव में कोई अंतर नहीं है जिसके द्वारा स्वतंत्रता अपनी मृत्यु को अपनी व्यक्तिपरकता की अबोधगम्य और अकल्पनीय सीमा मानकर स्वीकार करती है, और उस चुनाव में जिसके द्वारा वह दूसरे की स्वतंत्रता की वास्तविकता से सीमित स्वतंत्रता बनना चुनती है। इस प्रकार, मृत्यु मेरे लिए पूर्व में परिभाषित अर्थ में संभावना नहीं है; यह मेरे चुनाव के चुने हुए और क्षणभंगुर विपरीत पक्ष के रूप में एक परिस्थिति-सीमा है। यह मेरे लिए उस अर्थ में संभव नहीं है कि यह मेरा अपना अंत होगा जो मुझे मेरे अस्तित्व से अवगत कराएगा। लेकिन इस तथ्य के कारण कि यह कहीं और एक बाह्य और एक स्वतः- स्वयं के रूप में विद्यमान होने की एक अपरिहार्य आवश्यकता है, यह "अंतिम" के रूप में आंतरिक हो जाती है; अर्थात्, पदानुक्रमित संभावनाओं के एक विषयगत अर्थ के रूप में, एक ऐसा अर्थ जो पहुंच से बाहर है।
इस प्रकार, मृत्यु मेरे प्रत्येक प्रोजेक्ट के मूल में, उसके अपरिहार्य विपरीत पहलू के रूप में, मेरा पीछा करती है। लेकिन ठीक इसी कारण से कि इस "विपरीत पहलू" को मेरी संभावना के रूप में नहीं, बल्कि इस संभावना के रूप में माना जाना चाहिए कि मेरे लिए अब कोई संभावना नहीं बची है, यह मुझ पर प्रभाव नहीं डालती। जो स्वतंत्रता मेरी स्वतंत्रता है, वह पूर्ण और अनंत बनी रहती है। मृत्यु मेरे प्रोजेक्टों में बाधा नहीं है; यह केवल इन प्रोजेक्टों का कहीं और का भाग्य है। और ऐसा इसलिए नहीं है कि मृत्यु मेरी स्वतंत्रता को सीमित नहीं करती, बल्कि इसलिए कि स्वतंत्रता कभी इस सीमा का सामना नहीं करती। मैं "मरने के लिए स्वतंत्र" नहीं हूँ, बल्कि मैं एक

स्वतंत्र नश्वर प्राणी हूँ। चूंकि मृत्यु मेरे प्रोजेक्टों से परे है क्योंकि यह अवास्तविक है, इसलिए मैं स्वयं अपने प्रोजेक्ट में मृत्यु से बच निकलता हूँ। चूंकि मृत्यु हमेशा मेरी आत्मनिष्ठा से परे है, इसलिए मेरी आत्मनिष्ठा में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। यह आत्मनिष्ठा स्वयं को मृत्यु के विरुद्ध नहीं, बल्कि उससे स्वतंत्र रूप से स्थापित करती है, हालांकि यह स्थापना तुरंत ही विमुख हो जाती है। इसलिए हम न तो मृत्यु के बारे में सोच सकते हैं, न ही उसकी प्रतीक्षा कर सकते हैं, न ही उससे स्वयं को बचा सकते हैं; बल्कि हमारे प्रोजेक्ट भी, प्रोजेक्ट के रूप में, मृत्यु से स्वतंत्र हैं—हमारी अंधता के कारण नहीं, जैसा कि ईसाई कहते हैं, बल्कि सिद्धांत के आधार पर। और यद्यपि ऐसे अनगिनत दृष्टिकोण हो सकते हैं जिनके माध्यम से हम इस अवास्तविक स्थिति का सामना कर सकते हैं जिसे "बदले में" साकार किया जाना है, इन दृष्टिकोणों को प्रामाणिक या अप्रामाणिक के रूप में वर्गीकृत करने का कोई स्थान नहीं है क्योंकि हम सभी अंततः मर जाते हैं।
मेरे स्थान, मेरे अतीत, मेरे परिवेश, मेरी मृत्यु और मेरे सहपाठियों से संबंधित ये विभिन्न विवरण संपूर्ण या विस्तृत होने का दावा नहीं करते। इनका उद्देश्य मात्र हमें "स्थिति" की स्पष्ट समझ प्रदान करना है। इन विवरणों के बदौलत, हम उस "स्थिति में होने" को अधिक सटीक रूप से परिभाषित कर सकेंगे जो स्वयं के लिए होने की भावना को दर्शाती है, इस अर्थ में कि यह अपने अस्तित्व के तरीके के लिए उत्तरदायी है, लेकिन इसके अस्तित्व का आधार नहीं है।
(1) मैं अन्य अस्तित्वों के बीच विद्यमान हूँ। परन्तु मैं दूसरों के बीच इस अस्तित्व को “साक्षात्कार” नहीं कर सकता; मैं अपने चारों ओर के अस्तित्वों को वस्तु के रूप में नहीं समझ सकता, न ही स्वयं को एक घिरे हुए अस्तित्व के रूप में समझ सकता हूँ, और न ही “के बीच में” होने की इस धारणा को कोई अर्थ दे सकता हूँ, सिवाय स्वयं को चुनने के—अपने अस्तित्व में नहीं, बल्कि अपने होने के तरीके में। इस लक्ष्य का चुनाव उस चीज़ का चुनाव है जो अभी अस्तित्व में नहीं है। संसार के बीच मेरी स्थिति मेरे चारों ओर की वास्तविकताओं में निहित उपयोगिता या प्रतिकूलता तथा मेरी स्वयं की वास्तविकता के बीच के संबंध से परिभाषित होती है; अर्थात्, संसार में मेरे द्वारा उठाए जाने वाले खतरों, वहाँ आने वाली बाधाओं, मुझे दी जा सकने वाली सहायता की खोज, यह सब मेरे स्वयं के पूर्ण शून्यीकरण और स्वयं के भीतर के पूर्ण निषेध के प्रकाश में होता है, और यह सब एक स्वतंत्र रूप से स्थापित लक्ष्य के दृष्टिकोण से किया जाता है। इसी को हम स्थिति कहते हैं।
(2) स्थिति केवल किसी लक्ष्य की ओर दिए गए से आगे बढ़ने के साथ ही विद्यमान होती है। यह वह तरीका है जिससे दिया गया वह स्वरूप जो मैं हूँ और दिया गया वह स्वरूप जो मैं नहीं हूँ, उस स्व-सम्भाव के समक्ष प्रकट होता है जो मैं अपने अस्तित्वहीन रूप में हूँ। अतः जब हम स्थिति की बात करते हैं, तो हम "उस स्व-सम्भाव द्वारा अनुभव की गई स्थिति" की बात कर रहे होते हैं जो स्थिति में विद्यमान है। स्थिति को बाहर से देखना असंभव है; यह अपने आप में

माध्यम से की जाती है और उसे जिया जाता है। इसलिए कोई विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति नहीं है। हमारा तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसमें दी गई स्थिति अपने भार के नीचे उस स्वतंत्रता को कुचल दे जो उसे ऐसा बनाती है—और इसके विपरीत, ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसमें 'स्वयं के लिए' अन्य स्थितियों की तुलना में अधिक स्वतंत्र हो। इसे बर्गसन की उस "आंतरिक स्वतंत्रता" के अर्थ में नहीं समझा जाना चाहिए जिसका पॉलित्जर ने 'ला फिन डी'उन परेड फिलोसोफिक' (एक दार्शनिक परेड का अंत) में उपहास किया था और जिसका सीधा अर्थ गुलाम में आंतरिक जीवन और जंजीरों में जकड़े हृदय की स्वतंत्रता को पहचानना था। जब हम कहते हैं कि जंजीरों में जकड़ा गुलाम अपने मालिक के समान ही स्वतंत्र है, तो हमारा तात्पर्य किसी अनिश्चित स्वतंत्रता से नहीं है। जंजीरों में जकड़ा गुलाम उन्हें तोड़ने के लिए स्वतंत्र है; इसका अर्थ यह है कि उसकी जंजीरों का वास्तविक अर्थ उसे उस लक्ष्य के प्रकाश में दिखाई देगा जिसे उसने चुना है: गुलाम बने रहना या गुलामी से मुक्ति पाने के लिए सबसे बुरे हालातों का सामना करना। बेशक, गुलाम अपने मालिक की दौलत और जीवन स्तर प्राप्त नहीं कर सकता; लेकिन ये उसके लक्ष्य नहीं हैं; वह केवल इन खजानों के मालिक होने का सपना देख सकता है। गुलाम की वास्तविकता ऐसी है कि दुनिया उसे एक अलग रूप में दिखाई देती है और उसे अलग-अलग समस्याओं का सामना करना पड़ता है और उनका समाधान करना पड़ता है; विशेष रूप से, गुलामी के आधार पर स्वयं को चुनना और इस अस्पष्ट बंधन को अर्थ देना मौलिक रूप से आवश्यक है। उदाहरण के लिए, यदि वह विद्रोह का मार्ग चुनता है, तो गुलामी, शुरू में इस विद्रोह में बाधा होने के बजाय, विद्रोह के माध्यम से ही अपना अर्थ और विपत्ति का महत्व प्राप्त करती है। स्पष्ट रूप से कहें तो, केवल इसलिए कि विद्रोह करने वाले और इस विद्रोह में मरने वाले दास का जीवन एक स्वतंत्र जीवन है, केवल इसलिए कि एक स्वतंत्र योजना द्वारा प्रकाशित स्थिति पूर्ण और ठोस है, केवल इसलिए कि इस जीवन की तात्कालिक और प्रमुख समस्या "क्या मैं अपना लक्ष्य प्राप्त कर पाऊंगा?" है—केवल इन सब कारणों से, दास की स्थिति की तुलना स्वामी की स्थिति से नहीं की जा सकती। वास्तव में, दोनों का अर्थ केवल स्वयं के संदर्भ में और अपने लक्ष्यों के स्वतंत्र चुनाव के आधार पर ही निर्धारित होता है। तुलना केवल एक तीसरे व्यक्ति द्वारा ही की जा सकती है और इसलिए यह केवल संसार के बीच दो वस्तुनिष्ठ रूपों के बीच ही हो सकती है; इसके अलावा, यह केवल उस तीसरे व्यक्ति द्वारा स्वतंत्र रूप से चुनी गई योजना के प्रकाश में ही स्थापित की जा सकती है। विभिन्न स्थितियों की तुलना करने के लिए कोई निरपेक्ष दृष्टिकोण नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति केवल एक ही स्थिति का अनुभव करता है—अपनी स्वयं की।
(4) चूंकि स्थिति उन लक्ष्यों से प्रकाशित होती है जो स्वयं केवल उस 'अस्तित्व' के संदर्भ में ही प्रक्षेपित होते हैं, जिसे वे प्रकाशित करते हैं, इसलिए इसे अत्यंत ठोस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बेशक इसमें अमूर्त और सार्वभौमिक संरचनाएं समाहित हैं और उन्हें बनाए रखती हैं, लेकिन इसे उस एकमात्र रूप में समझा जाना चाहिए जिसे दुनिया हमारे सामने

सफलता या विफलता का निर्धारण करते हैं। परन्तु स्वतंत्रता के माध्यम से ही विधिक संबंध संसार में आते हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता स्वयं को संसार में लक्ष्यों की ओर एक स्वतंत्र परियोजना के रूप में जकड़ लेती है।
(6) स्वयं के लिए एक कालिकता है। इसका अर्थ यह है कि यह स्वयं नहीं है, बल्कि यह स्वयं को "सृजित" करता है। यह वह स्थिति है जो उस ठोस स्थायित्व का स्पष्टीकरण देती है जिसे हम लोगों में सहजता से पहचानते हैं ("वह बदला नहीं है।" "वह हमेशा एक जैसा है।") और जिसे व्यक्ति अधिकतर मामलों में अपने अनुभव के आधार पर स्वयं का मानता है। किसी एक परियोजना में स्वतंत्र दृढ़ता किसी स्थायित्व का संकेत नहीं देती; बल्कि इसके विपरीत, यह मेरी प्रतिबद्धता का निरंतर नवीनीकरण है—जैसा कि हमने देखा है। दूसरी ओर, एक ऐसी परियोजना द्वारा परिबद्ध और प्रकाशित वास्तविकताएँ जो स्वयं को विकसित और पुष्ट करती हैं, स्वयं में स्थायित्व प्रस्तुत करती हैं; और जिस हद तक वे हमारी छवि को हमसे जोड़ती हैं, वे अपनी शाश्वतता से हमारा समर्थन करती हैं; वास्तव में, अक्सर ऐसा होता है कि हम उनके स्थायित्व को अपना मान लेते हैं। विशेष रूप से स्थान और परिवेश का स्थायित्व, हमारे साथी मनुष्यों द्वारा हम पर दिए गए निर्णय, हमारा अतीत—ये सभी हमारी दृढ़ता की एक विकृत छवि को आकार देते हैं। जब मैं स्वयं को समय के संदर्भ में देखता हूँ, तब भी दूसरों के लिए मैं हमेशा एक फ्रांसीसी, एक सरकारी कर्मचारी या एक सर्वहारा ही रहता हूँ। यह अवास्तविकता मेरी स्थिति के लिए एक अपरिवर्तनीय सीमा का स्वरूप धारण कर लेती है।
इसी प्रकार, जिसे हम किसी व्यक्ति का स्वभाव या चरित्र कहते हैं, जो दूसरे के लिए उसकी स्वतंत्र रचना मात्र है, वही स्वयं के लिए भी एक अपरिवर्तनीय, अवास्तविक रूप में प्रकट होता है। एलेन ने सही समझा है कि चरित्र एक प्रतिज्ञा है। जब कोई व्यक्ति कहता है, "मुझे प्रसन्न करना आसान नहीं है," तो वह अपने चिड़चिड़े स्वभाव के साथ एक स्वतंत्र अनुबंध कर रहा होता है, और इसी प्रकार उसके शब्द उसके अतीत के कुछ अस्पष्ट विवरणों की स्वतंत्र व्याख्या हैं। इस अर्थ में कोई चरित्र नहीं है; केवल स्वयं की एक रचना है। लेकिन हमें चरित्र के दिए गए पहलू को गलत नहीं समझना चाहिए। यह सच है कि दूसरे के लिए, जो मुझे दूसरे-वस्तु के रूप में देखता है, मैं चिड़चिड़ा, पाखंडी या स्पष्टवादी, कायर या साहसी हो सकता हूँ। यह पहलू मुझे दूसरे की दृष्टि से मिलता है; दृष्टि के अनुभव से, यह चरित्र, जो एक स्वतंत्र, जीवंत और आत्म-जागरूक रचना थी, एक अवास्तविक, अवास्तविक, आद्यरूप बन जाता है जिसे अपनाना पड़ता है। यह न केवल दूसरे पर निर्भर करता है, बल्कि उस स्थिति पर भी निर्भर करता है जो मैंने दूसरे के संबंध में अपनाई है और उस स्थिति को बनाए रखने में मेरी दृढ़ता पर भी। जब तक मैं दूसरे के रूप से मोहित होता रहूंगा, मेरा चरित्र मेरी ही दृष्टि में एक अवास्तविक, अपरिवर्तनीय, मेरे अस्तित्व की ठोस स्थिरता के रूप में दिखाई देगा—वही बात जो रोजमर्रा की आम टिप्पणियों में व्यक्त होती है जैसे "मैं पैंतालीस साल का हूं, और मैं आज से खुद को बदलना शुरू नहीं करने वाला।" चरित्र अक्सर वह होता है जिसे 'स्वयं के लिए' अस्तित्व बनने के लिए पुनः प्राप्त करने का प्रयास करता है।

फिर भी, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि अतीत, परिवेश और चरित्र की यह स्थिरता जन्मजात गुण नहीं हैं; वे केवल मेरी परियोजना की निरंतरता के संबंध में ही चीजों पर प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, जब युद्ध के बाद, लंबे निर्वासन के बाद कोई व्यक्ति किसी विशेष पर्वतीय परिदृश्य को अपरिवर्तित पाता है, तो इन पत्थरों की जड़ता और स्पष्ट स्थिरता पर अतीत के पुनरुत्थान की आशा करना व्यर्थ होगा। यह भूदृश्य अपनी स्थिरता को केवल निरंतर प्रयास के माध्यम से ही प्रकट करता है। ये पर्वत मेरे जीवन में एक विशेष अर्थ रखते हैं; किसी न किसी रूप में ये मुझे एक ऐसे राष्ट्र से जुड़ाव का एहसास कराते हैं जो शांतिपूर्ण है, आत्मनिर्भर है, और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक विशेष स्थान रखता है। यदि मैं किसी हार के बाद और राष्ट्रीय क्षेत्र के एक हिस्से पर कब्जे के दौरान इन्हें फिर से देखूं, तो ये मुझे वही भाव नहीं दे पाएंगे। ऐसा इसलिए है क्योंकि मेरे स्वयं के अन्य लक्ष्य हैं, क्योंकि मैं दुनिया में अलग तरह से जुड़ा हुआ हूं।
अंततः हमने देखा है कि पर्यावरण में स्वायत्त परिवर्तनों के कारण स्थिति में आंतरिक उथल-पुथल की हमेशा उम्मीद की जा सकती है। ये परिवर्तन मेरे प्रोजेक्ट में कभी परिवर्तन नहीं ला सकते, लेकिन मेरी स्वतंत्रता के आधार पर वे स्थिति को सरल या जटिल बना सकते हैं। परिणामस्वरूप, मेरा प्रारंभिक प्रोजेक्ट मुझे कमोबेश सरलता से प्रकट होगा। क्योंकि कोई व्यक्ति न तो पूरी तरह सरल होता है और न ही जटिल; यह उसकी स्थिति होती है जो या तो सरल होती है या जटिल। वास्तव में, मैं एक निर्धारित स्थिति से परे स्वयं का प्रोजेक्ट मात्र हूँ, और यह प्रोजेक्ट मुझे ठोस स्थिति के संदर्भ में पूर्वनिर्धारित करता है, साथ ही साथ मेरी पसंद के संदर्भ में स्थिति को प्रकाशित करता है। इसलिए, यदि स्थिति अपने समग्र रूप में सरलीकृत है, भले ही भूस्खलन, गुफाओं के ढहने, कटाव ने उस पर हिंसक विरोधाभासों के साथ भारी विशेषताओं का एक स्पष्ट पहलू अंकित किया हो, तो मैं स्वयं सरल रहूँगा, क्योंकि मेरी पसंद—वह पसंद जो मैं हूँ—यहाँ की इस स्थिति की एक समझ है और केवल सरल ही हो सकती है। नई जटिलताओं के जन्म का परिणाम यह होगा कि मेरे सामने एक जटिल स्थिति प्रस्तुत होगी, जिसके परे मैं स्वयं को जटिल पाऊँगा। यह एक ऐसी बात है जिसे हर कोई समझ सकता है, अगर उसने देखा हो कि युद्धबंदियों की परिस्थितियाँ कितनी सरल हो जाने पर वे लगभग पशुवत सरलता से प्रतिक्रिया करते हैं। यह सरलीकरण उनके उद्देश्य के अर्थ को नहीं बदल सकता; लेकिन मेरी स्वतंत्रता की नींव पर ही यह मेरे परिवेश को संकुचित और एकसमान बना देता है, और बंदी व्यक्ति के मूलभूत लक्ष्यों की एक स्पष्ट, अधिक क्रूर और अधिक संकुचित समझ के माध्यम से उसे आकार देता है। संक्षेप में, हम एक आंतरिक चयापचय से निपट रहे हैं, न कि किसी वैश्विक रूपांतरण से जो स्थिति के स्वरूप को भी प्रभावित करता। फिर भी, ये वे परिवर्तन हैं जिन्हें मैं "अपने जीवन में" परिवर्तन के रूप में देखता हूँ—अर्थात, एक ही परियोजना के एकात्मक दायरे के भीतर परिवर्तन।
III. स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व

यद्यपि आगे आने वाले विचार मुख्य रूप से नीतिशास्त्रियों के लिए रुचिकर हैं, फिर भी इन विवरणों और तर्कों के बाद स्वयं के लिए स्वतंत्रता पर लौटना और यह समझने का प्रयास करना सार्थक हो सकता है कि यह स्वतंत्रता मानव नियति के लिए क्या दर्शाती है।
हमारी पिछली टिप्पणियों का सार यह है कि मनुष्य, स्वतंत्र होने के कारण, पूरे संसार का भार अपने कंधों पर उठाता है; वह संसार और स्वयं के प्रति एक अस्तित्व के रूप में उत्तरदायी है। हम "उत्तरदायित्व" शब्द को उसके सामान्य अर्थ में ले रहे हैं, जिसका अर्थ है "किसी घटना या वस्तु के निर्विवाद रचयिता होने की चेतना"। इस अर्थ में, स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व अत्यधिक है क्योंकि उसी के द्वारा संसार का निर्माण होता है; क्योंकि वही स्वयं को अस्तित्व में लाता है, इसलिए चाहे वह किसी भी स्थिति में हो, स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व को उस स्थिति को उसकी विशिष्ट प्रतिकूलता सहित पूर्णतः स्वीकार करना होगा, भले ही वह असहनीय हो। उसे उस स्थिति को उसके रचयिता होने के गौरवपूर्ण चेतना के साथ स्वीकार करना होगा, क्योंकि मेरे जीवन को खतरे में डालने वाली सबसे बुरी हानियाँ या सबसे बड़े खतरे केवल मेरी परियोजना में और उसके माध्यम से ही अर्थ रखते हैं; और वे मेरी प्रतिबद्धता के आधार पर ही प्रकट होते हैं। इसलिए शिकायत करने के बारे में सोचना व्यर्थ है क्योंकि किसी भी बाहरी चीज़ ने यह तय नहीं किया है कि हम क्या महसूस करते हैं, हम कैसे जीते हैं या हम क्या हैं।
इसके अलावा, यह पूर्ण उत्तरदायित्व त्याग नहीं है; यह तो हमारी स्वतंत्रता के परिणामों की तार्किक आवश्यकता मात्र है। मेरे साथ जो कुछ भी घटित होता है, वह मेरे माध्यम से ही घटित होता है, और मैं न तो उससे स्वयं को प्रभावित कर सकता हूँ, न ही उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकता हूँ, और न ही उसके प्रति स्वयं को समर्पित कर सकता हूँ। इसके अतिरिक्त, मेरे साथ जो कुछ भी घटित होता है, वह मेरा ही है। इससे हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि मनुष्य के रूप में मेरे साथ जो कुछ भी घटित होता है, मैं उसके प्रति हमेशा समतुल्य हूँ, क्योंकि मनुष्य के साथ अन्य मनुष्यों और स्वयं के माध्यम से जो कुछ भी घटित होता है, वह केवल मानवीय ही हो सकता है। युद्ध की सबसे भयानक परिस्थितियाँ, सबसे भीषण यातनाएँ भी अमानवीय स्थिति उत्पन्न नहीं करतीं; कोई अमानवीय स्थिति होती ही नहीं। केवल भय, पलायन और जादुई प्रकार के आचरण के माध्यम से ही मैं अमानवीयता का निर्णय लेता हूँ, परन्तु यह निर्णय मानवीय है, और मैं इसकी पूरी जिम्मेदारी वहन करूँगा। परन्तु इसके अतिरिक्त, यह स्थिति मेरी है क्योंकि यह मेरे स्वयं के स्वतंत्र चुनाव की छवि है, और जो कुछ भी यह मुझे प्रस्तुत करती है, वह मेरी है क्योंकि यह मेरा प्रतिनिधित्व करती है और मेरा प्रतीक है। क्या यह मैं ही नहीं हूँ जो स्वयं निर्णय लेकर चीजों में प्रतिकूलता के गुणांक और यहाँ तक कि उनकी अप्रत्याशितता का भी निर्धारण करता हूँ?
इसलिए जीवन में कोई दुर्घटना नहीं होती; कोई सामुदायिक घटना जो अचानक घटित होती है और मुझे उसमें शामिल कर लेती है, वह बाहर से नहीं आती। यदि मुझे किसी युद्ध में शामिल किया जाता है, तो यह युद्ध मेरा युद्ध है; यह मेरे

विभिन्न दृष्टिकोण—अर्थात्, इस तथ्य के प्रति कि मैं संसार में अपनी उपस्थिति का अहसास करता हूँ—वास्तव में इस जन्म को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ स्वीकार करने और इसे अपना बनाने के तरीके मात्र हैं। यहाँ भी मेरा सामना केवल स्वयं से और अपनी योजनाओं से होता है, इसलिए अंततः मेरा परित्याग—अर्थात्, मेरी वास्तविकता—केवल इस तथ्य में निहित है कि मैं स्वयं के लिए पूर्णतः उत्तरदायित्व लेने के लिए अभिशप्त हूँ। मैं वह अस्तित्व हूँ जो इस प्रकार विद्यमान है कि अपने अस्तित्व में ही अपने अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। और मेरे अस्तित्व का यह "होना" उतना ही वर्तमान और अगम्य है।
इन परिस्थितियों में, चूंकि संसार की प्रत्येक घटना मेरे लिए केवल एक अवसर के रूप में प्रकट हो सकती है (एक ऐसा अवसर जिसका उपयोग किया गया हो, जिसकी कमी हो, जिसकी उपेक्षा की गई हो, आदि), या बेहतर कहें तो, चूंकि हमारे साथ घटित होने वाली हर चीज को एक संयोग माना जा सकता है (अर्थात, वह हमारे लिए केवल उस अस्तित्व को साकार करने के एक तरीके के रूप में प्रकट हो सकती है जो हमारे अस्तित्व में प्रश्न में है), और चूंकि अन्य लोग, पारलौकिक-पारलौकिक रूप से, स्वयं केवल अवसर और संयोग हैं, इसलिए स्वयं के लिए की जिम्मेदारी संपूर्ण संसार पर एक आबाद संसार के रूप में विस्तारित होती है। ठीक इसी प्रकार स्वयं के लिए स्वयं को पीड़ा में अनुभव करता है; अर्थात्, एक ऐसे अस्तित्व के रूप में जो न तो अपने अस्तित्व का आधार है, न ही दूसरे के अस्तित्व का, न ही उन स्वयं के अस्तित्व का जो संसार का निर्माण करते हैं, बल्कि एक ऐसा अस्तित्व जो अपने भीतर और अपने बाहर हर जगह अस्तित्व के अर्थ का निर्णय करने के लिए विवश है। जो व्यक्ति पीड़ा में अपनी उस स्थिति को महसूस करता है जिसमें उसे एक ऐसी जिम्मेदारी में डाल दिया गया है जो उसके परित्याग तक विस्तारित है, उसके पास अब न तो पश्चाताप है, न ही पछतावा और न ही कोई बहाना; वह अब केवल एक ऐसी स्वतंत्रता है जो स्वयं को पूर्णतः प्रकट करती है और जिसका अस्तित्व इसी प्रकटीकरण में निहित है। परन्तु जैसा कि हमने इस रचना की शुरुआत में बताया था, अधिकतर समय हम दुर्भावना से पीड़ा से भागते हैं।
इस और अगले खंडों में सार्त्र ने मोटिफ और मोबिल के बीच स्पष्ट अंतर किया है। अंग्रेजी शब्द "मोटिफ" फ्रांसीसी शब्द मोबिल को पर्याप्त रूप से व्यक्त करता है, जो एक आंतरिक व्यक्तिपरक तथ्य या मनोवृत्ति को संदर्भित करता है। मोटिफ के लिए कोई सटीक पर्यायवाची शब्द नहीं है। चूंकि यह एक बाहरी तथ्य या स्थिति को संदर्भित करता है, इसलिए मैं इसका अनुवाद "कारण" के रूप में कर रहा हूँ। हालाँकि, पाठक को यह याद रखना चाहिए कि इसमें नियतिवाद का कोई विचार निहित नहीं है। सार्त्र नियतिवादी अर्थों में किसी भी कारण के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से नकारते हैं।
3 गैस्टन बर्जर: ले कोगिटो चेज़ हसर्ल एट चेज़ डेसकार्टेस, 1940।
4 यानी, यह सहजता नहीं है। Tr.
5 एस्क्विसे डी'उन थियोरी फेनोमेनोलॉजिक डेस इमोशन्स, हरमन, 1939।
अंग्रेजी में, भावनाएँ: एक सिद्धांत की रूपरेखा। बर्नार्ड फ्रेच्टमैन द्वारा अनुवादित। दार्शनिक पुस्तकालय, 1948।

[illegible]

[7] [illegible]: [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] 35. [illegible] [illegible], 1927.

[8] [illegible] [illegible] “[illegible] [illegible]” (tout à fait possible) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] Tr.

[9] Les jeux sont faits. Sartre has written a novel by this title. Tr

[illegible] II, [illegible] III.

[11] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible] [illegible])

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[13] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अध्याय दो

करना और पाना
I. अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण यदि यह सत्य है कि मानवीय वास्तविकता—जैसा कि हमने स्थापित करने का प्रयास किया है—अपने लक्ष्यों द्वारा स्वयं को पहचानती और परिभाषित करती है, तो इन लक्ष्यों का अध्ययन और वर्गीकरण अनिवार्य हो जाता है। पिछले अध्याय में हमने 'स्वयं-हितैषी' का अध्ययन केवल उसकी स्वतंत्र परियोजना के दृष्टिकोण से किया है, जो वह प्रेरणा है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। अब हमें इस लक्ष्य पर ही प्रश्न उठाना चाहिए, क्योंकि यह निरपेक्ष व्यक्तिपरकता का एक भाग है और वास्तव में, इसकी पारलौकिक, वस्तुनिष्ठ सीमा है। अनुभवजन्य मनोविज्ञान ने इस बात की ओर संकेत किया है कि एक विशिष्ट व्यक्ति अपनी इच्छाओं द्वारा परिभाषित होता है। यद्यपि, यहाँ हमें दो त्रुटियों से सावधान रहना चाहिए। पहली, अनुभवजन्य मनोवैज्ञानिक, मनुष्य को उसकी इच्छाओं द्वारा परिभाषित करते हुए, पदार्थ के भ्रम का शिकार हो जाता है। वह इच्छा को मनुष्य में उसकी चेतना द्वारा "निहित" होने के कारण देखता है, और वह मानता है कि इच्छा का अर्थ स्वयं इच्छा में ही निहित है। इस प्रकार वह उन सभी चीजों से बचता है जो पारलौकिकता के विचार को जन्म दे सकती हैं। लेकिन अगर मैं किसी घर, एक गिलास पानी या किसी स्त्री के शरीर की इच्छा करता/करती हूँ, तो यह शरीर, यह गिलास, यह संपत्ति मेरी इच्छा में कैसे विद्यमान हो सकती है, और मेरी इच्छा इन वस्तुओं को वांछनीय मानने की चेतना के अलावा और क्या हो सकती है? इसलिए हमें इन इच्छाओं को चेतना में निवास करने वाली छोटी-छोटी मानसिक इकाइयों के रूप में मानने से सावधान रहना चाहिए; वे स्वयं चेतना हैं, अपने मूल प्रक्षेपी, पारलौकिक स्वरूप में, क्योंकि चेतना मूलतः किसी न किसी चीज़ की चेतना है।
दूसरी त्रुटि, जो मूलतः पहली त्रुटि से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है, वह यह है कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान को उस क्षण समाप्त मान लिया जाता है जब अन्वेषक अनुभवजन्य इच्छाओं के ठोस समूह तक पहुँच जाता है। इस प्रकार, एक व्यक्ति को उन प्रवृत्तियों या आवेगों के समूह द्वारा परिभाषित किया जाएगा जिन्हें अनुभवजन्य अवलोकन स्थापित कर सकता है। स्वाभाविक रूप से, मनोवैज्ञानिक हमेशा इन प्रवृत्तियों के योग तक ही सीमित नहीं रहेगा; वह उनके संबंधों, उनके सामंजस्य और तालमेल को उजागर करना चाहेगा; वह इच्छाओं के समूह को एक संश्लेषित संगठन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा जिसमें प्रत्येक इच्छा दूसरों पर कार्य करती है और उन्हें प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, एक आलोचक; फ्लाउबर्ट के "मनोविज्ञान" की व्याख्या करने की इच्छा रखने वाला कोई व्यक्ति लिखेगा कि "अपनी युवावस्था में वे अपनी सामान्य अवस्था के रूप में अपनी भव्य महत्वाकांक्षा और अपनी अजेय शक्ति की दोहरी भावना से उत्पन्न निरंतर उत्साह को जानते थे... उनके युवा रक्त का उत्साह तब साहित्यिक जुनून में बदल गया, जैसा कि अठारह वर्ष की आयु के

आसपास उन विलक्षण प्रतिभाओं में होता है जो शैली की ऊर्जा या कल्पना की तीव्रता में हिंसक कार्रवाई या तीव्र भावना की आवश्यकता से बचने का कोई रास्ता पाते हैं, जो उन्हें परेशान करती है।"
इस अंश में एक किशोर के जटिल व्यक्तित्व को कुछ बुनियादी इच्छाओं तक सीमित करने का प्रयास किया गया है, ठीक वैसे ही जैसे एक रसायनज्ञ यौगिक पदार्थों को साधारण पदार्थों के संयोजन मात्र के रूप में देखता है। मूलभूत तत्व होंगे भव्य महत्वाकांक्षा, उग्र क्रिया की आवश्यकता और तीव्र भावना; जब ये तत्व आपस में जुड़ते हैं, तो एक स्थायी उत्साह उत्पन्न करते हैं। फिर— जैसा कि बोर्गेट ने कुछ शब्दों में कहा है (जिन्हें हमने उद्धृत नहीं किया है)—यह उत्साह, अनेक चुनिंदा पठन-पाठनों से पोषित होकर, काल्पनिक कथाओं में आत्म-अभिव्यक्ति द्वारा स्वयं को भ्रमित करने का प्रयास करता है, जो इसे प्रतीकात्मक रूप से संतुष्ट करती हैं और इसे सही दिशा देती हैं। संक्षेप में, यहीं एक साहित्यिक "स्वभाव" की उत्पत्ति का सार मिलता है। सर्वप्रथम, इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस मान्यता से आगे बढ़ता है कि एक व्यक्तिगत तथ्य अमूर्त, सार्वभौमिक नियमों के अंतर्संबंध से उत्पन्न होता है। जिस तथ्य की व्याख्या की जानी है—जो यहाँ युवा फ्लाउबर्ट की साहित्यिक प्रवृत्ति है—उसे विशिष्ट, अमूर्त इच्छाओं के संयोजन में परिणत किया जाता है, जैसा कि हम "औसत किशोर" में पाते हैं। यहाँ जो मूर्त है वह केवल उनका संयोजन है; वे स्वयं में केवल संभावित प्रतिरूप हैं। इस प्रकार, परिकल्पना के अनुसार अमूर्त, मूर्त से पूर्व है, और मूर्त केवल अमूर्त गुणों का एक संगठन है; व्यक्ति केवल सार्वभौमिक योजनाओं का अंतर्संबंध है। लेकिन—इस प्रकार की मान्यता की तार्किक निरर्थकता के अलावा—चुने गए उदाहरण में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि यह विचाराधीन परियोजना की विशिष्टता को स्पष्ट करने में पूरी तरह विफल रहता है। यह तथ्य कि "तीव्रता से महसूस करने की आवश्यकता," एक सार्वभौमिक प्रतिरूप, को छिपाकर लेखन की आवश्यकता में परिवर्तित किया जाता है—यह फ्लाउबर्ट के "बुलावा" की व्याख्या नहीं है; इसके विपरीत, यही वह है जिसकी व्याख्या की जानी चाहिए। निस्संदेह, हम ज्ञात और अज्ञात, ऐसी हजारों परिस्थितियों का उल्लेख कर सकते हैं जिन्होंने इस अनुभूति की आवश्यकता को क्रियाशील होने की आवश्यकता में परिवर्तित किया है। लेकिन यह व्याख्या करने के सभी प्रयासों को आरंभ में ही त्याग देना है और प्रश्न को अनसुलझे रहस्य की ओर मोड़ देना है। इसके अतिरिक्त, यह विधि उस शुद्ध व्यक्ति को नकार देती है जिसे फ्लाउबर्ट की शुद्ध व्यक्तिपरकता से निकालकर उसके जीवन की बाहरी परिस्थितियों में धकेल दिया गया है। अंततः, फ्लाउबर्ट के पत्राचार से यह सिद्ध होता है कि "किशोरावस्था के संकट" से बहुत पहले, अपने प्रारंभिक बचपन से ही, वे लिखने की आवश्यकता से व्याकुल थे।
ऊपर दिए गए वर्णन के प्रत्येक चरण में हमें एक विराम मिलता है। फ्लाउबर्ट में महत्वाकांक्षा और सत्ता के अहसास ने शांत प्रतीक्षा या निराशाजनक अधीरता के बजाय उमंग क्यों पैदा की? यह उमंग विशेष रूप से हिंसक क्रिया करने और तीव्र भावनाओं को महसूस करने की आवश्यकता के रूप में क्यों व्यक्त

हुई? या यूँ कहें कि यह आवश्यकता अनुच्छेद के अंत में स्वतः ही अचानक क्यों प्रकट होती है? और यह आवश्यकता हिंसा, प्रेम प्रसंगों या व्यभिचार के माध्यम से संतुष्ट होने के बजाय प्रतीकात्मक रूप से ही संतुष्टि क्यों चुनती है? और फ्लाउबर्ट इस प्रतीकात्मक संतुष्टि के लिए चित्रकला या संगीत के बजाय लेखन की ओर क्यों मुड़ते हैं; वे कला के क्षेत्र में बिल्कुल भी न जाते तो बेहतर होता (उदाहरण के लिए रहस्यवाद भी है)। फ्लाउबर्ट ने कहीं लिखा था, "मैं एक महान अभिनेता बन सकता था।" उन्होंने अभिनेता बनने की कोशिश क्यों नहीं की? संक्षेप में, हम कुछ भी नहीं समझ पाए हैं; हमने आकस्मिक घटनाओं की एक श्रृंखला देखी है, इच्छाएँ एक के बाद एक पूरी तरह से तैयार होकर उभरती हैं, और हम उनकी उत्पत्ति को समझ नहीं पाते हैं। इन बदलावों, विकासों और रूपांतरणों को हमसे सावधानीपूर्वक छिपाकर रखा गया है, और हमें अनुभवजन्य रूप से स्थापित लेकिन शाब्दिक रूप से समझ से परे अनुक्रमों (किशोरावस्था में लिखने की आवश्यकता से पहले कार्य करने की आवश्यकता) का सहारा लेकर ही क्रम को व्यवस्थित करने तक सीमित कर दिया गया है।
फिर भी इसे मनोविज्ञान कहा जाता है! किसी भी जीवनी को यूं ही खोलकर देख लीजिए, आपको इस तरह का वर्णन बाहरी घटनाओं के विवरण और हमारे युग के महान व्याख्यात्मक सिद्धांतों—वंशानुक्रम, शिक्षा, पर्यावरण, शारीरिक संरचना — के संदर्भों के साथ कमोबेश बिखरा हुआ मिलेगा। कभी-कभी, बेहतर रचनाओं में पूर्ववर्ती और परवर्ती के बीच या दो सहवर्ती इच्छाओं और उनकी पारस्परिक क्रिया के बीच स्थापित संबंध को केवल एक प्रकार के नियमित क्रम के रूप में नहीं समझा जाता; कभी-कभी यह उस अर्थ में "बोधगम्य" होता है जिस अर्थ में जैस्पर्स ने मनोविकृति विज्ञान पर अपने सामान्य ग्रंथ में समझा है। लेकिन यह बोध सामान्य संबंधों की समझ ही रह जाती है। उदाहरण के लिए, हम पवित्रता और रहस्यवाद के बीच, बेहोशी और पाखंड के बीच संबंध को समझ पाएंगे। लेकिन हम हमेशा इस पवित्रता (किसी विशेष स्त्री के संबंध में यह संयम, किसी निश्चित प्रलोभन के विरुद्ध यह संघर्ष) और रहस्यवाद की व्यक्तिगत विषयवस्तु के बीच ठोस संबंध से अनभिज्ञ रहते हैं; इसी तरह मनोचिकित्सा भी भ्रमों की सामान्य संरचनाओं पर प्रकाश डालने से ही बहुत जल्दी संतुष्ट हो जाती है और मनोविकारों की व्यक्तिगत, ठोस सामग्री को समझने की कोशिश नहीं करती (जैसे कि यह व्यक्ति खुद को किसी अन्य व्यक्ति के बजाय उस विशेष ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में क्यों मानता है; उसका क्षतिपूर्ति भ्रम अन्य विचारों के बजाय विशेष रूप से इन भव्यता के विचारों से ही क्यों संतुष्ट होता है, आदि)।
लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये "मनोवैज्ञानिक" व्याख्याएँ अंततः हमें उन अनसुलझे मूल तथ्यों की ओर ले जाती हैं। ये मनोविज्ञान के सरल सिद्धांत हैं। उदाहरण के लिए, हमें बताया जाता है कि फ्लाउबर्ट की "महान महत्वाकांक्षा" थी और पहले उद्धृत सभी विवरण इसी मूल महत्वाकांक्षा पर आधारित हैं। अब तक तो सब ठीक है। लेकिन यह महत्वाकांक्षा एक ऐसा अटल तथ्य है जो मन को किसी भी तरह से संतुष्ट नहीं करता। यहाँ इस अटल तथ्य का औचित्य

परे है; अर्थात्, एक ऐसा संकेत जो सामान्य रूप से मनुष्य की वास्तविकता और उसकी स्थिति को संदर्भित करता है। इसी प्रकार, विचारधाराओं के प्रति अपने लगाव के बावजूद स्टेंडहल और अपनी बौद्धिक और विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद प्रॉस्ट ने दिखाया है कि प्रेम और ईर्ष्या को किसी विशेष स्त्री को पाने की कठोर इच्छा तक सीमित नहीं किया जा सकता, बल्कि ये भावनाएँ स्त्री के माध्यम से संपूर्ण संसार को प्राप्त करने का लक्ष्य रखती हैं। यही स्टेंडहल के सार का सार है, और ठीक इसी कारण से स्टेंडहल द्वारा वर्णित प्रेम संसार में अस्तित्व के एक तरीके के रूप में प्रकट होता है। प्रेम स्वयं से संसार और स्वयं (स्वयं) के साथ एक विशिष्ट स्त्री के माध्यम से जुड़ा एक मूलभूत संबंध है; स्त्री केवल एक माध्यम है जो इस चक्र में समाहित है। ये विश्लेषण सटीक नहीं हो सकते या आंशिक रूप से ही सत्य हो सकते हैं; फिर भी, ये हमें विशुद्ध विश्लेषणात्मक वर्णन के अलावा किसी अन्य पद्धति पर संदेह करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार, कैथोलिक उपन्यासकार शारीरिक प्रेम में ईश्वर की ओर उसकी श्रेष्ठता को तुरंत देख लेते हैं— डॉन जुआन में, "शाश्वत असंतुष्ट", पाप में, "ईश्वर से रहित स्थान"। यहाँ मूर्त के पीछे अमूर्त को पुनः खोजने का कोई प्रश्न नहीं है; ईश्वर की ओर आवेग किसी विशिष्ट स्त्री की ओर आवेग से कम मूर्त नहीं है। इसके विपरीत, यह विषय के आंशिक और अपूर्ण पहलुओं के अंतर्गत उस वास्तविक मूर्तता को पुनः खोजने का विषय है जो केवल उसके अस्तित्व की ओर आवेग की समग्रता, स्वयं से, संसार से और दूसरे से उसके मूल संबंध, आंतरिक संबंधों की एकता और एक मूलभूत परियोजना में निहित हो सकती है। यह आवेग केवल विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत और अद्वितीय हो सकता है। उदाहरण के लिए, बोर्गेट के विश्लेषण के विपरीत, जो सामान्य सिद्धांतों के सारांश के माध्यम से व्यक्ति का निर्माण करता है, यह प्रेरणा हमें व्यक्ति से अलग नहीं करती। इसके विपरीत, यह हमें लेखन की आवश्यकता—और विशेष पुस्तकों के लेखन की आवश्यकता—को सामान्य रूप से गतिविधि की आवश्यकता के रूप में खोजने के लिए प्रेरित नहीं करेगी। इसके विपरीत, लचीली मिट्टी के सिद्धांत और प्रेरणाओं के समूह के सिद्धांत दोनों को समान रूप से अस्वीकार करते हुए, हम उस प्रारंभिक परियोजना में व्यक्ति को खोजेंगे जो उसे निर्मित करती है। यही कारण है कि प्राप्त परिणाम की अविभाज्यता स्वतः सिद्ध हो जाएगी, इसलिए नहीं कि यह सबसे सरल और सबसे अमूर्त है, बल्कि इसलिए कि यह सबसे समृद्ध है। यहाँ अंतर्ज्ञान एक व्यक्तिगत पूर्णता के साथ होगा।
समस्या लगभग इन शब्दों में सामने आती है: यदि हम यह मान लें कि व्यक्ति एक समग्रता है, तो हम उसमें अनुभवजन्य रूप से पाई गई विभिन्न प्रवृत्तियों को जोड़कर या व्यवस्थित करके उसका पुनर्निर्माण करने की आशा नहीं कर सकते। इसके विपरीत, प्रत्येक झुकाव, प्रत्येक प्रवृत्ति में व्यक्ति स्वयं को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है, यद्यपि एक अलग दृष्टिकोण से, ठीक उसी प्रकार जैसे स्पिनोज़ा का सार अपने प्रत्येक गुण में स्वयं को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है। परन्तु यदि ऐसा है, तो हमें प्रत्येक प्रवृत्ति, विषय के प्रत्येक दृष्टिकोण में एक ऐसा अर्थ खोजना चाहिए जो उससे परे हो। किसी

आधारित है। यदि मृत्यु पीड़ा का कारण बनती है, और परिणामस्वरूप हम या तो उस पीड़ा से भाग सकते हैं या दृढ़तापूर्वक उसमें डूब सकते हैं, तो यह कहना सर्वविदित है कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हम जीवन से जुड़े रहना चाहते हैं। अतः मृत्यु से पूर्व की पीड़ा और दृढ़तापूर्वक निर्णय लेना या असत्यता की ओर भागना हमारे अस्तित्व की मूलभूत परियोजनाएँ नहीं मानी जा सकतीं। इसके विपरीत, इन्हें केवल जीवन की एक मौलिक परियोजना के आधार पर ही समझा जा सकता है; अर्थात्, हमारे अस्तित्व की एक मौलिक पसंद के आधार पर। इसलिए, प्रत्येक मामले में हाइडेगर की व्याख्या के परिणामों से आगे बढ़कर एक और भी अधिक मौलिक परियोजना की ओर बढ़ना उचित है।
यह मूलभूत परियोजना किसी अन्य का संदर्भ नहीं दे सकती और इसे स्वयं ही परिकल्पित किया जाना चाहिए। इसका संबंध न तो मृत्यु से है, न जीवन से, न ही मानव अवस्था की किसी विशिष्ट विशेषता से; स्व-प्रबंधित मूल परियोजना का उद्देश्य केवल अपने अस्तित्व को प्राप्त करना है। अस्तित्व की परियोजना, अस्तित्व की इच्छा या अस्तित्व की ओर प्रेरित होना किसी शारीरिक विभेदन या अनुभवजन्य आकस्मिकता से उत्पन्न नहीं होता; वास्तव में, यह स्व-प्रबंधित अस्तित्व से भिन्न नहीं है। स्व-प्रबंधित एक ऐसा अस्तित्व है कि उसके अस्तित्व में, उसका अस्तित्व एक अस्तित्व परियोजना के रूप में प्रश्नचिह्नित होता है। स्व-प्रबंधित अस्तित्व के लिए, स्वयं को यह ज्ञात कराना है कि कोई व्यक्ति क्या है, एक संभावना के माध्यम से जो एक मूल्य के रूप में प्रकट होती है। संभावना और मूल्य स्व-प्रबंधित अस्तित्व से संबंधित हैं। स्व-प्रबंधित को सत्तामीमांसा की दृष्टि से अस्तित्व की कमी के रूप में परिभाषित किया जाता है, और संभावना स्व-प्रबंधित से उस कमी के रूप में संबंधित है, जिस प्रकार मूल्य स्व-प्रबंधित को अस्तित्व की समग्रता के रूप में व्याप्त करता है जिसकी कमी है। भाग दो में हमने अभाव के संदर्भ में जो व्यक्त किया है, उसे स्वतंत्रता के संदर्भ में भी उतनी ही अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है। 'स्वयं के लिए' का चुनाव इसलिए होता है क्योंकि वह अभाव है; स्वतंत्रता वास्तव में अभाव का पर्यायवाची है। स्वतंत्रता, अभाव की मूर्त अभिव्यक्ति है। तात्विक दृष्टि से, यह कहना एक ही बात है कि मूल्य और संभावना अभाव की आंतरिक सीमाओं के रूप में विद्यमान हैं, जो केवल अभाव के रूप में ही विद्यमान हो सकता है—या यह कि स्वतंत्रता का उभार उसकी संभावना को निर्धारित करता है और इस प्रकार उसके मूल्य को सीमित करता है।
इस प्रकार, जब हम अस्तित्व की अवधारणा तक पहुँच जाते हैं, तो हम स्वतः सिद्ध, अविभाज्य सत्य से ही आगे बढ़ पाते हैं; क्योंकि स्पष्टतः अस्तित्व से आगे बढ़ना असंभव है, और एक ओर अस्तित्व, संभावना, मूल्य की अवधारणा तथा दूसरी ओर अस्तित्व में कोई अंतर नहीं है। मूलतः मनुष्य अस्तित्व की इच्छा है, और इस इच्छा का अस्तित्व अनुभवजन्य प्रेरण द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता; यह स्वयं के लिए अस्तित्व के पूर्व-वर्णन का परिणाम है, क्योंकि इच्छा एक अभाव है और स्वयं के लिए अस्तित्व वह है जो स्वयं के लिए अपने अस्तित्व का अभाव है। हमारी प्रत्येक अनुभवजन्य रूप से अवलोकन योग्य

में सहायक हो सकता है। ये दार्शनिक को उन बोधगम्य संबंधों को इंगित करेंगे जो विभिन्न इच्छाओं और व्यवहार के विभिन्न स्वरूपों को आपस में जोड़ सकते हैं, और अनुभव के विषय और अनुभवजन्य रूप से परिभाषित "स्थितियों" के बीच कुछ ठोस संबंधों को उजागर करेंगे (जो मूल रूप से केवल दुनिया में विषय की मूलभूत स्थिति पर सकारात्मकता के नाम पर लागू सीमाओं से उत्पन्न होती हैं)। लेकिन व्यक्तियों की मूलभूत इच्छाओं को स्थापित करने और वर्गीकृत करने में इनमें से कोई भी विधि उपयुक्त नहीं है। वास्तव में, एक स्वतंत्र क्रिया की सभी अनिश्चितताओं में जो प्रकट होता है, उसे पूर्व-निर्धारित और सत्तामीमांसा के आधार पर निर्धारित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि हम यहां इस प्रकार की खोज की संभावनाओं और इसके दृष्टिकोणों को संक्षेप में इंगित करने तक ही सीमित रहेंगे। किसी भी व्यक्ति को इस प्रकार की जांच के दायरे में लाना ही मानवीय वास्तविकता का मूल तत्व है। या, आप चाहें तो कह सकते हैं कि इसे किसी सत्तामीमांसा द्वारा स्थापित किया जा सकता है। लेकिन स्वयं जांच और उसके परिणाम सिद्धांततः किसी सत्तामीमांसा की सीमाओं से पूरी तरह परे हैं।
दूसरी ओर, विशुद्ध, सरल अनुभवजन्य वर्णन केवल हमें सूचियाँ दे सकता है और हमें छद्म-अविभाज्य तत्वों (लिखने की इच्छा, तैरने की इच्छा, रोमांच का शौक, ईर्ष्या आदि) से परिचित करा सकता है। वास्तव में, व्यवहार के स्वरूपों, प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों की सूची बनाना ही पर्याप्त नहीं है; उन्हें समझना भी आवश्यक है; अर्थात्, यह जानना आवश्यक है कि उन पर प्रश्न कैसे उठाया जाए। यह शोध केवल एक विशिष्ट पद्धति के नियमों के अनुसार ही किया जा सकता है। इसी पद्धति को हम अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण कहते हैं। इस मनोविश्लेषण का सिद्धांत यह है कि मनुष्य एक समग्र इकाई है, न कि कोई संग्रह। परिणामस्वरूप, वह अपने सबसे तुच्छ और सतही व्यवहार में भी स्वयं को एक संपूर्ण इकाई के रूप में व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा कोई स्वाद, कोई व्यवहार या कोई मानवीय क्रिया नहीं है जो कुछ प्रकट न करती हो। मनोविश्लेषण का लक्ष्य मनुष्य के अनुभवजन्य व्यवहार के स्वरूपों को समझना है; अर्थात् उनमें निहित रहस्यों को उजागर करना और उन्हें वैचारिक रूप से स्थापित करना है।
इसका आरंभ अनुभव से होता है; इसका आधार मनुष्य की स्वयं की मूलभूत, पूर्व-सत्तामीमांसात्मक समझ है। यद्यपि अधिकांश लोग किसी हावभाव, शब्द या संकेत में निहित संकेतों को आसानी से अनदेखा कर सकते हैं और उनमें छिपे रहस्योद्घाटन को तिरस्कार की दृष्टि से देख सकते हैं, फिर भी प्रत्येक मनुष्य इन अभिव्यक्तियों के रहस्योद्घाटन मूल्य का पूर्व-ज्ञान रखता है और उन्हें समझने में सक्षम होता है, कम से कम यदि उसे किसी सहायक का मार्गदर्शन प्राप्त हो। यहाँ और अन्यत्र भी, सत्य संयोग से नहीं मिलता; यह किसी ऐसे क्षेत्र से संबंधित नहीं है जहाँ किसी को इसके स्थान की पूर्वसूचना के बिना ही इसकी खोज करनी पड़े, जैसे कोई नील या नाइजर नदी के स्रोत की खोज में जाता है। यह मानव बोध का पूर्व-अंततः हिस्सा है और इसका

पृथक करने, उसे अवधारणाओं द्वारा स्थिर करने और उसे पूर्ण प्रकाश में लाने के लिए आवश्यक उपकरण और तकनीकें हैं। यह एक महान प्रकाश से ग्रस्त है, लेकिन यह व्यक्त करने में असमर्थ है कि यह प्रकाश क्या प्रकाशित कर रहा है। हम किसी अनसुलझी पहेली से नहीं निपट रहे हैं जैसा कि फ्रायडियन मानते हैं; सब कुछ वहाँ है, प्रकाशमान; परावर्तन उस पर पूर्ण अधिकार रखता है, सब कुछ समझता है। लेकिन यह "स्पष्ट रहस्य" इस तथ्य के कारण है कि यह अधिकार उन साधनों से वंचित है जो सामान्यतः विश्लेषण और अवधारणा निर्माण की अनुमति देते हैं। यह सब कुछ एक साथ, बिना किसी छायांकन, बिना किसी उभार, बिना किसी भव्यता के संबंधों के ग्रहण करता है—ऐसा नहीं है कि ये छायांकन, ये मूल्य, ये उभार कहीं विद्यमान हैं और इससे छिपे हुए हैं, बल्कि इसलिए कि इन्हें किसी अन्य मानवीय दृष्टिकोण द्वारा स्थापित किया जाना चाहिए और क्योंकि ये केवल ज्ञान के माध्यम से और ज्ञान के लिए ही विद्यमान हो सकते हैं। चिंतन, अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण का आधार बनने में असमर्थ होने के कारण, हमें केवल वे ठोस सामग्रियाँ प्रदान करेगा जिनके प्रति मनोविश्लेषक को एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना होगा। इस प्रकार ही वह उस बात को जान पाएगा जो वह पहले से ही समझता है। परिणाम यह है कि अचेतन की गहराइयों से उखाड़े गए जटिलताएँ, अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण द्वारा प्रकट की गई परियोजनाओं की तरह, दूसरे के दृष्टिकोण से समझी जाएँगी। फलस्वरूप, इस प्रकार प्रकाश में लाई गई वस्तु को पारलौकिक-पारलौकिकता की संरचनाओं के अनुसार अभिव्यक्त किया जाएगा; अर्थात्, इसका अस्तित्व दूसरों के लिए ही होगा, भले ही मनोविश्लेषक और मनोविश्लेषण का विषय वास्तव में एक ही व्यक्ति हों। इस प्रकार, किसी भी प्रकार के मनोविश्लेषण द्वारा जो परियोजना सामने आती है, वह केवल व्यक्तिगत मानव अस्तित्व की समग्रता, दूसरों के लिए अस्तित्व की संरचना के साथ पारलौकिकता का अविभाज्य तत्व ही हो सकती है। इन जांच विधियों से जो बात हमेशा छूट जाती है, वह है स्वयं के लिए परियोजना, अपने आप में जटिल। स्वयं के लिए इस परियोजना का अनुभव केवल एक जीवित अनुभव के रूप में ही किया जा सकता है; स्वयं के लिए अस्तित्व और वस्तुनिष्ठ अस्तित्व के बीच असंगति है। लेकिन दोनों मनोविश्लेषणों के विषय में फिर भी एक अस्तित्व की वास्तविकता निहित है; इसके बारे में विषय का ज्ञान चिंतन को स्पष्ट करने में योगदान दे सकता है, और वह चिंतन तब एक ऐसा अनुभव बन सकता है जो एक अर्ध-ज्ञान होगा।
इस बिंदु पर मनोविश्लेषण के दोनों प्रकारों के बीच समानता समाप्त हो जाती है। इनमें मौलिक अंतर यह है कि अनुभवजन्य मनोविश्लेषण ने स्वयं को एक अंतर्निहित सत्य के रूप में स्थापित कर लिया है, बजाय इसके कि इसे एक स्वतः स्पष्ट अंतर्ज्ञान के रूप में प्रकट होने दिया जाए। वास्तव में, कामेच्छा या सत्ता की इच्छा एक मनो-जैविक अवशेष है जो अपने आप में स्पष्ट नहीं है और जो हमें पूर्व-निर्धारित रूप से जांच की अंतर्निहित सीमा के रूप में दिखाई नहीं देती है। अंततः, यह अनुभव ही है जो स्थापित करता है कि जटिलताओं का आधार यही कामेच्छा या सत्ता की इच्छा है; और अनुभवजन्य जांच के ये परिणाम पूरी तरह से आकस्मिक हैं, वे ठोस नहीं हैं। हमें एक ऐसी "मानवीय

देख रहा हो। विषय की यह अनैच्छिक गवाही मनोविश्लेषक के लिए अनमोल है; वह इसमें वह संकेत देखता है कि वह अपने लक्ष्य तक पहुँच गया है; वह उचित जांच से उपचार की ओर बढ़ सकता है। लेकिन उसके सिद्धांतों या उसकी प्रारंभिक मान्यताओं में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसे इस गवाही को समझने या उपयोग करने की अनुमति देता हो। उसे ऐसा अधिकार कहाँ से मिल सकता है? यदि जटिलता वास्तव में अचेतन है—अर्थात्, यदि संकेत और संकेतित वस्तु के बीच कोई अवरोध है—तो विषय इसे कैसे पहचान सकता है? क्या अचेतन जटिलता स्वयं को पहचानती है? लेकिन क्या हमें यह नहीं बताया गया है कि इसमें समझ की कमी है? और यदि हम इसे संकेतों को समझने की क्षमता प्रदान कर दें, तो क्या यह इसे चेतन अचेतन नहीं बना देगा? समझ क्या है, यदि वह जो समझा जा रहा है उसके प्रति सचेत न हो? क्या हम दूसरी ओर यह कह सकते हैं कि विषय ही चेतन रूप में प्रस्तुत छवि को पहचानता है? लेकिन वह इसकी तुलना अपनी वास्तविक स्थिति से कैसे कर सकता है, क्योंकि वह उसकी पहुँच से बाहर है और क्योंकि उसे कभी इसका कोई ज्ञान नहीं रहा है? अधिक से अधिक वह यह निर्णय कर पाएगा कि उसके मामले की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या एक संभावित परिकल्पना है, जिसकी संभावना उन व्यवहार पैटर्न की संख्या से प्राप्त होती है जिनकी वह व्याख्या करती है। इस व्याख्या के साथ उसका संबंध एक तीसरे पक्ष का है, स्वयं मनोविश्लेषक का; उसकी कोई विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति नहीं है। और यदि वह मनोविश्लेषणात्मक परिकल्पना की संभावना में विश्वास करता है, तो क्या यह साधारण विश्वास, जो उसकी चेतना की सीमाओं में रहता है, उन अवरोधों को तोड़ने में सक्षम है जो अचेतन प्रवृत्तियों को रोकते हैं? मनोविश्लेषक के मन में चेतन और अचेतन मन के अचानक एक साथ आने की कुछ अस्पष्ट सी छवि अवश्य होती है। लेकिन उसने इस संयोग को किसी भी सकारात्मक अर्थ में समझने के सभी तरीकों को हटा दिया है।
फिर भी, विषय का ज्ञानोदय एक तथ्य है। यहाँ एक अंतर्ज्ञान है जो प्रमाणों से युक्त है। मनोविश्लेषक द्वारा निर्देशित विषय किसी परिकल्पना से सहमत होने से कहीं अधिक और बेहतर करता है; वह उसे स्पर्श करता है, वह देखता है कि वह क्या है। यह वास्तव में तभी समझ में आता है जब विषय अपनी गहरी प्रवृत्तियों के प्रति सचेत रहना कभी न छोड़े; और भी बेहतर, तभी जब ये प्रवृत्तियाँ उसके चेतन मन से भिन्न न हों। जैसा कि हमने देखा है, इस मामले में पारंपरिक मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या उसे अपने स्वरूप की चेतना प्राप्त करने में नहीं, बल्कि अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती है। इसलिए अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण ही विषय के अंतिम अंतर्ज्ञान को निर्णायक मानता है।
यह तुलना हमें यह बेहतर ढंग से समझने में मदद करती है कि अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण को क्या होना चाहिए, तभी उसका अस्तित्व सार्थक हो सकता है। यह एक ऐसी पद्धति है जो विशुद्ध वस्तुनिष्ठ रूप में उस व्यक्तिपरक चुनाव को उजागर करने के लिए अभिप्रेत है जिसके द्वारा प्रत्येक जीवित व्यक्ति स्वयं को एक व्यक्ति बनाता है; अर्थात्, स्वयं को यह ज्ञात कराता है कि वह क्या है। चूंकि यह पद्धति अस्तित्व के चुनाव के साथ-साथ अस्तित्व को भी

खोजती है, इसलिए इसे विशिष्ट व्यवहार पैटर्न को मूलभूत संबंधों में परिणत करना होगा—यौनता या सत्ता की इच्छा के नहीं, बल्कि अस्तित्व के—जो इस व्यवहार में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार, यह प्रारंभ से ही अस्तित्व की समझ की ओर निर्देशित होती है और स्वयं को अस्तित्व और उस अस्तित्व के अस्तित्व के तरीके की खोज के अलावा कोई अन्य लक्ष्य निर्धारित नहीं करना चाहिए जो इस अस्तित्व का सामना कर रहा है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने से पहले रुकना वर्जित है। यह अस्तित्व की उस समझ का उपयोग करेगी जो अन्वेषक की विशेषता है, क्योंकि वह स्वयं एक मानवीय वास्तविकता है; और चूंकि यह अस्तित्व को उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों से अलग करने का प्रयास करती है, इसलिए इसे प्रत्येक बार कार्यों और दृष्टिकोणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, उन्हें समझने के लिए अभिप्रेत एक प्रतीक की पुनः खोज करनी होगी। इसकी सफलता का मापदंड उन तथ्यों की संख्या होगी जिन्हें इसकी परिकल्पना स्पष्ट और एकीकृत करने की अनुमति देती है, साथ ही प्राप्त लक्ष्य की अपरिवर्तनीयता की स्वतः सिद्ध अंतर्ज्ञान भी। इस मापदंड में, जहाँ भी संभव हो, विषय की निर्णायक गवाही को भी जोड़ा जाएगा। इस प्रकार प्राप्त परिणाम—अर्थात् व्यक्ति के अंतिम लक्ष्य—वर्गीकरण का विषय बन सकते हैं, और इन्हीं परिणामों की तुलना करके हम मानव वास्तविकता के बारे में सामान्य विचार स्थापित कर सकेंगे, जो अपने लक्ष्यों का एक अनुभवजन्य चयन है। इस मनोविश्लेषण द्वारा अध्ययन किए जाने वाले व्यवहार में न केवल सपने, असफलताएँ, जुनून और मनोविकार शामिल होंगे, बल्कि विशेष रूप से जागृत जीवन के विचार, सफलतापूर्वक समायोजित कार्य, शैली आदि भी शामिल होंगे। इस मनोविश्लेषण को अभी तक अपना फ्रायड नहीं मिला है। अधिक से अधिक, हम कुछ विशेष रूप से सफल जीवनियों में इसकी झलक पा सकते हैं। हमें आशा है कि हम फ्लाउबर्ट और दोस्तोवस्की के संबंध में दो उदाहरणों को कहीं और प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। लेकिन यह हमारे लिए कम ही मायने रखता है कि यह अभी मौजूद है या नहीं; महत्वपूर्ण बात यह है कि यह संभव है।
II. “करना” और “रखना”: अधिकार
व्यवहार के स्वरूपों और इच्छाओं के बारे में सत्तामीमांसा से प्राप्त होने वाली जानकारी को अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण के मूलभूत सिद्धांतों के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी मनुष्यों में अमूर्त इच्छाओं का कोई सर्वमान्य स्वरूप होता है; इसका अर्थ यह है कि ठोस इच्छाओं की संरचनाएँ होती हैं जो सत्तामीमांसा के अध्ययन के दौरान उभरती हैं क्योंकि प्रत्येक इच्छा—खाने या सोने की इच्छा के साथ-साथ कलाकृति बनाने की इच्छा भी—मानव वास्तविकता के सभी पहलुओं को व्यक्त करती है। जैसा कि मैंने अन्यत्र दिखाया है, मनुष्य का ज्ञान समग्र होना चाहिए; इस स्तर पर अनुभवजन्य, आंशिक ज्ञान का कोई महत्व नहीं है। यदि हम अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण की नींव रखने के लिए अब तक प्राप्त ज्ञान का उपयोग करें तो हम अपने कार्य में सफल होंगे। वास्तव में, यही वह बिंदु है जहाँ सत्तामीमांसा को रुकना चाहिए; इसकी अंतिम खोजें मनोविश्लेषण के प्रथम सिद्धांत हैं। अब से हमें एक अलग पद्धति की आवश्यकता होगी क्योंकि

विषय भिन्न है। तो फिर सत्तामीमांसा हमें इच्छा के बारे में क्या सिखाती है, क्योंकि इच्छा ही मानव वास्तविकता का सार है?
इच्छा अस्तित्व का अभाव है। इस प्रकार यह सीधे उस अस्तित्व से समर्थित है जिसका यह अभाव है। जैसा कि हमने कहा है, यह अस्तित्व स्वयं में-स्वयं के लिए है, चेतना पदार्थ बन जाती है, पदार्थ स्वयं का कारण बन जाता है, मनुष्य-ईश्वर। इस प्रकार मानवीय वास्तविकता का अस्तित्व मूलतः पदार्थ नहीं बल्कि एक सजीव संबंध है। इस संबंध की सीमाएँ पहली हैं मूल स्वयं में, जो अपनी आकस्मिकता और वास्तविकता में स्थिर है, जिसका आवश्यक लक्षण यह है कि वह है, कि वह विद्यमान है; और दूसरी हैं स्वयं में-स्वयं के लिए या मूल्य, जो आकस्मिक स्वयं में के आदर्श के रूप में विद्यमान है और जिसे सभी आकस्मिकता और सभी अस्तित्व से परे माना जाता है। मनुष्य इन दोनों अस्तित्वों में से न तो एक है और न ही दूसरा, क्योंकि वास्तव में, हमें उसके बारे में कभी यह नहीं कहना चाहिए कि वह कुछ भी है। वह वह है जो वह नहीं है और वह वह नहीं है जो वह है; वह आकस्मिक स्वयं में का शून्यन है, इस हद तक कि इस शून्यन का स्व स्वयं में स्वकारण के रूप में उसकी आगे की उड़ान है। मानवीय वास्तविकता ईश्वर बनने का शुद्ध प्रयास है, बिना किसी आधारभूत तत्व के, बिना किसी ऐसी चीज के जो ऐसा प्रयास करती हो। इच्छा इस प्रयास को व्यक्त करती है।
फिर भी, इच्छा को केवल स्वयं-कारण के संदर्भ में ही परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह एक ठोस, मूर्त अस्तित्व के सापेक्ष भी होती है जिसे हम सामान्यतः इच्छा का लक्ष्य कहते हैं। यह लक्ष्य कभी रोटी का एक टुकड़ा हो सकता है, कभी एक कार, कभी एक स्त्री, कभी कोई ऐसी वस्तु जो अभी तक साकार नहीं हुई है लेकिन परिभाषित है—जैसे कि जब कोई कलाकार कलाकृति बनाना चाहता है। इस प्रकार, अपनी संरचना से ही इच्छा मनुष्य के संसार में एक या अनेक वस्तुओं के साथ संबंध को व्यक्त करती है; यह संसार में होने के पहलुओं में से एक है। इस दृष्टिकोण से हम सबसे पहले देखते हैं कि यह संबंध एक विशिष्ट प्रकार का नहीं है। हम केवल संक्षेप में "किसी वस्तु की इच्छा" की बात करते हैं। वास्तव में, हजारों अनुभवजन्य उदाहरण दर्शाते हैं कि हम इस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं, वह कार्य करना चाहते हैं या कोई बनना चाहते हैं। यदि मैं इस चित्र की इच्छा करता/करती हूँ, तो इसका अर्थ है कि मैं इसे खरीदना चाहता/चाहती हूँ, इसे अपने लिए अपना बनाना चाहता/चाहती हूँ। यदि मैं एक पुस्तक लिखना चाहता/चाहती हूँ, टहलने जाना चाहता/चाहती हूँ, तो इसका अर्थ है कि मैं इस पुस्तक को "लिखना" चाहता/चाहती हूँ, इस सैर को "करना" चाहता/चाहती हूँ। यदि मैं सजता-संवरता हूँ, तो इसका कारण यह है कि मैं सुसंगठित दिखना चाहता हूँ। मैं वैज्ञानिक बनने के लिए स्वयं को प्रशिक्षित करता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार प्रारंभ से ही, ठोस मानवीय अस्तित्व की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हमें उनके मूल संबंध में दिखाई देती हैं: करना, पाना, होना।
हालांकि, यह आसानी से देखा जा सकता है कि कुछ करने की इच्छा को सीमित नहीं किया जा सकता। कोई व्यक्ति किसी वस्तु को इसलिए बनाता है ताकि उससे एक

समान बताया जाता है। इसने अभी तक अपना रहस्य प्रकट नहीं किया है; मनुष्य ने अभी तक इसका रहस्य इससे छीना नहीं है। ये सभी छवियां इस बात पर बल देती हैं कि वस्तु अपने ऊपर लक्षित जांचों और उपकरणों से अनभिज्ञ है; वह ज्ञात होने से अनभिज्ञ है; वह अपने काम में लगी रहती है, उस दृष्टि को अनदेखा करते हुए जो उस पर ताक-झांक कर रही है, ठीक वैसे ही जैसे कोई राहगीर किसी स्त्री को स्नान करते हुए अचानक पकड़ लेता है। अलंकारिक भाषा, कभी अस्पष्ट तो कभी अधिक सटीक, जैसे प्रकृति की "अछूती गहराइयों" का प्रयोग, यौन संबंध की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। हम प्रकृति से उसके घूंघट छीनने, उसे नंगा करने की बात करते हैं (देखें शिलर की सैस की घूंघट वाली छवि)। हर जांच में नग्नता का विचार निहित होता है, जिसे ढकने वाली बाधाओं को हटाकर उजागर किया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे एक्टेऑन शाखाओं को हटाता है ताकि वह डायना को स्नान करते हुए बेहतर ढंग से देख सके। इससे भी बढ़कर, ज्ञान एक शिकार है। बेकन ने इसे पैन का शिकार कहा था। वैज्ञानिक वह शिकारी है जो एक श्वेत नग्नता को आश्चर्यचकित करता है और उसे देखकर उल्लंघन करता है। इस प्रकार इन छवियों की समग्रता कुछ ऐसा प्रकट करती है जिसे हम एक्टेऑन कॉम्प्लेक्स कहेंगे।
शिकार के इस विचार को मार्गदर्शक सूत्र मानकर, हम विनियोग के एक अन्य प्रतीक की खोज करेंगे, जो शायद और भी आदिम है: एक व्यक्ति खाने के लिए शिकार करता है। किसी जानवर में जिज्ञासा हमेशा या तो यौन होती है या भोजन संबंधी। जानना आँखों से भक्षण करना है। वास्तव में, हम यहाँ, जहाँ तक इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान का संबंध है, कलाकृति के संबंध में खोजी गई प्रक्रिया के विपरीत एक प्रक्रिया देख सकते हैं। हमने देखा कि कलाकृति मन के एक स्थिर उत्सर्जन के समान है। मन निरंतर इसका सृजन करता है और फिर भी यह उस सृजन के संबंध में अकेला और उदासीन रहता है। यही संबंध जानने की क्रिया में भी विद्यमान है, लेकिन इसका विपरीत भी संभव है। जानने में, चेतना वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करती है और उसे अपने भीतर समाहित कर लेती है। ज्ञान आत्मसात्करण है। फ्रांसीसी ज्ञानमीमांसा के लेखन भोजन संबंधी रूपकों (अवशोषण, पाचन, आत्मसात्करण) से भरे हुए हैं। विघटन की एक गति होती है जो वस्तु से जानने वाले कर्ता तक जाती है। ज्ञात मुझमें रूपांतरित हो जाता है; वह मेरा विचार बन जाता है और इस प्रकार मुझसे ही अपना अस्तित्व ग्रहण करने के लिए सहमत हो जाता है। परन्तु विघटन की यह गति इस तथ्य से स्थिर हो जाती है कि ज्ञात उसी स्थान पर अनिश्चित रूप से समाहित, भस्म और फिर भी अनिश्चित रूप से अक्षुण्ण, पूर्णतः पचा हुआ और फिर भी पूर्णतः बाह्य, पत्थर के समान अपचनीय बना रहता है। भोली कल्पनाओं के लिए "पचा हुआ अपचनीय" का प्रतीक अत्यंत महत्वपूर्ण है; उदाहरण के लिए, शुतुरमुर्ग के पेट में पत्थर या व्हेल के पेट में योना। यह प्रतीक एक अविनाशकारी आत्मसात्करण के स्वप्न का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है—जैसा कि हेगेल ने कहा—कि इच्छा अपने लक्ष्य को नष्ट कर देती है। इस अर्थ में, उन्होंने कहा, इच्छा भस्म करने की इच्छा है। इस द्वंद्वात्मक आवश्यकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया में, 'स्वयं के लिए' एक ऐसे लक्ष्य का

द्वारा बनाए गए हिमपुरुषों और बर्फ के गोलों का भी यही अर्थ है; लक्ष्य है "बर्फ से कुछ बनाना"; यानी, उस पर एक ऐसा रूप थोपना जो पदार्थ से इतनी गहराई से जुड़ जाए कि पदार्थ उस रूप के लिए ही विद्यमान प्रतीत हो। लेकिन अगर मैं पास जाऊं, अगर मैं बर्फ के मैदान से एक आत्मीय संपर्क स्थापित करना चाहूं, तो सब कुछ बदल जाता है। उसका स्वरूप बदल जाता है; वह विशाल स्थानों में विद्यमान होने के बजाय टुकड़ों-टुकड़ों में विद्यमान हो जाता है; दाग, झाग और दरारें हर एक इंच को विशिष्ट बना देती हैं। साथ ही, उसकी ठोसता पानी में पिघल जाती है। मैं घुटनों तक बर्फ में धंस जाता हूं; अगर मैं अपने हाथों से थोड़ी बर्फ उठाऊं, तो वह मेरी उंगलियों में तरल बन जाती है; वह बह जाती है; उसका कुछ भी शेष नहीं रहता। उसका स्वतः अस्तित्व शून्यता में परिवर्तित हो जाता है। बर्फ को अपना बनाने का मेरा सपना उसी क्षण गायब हो जाता है। इसके अलावा, मुझे नहीं पता कि इस बर्फ का क्या करूं जिसे मैंने अभी-अभी इतने करीब से देखा है। मैं उस मैदान को पकड़ नहीं सकता; मैं उसे उस ठोस रूप में भी पुनर्स्थापित नहीं कर सकता जो मेरी आंखों के सामने प्रकट हुआ था और जो अचानक, दोहरी तरह से ढह गया है।
स्कीइंग का अर्थ केवल तीव्र गति से चलना और तकनीकी कौशल प्राप्त करना ही नहीं है, न ही यह केवल अपनी इच्छा अनुसार गति या कठिनाई को बढ़ाकर खेलना है; बल्कि यह बर्फ के इस मैदान पर अपना अधिकार जमाना भी है। इस समय मैं इस पर कुछ कर रहा हूँ। इसका अर्थ यह है कि एक स्कीयर के रूप में अपनी सक्रियता से मैं बर्फ के स्वरूप और अर्थ को बदल रहा हूँ। अब जब यह मुझे नीचे उतरने वाली ढलान के रूप में दिखाई देती है, तो यह उस निरंतरता और एकता को पुनः प्राप्त कर लेती है जो इसने खो दी थी। इस समय यह एक संयोजी ऊतक है। यह दो सीमित बिंदुओं के बीच समाहित है; यह प्रस्थान बिंदु को आगमन बिंदु से जोड़ती है। चूंकि उतरते समय मैं इसे स्वयं में, टुकड़ों में नहीं देखता, बल्कि हमेशा उस बिंदु पर ध्यान केंद्रित करता हूँ जहाँ मुझे वर्तमान स्थिति से आगे जाना है, इसलिए यह अनगिनत व्यक्तिगत विवरणों में विलीन नहीं हो जाती, बल्कि उस बिंदु की ओर बढ़ती है जिसे मैं स्वयं निर्धारित करता हूँ। यह यात्रा केवल गति की गतिविधि नहीं है; यह विशेष रूप से संगठन और जुड़ाव की एक संश्लेषित गतिविधि भी है; मैं स्कीइंग के मैदान को अपने सामने उसी तरह फैलाता हूँ जैसे कांट के अनुसार, एक ज्यामितिज्ञ सीधी रेखा को केवल उसे खींचकर ही समझ सकता है। इसके अलावा, यह व्यवस्था हाशिए पर है, केंद्र बिंदु नहीं; बर्फ का मैदान अपने आप में एकीकृत नहीं है; लक्ष्य, जिसे स्पष्ट रूप से समझा गया है, मेरे ध्यान का केंद्र बिंदु मैदान के किनारे पर वह स्थान है जहाँ मुझे पहुँचना है। बर्फीला स्थान अंतर्निहित रूप से सघन है; इसका सामंजस्य उस खाली स्थान जैसा है जिसे किसी वृत्त के भीतर समझा जाता है, उदाहरण के लिए, जब मैं वृत्त की काली रेखा को उसकी सतह पर स्पष्ट ध्यान दिए बिना देखता हूँ। और ठीक इसी कारण कि मैं इसे हाशिए पर, अंतर्निहित और समझा हुआ रखता हूँ, यह मेरे अनुकूल हो जाता है, मैं इसे अच्छी तरह समझ लेता हूँ; मैं इसके अंत की ओर उसी प्रकार बढ़ता हूँ जैसे कोई

व्यक्ति टेपेस्ट्री टांगते समय अपने हथौड़े से आगे बढ़कर उसके अंत की ओर बढ़ता है, जो दीवार पर पर्दा ठोकना होता है।
इस साधनिक विनियोग से अधिक पूर्ण विनियोग कोई नहीं हो सकता; विनियोग की संश्लेषणात्मक क्रिया यहाँ उपयोग की एक तकनीकी क्रिया है। बर्फ का उफान मेरे कार्य का विषय है, ठीक उसी प्रकार जैसे हथौड़े का ऊपर की ओर चलना हथौड़ा चलाने की शुद्ध पूर्ति है। साथ ही, मैंने इस बर्फीली ढलान को समझने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण चुना है: यह दृष्टिकोण एक निर्धारित गति है, जो मुझसे उत्पन्न होती है, जिसे मैं अपनी इच्छानुसार बढ़ा या घटा सकता हूँ; इसके माध्यम से तय किया गया क्षेत्र एक निश्चित वस्तु के रूप में निर्मित होता है, जो किसी अन्य गति पर होने वाली वस्तु से पूरी तरह भिन्न होता है। गति अपनी इच्छा से समूहों को व्यवस्थित करती है; एक विशिष्ट वस्तु किसी विशेष समूह का हिस्सा बनती है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मैंने कोई विशेष गति अपनाई है या नहीं। (उदाहरण के लिए, प्रोवेंस को "पैदल", "कार से", "ट्रेन से", "साइकिल से" देखने के बारे में सोचें। यह इस बात पर निर्भर करते हुए कई अलग-अलग पहलू प्रस्तुत करता है कि बेज़ियर्स नार्बोन से एक घंटे, एक सुबह की यात्रा या दो दिन की दूरी पर है या नहीं: यानी, इस बात पर कि नार्बोन अपने परिवेश के साथ अलग-थलग और स्वतंत्र रूप से स्थित है या यह बेज़ियर्स और सेट जैसे स्थानों के साथ एक सुसंगत समूह बनाता है। इस अंतिम मामले में नार्बोन का समुद्र से संबंध सहज ज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से सुलभ है; दूसरे में इसे नकार दिया जाता है; यह केवल एक शुद्ध अवधारणा का विषय बन सकता है।) तब मैं स्वयं ही अपनी मुक्त गति से बर्फ के मैदान को आकार देता हूँ। लेकिन साथ ही मैं अपने पदार्थ पर क्रिया कर रहा हूँ। गति केवल बाहर से दिए गए पदार्थ पर आकार थोपने तक सीमित नहीं है; यह अपने पदार्थ का निर्माण करती है। बर्फ, जो मेरे चलने पर मेरे भार के नीचे धंस जाती थी, जो उठाने की कोशिश करने पर पानी में पिघल जाती थी, मेरी गति की क्रिया से अचानक ठोस हो जाती है; यह मुझे सहारा देती है। ऐसा नहीं है कि मैं इसकी हल्कीपन, इसकी निराकारता, इसकी शाश्वत क्षणभंगुरता को भूल गया हूँ। बल्कि इसके विपरीत। यह ठीक वही हल्कापन, वही क्षणभंगुरता, वही गुप्त तरलता है जो मुझे थामे रखती है; यानी, जो संघनित होकर पिघलती है ताकि मुझे सहारा दे सके। ऐसा इसलिए है क्योंकि बर्फ के साथ मेरा एक विशेष संबंध है: फिसलना। इस संबंध का हम बाद में विस्तार से अध्ययन करेंगे। लेकिन अभी हम इसके मूल अर्थ को समझ सकते हैं। हम फिसलने को सतह पर बने रहने के रूप में सोचते हैं। यह सटीक नहीं है; निश्चित रूप से, मैं केवल सतह को छूता हूँ, और यह छूना ही अपने आप में एक संपूर्ण अध्ययन के योग्य है। फिर भी मैं एक गहन संश्लेषण का अनुभव करता हूँ। मैं समझता हूँ कि बर्फ की परत अपनी सबसे निचली गहराइयों में खुद को इस तरह व्यवस्थित करती है ताकि मुझे सहारा दे सके; फिसलना एक दूरस्थ क्रिया है; यह मुझे उस पदार्थ पर महारत हासिल करने का आश्वासन देता है, बिना मुझे उसमें डूबने और उसे पार करने के लिए खुद को उसमें समाहित करने की आवश्यकता के। फिसलना जड़ जमाने के विपरीत है। जड़ पहले से ही उस मिट्टी में आधी समाहित हो चुकी होती है जो उसे पोषण देती है;

के-लिए' के रूप में समझा जाता है; यह हमें सिखाती है कि 'स्वयं-के-लिए' का इस वांछित 'स्वयं-के-लिए' के साथ संबंध विनियोग है। तब हम इच्छा के दोहरे निर्धारण के समक्ष हैं: एक ओर, इच्छा को एक निश्चित अस्तित्व होने की इच्छा के रूप में निर्धारित किया जाता है, जो 'स्वयं-के-लिए-स्वयं' है और जिसका अस्तित्व आदर्श है; दूसरी ओर, अधिकांश मामलों में इच्छा को एक आकस्मिक और ठोस 'स्वयं-के-लिए' के साथ एक संबंध के रूप में निर्धारित किया जाता है, जिसका वह विनियोग करने की परियोजना रखती है। क्या इनमें से एक निर्धारण दूसरे पर हावी है? क्या ये दोनों विशेषताएँ संगत हैं? अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण अपने सिद्धांतों के प्रति तभी आश्वस्त हो सकता है जब सत्तामीमांसा ने इन दो सत्ताओं के संबंध की प्रारंभिक परिभाषा दे दी हो— एक ठोस और आकस्मिक आत्म-सम्भावी सत्ता या इच्छा का विषय, और आत्म-सम्भावी सत्ता या इच्छा का आदर्श—और जब उसने उस संबंध को स्पष्ट कर दिया हो जो आत्म-सम्भावी सत्ता से, अस्तित्व से, और आत्म-सम्भावी सत्ता से संबंध के एक प्रकार के रूप में विनियोग को एकजुट करता है। यही वह प्रयास है जो हमें वर्तमान में करना चाहिए।
“अधिकार प्राप्त करना” से क्या तात्पर्य है? या आप चाहें तो, किसी वस्तु पर अधिकार रखने से हमारा क्या तात्पर्य है? हमने “करना” श्रेणी की सरलीकरण क्षमता देखी है, जिससे हम इसमें कभी “होना” तो कभी “रखना” देख पाते हैं। क्या “रखना” श्रेणी के साथ भी ऐसा ही है?
यह स्पष्ट है कि अनेक मामलों में, किसी वस्तु पर अधिकार होने का अर्थ है उसका उपयोग करने का अधिकार। यद्यपि, मैं इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं हूँ। इस कैफ़े में मैं इस प्लेट और इस गिलास का उपयोग करता हूँ, फिर भी ये मेरे नहीं हैं। मैं उस चित्र का "उपयोग" नहीं कर सकता जो मेरी दीवार पर टंगा है, फिर भी वह मेरा है। कुछ मामलों में मेरे पास जो अधिकार है उसे नष्ट करने का जो अधिकार है, वह भी निर्णायक नहीं है। इस अधिकार से स्वामित्व को परिभाषित करना विशुद्ध रूप से अमूर्त होगा, और इसके अतिरिक्त, "नियोजित अर्थव्यवस्था" वाले समाज में एक मालिक अपने कारखाने का मालिक हो सकता है, लेकिन उसे बंद करने का अधिकार नहीं होता; शाही रोम में स्वामी अपने दास का स्वामी होता था, लेकिन उसे मृत्युदंड देने का अधिकार नहीं होता था। इसके अलावा, यहाँ नष्ट करने के अधिकार से क्या तात्पर्य है, उपयोग करने के अधिकार से? मैं देख सकता हूँ कि यह अधिकार मुझे सामाजिक क्षेत्र से जोड़ता है और स्वामित्व समाज में जीवन के दायरे में परिभाषित होता प्रतीत होता है। लेकिन मैं यह भी देखता हूँ कि यह अधिकार विशुद्ध रूप से नकारात्मक है और किसी अन्य को मेरी वस्तु को नष्ट करने या उपयोग करने से रोकने तक ही सीमित है। बेशक, हम स्वामित्व को एक सामाजिक कार्य के रूप में परिभाषित करने का प्रयास कर सकते हैं। लेकिन सबसे पहले, यद्यपि समाज कुछ नियमों के अनुसार अधिकार प्रदान करता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विनियोग का संबंध स्थापित करता है। अधिक से अधिक, यह इसे कानूनी बना देता है। यदि स्वामित्व को पवित्रता का दर्जा दिया जाना है, तो इसे सबसे पहले स्वतः अस्तित्व में आने वाले और स्वतः मूर्त के बीच स्वतः स्थापित संबंध के रूप

में विद्यमान होना चाहिए। यदि हम एक अधिक न्यायपूर्ण सामूहिक संगठन के भविष्य के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं, जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व को कम से कम कुछ सीमाओं के भीतर संरक्षित और पवित्र नहीं किया जाएगा—तो इसका यह अर्थ नहीं है कि विनियोग का संबंध समाप्त हो जाएगा; यह वास्तव में वस्तुओं के प्रति मनुष्य के निजी संबंध के कारण बना रह सकता है। इस प्रकार आदिम समाजों में जहाँ वैवाहिक बंधन अभी तक कानूनी नहीं है और जहाँ वंशानुगत परंपरा अभी भी मातृसत्तात्मक है, वहाँ यौन संबंध कम से कम एक प्रकार के रखैल के रूप में मौजूद होता है। इसलिए, स्वामित्व और स्वामित्व के अधिकार के बीच अंतर करना आवश्यक है। इसी कारण से मुझे प्राउडॉन द्वारा दी गई किसी भी परिभाषा को अस्वीकार करना होगा—जैसे कि "स्वामित्व चोरी है"—क्योंकि यह प्रश्न को ही उलट देता है। यह संभव है कि निजी संपत्ति चोरी से प्राप्त हुई हो और इस संपत्ति को रखने का परिणाम किसी दूसरे की संपत्ति को लूटना हो। लेकिन चाहे इसका स्रोत और परिणाम कुछ भी हो, स्वामित्व अपने आप में वर्णन और परिभाषा के योग्य बना रहता है। चोर खुद को चुराए गए धन का मालिक मानता है। इसलिए हमारी समस्या में चोर और चोरी की गई संपत्ति के बीच सटीक संबंध के साथ-साथ वैध मालिक और "ईमानदारी से अर्जित" संपत्ति के बीच संबंध का वर्णन करना शामिल है।
यदि मैं अपने पास मौजूद वस्तु पर विचार करूं, तो मुझे यह समझ आता है कि किसी वस्तु के स्वामित्व का गुण केवल बाहरी रूप से उस वस्तु के साथ मेरे बाहरी संबंध को ही नहीं दर्शाता; बल्कि इसके विपरीत, यह गुण उसके गहरे अस्तित्व को प्रभावित करता है; यह मुझे और दूसरों को वस्तु के अस्तित्व का एक हिस्सा प्रतीत होता है। यही कारण है कि आदिम समाजों में कुछ व्यक्तियों को "स्वामित्व प्राप्त" कहा जाता है; "स्वामित्व प्राप्त" व्यक्ति को किसी समूह का हिस्सा माना जाता है... आदिम अंत्येष्टि समारोहों का भी यही महत्व है, जिनमें मृतकों को उनकी वस्तुओं के साथ दफनाया जाता है। "ताकि वे वस्तुओं का उपयोग कर सकें" जैसी तर्कसंगत व्याख्या स्पष्ट रूप से घटना के बाद की है। यह अधिक संभावना है कि जिस समय इस प्रकार की प्रथा स्वतः ही प्रकट हुई, उस समय किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी। वस्तुओं में मृतक का विशिष्ट गुण निहित था। वे उसके साथ एक संपूर्ण इकाई का निर्माण करती थीं; किसी मृत व्यक्ति को उसकी सामान्य वस्तुओं के बिना दफनाने का प्रश्न उतना ही अतार्किक था जितना कि उसे उसके एक पैर के बिना दफनाने का। शव, वह प्याला जिससे मृतक ने पानी पिया, वह चाकू जिसका उसने उपयोग किया, ये सभी मिलकर एक मृत व्यक्ति बनाते हैं। मालाबार में विधवाओं को जलाने की प्रथा को भी इसी सिद्धांत के अंतर्गत रखा जा सकता है; स्त्री पर प्रेतबाधा का साया होता है; मृत पुरुष उसे अपने साथ मृत्यु में ले जाता है। समुदाय की दृष्टि में, वह विधित से मृत है; जलाना केवल उसे विधित मृत्यु से वास्तविक मृत्यु की ओर ले जाने में सहायक होता है। जो वस्तुएँ कब्र में नहीं रखी जा सकतीं, वे प्रेतबाधित होती हैं। भूत केवल इस विचार का मूर्त रूप है कि घर और साज-सामान "प्रेतबाधित" हैं। किसी घर को प्रेतबाधित कहना इस बात का प्रमाण है कि न तो धन और न ही प्रयास उसके पूर्व निवासी के आध्यात्मिक,

निरपेक्ष अधिकार के तथ्य को मिटा सकते हैं। यह सत्य है कि पैतृक किलों में भटकने वाले भूत पतित लारे होते हैं। लेकिन ये लारे क्या हैं, यदि वे दीवारों और साज-सामान पर एक-एक करके जमा हुई प्रेतबाधा की परतें नहीं हैं? वस्तु और उसके स्वामी के संबंध को दर्शाने वाला शब्द ही अधिकार के गहरे प्रभाव को पर्याप्त रूप से इंगित करता है; प्रेतबाधित होने का अर्थ है किसी के लिए होना (être à …)। इसका अर्थ है कि अधिकार प्राप्त वस्तु के अस्तित्व को छुआ जाता है। हमने यह भी देखा है कि अधिकारकर्ता का विनाश, अधिकार प्राप्त वस्तु के अधिकार का विनाश होता है और इसके विपरीत, अधिकार प्राप्त वस्तु का अस्तित्व, अधिकारकर्ता के अधिकार के अस्तित्व को बनाए रखता है। अधिकार का बंधन अस्तित्व का एक आंतरिक बंधन है। मैं अधिकारकर्ता से उस वस्तु में और उसके माध्यम से मिलता हूँ जिस पर उसका अधिकार है। यह स्पष्ट रूप से अवशेषों के महत्व की व्याख्या है; और इससे हमारा तात्पर्य केवल धार्मिक अवशेषों से ही नहीं है, बल्कि विशेष रूप से किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की संपूर्ण संपत्ति से है जिसमें हम उसे पुनः खोजने का प्रयास करते हैं, प्रिय दिवंगत की स्मृतियाँ जो उसकी स्मृति को "स्थायी" बनाती प्रतीत होती हैं। (उदाहरण के लिए, विक्टर ह्यूगो संग्रहालय, या बाल्ज़ाक और फ़्लॉबर्ट से संबंधित वस्तुओं पर विचार करें।)
स्वामित्व रखने वाले और स्वामित्व प्राप्त करने वाले के बीच यह आंतरिक, तात्विक बंधन (जिसे दाग लगाने जैसी प्रथाओं ने अक्सर मूर्त रूप देने का प्रयास किया है) विनियोग के किसी "यथार्थवादी" सिद्धांत द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यदि हम यथार्थवाद को एक ऐसे सिद्धांत के रूप में परिभाषित करने में सही हैं जो विषय और वस्तु को दो स्वतंत्र पदार्थ मानता है जो स्वयं के लिए और स्वयं से अस्तित्व धारण करते हैं, तो एक यथार्थवादी सिद्धांत विनियोग की व्याख्या उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार वह ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकता, जो कि विनियोग का एक रूप है; दोनों ही विषय और वस्तु को अस्थायी रूप से जोड़ने वाले बाह्य संबंध बने रहते हैं। लेकिन हमने देखा है कि ज्ञात वस्तु को एक ठोस अस्तित्व प्रदान किया जाना चाहिए। सामान्य रूप से स्वामित्व के साथ भी यही स्थिति है: स्वामित्व प्राप्त वस्तु स्वयं में विद्यमान होती है, स्थायित्व, कालिकताहीनता, अस्तित्व की पर्याप्तता, संक्षेप में कहें तो ठोसता द्वारा परिभाषित होती है। इसलिए हमें स्वामित्व प्राप्त करने वाले विषय के पक्ष में असंबद्धता को रखना चाहिए। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को अपने अधिकार में नहीं ले सकता, और यदि हम वस्तुओं में "अधिकार में होने" का एक विशेष गुण देखते हैं, तो इसका कारण यह है कि मूलतः स्वयं के लिए और स्वयं में होने के बीच का आंतरिक संबंध, जो स्वामित्व है, स्वयं के लिए होने की अपर्याप्तता से उत्पन्न होता है। यह स्पष्ट है कि अधिकार में ली गई वस्तु पर अधिकार की क्रिया का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक उसी प्रकार जैसे ज्ञात वस्तु पर ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अप्रभावित रहती है (सिवाय उन मामलों के जहाँ अधिकार में लिया गया व्यक्ति मनुष्य हो, जैसे कोई दास या वेश्या)। लेकिन अधिकार में ली गई वस्तु का यह गुण उसके अर्थ को आदर्श रूप से जरा भी

प्रभावित नहीं करता; दूसरे शब्दों में, उसका अर्थ स्वयं के लिए इस अधिकार को प्रतिबिंबित करना है।
यदि स्वामी और वस्तु स्वयं के लिए अपर्याप्त होने पर आधारित आंतरिक संबंध से एकजुट हैं, तो हमें उनके द्वारा निर्मित द्वैत की प्रकृति और अर्थ को निर्धारित करने का प्रयास करना चाहिए। वास्तव में, यह आंतरिक संबंध संश्लेषणात्मक है और स्वामी और वस्तु के एकीकरण को प्रभावित करता है। इसका अर्थ है कि स्वामी और वस्तु आदर्श रूप से एक अद्वितीय वास्तविकता का निर्माण करते हैं। स्वामित्व का अर्थ है स्वामित्व वाली वस्तु के साथ विनियोग के रूप में एकजुट होना; स्वामित्व की इच्छा का अर्थ है इस संबंध में किसी वस्तु के साथ एकजुट होने की इच्छा। इस प्रकार, किसी विशेष वस्तु की इच्छा केवल उस वस्तु की इच्छा नहीं है; यह वस्तु के साथ एक आंतरिक संबंध में एकजुट होने की इच्छा है, जिसके द्वारा उसके साथ "स्वामी-स्वामित्व" की एकता का निर्माण होता है। किसी वस्तु को पाने की इच्छा मूलतः किसी निश्चित वस्तु के साथ किसी निश्चित अस्तित्व संबंध में जुड़े रहने की इच्छा में समाहित है।
इस संबंध को निर्धारित करने में, वैज्ञानिक, कलाकार और खिलाड़ी के व्यवहार पर पहले किए गए अवलोकन हमारे लिए बहुत उपयोगी होंगे। हमने प्रत्येक के व्यवहार में एक विशिष्ट अभिग्रहणकारी दृष्टिकोण पाया, और प्रत्येक मामले में अभिग्रहण इस तथ्य से चिह्नित था कि वस्तु एक ही समय में स्वयं के व्यक्तिपरक उत्सर्जन के रूप में प्रकट होती थी और फिर भी हमारे साथ एक उदासीन बाह्य संबंध में बनी रहती थी। तब "मेरा" हमें 'मैं' की पूर्ण आंतरिकता और 'मैं नहीं' की पूर्ण बाह्यता के बीच मध्यवर्ती संबंध के रूप में दिखाई दिया। इसी समन्वय में एक 'स्व' का 'स्व' में परिवर्तन और एक 'स्व' का 'स्व' में परिवर्तन होता है। लेकिन हमें इस संबंध का अधिक सावधानीपूर्वक वर्णन करना होगा। अधिकार की परियोजना में हम एक ऐसे 'स्वयं के लिए' से मिलते हैं जो "अविभाज्य" है, जो अपनी संभावना से शून्यता द्वारा अलग है। यह संभावना वस्तु को अभिग्रहण करने की संभावना है। इसके अतिरिक्त, हमें एक ऐसा मूल्य मिलता है जो स्वयं-संबंधी भावना को सताता है और जो उस संपूर्ण अस्तित्व का आदर्श संकेत है जो संभव और स्वयं-संबंधी भावना (जो उसकी संभव है) के एकरूपता में मिलन से साकार होगा; मेरा तात्पर्य यहाँ उस अस्तित्व से है जो तब साकार होगा जब मैं पहचान की अविभाज्य एकता में होऊँगा—स्वयं और मेरा गुण। इस प्रकार, विनियोग स्वयं-संबंधी भावना और मूर्त स्वयं-संबंधी भावना के बीच एक संबंध होगा, और यह संबंध स्वयं-संबंधी भावना और उस स्वयं-संबंधी भावना के बीच एकरूपता के आदर्श संकेत से प्रभावित होगा जिस पर अधिकार है।
स्वामित्व का अर्थ है स्वयं के लिए रखना; अर्थात्, वस्तु के अस्तित्व का एकमात्र उद्देश्य होना। यदि स्वामित्व पूर्णतः और ठोस रूप से दिया गया है, तो धारक ही उस वस्तु का मूल कारण होता है। मेरे पास यह कलम है; इसका अर्थ है कि यह कलम मेरे लिए अस्तित्व में है, मेरे लिए बनाई गई है। इसके अतिरिक्त, मूलतः मैं ही वह वस्तु बनाता हूँ जिसे मैं अपने लिए रखना चाहता हूँ। मेरा

धनुष और बाण—इसका अर्थ है वे वस्तुएँ जो मैंने स्वयं अपने लिए बनाई हैं। श्रम विभाजन इस मूल संबंध को धुंधला कर सकता है, परन्तु इसे मिटा नहीं सकता। विलासिता इसका पतन है; विलासिता के आदिम रूप में, मेरे पास एक ऐसी वस्तु होती है जिसे मैंने अपने लोगों (दास, घर में जन्मे नौकर) से बनवाया है। अतः विलासिता स्वामित्व का वह रूप है जो आदिम स्वामित्व के सबसे निकट है; स्वामित्व के बाद यही वह चीज़ है जो सृजन के उस संबंध पर सबसे अधिक प्रकाश डालती है जो मूलतः विनियोग का निर्माण करता है। श्रम विभाजन की चरम सीमा पर पहुँचने वाले समाज में यह संबंध छिपा रहता है, परन्तु दबाया नहीं जाता। जिस वस्तु पर मेरा अधिकार है, वह मैंने खरीदी है। धन मेरी शक्ति का प्रतीक है; यह स्वयं में एक संपत्ति से अधिक, अधिकार प्राप्त करने का एक साधन है। यही कारण है कि लालच के कुछ असाधारण मामलों को छोड़कर, क्रय शक्ति से परे धन का महत्व मिट जाता है; यह क्षणभंगुर है, यह वस्तु, ठोस वस्तु को प्रकट करता है; धन का अस्तित्व केवल एक सकर्मक क्रिया है। परन्तु मेरे लिए यह एक सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रकट होता है: किसी वस्तु को खरीदना एक प्रतीकात्मक क्रिया है जो वस्तु के सृजन के समान है। यही कारण है कि धन शक्ति का पर्याय है; न केवल इसलिए कि यह वास्तव में हमारी इच्छाओं को प्राप्त करने में सक्षम है, बल्कि विशेष रूप से इसलिए कि यह मेरी इच्छा की प्रभावशीलता को दर्शाता है। ठीक इसी कारण कि यह वस्तु की ओर अग्रसर होता है, उससे आगे निकल जाता है, और केवल निहित होता है, यह वस्तु के साथ मेरे जादुई बंधन का प्रतिनिधित्व करता है। धन विषय और वस्तु के तकनीकी संबंध को दबा देता है और इच्छा को तुरंत क्रियाशील बना देता है, जैसे परियों की कहानियों की जादुई इच्छाएँ। अपनी जेब में धन लेकर किसी प्रदर्शनी के सामने रुकें; प्रदर्शित वस्तुएँ पहले से ही आपकी आधी से अधिक हो चुकी हैं। इस प्रकार धन स्वयं के लिए और संसार में वस्तुओं के संपूर्ण संग्रह के बीच एक विनियोग का बंधन स्थापित करता है। धन की इच्छा स्वयं ही सूचना देने वाली और सृजनकर्ता होती है।
इस प्रकार निरंतर क्षरण के माध्यम से, कर्ता और वस्तु के बीच सृजन का बंधन बना रहता है। किसी वस्तु को धारण करना ही सृजन करना है। और जो स्वामित्व का बंधन स्थापित होता है, वह निरंतर सृजन का बंधन है; मेरे द्वारा धारण की गई वस्तु मेरे परिवेश के संपूर्ण स्वरूप में समाहित हो जाती है; उसका अस्तित्व मेरी स्थिति और उसी स्थिति में उसके एकीकरण द्वारा निर्धारित होता है। मेरा दीपक केवल वह बिजली का बल्ब, वह पर्दा, वह लोहे का स्टैंड ही नहीं है; यह इस डेस्क, इन किताबों, इस मेज को रोशन करने की एक निश्चित शक्ति है; यह देर रात पढ़ने या लिखने की मेरी आदतों से जुड़ा हुआ, रात में मेरे काम का एक निश्चित प्रकाशमान पहलू है; यह मेरे द्वारा किए गए उपयोग से जीवंत, रंगीन और परिभाषित होता है; यह वही उपयोग है और केवल उसी के माध्यम से अस्तित्व में है। यदि इसे मेरी डेस्क, मेरे काम से अलग कर दिया जाए और किसी बिक्री कक्ष के फर्श पर पड़ी वस्तुओं के ढेर में रख दिया जाए, तो मेरा दीपक पूरी तरह से बुझ जाता है; यह अब मेरा दीपक नहीं रहता; बल्कि, केवल दीपकों के वर्ग का एक सदस्य बनकर, यह अपने मूल स्वरूप में लौट आता है। इस

प्रकार मैं मानवीय व्यवस्था में अपनी संपत्तियों के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी हूँ। स्वामित्व के माध्यम से मैं उन्हें एक विशिष्ट प्रकार के कार्यात्मक अस्तित्व तक पहुंचाता हूँ; और मेरा सरल जीवन मुझे रचनात्मक प्रतीत होता है, ठीक इसलिए क्योंकि इसकी निरंतरता मेरे अधिकार में मौजूद प्रत्येक वस्तु में स्वामित्व की भावना को बनाए रखती है। मैं अपने परिवेश के संग्रह को अपने साथ ही अस्तित्व में लाता हूँ। यदि वे मुझसे छीन लिए जाएँ, तो वे मर जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे मेरा हाथ मुझसे अलग हो जाने पर मर जाता है।
लेकिन सृजन का मूल, मौलिक संबंध उत्सर्जन का संबंध है, और पदार्थ के कार्तीय सिद्धांत में आने वाली कठिनाइयाँ हमें इस संबंध को समझने में मदद करती हैं। मैं जो भी सृजित करता हूँ, वह मैं ही हूँ—यदि सृजन से हमारा तात्पर्य पदार्थ और रूप को अस्तित्व में लाना है। यदि परम सृष्टिकर्ता का अस्तित्व होता, तो उसकी त्रासदी स्वयं से बाहर निकलने की असंभवता होती, क्योंकि वह जो कुछ भी सृजित करता, वह केवल स्वयं ही होता। मेरी रचना को वस्तुनिष्ठता और स्वतंत्रता कहाँ से मिल सकती है, क्योंकि उसका रूप और पदार्थ मुझसे ही हैं? केवल एक प्रकार की जड़ता ही उसे मेरी उपस्थिति से अलग कर सकती है, लेकिन इस जड़ता के कार्य करने के लिए, मुझे निरंतर सृजन द्वारा उसे अस्तित्व में बनाए रखना होगा। इस प्रकार, जिस हद तक मैं स्वयं को केवल विनियोग के संबंध द्वारा वस्तुओं का सृजन करते हुए प्रतीत होता हूँ, ये वस्तुएँ मैं ही हूँ। कलम और पाइप, वस्त्र, मेज, घर—मैं ही हूँ। मेरी संपूर्ण संपत्ति मेरे संपूर्ण अस्तित्व को प्रतिबिंबित करती है। मैं वही हूँ जो मेरे पास है। इस प्याले में, इस आभूषण में, मैं स्वयं ही स्पर्श करता हूँ। यह पर्वत जिस पर मैं चढ़ता हूँ, वह मैं ही हूँ, जिस हद तक मैं उस पर विजय प्राप्त करता हूँ; और जब मैं इसके शिखर पर पहुँचता हूँ, जिसे मैंने इसी प्रयास की कीमत पर "हासिल" किया है, जब मुझे घाटी और आसपास की चोटियों का यह शानदार दृश्य दिखाई देता है, तब मैं ही दृश्य बन जाता हूँ; यह विहंगम दृश्य क्षितिज तक फैला हुआ मेरा अपना ही रूप है, क्योंकि यह केवल मेरे माध्यम से, केवल मेरे लिए ही विद्यमान है।
लेकिन सृजन एक क्षणभंगुर अवधारणा है जो केवल अपनी गति के माध्यम से ही विद्यमान हो सकती है। यदि हम इसे रोक दें, तो यह लुप्त हो जाती है। इसकी स्वीकृति की चरम सीमाओं पर, यह नष्ट हो जाती है; या तो मुझे केवल मेरी शुद्ध आत्मनिष्ठा मिलती है या फिर मेरा सामना एक नग्न, उदासीन भौतिकता से होता है जिसका मुझसे कोई संबंध नहीं रह जाता। सृजन की कल्पना और उसे बनाए रखना केवल एक अवस्था से दूसरी अवस्था में निरंतर संक्रमण के रूप में ही संभव है। जैसे ही वस्तु मेरे संसार में उभरती है, वह एक ही समय में पूर्णतः मैं और पूर्णतः मुझसे स्वतंत्र होनी चाहिए। यही वह है जिसे हम अधिकार में अनुभव करते हैं। अधिकार प्राप्त वस्तु एक निरंतर सृजन है; लेकिन फिर भी वह वहीं बनी रहती है, वह स्वयं विद्यमान है; वह स्वयं में है। यदि मैं इससे मुंह मोड़ लूं, तो इसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता; यदि मैं चला जाऊं, तो यह मेरे डेस्क पर, मेरे कमरे में, संसार के इस स्थान पर मेरा

आधार होगा) का संकेत है, जो इसे साकार करने के उद्देश्य से किए गए सभी अधिकारिक आचरणों से परे है।
यही कारण है कि किसी वस्तु पर अधिकार करना असंभव है, इस मान्यता से स्वयं में उसे नष्ट करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। नष्ट करना स्वयं में समाहित होना है; नष्ट हुई वस्तु के स्व-अस्तित्व के साथ एक ऐसे गहरे संबंध में प्रवेश करना है जो सृजन के संबंध के समान ही गहरा है। जिस खेत को मैंने स्वयं आग लगाई है, उसकी लपटें धीरे-धीरे खेत को मुझमें विलीन कर देती हैं। उसे नष्ट करके मैं उसे स्वयं में परिवर्तित कर रहा हूँ। अचानक मैं सृजन में पाए जाने वाले अस्तित्व के संबंध को पुनः खोज लेता हूँ, परन्तु विपरीत रूप में; मैं जलते हुए खलिहान की नींव हूँ; मैं ही यह खलिहान हूँ क्योंकि मैं इसके अस्तित्व को नष्ट कर रहा हूँ। विनाश शायद सृजन की तुलना में अधिक तीव्रता से विनियोग को साकार करता है, क्योंकि नष्ट हुई वस्तु अब स्वयं को अभेद्य दिखाने के लिए वहाँ नहीं रहती। उसमें वह अभेद्यता और स्व-अस्तित्व की पर्याप्तता है जो वह रही है, परन्तु साथ ही उसमें उस शून्यता की अदृश्यता और पारभासीता भी है जो मैं हूँ, क्योंकि अब उसका अस्तित्व नहीं है। यह गिलास जिसे मैंने तोड़ा है और जो इस मेज पर "था", वह अभी भी वहीं है, लेकिन पूर्ण पारदर्शिता के रूप में। मुझे सभी प्राणी एक दूसरे पर आरोपित दिखाई देते हैं। फिल्म निर्माताओं ने फिल्म पर ओवरप्रिंटिंग करके यही दर्शाने का प्रयास किया है। नष्ट हुई वस्तु चेतना के समान है, यद्यपि उसमें स्वयं की अपरिवर्तनीयता है। साथ ही, यह पूरी तरह से मेरी है क्योंकि मुझे जो होना है, वही होने का तथ्य नष्ट हुई वस्तु को नष्ट होने से बचाता है। मैं स्वयं को पुनर्सृजित करके इसे पुनर्सृजित करता हूँ; इस प्रकार, नष्ट करना ही पुनर्सृजन है, क्योंकि स्वयं को उस अस्तित्व के लिए पूर्णतः जिम्मेदार मानना है जो सभी के लिए विद्यमान था।
इसलिए, विनाश को भी विनियोजन व्यवहारों में स्थान दिया जाना चाहिए। इसके अलावा, कई प्रकार के विनियोजन व्यवहारों में अन्य संरचनाओं के साथ-साथ एक विनाशकारी संरचना भी होती है। उपयोग करना यानी प्रयोग करना। अपनी साइकिल का उपयोग करते हुए, मैं उसे घिसकर खत्म कर देता हूँ; अर्थात्, निरंतर विनियोजन सृजन में आंशिक विनाश भी शामिल होता है। यह घिसाव विशुद्ध रूप से व्यावहारिक कारणों से कष्टदायी हो सकता है, लेकिन अधिकतर मामलों में यह एक गुप्त आनंद देता है, लगभग स्वामित्व के आनंद के समान; ऐसा इसलिए है क्योंकि यह हमारे द्वारा उत्पन्न होता है—हम उपभोग कर रहे हैं। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि "उपभोग" शब्द में विनियोजन विनाश और आहार संबंधी आनंद, दोनों अर्थ निहित हैं। उपभोग का अर्थ है नष्ट करना और खाना; यह स्वयं में समाहित करके नष्ट करना है। यदि मैं अपनी साइकिल चलाता हूँ, तो उसके टायर घिस जाने पर मुझे झुंझलाहट हो सकती है क्योंकि उन्हें बदलने के लिए दूसरे टायर मिलना मुश्किल है; लेकिन मेरे शरीर द्वारा उत्पन्न आनंद की छवि एक विनाशकारी विनियोजन, एक "सृजन-विनाश" की है। साइकिल अकेले ही सरकती हुई, मुझे अपने साथ लिए हुए, अपनी गति से ही सृजित और मेरी हो जाती है; परन्तु यह सृजन वस्तु पर प्रकाश और निरंतर घिसावट से गहराई से अंकित हो जाता है, जो

उस पर अंकित होकर गुलाम पर लगे दाग के समान है। वस्तु मेरी है क्योंकि मैंने ही उसका उपयोग किया है; जो मेरा है उसका उपयोग करना ही मेरे जीवन का दूसरा पहलू है।
ये टिप्पणियाँ हमें कुछ ऐसी भावनाओं या व्यवहारों के अर्थ को बेहतर ढंग से समझने में मदद करेंगी जिन्हें आम तौर पर अविभाज्य माना जाता है; उदाहरण के लिए, उदारता। वास्तव में, उपहार देना विनाश का एक आदिम रूप है। हम जानते हैं कि पोटलच में भारी मात्रा में माल का विनाश शामिल होता है। ये विनाश दूसरे के लिए वर्जित हैं; उपहार उसे जकड़ लेते हैं। इस स्तर पर यह अप्रासंगिक है कि वस्तु नष्ट की जाती है या किसी और को दी जाती है; किसी भी स्थिति में पोटलच दूसरे का विनाश और जकड़न है। मैं वस्तु को देकर और उसे नष्ट करके दोनों तरह से उसका विनाश करता हूँ; मैं उसमें अपने होने के गुण को दबा देता हूँ, जो उसके अस्तित्व की गहराई तक उसे स्थापित करता था; मैं उसे अपनी दृष्टि से हटा देता हूँ; मैं उसे—अपनी मेज, अपने कमरे के संबंध में—अनुपस्थित कर देता हूँ; मैं ही उसके लिए अतीत की वस्तुओं के प्रेतवाधित, पारदर्शी अस्तित्व को संरक्षित रखूँगा, क्योंकि मैं ही वह हूँ जिसके माध्यम से प्राणी अपने विनाश के बाद एक सम्मानजनक अस्तित्व प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उदारता सर्वोपरि एक विनाशकारी कार्य है। देने का वह उन्माद जो कभी-कभी कुछ लोगों को जकड़ लेता है, सर्वप्रथम विनाश का उन्माद है; यह पागलपन के समान है, एक ऐसा "प्रेम" जो वस्तुओं के टूटने के साथ जुड़ा होता है। लेकिन उदारता की जड़ में छिपी विनाश की सनक, असल में अधिकार की सनक ही है। जो कुछ मैं त्यागता हूँ, जो कुछ मैं देता हूँ, उसे देने के कारण मुझे एक अलग ही आनंद मिलता है; देना एक तीव्र, क्षणिक आनंद है, लगभग यौन सुख जैसा। देना, दी गई वस्तु का अधिकारपूर्वक आनंद लेना है; यह एक विनाशकारी-अधिकारपूर्ण संपर्क है। लेकिन साथ ही, उपहार प्राप्तकर्ता पर जादू कर देता है; यह उसे फिर से सृजित करने, निरंतर सृजन द्वारा अपने उस अंश को बनाए रखने के लिए बाध्य करता है जिसे मैं अब नहीं चाहता, जिसे मैंने अभी-अभी उसके विनाश तक अपने पास रखा है, और जो अंत में केवल एक छवि के रूप में रह जाता है। देना गुलामी है। उपहार का यह पहलू यहाँ हमारे लिए महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह मुख्य रूप से दूसरों के साथ हमारे संबंधों से संबंधित है। हम जिस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं वह यह है कि उदारता को सीमित नहीं किया जा सकता; देना विनाश द्वारा अधिकार करना है, और इस विनाश का उपयोग दूसरे को गुलाम बनाने के लिए करना है। उदारता एक ऐसी भावना है जो दूसरे के अस्तित्व से संरचित होती है और विनाश द्वारा अधिग्रहण की प्राथमिकता को दर्शाती है। इस प्रकार यह हमें स्वयं के अस्तित्व की तुलना में शून्यता की ओर अधिक ले जाती है (यहाँ हमारे पास स्वयं का शून्यता का एक ऐसा रूप है जो स्पष्ट रूप से स्वयं में ही है, लेकिन जो शून्यता के रूप में उस अस्तित्व का प्रतीक हो सकता है जो स्वयं उसकी शून्यता है)। यदि अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण किसी व्यक्ति में उदारता के प्रमाण पाता है, तो उसे उसकी मूल परियोजना की और अधिक खोज करनी चाहिए और यह पूछना चाहिए कि उस व्यक्ति ने सृजन के बजाय विनाश द्वारा अधिग्रहण का विकल्प क्यों चुना है।

थी। धूम्रपान न करने के अपने निर्णय को बनाए रखने के लिए, मुझे एक प्रकार का विक्रिस्टलीकरण करना पड़ा; अर्थात्, मैं जो कर रहा था उसका ठीक-ठीक हिसाब लिए बिना, मैंने तंबाकू को केवल स्वयं तक सीमित कर दिया - एक जड़ी बूटी जो जलती है। मैंने दुनिया के साथ इसके प्रतीकात्मक संबंधों को काट दिया; मैंने खुद को समझाया कि थिएटर में चल रहे नाटक, आसपास के नज़ारे या अपनी पढ़ी जा रही किताब को बिना पाइप के देखने से मेरा कुछ भी कम नहीं हो रहा है; यानी, मैंने इन चीज़ों पर अपना अधिकार जताने के लिए पाइप के बिना दूसरे तरीके अपनाए। जैसे ही मुझे इस बात का यकीन हुआ, मेरा अफसोस बहुत कम हो गया; मुझे धुएं की गंध, उंगलियों के बीच पाइप की गर्माहट आदि को महसूस न कर पाने का दुख हुआ। लेकिन अचानक मेरा अफसोस शांत हो गया और सहने लायक हो गया।
इस प्रकार, किसी वस्तु में हम मूल रूप से जिस चीज को आत्मसात करना चाहते हैं, वह उसका अस्तित्व है, और यही संसार है। आत्मसात करने के ये दोनों लक्ष्य वास्तव में एक ही हैं। मैं घटना के पीछे जाकर घटना के अस्तित्व को खोजना चाहता हूँ। लेकिन यह अस्तित्व, जैसा कि हमने देखा है, अस्तित्व की घटना से बहुत अलग है; यह स्वयं में अस्तित्व है, न कि केवल किसी विशेष वस्तु का अस्तित्व। ऐसा इसलिए नहीं है कि यहाँ सार्वभौमिकता की ओर कोई मार्ग है, बल्कि इसलिए कि अपने ठोस रूप में माना जाने वाला अस्तित्व अचानक समग्रता का अस्तित्व बन जाता है। इस प्रकार, अधिकार का संबंध हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है: अधिकार करना किसी विशेष वस्तु के माध्यम से संसार को अपने अधिकार में लेने की इच्छा रखना है। और चूंकि अधिकार को स्वयं को एक अस्तित्व के आधार के रूप में समझने के प्रयास के रूप में परिभाषित किया गया है, जहाँ तक वह आदर्श रूप से हम स्वयं हैं, प्रत्येक अधिकार संबंधी परियोजना का उद्देश्य स्वयं के लिए को संसार के आधार के रूप में या स्वयं में एक ठोस समग्रता के रूप में स्थापित करना है, और यह समग्रता, समग्रता के रूप में, स्वयं के लिए ही है जो स्वयं में विद्यमान है। संसार में होना, संसार को अपने वश में करने की परियोजना का निर्माण करना है; अर्थात्, संपूर्ण संसार को उस रूप में समझना जो स्वयं के लिए अपूर्ण है, ताकि वह स्वयं में स्वयं के लिए बन सके। यह एक ऐसी समग्रता में संलग्न होना है जो ठीक वही आदर्श, मूल्य या समग्रता है, और जो आदर्श रूप से स्वयं के लिए एक निरुत्सीकृत समग्रता के रूप में, जो अपने आप में है, और संसार के साथ, जो अपने आप में समग्रता है, के विलय से निर्मित होगी।
यह समझना आवश्यक है कि स्व-सृष्टि का उद्देश्य तर्कशील अस्तित्व स्थापित करना नहीं है, अर्थात् ऐसा अस्तित्व जिसे स्व-सृष्टि पहले आकार और पदार्थ के रूप में परिकल्पित करे और फिर उसे अस्तित्व प्रदान करे। ऐसा अस्तित्व वास्तव में एक शुद्ध अमूर्त अवधारणा, एक सार्वभौमिक अवधारणा होगी; इसकी अवधारणा संसार में अस्तित्व से पूर्व नहीं हो सकती; इसके विपरीत, इसकी अवधारणा संसार में अस्तित्व को पूर्वधारणा के रूप में मानती है, क्योंकि यह एक ऐसे अस्तित्व की पूर्व-सत्तामीमांसा संबंधी समझ को मानती है जो प्रारंभ में अत्यंत ठोस और विद्यमान है, जो स्व-सृष्टि के प्रथम अस्तित्व

हमें मृत्यु, जन्म के आघात, सत्ता की इच्छा का उल्लेख मिलता है। संक्षेप में कहें तो, उनका मनोविश्लेषण अपने सिद्धांतों की अपेक्षा अपनी पद्धति को लेकर अधिक आश्वस्त प्रतीत होता है और निःसंदेह अपने शोध के सटीक लक्ष्य को समझने के लिए परिणामों पर निर्भर रहेगा। परन्तु यह बात उल्टी है; परिणाम हमें सिद्धांत स्थापित करने की अनुमति कभी नहीं देंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे परिमित रूपों का योग हमें सार को समझने की अनुमति नहीं देगा। अतः हमें प्रतीत होता है कि हमें यहाँ उन अनुभवजन्य सिद्धांतों या अभिधारणाओं को त्याग देना चाहिए जो मनुष्य को जन्मजात रूप से कामुकता या सत्ता की इच्छा प्रदान करते हैं, और हमें मनोविश्लेषण के लक्ष्य को विशुद्ध रूप से सत्तामीमांसा के दृष्टिकोण से स्थापित करना चाहिए। यही हमने अभी-अभी प्रयास किया है। हमने देखा है कि मानवीय वास्तविकता, कामेच्छा या सत्ता की इच्छा के रूप में वर्णित किए जाने से बहुत दूर, अस्तित्व का एक चुनाव है, चाहे प्रत्यक्ष रूप से हो या संसार के विनियोग के माध्यम से। और हमने देखा है—जब चुनाव विनियोग के माध्यम से व्यक्त होता है—कि प्रत्येक वस्तु का अंतिम चयन उसकी यौन क्षमता के लिए नहीं, बल्कि उस तरीके के आधार पर होता है जिससे वह अस्तित्व को प्रस्तुत करती है, उस तरीके के आधार पर जिससे अस्तित्व उसकी सतह से उत्पन्न होता है। वस्तुओं और उनके पदार्थ का मनोविश्लेषण सर्वप्रथम इस बात को स्थापित करने से संबंधित होना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु किस प्रकार अस्तित्व का वस्तुनिष्ठ प्रतीक है और मानवीय वास्तविकता का इस अस्तित्व से क्या संबंध है। हम इस बात से इनकार नहीं करते कि हम बाद में प्रकृति में संपूर्ण यौन प्रतीकवाद की खोज कर सकते हैं, लेकिन यह एक गौण और संकुचित स्तर है, जिसके लिए पूर्व-यौन संरचनाओं का मनोविश्लेषण आवश्यक है। इस प्रकार, एम. बैचलार्ड का जल का अध्ययन, जो गहन और अंतर्दृष्टिपूर्ण विचारों से परिपूर्ण है, हमारे लिए सुझावों का एक समूह, सामग्रियों का एक अनमोल संग्रह होगा, जिसका उपयोग अब एक ऐसे मनोविश्लेषण द्वारा किया जाना चाहिए जो अपने सिद्धांतों से अवगत हो।
मनोविश्लेषण को सत्तामीमांसा जो सिखा सकती है, वह सबसे पहले वस्तुओं के अर्थों का सच्चा उद्गम और मानवीय वास्तविकता से उनका सच्चा संबंध है। वास्तव में, केवल सत्तामीमांसा ही पारलौकिकता के धरातल पर अपना स्थान ग्रहण कर सकती है और एक ही दृष्टिकोण से संसार में होने की अवधारणा को उसके दो रूपों में समझ सकती है, क्योंकि मूल रूप से सत्तामीमांसा का स्थान केवल चिंतनशील परिप्रेक्ष्य में ही है। एक बार फिर, तथ्यात्मकता और परिस्थिति के विचार हमें वस्तुओं के अस्तित्वगत प्रतीकात्मकता को समझने में सक्षम बनाएंगे। हमने देखा है कि सैद्धांतिक रूप से तो संभव है, लेकिन व्यवहार में परिस्थिति में तथ्यात्मकता को उस परियोजना से अलग करना असंभव है जो इसे निर्मित करती है। यह अवलोकन हमारे लिए यहाँ उपयोगी हो सकता है; हमने देखा है कि जब किसी वस्तु को उसके अस्तित्व की उदासीन बाह्यता में और स्वयं-के-लिए-उत्तेजना से स्वतंत्र रूप से देखा जाता है, तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि "यह" का कोई अर्थ है। वास्तव में, जैसा कि हमने देखा है,

इसका गुण इसके अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। हमने कहा था कि नींबू का पीला रंग नींबू को समझने का कोई व्यक्तिपरक तरीका नहीं है; यह स्वयं नींबू है। हमने यह भी दिखाया है कि संपूर्ण नींबू अपने गुणों में व्याप्त है और प्रत्येक गुण दूसरे गुणों में समाहित है; इसी को हमने सही रूप से "यह" कहा है। प्रत्येक गुण संपूर्ण अस्तित्व है; यह उसकी निरपेक्ष आकस्मिकता की उपस्थिति है; यह उसकी उदासीन अविभाज्यता है। फिर भी भाग दो में हमने एकल गुण में परियोजना और वास्तविकता की अविभाज्यता पर जोर दिया था। "क्योंकि गुण के अस्तित्व के लिए, शून्यता के लिए अस्तित्व होना आवश्यक है जो स्वभाव से अस्तित्व नहीं है... गुण, 'वहाँ है' की सीमाओं के भीतर स्वयं को प्रकट करने वाला संपूर्ण अस्तित्व है।" इस प्रकार प्रारंभ से ही हम किसी गुण का अर्थ स्वयं-अस्तित्व से नहीं जोड़ सकते थे, क्योंकि "वहाँ है" पहले से ही आवश्यक है; अर्थात्, गुणों के अस्तित्व के लिए स्वयं- के-लिए-शून्य ध्यान का होना आवश्यक है। लेकिन इन टिप्पणियों के आलोक में यह समझना आसान है कि गुणवत्ता का अर्थ बदले में "वहाँ है" के सुदृढ़ीकरण के रूप में कुछ इंगित करता है, क्योंकि हम इसे "वहाँ है" से आगे बढ़कर पूर्णतः और अपने आप में मौजूद होने की ओर बढ़ने के लिए अपने समर्थन के रूप में लेते हैं।
गुण की प्रत्येक अनुभूति में, इस अर्थ में, हमारी स्थिति से मुक्त होने का एक आध्यात्मिक प्रयास निहित है, ताकि "जो है" के बारे में शून्यता के आवरण को भेदकर शुद्धतम स्वरूप तक पहुँचा जा सके। लेकिन स्पष्ट है कि हम गुण को केवल एक ऐसे अस्तित्व के प्रतीक के रूप में ही समझ सकते हैं जो हमसे पूर्णतः अप्रकट है, भले ही वह पूर्णतः हमारे समक्ष विद्यमान हो; संक्षेप में, हम प्रकट अस्तित्व को केवल स्वयं में अस्तित्व के प्रतीक के रूप में ही कार्य करने दे सकते हैं। इसका अर्थ है कि "जो है" की एक नई संरचना का निर्माण होता है जो अर्थपूर्ण स्तर है, यद्यपि यह स्तर एक ही मूलभूत परियोजना की पूर्ण एकता में प्रकट होता है। इस संरचना को हम अस्तित्व के सभी सहज ज्ञान से प्रकट होने का आध्यात्मिक सार कहेंगे; और यही वह है जिसे हमें मनोविश्लेषण द्वारा प्राप्त और प्रकट करना चाहिए। पीले, लाल, पॉलिश किए हुए, झुर्रीदार का आध्यात्मिक सार क्या है? और इन मूलभूत प्रश्नों के बाद, नींबू, पानी, तेल आदि का आध्यात्मिक गुणांक क्या है? मनोविश्लेषण को इन सभी समस्याओं का समाधान करना होगा यदि वह कभी यह समझना चाहता है कि पियरे को संतरे क्यों पसंद हैं और पानी से उसे इतनी नफरत क्यों है, वह खुशी-खुशी टमाटर क्यों खाता है और बीन्स खाने से इनकार क्यों करता है, और अगर उसे सीप या कच्चे अंडे निगलने के लिए मजबूर किया जाता है तो उसे उल्टी क्यों हो जाती है।
हमने यह भी दिखाया है कि यह मानना कितनी बड़ी गलती होगी कि हम किसी वस्तु पर अपनी भावात्मक प्रवृत्तियों को "प्रक्षेपित" करके उसे प्रकाशित या रंगीन बनाते हैं। सबसे पहले, जैसा कि चर्चा के आरंभ में देखा गया था, भावना कोई आंतरिक प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि एक वस्तुनिष्ठ, पारलौकिक संबंध है जिसका उद्देश्य यह जानना है कि वह क्या है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं

होती। प्रक्षेपण द्वारा दी गई व्याख्या, जो "एक परिदृश्य एक आध्यात्मिक अवस्था है" जैसे घिसे-पिटे कथनों में पाई जाती है, हमेशा प्रश्नचिह्न लगाती है। उदाहरण के लिए, उस विशेष गुण को लें जिसे हम "चिपचिपा" कहते हैं। निश्चित रूप से यूरोपीय वयस्कों के लिए, यह कई मानवीय और नैतिक विशेषताओं को दर्शाता है जिन्हें आसानी से अस्तित्व के संबंधों में समेटा जा सकता है। हाथ मिलाना, मुस्कान, विचार, भावना चिपचिपी हो सकती है। आम राय यह है कि पहले मैंने कुछ ऐसे व्यवहार और नैतिक दृष्टिकोणों का अनुभव किया है जो मुझे नापसंद हैं और जिनकी मैं निंदा करता हूँ, और इसके अलावा मुझे "चिपचिपा" होने का संवेदी अंतर्ज्ञान भी है। इसके बाद, सिद्धांत कहता है, मुझे इन भावनाओं और चिपचिपाहट के बीच एक संबंध स्थापित करना चाहिए और चिपचिपाहट मानवीय भावनाओं और दृष्टिकोणों के एक पूरे वर्ग के प्रतीक के रूप में कार्य करेगी। फिर मैं उस मानवीय व्यवहार श्रेणी के संबंध में अपने ज्ञान को उस पर प्रक्षेपित करके चिपचिपीपन को समृद्ध कर दूंगा।
लेकिन हम इस प्रक्षेपण व्याख्या को कैसे स्वीकार करें? यदि हम यह मान लें कि हमने पहले भावनाओं को शुद्ध मानसिक गुणों के रूप में समझा है, तो हम चिपचिपेपन से उनके संबंध को कैसे समझ पाएंगे? अपनी गुणात्मक शुद्धता में समझी गई भावना स्वयं को केवल एक निश्चित, विशुद्ध रूप से अविस्तारित प्रवृत्ति के रूप में प्रकट कर पाएगी, जो कुछ मूल्यों और परिणामों से अपने संबंध के कारण दोषी है; किसी भी स्थिति में, यह तब तक "एक छवि नहीं बनाएगी" जब तक कि छवि पहले से दी न गई हो। दूसरी ओर, यदि "चिपचिपापन" मूल रूप से किसी भावात्मक अर्थ से युक्त नहीं है, यदि इसे केवल एक निश्चित भौतिक गुण के रूप में दिया गया है, तो यह समझ में नहीं आता कि इसे कुछ मानसिक एकताओं के प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व के रूप में कैसे चुना जा सकता है। संक्षेप में, यदि हमें चिपचिपेपन और कुछ व्यक्तियों की चिपचिपी नीचता के बीच सचेत रूप से और स्पष्ट रूप से एक प्रतीकात्मक संबंध स्थापित करना है, तो हमें पहले से ही चिपचिपेपन में नीचता और कुछ नीचता में चिपचिपेपन को समझना होगा। परिणामस्वरूप, प्रक्षेपण व्याख्या कुछ भी स्पष्ट नहीं करती क्योंकि यह उस बात को मान लेती है जिसे इसे स्पष्ट करना चाहिए। इसके अलावा, भले ही सैद्धांतिक रूप से यह इस आपत्ति से बच जाए, इसे एक और आपत्ति का सामना करना पड़ेगा, जो अनुभव से उपजी है और कम गंभीर नहीं है; प्रक्षेपण द्वारा व्याख्या का तात्पर्य वास्तव में यह है कि प्रक्षेप करने वाले व्यक्ति ने अनुभव और विश्लेषण के माध्यम से उन मनोवृत्तियों की संरचना और प्रभावों का एक निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लिया है जिन्हें वह घिनौना कहता है। इस अवधारणा के अनुसार, घिनौनेपन का सहारा लेना ज्ञान के रूप में मानवीय नीचता के हमारे अनुभव को समृद्ध नहीं करता है। अधिक से अधिक यह एक विषयगत एकता के रूप में, पहले से अर्जित ज्ञान के अंशों के लिए एक चित्रात्मक शीर्षक के रूप में कार्य करता है। दूसरी ओर, घिनौनापन, अपने अलग-थलग रूप में, व्यवहार में हमें हानिकारक प्रतीत होगा (क्योंकि घिनौने पदार्थ हाथों और कपड़ों से चिपक जाते हैं, और दाग लगाते हैं), लेकिन घिनौनापन घृणित नहीं है। वास्तव में, इससे उत्पन्न होने वाली घृणा को केवल

बल्कि केवल उसके वहाँ होने, उसके शुद्ध अनुभवजन्य अस्तित्व पर निर्भर करता है; यह किसी भी अन्य मुठभेड़ की तरह है क्योंकि यह विवश करने की एक सरल परियोजना है, क्योंकि यह किसी भी तरह से शुद्ध "वहाँ है" से अलग नहीं है और क्योंकि यह, चाहे हम इसे एक दृष्टिकोण से देखें या दूसरे से, या तो शुद्ध स्वतंत्रता है या शुद्ध शून्यता। लेकिन ठीक इसी विवश करने की परियोजना की सीमाओं के भीतर ही चिपचिपी चीज़ स्वयं को प्रकट करती है और अपनी चिपचिपीपन विकसित करती है। चिपचिपी चीज़ के पहले प्रकट होने से ही, यह चिपचिपीपन एक मांग की प्रतिक्रिया है, स्वयं का एक वरदान है; चिपचिपी चीज़ स्वयं के साथ दुनिया के विलय की रूपरेखा के रूप में प्रकट होती है। यह मुझे दुनिया के बारे में जो सिखाती है, कि यह मुझे चूसने वाले जोंक की तरह है, वह पहले से ही एक ठोस प्रश्न का उत्तर है; यह अपने अस्तित्व, अपनी शैली और अपने संपूर्ण पदार्थ के साथ प्रतिक्रिया करता है। इसकी प्रतिक्रिया प्रश्न के लिए पूर्णतः उपयुक्त है, फिर भी अस्पष्ट और अपठनीय है, क्योंकि यह अपनी अवर्णनीय भौतिकता से समृद्ध है। यह स्पष्ट है क्योंकि इसका उत्तर बिल्कुल उपयुक्त है; यह चिपचिपा पदार्थ स्वयं को उस रूप में समझने देता है जिसकी मुझमें कमी है; यह स्वयं को एक ग्रहणशील जांच द्वारा परीक्षित होने देता है; यह अपने चिपचिपेपन को इस ग्रहण की रूपरेखा के समक्ष प्रकट होने देता है। फिर भी यह अस्पष्ट है क्योंकि यदि स्वयं के लिए होने के कारण चिपचिपे पदार्थ में अर्थपूर्ण रूप जागृत होता है, तो इसका सारा चिपचिपापन इसे सहारा देने और पुनर्जीवित करने के लिए आ जाता है। तब हमें एक ऐसे अर्थ की ओर ले जाया जाता है जो पूर्ण और सघन है, और यह अर्थ हमारे लिए प्रथम स्वयं में अस्तित्व को प्रकट करता है, क्योंकि इस समय चिपचिपा पदार्थ वह है जो संसार को प्रकट कर रहा है, और द्वितीय स्वयं की एक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, क्योंकि ग्रहण चिपचिपे पदार्थ की ओर से एक संस्थापक कार्य की तरह कुछ रेखांकित करता है।
तब हमारे सामने एक वस्तुनिष्ठ गुण के रूप में जो लौटता है, वह एक नई प्रकृति है जो न तो भौतिक है और न ही मानसिक, बल्कि जो मानसिक और भौतिक के विरोध को पार कर जाती है, और स्वयं को संपूर्ण जगत की सत्तात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट करती है; अर्थात्, जो स्वयं को जगत के सभी "स्वरूपों" को वर्गीकृत करने के लिए एक मानदंड के रूप में प्रस्तुत करती है, ताकि हमें भौतिक संगठनों या पारलौकिकताओं से निपटना पड़े। इसका अर्थ यह है कि चिपचिपेपन की अनुभूति ने, उसी क्षण, जगत के "स्वयं" के लिए स्वयं को प्रकट करने का एक विशेष तरीका बना दिया है। यह अपने तरीके से अस्तित्व का प्रतीक है; अर्थात्, जब तक चिपचिपेपन के साथ संपर्क बना रहता है, हमारे लिए सब कुछ इस प्रकार घटित होता है मानो चिपचिपापन संपूर्ण जगत का अर्थ हो या "स्वयं" के अस्तित्व का अनूठा तरीका हो—ठीक उसी प्रकार जैसे छिपकलियों के आदिम कबीले के लिए सभी वस्तुएँ छिपकलियाँ होती हैं। चिपचिपी चीज़ किस प्रकार के अस्तित्व का प्रतीक है? सबसे पहले मुझे यह समरूपता और तरलता की नकल के रूप में दिखाई देती है। तारकोल जैसा चिपचिपा पदार्थ एक असामान्य तरल है। पहली नज़र में, तरल रूप धारण करने पर यह हमें

एक ऐसे अस्तित्व का आभास कराता है जो हर जगह भागता हुआ भी हर जगह अपने जैसा ही है, जो चारों ओर से बच निकलता है फिर भी जिस पर तैरा जा सकता है, एक ऐसा अस्तित्व जो खतरे और स्मृति से रहित है, जो शाश्वत रूप से अपने आप में परिवर्तित होता रहता है, जिस पर कोई निशान नहीं छोड़ता और जो हम पर कोई निशान नहीं छोड़ सकता, एक ऐसा अस्तित्व जो सरकता है और जिस पर कोई सरक सकता है, जिस पर कोई सरकती हुई चीज़ (जैसे नाव, मोटर बोट या वाटर स्की) का कब्ज़ा हो सकता है, और जो कभी कब्ज़ा नहीं करता क्योंकि वह हम पर लुढ़कता है, एक ऐसा अस्तित्व जो शाश्वतता और अनंत काल है क्योंकि यह बिना किसी परिवर्तन के निरंतर परिवर्तन है, एक ऐसा अस्तित्व जो शाश्वतता और काल के इस संश्लेषण में, शुद्ध काल के रूप में स्व-स्वयं और शुद्ध शाश्वतता के रूप में स्व-स्वयं के संभावित विलय का सर्वोत्तम प्रतीक है। लेकिन तुरंत ही चिपचिपापन अनिवार्य रूप से अस्पष्टता को प्रकट करता है क्योंकि इसकी तरलता धीमी गति में मौजूद होती है; इसके तरल में एक चिपचिपा गाढ़ापन होता है; यह अपने आप में तरल पर ठोस की उभरती हुई विजय का प्रतिनिधित्व करता है - अर्थात्, स्वयं में उदासीनता की प्रवृत्ति, जिसका प्रतिनिधित्व शुद्ध ठोस द्वारा किया जाता है, तरल को स्थिर करने की, स्वयं के लिए उस चीज को अवशोषित करने की जो इसे घोल देना चाहिए।
कीचड़ पानी की पीड़ा है। यह एक ऐसी घटना के रूप में प्रकट होता है जो निरंतर विकास की प्रक्रिया में है; इसमें पानी की तरह परिवर्तनशील स्थायित्व नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह अवस्था परिवर्तन में पूर्ण विराम का प्रतिनिधित्व करता है। कीचड़ में मौजूद यह स्थिर अस्थिरता किसी भी तरह के अधिकार को हतोत्साहित करती है। पानी अधिक क्षणभंगुर है, लेकिन इसकी उड़ान में ही इसे एक भागती हुई वस्तु के रूप में अनुभव किया जा सकता है। कीचड़ एक भारी उड़ान भरता है जिसका पानी से वही संबंध है जो मुर्गी की धरती पर चलने वाली भारी उड़ान का बाज की उड़ान से होता है। इस उड़ान को भी अनुभव नहीं किया जा सकता क्योंकि यह स्वयं को उड़ान के रूप में नकारती है। यह लगभग एक ठोस स्थायित्व है। "दो अवस्थाओं के बीच का पदार्थ" के रूप में इसके अस्पष्ट चरित्र का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण कुछ भी नहीं है कि कीचड़ कितनी धीमी गति से अपने आप में विलीन हो जाता है। पानी की एक बूंद जब किसी विशाल जल निकाय की सतह को छूती है तो वह तुरंत जल निकाय में परिवर्तित हो जाती है; हम इस क्रिया को जल की बूंद का जल निकाय द्वारा मुखीय अवशोषण नहीं मानते, बल्कि इसे एक ऐसे एकल प्राणी की वैयक्तिकता का आध्यात्मिकरण और विखंडन मानते हैं जो उस विशाल सर्वस्व में विलीन हो जाता है जिससे वह उत्पन्न हुआ था। जल निकाय का प्रतीक सर्वेश्वरवादी प्रणालियों के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता प्रतीत होता है; यह अस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक विशेष प्रकार के संबंध को प्रकट करता है। लेकिन यदि हम चिपचिपे पदार्थ पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि यह स्वयं में रूपांतरित होने की घटना में निरंतर हिस्टेरेसिस प्रस्तुत करता है। चम्मच से फिसलकर जार में रखे शहद पर गिरने वाला शहद पहले सतह पर उभरी हुई आकृति बनाकर उसे तराशता है, और उसका पूरे में समा जाना धीरे-धीरे धंसने, ढहने के रूप में

है। मैं अपने हाथ खोलता हूँ, मैं उस चिपचिपी चीज़ को छोड़ना चाहता हूँ, लेकिन वह मुझसे चिपकी रहती है, मुझे अपनी ओर खींचती है, मुझे चूसती है। उसका स्वरूप न तो ठोस की आश्वस्त करने वाली जड़ता है, न ही पानी की तरह गतिशील, जो मुझसे दूर भागते हुए समाप्त हो जाता है। यह एक कोमल, लचीली क्रिया है, एक नम और स्त्रीत्वपूर्ण चूसने जैसा एहसास है, यह मेरी उंगलियों के नीचे अस्पष्ट रूप से बसता है, और मैं इसे एक चक्कर की तरह महसूस करता हूँ; यह मुझे अपनी ओर खींचता है जैसे किसी खाई की तलहटी मुझे खींचती है। उस चिपचिपी चीज़ में एक स्पर्शनीय आकर्षण है। मैं अब उस प्रक्रिया को रोकने में सक्षम नहीं हूँ जो मुझे अपने वश में कर लेती है। यह जारी रहती है। एक अर्थ में यह किसी वश में किए गए व्यक्ति की परम आज्ञाकारिता की तरह है, उस कुत्ते की वफादारी की तरह जो खुद को तब भी दे देता है जब कोई उसे नहीं चाहता, और दूसरे अर्थ में इस आज्ञाकारिता के नीचे वश में किए गए व्यक्ति द्वारा वश में किए जाने का एक गुप्त अधिग्रहण छिपा है।
यहां हम उस प्रतीक को देख सकते हैं जो अचानक प्रकट होता है: एक विषैला आलिंगन मौजूद है; यह संभावना है कि 'स्वयं' 'स्वयं के लिए' को आत्मसात कर ले; अर्थात्, एक ऐसा अस्तित्व बन सकता है जो 'स्वयं' के ठीक विपरीत हो, और इस नए अस्तित्व में 'स्वयं' 'स्वयं के लिए' को अपनी आकस्मिकता, अपनी उदासीन बाह्यता, अपने आधारहीन अस्तित्व में खींच ले। इस क्षण मुझे अचानक उस चिपचिपे जाल का बोध होता है: यह एक ऐसी तरलता है जो मुझे जकड़ लेती है और मुझे कमजोर कर देती है; मैं इस चिपचिपेपन पर फिसल नहीं सकता, इसके सभी चिपकने वाले अंग मुझे रोके रखते हैं; यह मेरे ऊपर से नहीं फिसल सकता, यह जोंक की तरह मुझसे चिपका रहता है। हालांकि, फिसलने की क्षमता ठोस की तरह पूरी तरह से नकारी नहीं जाती; बल्कि उसे नीचा दिखाया जाता है। चिपचिपापन मुझे अपनी ओर आकर्षित करता प्रतीत होता है, यह मुझे आमंत्रित करता है; क्योंकि स्थिर अवस्था में चिपचिपे पदार्थ का शरीर बहुत घने तरल पदार्थ के शरीर से स्पष्ट रूप से भिन्न नहीं होता। लेकिन यह एक जाल है। फिसलने की प्रक्रिया फिसलने वाले पदार्थ में समा जाती है, और अपने निशान मुझ पर छोड़ जाती है। यह चिपचिपा पदार्थ किसी बुरे सपने में दिखाई देने वाले तरल पदार्थ जैसा है, जहाँ इसके सभी गुण एक प्रकार के जीवन से सजीव हो जाते हैं और मुझ पर ही पलटवार करते हैं। यह चिपचिपा पदार्थ 'स्वयं' का बदला है। एक मीठा-मीठा, स्त्रीत्वपूर्ण बदला, जिसे एक अन्य स्तर पर 'मीठापन' के गुण द्वारा दर्शाया जाएगा। यही कारण है कि स्वाद में चीनी जैसी मिठास—एक अमिट मिठास, जो निगलने के बाद भी मुँह में अनिश्चित काल तक बनी रहती है— चिपचिपेपन के सार को पूरी तरह से समाहित करती है। मीठा चिपचिपापन ही चिपचिपेपन का आदर्श है; यह 'स्वयं' की मीठी मृत्यु का प्रतीक है (जैसे उस ततैया की मृत्यु जो जैम में डूब जाती है)।
लेकिन साथ ही, वह चिपचिपापन मैं ही हूँ, इस तथ्य से कि मैं उस चिपचिपे पदार्थ के विनियोग की रूपरेखा तैयार करता हूँ। वह चिपचिपापन जो मैं अपने हाथों पर महसूस करता हूँ, मेरे भीतर उस चिपचिपे पदार्थ की निरंतरता को

दर्शाता है। पदार्थ के ये लंबे, कोमल तार जो मुझसे चिपचिपे शरीर में गिरते हैं (उदाहरण के लिए, जब मैं अपना हाथ उसमें डुबोता हूँ और फिर उसे बाहर निकालता हूँ) मेरे स्वयं के उस चिपचिपेपन में लुढ़कने का प्रतीक हैं। और वह हिस्टेरेसिस जो मैं इन तारों के सिरों के बड़े शरीर के साथ विलय में स्थापित करता हूँ, मेरे अस्तित्व के 'स्वयं में समाहित होने' के प्रतिरोध का प्रतीक है। यदि मैं पानी में गोता लगाता हूँ, यदि मैं उसमें डूब जाता हूँ, यदि मैं स्वयं को उसमें डूबने देता हूँ, तो मुझे कोई असुविधा नहीं होती, क्योंकि मुझे इस बात का कोई डर नहीं है कि मैं उसमें घुल जाऊँगा; मैं उसकी तरलता में ठोस बना रहता हूँ। यदि मैं उस चिपचिपेपन में डूब जाता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं उसमें खो जाऊँगा; अर्थात्, मैं उस चिपचिपेपन में घुल जाऊँगा क्योंकि वह चिपचिपापन ठोस होने की प्रक्रिया में है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो चिपचिपा पदार्थ, लसलसे पदार्थ के समान ही प्रतीत होता है, लेकिन उसमें वैसा आकर्षण नहीं होता; वह निष्क्रिय होने के कारण समझौता नहीं करता। लसलसे पदार्थ की अनुभूति में ही एक चिपचिपा, समझौताशील और असंतुलित पदार्थ निहित होता है, मानो किसी रूपांतरण की भयावह स्मृति हो।
चिपचिपी चीज़ को छूना मानो उसमें घुल जाने का जोखिम उठाना है। यह घुलना अपने आप में ही काफी डरावना है, क्योंकि यह 'स्वयं' का 'स्वयं' में समा जाना है, जैसे स्याही सोख्ता कागज पर समा जाती है। लेकिन इससे भी अधिक डरावना यह है कि यह रूपांतरण केवल किसी वस्तु में नहीं (जो कि बुरा ही होता), बल्कि कीचड़ में होता है। अगर मैं अपने आप के द्रवीकरण (अर्थात् अपने अस्तित्व का पानी में रूपांतरण) की कल्पना भी कर लूँ, तो भी मुझ पर इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि पानी चेतना का प्रतीक है—उसकी गति, उसका तरल होना, ठोस होने का उसका भ्रामक आभास, उसकी निरंतर उड़ान—उसमें मौजूद हर चीज़ 'स्वयं' की याद दिलाती है; इस हद तक कि जिन मनोवैज्ञानिकों ने सबसे पहले चेतना की अवधि की विशेषताओं को पहचाना (जेम्स, बर्गसन), उन्होंने अक्सर इसकी तुलना नदी से की है। नदी सबसे अच्छी तरह से भागों के एक संपूर्ण में निरंतर अंतर्संबंध और उनके निरंतर अलगाव और मुक्त गति की छवि को दर्शाती है।
लेकिन चिपचिपापन एक भयानक छवि प्रस्तुत करता है; चेतना का चिपचिपा हो जाना अपने आप में ही भयावह है। ऐसा इसलिए है क्योंकि चिपचिपेपन का अस्तित्व एक कोमल आलिंगन है, इसके सभी जोंक जैसे भागों में एक धूर्त एकजुटता और मिलीभगत होती है, प्रत्येक भाग स्वयं को वैयक्तिक बनाने का एक अस्पष्ट, कोमल प्रयास करता है, जिसके बाद पीछे हटकर चपटा हो जाता है और व्यक्तिहीन होकर पदार्थ द्वारा चारों ओर से जकड़ लिया जाता है। एक चिपचिपी चेतना अपने विचारों की गाढ़ी चिपचिपाहट से रूपांतरित हो जाती है। संसार में हमारे उदय के समय से ही, हम एक ऐसी चेतना की छवि से ग्रस्त हैं जो भविष्य की ओर, स्वयं के प्रक्षेपण की ओर बढ़ना चाहती है, और जो वहाँ पहुँचने के सचेत होते ही अतीत के अदृश्य खिंचाव द्वारा धूर्ततापूर्वक रोक ली जाती है और जिसे उस अतीत में अपने ही धीमे विघटन में सहायता करनी पड़ती है जिससे वह भाग रही

थी, उसे अपने प्रक्षेपण पर हजारों परजीवियों के आक्रमण में सहायता करनी पड़ती है जब तक कि अंततः वह पूरी तरह से स्वयं को खो न दे। प्रभाव के मनोविकार में पाई जाने वाली "विचारों की उड़ान" हमें इस भयावह स्थिति का सबसे अच्छा चित्रण देती है। लेकिन फिर, तात्विक स्तर पर इस भय द्वारा क्या व्यक्त किया जाता है, यदि यह ठीक उसी प्रकार वास्तविकता के 'स्वयं के लिए' से पहले वास्तविकता की उड़ान नहीं है; अर्थात्, ठीक उसी प्रकार कालक्रम। घनापन का भय वह भयानक डर है कि समय घना न हो जाए, वास्तविकता निरंतर और अगोचर रूप से प्रगति करे और उसमें विद्यमान 'स्वयं के लिए' को आत्मसात कर ले। यह मृत्यु का भय नहीं है, न ही शुद्ध 'स्वयं के लिए' का, न ही शून्यता का, बल्कि एक विशेष प्रकार के अस्तित्व का भय है, जो वास्तव में 'स्वयं के लिए' से अधिक अस्तित्व में नहीं है और जिसका प्रतिनिधित्व केवल घनापन ही करता है। यह एक आदर्श अस्तित्व है जिसे मैं अपनी पूरी शक्ति से अस्वीकार करता हूँ और जो मुझे उसी प्रकार सताता है जैसे मूल्य मेरे अस्तित्व को सताता है, एक आदर्श अस्तित्व जिसमें आधारहीन 'स्वयं के लिए' को 'स्वयं के लिए' पर प्राथमिकता प्राप्त है। हम इसे प्रतिमूल्य कहेंगे।
इस प्रकार, चिपचिपेपन को आत्मसात करने की इस परियोजना में, चिपचिपापन अचानक एक प्रतिमूल्य के प्रतीक के रूप में प्रकट होता है: यह एक प्रकार का अवास्तविक लेकिन खतरनाक अस्तित्व है जो चेतना को निरंतर उस खतरे के रूप में सताता रहेगा जिससे वह भाग रही है, और इसलिए आत्मसात करने की परियोजना अचानक पलायन की परियोजना में परिवर्तित हो जाएगी। कुछ ऐसा प्रकट हुआ है जो किसी पूर्व अनुभव का परिणाम नहीं है, बल्कि केवल स्वयं-में-और-स्वयं-के- लिए की पूर्व-सत्तामीमांसागत समझ का परिणाम है, और यही चिपचिपेपन का विशिष्ट अर्थ है। एक अर्थ में यह एक अनुभव है क्योंकि चिपचिपापन एक सहज खोज है; दूसरे अर्थ में यह अस्तित्व के एक साहसिक कार्य की खोज के समान है। अब से स्वयं-के-लिए के लिए एक नया खतरा, अस्तित्व का एक खतरनाक रूप प्रकट होता है जिससे बचना चाहिए, एक ठोस श्रेणी जिसे वह हर जगह खोजेगा। चिपचिपापन किसी पूर्व निर्धारित मानसिक दृष्टिकोण का प्रतीक नहीं है; यह अपने आप से एक निश्चित संबंध प्रकट करता है और इस संबंध में मूलतः एक मानसिक गुण है क्योंकि मैंने इसे एक विनियोग योजना में खोजा है और क्योंकि चिपचिपाहट ने मेरी छवि मुझे लौटा दी है। इस प्रकार, चिपचिपी वस्तु के साथ अपने पहले संपर्क से ही मैं मानसिक और गैर-मानसिक के बीच के भेद से परे एक वैध सत्तामीमांसीय प्रतिरूप से समृद्ध हो जाता हूँ, जो अस्तित्व के अर्थ और एक निश्चित श्रेणी के सभी विद्यमानों की व्याख्या करेगा, यह श्रेणी, इसके अलावा, विभिन्न प्रकार की चिपचिपाहट के अनुभव से पहले एक खाली कंकाल संरचना की तरह उभरती है। चिपचिपी वस्तु का सामना करते समय मैंने अपनी मूल परियोजना द्वारा इसे दुनिया में प्रक्षेपित किया है; यह दुनिया की एक वस्तुनिष्ठ संरचना है और साथ ही एक प्रतिमूल्य भी; अर्थात्, यह एक ऐसा क्षेत्र निर्धारित करता है जहाँ चिपचिपी वस्तुएँ स्वयं को व्यवस्थित करेंगी। अब से, जब भी कोई वस्तु मुझे अस्तित्व का यह संबंध प्रकट करेगी, चाहे वह हाथ मिलाने की बात हो, मुस्कान की हो या विचार की, उसे परिभाषा के

अनुसार चिपचिपी वस्तु के रूप में समझा जाएगा; अर्थात्, अपने अभूतपूर्व संदर्भ से परे, यह मुझे पिच, गोंद, शहद आदि के साथ मिलकर चिपचिपाहट के महान सत्तामीमांसीय क्षेत्र का निर्माण करता हुआ प्रतीत होगा।
इसके विपरीत, जिस हद तक मैं उस वस्तु को अपनाना चाहता हूँ जो संपूर्ण संसार का प्रतिनिधित्व करती है, उसी हद तक वह चिपचिपी वस्तु, मेरे पहले सहज संपर्क से ही, मुझे अनेक गूढ़ अर्थों और संदर्भों से परिपूर्ण प्रतीत होती है जो उससे कहीं अधिक हैं। वह चिपचिपी वस्तु स्वयं में ही "चिपचिपी वस्तु से कहीं अधिक" के रूप में प्रकट होती है। अपने प्रकट होने के क्षण से ही वह मानसिक और भौतिक, निर्जीव अस्तित्व और संसार के अर्थों के बीच के सभी भेदों को पार कर जाती है; वह अस्तित्व का एक संभावित अर्थ है। शिशु का उस चिपचिपी वस्तु के साथ पहला अनुभव उसे मनोवैज्ञानिक और नैतिक रूप से समृद्ध करता है; उसे उस प्रकार की चिपचिपी नीचता को जानने के लिए वयस्क होने की आवश्यकता नहीं होगी जिसे हम लाक्षणिक रूप से "चिपचिपा" कहते हैं; वह उसके आस-पास ही शहद या गोंद की चिपचिपाहट में मौजूद है। हम चिपचिपी वस्तु के बारे में जो कहते हैं वह बच्चे के चारों ओर की सभी वस्तुओं पर लागू होता है। उनके पदार्थ का सरल प्रकटीकरण उसके क्षितिज को अस्तित्व की चरम सीमाओं तक विस्तारित करता है और उसे उसी क्षण सभी मानवीय तथ्यों के अस्तित्व को समझने के लिए सुरागों का एक संग्रह प्रदान करता है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह शुरुआत से ही अस्तित्व की "कुरूपता," "विशेषताओं" या "सुंदरता" को जानता है। वह केवल अस्तित्व के सभी अर्थों का ज्ञाता है, जिनमें कुरूपता और सुंदरता, मनोवृत्ति, मानसिक लक्षण, यौन संबंध आदि केवल विशिष्ट उदाहरण मात्र ही होंगे। चिपचिपा, लसदार, धुंधला आदि, रेत और धरती में छेद, गुफाएँ, प्रकाश, रात आदि—ये सभी उसे पूर्व-मानसिक और पूर्व-यौन अस्तित्व के उन रूपों को प्रकट करते हैं जिन्हें वह अपने शेष जीवन भर समझाता रहेगा। कोई भी बच्चा "निर्दोष" नहीं होता। हम फ्रायडवादियों के साथ बच्चे के परिवेश में मौजूद कुछ पदार्थों और रूपों और कामुकता के बीच असंख्य संबंधों को सहर्ष स्वीकार करते हैं। लेकिन हम इससे यह नहीं समझते कि पहले से ही गठित यौन प्रवृत्ति ने उन्हें यौन महत्व प्रदान कर दिया है। इसके विपरीत, हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह पदार्थ और ये रूप स्वयं में ही समझे जाते हैं, और वे बच्चे को 'स्वयं के लिए' के अस्तित्व के तरीकों और अस्तित्व के साथ संबंधों को प्रकट करते हैं जो उसकी कामुकता को प्रकाशित और आकार देंगे।
एक उदाहरण के तौर पर कहें तो, कई मनोविश्लेषकों ने बच्चों को हर तरह के छिद्रों (चाहे वे रेत में हों या ज़मीन में, कब्रें हों, गुफाएँ हों, खोखले स्थान हों, या कुछ भी) की ओर आकर्षित होते देखा है। उन्होंने इस आकर्षण को शिशु की यौनिकता के गुदा संबंधी स्वरूप, जन्मपूर्व आघात, या वयस्क यौन क्रिया के पूर्वाभास से जोड़ा है। लेकिन हम इनमें से किसी भी व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकते। "जन्म आघात" का विचार पूरी तरह से काल्पनिक है। छिद्र की तुलना स्त्री जननांग से करना बच्चे में एक ऐसे अनुभव की कल्पना करता है जो उसके लिए संभव ही नहीं है, या एक ऐसे पूर्वाभास की कल्पना करता

है जिसे हम उचित नहीं ठहरा सकते। जहाँ तक बच्चे की गुदा संबंधी यौनिकता का सवाल है, हम इसे नकारने के बारे में सोच भी नहीं सकते; लेकिन अगर यह उसके अनुभव क्षेत्र में आने वाले छिद्रों को रोशन करने और उन्हें प्रतीकात्मकता प्रदान करने वाला है, तो यह आवश्यक है कि बच्चा अपने गुदा को एक छिद्र के रूप में समझे। स्पष्ट शब्दों में कहें तो, बच्चे को गुदा से प्राप्त होने वाली संवेदना के अनुरूप ही छिद्र के सार को समझना होगा। लेकिन हमने "शरीर के साथ मेरा संबंध" के व्यक्तिपरक स्वरूप को पर्याप्त रूप से प्रदर्शित कर दिया है, जिससे यह समझना असंभव है कि बच्चा अपने शरीर के किसी विशेष अंग को ब्रह्मांड की वस्तुनिष्ठ संरचना के रूप में समझता है। गुदा केवल किसी दूसरे व्यक्ति को ही छिद्र के रूप में दिखाई देती है। बच्चा स्वयं इसे कभी इस रूप में अनुभव नहीं कर सकता; यहाँ तक कि माँ द्वारा बच्चे को दी जाने वाली अंतरंग देखभाल भी गुदा को इस रूप में प्रकट नहीं कर सकती, क्योंकि गुदा एक कामोत्तेजक क्षेत्र या दर्द क्षेत्र होने के कारण स्पर्श तंत्रिका अंत से युक्त नहीं होती। इसके विपरीत, केवल किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से—माँ द्वारा बच्चे के शरीर को दर्शाने के लिए उपयोग किए जाने वाले शब्दों के माध्यम से—ही वह सीखता है कि उसकी गुदा एक छिद्र है। अतः, संसार में अनुभव किए गए छिद्र का वस्तुनिष्ठ स्वरूप ही उसके लिए गुदा क्षेत्र की वस्तुनिष्ठ संरचना और अर्थ को स्पष्ट करेगा और उन कामुक संवेदनाओं को एक पारलौकिक अर्थ प्रदान करेगा जिन्हें वह अब तक केवल "मौजूद" होने तक सीमित रखता था। इस प्रकार, छिद्र स्वयं में अस्तित्व के एक ऐसे स्वरूप का प्रतीक है जिसे अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण को स्पष्ट करना होगा।
हम यहाँ इतना विस्तृत अध्ययन नहीं कर सकते। फिर भी, यह तुरंत देखा जा सकता है कि छेद को मूल रूप से एक शून्यता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे मेरे अपने शरीर से "भरा जाना" है; बच्चा अपनी उंगली या पूरी बांह को छेद में डालने से खुद को रोक नहीं पाता। यह मुझे स्वयं की खाली छवि के रूप में दिखाई देता है। मुझे बस उसमें रेंगना है ताकि मैं उस दुनिया में अस्तित्व में आ सकूँ जो मेरा इंतजार कर रही है। छेद का आदर्श तब एक खुदाई है जिसे मेरे शरीर के चारों ओर इस तरह से सावधानीपूर्वक ढाला जा सकता है कि खुद को उसमें निचोड़कर और कसकर फिट करके, मैं दुनिया में अस्तित्व की पूर्णता को अस्तित्व में लाने में योगदान दूँ। इस प्रकार, एक छेद को बंद करने का मूल अर्थ है अपने शरीर का बलिदान करना ताकि अस्तित्व की परिपूर्णता विद्यमान हो सके; अर्थात्, स्वयं के लिए की भावना को वश में करना ताकि स्वयं में समग्रता को आकार दिया जा सके, परिपूर्ण किया जा सके और संरक्षित किया जा सके।
यहाँ इसके मूल में हम मानवीय वास्तविकता की सबसे मूलभूत प्रवृत्तियों में से एक को समझते हैं—भरने की प्रवृत्ति। किशोरावस्था और वयस्कता में भी हमें यह प्रवृत्ति फिर से देखने को मिलेगी। हमारे जीवन का एक बड़ा हिस्सा खालीपन को भरने, रिक्त स्थानों को भरने, पूर्णता को साकार करने और प्रतीकात्मक रूप से स्थापित करने में व्यतीत होता है। बच्चा अपने पहले

आता है? यदि मैं एक अस्पष्ट, 'स्वयं को सोखने वाले' के प्रति इस प्रेम को समझाना चाहता हूँ, तो मैं स्वयं की किस मूलभूत अवधारणा से संबंधित हूँ? इस प्रकार रुचियाँ अपरिवर्तनीय तथ्य नहीं रह जातीं; यदि हम इन पर सवाल उठाना जानते हैं, तो ये हमें व्यक्ति के मूलभूत उद्देश्यों को प्रकट करते हैं। यहाँ तक कि हमारी खान-पान संबंधी पसंदों का भी कोई न कोई अर्थ होता है। हम इस तथ्य को तब समझ सकते हैं जब हम इस बात पर विचार करें कि प्रत्येक स्वाद को एक निरर्थक तथ्य के रूप में नहीं, बल्कि एक स्पष्ट मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यदि मुझे लहसुन का स्वाद पसंद है, तो मुझे यह तर्कहीन लगता है कि अन्य लोगों को यह पसंद नहीं आ सकता।
भोजन करना विनाश द्वारा आत्मसात करना है; साथ ही यह एक विशिष्ट अस्तित्व से तृप्त होना भी है। और यह अस्तित्व तापमान, घनत्व और स्वाद के उचित संश्लेषण के रूप में प्रकट होता है। संक्षेप में, यह संश्लेषण एक विशिष्ट अस्तित्व को दर्शाता है; और जब हम भोजन करते हैं, तो हम स्वयं को स्वाद के माध्यम से इस अस्तित्व के कुछ गुणों को जानने तक सीमित नहीं रखते; बल्कि उनका स्वाद लेकर हम उन्हें आत्मसात करते हैं। स्वाद आत्मसात्करण है; दांत से काटने की क्रिया ही उस शरीर के घनत्व को प्रकट करती है जिसे वह पाचन क्रिया में परिवर्तित कर रहा है। इस प्रकार भोजन की संश्लेषणात्मक अंतर्ज्ञान स्वयं में एक आत्मसात्करणकारी विनाश है। यह मुझे उस अस्तित्व को प्रकट करता है जिसे मैं अपना शरीर बनाने जा रहा हूँ। अब से, मैं जो स्वीकार करता हूँ या घृणा से अस्वीकार करता हूँ, वह उस अस्तित्व का मूल स्वरूप है, या यदि आप चाहें तो, भोजन की समग्रता मुझे उस अस्तित्व की एक विशिष्ट शैली प्रस्तुत करती है जिसे मैं स्वीकार या अस्वीकार करता हूँ। यह समग्रता एक ऐसे रूप में संगठित होती है जिसमें घनत्व और तापमान के कम तीव्र गुण, उन्हें व्यक्त करने वाले उचित स्वाद के पीछे मिट जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम एक चम्मच शहद या गुड़ खाते हैं, तो मीठापन उस चिपचिपेपन को व्यक्त करता है, ठीक वैसे ही जैसे एक विश्लेषणात्मक फलन एक ज्यामितीय वक्र को व्यक्त करता है। इसका अर्थ यह है कि वे सभी गुण जो सख्ती से स्वाद नहीं कहलाते, लेकिन स्वाद में समाहित, पिघले हुए या समाहित होते हैं, स्वाद के सार का प्रतिनिधित्व करते हैं। (चॉकलेट का वह टुकड़ा जो पहले मेरे दांतों को थोड़ा प्रतिरोध देता है, अचानक टूटकर बिखर जाता है; पहले उसका प्रतिरोध, फिर उसका बिखरना ही चॉकलेट है।) इसके अलावा, वे स्वाद की कुछ अस्थायी विशेषताओं से जुड़े होते हैं; अर्थात्, उसके कालिकीकरण के तरीके से। कुछ स्वाद एक साथ प्रकट होते हैं, कुछ विलंबित क्रिया की तरह होते हैं, कुछ धीरे-धीरे प्रकट होते हैं, कुछ धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और गायब हो जाते हैं, और कुछ तो ठीक उसी क्षण गायब हो जाते हैं जब हम उन्हें महसूस करने का सोचते हैं। ये गुण घनत्व और तापमान के साथ व्यवस्थित होते हैं; इसके अलावा, एक अन्य स्तर पर वे भोजन के दृश्य पहलू को भी व्यक्त करते हैं। यदि मैं गुलाबी केक खाता हूँ, तो उसका स्वाद गुलाबी होता है; हल्की मीठी सुगंध, मक्खन की चिकनाई ही गुलाबी रंग है। इसलिए मैं गुलाबी रंग को मीठा देखकर खा लेता हूँ। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वाद की

संरचना जटिल होती है और उसमें विभिन्न प्रकार के तत्व होते हैं; यही संरचित तत्व—जो हमारे लिए एक विशेष प्रकार के अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है—जिसे हम अपनी मूल धारणा के अनुसार आत्मसात कर सकते हैं या घृणा के साथ अस्वीकार कर सकते हैं। सीप या क्लैम, घोंघे या झींगे पसंद हों या न हों, यह कोई मायने नहीं रखता, बशर्ते हम इन खाद्य पदार्थों के अस्तित्वगत महत्व को समझ सकें।
सामान्यतः, कोई अविभाज्य रुचि या झुकाव नहीं होता। ये सभी अस्तित्व के एक निश्चित चयन का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका तुलना और वर्गीकरण करना अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण का कार्य है। सत्तामीमांसा यहाँ हमारा साथ छोड़ देती है; इसने हमें केवल मानवीय वास्तविकता के अंतिम लक्ष्यों, उसकी मूलभूत संभावनाओं और उसमें व्याप्त मूल्य को निर्धारित करने में सक्षम बनाया है। प्रत्येक मानवीय वास्तविकता एक ही समय में अपने आप को 'स्वयं के लिए' से 'स्वयं में स्वयं के लिए' में रूपांतरित करने की प्रत्यक्ष परियोजना है और साथ ही साथ विश्व को एक मूलभूत गुण के रूप में, 'स्वयं में अस्तित्व की समग्रता' के रूप में आत्मसात करने की परियोजना भी है। प्रत्येक मानवीय वास्तविकता एक जुनून है क्योंकि यह स्वयं को खोने की परियोजना है ताकि अस्तित्व की स्थापना हो सके और उसी क्षण 'स्वयं में' का निर्माण हो सके जो अपने आप में आधार बनकर आकस्मिकता से मुक्त हो जाता है, वह 'स्वयं का मूल' जिसे धर्म ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य का जुनून मसीह के जुनून के विपरीत है, क्योंकि मनुष्य स्वयं को मनुष्य के रूप में खो देता है ताकि ईश्वर का जन्म हो सके। लेकिन ईश्वर का विचार विरोधाभासी है और हम व्यर्थ ही स्वयं को खो देते हैं। मनुष्य एक व्यर्थ जुनून है।
1 पॉल बॉर्गेट: एस्साई डी साइकोलॉजी कंटेम्पोरेन: जी. फ़्लौबर्ट।
जहां तक हम जानते हैं, फ्लाउबर्ट की किशोरावस्था इस संबंध में हमें कुछ भी विशिष्ट नहीं देती है, इसलिए हमें उन अगोचर तथ्यों की क्रिया को मानना होगा जो सिद्धांत रूप से आलोचक की समझ से परे हैं।
3 एस्क्विसे डी'उन थियोरी फेनोमेनोलॉजिक डेस इमोशन्स। हरमन, 1939.
पाठक को याद होगा कि जैसा कि पहले बताया गया है, फ्रांसीसी शब्द faire का अर्थ "करना" और "बनाना" दोनों होता है।
बच्चे के लिए, जानने का अर्थ वास्तव में खाना होता है। वह जो देखता है, उसका स्वाद लेना चाहता है।
(शायद हम इसकी तुलना बेन जॉनसन की कविता "केवल अपनी आँखों से मुझे पियो!" से कर सकते हैं।)
अनुभाग III देखें।
हमने भाग तीन में गति और स्वयं के बीच संबंध देखा है।
8 सिवाय इसके कि जहाँ केवल होने की इच्छा हो—खुश रहने की इच्छा, मजबूत होने की इच्छा, आदि।
ब्रुमेल अपनी शालीनता को इस हद तक बनाए रखते थे कि वे केवल थोड़े-बहुत पहने हुए कपड़े ही पहनते थे।
उन्हें किसी भी नई चीज़ से घृणा थी; उनके लिए नई चीज़ को "सजाया-संवारा" जाता था क्योंकि वह किसी की नहीं होती थी।
10 एल'इमेजिनेयर। एन.आर.एफ., 1939.
हम डलाडियर के "पिघलते हुए पैसे" को भी याद कर सकते हैं।
इस पशुता का एक पहलू ठीक वही है जिसे शेलर महत्वपूर्ण मूल्य कहते हैं।
भाग दो, अध्याय III, खंड III.

14 फ्रेंच शब्द visqueux. यह कभी-कभी अंग्रेजी शब्द “sticky” के करीब आता है, लेकिन मैंने अनुवाद में लगातार “slimy” शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि “slimy” का लाक्षणिक अर्थ दोनों भाषाओं में एक जैसा प्रतीत होता है।
हालाँकि स्लाइम ने रहस्यमय तरीके से धीमी गति में अपनी सारी तरलता को बरकरार रखा है, लेकिन इसे प्यूरी के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जहाँ तरलता को मोटे तौर पर रेखांकित किया जाता है, अचानक रुकावटें और अवरोध आते हैं और जहाँ पदार्थ डालने की प्रारंभिक योजना के बाद अचानक सिर के बल लुढ़क जाता है।
16 मूल में संदर्भ सोने की पत्ती बनाने में प्रयुक्त पतली झिल्ली, गोल्ड-बीटर की त्वचा से है। Tr. हमें विपरीत प्रवृत्ति, यानी खामियों को भेदने की प्रवृत्ति के महत्व पर भी ध्यान देना चाहिए, जिसके लिए स्वयं एक अस्तित्वगत विश्लेषण की आवश्यकता होती है।

[redacted]

I. [redacted]

[redacted]

अर्थ अस्तित्व की स्थापना के लिए निर्मित होना है। सत्तामीमांसा हमें दो प्रकार की जानकारी प्रदान करती है जो तत्वमीमांसा का आधार बनती हैं: पहली, स्वयं की स्थापना की प्रत्येक प्रक्रिया स्वयं-अस्तित्व की पहचान में एक विखंडन है, स्वयं से संबंध में अस्तित्व का पीछे हटना और स्वयं या चेतना के प्रति उपस्थिति का प्रकट होना है। केवल स्वयं के लिए स्वयं का निर्माण करके ही अस्तित्व स्वयं का कारण बनने की आकांक्षा कर सकता है। इसलिए, अस्तित्व के शून्यीकरण के रूप में चेतना, कारणता की अंतर्निहितता की ओर प्रगति का एक चरण प्रतीत होती है—अर्थात, स्वयं-कारण बनने की ओर। यद्यपि, स्वयं-कारण में अस्तित्व की अपर्याप्तता के परिणामस्वरूप यह प्रगति वहीं रुक जाती है। चेतना का कालिकीकरण स्वयं के कारण की गरिमा की ओर एक आरोही प्रगति नहीं है; यह एक सतही अपवाह है जिसका मूल, इसके विपरीत, स्वयं-कारण होने की असंभवता है। इसके अलावा, स्वयं का कारण अभाव के रूप में बना रहता है, जो एक असंभव ऊर्ध्वाधर अतिक्रमण का संकेत है, जिसका अस्तित्वहीन होना ही चेतना की सपाट गति को निर्धारित करता है; उसी प्रकार, चंद्रमा द्वारा समुद्र पर लगाया गया ऊर्ध्वाधर आकर्षण ज्वार-भाटे के रूप में क्षैतिज विस्थापन का परिणाम होता है। तत्वमीमांसा, सत्तामीमांसा से जो दूसरी जानकारी प्राप्त कर सकती है, वह यह है कि स्वयं के लिए प्रभावी रूप से स्वयं को अस्तित्व के रूप में स्थापित करने की एक सतत परियोजना है और इस परियोजना की एक सतत विफलता है। स्वयं के प्रति उपस्थिति, इसके शून्यीकरण की विभिन्न दिशाओं के साथ (तीन लौकिक आयामों का परमानंद शून्यीकरण, परावर्तित-प्रतिबिंबित द्वैत का दोहरा शून्यीकरण) इस परियोजना के प्राथमिक उभार का प्रतिनिधित्व करती है; परावर्तन परियोजना के विभाजन का प्रतिनिधित्व करता है जो स्वयं को कम से कम एक परियोजना के रूप में स्थापित करने के लिए स्वयं पर वापस मुड़ता है, और इस परियोजना की विफलता से शून्यीकरण अंतराल की तीव्रता को दर्शाता है। मानवीय वास्तविकता की प्रमुख श्रेणियां, "करना" और "होना", प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व की परियोजना में सिमट जाती हैं। अंततः, इन दोनों की बहुलता को मानवीय वास्तविकता द्वारा स्वयं को स्थापित करने के अंतिम प्रयास के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप अस्तित्व और अस्तित्व की चेतना का मौलिक पृथक्करण होता है।
इस प्रकार सत्तामीमांसा हमें दो बातें सिखाती है: (1) यदि स्वयं-स्वयं का अस्तित्व स्वयं स्थापित करना हो, तो वह ऐसा केवल स्वयं को चेतना बनाकर ही कर सकता है; अर्थात्, स्व-कारण की अवधारणा में स्वयं की उपस्थिति की अवधारणा समाहित है—अर्थात, अस्तित्व का शून्यीकरण और विसंपीड़न; (2) चेतना वास्तव में स्वयं को स्थापित करने की एक परियोजना है; अर्थात्, स्वयं-स्वयं के लिए स्वयं या स्वयं-स्वयं-कारण के रूप में स्वयं की गरिमा को प्राप्त करना। परन्तु हम इससे आगे कुछ भी निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। सत्तामीमांसा के स्तर पर कोई भी बात हमें यह पुष्टि करने की अनुमति नहीं देती कि स्वयं-स्वयं के लिए स्वयं का शून्यीकरण—स्वयं के आरंभ से और उसके मूल में—स्वयं का स्वयं-कारण होने की परियोजना को अर्थ देता है। बिलकुल

इसके विपरीत। सत्तामीमांसा यहाँ एक गहरे विरोधाभास का सामना करती है क्योंकि स्वयं-स्वयं के माध्यम से ही संसार में आधार की संभावना उत्पन्न होती है। स्वयं को स्थापित करने की परियोजना होने के लिए, 'स्वयं' को अनिवार्य रूप से मूल रूप से स्वयं के लिए एक उपस्थिति होना चाहिए—अर्थात, उसे पहले से ही चेतना होना चाहिए। इसलिए सत्तामीमांसा स्वयं को इस घोषणा तक सीमित रखेगी कि सब कुछ उसी रूप में घटित होता है जैसे स्वयं को स्थापित करने की परियोजना में 'स्वयं के लिए' का रूपांतरण स्वयं को देता है। यह तत्वमीमांसा का कार्य है कि वह ऐसी परिकल्पनाओं का निर्माण करे जो हमें इस प्रक्रिया को उस परम घटना के रूप में समझने में सक्षम बनाएँ जो अस्तित्व के व्यक्तिगत प्रयास को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाती है। यह स्पष्ट है कि ये परिकल्पनाएँ परिकल्पनाएँ ही रहेंगी क्योंकि हम आगे किसी भी प्रकार की पुष्टि या खंडन की अपेक्षा नहीं कर सकते। इनकी वैधता केवल इस संभावना से सिद्ध होगी कि ये हमें सत्तामीमांसा के दिए गए तथ्यों को एकीकृत करने का अवसर प्रदान करेंगी। यह एकीकरण स्वाभाविक रूप से किसी ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में गठित नहीं होना चाहिए क्योंकि कालिकता 'स्वयं के लिए' के माध्यम से अस्तित्व में आती है। इसलिए 'स्वयं के लिए' के प्रकट होने से पहले अस्तित्व क्या था, यह पूछने का कोई अर्थ नहीं होगा। लेकिन तत्वमीमांसा को फिर भी इस प्रागैतिहासिक प्रक्रिया की प्रकृति और अर्थ को निर्धारित करने का प्रयास करना चाहिए, जो समस्त इतिहास का स्रोत है, और जो व्यक्तिगत प्रयास (या स्वयं-अस्तित्व) और परम घटना (या स्वयं के लिए उद्भव) का अभिव्यक्त होना है। विशेष रूप से, तत्वमीमांसाविद् का यह कार्य है कि वह यह तय करे कि क्या यह गति स्वयं-अस्तित्व द्वारा स्वयं को स्थापित करने का पहला "प्रयास" है या नहीं, और यह निर्धारित करे कि "अस्तित्व की बीमारी" के रूप में गति का स्वयं के लिए एक अधिक गहन बीमारी के रूप में, जो शून्यता की ओर धकेली गई है, से क्या संबंध है।
अब हमें उस दूसरी समस्या पर विचार करना है जिसे हमने प्रस्तावना में प्रतिपादित किया था: यदि स्वयं में और स्वयं के लिए अस्तित्व की दो विधियाँ हैं, तो क्या अस्तित्व की अवधारणा के मूल में ही कोई अंतराल नहीं है? और क्या इसकी समझ दो अविभाज्य भागों में विभाजित नहीं हो जाती, इस तथ्य के कारण कि इसका विस्तार दो मौलिक रूप से भिन्न वर्गों से बना है? उस अस्तित्व में क्या समानता है जो वह है, और उस अस्तित्व में जो वह नहीं है जो वह है जो वह नहीं है? हालाँकि, यहाँ हमारी पिछली जाँच का निष्कर्ष हमारी सहायता कर सकता है। हमने अभी-अभी दिखाया है कि स्वयं में और स्वयं के लिए अस्तित्व एक दूसरे के समानांतर नहीं हैं। इसके विपरीत, स्वयं में के बिना स्वयं के लिए एक प्रकार का अमूर्तन है; यह उसी प्रकार अस्तित्व में नहीं रह सकता जिस प्रकार कोई रंग रूप के बिना या कोई ध्वनि स्वर और ध्वनि की गुणवत्ता के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकती। एक चेतना जो शून्यता की चेतना होगी, वह पूर्ण शून्यता होगी। लेकिन यदि चेतना आंतरिक संबंध द्वारा स्वयं से बंधी है, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि यह स्वयं के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त होती है कि एक समग्रता का निर्माण करती है, और क्या यही

समग्रता अस्तित्व या वास्तविकता का नाम नहीं रखती? निःसंदेह स्वयं के लिए एक शून्यता है, लेकिन एक शून्यता के रूप में ही यह है; और यह स्वयं के साथ पूर्व-निर्धारित एकता में है। इस प्रकार यूनानियों को ब्रह्मांडीय वास्तविकता, जिसे वे कहते थे, को उस समग्रता से अलग करने की आदत थी जो इससे और इसे घेरने वाले अनंत शून्य से निर्मित होती है—एक समग्रता जिसे वे कहते थे। निश्चित रूप से, हम स्वयं के लिए को शून्यता कह सकते हैं और यह घोषित कर सकते हैं कि "स्वयं के बाहर" कुछ भी नहीं है सिवाय इस शून्यता के प्रतिबिंब के जो स्वयं स्वयं द्वारा ध्रुवीकृत और परिभाषित है—क्योंकि स्वयं के लिए ठीक यही स्वयं की शून्यता है। लेकिन यहाँ, यूनानी दर्शन की तरह ही, एक प्रश्न उठता है: हम किसे वास्तविक कहेंगे? हम किसे अस्तित्व प्रदान करेंगे? ब्रह्मांड को या जिसे हमने कहा है? शुद्ध स्वतः को या उस स्वतः को जो शून्यता के उस आवरण से घिरा हुआ है जिसे हमने 'स्वयं के लिए' नाम दिया है?
लेकिन अगर हम संपूर्ण अस्तित्व को स्वयं में और स्वयं के लिए के संश्लेषित संगठन से निर्मित मानें, तो क्या हम फिर से उसी कठिनाई का सामना नहीं करेंगे जिससे हम बचना चाहते थे? और अस्तित्व की अवधारणा में हमने जिस अंतराल का खुलासा किया, क्या हम उसे वर्तमान में स्वयं विद्यमान में ही नहीं पाएंगे? वास्तव में हम उस विद्यमान को क्या परिभाषा दें जो स्वयं में वह है जो वह है और स्वयं के लिए वह है जो वह नहीं है?
यदि हम इन कठिनाइयों का समाधान करना चाहते हैं, तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि किसी विद्यमान को समग्र रूप में समझने के लिए क्या आवश्यक है: यह आवश्यक है कि उसकी संरचनाओं की विविधता को एक एकीकृत संश्लेषण के भीतर इस प्रकार समाहित किया जाए कि उनमें से प्रत्येक को अलग-अलग देखने पर वह केवल एक अमूर्त अवधारणा ही रह जाए। और निश्चित रूप से चेतना को अलग-अलग देखने पर वह केवल एक अमूर्त अवधारणा ही रह जाती है; परन्तु स्वयं-स्वयं को अपने अस्तित्व के लिए स्वयं-के-लिए की आवश्यकता नहीं होती; स्वयं-के-लिए की "भावना" ही स्वयं-स्वयं के अस्तित्व का कारण बनती है। स्वयं-स्वयं की घटना चेतना के बिना एक अमूर्त अवधारणा है, परन्तु उसका अस्तित्व अमूर्त अवधारणा नहीं है।
यदि हम एक ऐसे संश्लेषित संगठन की कल्पना करना चाहें जिसमें स्व-अस्तित्व, स्व में अस्तित्व से अविभाज्य हो और इसके विपरीत, स्व में अस्तित्व, स्व-अस्तित्व से अटूट रूप से जुड़ा हो, तो हमें इस संश्लेषण की कल्पना इस प्रकार करनी होगी कि स्व में अस्तित्व उस शून्यीकरण से प्राप्त हो जिसके कारण उसकी चेतना उत्पन्न हुई। इसका क्या अर्थ है, यदि यह नहीं कि स्व-अस्तित्व और स्व-अस्तित्व की अविभाज्य समग्रता केवल एक ऐसे अस्तित्व के रूप में ही बोधगम्य है जो स्वयं अपना "स्व-कारण" है? यही अस्तित्व, और कोई अन्य नहीं, उस के रूप में पूर्णतः मान्य हो सकता है जिसकी हमने पहले चर्चा की थी। और यदि हम स्व में अस्तित्व के अस्तित्व के प्रश्न को उठा सकते हैं, तो इसका कारण यह है कि हम स्वयं को पूर्व-सत्तामीमांसा संबंधी बोध के माध्यम से परिभाषित करते हैं। निःसंदेह यह 'स्वयं का कारण' (ens

causa sui) असंभव है, और जैसा कि हमने देखा है, इसकी अवधारणा में विरोधाभास निहित है। फिर भी, यह तथ्य बना रहता है कि चूंकि हम 'स्वयं का कारण' (ens causa sui) के दृष्टिकोण को अपनाकर के अस्तित्व का प्रश्न उठाते हैं, इसलिए हमें इसी दृष्टिकोण से इस की प्रामाणिकता की जांच करनी चाहिए। क्या यह केवल 'स्वयं के लिए' के उभार के कारण ही प्रकट नहीं हुआ है, और क्या 'स्वयं के लिए' मूल रूप से स्वयं का कारण बनने की एक परियोजना नहीं है? इस प्रकार हम संपूर्ण वास्तविकता की प्रकृति को समझना शुरू करते हैं। संपूर्ण अस्तित्व, जिसकी अवधारणा किसी अंतराल से विखंडित नहीं होगी और जो फिर भी स्वयं के लिए के शून्यीकरण-शून्यीकरण को बाहर नहीं करेगी, वह अस्तित्व जिसका अस्तित्व स्वयं में और चेतना का एकात्मक संश्लेषण होगा— यह आदर्श अस्तित्व स्वयं के लिए द्वारा स्थापित स्वयं में होगा और स्वयं के लिए जो इसे स्थापित करता है, उसके समान होगा—अर्थात, स्वयं का कारण (ens causa sui)। लेकिन ठीक इसी कारण से कि हम उस वास्तविक अस्तित्व का न्याय करने के लिए इस आदर्श अस्तित्व के दृष्टिकोण को अपनाते हैं जिसे हम कहते हैं, हमें यह स्थापित करना होगा कि वास्तविक स्वयं-कारण की गरिमा
को प्राप्त करने का एक असफल प्रयास है। सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो संसार, मनुष्य और संसार में मनुष्य केवल एक लुप्त ईश्वर को ही साकार करने में सफल हुए हों। इसलिए सब कुछ ऐसा घटित होता है मानो स्वयं में और स्वयं के लिए एक आदर्श संश्लेषण के संबंध में विघटन की स्थिति में प्रस्तुत किए गए हों। ऐसा नहीं है कि एकीकरण कभी हुआ है, बल्कि इसके विपरीत, ठीक इसी कारण से कि यह हमेशा इंगित किया जाता है और हमेशा असंभव है।
यह निरंतर विफलता ही है जो स्वयं में और स्वयं के लिए की अविभाज्यता और साथ ही उनकी सापेक्ष स्वतंत्रता दोनों की व्याख्या करती है। इसी प्रकार, जब मस्तिष्क के कार्यों की एकता टूट जाती है, तो ऐसी घटनाएँ उत्पन्न होती हैं जो एक साथ सापेक्ष स्वायत्तता प्रस्तुत करती हैं और जो साथ ही साथ समग्रता के विघटन के आधार पर ही प्रकट हो सकती हैं। यही विफलता उस अंतराल की व्याख्या करती है जिसका सामना हम अस्तित्व की अवधारणा और विद्यमान दोनों में करते हैं। यदि स्वयं में होने की धारणा से स्वयं के लिए होने की धारणा तक जाना और उन्हें एक सामान्य श्रेणी में पुनः जोड़ना असंभव है, तो इसका कारण यह है कि वास्तव में एक से दूसरे तक जाना और उनका पुनः जुड़ना संभव नहीं है। हम जानते हैं कि स्पिनोज़ा और हेगेल के अनुसार, उदाहरण के लिए, यदि कोई संश्लेषण अपने पूर्ण होने से पहले ही रुक जाता है और उसके पद सापेक्ष निर्भरता और साथ ही सापेक्ष स्वतंत्रता में स्थिर हो जाते हैं, तो संश्लेषण अचानक एक त्रुटि के रूप में स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए, स्पिनोज़ा के अनुसार, अर्धवृत्त के व्यास के चारों ओर घूर्णन का औचित्य और अर्थ गोले की अवधारणा में निहित है। लेकिन यदि हम यह कल्पना करें कि गोले की अवधारणा सैद्धांतिक रूप से पहुंच से बाहर है, तो अर्धवृत्त के घूर्णन की घटना असत्य हो जाती है। इसका सिर धड़ से अलग हो जाता है; घूर्णन का विचार और वृत्त का विचार एक साथ जुड़े रहते हैं, लेकिन उन्हें एक ऐसे संश्लेषण में एकीकृत नहीं किया जा सकता जो उनसे परे हो और उनका औचित्य

सिद्ध करे; एक दूसरे में विलीन नहीं हो सकता। ठीक यही यहाँ होता है। इसलिए हम कहेंगे कि जिस अवधारणा पर हम विचार कर रहे हैं, वह निरंतर विघटन की प्रक्रिया में एक धड़ से अलग अवधारणा के समान है। और यह एक विघटित समूह के रूप में ही अपने अस्पष्ट स्वरूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है— अर्थात्, ताकि कोई भी विचाराधीन प्राणियों की निर्भरता या उनकी स्वतंत्रता पर स्वेच्छा से जोर दे सके। यहाँ एक अधूरा मार्ग है, एक अल्पविराम।
इस स्तर पर हमें फिर से उस निराकार समग्रता की धारणा मिलती है जिससे हम पहले स्वयं के संदर्भ में और दूसरों की चेतनाओं के संदर्भ में परिचित हो चुके हैं। लेकिन यह निराकारता का तीसरा प्रकार है। परावर्तन की सरल निराकार समग्रता में, परावर्तित को परावर्तित होना पड़ता था, और परावर्तित को परावर्तित होना पड़ता था। दोहरा निषेध क्षणभंगुर बना रहा। दूसरों के संदर्भ में, (परावर्तन-परावर्तक) परावर्तित को (परावर्तन-परावर्तक) परावर्तक से इस अर्थ में भिन्न किया गया कि प्रत्येक को दूसरा नहीं होना था। इस प्रकार, स्वयं के संदर्भ में और स्वयं के संदर्भ में दूसरा एक ऐसे अस्तित्व का निर्माण करता है जिसमें प्रत्येक स्वयं को दूसरा बनाकर दूसरे को दूसरे का अस्तित्व प्रदान करता है। स्वयं के संदर्भ में और स्वयं में समग्रता की बात करें तो, इसकी विशेषता यह है कि स्वयं के संदर्भ में स्वयं को स्वयं में दूसरे के संबंध में दूसरे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु स्वयं में अपने अस्तित्व में स्वयं के संदर्भ में किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं होता; स्वयं में जो है, वह विशुद्ध रूप से विद्यमान है। यदि स्वयं में और स्वयं के लिए के बीच का संबंध, स्वयं के लिए और स्वयं में के बीच के संबंध का व्युत्क्रम होता, तो हम 'दूसरों के लिए' होने की स्थिति में आ जाते। परन्तु ऐसा बिल्कुल नहीं है, और यही पारस्परिकता का अभाव उस की विशेषता है जिसके बारे में हमने पहले बात की थी। इस हद तक समग्रता का प्रश्न उठाना निरर्थक नहीं है। वास्तव में, जब हमने 'दूसरों के लिए' का अध्ययन किया, तो हमने यह स्थापित किया कि एक ऐसे अस्तित्व का होना आवश्यक है जो एक "दूसरा-मैं" हो और जो 'दूसरों के लिए' की परावर्तक विखंडनीयता हो। परन्तु साथ ही, यह अस्तित्व जो एक "दूसरा-मैं" है, हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि यह तभी विद्यमान हो सकता है जब इसमें बाह्यता का एक अगोचर गैर-अस्तित्व समाहित हो। तब हमने पूछा कि क्या समग्रता का विरोधाभासी चरित्र अपने आप में एक अविभाज्य है और क्या हम मन को उस अस्तित्व के रूप में स्थापित कर सकते हैं जो है और जो नहीं है। लेकिन हमने यह निर्णय लिया कि चेतनाओं की संश्लेषित एकता का प्रश्न अर्थहीन है, क्योंकि यह इस बात को पूर्वकल्पित करता है कि हमारे लिए समग्रता पर एक दृष्टिकोण अपनाना संभव है; वास्तव में हम इस समग्रता की नींव पर विद्यमान हैं और इसमें संलग्न हैं।
लेकिन यदि हम "समग्रता पर एक दृष्टिकोण नहीं अपना सकते," तो इसका कारण यह है कि दूसरा सिद्धांत रूप से यह अस्वीकार करता है कि वह मैं हूँ, जैसे मैं यह अस्वीकार करता हूँ कि मैं वह हूँ। संबंध की पारस्परिकता ही मुझे इसे

इसकी संपूर्णता में समझने से रोकती है। इसके विपरीत, आंतरिक निषेध के मामले में, संबंध पारस्परिक नहीं है, और मैं संबंध के पदों में से एक भी हूँ और स्वयं संबंध भी। मैं अस्तित्व को समझता हूँ, मैं अस्तित्व की समझ हूँ, मैं केवल अस्तित्व की समझ हूँ। और जिस अस्तित्व को मैं समझता हूँ, वह मेरे विरुद्ध इस प्रकार स्थापित नहीं है कि वह मुझे बदले में समझे; वह वही है जिसे समझा जाता है। उसका अस्तित्व उसके समझे जाने वाले अस्तित्व के साथ किसी भी प्रकार से मेल नहीं खाता। इसलिए एक अर्थ में मैं समग्रता का प्रश्न उठा सकता हूँ। निश्चित रूप से, मैं यहाँ इस समग्रता में संलग्न होकर विद्यमान हूँ, लेकिन मैं इसकी एक संपूर्ण चेतना हो सकता हूँ क्योंकि मैं एक ही समय में अस्तित्व की चेतना और आत्म-चेतना हूँ। हालाँकि, समग्रता का यह प्रश्न सत्तामीमांसा के क्षेत्र में नहीं आता। सत्तामीमांसा के लिए, अस्तित्व के केवल वही क्षेत्र स्पष्ट किए जा सकते हैं जो स्वयं में, स्वयं के लिए और "स्व-कारण" के आदर्श क्षेत्र हैं। सत्तामीमांसा के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम स्वयं में व्यक्त स्वयं के लिए को एक सुस्पष्ट द्वैत के रूप में मानते हैं या एक विघटित अस्तित्व के रूप में। यह तत्वमीमांसा पर निर्भर है कि ज्ञान के लिए (विशेष रूप से घटनात्मक मनोविज्ञान, मानव विज्ञान आदि के लिए) कौन सा अधिक लाभदायक होगा: क्या यह एक ऐसे अस्तित्व से निपटेगा जिसे हम घटना कहेंगे और जिसमें अस्तित्व के दो आयाम होंगे, स्वयं में आयाम और स्वयं के लिए आयाम (इस दृष्टिकोण से केवल एक ही घटना होगी: दुनिया), ठीक उसी तरह जैसे आइंस्टीन के भौतिकी में एक घटना की बात करना लाभदायक पाया गया है जिसे स्थानिक आयामों और एक लौकिक आयाम के रूप में माना जाता है और जो अंतरिक्ष-समय में अपना स्थान निर्धारित करती है; या फिर, दूसरी ओर, क्या इन सबके बावजूद प्राचीन द्वैत "चेतना-अस्तित्व" को संरक्षित रखना ही बेहतर रहेगा? सत्तामीमांसा यहाँ केवल यही कह सकती है कि यदि किसी घटना को एक विघटित समग्रता के रूप में देखने की नई अवधारणा उपयोगी प्रतीत होती है, तो उसके बारे में अंतर्निहितता और पारलौकिकता दोनों के संदर्भ में बात करना आवश्यक होगा। वास्तव में, खतरा यह होगा कि या तो हम विशुद्ध अंतर्निहितता (हुसरलियन आदर्शवाद) के सिद्धांत में पड़ जाएँ या विशुद्ध पारलौकिकता के सिद्धांत में, जो घटना को एक नए प्रकार की वस्तु के रूप में देखेगा। लेकिन अंतर्निहितता हमेशा घटना के स्वयं-आयाम से सीमित होगी, और पारलौकिकता उसके स्वयं-आयाम से सीमित होगी।
स्वयंभू की उत्पत्ति और संसार की घटनाओं के स्वरूप के प्रश्न का निर्णय हो जाने के बाद, तत्वमीमांसक प्राथमिक महत्व की विभिन्न समस्याओं, विशेष रूप से क्रिया की समस्या पर विचार करने में सक्षम होगा। वास्तव में, क्रिया पर एक साथ स्वयंभू और अंतर्भू दोनों स्तरों पर विचार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसमें एक ऐसी परियोजना शामिल है जिसकी उत्पत्ति अंतर्निहित है और जो पारलौकिक अस्तित्व में परिवर्तन लाती है। यह कहना व्यर्थ होगा कि क्रिया केवल वस्तु के भौतिक स्वरूप को ही परिवर्तित करती है। यदि एक प्याले के भौतिक स्वरूप को प्याले के रूप में उसके अस्तित्व के विनाश तक परिवर्तित किया जा सकता है, और यदि प्याले का अस्तित्व केवल उसका गुण है,

तो परिकल्पित क्रिया प्याले के अस्तित्व को ही परिवर्तित करने में सक्षम होनी चाहिए। अतः क्रिया की समस्या चेतना की पारलौकिक प्रभावकारिता के स्पष्टीकरण की परिकल्पना करती है, और यह हमें अस्तित्व के साथ उसके वास्तविक संबंध के मार्ग पर अग्रसर करती है। यह हमें संसार में किसी क्रिया के परिणामों के कारण, अस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक ऐसा संबंध भी प्रकट करता है, जिसे भौतिक विज्ञानी बाह्यता के संदर्भ में तो समझ लेता है, लेकिन यह न तो शुद्ध बाह्यता है और न ही अंतर्निहितता, बल्कि यह हमें गेस्टाल्ट रूप की अवधारणा की ओर ले जाता है। अतः इन्हीं संदर्भों में प्रकृति के तत्वमीमांसा का प्रयास किया जा सकता है।
II. नैतिक निहितार्थ
स्वयं सत्तामीमांसा नैतिक सिद्धांतों को प्रतिपादित नहीं कर सकती। यह केवल यथार्थ से संबंधित है, और हम सत्तामीमांसा के संकेतों से अनिवार्यताओं को प्राप्त नहीं कर सकते। हालांकि, यह हमें यह समझने में सहायक होती है कि किसी परिस्थिति में मानवीय वास्तविकता का सामना करने पर किस प्रकार की नैतिकता अपनी जिम्मेदारियों को निभाएगी। वास्तव में, सत्तामीमांसा ने हमें मूल्य की उत्पत्ति और प्रकृति का खुलासा किया है; हमने देखा है कि मूल्य वह अभाव है जिसके संबंध में स्व-अस्तित्व अपने अस्तित्व को अभाव के रूप में निर्धारित करता है। जैसा कि हमने देखा है, स्व-अस्तित्व के अस्तित्व मात्र से ही मूल्य अपने स्व-अस्तित्व को प्रभावित करने के लिए उत्पन्न होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्व-अस्तित्व के विभिन्न कार्यों को अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण का विषय बनाया जा सकता है, क्योंकि इन सभी का उद्देश्य चेतना और अस्तित्व के लुप्त संश्लेषण को मूल्य या स्व-कारण के रूप में उत्पन्न करना है। इस प्रकार अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण नैतिक वर्णन है, क्योंकि यह हमें विभिन्न मानवीय परियोजनाओं के नैतिक अर्थ को प्रकट करता है। यह हमें मानवीय व्यवहार की उपयोगितावादी व्याख्या के साथ-साथ स्वार्थ की मानसिकता को त्यागने की आवश्यकता का संकेत देता है—यह हमें सभी मानवीय मनोवृत्तियों का आदर्श अर्थ प्रकट करता है। ये अर्थ अहंकार और परोपकारिता से परे हैं, यहाँ तक कि किसी भी ऐसे व्यवहार से भी परे हैं जिसे स्वार्थहीन कहा जाता है। मनुष्य स्वयं को मनुष्य बनाता है ताकि वह ईश्वर बन सके, और इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो स्वार्थ एक अहंकार प्रतीत हो सकता है; लेकिन ठीक इसी कारण से कि मानवीय वास्तविकता और उस आत्म-कारण के बीच कोई समान मापदंड नहीं है जिसे वह बनना चाहता है, हम यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य स्वयं को खो देता है ताकि आत्म-कारण अस्तित्व में आ सके। तब हम यह मानेंगे कि संपूर्ण मानवीय अस्तित्व एक जुनून है, और प्रसिद्ध स्वार्थ इस जुनून को साकार करने के लिए अन्य तरीकों में से केवल एक तरीका है जिसे स्वेच्छा से चुना जाता है।
लेकिन अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण का मुख्य परिणाम हमें गंभीरता की भावना को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करना है। गंभीरता की भावना की दो विशेषताएँ हैं: यह मूल्यों को मानवीय व्यक्तिपरकता से स्वतंत्र, अलौकिक

सत्य मानती है, और यह "वांछनीय" होने के गुण को वस्तुओं की तात्विक संरचना से हटाकर उनके सरल भौतिक स्वरूप में समाहित कर देती है। उदाहरण के लिए, गंभीरता की भावना के लिए रोटी वांछनीय है क्योंकि यह जीने के लिए आवश्यक है (एक ऐसा मूल्य जो एक बोधगम्य स्वर्ग में लिखा है) और क्योंकि रोटी पौष्टिक होती है। गंभीर दृष्टिकोण का परिणाम, जो जैसा कि हम जानते हैं, दुनिया पर हावी है, वस्तुओं के प्रतीकात्मक मूल्यों को उनकी अनुभवजन्य विशिष्टता द्वारा इस प्रकार अवशोषित कर लेना है जैसे स्याही सोख्ता कागज पर; यह वांछित वस्तु की अस्पष्टता को सामने रखता है और उसे स्वयं में एक वांछनीय, अविभाज्य वस्तु के रूप में स्थापित करता है। इस प्रकार हम नैतिक स्तर पर तो हैं ही, साथ ही साथ दुर्भावना के स्तर पर भी हैं, क्योंकि यह एक ऐसी नैतिकता है जो स्वयं से लज्जित है और अपना नाम लेने का साहस नहीं करती। इसने स्वयं को पीड़ा से मुक्त करने के लिए अपने सभी लक्ष्यों को छिपा लिया है। मनुष्य अपने अस्तित्व की खोज में अंधाधुंध लगा रहता है, स्वयं से उस स्वतंत्र परियोजना को छुपाकर जो यही खोज है। वह स्वयं को इस प्रकार ढाल लेता है कि उसके मार्ग में आने वाले सभी कार्य उसकी प्रतीक्षा करते हैं। वस्तुएँ मूक माँगें हैं, और वह स्वयं इन माँगों के प्रति निष्क्रिय आज्ञापालन के अलावा कुछ भी नहीं है।
अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण मनुष्य को उसके वास्तविक लक्ष्य से परिचित कराएगा, जो कि स्वयं-स्वयं और स्वयं-के-लिए के संश्लेषित मिश्रण के रूप में अस्तित्व है; अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण मनुष्य को उसकी भावनाओं से अवगत कराएगा। वास्तव में, ऐसे अनेक मनुष्य हैं जिन्होंने स्वयं पर इस मनोविश्लेषण का अभ्यास किया है और इसके सिद्धांतों को सीखने के बाद ही उनका उपयोग मुक्ति और मोक्ष के साधन के रूप में किया है। वास्तव में, अनेक मनुष्य जानते हैं कि उनके लक्ष्य का उद्देश्य अस्तित्व है; और इस ज्ञान के बल पर वे वस्तुओं को अपने स्वार्थ के लिए ग्रहण करने से विरक्त होते हैं तथा अपने स्वयं-स्वयं के अस्तित्व के प्रतीकात्मक विनियोग को साकार करने का प्रयास करते हैं। परन्तु यदि यह प्रयास गंभीरता की भावना से ओतप्रोत है और ये मनुष्य यह मानते हैं कि स्वयं-स्वयं-के-लिए के अस्तित्व को साकार करने का उनका उद्देश्य वस्तुओं में निहित है, तो वे निराशा के वश में हो जाते हैं। क्योंकि वे उसी क्षण यह जान लेते हैं कि सभी मानवीय गतिविधियाँ समतुल्य हैं (क्योंकि वे सभी स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्य का बलिदान करने की प्रवृत्ति रखती हैं) और सिद्धांततः सभी असफलता के लिए अभिशप्त हैं। अतः, चाहे कोई अकेले शराब पिए या राष्ट्रों का नेता हो, बात एक ही है। यदि इनमें से कोई एक गतिविधि दूसरी से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, तो यह उसके वास्तविक लक्ष्य के कारण नहीं, बल्कि उसके आदर्श लक्ष्य के प्रति उसकी चेतना की मात्रा के कारण होगा; और इस स्थिति में, राष्ट्रों के नेता के व्यर्थ उन्माद पर एकाकी शराबी की शांति ही श्रेष्ठ सिद्ध होगी। लेकिन सत्तामीमांसा और अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण (या इन विषयों का सहज और अनुभवजन्य अनुप्रयोग जो मनुष्य हमेशा से करते आए हैं) नैतिक कर्ता को यह प्रकट करते हैं कि वह वह सत्ता है जिसके द्वारा मूल्यों का अस्तित्व है।

[illegible]

***** [illegible] *****

sjeet

1 इस अंश में “अन्य” को मानव संबंधों की समस्या के संदर्भ में चर्चा किए गए “अन्य” से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। Tr.

विशेष शब्दावली की कुंजी

1

उन्मूलन (विलुप्ति)। किसी वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाना। यह स्पष्ट रूप से स्वयं के दृष्टिकोण से है, न कि स्वयं में, क्योंकि अस्तित्व न तो बढ़ता है और न ही घटता है।
एब्सचैटुंगेन। सार्त्र द्वारा सामान्य घटनात्मक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग वस्तु के क्रमिक "प्रोफ़ाइल" में प्रकट होने के संदर्भ में किया जाता है।
निरर्थक। अर्थहीन। इस प्रकार मनुष्य का अस्तित्व निरर्थक है क्योंकि उसकी आकस्मिकता का कोई बाह्य औचित्य नहीं है। उसकी परियोजनाएँ निरर्थक हैं क्योंकि वे एक अप्राप्य लक्ष्य की ओर निर्देशित हैं ("ईश्वर बनने की इच्छा" या एक ही समय में स्वतंत्र स्व-अस्तित्व और परम स्व-अस्तित्व होने की इच्छा)।
एक्टेऑन कॉम्प्लेक्स। छवियों का समग्र रूप जो यह दर्शाता है कि "जानना" यौन संकेत के साथ एक प्रकार का अनुचित उल्लंघन है।
पीड़ा। स्वयं को स्वतंत्रता के रूप में समझने की चिंतनशील अनुभूति, यह अहसास कि मेरे स्वयं और मेरे अतीत और भविष्य के बीच एक शून्यता व्याप्त है, जिससे मुझे निरंतर स्वयं को चुनने की आवश्यकता से मुक्ति नहीं मिलती और न ही मेरे द्वारा चुने गए मूल्यों की वैधता की गारंटी मिलती है। भय संसार में किसी चीज का भय है, पीड़ा स्वयं के समक्ष पीड़ा है (जैसा कि कीर्केगार्ड में है)।
आभास (आभास)। किसी वस्तु का अस्तित्व में आना। यह केवल स्वयं के दृष्टिकोण से ही संभव है, क्योंकि स्वयं अस्तित्व न तो "आता है" और न ही "जाता है"। दिखावट (दिखाई देना)। "घटना" और "एब्सचट्टुंगेन" देखें।
कुविश्वास। एक ही चेतना की एकता के भीतर स्वयं से बोला गया झूठ। कुविश्वास के माध्यम से व्यक्ति स्वयं के लिए अस्तित्व की उत्तरदायित्वपूर्ण स्वतंत्रता से बचने का प्रयास करता है। कुविश्वास पारलौकिकता और वास्तविकता के बीच एक ऐसे द्वंद्व पर आधारित है जो न तो इनमें से किसी को उसके वास्तविक स्वरूप में पहचानता है और न ही इनका संश्लेषण करता है। अस्तित्व (être)। “अस्तित्व है। अस्तित्व स्वयं में है। अस्तित्व वही है जो वह है।” अस्तित्व में स्वयं में अस्तित्व और स्वयं के लिए अस्तित्व दोनों शामिल हैं, लेकिन बाद वाला पहले का निरंकुश है। अस्तित्व के विपरीत, अस्तित्व सर्वव्यापी और वस्तुनिष्ठ है, न कि व्यक्तिगत और व्यक्तिपरक। स्वयं के लिए अस्तित्व (être-pour-soi)। स्वयं में अस्तित्व का शून्यीकरण; चेतना को अस्तित्व की कमी, अस्तित्व की इच्छा और अस्तित्व से संबंध के रूप में समझा जाता है। शून्यता को संसार में लाकर, स्वयं के लिए अस्तित्व से अलग होकर अन्य प्राणियों का मूल्यांकन इस आधार पर कर सकता है कि वे क्या नहीं हैं। प्रत्येक स्वयं के लिए अस्तित्व एक विशिष्ट प्राणी का शून्यीकरण है।

स्वयं में अस्तित्व (être-en-soi)। अचेतन अस्तित्व। यह घटना का अस्तित्व है और इसके बारे में हमारे पास मौजूद ज्ञान से परे है। यह एक परिपूर्णता है, और सटीक रूप से कहें तो हम इसके बारे में केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह है।
अन्यो के लिए अस्तित्व (être-pour-autrui)। स्वयं के लिए अस्तित्व का तीसरा परमानंद (q.v.)। यहाँ अस्तित्व का एक नया आयाम उभरता है जिसमें मेरा स्व, दूसरों के लिए एक वस्तु के रूप में, बाह्य रूप से विद्यमान होता है। अन्यो के लिए अस्तित्व में निरंतर संघर्ष निहित है क्योंकि प्रत्येक स्वयं के लिए अस्तित्व, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे को वस्तु बनाकर अपने स्वयं के अस्तित्व को पुनः प्राप्त करने का प्रयास करता है।
कारण। कभी-कभी इसका प्रयोग भौतिक कारण और प्रभाव के सामान्य अर्थ में किया जाता है। मानवीय क्षेत्र में कारण (प्रेरक तत्व) किसी भी नियतिवादी गुण से रहित होता है और किसी स्थिति की वस्तुनिष्ठ समझ को दर्शाता है, जो किसी निश्चित लक्ष्य के प्रकाश में उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन बन सकती है।
प्रतिकूलता गुणांक। यह शब्द गैस्टन बैचलार्ड से लिया गया है। यह स्वयं के लिए बनाई गई परियोजनाओं के प्रति बाहरी वस्तुओं द्वारा उत्पन्न प्रतिरोध की मात्रा को दर्शाता है।
कॉगिटो। सार्त्र का दावा है कि पूर्व-चिंतनशील कॉगिटो ("चेतना") कार्टेशियन कॉगिटो का पूर्व-संज्ञानात्मक आधार है।
वे कहते हैं कि दूसरों के अस्तित्व के बारे में एक प्रकार का चिंतन भी होता है। यद्यपि हम अमूर्त रूप से दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते, यह चिंतन मुझे उसकी "ठोस, निर्विवाद उपस्थिति" का ज्ञान कराएगा, ठीक उसी प्रकार जैसे मेरे स्वयं के "आकस्मिक लेकिन आवश्यक अस्तित्व" का ज्ञान मुझे हुआ है।
चेतना। स्वयं से परे की चेतना। "चेतना एक ऐसा अस्तित्व है कि अपने अस्तित्व में ही उसका अस्तित्व प्रश्न के घेरे में आ जाता है, क्योंकि यह अस्तित्व स्वयं से भिन्न किसी अन्य अस्तित्व को दर्शाता है।" हुसर्ल की तरह सार्त्र भी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि चेतना हमेशा किसी न किसी चीज़ की चेतना होती है। वे कभी-कभी मानसिक वस्तुओं के अनुसार चेतना के प्रकारों में अंतर करते हैं; जैसे, पीड़ा-चेतना, शर्म-चेतना। दो और मूलभूत भेद किए गए हैं:
(1) अचिंतनशील चेतना (जिसे गैर-थेटिक चेतना या गैर-स्थितीय आत्म-चेतना भी कहा जाता है)। यह पूर्व-चिंतनशील कॉगिटो है। यहाँ कोई ज्ञान नहीं है, बल्कि किसी वस्तु की चेतना होने की अंतर्निहित चेतना है।
(2) चिंतनशील चेतना (जिसे थेटिक चेतना या स्थितिजन्य आत्म-चेतना भी कहा जाता है)। इसके लिए “चिंतन” देखें।
आकस्मिकता। स्वयं-अस्तित्व में यह वास्तविकता के बराबर है, संसार में इस स्वयं-अस्तित्व का ठोस तथ्य। स्वतंत्रता की आकस्मिकता यह तथ्य है कि स्वतंत्रता का अस्तित्व न होना संभव नहीं है।

डेसिन। हाइडेगर द्वारा सचेत अस्तित्व के रूप में मनुष्य के लिए प्रयुक्त शब्द। मूल अर्थ है "वहाँ होना"।
विच्छेदन (dédoublement)। चेतना का वह विभाजन जो चिंतनशील चेतना द्वारा कभी पूर्ण नहीं हो पाता। यदि ये दो भाग अलग हो जाते, तो वे चिंतनशील चेतना और परावर्तित चेतना होते।
ध्यान भटकाना। एक ऐसी क्रिया जिसके द्वारा चेतना पीड़ा से बचने के लिए स्वयं को अपनी कुछ भविष्य की संभावनाओं को किसी और की संभावनाओं के रूप में देखने के लिए विवश करती है। अतीत के संदर्भ में ध्यान भटकाना स्वयं को एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व के रूप में देखने का प्रयास करता है और यह मानता है कि इस सार के अनुरूप होने पर ही कार्य स्वतंत्र होते हैं, इस प्रकार अस्तित्व के एक स्वतंत्र, नए चुनाव से बचता है। अधिक सामान्यतः ध्यान भटकाना कोई भी ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा चेतना स्वयं को अपनी कुछ प्रतिक्रियाओं को न देखने के लिए बाध्य करती है।
आइडेटिक रिडक्शन (हुसरल)। किसी भी वस्तु या व्यक्तिपरकता के पृथक उदाहरण को उसके वास्तविक अस्तित्व की पुष्टि से अलग, केवल उसके स्वरूप के उदाहरण के रूप में देखने की प्रक्रिया। सार्त्र इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं कि "कोई भी व्यक्ति हमेशा मूर्त घटना से परे जाकर उसके सार की ओर बढ़ सकता है।"
एक्स्टेसिस। मूल ग्रीक अर्थ में "से अलग होना" के रूप में प्रयुक्त। स्वयं के लिए तीन क्रमिक एक्स्टेसिस में अपने आप से अलग हो जाता है:
(1) कालिकता। स्वयं के लिए, यह अपने भीतर (जिससे एक अर्थ में यह अभी भी संबंधित है) को अतीत, वर्तमान और भविष्य के तीन आयामों (तीन कालिक एक्स्टेसिस) में नष्ट कर देता है।
(2) प्रतिबिंब। स्वयं के लिए स्वयं पर एक बाह्य दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करता है।
(3) दूसरों के लिए होना। स्वयं के लिए यह पता चलता है कि उसका दूसरे के लिए एक स्व है, एक ऐसा स्व जो वह बिना कभी जान या पकड़ पाने में सक्षम हुए है। संलग्न होना (संलग्न करने वाला)। इसमें भागीदारी और जानबूझकर प्रतिबद्धता दोनों का विचार शामिल है। इस प्रकार मनुष्य अनिवार्य रूप से संसार से जुड़ा हुआ है, और स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब वह अपने लक्ष्यों के स्वतंत्र चुनाव द्वारा संलग्न हो।
एपॉके। हुसर्ल का यह सिद्धांत कि दुनिया के अस्तित्व से संबंधित सभी विचारों को "कोष्ठक में रखकर" चेतना का अध्ययन सांसारिक अस्तित्व के प्रश्न से स्वतंत्र रूप से किया जाए। बेशक, सार्त्र इस प्रक्रिया का अनुसरण नहीं कर सकते क्योंकि उनका कार्य चेतना का विश्व-स्तरीय अध्ययन करना है।
सार तत्व। सार्त्र और हेगेल दोनों के लिए, सार तत्व वह है जो अतीत में रहा है। सार्त्र इसे मनुष्य का अतीत कहते हैं। चूंकि मानव स्वभाव का कोई पूर्व-निर्धारित स्वरूप नहीं है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के दौरान अपना सार तत्व स्वयं बनाता है।

अस्तित्व। मूर्त, व्यक्तिगत अस्तित्व, वर्तमान क्षण और स्थान। सार्त्र कहते हैं कि सभी अस्तित्ववादियों के लिए अस्तित्व सार से पहले आता है। उनके अनुसार, मानवीय वास्तविकता पर लागू होने पर अस्तित्व में हमेशा एक व्यक्तिपरक गुण होता है।
बाह्य निषेध। "एक साक्षी द्वारा दो प्राणियों के बीच स्थापित बाह्य बंधन।"
तथ्यात्मकता (facticité)। स्वयं के लिए का स्वयं में से, और इस प्रकार संसार और उसके अपने अतीत से आवश्यक संबंध। यही वह आधार है जिससे हम कह सकते हैं कि स्वयं के लिए है या विद्यमान है। स्वतंत्रता की तथ्यात्मकता यह तथ्य है कि स्वतंत्रता, स्वतंत्र न होने में सक्षम नहीं है।
परिमितता। इसे "नश्वरता" से स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। परिमितता का तात्पर्य मनुष्य की मृत्यु से नहीं है, बल्कि इस तथ्य से है कि अपने अस्तित्व की योजना के स्वतंत्र चुनाव के रूप में, मनुष्य अपनी पसंद की संभावना को चुनते समय अन्य संभावनाओं को नकार कर स्वयं को परिमित बना लेता है। इस प्रकार, मनुष्य अपनी वास्तविकता के कारण, अमर होते हुए भी परिमित रहेगा।
स्वतंत्रता। स्वयं के लिए अस्तित्व का सार, जो "स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त" है और जिसे हमेशा स्वयं को चुनना होगा—अर्थात स्वयं को बनाना होगा। "'स्वतंत्र होना' का अर्थ 'अपनी इच्छा को प्राप्त करना' नहीं है, बल्कि 'स्वयं अपनी इच्छा को निर्धारित करना' (चुनने के व्यापक अर्थ में) है। दूसरे शब्दों में, सफलता स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण नहीं है।" भविष्य। स्वयं के लिए की "संभावनाएँ"। भविष्य वही है जो स्वयं के लिए होना चाहिए। यह "निर्धारक सत्ता है जो स्वयं के लिए अस्तित्व से परे होनी चाहिए।"
ऐतिहासिक बनाना (अवस्था या गुण, "ऐतिहासिकता"; सक्रिय प्रक्रिया, "इतिहास निर्माण")। किसी वास्तविक दुनिया में एक ठोस अस्तित्व के रूप में शामिल होना ताकि उसका एक "इतिहास" हो।
मानव-वास्तविकता। सार्त्र द्वारा मानव या स्वयं के लिए प्रयुक्त शब्द। इसका प्रयोग सामान्य रूप से (जैसे "मानव जाति") और व्यक्तिगत मनुष्य के लिए किया जाता है।
क्षणिक। सार्त्र इस बात से इनकार करते हैं कि समय क्षणों का एक क्रम है। हालाँकि, क्षण मनोवैज्ञानिक रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस सर्वव्यापी संभावना को इंगित करता है कि 'स्वयं के लिए' सत्ता किसी भी समय अचानक अपने अस्तित्व में एक नया मार्ग चुनकर एक विदारक परिवर्तन ला सकती है। इस प्रकार, क्षण एक ही समय में संबंधित परियोजनाओं के लिए अंतिम और प्रारंभिक दोनों बिंदु बन जाता है।
आंतरिक निषेध। यह केवल स्वयं-संबंधी क्रिया के संदर्भ में पाया जाता है। एक ऐसा निषेध जो किसी ऐसे प्राणी या वस्तु की आंतरिक संरचना को प्रभावित करता है जिसे किसी चीज़ से वंचित किया गया हो। "दो प्राणियों के बीच ऐसा

संबंध कि जिसे दूसरे से वंचित किया गया है, वह अनुपस्थिति के द्वारा दूसरे को उसके सार के मूल में परिभाषित करता है।"
जोनाह कॉम्प्लेक्स। ज्ञान के विषय या किसी प्रिय व्यक्ति के साथ स्वयं को आत्मसात करने और पहचान बनाने की अतार्किक इच्छा - बिना किसी भी तरह से उस विषय के बाह्य वस्तु के रूप में चरित्र को नुकसान पहुंचाए।
बनाया गया। est été का एक असंतोषजनक अनुवाद, जिसका शाब्दिक अर्थ है "हो चुका है"। जहाँ तक मुझे पता है, सकर्मक क्रिया के रूप में "होना" का सार्त्र का प्रयोग अद्वितीय है।
तत्वमीमांसा। “उन व्यक्तिगत प्रक्रियाओं का अध्ययन जिन्होंने इस संसार को एक मूर्त और विशिष्ट समग्रता के रूप में जन्म दिया है।” तत्वमीमांसा इस समस्या से संबंधित है कि मूर्त सत्ताएँ जैसी हैं वैसी क्यों हैं। सार्त्र कहते हैं कि तत्वमीमांसा का संबंध सत्तामीमांसा से वैसा ही है जैसा इतिहास का समाजशास्त्र से है।
मेरा। "स्वयं और गैर-स्वयं का संश्लेषण।"
प्रेरक (गतिशील)। "इच्छाओं, भावनाओं और जुनूनों का वह समूह जो मुझे कोई विशेष कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।" सार्त्र का मानना है कि ये प्रेरणा के रूप में स्वतंत्र रूप से निर्मित होते हैं, मनोवैज्ञानिक रूप से निर्धारित नहीं होते।
मतली। अस्तित्व की वास्तविकता और अनिश्चितता का "स्वाद"। "एक सुस्त और असहनीय मतली लगातार मेरे शरीर को मेरी चेतना के सामने प्रकट करती है।" इसी मूलभूत मतली के आधार पर सभी ठोस, अनुभवजन्य मतली (खराब मांस, मल आदि के कारण) उत्पन्न होती हैं।
नकारात्मकता। सार्त्र का यह शब्द मानवीय गतिविधियों के उन प्रकारों के लिए है जिनमें स्पष्ट रूप से नकारात्मक निर्णय शामिल नहीं होता, फिर भी नकारात्मकता उनकी संरचना का एक अभिन्न अंग होती है; उदाहरण के लिए, अनुपस्थिति, परिवर्तन, पूछताछ, विनाश से जुड़े अनुभव।
निहिलेट (néantir)। यह शब्द सार्त्र द्वारा गढ़ा गया था। चेतना, चेतना के रूप में तभी विद्यमान होती है जब वह अपने और उस वस्तु के बीच शून्यता (q.v.) उत्पन्न करती है जिसकी वह चेतना है। इस प्रकार, निहिलेशन वह है जिसके द्वारा चेतना विद्यमान होती है। निहिलेट का अर्थ है अस्तित्वहीनता के आवरण में जकड़ लेना। अंग्रेजी शब्द "निहिलेट" का प्रयोग सर्वप्रथम हेल्मुट कुह्न ने अपनी पुस्तक "एनकाउंटर विद नथिंगनेस" में किया था। नोएमा (हुसरल)। चेतना के अनुभव का वस्तुनिष्ठ "ध्रुव" जिसे एपोके (q.v.) के बाद देखा जाता है; चेतना द्वारा अभिप्रेत वस्तु—जैसा कि वह स्वयं में है और साथ ही उसकी सभी घटनात्मक आवश्यक विशेषताएं।
नोएसिस। हसरल द्वारा चेतना द्वारा किसी बाह्य वस्तु की ओर जानबूझकर निर्देशित किए जाने की प्रक्रिया को संदर्भित करने वाला शब्द। इसमें इच्छित क्रिया को उसकी सभी आवश्यक विशेषताओं सहित शामिल किया जाता है। शून्यता (नियंट)। शून्यता का स्वयं कोई अस्तित्व नहीं होता, फिर भी वह अस्तित्व द्वारा समर्थित होती है। यह स्वयं-स्वयं के द्वारा संसार में

आती है और उस आत्म-निहित अस्तित्व की परिपूर्णता से प्रतिकर्षण है जो चेतना को इस रूप में विद्यमान होने की अनुमति देता है।
वस्तुनिष्ठता (Objectité)। यह पूर्णतः वस्तुनिष्ठता नहीं है, बल्कि किसी वस्तु के होने का गुण या अवस्था है। कभी-कभी objectité का अनुवाद "वस्तु- अवस्था" के रूप में किया जाता है। "वस्तुकरण" और "वस्तुनिष्ठ बनाना" संबंधित शब्द हैं और इनका अर्थ किसी वस्तु या व्यक्ति को वस्तु बनाना है।
सत्तामीमांसा। यह "अस्तित्व की संरचनाओं का समग्र रूप से अध्ययन" है। सत्तामीमांसा स्वयं अस्तित्व का वर्णन करती है, उन परिस्थितियों का वर्णन करती है जिनके द्वारा संसार, मानवीय वास्तविकता आदि का अस्तित्व होता है। तुलना करें "तत्वमीमांसा" से।
अतीत। वह जो स्वयं के लिए रहा है। इस प्रकार अतीत स्वयं में अस्तित्व बन जाता है और स्वयं के लिए का सार और तत्व होने के साथ-साथ उसकी वास्तविकता का भी अंश है। यही एकमात्र अर्थ है जिसमें स्वयं के लिए का सार या तत्व होता है, क्योंकि अपने जीवंत वर्तमान में यह "वह है जो यह नहीं है और वह नहीं है जो यह है।"
घटना। अस्तित्व जैसा प्रकट होता है या सामने आता है। सार्त्र इस शब्द का प्रयोग इसके सामान्य घटनाशास्त्रीय अर्थ में करते हैं, हालांकि अस्तित्व की पार-घटनात्मकता के बारे में उनका दृष्टिकोण भिन्न है। वे निश्चित रूप से घटनाओं और मूल तत्वों के बीच किसी भी अंतर को नकारते हैं। घटनाविज्ञान। सामान्यतः घटनाविज्ञान के सिद्धांत की चर्चा करते समय सार्त्र हुसर्ल के कार्यों का उल्लेख करते हैं। हालांकि, यह ध्यान देने योग्य है कि हुसर्ल से कई बिंदुओं पर असहमति होने के बावजूद, सार्त्र अपने कार्य को घटनाविज्ञानीय अध्ययन मानते हैं। जब वे कहते हैं कि कोई विचार घटनाविज्ञानीय जांच के योग्य है, तो उनका तात्पर्य निश्चित रूप से अपनी पद्धति के अनुसार किए गए अध्ययन से है।
संभाव्य बनाना (possibilise)। यह उस स्वतंत्र क्रिया को संदर्भित करता है जिसके द्वारा चेतना किसी क्रिया को निष्पादित किए जाने योग्य या किसी मनोवृत्ति को अपनाए जाने योग्य मानती है।
संभव (possible)। एक संज्ञा जो लगभग "संभावना" के समानार्थक है। सार्त्र आमतौर पर "संभव" शब्द को प्राथमिकता देते हैं, जो किसी अमूर्त विचार के बजाय एक ठोस दुनिया में की जाने वाली एक ठोस क्रिया को दर्शाता है। स्वयं के लिए (For-itself) स्वयं को अपनी संभावनाओं का चयन करके और स्वयं को उन पसंदीदा संभावनाओं की ओर प्रक्षेपित करके बनाता है।
उपस्थिति। यह स्वयं के लिए के संबंध को शेष अस्तित्व से जोड़ती है और इसमें एक आंतरिक निषेध शामिल है। "———— के लिए उपस्थिति, उपस्थित अस्तित्व और उस अस्तित्व के बीच एक आंतरिक संबंध है जिसके लिए वह उपस्थित है।" "स्वयं के लिए, स्वयं में अस्तित्व के लिए उपस्थिति है" स्वयं में अस्तित्व को "समग्रता के रूप में विद्यमान" बनाकर।

अस्तित्व द्वारा बाह्य वस्तुओं के बीच संबंधों को व्यवस्थित करने की क्रिया का परिणाम है।
सर्वेक्षण, सर्वेक्षण की परियोजना (सर्वेलर, सुरवोल)। विचार या बोध की वह प्रक्रिया जिसमें वस्तुओं को एक समग्र क्रिया के रूप में समझा जाता है और उन्हें बिंदुओं या क्षणों में अलग नहीं किया जा सकता है।
कालिकता। एक व्यक्तिपरक प्रक्रिया जिसके द्वारा 'स्वयं के लिए' अपने 'अंतर्ज्ञान' को मिटाने की निरंतर योजना को जीता है। कालिकता के माध्यम से 'स्वयं के लिए' वस्तुओं की अवधि और आत्म-पहचान के लिए अपना मापदंड निर्धारित करता है। समय वस्तुओं में नहीं होता, बल्कि उन पर बहता है। 'स्वयं के लिए' अपने अतीत (भूतकाल) के रूप में, अपने भावी स्वरूप (भविष्य) की ओर एक उड़ान (वर्तमान) भरता है।
“वहाँ है” (il y a)। सार्त्र ने इस शब्द का प्रयोग यह दर्शाने के लिए किया है कि संसार और वस्तुएँ एक संसार और वस्तुओं के रूप में विद्यमान हैं, न कि अर्थहीन, अविभेदित अस्तित्व के रूप में। “वहाँ है” का उद्गम, निश्चित रूप से, स्वयं के लिए की ओर से अस्तित्व में होने वाले उभार से होता है। पारलौकिकता। अक्सर इसका तात्पर्य उस प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा 'स्वयं के लिए' अस्तित्व अपने आप में एक उन्नत परियोजना की ओर अग्रसर होता है। कभी-कभी 'स्वयं के लिए' अस्तित्व को ही पारलौकिकता कहा जाता है। यदि मैं 'अन्य' को एक वस्तु बना दूं, तो वह मेरे लिए एक पारलौकिकता-पारित है। दूसरी ओर, वह 'स्वयं में अस्तित्व' जो अपने सभी स्वरूपों और उसे समझने के मेरे सभी प्रयासों से परे है, उसे पारलौकिक अस्तित्व कहा जाता है। 'पारलौकिकता' शब्द कभी-कभी विशुद्ध रूप से संज्ञा के रूप में प्रयोग होता है, कभी-कभी एक प्रक्रिया को संदर्भित करता है।
पारलौकिकता। इसका तात्पर्य यह है कि अस्तित्व, यद्यपि अपनी उपस्थिति के साथ सह-विस्तारित है, लेकिन उसी तक सीमित नहीं है; अस्तित्व "हमारे पास मौजूद ज्ञान से परे है और ऐसे ज्ञान का आधार प्रदान करता है।"
असंभव। एक ऐसा आदर्श जो स्वभाव से अप्राप्य होते हुए भी मानव आचरण पर हावी रहता है, क्योंकि मनुष्य इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता है। सार्त्र इस शब्द का प्रयोग मानव वास्तविकता के सर्वव्यापी आदर्शों के लिए करते हैं, न कि उन विशिष्ट, व्यक्तिगत लक्ष्यों के लिए जिन्हें कुछ लोग प्राप्त कर सकते हैं और अन्य नहीं।
मूल्य। सामान्यतः मूल्य तब उत्पन्न होता है जब स्व-हित में स्थित सत्ता वस्तुओं को वांछनीय मानती है। अधिक विशिष्ट रूप से, मूल्य वह "सभी श्रेष्ठताओं से परे" है जब स्व-हित में स्थित सत्ता अपने आप से एकात्म होने का प्रयास करती है। यह वह है जिसकी स्व-हित में कमी होती है, ताकि वह स्वयं को प्राप्त कर सके।
विश्व। अचेतन अस्तित्व का संपूर्ण स्वरूप, जैसा कि वह स्वयं-स्वयं को दिखाई देता है और स्वयं-स्वयं द्वारा "उपकरणिक परिसरों" में संगठित होता है। अपनी वास्तविकता के कारण, स्वयं-स्वयं अनिवार्य रूप से विश्व से जुड़ा

हुआ है। फिर भी, सत्यतः कहें तो, स्वयं-स्वयं के बिना, विश्व नहीं होगा, बल्कि केवल अस्तित्व की एक अविभेदित परिपूर्णता होगी।
यह अपूर्ण सूची उन लोगों के लिए शायद भ्रामक हो सकती है जिन्होंने 'बीइंग एंड नथिंगनेस' का एक भी भाग नहीं पढ़ा है, और निश्चित रूप से उन लोगों के लिए अपर्याप्त प्रतीत होगी जिन्होंने इस पुस्तक को पूरा पढ़ लिया है। फिर भी, मैं इसे इस आशा में शामिल कर रहा हूँ कि ये अनुमानित परिभाषाएँ पाठकों के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करेंगी, जिससे वे सार्त्र के दर्शन को अधिक आसानी से समझ सकेंगे। मैं यहाँ सार्त्र द्वारा गढ़े गए तकनीकी शब्दों के साथ-साथ उन परिचित शब्दों को भी शामिल कर रहा हूँ जिन्हें उन्होंने विशेष अर्थ दिए हैं। सभी प्रत्यक्ष उद्धरण 'बीइंग एंड नथिंगनेस' से लिए गए हैं।

□□□ □□□□□□□□□□□□

□□□□□□□□, 349
□□□□□, ix □□., xxviii, xxxvii, 56, 459, 473, 602, 614
□□□-□□□, 178
Alain, liv, lv, 25, 53, 552
□□□□□□□, 94, 97, 101, 487
□□□□□□□□□, 601

□□□□□□□□□ ix n., xxxvi, 324, 600–3, 630
□□□□□, 578
□□□□□□□□□, 331
□□□□□□□□□, 539, 541, 588
□□□□□□, 537
□□□□□□, 438
□□□□□□□, 11, 42, 109-10, 113, 134-35, 166-67, 170, 400, 444, 462, 498, 504, 549, 610
□□□□□□□, lii, 30, 142
□□□□□□, □□, 304, 324
□□□□□□□□□, xxxi, 538
□□□□□□□, □□, 162
□□□□□□□, 558, 563
□□□□□□□□□□, 25
□□□□□□□-□□□□□□□, 516 □□.
□□□□□□□□, 307

□□□□□□□□□, ix n.
□□□□□□□, 186
□□□□□□□□, 56
□□□□□□□□□, 113, 114
□□□□□□□□□, 108, 110
□□□□□□□□, 445–49
□□□□□□□, 316, 562
□□□□□□□□□□□□□□□, 433, 446–47
□□□□□□ □□□, 75
□□□□□□□□, 97
□□□□□□, ix n.

□□□□□□□□, 601 □□.
□□□□□□, xxv n, xxiv, xxxviii

डेसकार्टेस , x, xi, lii, lv, lviii, lx n., lxiv, 3, 24, 25, 73, 79, 84, 85, 89, 100, 104, 109, 110, 119, 131-35, 150, 156, 166, 172, 192, 209, 238, 245, 251, 252, 282, 306, 310, 438-41, 462, 465, 482, 484, 522, 576, 582, 590
डिडेरोट , 538
डिल्थे , 225
दोस्तोवस्की , 32, 575
दुहेम , xlviii
डन्स स्कॉटस , 522

आइंस्टीन , 209, 532, 625
एलियट , xxx n.
एपिकुरस , xxix, 101, 401, 452
यूक्लिड , 457

फाल्कनर , ix n., 405–6
फिट्जगेराल्ड , 209
फ्लाउबर्ट , 558–61, 575, 588
फ्रायड , xxviii, xxxii, xxxvii, xlii, 50-54, 458-59, 565, 569, 571, 575, 592, 602, 612

गिडे , 58, 265, 447, 462, 475, 577
ग्रीन , xxxiii n.
ग्रिम , 601

हाल्बवाच्स , 513
हैमेलिन , 12
हेगेल , ix n., xix n., xxiv-xxv, 12-19, 25, 35, 65, 69, 76, 77, 86 n., 94 n., 116, 120, 154 n., 185, 233-45, 251, 252, 271, 273, 283, 299, 370, 436, 439, 540, 566, 579, 623, 631
हेइडेगर , IX एन., xxiv-xxv, xlviii, 1, li, lv, lvii, lxiv, lxv, 3, 16–20, 24, 25, 29, 41, 48, 73, 80, 85, 104, 124, 125, 142, 181, 198, 200, 233, 244-50, 295, 325, 373, 383, 414, 427, 430, 438, 460, 476, 482, 485, 494, 531, 533-34, 545-46, 564, 630
हेराक्लिटस , 117
हेसेनबर्ग , 307
ह्यूगो , 588
ह्यूम , 132, 324
हुसेरल , एक्स , xi, xvii, xxi, xlviii, 1, lii, liii, lvii, lix, lxi-lxiii, 3, 4, 7, 25-27, 61, 73, 74, 84, 85, 100, 109, 120, 134, 150, 152, 172, 186-87, 191, 233-35, 238,

244, 256, 258, 272, 315, 325, 385, 438-39, 451, 465, 567, 625, 630, 631, 633

जेम्स , ix, xxxviii, 108, 475 एन., 610
जेनेट , 474, 476–77
जैस्पर्स , 559
जीन्सन , ix n., xliii
जॉनसन, 578 एन.
जॉयस, 456
जंग , xxxvii

काफ्का , ix एन., 265-66, 502, 550
कांट , xlviii, 1, lix, lxiv, 3, 6, 21, 62, 73, 81, 126, 130-35, 142-43, 148, 217, 225-30, 234-35, 247, 249, 253, 408, 431, 480, 582
केसेल , 58
किर्केगार्ड , xxix, xxx, 29, 94 n., 239, 580, 629
क्रेट्स्चमर , 350
कुह्न , 633

लैक्लोस , 381
लाफायेट , 543
लालांडे , 187 एन., 250
लाप्लास , 124
लापोर्टे , 3, 12 एन., 321
लॉट्रेमोंट , 601
लॉरेंस , 56
लेफेब्रे , 12 एन.
लाइबनिज़ , xxx, lxvi, 81, 94–97, 134–35, 142–43, 232, 467–69, 538
ले सेने , 12
ल्यूसिपस , 300
लेविन , 308
लॉट , 446
लुई XV, 544
लुई XVIII, 502

मालेब्रांचे , 249
मैलरॉक्स , IX एन., 112, 115, 273, 431, 532, 540, 546
मैन , डी , 513
मार्क्स , ix n., 237, 513, 580
मौरियाक , 56, 493, 541

□□□□□□□□, 137, 208, 535
□□□, 168
□□□□□□□□□□, □□, 522

□□□□□□□□□, 162, 502
□□□□□□□, 22 □□.
□□□□□□□, 307
□□□□□□□, ix n., xlviii, 541

□□□□□□□□□□□, 300, 613
□□□□□□□, 541, 562
□□□□□□□, 514, 517
□□□□□ □□□□□□□□, 79
□□□□□□□, □□□□
□□□□□□□, 51
□□□□□□□, ix, xxiv-xxv, xxviii, 26, 56, 277, 310, 618-19
□□, 599, 601
□□□□□□□□□, xlviii, 134, 286
□□□□□□□□□, 549
□□□□□□□, 445 □□.
□□□□□□□□, xlviii, xlix, 56, 111, 131, 165, 168–69, 279 n., 349, 366, 441, 562

□□□□□ VI, 522
□□□□□□□□□, 544
□□□□□□□, 532
□□□□□□□, 599, 601
□□□□□□□□□□□, 544
□□□□□□□, 414, 554
□□□□□□□□□, □□, 431
□□□□, 177–78, 379 □□., 409

□□□□-□□□□□, 379
□□□□ □□□□□, lii
□□□□□□□□, ix n.
□□□□□□□, 56
□□□□□□□□, 47, 93, 330, 331, 385, 601 □□.
□□□□, 578
□□□□□□□□□□, 499
□□□□□□□□□□, ix n.
□□□□□□□□□□, xxvi, 229, 231

Séchelles, de, 381
सुकरात, 39
सॉलियर, 357
सोफोक्लीज, 115, 536–37, 541
स्पायर, 26
स्पिनोज़ा, xxiii, liv, lx n., 4, 15, 16, 76, 87, 96, 97, 150, 158, 185, 225, 286, 431, 436, 525, 561, 563, 623
स्टेकेल, 54
स्टेंडहल, 65, 562, 596
स्टर्न, ix n.

टैने, 26
टूलूज़, डी, 522
ट्रेंकावेल, डी, 522

वैलेरी, 10, 60, 65
वर्विले, डी, 381

वेहलेंस, डी, 373
वाहल, 408
वाटसन, 229
वेलिंगटन, 10

ज़ेनो, 210

अंतर्राष्ट्रीय और पैन-अमेरिकन कॉपीराइट समझौतों के तहत सभी अधिकार सुरक्षित हैं। आवश्यक शुल्क के भुगतान पर, आपको इस ईबुक के पाठ को स्क्रीन पर देखने और पढ़ने का गैर-अनन्य, गैर-हस्तांतरणीय अधिकार प्रदान किया जाता है। प्रकाशक की स्पष्ट लिखित अनुमति के बिना, इस पाठ का कोई भी भाग पुनरुत्पादित, प्रसारित, डाउनलोड, डीकंपाइल, रिवर्स इंजीनियर या किसी भी सूचना भंडारण और पुनर्प्राप्ति प्रणाली में, किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से, चाहे इलेक्ट्रॉनिक हो या यांत्रिक, वर्तमान में ज्ञात हो या भविष्य में आविष्कार किया जाए, संग्रहीत या उसमें डाला नहीं जा सकता है।
अंग्रेजी भाषा अनुवाद का कॉपीराइट © 1956, नवीकृत 1984, फिलोसोफिकल लाइब्रेरी, इंक.
कवर डिजाइन: एंजेला गोडार्ड
यह 2011 संस्करण ओपन रोड इंटीग्रेटेड मीडिया द्वारा वितरित किया गया है। पता: 180 वैरिक स्ट्रीट,

न्यूयॉर्क, एनवाई 10014, www.openroadmedia.com

□□□-□□□ □□□□□□□ □□ □-□□□□□□□□

□□□ □□□ □□□□□□ □□

□□ □□□ □□□□ □□□□□□ □□□□□□□□ □□ □□□□□□ □□□

OPEN ROAD
INTEGRATED MEDIA

□□□□ □□□□□□□ □□ □□□ www.openroadmedia.com □□ □□□□□
□□□□ □□□□□ □□□□: @openroadmedia □□ Facebook.com/OpenRoadMedia

[redacted], [redacted], [redacted]

[redacted]

[redacted]:
@openroadmedia [redacted]
Facebook.com/OpenRoadMedia

[redacted]
www.openroadmedia.com/newsletters